तत्त्वमीमांसा

Translated into Hindi from A. E. Taylor's Elements Of Metaphysics published by Methuen & Co. Ltd.,
London (1956)

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-संख्या—१४१

तत्त्वमीमांसा

मूल लेखक
ए० ई० टेलर

अनुवादक
सुधीन्द्र वर्मा

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अंतर्गत प्रकाशित

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्व विद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

तत्त्वमीमांसा नामक पुस्तक हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्री ए० ई० टेलर और अनुवादक श्री सुधीन्द्र वर्मा हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

प्रकाशकीय

सत्य और आभास की पहचान करानेवाली वैज्ञानिक परीक्षा को तत्त्वमीमांसा की संज्ञा दी गयी है। तत्त्वमीमांसा यह जानना चाहती है कि वास्तविक अस्तित्व अथवा सत्य का अभिप्राय क्या है। वह यह भी जानना चाहती है कि विश्व-प्रपंच से सम्बन्धित विविध वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक सिद्धान्त किस सीमा तक सत्य के सामान्य लक्षणों के अनुकूल हैं। जहाँ तक सत्य की खोज का सम्बन्ध है, धर्म और कल्पना-साहित्य दोनों का लक्ष्य आभास से परे जाकर उसमें निहित सत्य से परिचित होना है। तत्त्व-मीमांसा का भी यही लक्ष्य है। किन्तु भावना और पद्धति के विचार से वह धर्म और कल्पना-साहित्य दोनों से भिन्न है क्योंकि वह अस्तित्व अथवा सत्य का विवेचन शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से करती है। इस विवेचन से बौद्धिक संतोष प्राप्त होता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ए० ई० टेलर ने अपनी दार्शनिक कृति "एलीमेण्ट्स ऑव मैटाफिज़िक्स" में वास्तविक सत्य और आभास के बीच भेद करनेवाली तत्त्वमीमांसीय पद्धति का सुन्दर विवेचन किया है। उसकी यह कृति अंग्रेज़ी वाङमय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके हिन्दी रूपांतर में मूल पुस्तक की दार्शनिक विवेचना पद्धति को सरल और सुबोध भाषा में ज्यों का त्यों रखने का सफल प्रयास किया गया है। आशा है कि दर्शनशास्त्र के छात्र तथा पाश्चात्य दर्शन की वैज्ञानिक प्रणाली से परिचित होने के इच्छुक सभी लोगों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

रमेशचन्द्र पंत
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ-संख्या

प्रथम खण्ड

सामान्य धारणाएँ

द्वितीय खण्ड

जीव-विकास विज्ञान—वास्तविकता की सामान्य संरचना

तृतीय खण्ड

विश्व विज्ञान—प्रकृति की व्याख्या

चतुर्थ खण्ड

तर्कना-परक मनोविज्ञान : जीवन विषयक अर्थ-निर्णय

प्रथम खण्ड

सामान्य धारणाएँ

अध्याय १

तत्त्वमीमांसक की कठिनाइयाँ

१—तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्यों की सामान्यता और सरलता के कारण उनके अध्ययन के अधिनिर्धारण में कठिनाई २—साधारण अनुभवों में व्याघातों की उपस्थिति और उनसे तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्यों का संकेत ३—सत् अथवा वास्तविकता और आभास में विभेद करके विज्ञान जहाँ इन व्याघातों में से कुछ व्याघातों को दूर करते हैं वहाँ वे स्वयं इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ भी पैदा करते हैं, अतः सत् और आभास में विभेद करने का क्या अर्थ है—इस बारे में क्रमबद्ध जाँच-पड़ताल के साथ ही सत् अथवा वास्तविकता के वास्तविक सामान्य स्वरूप को जानने की जरूरत ४—'सत्' के चरम अभिप्राय-विषयक जाँच-पड़ताल के रूप में तत्त्वमीमांसा की काव्य और धर्म से समानता किन्तु अपने वैज्ञानिक स्वरूप के कारण उसकी इन दोनों से भिन्नता। गणित तथा अन्य परीक्षणात्मक विज्ञानों से उसकी कार्य-पद्धति भिन्न है और साधारण विचिकित्सावाद से भी वह अपनी आलोचनात्मक शैली और निश्चित उद्देश्य के कारण भिन्न है। ५—इस शास्त्र का अध्ययन कठिन इसलिए है कि (अ) इसके प्रतिपाद्यों का स्वरूप बहुत सामान्य है, (आ) इस अध्ययन में अलिखित आकृतियों और भौतिक परीक्षणों का उपयोग नहीं किया जा सकता। ६—तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध यह आपत्ति कि वह शास्त्र असंभाव्य है अपने सभी रूपों में तत्त्वमीमांसीय प्रकार के आत्मविरोधी अभ्युपगमों पर आधारित सिद्ध की जा सकती है। ७—इसके अतिरिक्त अन्य छोटी-मोटी आपत्तियों का भी जैसे कि यदि वह संभाव्य भी हो, तो भी अतिक्षिप्त होने अथवा प्रगति रहित होने के कारण अग्राह्य है, उत्तर उसी आसानी से दिया जा सकता है। ८—रहस्यवादी प्रवृत्ति से कुछ-कुछ मिलती-जुलती होने पर भी तत्त्वमीमांसा, आभासी-संसार-विषयक अपनी निश्चयात्मक अभिरुचि तथा वैज्ञानिक पद्धति के कारण उससे भिन्न है। ९—अपने क्षेत्र की सामान्यता या व्यापकता में, वह तर्कशास्त्र के समान होते हुए भी सत्यपरक होने के कारण उससे भिन्न है, जब कि तर्कशास्त्र का अधिक संबंध मूलतः अनुमेय से ही रहता है। १०—तथा-कथित 'ज्ञानमीमांसा' के प्रतिपाद्य वास्तव में तत्त्वमीमांसीय ही हैं।

ज्ञान की किसी भी शाखा के प्रारंभिक अध्येता के प्रयोग के लिए अध्येय विषय के स्वरूप और क्षेत्र से सम्बद्ध शुद्ध धारणाओं का प्रतिपादन सदा ही कठिन हुआ करता

है। पर यह कठिनाई परंपरा से 'तत्त्वमीमांसा'[1] अथवा अधिभौतिकी नाम-धेय अनुसन्धान-निकाय के सम्बन्ध में विशेष रूप से बढ़ जाती है । यद्यपि यह विज्ञान जिन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करता है, वे सिद्धान्त रूप से बहुत ही अधिक सीधे-सादे और जाने-पहचाने से लगते हैं, तथापि उनका यह सीधा-सादापन और परिचित होना ही उनकी दुरूहता का सबसे बड़ा कारण बन जाता है। आम तौर पर हम आसानी से यह मानने को तैयार नहीं हो पाते कि जिन शब्दों और कल्पनाओं का प्रयोग हम न केवल विशिष्ट विज्ञानों के ही सम्बन्ध में अपितु संसार-सरणि-विषयक अपने विचारों और बोलचाल में भी प्रतिदिन किया करते हैं उनमें कुछ ऐसी जटिलताएँ भी हैं जिन्हें हम समझ नहीं पाते। इसीलिए जब कोई तत्त्वदर्शी या तत्त्वमीमांसक इन सामान्य और चिरपरिचित कल्पनाओं के विषय में कुछ कष्टप्रद अथवा कृच्छ प्रश्न करने लगता है तब न केवल साधारण व्यवहारी व्यक्ति ही अपितु विशिष्ट विज्ञानों के विचक्षण विद्यार्थी भी शिकायत करने लगते हैं कि यह व्यक्ति स्वतःसिद्ध विषय के सम्बन्ध में व्यर्थ और अयाचित कठिनाइयाँ प्रस्तुत करके उनका अमूल्य समय बरबाद करने पर तुला हुआ है। इसीलिए तत्त्वमीमांसा का लेखक उन स्वाभाविक तथा प्रचलित पूर्वाग्रहों के विरुद्ध सबसे पहले कलम उठाने के लिए बाध्य हो जाता है जो तत्त्व विज्ञान के अस्तित्व से ही इनकार करते और उसके प्रतिपाद्यों को भ्रामक बताते हैं । इसके सिवाय उसके लिए दूसरा चारा ही नहीं रह जाता। तत्त्वमीमांसा-विषयक अध्ययन के वास्तविक प्रतिपाद्यों की पद्धतीय परीक्षा की जिस रूप-रेखा को प्रस्तुत करने का प्रयत्न अगले अध्याय में किया गया है वह केवल वही, तत्त्वमीमांसीय विवेचन-पद्धति को निरर्थकता के आरोप से पूरी तरह मुक्त कराने में समर्थ है । किसी भी ग्रन्थ के प्रारंभिक अध्याय में केवल अगले अध्यायों के विवेच्य प्रश्नों की प्रकृति और प्रकारादि का साधारण-सा विवरण ही तो दिया जा सकता है। साथ ही विविध विज्ञानों की प्रमुख समस्याओं अथवा प्रतिपाद्यों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को भी इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है कि पाठक आगामी पृष्ठों में लिखित विषय पर निष्पक्ष रूप से विचार करने के लिए तैयार हो जाय।

२—अपने दैनंदिनीय साधारण अनुभव-क्रम तथा विविध विज्ञानों के प्रारंभिक ज्ञान-सम्बन्धी प्रशिक्षण द्वारा इतना ज्ञान तो हमें हो ही गया है कि हम किसी भी वस्तु

---

१. **मेटाफिजिक्स अथवा अधिभौतिकी शब्द का अर्थ ही है—भौतिकी के बाद की बातें। संभवतः यह नाम इस कारण दिया गया हो कि अरस्तू के लेखों के संपादकों ने चरम दार्शनिक प्रश्नों के विषय में उसके लेखों को भौतिकी विषयक लेखों के बाद स्थान दिया ।**

के वास्तविक अस्तित्व अथवा सत्य तथा उसके आभासी अस्तित्व या प्रतीयमान सत्य में विभेद कर सकें। 'आभास' और 'सत्' तथा 'यथार्थ' और 'प्रदर्शन' का वैषम्य जितनी अच्छी तरह सभ्य जातियों की भाषा और उनके साहित्य में बद्धमूल हो गया है उतना अन्य कोई भी 'प्रतियोग' नहीं हो सका। यह प्रतियोग प्राकृतिक प्रक्रियाओं तथा मानवीय चरित्र और अभिप्राय के अध्ययन में समान रूप से हमें दिखायी पड़ता है। पृथ्वी के आभासी स्थैर्य और उसकी वास्तविक गति में, ठोस पदार्थों के आभासी सातत्य तथा तादृशता और उनके वास्तविक असातत्य तथा उनके रासायनिक घटकों के वैविध्य में, हम उसी प्रकार का वैविध्य पाते हैं जिस प्रकार का कि अपना ही भला चाहने वाले स्वार्थी आत्मजीवी बगुला भगत के दिखावटी मैत्रीभाव और हमारे कल्याण के प्रति उसकी वास्तविक लापरवाही में। इन सभी मामलों में जिस प्रेरक-हेतु के वश होकर हम उपर्युक्त प्रकार का वैषम्य ढूंढ़ते हैं वह हेतु है अनुभूतिगत व्याघातों की स्वीकृति से बच निकलने की आवश्यकता। जब तक हमारे, विभिन्न, सीधे प्रत्यक्षण एक दूसरे से टकराते-से प्रतीत नहीं होते तब तक हम उन सब को ही समान रूप से सत्य और वैध मानने के लिए तैयार हो जाते हैं और इनकी आपेक्षिक सत्यता अथवा असत्यता का कोई सवाल ही नहीं उठता। लेकिन अगर हमारे सभी प्रत्यक्षण इसी तरह के होते, तो अपने और दुनिया के स्वरूप के विषय में हमारी तात्कालिक धारणाओं में परवर्ती सोच-विचार के बाद सुधार करने की आवश्यकता ही न होती और न तो 'गलती' शब्द के कोई अर्थ हमारे लिए होते, न विज्ञान का अस्तित्व ही होता। लेकिन जब ऐसी दो धारणायें जिन्हें हमारी ज्ञानेन्द्रियों ने प्रकटतः सदृश प्रमाणित किया हो, एक दूसरे की प्रत्यक्ष विरोधिनी पायी जायें[1] तब तर्क-संगत विचार-सरणि के मौलिक नियमों का गला घोंटे बिना हम दोनों ही धारणाओं को, एक समान और समानार्थ में सत्य नहीं मान सकते। अपनें अनुभूति-क्रम के साथ अपने विचारों की संगति बैठाने का प्रयत्न करते रहने के बुद्धि-संगत तकाज़े को सदा के लिए तिलांजलि दिये बिना ऊपर लिखी स्थितियों में दोनों प्रकार की धारणाओं में महत्वपूर्ण विभेद करने के लिए हम मजबूर हो जाते हैं। हमें मानना ही पड़ेगा कि चीजें वास्तव में सदा वैसी ही नहीं निकलतीं जैसी कि वे ऊपर से दिखाई पड़ती हैं और जो कुछ देखने से सत्तावान प्रतीत होता है कभी-कभी तो अवश्य ही, सत्ताहीन होता है। ऐसे ही, जिसकी सत्ता है वह हमेशा ही वैसा प्रतीत नहीं होता। हमारे इस प्रकार परस्पर-विरोधी दोनों प्रत्यक्षणों में से, जिस किसी को

---

१. ऐसी पहेलियों के नमूनों के लिए अफलातून की पुस्तक (रिपब्लिक) के पृष्ठ, संख्या ५२४ पर लिखे प्रकरण को देखिए, जहाँ उसने ऐसे मामलों का जिक्र किया है जिनमें हमारी ऐन्द्रिय अनुभूतियों के आपसी विरोध को गिनती द्वारा सही किया गया है।

भी सबसे अच्छा माना जाय, वह एक तो अवश्य ही वस्तु-स्थिति का सही प्रतिनिधि हो सकता है। सम्भव है, उन दोनों में से दोनों और कम से कम एक तो अवश्य ही प्रतीयमान अथवा आभासी होगा। अतः ऐसी हालत में हमारे सामने भी वही समस्या आ खड़ी होती है, जिसे प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने तरीके से सुलझाने का प्रयत्न करता रहता है—वह है यह जानने की इच्छा कि संसार-चक्र-सम्बन्धिनी हमारी अवधारणाओं में से कौनसी अवधारणा किस हद तक वास्तविक अथवा सत्य है और उसका कितना हिस्सा आभासी मात्र है। दार्शनिक विचार-पद्धति की तात्कालिक चेतना-विषयक इस पहेली को उभारने में इतना महत्त्वपूर्ण भाग लेने के कारण ही अरस्तू और अफलातून ने दर्शन शास्त्र को 'आश्चर्य' सन्तान नाम दिया था और चूँकि परिवर्तन-कारिणी प्रक्रियाएँ उन चेतनाओं या अवधारणाओं को अद्भुत् तथा आकर्षक रूपों में प्रस्तुत करती रहती हैं, इसलिए तत्त्वमीमांसा-शास्त्र में परिवर्तन-प्रतिपाद्य का स्थान प्रमुख माना गया है।

३—तात्कालिक अवधारणाओं के सभी रूपों में पाये जाने वाले व्याघात को विमर्श द्वारा दूर करने का काम किसी विशिष्ट विज्ञान के क्षेत्र तक ही परिमित या सीमित नहीं है। सभी विज्ञानों का सर्वगत कर्तव्य यही है कि वे बताएँ कि किस विशिष्ट विभाग और किस प्रयोजन के लिए किसे वास्तव या सत्य माना जाय और किसे आभास मात्र। अतः विचारों की संहति और संगति स्थिर रखने विषयक हमारी सहज मनोवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए समस्त परस्पर विरोधी या व्याघाती तत्त्वों को 'आभास' नाम देकर और उन्हें पदावनत करके ही ऐसा संभव हो सकता है। किन्तु वैज्ञानिक विचार-पद्धति जहाँ कुछ कठिनाइयाँ हल कर रही है वहाँ अपने विकास के साथ-साथ वह ऊँचे दर्जे की कुछ नयी पहेलियाँ भी प्रस्तुत कर रही है। बहुधा हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्त ही स्वयं ऐसी विषमताएँ खड़ी कर देते हैं जो अजब परेशानी में डाल देती हैं। उदाहरणार्थ जहाँ हमें अपनी कुछ ज्यामितीय तर्कनाओं में वक्र को एकदम अविच्छिन्न मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है वहाँ ही दूसरी तर्कनाओं में हम उसे अनेक बिन्दुओं द्वारा बना मानते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी हम कभी तो जड़ पदार्थीय कणों को अक्रिय और केवल बाह्यसंघ द्वारा गतिमान हो सकने वाले मानने के लिए बाध्य किए जाते हैं और कभी उन्हें 'अन्तर्हित केन्द्रीय शक्तियों से भरपूर' मानने के लिए। स्पष्ट है कि परस्पर-विरोधी ये दोनों ही दृष्टिकोण अन्ततः सही नहीं हो सकते और इसीलिए हमें मजबूर होकर या तो संगतिपूर्वक सोच-विचार करना ही बन्द कर देना पड़ेगा या फिर इस प्रश्न का कि 'क्या यह दृष्टिकोण बिलकुल सही है या वह' का जवाब ढूँढ़ना होगा। हमारा जवाब हाँ हो, तो फिर हमें बताना होगा कि इन दोनों में से कौनसा एकदम सही है। इसके अतिरिक्त अध्ययन की किसी एक शाखा के सिद्धान्त

दूसरी शाखा के सिद्धान्तों के विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, उदाहरणार्थ यान्त्रिक-विज्ञान में हम सिद्धान्त रूप से यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक गति किन्हीं पूर्ववर्तिनी गतियों की शृंखलाओं के संघात द्वारा निर्धारित होती है किन्तु यह सिद्धान्त इतिहासज्ञों और नीतिशास्त्रियों की आधार-भूमि, मानवीय वरण की स्वतंत्रता और मानवीय उद्देश्यों की वास्तविकता जैसे मौलिक तथ्यों का विरोधी प्रतीत होता है और इसीलिए हमें फिर पूछना पड़ता है कि यांत्रिक आवश्यकता और प्राज्ञ स्वातन्त्र्य में से कौन वास्तविक है और कौन आभास मात्र। अन्ततः कभी-कभी हमारे वैज्ञानिक विवेचनों के परिणाम हमारी गहनतम और अत्यधिक लाक्षणिक आकांक्षाओं और प्रयोजनों के प्रबल अपवादी-से प्रतीत होते हैं और तब इस सवाल से बचा नहीं जा सकता कि इन दोनों ही दृष्टिकोणों में से कौनसा वास्तविकता के अन्तरतम स्वरूप का साक्षी होने योग्य है? परेशानी के ऐसे मामलों में उलझनों से एकदम मुँह चुरा जाने के अतिरिक्त दो ही अन्य मार्ग हमारे लिए रह जाते हैं, या तो हम उन सवालों का जवाब मनमाने तरीके से और तात्कालिक भावना के वश होकर चाहे जिस ढंग पर दें या फिर किसी तर्कसंगत सिद्धान्त पर आधारित कोई उत्तर देने का प्रयत्न करें। यदि हम इनमें से दूसरा रास्ता अपनाते हैं, तो स्पष्ट है कि अपने सिद्धान्तों का सूत्रीकरण करने से पहले हमारे लिए आवश्यक होगा कि हम एक सिलसिलेवार और बेलगाव जाँच कर लें कि सत्य और आभास के प्रचलित और परिचित विभेद का हम सही तौर पर क्या अर्थ लगाते हैं। अर्थात् दूसरे शब्दों में हम उन सामान्य लक्षणों की एक वैज्ञानिक जाँच करलें जिनके द्वारा न केवल अध्ययन के किसी विशेष क्षेत्र में ही अपितु सर्वत्र ही आभास मात्र और सत्य अलग-अलग पहचाने जा सकें। जिनके द्वारा सत्य को वास्तविक आभास मात्र से कमोबेश अलग किया जा सके, ऐसे सामान्य लक्षणों को बता सकने वाली वैज्ञानिक परीक्षा को ही सही तौर पर तत्त्वमीमांसा नाम दिया गया है। तत्त्वमीमांसा ही अन्य सब विज्ञानों की अपेक्षा सर्वाधिक पद्धतीय और सार्वत्रिक तरीकों से वास्तविक अस्तित्व अथवा सत्य का अन्तिम अभिप्राय जानना अपना कर्तव्य समझती है। वह यह भी जानना अपना कर्त्तव्य समझती है कि विश्व-प्रपंच विषयक हमारे विविध वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक सिद्धान्त किस सीमा तक असली सत्य के सामान्य लक्षणों के अनुकूल हैं। इसीलिए तत्त्वमीमांसा को 'एक ऐसा प्रयत्न' कहा जाता है जिसे सभी पूर्व-प्रत्ययनों से सतर्क और उनके प्रति संशयालु बने रहना आवश्यक होता है। अन्यत्र उसे 'संगत विचार-पद्धति का एक दृढ़संध प्रयत्न' भी बताया गया है। जब तक हम अपने आप को थोड़ा-सा भी सोचने-विचारने का मौका देना चाहते रहेंगे तब तक तो 'क्या सत्य है' और 'क्या आभास मात्र है' इस तरह के सवाल उठाये बिना हम रह नहीं सकते और इसीलिए तत्त्वमीमांसीय परिकल्पनाओं से पल्ला झाड़

कर अलग खड़े हो जाने की कोशिश करना हमारे लिए एकदम बेकार-सी बात होगी। दर असल अगर देखा जाय तो तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पनाओं की स्थापना करने या न करने को हम स्वतन्त्र नहीं हैं। हम सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि इन प्राक्कल्पनाओं की बुनियाद या तो किसी बुद्धिसंगत सिद्धान्त के अनुसार सोच-विचार कर डालें या बिना कुछ सोच-विचार किये मनमाने तरीके से।

४—तत्त्वमीमांसक की कठिनाई विषयक इस प्रारंभिक विवरण के आधार पर हम मानवीय विचार सूत्र से निकटतम सम्बद्ध उसके अन्य रूपों और तत्त्वमीमांसा के वास्तविक स्वरूप में आसानी से विभेद कर सकेंगे, कम से कम एक अस्थायी या अनिर्णीत स्थान भी उसके लिए निर्धारित कर सकेंगे। (अ) इतना तो स्पष्ट ही है कि 'सत्य' के अनुसन्धान के विषय में धर्म और कल्पनात्मक साहित्य, जिन दोनों ही का लक्ष्य आभास मात्र के परे जाकर तदन्तर्हित सत्य का साक्षात करना है—के साथ तत्त्वमीमांसा का निकट सम्बन्ध होना आवश्यक है। जिस विषय में वह उपर्युक्त धर्म तथा कल्पनात्मक साहित्य से निकटतर सम्बद्ध है वह है धर्म और कल्पनात्मक साहित्य की तरह, तत्त्व-मीमांसा की परमसत्य, अथवा चरम वास्तविक विषयक तत्परता जब कि अन्य विशिष्ट विज्ञान वस्तुओं के किसी एक पहलू में ही उलझे रहकर अन्य सब चरम प्रश्नों को जान बूझकर एक ओर हटा देते हैं। किन्तु भावना और पद्धति के विषय में तत्त्वमीमांसा धर्म और कल्पनात्मक साहित्य दोनों ही से भिन्न है। धर्म औंर कल्पनात्मक साहित्य के असदृश 'अस्तित्व' अथवा 'सत्य' की चरम समस्याओं का विवेचन वह शुद्ध वैज्ञानिक भावना वश ही करती है। बौद्धिक सन्तोष ही उस विवेचन का लक्ष्य होता है। उसकी पद्धति तात्कालिक अन्तरनुभूतियों अथवा अविश्लिष्ट अन्तः संज्ञाओं से आकर्षित होकर चलने की नहीं है बल्कि वह हमारे प्रत्ययों का आलोचन और शृंखलित विश्लेषण करके ही किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न करती है। इसलिए अपने इन भावनागत गुणों और अपनी कार्यपद्धति के आधार पर तत्त्वमीमांसा को विज्ञानों की कोटि में रखा जाता है। (आ) किन्तु विज्ञानों की वे अन्य कार्य-पद्धतियाँ, जिनसे हम में अनेक लोग भली-भाँति परिचित हैं, तत्त्वमीमांसा की विवेचना-पद्धति से एकदम बहुत भिन्न हैं। गणितीय विज्ञानों से उसकी पद्धति इस माने में अलग है कि तत्त्व-मीमांसा की पद्धतियाँ अपरिमाणात्मक और निःसंख्य होती हैं। गणित के परिमाणात्मक और संख्यात्मक तौर-तरीकों के प्रयोग हम उन मामलों और प्रक्रियाओं में ही कर सकते हैं जिनमें नाप-जोख या केवल गिनती ही की जरूरत पड़ती है, अन्यत्र उनका उपयोग नहीं हो सकता। पर तत्त्वमीमांसा को अपनी जिज्ञासाओं के बीच स्वयं ही यह निर्णय करना होता है कि 'परमसत्य' या उसका कोई अंश संख्यात्मक अथवा परिमाणात्मक है या नहीं, यदि है तो किस माने में। प्रायोगिक विज्ञानों से भी वह इस माने में अलग है

कि तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र की तरह वह भी विशेष तथ्यों और घटनाओं-विषयक हमारे ज्ञान-भंडार की कुछ भी वृद्धि किये बिना केवल उन तरीकों की ही चर्चा करती है जिनका उपयोग उस हालत में तथ्यों और घटनाओं के अर्थ-निर्णय हेतु हमें करना आवश्यक होता है, जब कि हम संगत विचार करना चाहें। वह यह नहीं जानना चाहती कि किसी विशिष्ट प्रक्रिया-कुलक की किन तफ़सीलों को सत्य समझा जाय। अपितु वह केवल यह जानना चाहती है कि वे कौन-सी सामान्य शर्तें हैं जिनका अनुरूपण सब प्रकार के सत्य के निर्धारण के लिए अपेक्ष्य है, (ठीक उसी तरह जिस तरह तर्कशास्त्र किसी विशिष्ट वैज्ञानिक सिद्धान्त सम्बन्धी साक्ष्य की अर्हता पर बहस नहीं करता बल्कि उन सामान्य परिस्थितियों पर ही विचार करता है जिनके अनुरूप उस साक्ष्य का होना उसके निष्कर्ष की सिद्धि के लिए आवश्यक है।) इसी कारण अरस्तू ने तत्त्वमीमांसा को 'यथाशक्य अस्तित्व-विषयक विज्ञान', ठीक ही कहा है। (उदाहरणतः गणित तत्त्वमीमांसा का प्रतिलोमी विज्ञान है क्योंकि गणित अस्तित्व का उसी सीमा तक अध्ययन करता है जहाँ तक परिमाणात्मक या संख्यात्मक हो।)

इसके अतिरिक्त तत्त्वमीमांसा को वास्तविकता अथवा सत्य सम्बन्धी निराधार पूर्व-प्रत्ययनों की खोज करने और उनसे बच निकलने के एक प्रयत्न के रूप में विचिकित्सु अथवा संशयवादी ज्ञान भी एक माने में कहा जा सकता है यद्यपि अपनी कार्य-पद्धति और नैतिक प्रयोजन दोनों ही के कारण वह सामान्य विचिकित्सा से बहुत भिन्न है। सामान्य विचिकित्सा की विचार-सरणि तथा कार्य-पद्धति पूर्वाग्रह अथवा कट्टरता पर आधारित होती है अर्थात् वह पहले ही से, बिना किसी जाँच-पड़ताल के यह मान कर चलती है कि ऐसे दोनों ही प्रत्ययन जो परस्पर-विरोधी हैं अथवा ऐसे दोनों ही विचारात्मक सिद्धान्त, जो एक दूसरे से भिन्न हैं, अवश्य ही असत्य होने चाहिए। चूंकि इस प्रकार की विभिन्नताएँ अथवा विषमताएँ ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में पायी जा सकती हैं इसलिए प्रत्येक विचिकित्सावादी अथवा संशयवादी कट्टरतापूर्वक पहले ही से यह मान लेता है कि परस्पर-विरोधिनी इन प्रतीतियों के पीछे जाकर संगत वास्तविकता या सत्य तक पहुँच सकने का कोई चारा ही नहीं है। इसके प्रतिकूल तत्त्वमीमांसक के लिए यह मानकर चलना ही कि अनुभवगम्य पहेलियाँ अनबूझ होती तथा हमारे ज्ञान-विषयक वैषम्य असमाधेय हुआ करते हैं स्वयं उन पूर्वाग्रहों में से अन्यतम होगा जिनकी जाँच करना और जिन्हें कसौटी पर कसना उसका अपना अधीतव्य है। वह आलोचनात्मक दृष्टि से उस पर विचार किए बगैर यह बताने से इनकार कर देता है कि परस्पर-विरोधी किन्हीं दो विचारधाराओं में से कौन सही है तथा यह भी कि अगर दोनों ही को गलत मान लिया जाय, तो उन दोनों में से कौन सत्य के अधिक निकट है। भले ही वह न माने कि अपनी मानवीय शक्तियों द्वारा हम सत्य की प्राप्ति कर सकते और उसे जान सकते

हैं लेकिन इतना तो वह मानता ही है कि सत्य की प्राप्ति तथा उसके जानने का प्रयत्न हमें अवश्य करना ही चाहिए तथा यह भी कि विवादास्पद विषय ही उस प्रयत्न की सफलता अथवा असफलता के निर्णय का अवसर हो सकता है। इसके अतिरिक्त अपने नैतिक उद्देश्य के विषय में भी तत्त्वमीमांसक हर विचिकित्सावादी से भिन्न होता है। यद्यपि पारमार्थिक पहेलियों का सामना होने पर दोनों ही अपने-अपने निष्कर्षों को निलम्बित रखना ही अपना कर्तव्य कर्म समझते हैं और इस माने में एक हैं, तथापि इस मामले में भी दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ विचिकित्सावादी ऐसे निष्कर्ष-निलम्बन तथा तदनुगत मानसिक अकर्मण्यता को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मान कर बैठ जाता है वहाँ तत्त्वमीमांसक के लिए वह परिस्थिति निर्धारित सत्य की प्राप्ति के प्रयत्न का पूर्वारम्भ मात्र होती है।

५—अब वे कारण स्पष्ट हो जाने चाहिए जिनसे तत्त्वमीमांसा एक कठिनतर अध्ययन का शास्त्र समझी जाने लगी है। उसकी दुरूहता का सबसे पहला और प्रधान कारण है तत्त्वमीमांसा की समस्याओं का सीधा-सादा रूप तथा उनकी सामान्यता। आम तौर पर लोग समझते हैं कि प्रत्येक विज्ञान की विषयवस्तु का, यदि वह शब्दाडम्बर-विषयक विवादमात्र ही न हो तो, एक निश्चित रूप होना आवश्यक है। लेकिन तत्त्वमीमांसक का विवेच्य विषय 'क्या है' यह बताना बड़ा कठिन होता है। इस कठिनाई का सामना यह कहकर ही किया जा सकता है कि 'वास्तव में बात ऐसी ही है।' जैसा कि पहले देखा जा चुका है तत्त्वमीमांसा का कुछ न कुछ लगाव हर एक प्रकार के विषय से है। इसीलिए यह कहना कि किन्हीं खास तरह के लक्ष्यों को तत्त्वमीमांसा की अनन्य विवेच्य वस्तु नहीं बनाया जा सकता, एक तरह से ठीक ही है। लेकिन इसका यह मतलब किसी तरह भी नहीं कि विज्ञान-निकाय मात्र का ही दूसरा नाम तत्त्वमीमांसा है। इसका अर्थ तो सिर्फ इतना ही है कि चूँकि सत्य और आभास या प्रतीति के विभेद का प्रभाव हमारे ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता है और वह प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान में भी दिखायी पड़ता है इसलिए इस विभेद के अर्थालोचन की सर्व-सामान्य समस्या तथा उसके मूलाधार सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वयं एक स्वतंत्र विषय ही होना चाहिये। तर्कशास्त्र के साथ तत्त्वमीमांसा की तुलना करने से शायद यह बात अधिक स्पष्ट हो सके। चूँकि सभी विज्ञानों के विवेचना-सिद्धान्त तथा साक्ष्य-विषयक नियम अन्ततोगत्वा एकसे ही होते हैं अतः उन सिद्धान्तों और नियमों को भी एक स्वतंत्र जाँच का विषय बनाना जरूरी होता है। तर्कशास्त्र तत्त्वमीमांसा के समान ही सब बातों का विवेचन करता है लेकिन इस माने में नहीं कि उसे मानव जाति के समग्र ज्ञान का प्रति-रूप कहा जा सके बल्कि इसी माने में कि वह हमारी सभी प्रकार की विचार-सरणियों में समान रूप से सामने आने वाली समस्या को हल करता है जब कि अन्य विशिष्ट

विज्ञान इस प्रकार का प्रयत्न नहीं करते। इन दोनों विज्ञानों यानी तर्कशास्त्र और तत्त्व-मीमांसा की पारस्परिक भिन्नता के विषय का अगले अध्याय में विवेचन किया जायगा।

तत्त्वमीमांसा के सार्वत्र स्वरूप के कारण विशिष्ट मनोवृत्ति के कुछ लोगों के लिए तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के अध्ययन में गंभीर बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः उन छोटे किस्म की कठिनाइयों का यहाँ ज़िक्र कर देना जरूरी है। तत्त्वमीमांसा के अध्ययन में कल्पना के सहायक वे अंक तथा आकृतियाँ जो गणित की अनेक शाखाओं में इतनी उपयोगी सिद्ध होती हैं—हमें उपलब्ध नहीं रहतीं। साथ ही साथ उसकी समस्याओं के स्वरूप और प्रकृति के कारण भौतिक परीक्षणों से भी हम वंचित रहते हैं। वहाँ तो अन्य किसी भी प्रकार की सहायता के बिना ही केवल विचारात्मक प्रयत्न द्वारा यानी सब अवधारणाओं के कठोर तथा पद्धतिबद्ध मानसिक विश्लेषण द्वारा ही हमें अन्तिम निष्कर्षों तक पहुँचना होता है। इसीलिए सभी विज्ञानों में तत्त्वमीमांसा ही एक ऐसा विज्ञान है जिसके विद्यार्थी को एकान्त कठोर तथा सतत विचार करने की क्षमता होना आवश्यक होता है। तर्कशास्त्र के लिए भी ऐसी क्षमता अपेक्षित होती है। इससे यह समझना आसान हो जाता है कि गणितीय तथा अन्य परीक्षणात्मक विज्ञानों के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य कर सकने में समर्थ व्यक्ति भी तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कभी-कभी क्यों असमर्थ सिद्ध होते हैं तथा यह भी कि तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में उत्कृष्ट सामर्थ्य-वान व्यक्ति अन्य विज्ञानों के निष्कर्षों तथा पद्धतियों के गहन पारखी क्यों नहीं होते।

६—अब यहाँ उन एक-दो आपत्तियों पर विचार करना उचित होगा, जो तत्त्वमीमांसा के अध्ययन के बारे में प्रायः प्रस्तुत की जाती हैं। यह अक्सर कहा जाता है कि (१) प्रकृतितः तत्त्वमीमांसीय ज्ञान का अस्तित्व ही असंभव है। अथवा (२) यदि अस्तित्व संभाव्य भी हो तो उसका अध्ययन निरर्थक और अनावश्यक है क्योंकि अन्य विज्ञान तो हैं ही। साथ ही साथ अपने व्यावहारिक अनुभव द्वारा भी जितने सत्य की अपेक्षा है, वह, हमें प्राप्त होता रहता है। इसके अतिरिक्त (३) यह भी है कि तत्त्वमीमांसा सब तरह से अप्रगतिशील है और उसके प्रतिपाद्यों के बारे में जो कुछ भी कहने योग्य था वह आज से बहुत पहले ही कहा जा चुका है। अब इन सब आपत्तियों या आक्षेपों में से यदि एक भी सचमुच सही हो, तो तत्त्वमीमांसा का अध्ययन करना वास्तव में अपना समय बरबाद करना ही होगा। इसलिए आगे बढ़ने से पहले ही हमें यह जान लेना चाहिए कि इन एतराज़ों में कितना जोर है। (१) इस आपत्ति का कि 'तत्त्वमीमांसा स्वभावतः एक असंभाव्य विज्ञान है' सही जवाब सिद्धान्त रूप से वह ही हो सकता है जो लोकविश्रुत कहावत 'बिनु परखे नहिं होइ प्रतीती' के रूप में प्रसिद्ध है। जोरशोर से इस तरह का एतराज़ उठाने वाले लोगों में से बहुत कम ही ने

शायद कभी अपने कथन को गंभीरतापूर्वक परखने का कष्ट उठाया हो । जो लोग इस तरह की परख करने की तकलीफ गवारा नहीं करना चाहते उन्हें इस तरह के प्रयत्न की जरूरत भी नहीं है। लेकिन ऐसी हालत में अपने से भिन्न मत रखने वालों के खिलाफ फैसला देने का हक भी उन्हें नहीं है। फिर भी तत्त्वमीमांसा-विरोधी यह पूर्वाग्रह इतना अधिक प्रचलित हो गया है और इतनी तरह की शक्लों में सामने आता है कि उसके थोथेपन को विशद रूप से प्रकट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(अ) कहा जाता है कि तत्त्वमीमांसा इसलिए असंभाव्य है कि उसके प्रतिपाद्य स्वयं अपनी प्रकृति के कारण असाध्य होते हैं। अर्थहीन प्रतिपाद्यों का कोई बुद्धिगम्य हल नहीं हो सकता और यह स्वाभाविक भी है। मौके बे मौके यह बात सिर्फ कही ही नहीं जाती बल्कि वक्रोक्तिपूर्वक सुझायी भी जाती है कि तत्त्वमीमांसा के प्रतिपाद्य निरर्थक ही होते हैं। लेकिन तत्त्वमीमांसक के प्रतिपाद्यों को अर्थहीन कहने का मतलब तो यह है कि सत्य और आभास मात्र में विभेद करने का जो प्रयत्न हम सब लगातार करते रहते हैं वही निरर्थक है। इस विभेद का यदि कोई अर्थ है तो यह ही कि उपर्युक्त प्रतिपाद्य स्पष्टतः ऐसा आवश्यक और उचित प्रतिपाद्य है जिसके जरिये सत्य और आभास को एक दूसरे से अलग करने वाले लक्षण जाने-पहचाने जा सकते हैं। उपर्युक्त प्रतिपाद्य को सिद्ध कर सकने के हमारे अधिकार पर ऐसा प्रतिपक्षी ही आक्षेप कर सकता है जो यह सिद्ध करने को तैयार हो कि उपर्युक्त विभेद के द्योतक व्याघात स्वयं ही वस्तु-विषयक ध्रुव सत्य हैं। यह दृष्टिकोण प्रतिरक्ष्य हो या न हो किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि वह ऐसा नहीं है जिसे स्वयम्सिद्ध के समान बिना ननुनच के स्वीकार किया जा सके । वह तो प्राथमिक नियमों का एक ऐसा तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त है जिसकी प्रतिरक्षा, आवश्यकता होने पर 'सत्य' और 'सत' नामक प्रत्ययनों के विशद तत्त्वमीमांसीय अर्थ-विश्लेषण द्वारा करनी होगी। इसके अतिरिक्त यदि उपर्युक्त आपत्ति वैध मान ली जाय, तो उससे जहाँ हमें तत्त्वमीमांसीय विज्ञान के विरुद्ध बहुत कुछ सुनने को मिल सकता है, वहाँ परीक्षणात्मक तथा गणितीय विज्ञानों के विरुद्ध बहुत कुछ जानने को मिलेगा। यदि कोई स्वयं विरोधी कथन सत्य हो सकता है तो फिर कोई ऐसा बुद्धिगम्य आधार नहीं रह जायगा जिस पर खड़े होकर हम विश्व-सम्बन्धी संगत और वैज्ञानिक सिद्धान्तों को पागलपन तथा अन्धविश्वासों के निबिड़ स्वप्न-जाल पर तरजीह देने का साहस कर सकें और निम्नलिखित उभयसम्भव से बच निकलने का कोई रास्ता ही हमारे लिए न रह जायगा। हमें मानना ही होगा कि या तो सत्ता और आभास मात्र में पहचान करने का कोई बुद्धिगम्य और तर्कानुगत आधार ही नहीं है तथा इस कारण सभी विज्ञान भ्रान्ति मात्र हैं अथवा ऐसा विभेद कर सकने का कोई तर्कसंगत आधार यदि है भी तो तर्कशास्त्रानुसार उस विभेद के सिद्धान्त की जाँच करनी

पड़ेगी तथा इस प्रकार तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्यों का ही सामना करना पड़ेगा।[1]

(आ) इसी आपत्ति को कभी-कभी निम्नलिखित रूप में भी पेश किया जाता है। कहा जाता है कि मानवीय ज्ञान की योजना में तत्त्वमीमांसा को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि 'सत्य' अथवा वास्तविकता-विषयक जितनी भी जिज्ञासाएँ अथवा प्रतिपाद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं उन्हें किसी न किसी विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत अवश्य रखा जा सकता है। ऐसा एक भी तथ्य नहीं है जिसे किसी न किसी विज्ञान की परिधि में न रखा जा सके। अतः उन अनुसन्धानों के अतिरिक्त जिनसे विविध विज्ञानों का निर्माण होता है अन्य कोई भी अनुसन्धान शेष नहीं रह जाते जिन्हें मिलाकर तत्त्वमीमांसीय अनुसन्धानों की श्रृंखला खड़ी की जा सके। जहाँ अनुसंधानार्थ तथ्य मौजूद हों और बुद्धिगम्य प्रश्न पूछे जा सकें वहाँ ही विज्ञान का क्षेत्र मौजूद हो जाता है। ऐसा दावा लोग करते हैं। जहाँ ऐसी स्थिति न हो वहाँ ज्ञान का अस्तित्व भी नहीं रह सकता, यह भी उनका कहना है। इस तरह की तर्कना को चाहे जितने युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किया जा सके, उसकी तर्कभासिता आसानी से देखी जा सकती है। शुद्ध तर्कशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो जिज्ञासु के प्रश्न की सत्यता पहले से ही स्वीकार कर लेने का तर्काभास उस युक्ति में ऊपर से ही दिखायी देता है क्योंकि इस तर्कना में पहले ही यह मान लिया गया है कि दुनिया विज्ञान शब्द के पर्याय के रूप में जो स्वीकार कर चुकी है उस माने में 'विज्ञान' नाम की कोई चीज ही नहीं है—यानी उन परीक्षणात्मक विज्ञानों के सिवाय, जिनका लक्ष्य तथ्यों का संग्रह करना और उन्हें पद्धतिबद्ध करना मात्र होता है, कोई अन्य आतर्कित सत्यों का निकाय है ही नहीं—और यही बात तत्त्वमीमांसकों तथा उनके आलोचकों के बीच विवाद का विषय है। तत्त्वमीमांसक यह नहीं कहता कि ऐसे तथ्य मौजूद हैं जिनका उपयोग विशिष्ट विज्ञानों की विभिन्न शाखाएँ नहीं कर पातीं बल्कि वह इस बात पर जोर देता है कि उन तथ्यों के अतिरिक्त जिनका सरोकार उन विज्ञानों से है तथा जिनका हल परीक्षणात्मक जाँच के जरिये निकाला जा सकता है, ऐसे भी प्रश्न मौजूद हैं जो उन तथ्यों के बारे में उठाये जा सकते हैं और उठाये जाने चाहिए। संसार-सरणि के किसी नियत भाग के बारे में सही तथ्यों की उपलब्धि की बात बताने का काम विशिष्ट विज्ञानों के ही जिम्मे छोड़ कर तत्त्वमीमांसक तो सिर्फ यह ही कहता है कि उन तथ्यों के जान लेने के बाद भी हमें इस सर्वसामान्य प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि 'सत्य'

---

१. देखिए एफ० एच० ब्रैडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' पृ० १–४।

और 'तथ्य' वास्तव में क्या हैं और आम तौर पर 'सत्य' और 'असत्य' में पहचान कैसे की जा सकती है। अगर इस तरह का सवाल उठाना किन्हीं घटनाओं और प्रक्रियाओं को विज्ञान के क्षेत्र से निकाल बाहर करना कहा जाय तो यह विवादास्पद प्रश्न को पेश करने का एक गलत तरीका ही होगा। प्रसंगत: इतना और कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आपत्ति से प्रकट होता है कि विविध विज्ञानों के बीच सही विभेद कर सकने के सिद्धान्त को आपत्ति करने वालों ने ठीक तरह समझा ही नहीं है। विभिन्न विज्ञानों में मौलिक विभेद इस कारण नहीं है कि वे सत्य या वास्तविकता की दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों या विभागों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। वह विभेद तो इसलिए है कि वे उस दुनिया के उन सभी रूपों के समग्र को—जो विभिन्न पहलुओं से पेश किए जा सकते हैं—अपनी विषय-वस्तु बनाये हुए हैं। वे इसलिए एक दूसरे से भिन्न नहीं है कि उनका सरोकार तथ्यों के विभिन्न समूहों से है बल्कि वे एक दूसरे से इसलिए नहीं मिलते-जुलते चूँकि तथ्यों को वे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। इसलिए उदाहरण के तौर पर यह मान लेना गलत होगा कि भौतिकी, शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान इसलिए एक दूसरे से भिन्न हैं क्योंकि उनमें से प्रत्येक का तथ्य-समूह-विषयक अध्ययन अलग-अलग है। हो सकता है कि अधीन तथ्य अधिकांशत: एक ही से हों किन्तु उन विज्ञानों का पारस्परिक विभेद इसी कारण जाना जाता है कि प्रत्येक के अध्ययन का दृष्टिकोण एक ही प्रकार के तथ्यों के विषय में भिन्न-भिन्न है। इस तरह देखने पर प्रत्येक ऐच्छिक गति को उपर्युक्त तीनों विज्ञानों के दृष्टिकोण से तीन रूपों में पेश किया जा सकता है यानी भौतिकी के अन्तर्गत द्रव्यकणों के विस्थापनों की श्रृंखला की एक कड़ी के रूप में, शरीरविज्ञान के अन्तर्गत मस्तिष्कीय वल्क-केन्द्र से उद्‌भूत पेशीय आकुचनों के एक निकाय के रूप में तथा मनोविज्ञान के अन्तर्गत किसी उद्‌भूत इच्छा की तृप्ति के रूप में। अत: तत्त्वमीमांसा 'विज्ञान' क्षेत्र के बाहर के कुछ तथ्य-निकायों का अध्ययन करने का दावा नहीं करती बल्कि वह उसी क्षेत्र के अन्तवर्ती उन्हीं तथ्यों पर परीक्षणात्मक विज्ञानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करती है। ऐसा कर सकने के उसके दावे को तभी झुठलाया जा सकता है जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि परीक्षणात्मक विज्ञानों के दृष्टिकोणों के अलावा उन तथ्यों पर विचार करने का बुद्धिसंगत अन्य कोई मार्ग नहीं है जैसा कि उपर्युक्त आपत्ति पेश करने वाले पहले ही से माने बैठे हैं।

(इ) यद्यपि तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्यों की आन्तरिक बोधगम्यता आम तौर पर स्वीकार कर ली गयी है फिर भी उन प्रतिपाद्यों को हल कर सकने की हम तत्त्वमीमांसकों की क्षमता से इनकार किया जाता है। कहा जाता है कि ऐसे तथ्यों का अस्तित्व संभाव्य है, जो आभास मात्र से कुछ अधिक हों लेकिन अपनी मानवीय शक्तियों के बल पर हम उनके विषय में किसी तरह भी कुछ नहीं जान सकते। हमारा

सारा ज्ञान आभासों तक ही सीमित है । इन आभासों को प्रायः प्रपंच[1] भी कहा जाता है। इन प्रपंचों के परे जो कुछ है उस तक हमारी पहुँच ही नहीं है। वह क्या है? कैसा है? इस बारे में दिमाग लड़ाना अपना समय नष्ट करना ही है। इसलिए प्रपंचों के अन्तः सम्बन्ध की एकरूपता तथा तत्सम्बन्धी सामान्य नियमों की खोज से ही हमें सन्तुष्ट हो जाना चाहिये तथा उनके वास्तविक आधार की समस्या को असमाधेय समझ कर त्याग देना चाहिए । तकनीकी तौर पर घटना-क्रिया-विज्ञान नाम से ज्ञात यह सिद्धान्त आजकल अत्यधिक जनप्रिय हो रहा है । ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी यह प्रसिद्धि अधिकतर, नकारात्मक तत्त्व को काण्ट के तत्त्वदर्शन द्वारा अपूर्ण रूप में आत्मीकृत कर लेने के कारण हुई है । दार्शनिक सिद्धांत के रूप में उसके गुणों और अवगुणों का विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। अभी तो तत्त्वमीमांसा को विज्ञान न मानने विषयक आपत्ति के रूप में उसका सांगत्य ही इस सिलसिले में कहीं नहीं बैठता। इस बात के समर्थक स्वयं ही न केवल अपने ही अभ्युपगमों का परस्पर व्याघात लगातार करते हैं (उदाहरण के तौर पर, जहाँ वे कहते हैं कि चरम सत्ता अथवा ध्रुव सत्य के बारे में कुछ भी जान सकना संभव नहीं है, वहाँ उसके साथ वे यह भी जोड़ देते हैं कि सभी 'प्रपंच' सामान्य नियमों द्वारा परस्पर संबद्ध हैं और यह एक ध्रुव चरम सत्य है। अथवा जब वे इसके साथ ही यह कहते हैं कि प्रकृति का क्रम निरपवाद रूप से एकरस प्रवाहित होता है) । उपर्युक्त प्रकार की मान्यता स्वयं ही परस्पर-व्याघात के दोष से युक्त है। उनके इस कथन के कि वे 'प्रपंच' अथवा घटना-क्रिया को जानते हैं तब तक कोई माने नहीं हैं जब तक कि उन्हें चरम सत्यों का कम से कम इतना ज्ञान न हो जाय कि वे निश्चयपूर्वक कह सकें कि वे सत्य जाने नहीं जा सकते । प्रपंचवादी (फिनामिनलिस्ट) कम से कम एक तर्कवाक्य को निरपेक्ष और चरम सत्य रूप में स्वीकार करने के लिए वचन-बद्ध होता है और वह वाक्य है 'मैं जनाता हूँ कि जितना ज्ञान मुझे है वह आभास ही है ।' दर्शनशास्त्र के इस वाक्य के अंशदान के बारे में

---

१. **'प्रपंच'—अपने उन पाठकों से जिनके लिए यह विषय (तत्त्वमीमांसा) नया हो—यह कहने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ कि जब 'तथ्यों' और प्रक्रियाओं के मौलिक रूप से यह अभिप्रेत हो कि वे वास्तविक 'सत्य' नहीं हैं बल्कि अंशतः भ्रामक सत्य मात्र हैं तब उन्हें 'प्रपंच' नाम देना ही उचित है। 'सत्य' तो प्रपंचहीन अथवा परा-प्रपंच होता है। (अच्छा हो अगर हम परा-प्रपंचीय, को 'नामिनल' अथवा प्रपंच विपर्यास कहने की गर्वोक्तिपूर्ण गलती न करें ।**

नोट—काण्ट ने इस तरह का आस्फालन किया है। लेखक का इशारा उसी ओर है । (अनुवादक)

हमारा चाहे जो ख्याल हो लेकिन उन सारभूत तत्त्वों के लिए जिनकी सत्यता अथवा असत्यता का पता लगाना तत्त्वमीमांसीय विवेचना का प्रधान विषय है—वह एक निर्णायक सिद्धान्त ही है। इसलिए जिन युक्तियों द्वारा तत्त्वमीमांसा की असम्भाव्यता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाता है वे सब तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्य[1] की वैज्ञानिक जाँच की आवश्यकता का निरधिक्षेप्य साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

७—पिछले अनुच्छेद के प्रारम्भ में उल्लिखित तर्कों में से अवशिष्ट अन्य दो तर्कों पर यहाँ एक बार फिर संक्षेप में विचार किया जा सकता है। उस आपत्तिकर्त्ता को जिसने दावा किया है कि यदि तत्त्वमीमांसा का अस्तित्व संभव भी हो तो भी वह इसलिए निरर्थक है कि विज्ञान तथा दैनिक जीवन के अनुभव दोनों ही विश्व-विषयक ऐसा संगत सिद्धांत पहले से ही हमारे लिए प्रस्तुत करते रहते हैं जिसमें किसी प्रकार के व्याघात नहीं हैं—हम नीचे लिखे जवाब दे सकते हैं कि :—

(अ) पहले तो उसका यह उपर्युक्त कथन ही सन्देहास्पद है क्योंकि विज्ञान को लोकप्रिय बनाने वाले लोग तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों की रचना के विषय में चाहे जो कहें लेकिन गणितीय तथा परीक्षणात्मक हर एक विशिष्ट शाखा के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि प्राथमिक सारतत्व-विषयक चरम प्रश्न उनके विज्ञान की परिधि के बाहर की वस्तु है। वे चेतावनीपूर्वक हमें स्मरण दिलाते हैं कि प्रत्येक प्रकार के विज्ञान का क्षेत्र कुछ विशिष्ट मान्यताओं द्वारा परिमित हुआ करता है और जो कुछ भी उन पारम्परिक परिधियों के भीतर नहीं समाता उसे अस्तित्वहीन मानकर चलना ही तत्संबद्ध विज्ञान के लिए आवश्यक होता है। इसी आधार पर गणितशास्त्र का क्षेत्र सिद्धांत, संख्याओं और राशियों से युक्त समस्याओं के विवेचन तक ही सीमित माना जाता है। किसी गणितशास्त्री से एक गणितज्ञ की हैसियत से यह नहीं पूछा जा सकता कि क्या ऐसे भी सत्य मौजूद हैं या नहीं जो स्वभावतः संख्याविहीन और राशि-रहित[2] हों। यदि ऐसे सत्य मौजूद भी हों तो कोई गणितशास्त्री अपने शास्त्र की मौलिक मान्यताओं के कारण उन पर विचार करेगा ही नहीं। यही बात भौतिकी के साथ भी है। यदि उसका दर्जा घटाकर उसे केवल शुद्ध गतिविज्ञान ही समझ लिया जाय, तो देश तथा काल के आयामों से संबद्ध विस्थापन मात्र ही उसका विवेच्य विषय होगा। पर उसके हाथ में ऐसे कोई साधन नहीं हैं जिनके द्वारा पता लगाया जा सके कि अन्य सत्यों में भी उपर्युक्त आयाम पाये जाते हैं या नहीं। विभिन्न विज्ञानों द्वारा स्वयं

---

१. देखिये—अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी, अध्याय १२ पृ० १२९ (एडी० १)

२. उदाहरणतः, जैसा कि कुछ मनोविज्ञानियों का ख्याल है सभी मनोदशायें राशिविहीन होती हैं।

ही चरम सत्य-विषयक ज्ञान मनुष्य को उपलब्ध होता रहता है इस सिद्धांत को उसके गहरे प्रतिपादकों ने स्वयं ही त्याग दिया है और उनके ऐसा करने के लिए उपयुक्त कारण भी मौजूद है। उपर्युक्त प्रतिपादक वास्तव में उस कथन के प्रतियोगी सिद्धांत से प्रायः इतने प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने पूर्वाग्रहपूर्वक विश्वास कर लिया है कि चरम सत्य जाना नहीं जा सकता यानी वह अज्ञेय है।

(आ) इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले भी दर्शाया जा चुका है भौतिकीय विज्ञान के निष्कर्ष हमारे दैनन्दिनीय क्रियात्मक अनुभवों से उद्भूत उन विश्वासों तथा उच्चाकांक्षाओं से कभी मेल नहीं खाते जो काव्यों और धर्मग्रन्थों के वाक्यसूत्रों का रूप धारण कर लेती हैं बल्कि एक दूसरे का गहरा विरोध करते से ही प्रायः प्रतीत होते हैं। जहाँ हमारे वैज्ञानिक निष्कर्ष हमें एक दिशा को मार्ग-निर्देश करते हैं वहाँ हमारे अनुभवजन्य गहरे नैतिक तथा धार्मिक विश्वास दूसरा ही रास्ता दिखाते हैं। ऐसी हालत में स्वाभाविक ही है कि हमारे मन में शंका उत्पन्न हो और हम यह पूछ बैठने के लिए मजबूर हों कि यह विरोध वास्तविक और सही है या केवल विरोधाभास ही है तथा यह भी कि यदि उसे सही मान लिया जाय तो अन्यान्य विरोधी इन दोनों अनुभवों को किस हद तक प्रामाणिक माना जा सकता है। तब तत्त्वमीमांसीय विवेचन के अतिरिक्त और कोई तरीका उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर पाने का नहीं बच रहता।

(इ) किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान द्वारा प्राप्त मार्गदर्शन और नीति तथा धर्ममार्ग के क्रियात्मक अनुभवों की शिक्षा में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है और दोनों मिलकर विश्व-क्रम सम्बन्धी एक अन्तिम और संगत सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, तो भी जब तक हम परम सत्य के सामान्य लक्षणों को न जान लें और यह भी कि विविध विज्ञानों द्वारा प्रकल्पित सत्य में वे गुण या सामान्य लक्षण सचमुच मौजूद हैं या नहीं तथा सावधानी से विश्लेषण करके इसका निश्चय भी न कर लें तब तक हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उपर्युक्त सिद्धांत के सही होने की घोषणा कर सकें। इसके अतिरिक्त यदि अन्त में यही साबित हो कि तत्त्वमीमांसा परम सत्य-विषयक कोई नया दृष्टिकोण नहीं पेश कर सकती बल्कि पुराने ख्यालों या सिद्धांतों की पुष्टि मात्र ही करती है, तो भी एक तत्त्वमीमांसक की हैसियत से हमें इतना फायदा तो है ही कि जहाँ पहले जमाने में हम कल्पना मात्र कर सकते थे वहाँ वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का मौका अब हमें मिलने लगा है।

८—दर्शनशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करके तत्त्वमीमांसा के अप्रगतिशील होने विषयक बार-बार उठाये जाने वाले आक्षेप को गलत और अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है। एक तरह से देखा जाय तो तत्त्वमीमांसा के प्रतिपाद्य प्रायः एक-से ही होते हैं। लेकिन दूसरे विज्ञानों के प्रतिपाद्यों के बारे में भी यह बात इसी तरह सही

है। इन प्रतिपाद्यों को हल करने के तरीके और उनसे प्राप्त होने वाले निष्कर्षों की पर्याप्तता विज्ञान के युगयुगीन सामान्य विकास के साथ बदलती रहती है। तत्त्वमीमांसा की परिकल्पना विज्ञान की सामान्य ऐतिहासिक प्रगति को सदा ही प्रभावित करती रही है। इसी प्रकार विज्ञान की प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रगति से तत्त्वमीमांसा का विकास-क्रम भी प्रभावित होता आया है। सत्रहवीं सदी में पुनरुज्जीवित यांत्रिक विज्ञान-विषयक अभिरुचि तथा उस ओर हुई महत्वपूर्ण उन्नति उस शताब्दी की अपनी विशेषता मानी गयी है। इस अभिरुचि और उन्नति का डेकार्टे की दार्शनिक पद्धति तथा उसके निष्कर्षों के निर्धारण में सब से ज्यादा योगदान रहा है। इसी प्रकार उसी युग में आविष्कृत गणितीय कलना, गति-विज्ञान द्वारा स्वीकृत गतिज-सिद्धांत तथा भ्रूण-विज्ञान विषयक ल्यूबेनहोइक की सम-सामयिक खोजों के वैज्ञानिक प्रभावों ने लीबिनिट्ज़ के तत्त्वदर्शन को अछूता नहीं छोड़ा, उनका उस पर बहुत गहरा असर पड़ा। अपने ही जमाने को ले लीजिए जिस की विगत अर्ध-शताब्दि की तत्त्वमीमांसीय परिकल्पनायें इस युग के ऊर्जा-अविनाशित्व तथा क्रमिक-विशिष्टीकरण द्वारा विभिन्न जातियों की उत्पत्ति सम्बन्धी दो महान् वैज्ञानिक सिद्धांतों के आस-पास ही लगातार मंडराया की हैं। तत्त्वमीमांसक अगर चाहे भी तो वह समग्र विश्व-विषयक अन्तिम परिकल्पनाओं के स्वरूप को प्रभावित करने वाले महानतम सम-सामायिक आविष्कारों की अनुमिति से न तो बच ही सकता है और न बच सकने में समर्थ होते हुए भी बच निकलने के लिए स्वतंत्र ही है। इसीलिए विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रत्येक नयी मौलिक प्रगति के बाद उस नयी खोज को देखते हुए पुराने तत्त्वमीमांसीय प्रतिपाद्यों को नये रूप में प्रस्तुत करना और उन पर पुनर्विचार करना जरूरी होता है।[1]

इस भूमिकात्मक अध्याय में रहस्यवाद[2] नाम से ज्ञात अत्यधिक विसारित मानसिक प्रवृत्ति तथा तत्त्वमीमांसक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एकाध शब्द लिखना उचित होगा। आभासीय मायाजाल के परे वर्तमान परम ध्रुव सत्य तक पहुँच

---

१. **विज्ञान की सर्वसामान्य प्रगति के सहगामी तत्त्वमीमांसीय विकास के गंभीर ऐतिहासिक संबंधों की जानकारी के लिए इस विषय के अध्येता को होल्डिंग लिखित 'आधुनिक दर्शनशास्त्र का इतिहास' (अंग्रेजी अनुवाद, मेकमिलन द्वारा दो भागों में प्रकाशित) पढ़ना अत्यन्त लाभदायक होगा। लेखक ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।**

२. **इस विषय के विशद विवेचन के लिए देखिए रॉयस लिखित 'दि वर्ल्ड दि इण्डिविजुअल' प्रथम व्याख्यान माला, व्या० २ व ४ तथा पूर्वोल्लिखित पुस्तक का खंड ४, अध्याय ६ भी।**

सकने का जहाँ तक सवाल है, वहाँ तक रहस्यवादी का मूलभूत लक्ष्य वह सत्य ही है। तत्त्वमीमांसक भी इस विषय में उसका ही साथी है। दोनों का लक्ष्य वह सत्य ही है। दोनों के लक्ष्य की इस आंशिक एकरूपता के होते हुए भी दोनों की कार्य-विधियों में बहुत बड़ा अन्तर है। शुद्ध रहस्यवादी जहाँ एक बार उस सत्य के सान्निध्य में पहुँच पाया भले ही वह जहाँ कहीं मिले—वहाँ से ही इस मायामय आभासी दुनिया से उसका नाता टूट जाता है और उसमें उसे कोई अभिरुचि बाकी नहीं रह जाती। आभास को वह एकदम असत्य और परिणामतः अस्तित्वरहित मानता है। सत्य-विषयक विवेचनाओं के कारण जाग्रत उसकी विशिष्ट भावनाओं का वैशिष्ट्य सत्य के आभास अथवा माया की अनित्यता संबंधी विभेद पर ही आधारित रहता है। इसलिए शुद्ध रहस्यवाद का रुख एकदम नकारात्मक होता है। लेकिन इसके विपरीत तत्त्वमीमांसक का कर्त्तव्य तब तक भी अधूरा ही रहता है जब तक वह माया या आभास मात्र का अतिक्रमण करके (भले ही वह इसके लिए चाहे जिस उपाय का अवलम्बन करे) सत्य-विषयक अपने नवाविष्कृत सिद्धांत की छाया में उस आपेक्षिक सत्य का पता न लगाले जो विश्व की प्रकृति से संबंधित अधूरी और अपूर्ण प्रकल्पनाओं में छिपा रहता है। साथ ही साथ उसे उन विभिन्न आभासों का उनके साथ सत्य के नैकट्य के अनुसार क्रमबद्ध करने का काम भी बाकी रह जाता है। उसे न केवल इतना ही दिखाना जरूरी होता है कि सत्य किन लक्षणों द्वारा जाना-पहिचाना जा सकता है तथा यह कि आम तौर पर जिन चीजों को सत्य अथवा नित्य मान लिया जा चुका है, उन्हें दार्शनिक दृष्टि से आभास मात्र अथवा मायाजन्य मानना क्यों आवश्यक है, बल्कि उसे यह भी साबित करना होता है कि प्रत्येक आभास कहाँ तक अपनी आधारभूत सत्ता का सच्चा स्वरूप प्रकट करने में सफल हुआ है। परम सत्य-विषयक अभिवृत्ति के मामले में ही रहस्यवादी और तत्त्वमीमांसक के दृष्टिकोण एक दूसरे से साफ तौर पर अलग-अलग होते हैं। रहस्यवादी का लक्ष्य मूलतः भावना-प्रधान होता है बौद्धिक नहीं। वह तो सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसे मनःसन्तोष प्राप्त हो और ऐसी संतुष्टि वह किसी ऐसी वस्तु से ही तुरन्त प्राप्त कर सकता है, जिसे अंतिम तथा ध्रुव रूप से सत्य मान लिया गया हो। इसलिए जब वह अपनी भावनाओं को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहता है तब सदा प्रतीकवाद की अस्पष्ट और काल्पनिक भाषा का प्रयोग करता है। यही ऐसी भाषा है जो तत्क्षणीय और अविश्लेषित भावनाओं के प्रकट करने के लिए उपयुक्त है क्योंकि भावनाएँ तर्कसंगत रूप में शब्दों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकतीं। उनके लिए प्रतीकपरक भाषा ही उपयुक्त होती है। लेकिन तत्त्वमीमांसक के लिए बौद्धिक संगति प्राप्त करना ही जिसका उद्देश्य है, प्रतीकपरक भाषा अनुपयुक्त होती है।

प्रतीक सदा से ही बुद्धि के लिए संकट के स्रोत रहे हैं। अगर कोई इसलिए

प्रतीकों का उपयोग करता है कि उनके द्वारा वह कोई ऐसी बात प्रकट करना चाहता है जिसे वह पहले ही अच्छी तरह समझ चुका है, तो इसका मतलब यह होगा कि वह एक स्पष्ट बात को अस्पष्ट चिह्न द्वारा प्रकट कर रहा है। अगर वह चाहे, तो उसे वैज्ञानिक भाषा द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। लेकिन तब इसका मतलब भी एक स्पष्ट बात को अस्पष्ट चिह्न द्वारा कहना मात्र होगा। परन्तु यदि वह उन प्रतीकों का उपयोग रहस्यवादियों की सामान्य प्रथा के अनुसार किसी ऐसी बात को प्रकट करने के लिए, जिसे वह स्वयं समझ नहीं पाता, करता है, तो उस प्रतीक या चिह्न की ही ऊपरी परिशुद्धि के मुलम्मे की चकाचौंध से वह इतना चौंधिया जायगा कि भाषान्तर विषयक उसके भीतरी खोखलेपन को वह देख न पायेगा और निश्चय है कि ऐसी बात अरिष्टजनक होगी। इसीलिए प्लोटिनस और स्पिनोज़ा तथा किसी हद तक हीगेल जैसे बड़े से बड़े तत्त्वज्ञ प्रसिद्ध हैं—स्वयं रहस्यवादी होते हुए भी बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक विचार-सरणि को ही अपनी दार्शनिक कार्य-पद्धति का माध्यम बनाया था। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी संभवतः सही है कि सतत और चिरन्तन के परिवेक्षण द्वारा प्राप्तव्य भावनात्मक परितुष्टि संबन्धिनी, रहस्यवादी की आवश्यकता के अलावा मानव-बुद्धि का झुकाव भी, कोरे गुणपरक तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र के अनुशीलन की अपेक्षा कुछ कम रूखे-सूखे तथा अधिक रुचिकर क्षेत्रों की ओर ही हुआ करता है। दार्शनिक का अन्तिम उद्देश्य भी उसी लक्ष्य तक पहुँचने का होता है जिस तक रहस्यवादी पहुँचने का यत्न करता है। लेकिन दोनों में अन्तर केवल इतना ही होता है कि जहाँ तत्त्वज्ञानी बौद्धिक परिवीक्षण द्वारा उस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है वहाँ रहस्यवादी भावनात्मक परितुष्टि मात्र को ही लक्ष्य प्राप्ति मान बैठता है। तत्त्वज्ञानी का बुद्धिपरक मार्ग ही उसकी अपनी विशिष्टता है।

९—कार्यक्षेत्र की सार्वत्रता तथा कार्यपद्धति की विश्लेषणपरता के आधार पर ही हम तत्त्वमीमांसा की तुलना तर्कशास्त्र से अनेक बार कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही बताना है कि दोनों विज्ञानों का अन्तर किन बातों में है। इसका संक्षिप्त विवरण ही हम यहाँ देंगे। दर्शनशास्त्र के इतिहास में सुविख्यात और अब तक अलुप्त प्रायः एक ऐसा सिद्धांत भी है जिसके अनुसार इन दोनों शास्त्रों में कोई विभेद सम्भव नहीं माना जा सकता। हीगेल यह मानता था कि जिस पदक्रम से मानव मन क्रमशः कम पर्याप्त से अपेक्षाकृत अधिक पर्याप्त की ओर अग्रसर होता हुआ, वास्तविकता अथवा सत्य के चरम रूप तक जा पहुँचता है वे पद आवश्यक रूप से, पदात्पदतः उस प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं जिसके द्वारा प्रापंचिक आरोह-क्रमानुसार सत्य सदावर्धमान पर्याप्तता में परिणत हुआ करता है। अतः हीगेल-पद्धति के अनुसार सत्य या वास्त-विकता विषयक सामान्य लक्षणों का विवेचन तथा अनुमिति विषयक सामान्य रूपों

का निर्धारण दर्शनशास्त्र के ही एक विभाग तर्कशास्त्र के अन्तर्गत आता है। किन्तु उसके इस दृष्टिकोण से हमारे सहमत न हो सकने का आशय इस विवेचना को वर्तमान स्थिति में ठीक तरह और भली-भाँति बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता। किन्तु इन दोनों विज्ञानों के पारस्परिक विभेद के मौलिक कारण प्रस्तुत करने के लिए हम लोत्जे का मार्ग अपना सकते हैं। एक माने में तत्त्वमीमांसा की अपेक्षा तर्कशास्त्र का अनुसंधान-कार्य अधिक विशद होता है क्योंकि तर्कशास्त्र के अन्तर्गत उन सार्वत्रिक शर्तों से हमें काम पड़ता है जिनके आधीन हमारी विचार प्रक्रिया अपितु हमारी अनुमिति अपना काम करती है कि असत्य सारतत्त्वमय कुछ तर्कवाक्यों के समेकित हो जाने से वे शर्तें पूरी हो जायें। तब यह भी संभव हो सकता है कि जिन संबंधैक्यों द्वारा सत्य आधारों से तत्त्वतः सत्य अनुमान उद्भूत हुआ करते हैं—उन्हीं सम्बन्धैक्यों के कारण असत्य सारमय आधारों से असत्य अनुमान भी प्राप्त हो जाय। अतः स्पष्ट है कि वैधतर्कना द्वारा सदा सच्चे अनुमान ही उपलब्ध होते हों सो बात नहीं, इसलिए हम कह सकते हैं कि जहाँ तत्त्वमीमांसा का विवेच्य विषय सत्य अथवा वास्तविकता के गुण और लक्षण मात्र हैं वहाँ तर्कशास्त्र की विवेच्य वस्तु है—वैध अनुमेयों की लक्षणामात्र। भले ही वे अनुमेय वास्तविक और सत्य हों चाहे एकदम अवास्तविक और असत्य। दोनों शास्त्रों में पहचान करने का जो तरीका ऊपर बताया गया वह यथासाध्य वास्तविक होते हुए भी आवश्यक रूप से अन्तिम अथवा एकमात्र तरीका नहीं कहा जा सकता क्योंकि संभव है कि वे परिस्थितियाँ या शर्तें जिन पर अनुमिति की संभाव्यता निर्भर है अन्ततोगत्वा सत्य की संरचना अथवा वास्तविकता की निर्मिति के समरूप हों अथवा तत्परिणामी। यदि किन्हीं परिस्थितियों में, हम वस्तुओं के अवास्तविक स्वरूप की परिकल्पना करके वैधतर्कना करते हुए उन निष्कर्षों तक जा पहुँचते हैं जो हमें उस अवस्था में प्राप्त होते जब वस्तुओं का यह हमारा कल्पित स्वरूप वास्तविक होता, तो यह बात स्वयं वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप की परिणति अथवा फल कही जायेगी। दरअसल बात यह है कि तत्त्वमीमांसा के मौलिक प्रश्नों का सामना करने के लिए मजबूर हुए बिना, तर्कशास्त्रियों ने स्वयं अपने शास्त्र के मूल आधारों तथा प्राथमिक सिद्धांतों की गहरी छानबीन कर सकना सदा ही असंभव पाया है। अतः बेकन की सुप्रसिद्ध उपमा के अनुसार इन दोनों शास्त्रों के पारस्परिक विभेद की तुलना संगमर्मर की अनवरत चट्टान में पायी जाने वाली प्रस्तर शिरा से ही की जा सकती है न कि उसमें वर्तमान विदलन रेखा से किन्तु यह विभेद इस प्रकार सूक्ष्म और अविदल होते हुए भी इतना प्रभावी तो है ही कि जहाँ अनेक तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों का सीधा असर तर्कशास्त्र पर नहीं पड़ता वहाँ उसी तरह साक्ष्य सिद्धांत के विविध अंकों का अध्ययन ज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में ही भली प्रकार किया जाता है।

१०—हाल के कुछ वर्षों में अध्ययन की एक प्रशाखा को जो 'एपिस्टोमोलोजी अथवा ज्ञान-सिद्धांत' नाम से प्रसिद्ध है पर्याप्त प्रमुखता प्राप्त हुई है। 'ज्ञान-सिद्धांत' नामक इस शास्त्र की मूलभूत विवेच्य भी सामान्य तर्कशास्त्र के विवेच्य के सदृश वे परिस्थितियाँ ही हैं जिन पर सत्यपरक हमारे ज्ञान भण्डार की विवेचना की वैधता निर्भर है। 'ज्ञान-सिद्धांत' अथवा ज्ञानशास्त्र सामान्य तर्कशास्त्र से इस बारे में भिन्न है कि वह प्रमाण-विषयिका विविध प्रक्रियाओं के ब्योरेवार विवरण का विवेचन नहीं करता अपितु अपना ध्यान उन अति व्यापक तथा चरम परिस्थितियों तक ही सीमित रखता है जिनके अन्तर्गत वैध विचार कर सकना संभव है। सामान्य तर्कशास्त्र की प्रचलित तर्कना की अपेक्षा ज्ञानशास्त्र इन व्यापक सिद्धांतों पर कहीं अधिक दृढ़ और व्यवस्थित विवेचना किया करता है, चूँकि परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत सत्य प्राप्तव्य हो सकता है, अन्ततोगत्वा वास्तविकता के ज्ञानगम्य स्वरूप पर निर्भर रहती है, अतः स्पष्ट है कि ज्ञानशास्त्र की वे समस्यायें जो सामान्य तर्कशास्त्र की सीमारेखाओं के भीतर किसी हद तक नहीं आतीं (जैसे साक्ष्य आकलन सम्बन्धी सिद्धांत) स्वरूपतः तत्त्वमीमांसीय ही हैं। अपनी विवेचनाओं को ज्ञानशास्त्र के नाम से अभिहित करने वाले लेखकों के व्यावहारिक आचरण से प्रकट है कि उनका यह ज्ञानशास्त्र तत्त्वमीमांसा और तर्कशास्त्र का मिलाजुला रूप ही है जिसमें तत्त्वमीमांसा का प्राधान्य है। चरम सिद्धांत सम्बन्धी अपनी इस विवेचना को भी यदि हम 'एपिस्टोमोलोजी' या ज्ञानशास्त्र का नाम दें तो शायद कोई विशेष हानि न होगी लेकिन समग्ररूप से देखने पर उसे तत्त्वमीमांसा के पुराने नाम से ही पुकारना दो कारणों से अधिक उपयुक्त और उचित होगा। ज्ञान के अभिप्रेत अर्थ की विवेचना तत्त्वमीमांसक के कर्तव्य कर्म का एक अन्यतम अंग मात्र है। सत्यपरक वास्तविकता न केवल ज्ञातव्य है अपितु वह ऐसी वस्तु भी है जो अगर हमें प्राप्त हो जाय तो हमारी आकांक्षायें पूरी कर दे और हमारी भावनाओं को सन्तुष्ट। अतः वास्तविकता या सत्यपरक सिद्धांत और मन्तव्य का स्वरूप इस प्रकार का होना आवश्यक है कि जो क्रियात्मक आचरण और सौन्दर्य भावना तथा ज्ञान के चरम अभिप्रायों से सम्बद्ध रहकर चले। न केवल 'सत्यम्' अपितु 'शिवम्' तथा 'सुन्दरम्' भी हमारे इस अध्ययन के लक्ष्य हैं।

अब अगर 'ज्ञान-सिद्धान्त' या ज्ञानशास्त्र नाम से यह समझा जाय जैसा कि कभी-कभी समझा भी गया है—कि उसके द्वारा ज्ञानस्थ अन्तर्वस्तु के अध्ययन से व्यतिरिक्त ज्ञानशक्ति के स्वरूप तथा उसकी शक्यताओं का अध्ययन किया जा सकता है, तो इस प्रकार का सुझाव निश्चय ही भयानक भ्रम का जनक हो जायेगा । ज्ञान शक्ति की शक्तियों और मर्यादाओं का अभिनिश्चय केवल तत्सम्बद्ध ज्ञान की सत्यता के अनुसन्धान द्वारा तब हो सकता है जब उस ज्ञान की वास्तविकता को अवबोध मान कर चला जाय।

'ज्ञान शक्ति' को उसके प्रायोगिक परिणामों से अपाकृष्ट करके उनसे उसे विलग करने तथा उसकी बनावट की परीक्षा करने का, कोई संभव तरीका उसी तरह नहीं है जिस प्रकार किसी मशीन की परीक्षा उसके काम के नतीजों की जाँच किये बिना नहीं की जा सकती। मशीन की जाँच-पड़ताल करने का सबसे बढ़िया तरीका तो यही है कि उससे काम लेकर देखा जाय और तभी हम सही तौर पर परख कर सकते हैं कि उस मशीन से कितना और क्या-क्या व कैसा काम लिया जा सकता है। इसी आधार पर अपने विवेच्य विषय के नाम का चुनाव करते समय यह उचित होगा कि हम ऐसा नाम चुनें जिससे जाहिर हो सके कि जानने अथवा ज्ञान प्राप्त करने का सिद्धांत अवश्य रूप से अस्तित्व का सिद्धांत भी है।

अधिक जानकारी के लिए देखिए ——एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' की भूमिका, एल० टी० हॉब हाउस कृत 'दि थियोरी ऑफ नौलेज' की भूमिका, एच० लोत्ज़े कृत 'मेटाफिजिक्स' की भूमिका (अंग्रेजी अनुवाद खण्ड १, पष्ठ १–३०)।

अध्याय २

तत्त्वमीमांसीय निकष तथा तत्त्वमीमांसीय विधि

१—वास्तविकता कभी आत्मविरोधिनी नहीं हुआ करती, नामक इस सिद्धांत से हमें वास्तविकता का एक सार्वत्र तथा सुनिश्चित ऐसा निकष प्राप्त होता है जो केवल नकारात्मक ही नहीं अपितु जिसमें वास्तविकता के एक संगत प्रणाली होने की निश्चयात्मक दृढ़ोक्ति भी संपृक्त है। २—इस कसौटी या निकष की वैधता इस सुझाव से प्रभावित नहीं होती कि वह एक तर्कशास्त्रीय नियम मात्र हो सकता है। ३—न इस प्रकार के किसी सन्देह का उस पर कोई प्रभाव पड़ता है कि क्या हमारा ज्ञान सापेक्ष माना ही नहीं गया है। इस तरह का सन्देह अपने आप में ही निरर्थक है। ४—व्यवस्थात्मक सामग्री का जहाँ तक सवाल है वह सामग्री तो अनुभूति अथवा अव्यवहृत मनस्ततीय तथ्य ही है। ५—उस सामग्री की वास्तविक अनुभूति होना आवश्यक है न कि अनुभूति की संभाव्यताएँ मात्र होना, किन्तु वास्तविक अनुभूति को भावना का समरूप नहीं मानना होगा। ६—न हमें यह कल्पना ही कर लेनी होगी कि अनुभूति व्यक्तियों और उन की दशाओं से मिल कर बनती है न यही मान लेना होगा कि वह 'चेतना' की दशाओं का अनुवर्तन मात्र है। ७—अनुभूति की अव्यवहानि ही उसकी सामग्री की अवच्छेदिका होती है। अव्यवहृति से हमारा अभिप्राय है अस्तित्व और अन्तर्वस्तु नामक दोनों पहलुओं का एकल समग्र में संयुक्त होना। ८—विमर्श्य ज्ञान अथवा विचार में आकर अस्तित्व और अन्तर्वस्तु का यह संयोग फिर विलग हो जाता है किन्तु उच्चतर स्तर पर जाकर फिर से उन दोनों को संयुक्त किया जा सकता है। ९—इसके अतिरिक्त अपनी अन्तर्वस्तु के मामले में अनुभूति सदा ही विश्लिष्ट रूप में प्रतीत होती है जो साथ ही साथ सर्वग्राही, व्यवस्थित तथा प्रत्यक्ष भी हो। १०—सत् अथवा वास्तविकता का पर्याप्त निग्रहण ऐसी ही पूर्ण अनुभूति के रूप में संभव है। इस प्रकार की अनुभूति का सामान्य अथवा औपचारिक स्वरूप क्या हो सकता है तथा मानव अनुभूति तथा ज्ञान के विविध क्षेत्र कहाँ तक उसके निकट पहुँचते हैं, इन बातों का सही पता लगाना ही तत्त्वमीमांसा की समस्या है। पूर्ण अनुभूति में प्रस्तुत वास्तविकता का जो ज्ञान तत्त्वमीमांसा देती है वह अपूर्ण होते हुए भी जहाँ तक उसकी गति है वहाँ तक अन्तिम होता है। ११—तत्त्वमीमांसा के विधि-विधान के विषय में यही कहा जा सकता है कि उसको विश्लेषणपरक, आलोच-

नात्मक तथा अनुभवाश्रित होना आवश्यक है। साथ ही उसे अशिक्षात्मक भी होना चाहिये। उसकी विधियों को प्राणानुभवात्मक भी तब कह सकते हैं यदि इस को मनोवैज्ञानिक आदिकालीन समझ लेने की गड़बड़ हम नहीं करते। हमारी कार्य-विधि हीगेलीय द्वन्द्वात्मक तर्क विधि क्यों नहीं हो सकती ?

१--यदि हम वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप तथा उनके आभासी स्वरूप की पारस्परिक भिन्नता का कोई निश्चित और बोधगम्य अर्थ निर्धारित करना चाहें, तो इस भिन्नता के स्पष्ट निर्धारण के लिए हमारे पास किसी इस प्रकार के सार्वत्र निकष या कसौटी का होना जरूरी है जिसके द्वारा हम दोनों की अलग-अलग पहचान कर सकें। सबसे पहले तो इस कसौटी या निकष का अचूक अथवा अव्यभिचारी होना आवश्यक है। यानी यह जरूरी है कि वह कसौटी इस तरह की हो कि हम अपनी विचार-शृंखला में परस्पर विरोध उत्पन्न किये बिना उस कसौटी की वैधता पर सन्देह कर ही न सकें। दूसरी बात यह कि यह लक्षण सभी प्रकार की वास्तविकता में पाया जाये और अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध न हो। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, तर्कशास्त्र की यांत्रिक शब्दावली में इस निकष का ऐसे अवच्छेदक तर्कवाक्य का जिसका उद्देश्य वास्तविकता हो, विधेय होना आवश्यक है। हम निश्चयपूर्वक कह सकें कि यह लक्षण अथवा अमुक चिह्न केवल समग्र वास्तविक मान्य में ही उपलब्ध हो सकते हैं अन्यत्र नहीं। इस पुस्तक के पिछले अध्याय में प्रस्तुत युक्ति से यह झलक ही गया होगा कि हमारा सिद्धांत कि 'जो वास्तविक या सत्य है वह कभी आत्मविरोधी नहीं हो सकता और जो आत्मविरोधी है वह कभी सत्य या वास्तविक नहीं है--उपर्युक्त प्रकार की कसौटी या निकष प्रस्तुत करता है। वदतोव्याघात दोष रहित होना ही उस सबका जो वास्तविक है, एक लक्षण है और अन्ततः यह लक्षण वास्तविक से भिन्न अन्य किसी वस्तु में भी नहीं पाया जा सकता। अतः इस लक्षण या गुण को ही हम वास्तविकता की कसौटी या निकष मान सकते हैं। क्योंकि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि हम अपनी बुद्धि की मौलिक रचना पर अत्याचार किए बिना आत्म-व्याघाती अथवा आत्मविरोधी को वास्तविक नहीं स्वीकार कर सकते और यहीं से वास्तविक तथा आभासी मात्र का विभेद प्रारम्भ होता है। दूसरी ओर जहाँ हम अपने विचार अथवा अनुभव में व्याघात नहीं पाते वहाँ हमें ऐसा सन्देह करने के लिए कि हमारे अनुभव और सोच-विचार का सार सचमुच ही वास्तविक अथवा सत्य नहीं है कोई आधार नहीं रह जाता है। क्या वास्तविक है और क्या आभासी मात्र, इस बात की जाँच करते समय भले ही वह कितनी ही सीधी-सादी और प्राथमिक जाँच क्यों न हो हम अपने प्रत्येक उपनय में यह मान कर ही चलते हैं कि अगर वस्तुओं की स्वाभाविक स्थिति अन्योन्य व्याघाती पायी जाय तो उस स्थिति में हम तद्विषयक सत्य अथवा वास्तविकता की तह तक नहीं पहुँच सके हैं। दूसरी ओर हम अपने सोच-विचार और अनुभव

के परिणामों को तब तक वैध रूप से पूरी तरह सही सत्य अथवा वास्तविक, मानते रह सकते हैं जब तक कि उन्हें व्याघाती सिद्ध न कर दिया जाय । अतः जब हम इस तर्क वाक्य को कि वास्तविक कभी आत्मव्याघाती नहीं होता एक सार्वत्र कसौटी के रूप में पेश करते हैं तब हम वस्तुस्थिति विषयक समग्र, तार्किक विचारण से सम्बद्ध एक प्रमुख सिद्धांत को ही अधिक विशद रूप में प्रस्तुत कर रहे होते हैं और उस सिद्धांत का सार्वत्रिक उपयोग कराना चाहते हैं । अस्तित्व के समग्र विश्व के संबंध में इस प्रकार के एक सामान्य कथन के विनियोग का प्रयत्न यद्यपि साहसिक-सा लगेगा किन्तु इस साहसिकता को स्वीकार करने के लिए हम तभी से बाध्य हो जाते हैं जब से हम व्याघात के दोनों ही पहलुओं को सत्य मानने से इनकार कर देते हैं ।

'वास्तविक कभी आत्मव्याघाती नहीं होता' यह सिद्धांत पहले-पहल देखने पर अभावात्मक या नकारात्मक-सा ही प्रतीत हो सकता है और हम शायद कह उठें कि इस सिद्धांत में हमें केवल यह बतलाया गया है कि वास्तविक क्या नहीं है, यह नहीं कि दरअसल क्या है। इस बारे में हमें अब भी अँधेरे में रखा गया है । लेकिन ऐसा सोचना मिथ्या होगा। जैसा कि आज के वैज्ञानिक तर्कशास्त्र में बतलाया गया है कोई भी सत्य और सार्थक अभावात्मक केवल निषेधात्मक नहीं हुआ करता। सभी सार्थक निषेध का अभिप्राय वास्तव में किसी निश्चयात्मक आधार पर खड़े होकर अन्य सब का अपवर्जन करना मात्र होता है। जब तक हमें निश्चय रूप से पता न हो कि 'अ' का 'ब' होना किसी तरह भी संभव नहीं है और 'अ' का अस्तित्व 'ब' के अस्तित्व से असंगत तथा असंभाव्य है यानी इस प्रकार की संभावना को वह अपवर्जित करता है, तब तक हम कभी घोषित नहीं कर सकते कि 'अ' 'ब' नहीं है।[1] ऐसी घोषणा हम 'ब' के विषय में निषेधात्मक पक्की सूचना पाकर ही कर सकते है। 'अ' 'ब' है एतद्विषयक हमारा अज्ञान अथवा ऐसा कह सकने के लिए पर्याप्त आधार खोज सकने की हमारी असमर्थता मात्र कभी भी हमें ऐसा कह सकने के लिए किसी प्रकार का तर्कशास्त्रीय समाश्वासन

---

१. देखिए बोसांक्ये, 'एसेंशियल्स ऑफ लॉजिक', व्याख्यान सं० ८१ । उदाहरण रूप में हम एक पराकोटिक मामला ही ले लें। हम कहते हैं कि 'कल कोई जैबरवांक नहीं मारा गया'। हमारे इस नकारात्मक कथन का आधार क्या है ? देखने में यह कथन पहले एक अभावात्मक या निषेधात्मक वाक्य मात्र लगता है, मानो मारने के लिए जैबरवांक नामक कोई वस्तु ही नहीं । लेकिन विश्वासपूर्वक ऐसी बात कहने से पहले हमारे पास पशुजीवन की रचना तथा पशुओं के स्वभाव सम्बन्धी वह सब पर्याप्त सूचनायें होना आवश्यक है, जिनके आधार पर हम कह सकें कि जैबरवांक

प्रदान नहीं करती कि स्वयं 'अ' 'ब' नहीं है अर्थात् हम सही तौर पर यह तब तक नहीं कह सकते कि 'अ' 'ब' नहीं है जब तक कि हमारे पास ऐसा कोई सत्य आधार न हो जिसका 'अ' को 'ब' बताने से व्याघात होता हो। इसलिए वास्तविकता कभी आत्मव्याघाती नहीं होती, कहने का यही मतलब है कि हम जानते हैं और सही और ध्रुव रूप से समझते हैं कि वास्तविकता निश्चय ही आत्मसंगत या आत्मसंपृक्त होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वास्तविकता चाहे और कुछ भी हो लेकिन वह किसी न किसी प्रकार का व्यवस्थित पूर्ण अवश्य है। वास्तविकता विषयक हमारा ज्ञान कहाँ तक आगे जाता है और उसे हम निश्चयपूर्वक किस प्रकार का पूर्ण समझ पा सकते हैं —इन सब बातों पर इस पुस्तक के अगले प्रकरणों में प्रकाश डाला जायगा। लेकिन अपने अनुसन्धान के मौजूदा स्तर पर भी इतना तो हम विश्वासपूर्वक कह ही सकते हैं कि अगर वास्तविक और आभासी की भिन्नता एकदम निरर्थक ही न हो, तो निश्चय ही यह कहना ध्रुव सत्य होगा कि 'वास्तविकता'[1] अथवा विश्व आत्मसंगत और व्यवस्थित पूर्ण ही है।

२—संभव है कि हमारी इस सैद्धांतिक घोषणा से कि वास्तविक अथवा सत्य

नामक तथाकथित पशु या जीव के बारे में वर्णित लक्षण पशु जीवन के नियमों के व्याघाती हैं और तभी हम जैबरवांक के अस्तित्व का निषेध भी निध्यात्मक रूप से कर सकते हैं। या अगर फिर भी हम जैबरवांक के अस्तित्व से इनकार इस आधार पर करें कि हमने आज तक एक भी नमूना जैबरवांक नामक जीवन का नहीं देखा तो इसमें भी पशुलोक तथा उसके जितने भाग का निरीक्षण हमने किया है तद्विषयक हमारा निध्यात्मक निर्णय इस प्रकार शामिल होगा कि अगर जैबरवांक नामक कोई जीव होता, तो ज़रूर वह हमारी नजरों से गुजरा होता, या हम कहते कि पशुओं की विविध जातियों से मेरा इतना अधिक घनिष्ठ और संयोगपूर्ण परिचय है कि उक्त प्रकार का सामान्य कथन करने का मेरे पास पर्याप्त आधार मौजूद है। चूँकि प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में सार्वत्रिक विधायक तर्कवाक्य का दोहरे निषेधात्मक तर्कवाक्य के रूप में प्रयोग 'सुविधाजनक' माना जाता है इसलिए हमें उसकी विचार विषयक अग्रिमता के संबंध में मिथ्या धारणा न बना लेनी चाहिए।

१. ऐसे आलोचकों के जवाब में—जिन्हें 'वास्तविकता' शब्द को मोटे अक्षरों से लिखने वालों का मजाक बनाने में ही मजा आता है—हम एक ही बार साफ-साफ कह देना चाहते हैं कि जब हम वास्तविकता को बड़े अक्षरों द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं, तो हमारा अभिप्राय उस वास्तविकता से होता है जो वास्तविक पारमार्थिक सत्य है न कि सापेक्षिक वास्तविक मात्र से।

सदा आत्मसंगत ही होता है और उसकी यह आत्मसंगति ही वास्तविकता की ध्रुव और अचूक कसौटी है---कुछ अविश्वासी लोगों के मन में उसके बारे में सन्देह उठ खड़े हों और ये किसी हद तक महत्त्वपूर्ण हो सकें। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उन पर यहीं पूरी तरह विचार कर लेना हम उचित समझते हैं। ऐसे लोगों की उपयुक्त कठिनाई को हम अधिकतम सयुक्तिक तथा व्यक्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि 'आपने जो कसौटी पेश की है वह वास्तव में कुछ नहीं है, आपने तर्कशास्त्र के वदतोव्याघात नियम को ही एक नयी शक्ल और चक्कर देने वाली रीति से प्रस्तुत किया है और चूँकि तर्कशास्त्र के दूसरे नियमों की तरह ही वदतोव्याघात नियम का भी सरोकार वास्तविक वस्तुओं से नहीं हुआ करता अपितु वस्तुओं का वह प्रत्यय ही जिसके द्वारा हम उन वस्तुओं का ध्यान किया करते हैं अनन्य रूप से उसकी विचार-वस्तु होता है। जब कोई तर्कशास्त्री अपने शास्त्र के मौलिक सत्य के रूप में दावा पेश करे कि 'अ' कभी भी 'ब' तथा 'अ' 'ब' एक साथ नहीं हो सकता तब समझना चाहिए कि उसके 'अ' और 'ब' हमारे उस वास्तविक संसार की वस्तु नहीं होते जिसका संदर्भ हमारे विचारों में मौजूद हुआ करता है बल्कि उन 'अ' 'ब' का अभिप्राय इन वस्तुओं के उन प्रत्ययों से हुआ करता है जिनकी कल्पना तद्विषय में पहले से हो चुकी होती है। अतः तर्कशास्त्री का उपर्युक्त नियम विचार-पद्धति का एक नियम मात्र है। उस नियम के अनुसार वह जो कुछ कहना चाहता है और सही तौर पर कहना चाहता है वह केवल इतना ही है कि "आप एक ही समय और एक ही अर्थ में एक साथ यह, नहीं सोच सकते कि 'अ' 'ब' है और 'ब' नहीं भी है। वह यह दावा कभी नहीं करता कि यद्यपि इस प्रकार की परिस्थिति विचार का विषय न भी हो लेकिन तथ्य रूप से वास्तविक अथवा सत्य हो सकती है। आप हमारे इस विचारविषयक नियम को लेकर चुपचाप यह मान कर चलने लगते हैं कि यह नियम उन वस्तुओं का भी नियम है जिनके बारे में हम विचार करते हैं और फिर इस नियम को उन वस्तुओं की वास्तविकता की अचूक कसौटी के रूप में पेश कर रहे हैं। अतः आपकी यह विचार विधि गैरकानूनी है और तदनुसार प्रस्तुत किया गया आपका यह निकष भी थोथा है।"[1]

विचिकित्सु लोगों की इस सामान्य शंका के हमारे इस प्रत्युत्तर से, पिछले अध्याय में वर्णित तत्त्वमीमांसीय तथा तर्कशास्त्रीय समस्याओं के पारस्परिक घनिष्ठ

---

१. **यही कठिनाई एक बार फिर तब हमारे सामने आयेगी जब आगे चलकर हम उस काण्ट द्वारा परमात्मा के अस्तित्व विषयक जैवविकासविद्या संबंध प्रमाण:---के प्रसिद्ध एतराज के रूप में प्रस्तुत सिद्धांत का उत्तर देंगे। अवान्तर खण्ड ४, अध्याय ५, अनुच्छेद ६८।**

संबंधों पर, प्रसंगवश मनोरंजक प्रकाश पड़ेगा । सबसे पहले हम ऐसे विचिकित्सुओं को तुर्की ब तुर्की जवाब ही क्यों न दे लें । हम उनसे कहेंगे कि अवैध अभ्युपगम का अभियोग तो पहले आप ही पर लागू होता है। आपकी पूरी बहस ही एक ऐसे अभ्युपगम पर आधारित है जिसके लिए आपके पास कोई न्याय्य आधार नहीं है क्योंकि जब आप यह कह कर कि वदतोव्याघात का नियम एक वैचारिक नियम मात्र है, इस प्रकार के महत्वपूर्ण परिणाम की स्वीकृति की आशा हम से करते हैं, तो उसके लिए किसी प्रकार का कारण तो आप को प्रस्तुत करना ही चाहिए। हम इतने से ही संतुष्ट न होकर यह युक्ति भी पेश करेंगे कि विचिकित्स महोदय द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याघात नियम विषयक टीका का ध्रुव आधार भ्रान्ति ही है। वैचारिक नियम से हमारा मतलब या तो (अ) किसी ऐसे मनोवैज्ञानिक नियम से होता है जो हमारे सोच-विचार करने के तरीके के बारे में एक सामान्य किन्तु सही कथन के रूप में पेश किया जाय या फिर (ब) हमारा मतलब किसी ऐसे तर्कशास्त्रीय नियम से होता है जो उन परिस्थितियों का, जिनके अन्तर्गत हमारा विचारण वैध माना जा सके एक सामान्य और सत्य विवरण प्रस्तुत करे। विचिकित्स लोगों की उपर्युक्त युक्ति की सत्याभासिता 'वैचारिक नियम' नामक संज्ञा के दोनों परात्पर अत्यंत भिन्न अभिप्रायों के बीच एक अचेतन भ्रांति के कारण ही उत्पन्न होती है। पहले तो इसमें भी सन्देह मालूम होता है कि व्याघात का नियम, यदि मनोवैज्ञानिक नियम के तौर पर पेश किया जाय, तो सही भी होगा या नहीं। कम से कम यह बताना कठिन ही है कि मानवसत्ता एक ही काल में समान विश्वास के साथ दो परस्पर विरोधी तर्कवाक्यों को सत्य मान कर रह सकती है या नहीं। निस्सन्देह ऐसे व्यक्ति भी कभी-कभी मिल जाया करते हैं जो दो परस्पर विरोधी तर्कवाक्यों को एक-सी ही दृढ़ता से मान सकते हैं । हमें उन दोनों दृष्टिकोणों का पारस्परिक विरोध आसानी से दीख जाता है परन्तु वे लोग स्वयं उन प्रत्ययों की पारस्परिक असंगति से प्राय: अनभिज्ञ ही रहते हैं। अगर ऐसे लोगों को इस असंगति से अभिज्ञ किया भी जाय तो क्या वे सब अपने-अपने विश्वासों को पुनस्संस्कृत करने के लिए उद्यत होंगे या नहीं ? यह प्रश्न जितनी आसानी से पूछा जा सकता है उतनी आसानी से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। लेकिन इतना तो किसी तरह निश्चित ही है कि तर्कशास्त्री अपने वदतो-व्याघात नियम को इस अर्थ में एक मनोवैज्ञानिक के रूप में हम पर लादना नहीं चाहता, कि हम किस वस्तु पर विश्वास करने में सफल हो सकते हैं और किस पर सफल नहीं हो सकते। वह इतना ही चाहता है कि उसके इस नियम का यही शुद्ध तार्किक अभिप्राय माना जाय कि वह नियम उन परिस्थितियों का जिनके अन्तर्गत किसी प्रकार की भी विचारणा वैध हो सकती है एक विवरणमात्र है। वह जो कुछ कहता है उसका मतलब यह नहीं कि मैं 'अ'. 'ब' हैं और 'ब' नहीं' सोच नहीं सकता बल्कि यही कि

यदि मैं ऐसा सोचूँ तो मेरी इस प्रकार की विचारणा 'सत्य' नहीं हो सकती। वस्तुओं के विषय में विचार करने का अर्थ ही यह होता है कि उनकी वास्तविक प्रकृति के अनुसार ही उन पर विचार किया जाय न कि उस अपूर्ण बोध के अनुसार जो कि ऊपरी देख-रेख या आभास मात्र से हमें प्राप्त होता है। इसलिए यह कहना कि व्याघात का अभाव अथवा अव्याघात विचारणा की एक मौलिक शर्त है—इस कथन के बराबर होगा कि अव्याघात वास्तविक अस्तित्व का मौलिक लक्षण है। चूँकि व्याघात का नियम तर्कशास्त्र का एक नियम है इसलिए वह केवल तर्कशास्त्रीय नियम मात्र नहीं रह सकता। उसका तत्त्वमीमांसीय नियम होना भी आवश्यक है। यदि विचिकित्सु को अपनी विचिकित्सापूर्ण स्थिति कायम रखना है, तो उसे उसी प्रकार तर्कशास्त्र के साथ तत्त्वदर्शन को भी शामिल किए रहना आवश्यक है जिस प्रकार कि प्राचीन काल के पक्के विचिकित्सुगण साहसपूर्वक तत्त्वमीमांसा को भी तर्कशास्त्र के साथ अपने सन्देहास्पदों में शामिल किए रहते थे।

३—लेकिन, मान लीजिए कि कहीं विचिकित्सु यही तरीका लेकर चल निकलें और कहें कि हमारा सारा सत्य केवल सापेक्षिक सत्य ही है और यह कि सत्य विचारणा की सब मौलिक शर्तें भी सापेक्षिक रूप से ही वैध हैं और सिर्फ हमारे लिए ही वैध हैं। ऐसी हालत में आपको क्या अधिकार है कि आप उन्हें एकान्त रूप में वैध मान लें और उस आधार पर वस्तुओं की वास्तविक संरचना या गठन के बारे में बहस करें? विचिकित्सु की इस प्रकार की विचिकित्सा की मंशा क्या है और क्या इस प्रकार की शंका तर्कानुगत भी है? इस प्रश्न का उत्तर, त्याग अथवा निषेध के तर्कशास्त्रीय लक्षण के विषय में हम जो कुछ पहले ही जान चुके हैं—उसी से हमें सुलभ हो जाता है। सन्देह जो एक प्रकार का अस्थायी इनकार या त्याग हुआ करता है निषेध या अपवर्जन के समान जो पूर्ण अथवा स्थायी त्याग का ही प्रतिरूप है, पहले ही से किसी न किसी प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान के तार्किक अस्तित्व को मानकर चलता है। किसी निर्धारित तर्कवाक्य की सत्यता के विषय में शंका करना तब तक कभी तर्कसंगत नहीं होता जब तक कि हमारे पास किसी ऐसे ध्रुव सत्य का बलबूता न हो जिससे हमारे प्रस्तुत निर्णय का मेल न खाता प्रतीत हो। यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम किसी ऐसे कथन को इस आधार पर सत्य मानने में हिचकते हैं कि वह कथन किसी ऐसे अन्य कथन का जिसे पहले से ही सत्य माना जा चुका है या जो सत्य समझा जा रहा है—विरोधी प्रतीत होता है और हमें उस कथन की उस पहले से ज्ञात सत्य कथन के साथ संगति नहीं बैठी मिलती। यह बात उन उदाहरणों में जहाँ हम अपर्याप्त साक्ष्य के कारण अपना निर्णय स्थगित कर दिया करते हैं—यद्यपि ऊपर से देखने में कम स्पष्ट होती है किन्तु विचार से उतनी ही स्पष्ट दिखायी देने लगती है। किसी तर्कवाक्य को

सिद्ध करने के लिए जितना ध्रुवज्ञान, भले ही उसके साक्ष्य का प्रकार और परिमाण सदोष हो, पर्याप्त रूप से प्राप्त हो सकता है उतने ज्ञान के बिना उसकी सत्यता पर शंका करना अथवा उस पर विश्वास कर लेना दोनों ही बातें असंगत होंगी। जब तक हमें यह पता न हो चाहे कुछ हद तक ही कि किसी बात को सिद्ध करने के लिए किस साक्ष्य की आवश्यकता है तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि हमारे सामने प्रस्तुत साक्ष्य पर्याप्त है अथवा नहीं ?[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत यह विरोधाभासिक यौक्तिक संदेह में ही हमारे ज्ञान के किसी अंश से संबद्ध अव्यभिचारित्व निहित होता है, वास्तव में एक सीधा-सादा सत्यवचन मात्र ही है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैध विचारणा विषयक हमारे अन्तिम पूर्वगृहीत कहीं सापेक्ष रूप मात्र से ही तो सत्य नहीं, इस प्रकार का सन्देह निरर्थक है। यदि विचिकित्सु की इस विचिकित्सा का कि क्या वास्तविकता अन्ततः एक ऐसी आत्मसंगत प्रणाली है—जैसा कि हमारी विचारणा के सत्य होने के लिए आवश्यक भी है यह दावा हो कि वह यौक्तिक अथवा युक्तियुक्त है, तब उस सन्देह का रूप यह होना चाहिए कि 'मैं वास्तविकता अथवा सत्य की प्रकृति के बारे में निश्चित रूप से इतना जानता हूँ कि जितने के आधार पर वास्तविकता को असंगत समझना युक्तिसंगत माना जा सकता है।' अथवा यह कि 'वास्तविकता की प्रकृति के बारे में जो कुछ मैं जानता हूँ उसके आधार पर 'आत्मसंगति' और वास्तविकता में कोई संगति नहीं वैठती।' इस प्रकार विचिकित्सु न केवल एकान्त निरपेक्ष और निश्चित ज्ञान का दावा करने के लिए अपितु उस ज्ञान की वैधता को सिद्ध करने के लिए भी बाध्य हो जाता है और तब इस प्रकार एक प्रतिभूततम विषय द्वारा वास्तविकता विषयक हमारी कसौटी पर शंका उठाने के पहले उसकी सच्चाई को मानकर ही विचिकित्सु आगे बढ़ता है।

४—विचिकित्सु की शंकाओं के होते हुए भी वास्तविकता अपने सत्य स्वरूप में एक सम्बद्ध और आत्मसंगत अथवा अन्तरतः संश्लिष्ट या संसक्त निकाय होती है।

---

१. उदाहरण के तौर पर इसे ही ले लीजिये—मान लीजिए कि यहूदियों के प्राचीन धार्मिक इतिहास के बारे में सेमेटिक भाषा विज्ञान के आधार पर कोई सिद्धांत प्रस्तुत किया जाता है। ग्रीक पुरातत्त्व के अध्ययन जैसे समानांतरीय प्रसंगों के आधार पर यदि मुझे भाषाविज्ञान संबंधी साक्ष्य की पर्याप्त अभिज्ञता है, तो सेमेटिक भाषा-शास्त्र पर आधारित साक्ष्य की संगति का थोड़ा बहुत अनुमान सेमेटिक भाषा विज्ञान से अपरिचित होते हुए भी, मैं कर सकूँगा। लेकिन अगर मुझे भाषाविज्ञान संबंधी साक्ष्य पुरातत्त्वीय अनुसंधान में विनियोग का कोई ध्रुव ज्ञान है ही नहीं तब इस बारे में किसी तरह की रायज़नी करना मेरे लिए एकदम असंगत ही होगा।

क्या यही बात उस दत्तसामग्री के विषय में भी हम इतनी ही दृढ़ता के साथ कह सकते हैं जिससे वास्तविकता निर्मित होती है ? विचार करने पर हमें भरोसा हो जाना चाहिए कि हम यह तो कम से कम कह ही सकते हैं कि जिस दत्त वस्तु, अथवा सामग्री से वास्तविकता निर्मित है वह सब अनुभव ही है जब कि अनुभव का अस्थायी अभिप्राय मानसिक तथ्य माना जा रहा हो—यानी वह तथ्य विषय जिसकी तात्कालिक प्राप्ति भावना अथवा अनुभूति द्वारा हुई हो । दूसरे शब्दों में जो कुछ भी प्रस्तुति, संकल्प अथवा मनोभाव का अंग बन जाय उसमें किसी न किसी अर्थ में और किसी न किसी अंश तक वास्तविकता की उपस्थिति होना आवश्यक है और वह अवश्य ही उस सामग्री का भाग या अंग होता है जिसकी निकाय-समग्रता का नाम वास्तविकता है, तथा जो कुछ भी अपने प्रकृत स्वरूप के अंश रूप में, तात्कालिक अनुभूति के साथ इस प्रकार के अटूट बंधन में समाविष्ट नहीं होता तथा इसीलिए उस सब प्रस्तुति, संकल्प अथवा अनुभूति के जिससे मिलकर मनस्तत्त्वीय जीवन बना होता है, अन्तर्गत नहीं आता—वह वास्तविक नहीं है । अतः वास्तविक अनुभूति का ही नाम है, वह अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है तथा अनुभूति मनस्तत्त्वीय तथ्य विषय है।[1]

इस तर्कवाक्य की सिद्धि के लिए प्रमाण केवल उसी प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिस प्रकार किसी अन्य चरम सत्य को सिद्ध करने के लिए दिये जाते हैं अर्थात् उसकी परीक्षा करके अगर आप को इस विधि की प्रामाणिकता में सन्देह है, तो आपको चुनौती है कि आप किसी भी वस्तु को, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो वास्तविक समझ लें और तब आप बतलायें कि उस वस्तु की वास्तविकता से आप का क्या मतलब है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप कहें मैं 'अ' को वास्तविक मानता हूँ चाहे 'अ' दुनिया की कोई भी वस्तु हो। अब आप किसी काल्पनिक अथवा अवास्तविक 'अ' की कल्पना कीजिए जैसा कि आप हमेशा ही कर सकते हैं और तब वास्तविक कहे गये 'अ' और केवल काल्पनिक 'अ' में क्या अन्तर है यह बताने की कोशिश कीजिये। जैसा कि वास्तविक १०० डालरों और काल्पनिक १०० डालरों वाले प्रसंग में कान्ट ने सिद्ध किया था वास्तविक 'अ' और काल्पनिक 'अ' दोनों ही का अन्तर न तो उनके लक्षणों के कारण ही है न उनके गुणों के कारण। काल्पनिक १०० डालरों के गुण ठीक वैसे ही हैं जैसे कि वास्तविक १०० डालरों के। अन्तर केवल इतना ही है कि वे 'काल्पनिक' मात्र हैं। असली डालरों की तरह ही काल्पनिक डालरों का रंग-रूप, डील-डौल,

---

१. आगे जो कुछ लिखा गया है उसे एक खाका ही समझना चाहिए जिसे आगे चलकर, खण्ड २ के अध्याय १ में वर्णित ठोस परिणामों से आपूरित करना होगा ।

आकार और भार भी कल्पित किया गया था और उन पर अमुक चेहरे का ठप्पा होने का, अमुक अभिलेख अंकित होने का और उनकी बनावट में चाँदी तथा मिश्रण के अमुक अनुपात होने का अनुमान भी वास्तविक डालरों के ही समान किया गया था तथा मौजूदा बाजार में उनकी क्रयशक्ति का अन्दाज भी तदनुसार किया गया था। दोनों में केवल इतना ही भेद पाया गया कि असली डालरों को निर्धारित और ज्ञात परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता था। वे प्रत्यक्ष ज्ञान की वस्तु हो सकते थे जब कि काल्पनिक डालर कल्पना-जनित होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से द्रष्टव्य नहीं हो सकते थे। आप उन्हें न तो देख ही सकते थे न छू सकते थे। आप केवल कल्पना कर सकते हैं कि आप उन्हें देख रहे हैं, उन्हें हाथ में ले रहे हैं। तात्कालिक मानसिक तथ्य विषयक इसी प्रसंग में ही असली सिक्कों की वास्तविकता पायी जाती है। इसी परीक्षण के अन्य उदाहरणों में भी यही बात देखने को मिलेगी। आप कोई भी चीज ले लीजिए—यह जरूरी नहीं कि वह पत्थर की दीवार, सौंदर्यमयी भावना, कोई नैतिक गुण, कोई ऐसी वस्तु जिसे आप वास्तविक मानते हों—आदि कोई खास चीज हो—अब मैं आप से कहूँगा कि आप इस वास्तविक वस्तु की ऐसी अनुकृति की कल्पना अपने मन में कीजिए जो अवास्तविक हो। अब आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि वास्तविकता और कल्पना में जो कुछ भी अन्तर है वह सदा ही इस बात का है कि वास्तविक वस्तु किसी इन्द्रिय-गम्य वस्तु के मानसिक जीवन से सम्बद्ध हुआ करती है और इस कारण वह एक मनस्तत्त्वीय तथ्य विषय होती है।

५—गंभीर मिथ्यावबुद्धि के अपवर्जनार्थ यह आवश्यक है कि हम दो बातों की ओर से सावधान रहें अर्थात् अगर हम गहरी भ्रान्ति से बचना चाहते हैं, तो दो बातों से बचे रहने का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। कान्ट अथवा मिल का कोई शिष्य ऐसी शंका उठा सकता है कि तात्कालिक अवबोध के लिए एक वास्तविक मनस्तत्त्वीय तथ्य के रूप में कभी भी प्रस्तुत न की जाने की कोई वस्तु तब तक वास्तविक बनी रह सकती है जब तक उसका स्वरूप, ज्ञात और निर्धारित परिस्थितियों के अन्तर्गत, मनस्तत्त्वीय तथ्य बना रह सके। कहा जा सकता है कि अधिकांश नहीं तो अनेक विज्ञानविद्या संबंधी वस्तुयें इसी कोटि की हैं, वे आज तक न तो कभी भी मानव के प्रत्यक्ष बोध की परिधि में आ ही सकी हैं न शायद आगे भी कभी आ सकें। फिर भी हम उन्हें वास्तविक ही कहते हैं—केवल इसलिए कि किन्हीं ज्ञात परिस्थितियों में वे बोधगम्य हो जायँगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमने आज तक पृथ्वी का केन्द्र नहीं देखा, न कभी हम उसे देख सकेंगे। एक अन्य ठोस उदाहरण ले लीजिए। किसी ने आज तक अपना भेजा या दिमाग नहीं देखा। लेकिन फिर भी पृथ्वी के केन्द्र को और अपने दिमाग को मैं वास्तविक कहता हूँ और वह इस माने में कि यदि मृत्यु को प्राप्त हुए बिना मैं धरातल

की सतह को भेद कर उसके नीचे एक निश्चित दूरी तक जा सकूँ, तो वहाँ पृथ्वी का केन्द्र मुझे अवश्य मिल सकेगा अथवा यह कि अगर मेरी खोपड़ी को खोलकर एक छिद्र ऐसा बनाया जा सके जिसमें से, ठीक प्रकार जमाये गये दर्पणों की सहायता द्वारा मैं अपने सिर के भीतर देख सकूँ तो अवश्य ही वहाँ मुझे अपना दिमाग रखा मिलना चाहिए। भले ही निर्जन अन्तरिक्ष में सत्वर धावमान धूमकेतु को किसी ने भी न देखा हो लेकिन इतने ही से उसका अस्तित्व लुप्त नहीं हो जाता, उसकी वास्तविकता नष्ट नहीं हो जाती क्योंकि अगर मैं वहाँ पहुँच सकूँ तो अवश्य ही उसके दर्शन मुझे हो सकेंगे यह निश्चय है। इस आधार पर काण्टवादी यही कहेगा कि वास्तविकता संभाव्य अनुभूति की सापेक्ष है। दूसरी ओर मिल का अनुयायी कहेगा कि 'संवेदना की स्थायिनी-संभावना' ही वास्तविकता है।

इन तर्कनाओं में सच्चाई का अंश जरूर है। वह विश्व की समग्र वास्तविकता का एक टुकड़ा भर ही होता है। यह भी सही है कि दुनिया में ऐसा बहुत कुछ मौजूद है जिसे उसके अपने स्वरूप के कारण मानव जाति देखने में समर्थ है लेकिन जहाँ तक हम निर्णय कर सकते हैं, उस सबका ज्ञान हम कभी भी इसलिए नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपयुक्त या आवश्यक परिस्थितियों में अपने आप को रख सकना हमारे लिए तभी संभव है जब कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों की रचना में उपयुक्त सुधार कर दिये जायँ। अतः संभव है कि कुछ विज्ञानों का काम चलाने के लिए इन प्रक्रियाओं, अप्रत्यक्षीकृत वास्तविकताओं को संवेदनात्मक शक्यताओं के नाम उन प्रक्रियाओं का अभिहित करना यथेष्ट हो सके जिन्हें हम यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं देख पाते किन्तु जिन्हें यदि ज्ञात अथवा ज्ञातव्य परिस्थितियाँ प्रस्तुत हों, तो प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार की अभिधा, स्पष्ट ही, निषेधात्मक मात्र ही होगी क्योंकि इसके द्वारा इतना ही बतलाया जा सकता है कि हम किन्हीं वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। हम इस अभिधा द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप अथवा उनकी प्रकृति के विषय में कुछ भी निश्चित बात प्रकट नहीं करते। तत्त्वमीमांसाशास्त्र में, जहाँ कि हमारा उद्देश्य ही वास्तविकता के सही अर्थ का पता लगाना होता है, यह प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता कि क्या विश्व के अधिकांश भाग की वास्तविकता के संबंध में इस प्रकार का केवल निषेधात्मकविवरण अंतिम रूप से सन्तोषजनक है या नहीं। स्पष्ट ही है कि वह पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं क्योंकि 'शक्य' कहने का मतलब ही क्या होता है? इतना ही तो नहीं कि वह जो वास्तविक नही, क्योंकि ऐसा कहने से, तो उस अभिधा में एकदम काल्पनिक और प्रदर्शनार्थ आशक्य वस्तुओं का भी समावेश होता है। इस तरह से तो, आगामी सप्ताह की घटनाएँ, आदर्शलोक का संगठन, तथा वृत्त का वर्गीकरण आदि सभी बातें क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत न होने के कारण एक साहस ही है। तब क्या यह कहना होगा

कि शक्य और काल्पनिक में इतना ही भेद है कि शक्य वह है जो किन्हीं ज्ञात परिस्थितियों में वास्तविक होता है। लेकिन कभी ऐसा भी हो सकता है कि हम उन परिस्थितियों के अन्तर्गत संदिग्ध रूप से अथवा ज्ञात रूप से जो केवल काल्पनिक समझा जाता है—कौन वस्तु वास्तविक हो सकती है—इस बारे में सही निष्कर्ष निकाल सकें। पर इस प्रकार के निष्कर्षों को वास्तविकता के नाम से प्रस्तुत करने का साहस कोई भी न करेगा। आप यह कह सकते हैं कि अगर मैं दक्षिणी ध्रुव पर होता तो ध्रुवीय बर्फ मैं देख सकता। इसलिए वह वास्तविक है। लेकिन प्रत्यक्ष उसे कोई नहीं देख सका। अगर माँगने से या इच्छा करने मात्र से इष्ट की प्राप्ति हो सकती होती तो भिखारी घोड़ों पर चढ़े घूमते। लेकिन आप यह नहीं कहते कि भिखारियों का यह अश्वारोहण वास्तविक है। इस तरह की बातों का ख्याल ही हमें 'शक्य' की हमारी पूर्वकथित लक्षणा में इसलिए सुधार करने के लिए प्रेरित करता है क्योंकि शक्य का वास्तविक होना भी जरूरी है। अत: हम यह कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि किसी अप्रेक्षित वास्तविक वस्तु विषयक प्रसंग में उपयुक्त प्रत्यक्षणांगवान् प्रेक्षक अथवा परिग्राहक की उपस्थिति, के अतिरिक्त प्रत्यक्षण की सभी परिस्थितियाँ वास्तव में मौजूद रहती हैं। अत: दक्षिणी ध्रुव की बर्फ दरअसल वहाँ है क्योंकि उसके प्रत्यक्षण के लिए आवश्यक एक ही इन्द्रिय बोधक विशेष प्रकार के अंगों से युक्त कोई द्रष्टा या प्रेक्षक मौजूद नहीं है। लेकिन एक बात और वह यह कि प्रत्यक्षण की काल्पनिक और वास्तव में वर्तमान शर्तों के विभेद से हमारा क्या अभिप्राय हुआ करता है? यहाँ हम फिर एक बार अपने मौलिक परीक्षण पर ही लौट आते हैं और नये प्रयत्नों के बावजूद हम यही पायेंगे कि जब हम वास्तविक परिस्थितियों और काल्पनिक परिस्थितियों में विभेद करते हैं, तो हमारा अभिप्राय इसके सिवाय और कुछ नहीं होता कि वास्तविक परिस्थितियों के पीछे तात्कालिक परिग्रहण के साक्ष्य का अन्तिम सहारा हमारे पास है जब कि काल्पनिक परिस्थितियाँ इस प्रकार के सहारे से हीन होती हैं। अब अगर वास्तविक शब्द का प्रयोग हम तात्कालिक परिग्रहण से अविश्लेष्य अथवा मनस्तत्त्वीय तथ्याविष्य को अभिहित करने के लिए करते हैं तब हम अपने निष्कर्ष को संक्षेप में यों कह सकते हैं कि हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जो सत्य अथवा असली है वह वास्तव में यथार्थ भी है यानी ऐसी कोई वास्तविकता या सत्यता नहीं होती जिसकी क्रियात्मक प्रस्तुति अथवा यथार्थता साथ ही साथ न हो। इस प्रकार उन आधुनिक तर्कशास्त्रियों की तरह जो बताया करते हैं कि वास्तविक अस्तित्व की सीमा के बाहर किसी शक्यता के लिए गुंजाइश नहीं हुआ करती हम भी एक से ही आधार पर खड़े हुए हैं। उन तर्कशास्त्रियों की तरह हमें भी कहना पड़ता है कि शक्य विषयक कथन अगर उनका कोई अर्थ होता हो, तो सदा वस्तुस्थिति

विषयक सूचनायें देने की अप्रत्यक्ष विधि मात्र हुआ करते हैं ।[1] इस प्रकार दक्षिणी ध्रुव पर बर्फ यथार्थ में मौजूद है यद्यपि मानव-चक्षु, उसे देखता नहीं, इस कथन का यदि कोई अर्थ हो सकता है, तो यही हो सकता है कि या तो बर्फ का स्वयं, जैसी कि अगर हम दक्षिणी ध्रुव पर मौजूद हों तो हमें देखने को मिलनी चाहिए, अथवा उन कुछ अज्ञात परिस्थितियों का, जिनके किसी मानव-प्रेक्षक की उपस्थिति से संयुक्त हो जाने के कारण बर्फ का प्रत्यक्षण हो सके—यथार्थ अस्तित्व ऐसी अनुभूति के जो स्वयं हमारी अनुभूति नहीं है, अन्तःसार के भाग रूप में अवश्य ही हुआ करता है।[2]

दूसरी बात जिस पर ध्यान देना आवश्यक है संक्षेप में ही निपटायी जा सकती है। अनुभूति की लक्षणा 'तात्कालिक संवेदना' अथवा 'तात्कालिक संवेदना का अन्तःसार' अथवा बोध[3] कह कर करते समय हमारा अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि वह विशेष रूप से संवेदन मात्र ही होती है। संवेदना तात्कालिक अनुभूति अथवा बोध का एक लक्षण भर है—ऐसा लक्षण जिसकी पहचान अन्य लक्षणों में से केवल श्रमसाध्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही की जा सकती है। आनन्द और पीड़ा, किसी प्रकार की भावना या किसी लालसा की तृप्ति जब कार्यरूप में समुपस्थित हो तब उसे उतना ही जल्द अनुभव किया जा सकता है जितने कि किसी ज्ञानेन्द्रियपरक प्रत्यक्ष ज्ञान को। आनन्द अथवा पीड़ा के वास्तविक दर्शन और उसके होने के विचार मात्र में अन्तर से अवगत ही हैं। वास्तविक भावना अथवा इच्छा, काल्पनिक भावना या इच्छा से उसी प्रकार भिन्न होती है जिस प्रकार कोई वास्तविक इन्द्रिय बोध कल्पित इन्द्रिय बोध से भिन्न होता है। यह अन्तर कितनी यथार्थतापूर्वक बताया जा सकता है यह प्रश्न, जो कि दुर्भाग्यवश आज का एक अनुचित रूप से उपेक्षित प्रश्न है, मनोविज्ञान का विषय है। अपने प्रस्तुत विषय के लिए तो हमें इस प्रश्न को ऐसा प्रश्न मात्र बता

---

१. 'शक्यता' के आधुनिक सिद्धांत के लिए अनुशीलन कीजिए ब्रैडले लिखित प्रिंसिपल ऑफ लॉजिक पृ० १९२—२०१, बोसांक्ये लॉजिक १, अध्याय ९।

२. अनावश्यक ईश्वरतावादपरक अनुसंगों को छोड़ देने के बाद, यह कथन ईश्वरास्तित्व संबंधी बर्कले के तर्क का सिद्धांत-सा लगता है। देखिए प्रिंसिपल ऑफ ह्यूमन नालिज अनुच्छेद १४६ पृ० १४७।

३. यहाँ बता देना उचित है कि मैंने 'संवेदना' और 'बोध' शब्दों का उपयोग किसी भी मनस्तत्त्वीय सत की तात्कालिक तथा अविचार परिणामी अनुभूति को प्रकट करने के लिए, उदासीनतापूर्वक ही किया है। आनन्द और पीड़ा के ज्ञान मात्र के लिए ही उस शब्द को सीमित कर रखना मुझे तो मनोविज्ञान की एक गहरी ग़लती लगती है। इसलिए मैंने उसका बचाव किया है।

कर ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा कि जिसका अनुभव इच्छा करने मात्र से ही उन पाठकों को हो सकता है जो मन की किसी भी वास्तविक स्थिति की तुलना उसी प्रकार की काल्पनिक मनःस्थिति से करने की तकलीफ गवारा कर सकते हैं । इस विभेद की ज्ञानमीमांसीय अथवा तत्त्वमीमांसीय व्याख्या के विषय में बहुत कुछ अगले अनुच्छेदों में कहा जायगा। ऐन्द्रिक बोध मात्र से भिन्न मन के अन्य पहलुओं पर इसकी प्रयोज्यता के उदाहरण के रूप में हम काण्ट के १०० डालरों वाले परीक्षण को ही ले सकते हैं । असली सिक्कों को काल्पनिक सिक्कों से हम इसलिए अलग कर सकते हैं क्योंकि असली डालरों को हम छू सकते और देख सकते हैं, काल्पनिक सिक्कों को नहीं। इस पहचान को हम इस तथ्य के रूप में भी कह सकते हैं कि असली डालर हमारी इच्छायें पूरी कर सकते हैं जब कि काल्पनिक डालर ऐसा करने में असमर्थ होंगे।[1]

६—दार्शनिक मत के मौजूदा हालात को देखते हुए इस तर्कवाक्य के कि, 'जो कुछ भी वास्तविक या असली है वह अनुभवजन्य ही है' अथवा 'मनस्तत्त्वीय तथ्यवस्तु है' अस्वीकृत हो जाने का उतना भय नहीं जितना कि मूलतः असत्य अर्थों में उसके स्वीकृत हो जाने का है। यदि इस प्रकार की भ्रांति के भय से बचना चाहें, तो हमें इस बात पर डटे रहने का ध्यान रखना होगा कि हमारा सिद्धांत बलपूर्वक नहीं कहता कि घटनामात्र ही वास्तविकता की पूर्ण और पर्याप्त लक्षणा है । जब हम कहते हैं कि मनस्तत्त्वीय तथ्य की दुनिया के बाहर कुछ भी वास्तविक नहीं है, तब हमारे कथन का यह मतलब नहीं होता कि वास्तविकता स्वयं एक मनस्तत्त्वीय तथ्यमात्र ही है। हमारा अभिप्राय तब यही होता है कि वह और ज्यादा चाहे जो कुछ भी हो, पर कम से कम मनस्तत्त्वीय तथ्य जरूर है । वास्तविकता के विषय में केवल इस कथन के अतिरिक्त कि वह अनुभवों से बनी होती है अथवा मनस्तत्त्वीय तथ्य-वस्तुओं से निर्मित होती है, हम और कितना अधिक कह सकते हैं यह निर्धारित करके बताना तत्त्वमीमांसा विज्ञान का काम है। मौजूदा हालत में हमारी इस समस्या का—यद्यपि वह हमारे सामने एक सामान्य रूप में ही प्रस्तुत की गयी है—कोई हल नहीं निकाला जा सका है। इस बात का हमें विशेष ध्यान रखना होगा कि कहीं हम तथाकथित 'व्यक्ति-निष्ठ आदर्शवाद' के चक्कर में फँस जाने की गलती न कर बैठें। हमें यह न कहना चाहिए कि वास्तविकता 'मनोभावयुक्त व्यक्तियों की चेतनात्मक स्थितियों से बनी होती है अथवा यह कि वह व्यक्तियों और उनकी स्थितियों का संग्रह होती है।' तत्त्वदर्शियों की हैसियत से हमें यह

---

१. वास्तव में खण्ड २ अध्याय १ में हम देखेंगे कि अव्यवहृत संवेदना के साथ एकीभूत होने के कारण समग्र अनुभूति सारतः अभिप्राय से सम्बद्ध हुआ करती है ।

विषयक सूचनायें देने की अप्रत्यक्ष विधि मात्र हुआ करते हैं।[1] इस प्रकार दक्षिणी ध्रुव पर बर्फ यथार्थ में मौजूद है यद्यपि मानव-चक्षु, उसे देखता नहीं, इस कथन का यदि कोई अर्थ हो सकता है, तो यही हो सकता है कि या तो बर्फ का स्वयं, जैसी कि अगर हम दक्षिणी ध्रुव पर मौजूद हों तो हमें देखने को मिलनी चाहिए, अथवा उन कुछ अज्ञात परिस्थितियों का, जिनके किसी मानव-प्रेक्षक की उपस्थिति से संयुक्त हो जाने के कारण बर्फ का प्रत्यक्षण हो सके—यथार्थ अस्तित्व ऐसी अनुभूति के जो स्वयं हमारी अनुभूति नहीं है, अन्तःसार के भाग रूप में अवश्य ही हुआ करता है।[2]

दूसरी बात जिस पर ध्यान देना आवश्यक है संक्षेप में ही निपटायी जा सकती है। अनुभूति की लक्षणा 'तात्कालिक संवेदना' अथवा 'तात्कालिक संवेदना का अन्तःसार' अथवा बोध[3] कह कर करते समय हमारा अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि वह विशेष रूप से संवेदन मात्र ही होती है। संवेदना तात्कालिक अनुभूति अथवा बोध का एक लक्षण भर है—ऐसा लक्षण जिसकी पहचान अन्य लक्षणों में से केवल श्रमसाध्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही की जा सकती है। आनन्द और पीड़ा, किसी प्रकार की भावना या किसी लालसा की तृप्ति जब कार्यरूप में समुपस्थित हो तब उसे उतना ही जल्द अनुभव किया जा सकता है जितने कि किसी ज्ञानेन्द्रियपरक प्रत्यक्ष ज्ञान को। आनन्द अथवा पीड़ा के वास्तविक दर्शन और उसके होने के विचार मात्र में अन्तर से अवगत ही हैं। वास्तविक भावना अथवा इच्छा, काल्पनिक भावना या इच्छा से उसी प्रकार भिन्न होती है जिस प्रकार कोई वास्तविक इन्द्रिय बोध कल्पित इन्द्रिय बोध से भिन्न होता है। यह अन्तर कितनी यथार्थतापूर्वक बताया जा सकता है यह प्रश्न, जो कि दुर्भाग्यवश आज का एक अनुचित रूप से उपेक्षित प्रश्न है, मनोविज्ञान का विषय है। अपने प्रस्तुत विषय के लिए तो हमें इस प्रश्न को ऐसा प्रश्न मात्र बता

---

१. 'शक्यता' के आधुनिक सिद्धांत के लिए अनुशीलन कीजिए ब्रैडले लिखित प्रिंसिपल ऑफ लॉजिक पृ० १९२—२०१, बोसांक्ये लॉजिक १, अध्याय ९।

२. अनावश्यक ईश्वरतावादपरक अनुसंगों को छोड़ देने के बाद, यह कथन ईश्वरास्तित्व संबंधी बर्कले के तर्क का सिद्धांत-सा लगता है। देखिए प्रिंसिपल ऑफ ह्यूमन नालिज अनुच्छेद १४६ पृ० १४७।

३. यहाँ बता देना उचित है कि मैंने 'संवेदना' और 'बोध' शब्दों का उपयोग किसी भी मनस्तत्त्वीय सत की तात्कालिक तथा अविचार परिणामी अनुभूति को प्रकट करने के लिए, उदासीनतापूर्वक ही किया है। आनन्द और पीड़ा के ज्ञान मात्र के लिए ही उस शब्द को सीमित कर रखना मुझे तो मनोविज्ञान की एक गहरी ग़लती लगती है। इसलिए मैंने उसका बचाव किया है।

कर ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा कि जिसका अनुभव इच्छा करने मात्र से ही उन पाठकों को हो सकता है जो मन की किसी भी वास्तविक स्थिति की तुलना उसी प्रकार की काल्पनिक मनःस्थिति से करने की तकलीफ गवारा कर सकते हैं । इस विभेद की ज्ञानमीमांसीय अथवा तत्त्वमीमांसीय व्याख्या के विषय में बहुत कुछ अगले अनुच्छेदों में कहा जायगा। ऐन्द्रिक बोध मात्र से भिन्न मन के अन्य पहलुओं पर इसकी प्रयोज्यता के उदाहरण के रूप में हम काण्ट के १०० डालरों वाले परीक्षण को ही ले सकते हैं । असली सिक्कों को काल्पनिक सिक्कों से हम इसलिए अलग कर सकते हैं क्योंकि असली डालरों को हम छू सकते और देख सकते हैं, काल्पनिक सिक्कों को नहीं। इस पहचान को हम इस तथ्य के रूप में भी कह सकते हैं कि असली डालर हमारी इच्छायें पूरी कर सकते हैं जब कि काल्पनिक डालर ऐसा करने में असमर्थ होंगे।[1]

६—दार्शनिक मत के मौजूदा हालात को देखते हुए इस तर्कवाक्य के कि, 'जो कुछ भी वास्तविक या असली है वह अनुभवजन्य ही है' अथवा 'मनस्तत्त्वीय तथ्यवस्तु है' अस्वीकृत हो जाने का उतना भय नहीं जितना कि मूलतः असत्य अर्थों में उसके स्वीकृत हो जाने का है। यदि इस प्रकार की भ्रांति के भय से बचना चाहें, तो हमें इस बात पर डटे रहने का ध्यान रखना होगा कि हमारा सिद्धांत बलपूर्वक नहीं कहता कि घटनामात्र ही वास्तविकता की पूर्ण और पर्याप्त लक्षणा है । जब हम कहते हैं कि मनस्तत्त्वीय तथ्य की दुनिया के बाहर कुछ भी वास्तविक नहीं है, तब हमारे कथन का यह मतलब नहीं होता कि वास्तविकता स्वयं एक मनस्तत्त्वीय तथ्यमात्र ही है। हमारा अभिप्राय तब यही होता है कि वह और ज्यादा चाहे जो कुछ भी हो, पर कम से कम मनस्तत्त्वीय तथ्य जरूर है । वास्तविकता के विषय में केवल इस कथन के अतिरिक्त कि वह अनुभवों से बनी होती है अथवा मनस्तत्त्वीय तथ्य-वस्तुओं से निर्मित होती है, हम और कितना अधिक कह सकते हैं यह निर्धारित करके बताना तत्त्वमीमांसा विज्ञान का काम है। मौजूदा हालत में हमारी इस समस्या का—यद्यपि वह हमारे सामने एक सामान्य रूप में ही प्रस्तुत की गयी है—कोई हल नहीं निकाला जा सका है। इस बात का हमें विशेष ध्यान रखना होगा कि कहीं हम तथाकथित 'व्यक्ति-निष्ठ आदर्शवाद' के चक्कर में फँस जाने की गलती न कर बैठें। हमें यह न कहना चाहिए कि वास्तविकता 'मनोभावयुक्त व्यक्तियों की चेतनात्मक स्थितियों से बनी होती है अथवा यह कि वह व्यक्तियों और उनकी स्थितियों का संग्रह होती है।' तत्त्वदर्शियों की हैसियत से हमें यह

---

१. वास्तव में खण्ड २ अध्याय १ में हम देखेंगे कि अव्यवहृत संवेदना के साथ एकीभूत होने के कारण समग्र अनुभूति सारतः अभिप्राय से सम्बद्ध हुआ करती है ।

मान कर चल निकलते हुए कि जिन मनस्तत्त्वीय तथ्यों से मिलकर वास्तविकता बनी होती है वे उन व्यक्तियों की उन स्थितियों अथवा रूपान्तरणों का ही संग्रह मात्र होते हैं जिनका साक्षात् अनुभव उनके मालिकों को हुआ होता है। इस प्रकार का सिद्धांत आत्मविरोधी होगा क्योंकि व्यक्ति अथवा 'मैं' जिसे कि इस सिद्धांत में स्थितियों का मालिक बताया गया है स्वयं कभी भी चेतनात्मक स्थिति के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता। इसीलिए ह्यूम का यह तर्क जिसके इस सैद्धांतिक आधार पर कि चेतनात्मक स्थितियों के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व है ही नहीं, उसने यह परिणाम निकाला कि चूँकि विचारक अथवा व्यक्ति स्वयं कोई चेतनात्मक स्थिति नहीं है; इसलिए भ्रान्ति अथवा माया ही है, सत्य नहीं है। लेकिन दूसरी ओर अगर कोई विचारक नहीं है अथवा संचरक स्थितियों का मालिक कोई व्यक्ति नहीं है तो स्थितियाँ—किसी की भी उपयुक्त स्थितियाँ अथवा किसी के उचित रूपान्तरण नहीं हैं। इस सिद्धांत के—कि सब वस्तुएँ चेतनात्मक स्थितियाँ ही हैं—सूत्रीकरण में वर्तमान इस स्पष्ट व्याघात के अतिरिक्त हमें यह एतराज भी उठाना होगा कि यह सिद्धांत अनुभूति के दत्तों का विवरण नहीं है, अपितु वह उन दत्तों के संबंधों के बारे में एक प्राक्कल्पना मात्र है। अनुभूति का एक ओर आत्म अथवा व्यक्ति में तथा दूसरी ओर उसकी स्थितियों में विभाजन हमारे तात्कालिक बोध से उद्बुद्ध नहीं होता। वह तो उपर्युक्त बोध की सारवस्तु पर किये गये विमर्श की प्रगति से उत्पन्न होता है। ज्ञेय वस्तुओं और उनके गुणों के हमारे प्रत्यक्ष बोध से वे कभी भी स्वात्म की स्थितियों या रूपान्तरणों के रूप में, हमारे सामने नहीं आते। वे वास्तव में स्वात्म अथवा व्यक्ति की स्थिति अथवा रूपान्तरण मात्र हैं, अन्य कुछ भी नहीं। यह उन बहुत-सी प्राक्कल्पनाओं में से अन्यतम है, जिन्हें हमने अपनी विचार-परम्परा की कुछ कठिनाइयों का सामना करने के लिए गढ़ लिया है। वास्तविकता का ज्ञान शुरू से ही थोड़ा-थोड़ा करके मनस्तत्त्वीय तथ्य के अंशों के रूप में हम तक पहुँचता है । फिर एक बार हम निश्चय रूप से अनुभव करते हैं कि इन अंशों ही के किसी तरह से युक्त हो जाने पर एक संगत समग्र या निकाय का रूप अवश्य धारण कर लेते होंगे। इस कल्पना के आधार पर कि वास्तविकता जिन तथ्य-वस्तुओं से मिल कर बनती है, वे उन व्यक्तियों अथवा विषय के स्थायी स्वरूपों द्वारा—जिनकी वे वस्तुएँ अस्थायी स्थितियाँ या रूपान्तरण हैं—परस्पर संबद्ध हैं हम उसके यानी वास्तविकता के निकायी स्वरूप को समझने और उसका कारण समझाने का प्रयत्न किया करते हैं। अनुभवजन्य तथ्य किस प्रकार मिलकर निकाय का रूप धारण किया करते हैं यह समझाने का उपर्युक्त प्रकार का विशेष प्रयत्न हमारे मूल अभ्युपगम का भाग नहीं है। वह तो विश्व के द्रव्यगुणीय स्वरूप विषयक अनेक सिद्धांतों में से एक अन्यतम सिद्धांत मात्र है और उसके गुणावगुण की परीक्षा करनी स्वयं तत्त्वमीमांसा का ही काम है।

इसी प्रकार यदि हम वास्तविकता विषयक अपने मूल अभ्युपगम का तादात्म्य ह्यूम तथा उनके अनुयायियों के मन के साथ बैठायें जिसके अनुसार वास्तविकता का अस्तित्व केवल उन धारणाओं और अभिज्ञाओं की ऐसी शृंखलाओं के कारण ही है, जो कुछ निर्धारित अनुक्रम में मनोवैज्ञानिक नियमों द्वारा परस्पर आबद्ध हों, तो यह कार्य अनधिकृत अधियोजनमात्र होगा। इस मत के अनुसार अनुभूतियों की किसी अन्य प्रकार की गहरी रचनात्मक संहति मनोजनित कल्पितार्थ कह कर अस्वीकार्य करायी गयी है। हमारे कथन में उपर्युक्त प्रकार के विरोधाभास का अध्याहार कर देने का रहस्य 'केवल' शब्द शामिल करके हमारे उक्त कथन की सत्यता को पहले से ही सत्य मान लेने के तर्काभास में निहित है। ऐसे मनस्तत्त्वीय तथ्यों के साथ, जो येनकेन प्रकारेण एक निकायी इकाई में परिणत हो जाये, वास्तविकता का तादात्म्य बैठा देने से यह परिणाम नहीं निकलता कि उन तथ्यों में वर्तमान एकता किसी अथवा किन्हीं नियमों की अनुसारी ही है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है—हमें तत्त्वमीमांसा के मौलिक सिद्धांत के रूप में, और ऐसे सिद्धांत के रूप में, जिस पर व्याघात निग्रह में पड़े बिना सन्देह नहीं किया जा सकता, दृढ़तापूर्वक यह कहने का अधिकार है कि समग्र वास्तविकता मनस्तत्त्वीय तथ्यों की संगति हुआ करती है और यह कि इन तथ्यों की संगति का परिणाम एक निकाय रूप होना आवश्यक है। यदि हो सके, तो हमें अभी यह खोज निकालना बाकी है कि यह निकाय कैसे बन जाता है।

इस समस्या के समाधान के गुणावगुण का विवेचन हम आगे चलकर करेंगे। किन्तु इस समाधान को, बिना किसी ननुनच के सिद्धांत-रूप में स्वीकार कर लेने की असंभाव्यता एक मामूली से उदाहरण द्वारा पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा सकती है। कलात्मक समग्र उदाहरण के लिए 'हैमलेट' नाटक को ले लीजिए। यह हैमलेट नाटक प्रत्येक ऐसे विद्यार्थी के लिए, जो उसका पारायण अपनी एकान्त कोठरी में बैठकर किया करता है, छपे हुए शब्दों का एक अनुक्रमिक संग्रहमात्र है। ये शब्द ही नाटक की समग्र वस्तु है। इन शब्दों की संगति मात्र से यह नाटक बना है, अन्य कुछ भी उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि यही इस नाटक की तथ्यवस्तु है और वह उपर्युक्त शब्द—व्याकरण तथा छन्द संबंधी उन नियमों द्वारा, जिनके अनुसार अंग्रेजी भाषा का वाक्य-विन्यास निर्धारित होता है—परस्पर संगठित है। नाटकीय काव्य की वृत्त-रचना के नियमों का भी वे अनुसरण करते हैं। अतः यदि हम कहें कि यह नाटक व्याकरण और वृत्त-रचना के नियमानुसार निहित शब्दों की संगत शृंखलाओं की संहतिमात्र है, तो यह उक्त नाटक का यथाशक्य सही वर्णन होगा। लेकिन, यह कहना कि हैमलेट शब्दों के उपर्युक्त अनुक्रम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है निश्चय ही असत्य होगा; क्योंकि उसका कलावस्तु सम्बन्धी स्वरूप, तो इस बात पर ही पूर्ण-

रूपेण निर्भर है कि समग्र रूप से इस शब्द-संग्रह में रचनात्मक और उद्देश्यात्मक एक-रसता मौजूद है और उसकी तथ्य-वस्तु शब्दों और वाक्यों में मानवीय चरित्र और प्रयोजन को प्रकट करने की अन्त: संगत शक्ति भी वर्तमान है। अर्थ की इस अन्तर्निहित एकता के बिना केवल व्याकरण और वृत्त-रचनापरक शाब्दिक एकता, कला कृति कही जाने योग्य कभी नहीं हो सकती। आगामी विवेचन में हमारा एक उद्देश्य यह दिखाना भी होगा कि किसी कलामय वस्तु के विषय में जो बात उपर्युक्त प्रकार से सही है, वह सफलता के प्रत्येक यथार्थ निकाय के विषय में भी सार्वरूप से सही होती है।

७—अत: वास्तविकता विषयक दत्त अथवा तथ्य[१] अनुभूत तथ्य ही होते हैं —अनुभूत तथ्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हमारे प्रयोजनार्थ अनुभव से मतलब होता है—अव्यवहृत अनुभूति अथवा बोध। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अव्यवहृति का आशय मनोवैज्ञानिक भाषा में क्या हो सकता है—इसका उत्तर इससे अधिक विशद रूप में नहीं दिया जा सकता कि वह ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा किसी वास्तविक मानसी अवस्था या स्थिति को उसी स्थिति के काल्पनिक विचारमात्र से अलग किया जा सकता । मनोविज्ञानशास्त्रानुसार इस प्रकार के विवरण से ही क्यों हमें सन्तोष कर लेना पड़ता है, यह बात स्पष्ट ही है। अव्यवहृत अनुभूति का अधिक विशद लक्षण करने के लिए हमें उन गुणों अथवा विशेषताओं की पहचान करनी होगी जिनके द्वारा वह व्यवहृत से सर्वत्र अलग की जाती है। दरअसल हमें उसका वर्णन सामान्य शब्दों में ही करना होगा और ऐसा कर सकने से पहले हमें प्रत्यक्ष अनुभव अथवा बोध स्वयं प्राप्त करना और अपने बोध की सारवस्तु पर विचार करके उसका विश्लेषण करना आवश्यक होगा। मनोविज्ञानानुसार जो वर्णन हम अपने बोध का दिया करते हैं, वह उस अनुभव का सही वर्णन नहीं होता, जो हमें उस समय हुआ होता है, जबकि वह घटना घस्ति हो रही होती है; बल्कि वह उस अनुभूति का उस दृष्टिकोण से दिया विवरण होता है, जो अनुभूति के वास्तविक क्षण के पश्चात् हुए विचार-विमर्श का, उस अनुभूति से सम्वद्ध तदीय परिस्थितियों और

---

१. तथ्य को 'मैं चेतना के एक ही क्षण में प्राप्त प्रत्यक्षबोध' के समतुल्य मानता हूँ। पहले प्रणीत अपने एक ग्रंथ 'दि प्रॉबलम ऑफ काण्डक्ट अध्याय १' में मैंने इस शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी किया है यानी अनुभूति के सत्य विवरण के अन्त:सार के अर्थ में। उक्त शब्द का इस प्रकार का प्रयोग प्रस्थापित दार्शनिक प्रयोग से भिन्न है और इसलिए मैंने यहाँ उसे त्याग दिया है क्योंकि उससे भ्रान्ति होने की संभावना है।

सारवस्तु विषयक चेतन या अचेतन परिकल्पनाओं का भाषान्तर है। इस प्रकार हमारे मनोविज्ञानानुसारी विवरणों की संभाव्यता ही उन विभेदों के स्वीकरण पर निर्भर हुआ करती है, जो स्वयं उस प्रत्यक्ष अनुभूति के उस रूप में जो हमें तत्काल प्राप्त होती है, मौजूद नहीं रहते, अपितु उस पर बाद में किए गए विचार-विमर्श से उत्पन्न होते हैं। किन्तु तत्त्वमीमांसा के दृष्टिकोणानुसार अव्यवहृत अनुभूति का एक ऐसा सार्वत्रिक लक्षण निर्दिष्ट कर सकना संभव है जो वास्तविकता तथा ज्ञान विषयक हमारे सिद्धांतों के लिए गुरुतम महत्त्व का है। मानसिक घटना में उसको उसका वैशिष्ट्य या उसका अपना वह स्वरूप प्रदान करने वाला विशेष लक्षण या गुण भी वर्तमान रहता है, जिसके द्वारा वह घटना किसी अन्य ऐसी घटना से विलग की जा सकती है, जिसकी कल्पना द्वारा उस वास्तविक घटना के स्थान की पूर्ति की जा सके। यही मनस्तत्त्वीय तथ्य का अन्त:सार है। उदाहरणार्थ किसी रंग की, हरे रंग की अनुभूति को ही ले लीजिए। इस अनुभूति में अपना अपनापन मौजूद है यानी तत्ता या तत्ताभास वर्तमान है और वास्तविक रूप में है इसीलिए उसे स्मृतमात्र अथवा पूर्वानुमित अनुभूति से पृथक् किया जा सकता है। साथ ही साथ उस अनुभूति में उसका किंभाव भी वर्तमान है अर्थात् वह विशिष्ट गुण जिसके द्वारा उसे नील वर्ण की अनुभूति से पृथक् किया जा सकता है। यही बात कल्पनाजन्य अनुभूति के विषय में भी सत्य है, क्योंकि उसकी कल्पना भी वास्तव में घटित घटना है और उस कल्पना-क्रिया का उस घटना-क्रम में जो संयुक्त रूप से मेरे मानसिक जीवन का कारण बनता है अपना एक विशिष्ट स्थान हुआ करता है। इसके साथ ही सारवस्तु की कल्पना-क्रिया अपने गुणों के वैशिष्ट्य द्वारा ही अन्य सभी सारवस्तुओं से पृथक् की जा सकती है।

सभी मनस्तत्त्वीय घटनाओं में इन प्रभेदकारी पहलुओं की उपस्थिति का अत्यधिक प्रभावशाली उदाहरण हमें त्रुटि अथवा भ्रम से प्राप्त होता है। त्रुटि या भ्रम का सारतत्त्व ही किंभाव का मिथ्या बोध है। उदाहरणत: जब कोई अबोध गाँववाला भूत को देखता है या कोई रोगभ्रमित व्यक्ति रोग के काल्पनिक लक्षणों से अभिभूत हो उठता है, तब भूत और रोग का एकदम अभाव नहीं हुआ करता। उस समय कुछ न कुछ वास्तव में देखा जाता अथवा अनुभूत अवश्य होता है, लेकिन गलती या भ्रान्ति उस अनुभूति या दर्शन में इस बात की होती है कि दृष्ट या अनुभूत का स्वरूप उपगृहीत होता है। जो कुछ देखा या अनुभूत होता है, उसके स्वरूप को अन्यथा ग्रहण किया जाता है। तत्त्वमीमांसक की दृष्टि से वह विशेषता, जिसके द्वारा प्रत्यक्ष और तात्कालिक बोध को उस बोध के सार विषयक परवर्ती विमर्श से अलग किया जा सकता है—इस बात में है कि स्वयं तात्कालिक बोध के समय हमें मनस्तत्त्वीय तथ्य के दोनों पहलुओं की इस प्रकार की पृथकता की चेतना ही नहीं हो पाती। तत्काल

अनुभूत ही सदा वह तत्किं अथवा प्रक्रियातत्त्व या प्रक्रियासार[1] होता है जिसके 'त्‌त' और 'किं' का विभेद चेतना का विषय नहीं होता । किन्तु विमर्श की प्रत्येक क्रिया का 'किं', दूसरी ओर, उसके 'तत्' से स्पष्टतः पृथक् किया जा सकता है और तब उसे यह कह कर कि उस क्रिया के विषय में सच्चाई से इतना ही बताया जा सकता है, उस क्रिया से सम्बद्ध किया जा सकता है । विमर्श के परिणाम को निर्णय अथवा तर्कवाक्य के रूप में ही प्रायः प्रकट किया जाता है और उस तर्कवाक्य या निर्णय की प्रारंभिकतम आकृति का निर्माण, उस विशिष्टता द्वारा जो विधेय को उद्देश्य से पृथक् करने से तथा बाद को उद्देश्य के विषय में विधेय का विधान करने से उद्भूत होती है, हुआ करता है । विचार अथवा ज्ञान का कर्तव्य ही है कि वह विश्व को हमारे लिए अधिकतम बोधगम्य बनाये और यह काम विचारवस्तु के सार अथवा उसके किंचित का, उसके अपने तत् से विविक्त अवस्था में क्रमिक विश्लेषण करके ही किया जा सकता है। हो सकता है कि तत्, जैसा कि किसी प्रत्यक्षण विषयक एकनिष्ठ निर्णय में या विशिष्ट निर्णय के अवसर पर, हमारे तर्कवाक्यों में ऐसे उद्देश्य के रूप में वस्तुतः प्रकट हो, जिससे किंचित को स्पष्टतः संपृक्त किया गया है अथवा कभी जैसा कि विज्ञान के सत्य सार्वत्रिकों में साध्य है अथवा तर्कशास्त्र के विधेय और आभासी उद्देश्य में पाया जाता है विशेषित सार भी संयत हो सकते हैं और तब हो सकता है कि यह अथवा प्रत्यक्षावगत वास्तविकता, जिसका यह सारा विशेषण है उस तर्कवाक्य में कहीं मिले ही नहीं। यही कारण है जो तर्कशास्त्री-गण सत्य सर्वत्र अथवा सामान्य सत्य निर्णय को बहुत पहले से ही सारतः सोपाधिक मानते आये हैं और इसी कारण से सामान्यमति व्यक्ति को सदा ही वे वास्तविकतायें जो पूर्ववर्त्ती काल में स्वतंत्र रूप से मानस कार्य कही जाती थीं विचार अथवा ज्ञात की ही विषयवस्तु प्रतीत होती हैं। लेकिन उसका इस प्रकार का विचारकोण एकदम गलत है क्योंकि वह भूल जाता है कि ऊपर लिखे तरीके से जो कुछ प्राप्त होता है वह तो वास्तविकता की दुनिया का तद्भाव अथवा अस्तित्वमात्र ही होता है न कि उसका किंभाव अथवा सार और वह भी वैज्ञानिक विचार प्रणाली द्वारा अन्तिम रूप से निर्णीत सत्य रूप में उपलब्ध सार के रूप में नहीं है।[2]

---

१. **प्रसंगतः बोधगत 'सार' स्वयं हो प्रक्रिया हो सकता है जैसा कि परिवर्तनपरक बोध के सभी उदाहरणों में पाया जाता है। लेकिन बोधगत प्रक्रिया से बोध की प्रक्रिया को सदैव पृथक् किया जा सकता है।**

२. **खण्ड २ के अध्याय १ में हम देखेंगे कि किसी अनुभूति के तद्भाव में किसी अनन्य वैयक्तिक रुचि अथवा प्रयोजन से सम्बद्ध होने की भावना अन्तर्हित रहती है।**

८—तब कहना होगा कि तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से अव्यवहृतित्व यानी यह तथ्य ही अनुभूति का आधारभूत लक्षण है कि अनुभूति के स्वतः अनुभूत बोध का अस्तित्व तथा उस बोध का सार मानस दृष्टि से परस्पर विभक्त नहीं होते। संभव है यह अव्यवहृति दत्त को उसके घटक पक्षों तथा तत्त्वों में विमर्शजन्य विश्लेषण द्वारा विश्लिष्ट न किये जाने के कारण उत्पन्न होती है, जिस प्रकार कि अनिर्वक्त संवेदन के मामले में हुआ करता है। लेकिन, जैसा कि आगे चलकर अधिक पूर्णरूप में देखने के अवसर हमें आयेंगे, यह अव्यवहृति विविक्ति तथा विमर्श प्रक्रियाओं द्वारा मुक्तः परिणामों के प्रत्यक्ष बोध की किसी एक समग्रता में उच्च स्तर पर समंकित हो जाने के कारण भी उत्पन्न हो सकती है। अनुभूति का ऐसा अव्यवहृतित्व भी हुआ करता है, जो व्यवहित विमर्शीय ज्ञान के नीचे वर्तमान रहता है, लेकिन एक उच्चतर प्रकार की अव्यवहृति भी होती है, जो उसके ऊपर रहती है। इस कथन की व्याख्या तथा उसकी न्याय्यता प्रमाणित करने का काम तो अगले अध्याय ही करेंगे, लेकिन अभी तो उस पर अधिक प्रकाश डालने के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करके ही हमें संतोष करना होगा। जटिल अभ्यन्तर रचना वाली किसी भी कलाकृति, उदाहरणतः कोई भी सांगीतिक रचना, अथवा शतरंज की कोई भी समस्या यदि किसी ऐसे आदमी के सामने रख दी जाये जिसने कभी भी कला का अनुशीलन न किया हो, तो उसे वे ऐसे दत्तों के—जिनके अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के पहलू तब तक अलग न हो सके हों—अव्यवहृत सातत्य मात्र लगेंगे। उसके लिए कला-वस्तुओं की न तो कोई सार्थकता ही होगी न कोई अर्थ। केवल उनके अस्तित्व का ही भान उसे होगा। कलात्मक रूप के प्रेक्षण की शिक्षा ज्यों-ज्यों गतिमयी होती है त्यों-त्यों पहले तो पृथक्करण अधिकाधिक प्रमुखता ग्रहण करने लगता है। संरचना का प्रत्येक छोटा भाग, समग्र संरचना में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार सार्थकता अथवा अर्थमत्ता ग्रहण करता है और यह पहले-पहल तो ऐसी लगती है, मानो वह उस भाग के सीधे दिखायी देने वाले स्वरूप से अधिक और अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु हो—ऐसी वस्तु जिसे विमर्शीय विश्लेषण द्वारा तथा एक भाग की दूसरे भागों से तुलना करने के बाद ही निगृहीत किया जा सके। अब प्रत्येक भाग, उसके अन्तःसार के विश्लेषण द्वारा अपने से भिन्न और बहिर्गत किसी वस्तु का प्रतिरूप अथवा अर्थ ग्रहण कर लेता है यानी अन्य सभी भागों से उसका सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। लेकिन जब सौन्दर्य-बोध अथवा कला विषयक हमारी शिक्षा पूर्ण हो जाती है तब हमारी अनुभूति या बोध और उसके अन्तःसार के बीच आया व्यवधान अर्थात् अव्यवहृतित्व का नाश समाप्त होकर पुनः एक बार उसकी स्थापना हो जाती है। पूर्णतः प्रशिक्षित दृष्टि के लिए तब वह रचना अथवा साध्य, कलात्मक समग्र के रूप में उसका गठन, ऐसा नहीं लगता कि उसके समझने अथवा अर्थ ग्रहण करने के लिए अलग-अलग भागों को मिलाने और

विमर्शात्मक विश्लेषण-निष्कर्ष पर पहुँचने की आवश्यकता हो। अब वह एक संरचनात्मक इकाई के रूप में सीधे ही बोधग्राह्य हो जाती है। संरचना के अर्थवती होने के कारण विमर्श तथा तुलना की अव्यवहृत स्थितियों के परिणाम नष्ट न होकर समग्र अनुभूति में ही विलीन हुए रहते हैं। संरचना का अर्थ तब उसके अस्तित्व से बाह्य नहीं रहता और वह रचना ही स्वयं अर्थवती लगने लगती है और अर्थ स्वयं रचना-स्वरूप लगने लगता है।[१] आगे चल कर शायद स्पष्ट हो सके कि उपर्युक्त कलात्मक-दृष्टि-विषयक उदाहरण द्वारा जो कुछ समझाने की चेष्टा की गयी है वह वास्तविकता का अर्थ समझाने के सभी प्रगतिशील प्रयत्नों के बारे में भी बहुत कुछ सही है। आम तौर पर लोग जिसे रहस्यवाद कहते हैं उसका शायद एक मौलिक दर्शन-शास्त्रीय दोष है कि वह प्रवर और अवर अव्यवहृतित्व के इस विभेद को ओझल करके अनुभूत वास्तविकता के साथ पुनः सीधा संपर्क स्थापित करने की चेष्टा किया करता है। लेकिन वैज्ञानिक विमर्श विश्लेषणात्मक विचारधारा द्वारा हुए कार्य को उलट कर तथा अभाषान्तरित अनुभूति मात्र के स्थिति-बिन्दु की ओर उसे फिर से पलट कर इस संयुक्त को अनावरूप से ढीला कर देता है।[२]

९—शायद इसी अवसर पर एक अन्य ऐसे लक्षण की—जो अव्यवहृत अनुभूति के प्रत्येक दत्त से सम्बद्ध प्रतीत होता है—व्याख्या करना उचित होगा। ऐसा लगता है कि प्रत्येक अनुभूति अन्तर्निहित रूप से जटिल ही होती है अर्थात् उसका अन्तर्वस्तु-पक्ष कभी भी एकान्ततः सरल नहीं प्रतीत हुआ करता है, अपितु उसमें सदा ही अनेक पक्ष सम्मिलित रहा करते हैं। ये पहलू प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप में स्पष्ट नहीं होते हैं परन्तु

---

१. निश्चय ही यह बात अंशतः ही सही है। जैसा कि आगे के पृष्ठों में बताया जायगा वास्तविकता या सत्ता के किसी भी परिमित खंड की बनावट में 'तदर्थ में वैसा ही होने और वैसा ही होने का अभिप्राय रखने का आदर्श' कहीं भी 'पूर्णरूप' से कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सका, परिशुद्धतः इसलिये कि परिमित, जैसाकि उसकी संज्ञा में ही अन्तर्हित है, कभी भी एक पूर्णतः व्यवस्थित समग्र नहीं हुआ करता।

२. उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के, जिनके द्वारा अर्थ अधिगृहीत हुआ करता है—विषय के लिए स्टाउट की पुस्तक 'मैनुएल ऑफ साइकॉलोजी' भाग–१ अध्याय ३ देखिये। रूप बोध के विषय में भी उसी लेखक की पुस्तक 'एनालिटिक साइकॉलोजी' भाग १ अध्याय ३ देखिये। रायंस की 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' प्रथम कड़ी में बाह्य तथा आन्तरिक अर्थ के परस्पर विभेद के सम्बंध में अत्यन्त रोचक विवाद पढ़ने को मिल सकता है।

ज्यों ही विमर्श द्वारा हम उनका वर्णन तथा विश्लेषण प्रारंभ कर देते हैं त्यों ही वे पहचान में आने लगते हैं और हम उनमें विभेद कर सकते हैं। वस्तुस्थिति के स्वरूप को देखते हुए इन पहलुओं की दुरूहता का सीधा अभिनिश्चयन निरीक्षण द्वारा नहीं किया जा सकता क्योंकि निरीक्षण करने में पहले से ही मान लिया जाता है कि हम अनुभूति का विवेचन उसके तत्काल अनुभूत रूप में नहीं अपितु ऐसे रूप में कर रहे हैं जो पहले से ही पर्याप्त विश्लेषित और विभ्रष्ट होकर सामान्य अभिधाओं में वर्ण्य बन चुका है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से लगता ऐसा ही है कि हमें जिस परिणाम पर पहुँचना है उस तक इसी विचारणा द्वारा पहुँचना है कि दत्तों पर ज्यों ही हम ध्यान देते हैं, त्यों ही ये प्रभेद्य पहलू विषय-वस्तु के भीतर ही हमें मिल जायेंगे और यह कि यदि वे शुरू से ही अलक्ष्यरूप में उसके भीतर मौजूद न होते तो विमर्श की प्रक्रिया मात्र द्वारा वे कहाँ से पैदा हो जाते। उदाहरण के तौर पर किसी बहुत ही प्रारंभिक अनुभूति में भी कुछ ऐसी बात दिखायी पड़ेगी जिसे इन्द्रियजन्य बोध के उपस्थापक गुण तथा बोधानुगत सुख और दुख के प्रभेदक के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसके अतिरिक्त यह न सोचना भी कठिन है कि किसी इन्द्रियगम्य अनुभूति के उन तत्त्वों में जो स्वयं ऐन्द्रिक बोधजनक अंग-संगठन ऐंद्रिय बोध की न्यूनाधिक परिस्थितियों के अनुरूप हैं तथा उनके जो पर्यावरण के अपेक्षाकृत नवीन और अनावर्त अक्षणों के अनुरूप हैं अवश्य ही कोई भेद होना चाहिए। कुछ दर्शनशास्त्री इससे भी आगे जाने को तैयार होंगे और चाहेंगे कि तर्कशास्त्रानुसार की संभावकता मात्र में ही आत्म और अनात्म अथवा उद्देश्य और वस्तु के पारस्परिक विभेद की न्यूनाधिक स्पष्ट चेतना अन्तर्हित रहा करती है। मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के रूप में इस सवाल को यहाँ उठाना आवश्यक नहीं है। लेकिन इतना ध्यान जरूर रखना होगा कि सरल से सरल अनुभूति की विषयवस्तु में अन्तर्हित उन पहलुओं की—जो विश्लेषण द्वारा प्रकट होते हैं—संख्या तथा स्वरूप के बारे में जो चाहे दृष्टिकोण अपनाएँ पर वे अनुभूत पहलू एक अविश्लिष्ट समग्र के रूप में ही मूलतः संगठित होते हैं। तदनुवर्ती हमारे विविध विश्लेषणों में अनुभूति के चरम 'किं' के बारे में ऐसे सिद्धान्त पूर्वस्थापित कर लिये जाते हैं जिनकी परीक्षा करना तत्त्वमीमांसा का ही कर्तव्य होता है।

१०—तत्त्वमीमांसीय निकष विषयक हमारी पूर्ववर्ती विवेचना से इतना तो पता चल ही जाता है कि वास्तविकता अथवा सत्ता के समग्र के बारे में पूर्णतः पर्याप्त बोध का उचित रूप से निर्धारित आदर्श किस प्रकार का होना चाहिए। सत्ता अथवा वास्तविकता सम्बन्धी पूर्णतः पर्याप्त बोध वह ही हो सकता है जिसमें वास्तविकता ही वास्तविकता हो और वास्तविकता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न हो अर्थात् भ्रान्तिजनक आभास का कोई भी तत्त्व उसमें अनुविद्ध न हो। अपने स्वरूप के अनुसार उसका पहले

तो सर्वानुषंगी होना आवश्यक है, यानी उसमें प्रत्यक्ष अनुभूति का प्रत्येक दत्त सम्मिलित होना चाहिए और चूँकि अनुभूति के दत्तों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी—वे दत्त जिन्हें हम मनस्तत्त्वीय तथ्यों की संज्ञा भी दे चुके हैं—वास्तविकता या सत्ता का उपादान नहीं हुआ करता अतः वास्तविकता में अन्य कुछ भी आधृत नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि वास्तविकता की अपनी आन्तरिक समरस बनावट के एकलतन्त्र के अनुभाग के रूप में ही उसके समग्र दत्तों को बिना किसी व्याघात और असंगति के—उसमें अन्तर्हित रहना होगा क्योंकि जहाँ कहीं भी असंगति होती है वहाँ ही अपूर्ण तथा तत्परिणामी आंशिक मिथ्याभास भी पाया जाता है जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। तीसरी बात यह है कि अनुभूति के समग्र दत्तों का इस प्रकार का सर्वानुषंगी समरस बोध अन्तर्वस्तु से अस्तित्व की उस वियुक्ति का जो हमारी अपनी अनुभूति को संगत रूप में पुनः प्रस्तुत करने के हमारे अपने प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर उत्पन्न हो जाती है—स्पष्टतः अतिक्रमण कर जायगा। चूँकि यह बोध अपने आप में संपूर्ण होता है अतः उच्चस्तर पर जाकर वह उस अव्यवहृति को भी शामिल कर लेगा, जिसे निम्नस्तरीय अवस्था में हम अनुभूति का वैशिष्ट्य समझते हैं। इस प्रकार उसे वास्तविक अस्तित्व के समग्र की अनुभूति ऐसी प्रत्यक्ष व्यवस्था के रूप में होगी जिसमें आन्तरिक संगति और संरचना तो है लेकिन जो अपने से परे अन्य किसी वस्तु द्वारा निर्दिष्ट नहीं होती। कलात्मक समग्र के विषय में हम जो बता चुके हैं वही बात अस्तित्त्व के समग्र के बारे में भी सही है यानी चूँकि उसका बोध भी पूर्ण अन्तर्दृष्टि द्वारा ही हो सकता है अतः वह भी वही होगा जो उसका तदर्थ है तथा उसका तदर्थ भी वही होगा जो वह स्वयं थी । वास्तविकता की एकल व्यवस्थात्मक इस प्रकार की आदर्शतः पूर्ण अनुभूति को, उसकी विशिष्टतः अनुभूत्यात्मक प्रकृति को प्रकट करने की दृष्टि से हम 'शुद्ध' अनुभूति की वह संज्ञा दे सकते हैं, जिसका दर्शनशास्त्र में सबसे पहले प्रयोग अवेनारियस नामक दर्शनशास्त्री ने किया था। इस संज्ञा द्वारा यह प्रकट होगा कि यह अनुभूति अपने समग्र अंशों से केवल अनुभूति ही है अन्य कुछ नहीं। निश्चय ही इस नाम को अपनाते हुए हमारे लिए आवश्यक नहीं है कि हम अवेनारियस के एतद्‌विषयक अन्य विचारों से विशेषतः ऐसी अनुभूति की संरचना विषयक विचारणा से भी सहमत हों ।

स्वयं हमारी मानवीय अनुभूति स्पष्टतः इस प्रकार के आदर्श से बहुत नीची पड़ जाती है और वह दो कारणों से। पहला तो यह कि हमारी अनुभूति दत्तों की दृष्टि से अपूर्ण हुआ करती है। वास्तविकता में ऐसा बहुत कुछ हुआ करता है या मौजूद रहता है जो हमारी अनुभूति में कभी भी प्रत्यक्षतः समाविष्ट नहीं हो पाता। जो कुछ समाविष्ट होता भी है उसमें से अधिकांश के बारे में साधारणतः हम इतना ही बता सकते हैं कि अगर उसके सविकल्प प्रत्यक्षण की निर्धारित परिस्थितियाँ मौजूद होतीं, तो वह हमें कैसा

प्रतीत होता इन परिस्थितियों का हमारा ज्ञान भी प्रायः अत्यधिक अपूर्ण ही है। इन परिस्थितियों के अनुरूप मनस्तत्त्वीय तथ्य विषयक वास्तविक उपादान क्या हैं तथा उन उपादानों से हमारे लिए किस प्रकार के आभास का निर्धारण हो सकेगा यह बता सकने में हम एकदम असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि वास्तविक जगत् में ऐसा बहुत कुछ मौजूद हो जो इस अप्रत्यक्ष विधि द्वारा भी मानवीय ज्ञान की संरचना के अन्तर्गत कभी भी न प्रविष्ट होता हो। अतः हमारी मानवीय अनुभूति तथा वे बौद्धिक अर्थागम जिनके द्वारा हम उस अनुभूति को व्यक्त करने की चेष्टा किया करते हैं, दोनों सदा खंडित तथा आंशिक रूप में ही हमारे सामने आया करते हैं। व्यवस्थाबद्ध समग्र वास्तविकता के आदर्श अथवा पूर्ण बोध द्वारा विश्व के किसी भी एक तथ्य से प्रत्येक अन्य तथ्य के स्वरूप का निगमन किया जा सकेगा। अथवा यों कहा जा सकता है कि चूँकि समग्र अपने संपूर्ण रूप में भी हमारे सामने एकान्ततः प्रस्तुत होगा अतः किसी निगमन की आवश्यकता ही न रहेगी। प्रत्येक तथ्य प्रत्यक्षतः सभी अन्य तथ्यों से, व्यवस्था के उस आन्तःप्रज्ञ रूप से जिसके आधीन सब अन्य तथ्य रहा करते हैं, सीधा सम्बद्ध होकर ही हमारे सामने आयेगा। परन्तु चूँकि मनुष्य का विश्व विषयक बोध अभी अपूर्ण ही है; अतः हमारे तथ्य अधिकांशतः एक दूसरे से विविक्त और स्वतंत्र तथा 'एक आकस्मिक सहयुति' अथवा 'सहस्थापना' के रूप में ही हमारे सामने आते हैं और वे प्राक्कल्पनाएँ जिनके द्वारा हम उन तथ्यों को एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं—हमारे दत्तों के स्वरूप द्वारा अधिकांशतः निर्धारित होने पर भी—कभी भी स्वेच्छ और 'अबाध' अर्थागम तत्त्व से रहित नहीं हो पातीं। अपनी पूर्णता के लिए उन्हें कभी भी उन तथ्यों के जिन्हें वे संयुक्त करती हैं—स्वरूप अथवा स्वभाव पर एकान्ततः निर्भर होना आवश्यक नहीं हुआ करता। इसलिए हम कभी भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हमारे प्राक्कल्पनात्मक अर्थागम स्वयं इन अर्थों में सत्य हैं कि वे उन बातों का जो एक पूरी हुई अनुभूति के लिए तथ्य वस्तु रूप हों—विवरण प्रस्तुत करते हैं। हमारा आदर्श तो इतना ही है कि हम प्रस्तुत किये गये अपने तथ्यों को ऐसे अर्थागमों द्वारा प्रस्तुत कर सकें जिनकी प्रत्येक कड़ी स्वयं एक तथ्यवस्तु अथवा अनुभूति इस माने में हो कि ज्ञात परिस्थितियों में वह एक प्रत्यक्ष बोध की तथ्य वस्तु बन सके—लेकिन अपनी अनुभूति के आंशिक अथवा खंडीय स्वरूप के कारण हम उस आदर्श तक कभी भी पूरी तरह पहुँच नहीं सकते। सब प्रकार के वैज्ञानिक विषयों में हमें अनवरत रूप से ऐसे प्राक्कल्पनात्मक अर्थागमों का उपयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जो केवल 'लाक्षणिक' या 'प्रतीकात्मक' इस अर्थ में हैं तथा जहाँ तक हमें मालूम है सदा ऐसे ही शायद रहें—कि आनुभूतिक दत्तों के समन्वयन के लिए उपयोगी होते हुए भी वे स्वयं कभी भी प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय नहीं बन सकते क्योंकि

वे या तो अनुभूतिमात्र के सामान्य स्वरूप के विरोधी होते हैं अथवा जिन विशिष्ट अनुभूतियों के संबंध में उनका उपयोग होना है—उन्हीं के विशिष्ट स्वरूप हमारी वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं तथा बीजगणितीय अवकलन के किसी आंकिक अथवा ज्यामितीय विषय-विनियोग की अनिर्वचनीय स्थितियों के बीच इस प्रकार एक ग्रहण साम्यानुमान सामने आ जाता है। प्रत्यक्षानुभूति विषयक कल्पनाओं की उपयोगिता खुद उनकी वास्तविकता की गारेन्टी के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी अवकलनान्तर्गत समग्र प्रतीकी प्रक्रियाओं[1] का बोधगम्य अर्थ निर्णय कर सकने की हमारी क्षमता की गारेन्टी के लिए इस तरह के अवकलन की उपयोगिता। किसी शुद्ध और पूर्ण अनुभूति में, ऐसी अनुभूति में जिसका एक ही बार में समग्र अर्थ ग्रहण कर लिया गया है और जो व्यवस्थित है तथा जिसमें अस्तित्व और अन्तःसार तथा तथ्य और रचना पृथक् नहीं रह गये हैं, इस प्रकार की अन्ततः अनिर्णेयार्थ प्रतीकात्मकताओं के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं रह जाता।

तब तत्त्वमीमांसीय मूल समस्या यह रह जाती है कि इस प्रकार की पूदित अथवा 'परिशुद्ध' अनुभूति के सामान्य अथवा औपचारिक लक्षणों की खोज यदि हम कर सकते हों तो करें यानी ऐसे लक्षणों की खोज जो केवल उस अनुभूति के समग्रात्मक तथा पूर्णतः व्यवस्थित स्वरूप के कारण ही उसके अपने बन गये हों। इसके अतिरिक्त यह निर्धारित करना कि हमारी विश्वात्मक मानवीय अनुभूतियों के सार्वत्रिक लक्षणों

---

१. गणितीय प्रतीकात्मकता का अर्थ निर्णय सदा किया जा सकता है। इस प्रकार के अनुमान के दोषपूर्ण होने के बारे में, कुछ अच्छी टिप्पणियों के लिए देखिए बी० रसल लिखित 'फाउण्डेशन्स ऑफ ज्योमेट्री' पृ० ४५–४६ या ह्वाइट हेड लिखित 'युनिवर्सल एलजब्रा खंड' १ पृ० १०। विगत धारा में वर्णित युक्ति के अधिक भाष्य के लिए मैं अपनी पुस्तक "प्राब्लम ऑफ़ काण्डक्ट" के पृ० १४–२१ तक पढ़ने की सलाह दूँगा। 'प्रतीकात्मक' संकल्पना शब्द के संबंध में मैं जो कुछ समझा हूँ—यानी ऐसी परिकल्पना, जिसे प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता—उसके बारे में मैं अपने पाठकों को सावधान कर देना चाहता हूँ कि वे इस प्रकार की संकल्पना तथा स्पेंसर महोदय के प्रतीकात्मक विचार की पहचान करने में गड़बड़ी न कर बैठें। स्पेंसर के इस शब्द का अर्थ है—ऐसा विचार, जो मनोवैज्ञानिक रूप से, उस अर्थ की प्रस्ताविक प्रतिलिपि नहीं है, जिसका प्रतिनिधित्व वह करता है। उस शब्द का होगा प्रयोग केवल शुद्ध तर्कात्मक ही है। उसका संपर्क केवल मानसिक प्रतिमाओं के अर्थमात्र से ही है, उनके मनोवैज्ञानिक स्वरूप से उसे कोई सरोकार नहीं।

में से कौनसे लक्षण ऐसे हैं जिन्हें किसी संसक्त अनुभूति के साथ, उसकी प्रकृति या स्वरूप के कारण उसके अपने बन जाना चाहिए तथा जो किसी शुद्ध अनुभूति के औपचारिक लक्षणों से पृथक् पहचाने जा सकते हैं—पूर्णतः निर्धारित तत्त्वदर्शन का काम होगा। हमारे तत्त्वदर्शन को यह भी पता करना होगा कि मानवीय अनुभूति के उन लक्षणों में से जिनका उपर्युक्त प्रकार का चरित्र या रूप नहीं है—कौनसे गुण अधिकांश में उस अनुभूति की अनुकूलता तक पहुँच सकते हैं तथा वास्तविकतया एकान्ततः पूर्ण तथा एकरस अनुभूति में स्थान ग्रहण करने के लिए जिन्हें सक्षम बनाने के लिए कम से कम सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता होगी। यदि हम अपने कार्यक्रम को पूरा कर सकें, तो सबसे पहले हमें इस बात की एक सामान्य कल्पना कर लेनी होगी कि अनुभूत वास्तविकता के विधान की रूपरेखा एक व्यवस्थित समग्र के रूप में क्या है। दूसरी बात यह कि हमें उन विभिन्न संकल्पनाओं तथा पदार्थों को जिनके द्वारा हम अपनी दैनिक विचार-प्रक्रिया में तथा विभिन्न विज्ञानों में भी—अपने अनुभूति जगत् का अर्थनिर्धारण करने का प्रयत्न किया करते हैं सत्य तथा वास्तविकता की श्रेणियों के आरोही क्रमानुसार जिस सीमा तक उन्हें, व्यवस्थाबंध अनुभूत वास्तविकता के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त बनाने के लिए परिवर्तित करना आवश्यक हो—तदनुकूल ही व्यवस्थित करना होगा । इस प्रकार के विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान स्वयं निश्चय ही वास्तविकता की एक शुद्ध और सर्वांगीण अनुभूति न होगा बल्कि वह तो इस प्रकार की अनुभूति के सामान्य रूप से एक मध्यवर्ती ज्ञान मात्र होगा और उस सीमा तक केवल एक गुणवाची तथा अपूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान के समान ही होगा। उसका संकेत फिर भी अपने से परे की किसी वस्तु की ओर होगा और इसीलिए उसका अर्थ भी अपने अस्तित्व से पृथक होगा लेकिन किसी सर्वांगी अनुभूत समग्र के स्वरूप के बारे में हमारा तत्त्वमीमांसीय ज्ञान, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान के समान न होकर इस माने में अन्तिम होगा कि किसी भी सद्यः का समावेश सिद्धान्ततः उसे परिवर्तित न कर सकेगा। सद्यः ज्ञान अथवा नवीन ज्ञान में जहाँ अन्य सभी मामलात में कम से कम वर्तमान सिद्धान्तों में परिवर्तन होने की संभावना निहित रहती है वहाँ इस मामले में उसके कारण केवल इतना ही हो सकेगा कि वास्तविकता की सामान्य रचना विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि को प्रभावित किये बिना वह उसकी व्यवस्था सम्बन्धिनी हमारी संकल्पना को और स्पष्ट करके अधिक सुदृढ़ बना दे।

ऐसे ज्ञान की जो अपूर्ण होते हुए भी अन्तिम है—इस संकल्पना को प्रारंभिक गणित के एक उदाहरण द्वारा समझाना उचित होगा। हमें पूरी तरह और ठीक तरह से मालूम है कि π नामक चिह्न से क्या अभिप्रेत है। π का पूर्णतः निर्धारण हमारे लिए इस परिभाषा द्वारा किया जा चुका है कि वह किसी वृत्त की परिधि और उसके व्यास के

बीच के अनुपात का नाम है। यहाँ वृत्त के परिधि तथा व्यास दोनों ही उन अंगों की जिनका उपयोग π की परिभाषा के सम्बन्ध में हम करते हैं—असंदिग्ध परिभाषा हमारे पास है ही। इस प्रकार इस चिह्न या प्रतीक का अर्थ विषयक हमारा ज्ञान स्पष्ट रूप से अन्तिम अथवा निर्णीत है। हमारे इस ज्ञान की किसी भी प्रकार की वृद्धि से उस अर्थ में कोई परिवर्तन न आयेगा! इसके साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि π विषयक हमारा ज्ञान अन्तिम होते हुए भी अपूर्ण है अतः राशि π असम्मेय है अतः कभी भी उसका शुद्ध मूल्यांकन नहीं कर सकते। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि किसी वांछित कोटि के सन्निकट तक उसका मूल्य निर्धारण कर दें। और चूँकि किसी भी सन्निकटन से उस राशि का एकान्त शुद्ध मूल्य नहीं प्राप्त किया जा सकता अतः एक सन्निकटन दूसरे की अपेक्षा निकट होता जायेगा चूँकि इनमें से एक भी सन्निकटन सन्निकट सत्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है फिर भी यह किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से प्रत्येक सन्निकटन लक्ष्य से एक समान ही दूर है। इसी प्रकार यह भी ठीक है कि एक व्यवस्थित समग्र के रूप में अनुभूत वास्तविकता तथा अनुभूति का सामान्य स्वरूप क्या है यह हम भले ही अन्तिम रूप से बता सकें, लेकिन जब हम इस व्यवस्था के स्वरूप की विविक्ति के विषय में पूछताछ करने पर आते हैं तब हमें उन विज्ञानों पर ही निर्भर होना पड़ता है जिनके निष्कर्ष सन्निकटन मात्र हुआ करते हैं। अतः इससे यह नहीं कहा जा सकता—जैसा कि प्रायः मान लिया जाता है कि एक विज्ञान के पदार्थ परम या एकान्त सत्य का अन्य विज्ञान की अपेक्षा निकटतर सन्निकटन हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करते।[1]

११—पूर्वगत अनुच्छेदों में हमने जिस प्रकार के तत्त्वदर्शन या विज्ञान की मीमांसा की है उसके लिए आवश्यक विधि-रीति या प्रणाली के विषय में कुछ सामान्य विमर्श देकर ही इस अध्याय को समाप्त करना उचित होगा। यह तो तय ही है कि किसी भी वैज्ञानिक विधि का सच्चा स्वरूप तभी पता चल पाता है जब कि उसका क्रियात्मक उपयोग किया जाये। किसी भी ऐसी कार्य-विधि के स्वरूप के सम्बन्ध में जिसे पहले कभी भी क्रियात्मक व्यवहार द्वारा प्रदर्शित नहीं किया गया या तो उसके श्रेष्ठतम परिणाम निष्फल या निरर्थक हो सकते हैं या उसका बुरे से बुरा रूप यह हो सकता है कि निश्चित रूप से वह ऐसे पूर्वाग्रहों का स्रोत बन जाये जिनसे आगे चल कर अनुसन्धान की प्रगति में गंभीर रुकावट उपस्थित हो। लेकिन फिर भी अनुसंधेय समस्याओं की हमारी संकलपनाओं द्वारा हम पर लायी गई कार्य-विधि के कुछ सामान्य लक्षण ऐसे हैं जिनका निर्देश हम अपने अनुसंधान की इस स्थिति पर भी कर सकते हैं।

---

१. मेरी पुस्तक 'प्राब्लम ऑफ काण्डक्ट' पृ० २२-३९ से तुलना कीजिए।

पहले तो हमारी कार्य-विधि का स्वरूप स्पष्टतः 'विश्लेषणात्मक' तथा 'आलोचनात्मक' होना ही चाहिए। हम अनुभूति के लक्ष्यार्थों या विविक्षाओं का पता लगाने के लिए उसका विश्लेषण किया करते हैं। इसी उद्देश्य से हम विश्व-व्यवस्था के अन्तःसार विषयक अपने विभिन्न वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया करते हैं। जब एक वार हम अनुभूत तथ्य के सर्वांगीण व्यवस्थगित समग्र के औपचारिक लक्षणों का निर्धारण कर चुकते हैं तब इन लक्षणों को वास्तविकता और सत्य का चरम मानदण्ड मानकर हम उसका हवाला देते हुए ही अपनी विभिन्न संकल्पनाओं और सिद्धान्तों की आलोचना किया करते हैं। नकारात्मक रूप में यही बात अगर कही जाय तो इतना और जोड़ा जा सकता है कि हमारी कार्य-विधि अनुभवाश्रित नहीं है, न ही 'आगमनात्मक'[1] है और वह भी उसी माने में जिसमें शुद्ध गणित को अनागमनात्मक कहा जा सकता है। वह इसी कारण अननुभवाश्रयी कही जायगी चूँकि तदर्थ हमें अपने सभी दत्तों का विश्लेषण तथा अपने सभी पूर्व-कल्पित सिद्धान्तों का आलोचन करना आवश्यक होता है। किसी भी तथ्य को विश्लेषण बिना अथवा किसी भी संकल्पना को आलोचना बिना ग्रहण करने की हमें अनुभूति नहीं है न हम उन्हें ऐसे निरापद दत्त के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं जिसके आधार पर हम मौलिक न्यायसंगति बैठाये बिना ही निर्माण प्रारंभ कर सकें। इसीलिए हमारी कार्य-विधि अननुभवाश्रित है। और चूँकि हमारे विश्लेषण का संबंध केवल विश्लेषित दत्तों के आन्तरिक स्वरूप तथा उनकी आत्म-संगति से ही हुआ करता है इसलिए शुद्ध गणित की तर्कनाओं की तरह वह भी स्वयं विश्लेषित दत्तों के अतिरिक्त अन्य किसी भी बाहरी संपुष्टि की अपेक्षा नहीं रखता और इसीलिए अनागमनात्मक है। अगर हम चाहें तो इसी माने में अपनी कार्य-विधि को तथा उसके निष्कर्षों को प्रागनुभवात्मक भी कह सकते हैं अर्थात् हम केवल कुछ दत्तों के आन्तरिक विश्लेषण ही लेकर चलते जायें और कार्य-प्रणाली तथा निष्कर्ष दोनों ही के विषय में अपनी विश्लेष्य अनुभूतियों के बाहर की अनुभूति से स्वतंत्र रहें। हम निश्चय ही इतना और भी कह सकते हैं कि हमारी कार्य-विधि रचनात्मक होगी अर्थात् यदि उसे सफलतापूर्वक निष्पन्न किया गया, तो अन्ततोगत्वा वह विश्व विषय की एक बौद्धिक अभिव्यक्ति कर देगी—ऐसी बौद्धिक अभिव्यक्ति जो तत्त्वमीमांसा का अध्ययन

---

१. आगमनात्मक क्रिया-कलाप की आधारीय विशेषता वास्तव में, यही है कि यद्यपि उसका लक्ष्य अपने दत्तों का ऐसा आन्तरिक विश्लेषण ही होता है जिसकी पूर्त्ति यदि हो जाय, तो एक ही उदाहरण से सार्वत्रिक निष्कर्ष की प्राप्ति हो सकती है। पर वह विश्लेषण हो नहीं पाता अतः उसे मजबूर होकर सदृश उदाहरणों की शरण लेकर उसको तुलना द्वारा ही बलशाली बनाना पड़ता है।

प्रारम्भ करने से पहले हमें प्राप्त न थी, लेकिन चूँकि इन अर्थों में रचनात्मकता सब वैज्ञानिक विधियों में मौजूद रहती है इसलिए उसे तत्त्वमीमांसीय विधि के विशिष्ट लक्षण के रूप में यहाँ प्रस्तुत करना असमीचीन होगा ।

तत्त्वमीमांसीय विधि की हमारी यह संकल्पना जो मूलत: विश्लेषणात्मक है और सामान्य विज्ञान के सापित के विभिन्न पदार्थों के अन्तर्विरोधों को दूर करने तथा उनका निग्रह करने के लिए ही जिसका उपयोग किया जाता है—ऐतिहासिक दृष्टि से, संभवत: भूतकालीन अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा हर्बर्ट की विचारधारा या उसके दृष्टिकोण के निकटतर है । किन्तु अननुभवात्मकता पर अधिक जोर देने तथा तत्त्वमीमांसा के प्रागनुभवात्मक स्वरूप के कारण, हम दूसरी ओर निश्चय ही, काण्ट की स्थिति से अधिक मेल खाते हैं। किन्तु प्रागनुभव संबन्धिनी काण्टीय कल्पना में और तद्विषयक हमारी कल्पना में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर है जिस पर अड़े रहना आवश्यक है। प्रागनुभव शब्द का जिस अर्थ में हमने प्रयोग किया है उससे मतलब यही है कि वह तत्त्वमीमांसा की एक विशेषता है। प्रागनुभवात्मक विधि से हमारा अभिप्राय उस विधि से है जो दत्त के अन्त:विश्लेषण तक ही सीमित रहे और बाहरी तथ्यों का हवाला दिए बिना, उनसे स्वतन्त्र बनी रहे। लेकिन काण्ट का प्रागनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार के कुछ ऐसे प्रारूपों का नाम है जो विश्लेषण द्वारा प्रत्येक अनुभूति में उपस्थित पाये जाने के कारण, प्रत्येक प्रकार की अनुभूति से स्वतंत्रता प्राप्त माने जाते हैं और इसीलिए काण्ट ने उन्हें अनुभूति के अनुभवाश्रित कारक के मुकाबले में मन का कार्य बताया है जिसे वस्तुओं की आत्मगत बाह्य व्यवस्था का उत्पादन माना जाता है। अत: प्रागनुभव विषयक काण्ट का समग्र विवाद, तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से क्या आवश्यक है (अर्थात् ज्ञात के अस्तित्व में ही अभिप्रेत) तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से क्या आद्य है—इन दोनों के बीच के विचार सतत संभ्रान्तिदोष से दूषित हैं। काण्टीय सिद्धान्त की यह पर्याप्त मनोभ्रमोत्पादक संभ्रान्ति स्पेंसर जैसे लेखकों के ग्रन्थों में चरम बिन्दु पर जा पहुँची है, क्योंकि यह लेखक ऐसा सोचते-से प्रतीत होते हैं कि ज्ञानस्थ अननुभवाश्रित कारक की उपस्थिति का निर्णय आनुवंशिक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर किया जा सकता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि हमारे दृष्टिकोण से प्रागनुभव का मनस्कार्य से तादात्म्य बैठाने पर अनुभूति की संरचना संबंधी एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को बीच में लाना पड़ेगा जिसे प्रमाण के बिना अंगीकार करने का हमें अधिकार नहीं।[१]

---

१. काण्ट की प्रागनुभव संबन्धिनी स्वयं तर्कना में वर्तमान, तत्त्वमीमांसीय तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति विषयक संभ्रान्ति के बारे में देखिए बी० रसल कृत फाउण्डेशन्स ऑफ ज्योमेट्री, पृ० १–४ तथा एडम्सन कृत "डेवलपमेण्ट ऑफ माडर्न फिलोसफी" भाग १, पृ० २४४–२४७ ।

हीगेल तथा उसके अनुयायियों द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वात्मिका विधि के प्रति अपनी अभिवृत्ति के विषय में भी यहाँ एक-आध शब्द कहना उचित होगा। हीगेल का विश्वास था कि उन सब प्रत्ययों अथवा पदार्थों की वे सभी शृंखलाएँ—जिनके द्वारा मन, अनुभूत वास्तविकता के स्वरूप को उसके आदिमतम रूप से लेकर पर्याप्ततम रूप तक, समग्रत: ग्रहण करने का प्रयत्न किया करता है—एक ऐसे नियत या स्थिर क्रम द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है जो स्वयं विचार के ही अपने ही स्वभाव से उद्भूत हुआ होता है। उसका कहना था कि हम अस्ति के स्वरूप से किसी अनगढ़ और एकांगी प्रत्ययन की अभिपुष्टि से ही आरंभ किया करते हैं अत: हमारे प्रत्यय की अपूर्णता ही हमें उसके प्रतिगामी सदृश सत्यवत् की अभिपुष्टि करने के लिए हमें बाध्य करती है। लेकिन प्रतिगामी भी अपनी बारी पर ठोस वास्तविकता के पूर्ण स्वरूप को व्यक्त करने में उससे कम एकांगी और अपर्याप्त नहीं होता। अत: इस प्रकार एक ऐसे प्रत्यय की संपुष्टि करते हुए—जिसमें प्रारंभिक संपुष्टि तथा तत् प्रतिगामी दोनों ही अधीन अथवा गौण पक्षों के रूप में सम्मिलित रहते हैं—हमें प्रथम निषेधन का निषेध करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उच्चतर स्थिति पर भी जब हम नवीन पदार्थ का प्रयोग कर रहे हैं यही प्रक्रिया पुनरावृत्त होती है । और इस प्रकार हम पदार्थीय मतों की ऐसी क्रमिक शृंखलाओं को शनै: शनै: पीछे छोड़ते चले जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक में संपुष्टि, निषेध तथा निषेध के निषेध की तीनों स्थितियाँ संरक्षित रहती हैं। इन शृंखलाओं में अनुभूति की ऐसी बौद्धिक अभिव्यक्ति से लेकर जिसमें उसकी अधिक व्याख्या न देते हुए सत्व मात्र के रूप में ही उसे माना गया है उसके एकान्तिक विचार रूप में अथवा आत्मिक अनुभूति की निर्धारित व्यवस्था के रूप में बोध तक को ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया की विभिन्न क्रमिक स्थितियों को, ऐसी व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध अग्रगति के रूप में जिसमें प्रत्येक स्थिति का स्वरूप उसकी समग्रीय स्थिति द्वारा निर्धारित होता है—प्रदर्शित करने का काम गुणवाची तत्त्वदर्शन का है (जिसे हीगेल ने तर्कशास्त्र का नाम दिया है)। जैसा कि हीगेल ने भी स्वीकार किया है कि यह द्वन्द्वात्मिकता विधि येनकेन-प्रकारेण दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की आत्मनिष्ट एकान्तिक प्रज्ञा तक ही सीमित नहीं है अपितु वस्तुनिष्ठ विश्व की संरचना में भी वह सिद्ध हो सकती है। परिणामत: यह कहा जा सकता है कि जिस क्रम से उसकी वे क्रमिक स्थितियाँ तर्कशास्त्र में पायी जाती हैं—उसी क्रम में उन्हें भौतिक प्रकृति तथा इतिहास में भी खोजा या पाया जा सकता है तथा हीगेल के अनेक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भौतिकी, नीतिशास्त्र, धर्म तथा इतिहास के तथ्यों को इस सिद्धान्त के प्रकाशानुसार प्रदर्शित करने के लिए ही लिखे गये हैं। हीगेल के बाद हुई विभिन्न विज्ञानों की प्रगतियों ने इन निगमनों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की स्वेच्छाचारिता तथा अविश्वास्य इतनी अच्छी तरह सिद्ध किया है कि हीगेलीय पद्धति के दर्शनशास्त्र

के अच्छे से अच्छे व्याख्याता भी अब सहमत हो गये हैं कि वे द्वन्द्वात्मक तर्कना के इस दावे को कि वह उन स्थितियों की जिनमें होकर वैयक्तिक मन को, वास्तविकता के सन्तोषप्रद प्रत्ययन की ओर बढ़ते समय, गुजरना पड़ता है—व्यवस्थापना मात्र से अधिक कुछ नहीं—छोड़ दें। लेकिन इन सीमाओं से सीमित होते हुए भी उसका इस प्रकार का दावा सम्भवतः बहुत बढ़ा-चढ़ा है। इस बात का सन्तोषप्रद प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि गुणवाची तत्त्वदर्शन तक में भी पदार्थों का उत्तरोत्तर क्रमबन्धन ठीक वैसा ही होना आवश्यक है जैसा कि हीगेल ने माना हैं। प्रथम महत्व के कुछ पदार्थ मौजूद भी हैं उदाहरणतः गणितशास्त्र गत जिन्हें उसकी व्यवस्था में शायद स्थान पाना भी दूभर है साथ ही साथ यांत्रिक और रासायनिक कार्य सम्बन्धी ऐसे भी अन्य पदार्थ हैं जो इस व्यवस्था में महत्वपूर्ण भाग लेते हुए भी अपने स्थान निर्धारण के मामले में स्पष्ट रूप से अधिकतर हीगेल के जीवन काल में ही विभिन्न विज्ञानों के वास्तविक विकास पर निर्भर रहे हैं। अतः यह विधि दार्शनिक सत्य की मौलिक सिद्धि के लिए अनुपयुक्त है। अपने श्रेष्ठतम रूप में वह अन्य द्वारा प्राप्त या पहले ही सिद्ध सत्य की क्रम व्यवस्था के लिए सुविधाजनक विधि का, जैसा कि लोत्से का कथन था, काम सम्भवतः दे सके, शायद इस कार्य के लिए भी, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि हीगेल द्वारा वास्तव में गृहीत पदार्थों के उत्तरोत्तर क्रम की सामान्य योजना को विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों के भावी विकासों के अनुकूल बनाने के लिए उस क्रम में सतत परिवर्तन करते रहने की आवश्यकता रहेगी।

अधिक जानकारी के लिए देखिए—एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' अध्याय १३, १४। बी० बोसांक्वे लिखित 'एसेंशियलस ऑफ लॉजिक' लेक्चर २, शैडवर्थ हाम्सन कृत 'मेटाफिजिक्स ऑफ एक्सपीरियन्स' भाग १, अध्याय १। जे० एस० मैकेन्जी कृत 'आउट लाइन्स ऑफ मेटाफिजिक्स' भाग १, अध्याय २ व ३, तथा हीगेलीय द्वन्द्वविधि के आलोचनार्थ देखिए—जे० ई० एम० टेगार्ट की 'ओरिजन एण्ड सिग्निफिकेन्स ऑफ हीगेल्स लॉजिक' अध्याय ८-१२ विशेषतः अध्याय १२ तथा एडम्सन कृत 'डेवलपमेण्ट आफ माडर्न फिलासफी' भाग १, पृष्ठ २७१ एफ० एफ०।

अध्याय ३

तत्त्वमीमांसा के उपविभाग

१—तत्त्वमीमांसा के पारंपरिक उपविभाग, जीवविकास-विज्ञान, विश्व-विज्ञान तथा तर्कनावादी मनोविज्ञान आजकल की सभी महती रचनात्मक व्यवस्थाओं में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। २—अपने विषय के स्वयं विवेचन के लिए इन उपविभागों के स्वीकरण का हमारा शुद्ध अभिप्राय। ३—अनुभवाश्रयी विज्ञानों के साथ विश्व-विज्ञान तथा तर्कनावादी मनोविज्ञान का सम्बन्ध।

१—अंग्रेज दर्शनशास्त्री प्रायः श्रेणी-विभाग के प्रति कभी भी आस्थावान् नहीं रहे अतः तत्त्वमीमांसीय दर्शनशास्त्र के उपविभागों के स्वरूप और संस्था के निर्धारण की ओर उन्होंने अपेक्षाकृत बहुत कम ध्यान दिया। जो प्रश्न जैसे-जैसे उनके विचार में आता गया और उन्हें रुचिकर प्रतीत हुआ उसे उसी क्रम से उन्होंने रख कर सन्तोष कर लिया। विषय के उचित विभागों में वितरण का काम उन्होंने दर्शनशास्त्र के इतिहासकारों के लिए, जो प्रायः अंग्रेज जाति में बहुत कम हुए, खुशी से छोड़ दिया। महाद्वीपीय विचारकों ने, जो स्वभावतः सज्ञानी व्यवस्थापनीकरण के पक्षपाती हुआ करते हैं, विधि और क्रम की समस्या पर अधिक ध्यान दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक महान् स्वतंत्र विचारक या दार्शनिक ने अपने विषय के विभिन्न भागों का अलग-अलग अपना विशिष्ट क्रम निर्धारण कर डाला। किन्तु ये सब विभिन्न क्रम-विभाग एक सामान्य शैली का रूपानुसरण करने के लिए सहमत-से प्रतीत होते हैं। सामान्य शैली के प्रति यह अनुराग १८वीं शती के दार्शनिक वुल्फ की रूखी मताग्रहिता में अत्यन्त स्पष्ट रूप से झलक रहा है। सभी रचनात्मक व्यवस्थापनों में (जैसे कि हीगेल, हर्बर्ट लोत्ज के हैं) उन सभी सार्वत्रिक लक्षणों के विवेचन को, जिन्हें हम ऐसी वास्तविकता पर जिसका रूप दुर्व्यवस्थित मात्र नहीं, अपितु व्यवस्थित और बुद्धिगम्य होता है—विचार करते समय हमें मजबूर होकर अध्यादृत करना पड़ता है। यह विषय-विभाजन उसी नाम से सामान्यतः अभिहित है, जो उसे वुल्फ के तत्त्वदर्शन में तथा हर्बर्ट तथा लोत्ज के व्यवस्थापनों में दिया गया है अर्थात् ओन्टोलाजी अथवा जीवविकासशास्त्र[1] या

---

१. **'ओन्टोलाजी' अथवा जीवविकासशास्त्र का चरमस्त्रोत अरस्तू की प्रथम दर्शन या फर्स्ट फिलासफी की परिभाषा है। अरस्तू की अपनी शास्त्र व्यवस्थानुसार 'प्रथम**

अस्तित्व का सामान्य सिद्धान्त। हीगेलवाद में उसे उसके समग्र रूप में तर्कशास्त्र विज्ञान का ही विषय माना गया है जो कल्पनात्मक विचारणा के दो अन्य महान् विभागों 'प्रकृति' और 'मन' सम्बन्धी दर्शनों से भिन्न है जब कि इसके अत्यन्त औपचारिक तथा सामान्य भाग अस्तित्व सिद्धान्त नामक स्वयं हीगेल के तर्कशास्त्र का ही विशिष्ट प्रथम खंड है।

इसके अतिरिक्त तत्त्वमीमांसीय दर्शन के प्रत्येक तंत्र की अधिक विशिष्ट समस्याओं को सुलझाना पड़ेगा और वे समस्याएँ आसानी से दो मुख्य श्रेणियों में आ जाती हैं। पहले तो उसे 'वस्तुनिर्देश या विस्तरण', 'पौर्वापर्य', 'अवकाश', 'काल', 'गणना', 'परिमाण', 'गति', 'परिवर्तन', 'गुणकोटि' तथा 'उपादान या जड़द्रव्य', 'बल', 'कारणता' अन्योन्य क्रिया' तथा 'वस्तुतत्त्व' आदि उन अधिक जटिल व्यष्टिगत पदार्थों के जिनसे अनुभूतिगत भौतिक जगत का निर्माण होता है—सार्वत्रिकतम प्रत्ययनों के अर्थ और प्रामाण्य के उस स्वरूप पर जिसके समझने का हम प्रयत्न किया करते हैं— विचार करना होता है। दूसरे, तत्त्वमीमांसा को उन सर्वत्रिक विधेयों के—जिनके द्वारा हम अनुभूतिकर्ता मन के अपने स्वरूप की और अन्य मनों के तथा भौतिक जगत के 'आत्मा', 'स्व' 'उद्देश्य', 'आत्म-चेतना', 'नैतिक या नीति शास्त्रीय उद्देश्य' आदि पदार्थों के साथ उसके संबन्धों की भी अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया करते हैं—अर्थ और प्रामाण्य के साथ भी संबन्ध रखना पड़ता है । इसलिए तत्त्वमीमांसा के क्रमशः बाह्य प्रकृति तथा चेतन मन के अत्यन्त सामान्य लक्षणों से सम्बद्ध द्वितीय तथा तृतीय भागों को भी स्वीकृत कर लेने की प्रथा-सी चल निकली है । विषय के ये भाग सामान्यतः कॉस्मोलॉजी या 'ब्रह्माण्ड विज्ञान' और 'रैशनल साइकालोजी' या 'तर्कनात्मक मनो-विज्ञान' नाम से विज्ञात हैं । हीगेल के तर्क में वे द्वित्व रूप में प्रस्तुत हुए हैं । उनके अधिकतम गुणवाची सामान्य स्वरूप से हीगेलीय तर्कशास्त्र के 'सारसिद्धान्त' तथा 'मनोबोधसिद्धान्त' गठित हुए हैं । हीगेलीय सम्पूर्ण तंत्र अथवा दार्शनिक विज्ञान के विश्वकोष के द्वितीय तथा तृतीय खण्डों में उनकी और भी ठोस विवेचना की गयी है। उन्हीं खण्डों को ऊपर की पंक्तियों में प्रकृति और मन के दर्शनों का नाम दिया गया है।

काण्ट से पूर्व की १८वीं शताब्दी में तत्त्वमीमांसा के साथ एक चौथे विभाग रैशनल थियालाजी अथवा तार्किक धर्मदर्शन के नाम को जोड़ देना कुछ गैर मामूली

दर्शन' गणित और भौतिकी समग्र सैद्धान्तिक दर्शन कहलाते हैं, क्योंकि वह वास्तव में वास्तवत्व के सामान्य स्वरूप का ज्ञान है और गणितज्ञ तथा भौतिकशास्त्री के ज्ञान के स्वरूप से इसलिए भिन्न है, क्योंकि उन दोनों का वास्तव से उतना ही सरोकार रहता है जितना की संख्या और परिमाण दिखाने तथा ज्ञेय परिवर्तन दिखाने के लिए आवश्यक होता है ।

नहीं समझा जाता था। इस दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व और उसके उन गुणों का समावेश होता था, जो किसी विशिष्ट त्रुटि की दुहाई दिए बिना सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों से समागत हो सकते थे। 'डायलेक्टिक ऑव प्योर रीजन' में दी गयी वुल्फ की समग्र योजना पर काण्ट द्वारा किये गये आक्रमण ने जहाँ भविष्य के लिए तत्त्वमीमांसकों के विश्व विज्ञान या ब्रह्माण्ड विज्ञान तथा तार्किक मनोविज्ञान विषयक दृष्टिकोण में गंभीर परिवर्तन या सुधार किया वहाँ १८रवीं शताब्दी के दैववाद का तथा उसके अपत्य तार्किक धर्मदर्शन का तो उसने गला ही घोट दिया और अब यह उपविभाग, उसके बाद के दार्शनिक तंत्रों[1] से प्रायः गायब ही हुआ कहा जा सकता है।

२—अपने अनुसंधान के इस प्रारूप में, हमें उपर्युक्त पारंपरिक योजना की रूप-रेखा को ही क्यों स्थिर रखना चाहिए इसके उचित तथा स्पष्ट कारण हैं। सच है कि यह हमारी सुविधा पर ही निर्भर होना चाहिए कि तत्त्वमीमांसा विषयक व्यवस्थित अनुसंधान करते समय हम किस क्रम को अपनायें क्योंकि ज्ञान और अनुभूति के सामान्य स्वरूप के बारे में किये जाने वाले किसी वस्तुतः दार्शनिक सर्वेक्षण के लिए इतनी पूर्णरूप से व्यवस्थित ऐकिकता समुपस्थित मिलती है कि आप इसके किसी भी बिन्दु से अपना सर्वेक्षण प्रारंभ करके उसी निष्कर्ष पर उसी प्रकार पहुँच सकते हैं जिस प्रकार आप किसी वृत्त की परिधि के किसी बिन्दु से चलकर वृत्त की पूरी परिक्रमा भली प्रकार कर सकते हैं। लेकिन फिर भी किसी नये विद्यार्थी के लिए यही उचित होगा कि वह सामान्य जीवन और विशिष्ट विज्ञानों की विभिन्न 'वास्तविकताओं' से सम्बद्ध विशेष प्रकार की 'सत्ता' की समस्या से जूझने के पहले इस सामान्य प्रश्न से ही अपना काम शुरू करे कि सत्ता या अस्तित्व अथवा वास्तविकता से हम क्या समझते हैं तथा 'सत्ता' के समग्र सत्तात्व का स्वरूप क्या होना चाहिए। अतः अपने पुरोगम के प्रथम भाग में हमें ऐसे प्रश्नों पर विचार करना है जैसे कि अनुभूति के साथ सत्ता का सम्बन्ध सामान्यतः कैसा होना चाहिए ? किन मानों में सत्ता अनुभूति से अविभाज्य कही जा सकती है और अविभाज्य होते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाती है ? सत्ता की विभिन्न कोटियों के अस्तित्व की समस्या, क्या सत्ता चरम रूप में एक ही है अथवा अनेक वास्तविक सत्ता और उसके आभासों का सम्बन्ध। ये सब समस्याएँ, जीवविकास-विज्ञान के परंपरागत नाम से अभिहित ज्ञान की विषयवस्तु से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

---

१. काण्ट के 'क्रिटिक ऑफ स्पेक्युलेटिव थियालाजी' से तात्कालिक प्रभाव में कम किन्तु उसके समान ही सर्वांगपूर्ण और तीखी थी ह्यूम की मरणोपरान्त प्रकाशित पुस्तक 'डायलाग ऑफ नेचुरल रिलीजन' जिसे दर्शनशास्त्र के पेशेवर इतिहासकारों का उसके योग्य पूरा समर्थन नहीं प्राप्त हो सका।

इन अत्यन्त मूलभूत समस्याओं का निश्चित समाधान ढूँढ़ लेने के बाद ही हम विज्ञानों के विभिन्न विभागों तथा सामान्य जीवन द्वारा प्रस्तुत अधिक विशिष्ट समस्याओं पर विचार कर सकने योग्य स्थिति पर पहुँच सकेंगे अतः यही अच्छा होगा कि हम उसी क्रम व्यवस्था को जिसमें जीवविकास-विज्ञान को इस विषय के अन्य विभागों में पूर्व स्थान दिया गया है स्वीकार करलें । इसके अतिरिक्त, तत्त्वमीमांसा की अधिक जटिल विशिष्ट समस्याओं पर विचार करते समय, ब्रह्माण्ड विज्ञान के तार्किक मनोविज्ञान से पृथक्करण के अनुसंवादी विभेद को स्वीकार कर लेना ही स्वाभाविक है। सामान्य भाषा द्वारा ही पता चल जाता है कि मानवीय विचार और कार्य के अधिकांश प्रयोजनों के हिसाब से, अनुभूति जगत की अन्तर्वस्तुएँ, मात्र वस्तुओं और इन्द्रियवेद्य तथा सोद्देश्य वस्तुओं के दो समूहों में समाविष्ट हो सकती हैं। इन्हें एक ओर भौतिक प्रकृति तथा दूसरी ओर मनों तथा आत्माओं की संज्ञा दी जा सकती है। अनुभूति के लक्ष्य पदार्थों के इस विभाजन तथा अनुभूति के विषय और अनुभूति के लक्ष्यों के विभेद कहीं हम गड़बड़ न कर बैठें इसका हमें ध्यान रखना होगा। अपना आलोचनात्मक अनुसंधान हमें मनोविज्ञान के उस कृत्रिम दृष्टिकोण से जो उपस्थापनाओं के उद्देश्य को 'ज्ञान की लक्ष्यवस्तुओं' से संबद्ध सूचना के वाहक के रूप में ग्रहीत उपस्थापनाओं के ऊपर या उनके विरुद्ध प्रतिष्ठापित करता है अपना कार्य प्रारम्भ नहीं करना है बल्कि क्रियात्मक जीवन के उस स्थितिबिन्दु से प्रारंभ करना है जिसमें व्यष्टकर्ता स्वयं तादृश अनेक व्यष्टकर्ताओं से मिलकर अधिकांशतः बने पर्यावरण के ही प्रतिमुखी हुआ करता है। तार्किक मनोविज्ञान से ब्रह्माण्ड विज्ञान को पृथक् करने वाले विभेद की आधारभूत प्रतिस्थापना का उद्भव प्रकृति के एक पक्ष में और प्रत्यक्षकारी मन के विपक्ष में होने से नहीं हुआ करता अपितु ऐसा पर्यावरण ही जो अंशतः भौतिक पदार्थों से और अंशतः अन्य पाशव तथा मानव मनों से मिलकर बनता है—उस प्रतिस्थापना का कारण हुआ करता है। मन अथवा आत्मा का मनोवैज्ञानिक स्थितियों के अभूतपूर्व विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर बैठने अथवा व्यष्टि के पर्यावरण को ही भौतिक प्रकृति मान बैठने के तर्काभास जैसी भ्रांतियों से बढ़कर अन्य भ्रांतियाँ ऐसी नहीं हैं जिनसे हमें सावधान रहने की जरूरत हो। निश्चय ही यह सही है कि हम अन्य मानसों या मनों के अन्तर्जीवन की अभिव्यक्ति असंचार्य रूप से व्यष्ट स्वयं अपनी अनुभूति के शब्दों में ही किया करते हैं। लेकिन यह भी उतना ही सही है कि अपने स्वात्म विषयक हमारी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति अथ से इति तक हमारे अपने प्रकार के ही अन्य कर्ताओं की अन्योन्य क्रिया द्वारा निर्धारित हुआ करती है। यह मान लेना कि भौतिक वस्तुओं की इस दुनिया में अपने आप को आया देखकर हम उन वस्तुओं में से कुछ में 'सादृश्यानुमान' पर आधारित पश्च विचार द्वारा बाद को स्वयं अपनी 'चेतना' से मिलती-जुलती चेतना

का अध्याहार कर लिया करते हैं—शुद्ध भ्रम मात्र या आत्मवंचना मात्र ही है। इसलिए यदि हम भ्रान्ति से बचना चाहें तो उचित होगा कि हम 'ब्रह्माण्ड-विज्ञान' तथा 'तार्किक मनोविज्ञान' जैसी पारंपरिक अभिधाओं का परित्याग कर दें और व्यावहारिक तत्त्वमीमांसा के विभागों को, हीगेल के समान ही उन्हें क्रमशः प्रकृतिदर्शन तथा मनोदर्शन या आत्मदर्शन के नामों से अभिहित करें।[1]

---

१. 'हमारा पर्यावरण ही अपने भौतिक रूप में प्रत्यक्ष अनुभूति बनकर हमें प्राप्त हुआ करता है' इस तर्काभास की सदोषिता बड़ी खूबी से अवेनारियस ने अपनी छोटी परन्तु प्रकाण्ड कृति Der Menschliche Weetbegrif में दिखायी है। दर्शनशास्त्र के सभी जर्मन भाषाभिज्ञ विद्यार्थियों को उससे परिचित होना चाहिए। केवल अँग्रेजी पढ़े पाठक को अनेक उपयोगी सुझाव वार्ड की 'नैचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसिज्म' भाग ४ के 'रेफ्युटेशन आफ डयुअलिज्म' नामक प्रकरण में मिलेंगे। ज्ञान मीमांसीय शब्द 'आब्जेक्ट' लक्ष्य, उद्देश्य अथवा वस्तु के अशास्त्रीय प्रयोग के कारण दर्शनशास्त्रीय विमर्श में अत्यधिक गड़बड़ होती रही है। 'आब्जेक्ट' का सही अभिप्राय है 'संज्ञान' का लक्ष्य। इससे अधिक परिचित शब्द वस्तु का उपयोग करने के बजाय 'आब्जेक्ट' या लक्ष्य शब्द का प्रयोग क्रियात्मक जीवन में वस्तुतः अनुभूयमान पर्यावरण के निर्मायक घटकों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। सख्ती से देखा जाय तो पर्यावरण के घटक ऐसी काल्पनिक चेतना के लिए ही जो प्रस्तुत तथ्यों की ही ग्राहिका समझी जाय—'आब्जेक्टस' या लक्ष्य हुआ करते हैं। प्रोफेसर मंस्टरबर्ग ने इस दृष्टि-बिन्दु पर काफी जोर दिया है कि क्रियात्मक जीवन के लिए पर्यावरण का सारभूत गुण इतना ही नहीं है कि वह प्रस्तुत मात्र हो बल्कि हमारी अपनी प्रयोजनीय क्रियाशीलता के साथ उसका अन्योन्य कार्य भी हुआ करता है। अतः इस प्रकार वह लक्ष्यों या 'आब्जेक्ट्स' से नहीं 'थिंग्ज' या 'वस्तुओं' से मिलकर बना होता है।

अपने साथियों के मनों की अपने पर्यावरण के संरचनात्मक घटकों में गणना करके हमें अव्याहृत अनुभूति के घटक या कारक रूप में 'मनों' को 'अशरीरी वास्तविकताएँ या सत्ताएँ', अथवा 'चेतना की विभिन्न स्थितियों के सम्मिश्र' मान लेने की गलती न करना चाहिए। मन और शरीर के बीच विभेद मानना तथा मन की 'शरीरस्थ होने' की कल्पना अथवा उसके 'शरीर व्यापार' होने की कल्पना ऐसी मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पनाएँ हैं जो अनुभूति के परवर्ती विचारात्मक विश्लेषण के मध्य उद्भूत हुआ करती हैं। इन प्राक्कल्पनाओं की अर्हता के विषय में आगे चलकर विचार करना होगा। इस समय तो इतना ही ध्यान में रखना होगा कि प्रत्यक्ष

'भौतिक प्रकृति' और 'मन या आत्मा' इन दो विषयों से क्रमशः सम्बद्ध दो खंडों का तत्त्वमीमांसा के उपविभाजन को स्वीकार करने का यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुओं के इन दोनों वर्गों के बीच किसी एकान्तिक असमानता के अस्तित्व की ओर हम संकेत कर रहे हैं। निश्चय ही इस बात के निर्णय करने की कि कहीं यह उपर्युक्त भिन्नता अन्ततोगत्वा आभासी ही न साबित हो—जिम्मेदारी स्वयं दार्शनिक आलोचना की है। ऐसी बात स्पष्टतः तभी हो सकेगी जब दोनों प्रकार के मनों में से किसी को भी—जैसा कि भौतिकतावादी का कथन है—अत्यधिक जटिल भौतिक वस्तुएँ सिद्ध किया जा सके अथवा जैसा कि आदर्शवादी का कथन है—भौतिक वस्तुओं को वास्तव में अपरिचित और अ-मानवीय प्रकार के मन होना साबित किया जा सके। हमारे लिए तो इतना ही काफी है कि यह भिन्नता, भले ही वह चरम भिन्नता हो या न हो, इतनी स्पष्ट जरूर हो कि उसके द्वारा समस्याओं के ऐसे वर्गों का उद्भव हो सके जिन पर अलग-अलग और उनके अपने गुण क्रमानुसार विचार किया जा सके। सामान्य दर्शनशास्त्रीय आधारों पर हमें विश्वास हो सकता है कि मन और भौतिक वस्तुएँ अन्तिमतः एक ही सामान्य कोटि की सत्तायें या अस्तित्व हैं। भले ही उस कोटि की कल्पना हमने भौतिकतावादी के मतानुसार की हो या आदर्शवादी के, लेकिन हमारे इस विश्वास से इस बात पर कि भौतिक वस्तुओं की हमारी अनुभूति के कारण प्रस्ततु हुई विशिष्ट तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ उन समस्याओं से जो अपने साथियों के मनों के विषय में हमारी अपनी अभिरुचि के कारण हम पर लद जाया करती हैं—बहुत अधिक भिन्न हुआ करती हैं। उदाहरण के तौर पर जहाँ एक संयोजन में हमें, एकरस अवकाशीय विस्तार, सामान्य नियम की एकरस आज्ञानुवर्तिता, ऐसे समग्र का संरचन जो भागों के योग से बना हो, आदि पदार्थों से सम्बद्ध समस्याओं पर विचार करना होता है वहाँ

अनुभूति के प्रयोजनार्थ 'मन' का अर्थ है केवल व्यष्ट उद्देश्यमय वस्तु। मेरी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति की दृष्टि, से मेरे साथी की, किसी कुन्दे या पत्थर से पृथक् पहचान कराने वाली वस्तु, उस साथी के शरीर में प्रस्तुत अशरीरी 'आत्मा' या चेतना नहीं है अपितु यह तथ्य कि यदि मैं अपना प्रयोजन अधिगत करना चाहता होऊँ तो मैं उस साथी के व्यष्ट प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए स्वय को उन प्रयोजनों के अनुकूल अवश्य ही बना लूँ। यहाँ फिर एक बार मैं जर्मन भाषाभिज्ञ पाठक से अनुरोध करूँगा कि वह प्राफेसर मंस्टरबर्ग कृत Grundziige der Psycholgie **के खंड १ के अध्या० १–३ तक का अध्ययन करें। अक्टूबर १९०२ के 'एइण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स' में प्रकाशित मेरा लेख 'माइण्ड एण्ड नेचर' भी देखिये।**

दूसरे संयोजन में हमें नीतिशास्त्रीय, कला सम्बन्धी तथा धार्मिक उच्चाकांक्षा के अभिप्राय और मूल्य-नैतिक स्वातन्त्र्य के प्रत्यय तथा वैयक्तिक तादात्म्य के स्वरूप आदि से संबद्ध समस्याओं को विचारना पड़ता है। गुण तथा संख्या आदि की वे श्रेणियाँ जो एक ही नजर में भौतिक वस्तुओं तथा मनों पर बहुत आसानी से लागू होती मालूम देती हैं—वैषम्य के उपर्युक्त दोनों मामलों में हमारे लिए बड़ी कठिनाइयाँ पैदा कर देती हैं। इस प्रकार के अभिसंधान से ही हमारा मन: संबन्धी तत्त्वदर्शन को प्रकृति सम्बन्धी तत्त्व-मीमांसा से पृथक रखना उचित प्रतीत होता है। मन: सम्बन्धी तत्त्वमीमांसा की अनेक समस्याओं की कठिनाइयाँ और भी बड़ी हैं इस कारण से भी इन दोनों उपविभागों के पारंपरिक क्रम का अनुसरण करके तार्किक मनोविज्ञान को ब्रह्माण्ड विज्ञान के बाद रखना उचित मालूम देता है। तार्किक धर्मदर्शन की समस्यायें जहाँ तक सामान्य जीवविकास विज्ञान की समस्याओं से अलहदा की जा सकें वहाँ तक, उन्हें तार्किक मनोविज्ञान के उस खण्ड में स्थान दिया जा सकता है जिसका विषय हमारी धार्मिक अनुभूतियों के अर्थ तथा अर्हता का विवेचन करना है।

३—इस अध्याय को समाप्त करने से पहले प्रयुक्त तत्त्वमीमांसा के दोनों विभागों और अनुभववादी विज्ञानों के निकाय के पारस्परिक संबन्ध के विषय में चेतावनी स्वरूप दो शब्द कह देना उचित मालूम देता है। विद्यार्थी को इसके लिए कि यदि वह समझता हो कि भौतिक, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र विषयक विज्ञानों के परीक्षणात्मक अध्ययन के बजाय तार्किक ब्रह्माण्ड विज्ञान और मनोविज्ञान से ही काम चला सकेगा। पहले से ही सावधान करने की शायद जरूरत नहीं है क्योंकि इस प्रकार की स्थानापन्नता एकदम बेकार साबित होगी। उपर्युक्त दोनों विज्ञान तत्त्वमीमांसा के मौलिक विभाग हैं और इसी कारण, निर्धारित तथ्यों-सम्बन्धी हमारी ज्ञान-राशि में एक भी अन्य तथ्य जोड़ सकने में वे असमर्थ हैं। वास्तविक विज्ञान के विद्यार्थियों में, तत्त्वमीमांसा की साख—उसके अभ्युपगम के मौन तथा अचेतन स्वरूप को छोड़कर गिर जाने का अधिकतर कारण शेलिंग और उससे कुछ कम सीमा तक स्वयं हीगेल की वह दुर्भाग्यपूर्ण प्राक्कल्पना है जिसके द्वारा उन्होंने तत्त्वमीमांसीय विचार पद्धति को, प्रकृति और मन सम्बन्धी तथ्यों के अनुसंधान की परीक्षणात्मक पद्धति का स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। आज यह गलती मुश्किल से ही हो सकेगी उल्टे खतरा इस बात का है कि किसी दिन तत्त्वमीमांसा को ही एकदम निरर्थक न करार दे दिया जाय केवल इसलिए कि वह हमारी ज्ञान राशि में जरा भी वृद्धि नहीं कर पाती। लेकिन सत्य यही है कि वह भी वास्तव में मूल्यवती है किन्तु उसका मूल्य वह नहीं है जो कभी-कभी उसे प्रदान किया गया है। तथ्यों का संग्रह करना उसका काम नहीं है अपितु पूर्वत: निर्धारित तथ्यों को उनके समग्र और बृहद् रूप में रखकर उनकी अभिव्यक्ति

करना ही उसका काम है। यदि परीक्षण, प्रेक्षण तथा गणितीय परिकलन की सभी उपलब्ध और अत्यन्त पर्याप्त विधियों द्वारा भौतिक प्रकृति तथा मन सम्बन्धी तथ्य और उनके संयोजन विषयक विशिष्ट नियमों का पता लग भी जाय तथा उन्हें व्यवस्थित भी कर लिया जाय तो भी यह प्रश्न तो बाकी रह ही जाता है कि इस प्रकार के तथ्यों के समग्र क्षेत्र की संकल्पना, तर्कानुगत और संगत विचार की सामान्य परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बनाये रखते हुये कैसे की जा सकती है। यदि हम वास्तविक विज्ञान की परिभाषा तथ्यों के पारस्परिक संयोजन के विशिष्ट नियमों की व्यवस्थाबद्ध स्थापना कहकर करें तो यह भी कहा जा सकता है कि तथ्यों के व्यवस्थाबद्ध करने की वैज्ञानिक समस्या के अतिरिक्त और उसके बाद उन तथ्यों को व्यक्त करने की 'दार्शनिक' समस्या शेष रह जाती है। इस बाद वाली समस्या की तर्कसंगति केवल इसीलिए समाप्त नहीं हो सकती चूँकि कुछ विचारकों ने कुतर्कपूर्वक उसे पहले वाली समस्या के साथ संकरित कर दिया है।

अपनी उपर्युक्त बात को दूसरे तरीके से भी प्रस्तुत कर सकते हैं। वैज्ञानिक व्यवस्थापना अथवा तंत्रीकरण की समग्र प्रक्रिया में व्यवस्थाप्य तथ्यों के चरम स्वरूप या प्रकृति सम्बन्धी कुछ निर्धारित अभ्युपगम अन्तर्ग्रस्त रहते हैं। इस प्रकार किसी सुझाई हुई परिकल्पना के सत्यापन हेतु किसी परीक्षण के उपयोजन मात्र में यह अभ्युपगम अन्तर्ग्रस्त रहता है कि उस परिकल्पना से सम्बद्ध तथ्य सामान्य नियमों के अनुरूप हैं और यह कि ये नियम ऐसे हैं जिनका निरूपण मानवी प्रज्ञा द्वारा किया जा सकता है। यदि 'प्रकृति' किसी अर्थ में 'एकरस' नहीं है तो किसी सफल परीक्षण या प्रयोग की परिणामी शक्ति तर्कानुसार 'शून्य' होगी। यही कारण है जिससे वैज्ञानिक क्रियाविधि में अन्तर्ग्रस्त पूर्वगृहीतों के स्वरूप की जाँच करने और उनके लिए कितना औचित्य प्राप्त हो सकता है, यह पता लगाने की जरूरत पड़ेगी। प्रायोगिक प्रयोजनार्थ, आगमनात्मक विज्ञान के पूर्वगृहीतों का औचित्य निस्सन्देह उस विज्ञान की वास्तविक सफलताओं से, पर्याप्त सिद्ध हो चुका है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि तत्त्वमीमांसकों की हैसियत से जो प्रश्न हमारे सामने आता है वह उपर्युक्त विभागों की उपयोगिता सिद्ध करने का नहीं है बल्कि उनकी सत्यता का है।

लोग कह सकते हैं कि हर हालत में इस प्रकार की जाँच का काम स्वयं भौतिकविज्ञान तथा मनोविज्ञान के विशिष्ट विद्यार्थियों के लिए छोड़ देना चाहिए। परन्तु इसमें श्रम-विभाजन के महान् सिद्धान्त की गहरी अवहेलना का प्रश्न भी सम्मिलित हो जायगा। निश्चय ही यह सच है कि यदि अन्य बातें समान हों, तो दार्शनिक का मन वैज्ञानिक तथ्यों से जितना ही अधिक परिपूर्ण होगा तथ्यों के समग्र निकाय की अभिव्यक्ति तथा विवक्षाओं के विषय में उसका निर्णय उतना ही अधिक

ठोस और गहरा होगा। लेकिन इसके साथ यह भी है कि जिस देन के कारण लोग सफल परीक्षणकर्ता तथ्यों के अनुसन्धायक बन जाते हैं, वही देन तथ्यों के अभिप्रेतार्थ का दार्शनिक विश्लेषण करने के लिए आवश्यक नहीं हुआ करती ना ही दोनों बातें एक ही व्यक्ति में सदा संयुक्त पायी जाती हैं। जहाँ एक ओर ऐसी कोई वजह नहीं जिसके आधार पर किसी योग्य परीक्षणकर्ता को प्रकृति संबंधी तथ्यों की खोज से तब तक वंजित रहने को बाध्य किया जाय जब तक कि वह भौतिक तथ्यों के संसार के अस्तित्व मात्र द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक समस्याओं को हल कर सकने योग्य न हो जाय वहाँ दूसरी ओर ऐसी भी कोई वजह नहीं जिसके आधार पर किसी ऐसे विचारक को जिसे प्रकृति ने दार्शनिक विश्लेषण की शक्तियाँ प्रदान कर रखी हैं उन शक्तियों के उपयोग से तब तक वंचित रखा जाय जब तक कि वह उन सब तथ्यों को जिन्हें विशेषज्ञ लोग जानते हैं—स्वयं अधिगत न कर ले। दार्शनिक को अपनी खोज का काम शुरू करने के लिए विशेषज्ञों के तथ्य मात्र को जानना जरूरी नहीं है। उसे तो इसके लिए उन सामान्य सिद्धान्तों का जानना आवश्यक होता है जिनका प्रयोग विशेषज्ञगण अपनी खोज और तथ्यों के पारस्परिक संबंधन हेतु किया करते हैं। ऐसे व्यक्ति का अध्येतव्य 'विज्ञानों का विज्ञान' कहा जा सकता है पर इस अर्थ में नहीं कि वह शिक्षाप्रद और रोचक ज्ञान का सार्वदेशिक विश्वकोश है बल्कि इस छोटे से अर्थ में कि वह उन प्रत्ययों और विधियों संबन्धी विचार-विमर्श की एक व्यवस्थित रूपरेखा है—जिनके आधार पर विज्ञानों की तथा दैनंदिनीय क्रियात्मक जीवन की तदपेक्षा कम व्यवस्थित विचार पद्धतियाँ अपना काम किया करती हैं और इस अर्थ में भी कि वह इन प्रत्ययों और विधियों को चरम संगति और बुद्धिगम्यता के मापदण्ड से नाप-जोख करने का एक प्रयत्न है।

नोट—यदि हम मानस तत्त्वमीमांसा की अभिधा, 'मनोविज्ञान' ही रखें, जैसा कि उदाहरणतः लोत्से ने किया है, तो यही संगत होगा कि हम इस शब्द या अभिधा को अत्यधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करें। मानसतत्त्वमीमांसा जिन तथ्यों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करती है उनमें न केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानस-प्रक्रिया के नियमों के अमूर्त या गुणवाची अध्ययन के ही तथ्य शामिल नहीं हुआ करते अपितु उन सब विविध विज्ञानों (नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, तथा धर्माध्ययन आदि) के तथ्य भी उसमें शामिल होते हैं—जिनका काम मानव जीवन में मन की मूर्त अभिव्यक्ति पर विमर्श करना है। पारंपरिक अभिधा 'तार्किक मनोविज्ञान' की अपेक्षा हीगेलीय नाम 'मानस-दर्शन' या 'फिलासफी आफ माइण्ड' को अधिक पसन्द करने का यह भी एक कारण है। किन्तु अंग्रेजी भाषा में फिलासफी शब्द के सम्पर्क इतने अधिक

द्वितीय खण्ड

जीव-विकास विज्ञान—वास्तविकता की सामान्य संरचना

अध्याय १

वास्तविकता तथा अनुभूति

१—एक अर्थ में, 'वास्तविकता' का अर्थ, हम में से प्रत्येक के लिए वह वस्तु है जिसका ख्याल रखना हमारे लिए उस हालत में जरूरी है जब हमारे विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति आवश्यक हो। २—किन्तु अन्ततोगत्वा संसार में ऐसी संरचना का होना जरूरी है जिसका ख्याल रखना 'सभी' प्रयोजनों के लिए, अपने-अपने तरीके पर, जरूरी हो। यह वस्तु ही तत्त्वमीमांसा की 'चरम वास्तविकता' अथवा 'निरपेक्ष' संज्ञ वस्तु है। ३—तत्त्वमीमांसा में हम इसे वैज्ञानिक प्रज्ञा के स्थिति-बिन्दु से देखते हैं। किन्तु उसके प्रति अन्य प्रकार की वैध अभिवृत्तियाँ भी हैं, जैसे कि प्रायोगिक धर्म की अभिवृत्ति। अव्यवहृत अनुभूति की वास्तविकता से अवियोज्यता में, उसके साध्यवादी तथा अनन्य व्यष्टिपरक स्वरूप की स्वीकृति अन्तर्ग्रस्त है। ४—ऐसी अनुभूति जिसमें समग्र वास्तविकता समाविष्ट हो—मेरी अपनी अनुभूति नहीं हो सकती न ही वह समस्त चेतन सत्ताओं की 'सामूहिक' अनुभूति ही हो सकती है। अस्तित्व की सफलता के एकल लक्ष्य को एक समरस निकाय रूप में ग्रहण करने वाली अनुभूति अवश्य ही व्यष्टीय अनुभूति होगी। हमारा अपना जीवन इस प्रकार की अनुभूति का जो निकटतम अनुरूप प्रस्तुत कर सकता है वह वैयक्तिक प्रेम की तुष्ट अर्न्तदृष्टि में प्राप्त हो सकता है। ५—इस प्रकार के 'निरपेक्ष' की अनुभूति को किसी प्रकार भी, हमारी अपनी अनुभूति का पुनर्द्विरूपीकरण मात्र नहीं समझना चाहिए न उन वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं का ही जिनके द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हम तथ्यों का समन्वय किया करते हैं। ६—हमारा प्रत्यय बर्कले के प्रत्यय से निकटतर सम्बद्ध है। उससे यह अनुभूति के सोद्देश्य तथा चयनात्मक पहलू पर जोर देने के कारण भिन्न है। ७—दोनों ही प्रकार का यथार्थवादी चाहे वह अनीश्वरतापरक हो या कट्टरतापरक 'वास्तविकता' के उस अर्थ से जिसे हम उसके साथ जोड़ने के लिए बाध्य हुए हैं, मेल नहीं खाता। लेकिन वास्तविकता सम्बन्धी हमारे ज्ञान के सीमा-बंधनों पर जोर देना अनीश्वरवाद के लिए उचित ही है। इसी तरह कट्टरतापरक यथार्थवाद द्वारा ऐसी अनुभूति के साथ जो परिमित परिग्राहकों की संज्ञानात्मिका क्रियामात्र हो—वास्तविकता के तादात्म्यीकरण को अस्वीकार कर देना भी उचित है। ८—ऐसी व्यक्तिनिष्ठता भी, जिसके अनुसार जो कुछ मैं जानता हूँ वह सब मेरी अपनी चेतना की स्थितियाँ मात्र हैं—जीवन के प्रतिपन्न तथ्यों के साथ

समाधेय नहीं हुआ करती। उसका उद्भव मनोविज्ञान के 'अन्तर्निवेशी' हेत्वाभास से होता है।

१—पूर्वगामी खण्ड में हम देख चुके हैं कि तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के स्वरूप से ही हमारे द्वारा देय उनके उत्तर का सामान्य गुण-धर्म पूर्व निश्चित हो जाया करता है। हम देख चुके हैं कि जिसे हमारी प्रज्ञा अन्तिम रूप से वास्तविक स्वीकार कर सकती है, उसका क्रियात्मक अनुभूति के साथ अविच्छेद्यरूप से एकरूप होना आवश्यक है, उसके आन्तरिक रूप का संश्लिस्ट व्यवस्थाबद्ध होना भी जरूरी है। इस खण्ड में उपर्युक्त सामान्य गुणोपेत किसी भी वास्तविकता के लिए आवश्यक संरचना पर हमें सविस्तार विचार करना है। इसीलिए यह अध्याय वास्तविक 'अस्तित्व या सत्ता' के अनुभूत्यात्मक स्वरूप की विवक्षाओं के परीक्षार्थ ही समर्पित रहेगा। अगले अध्याय में हम एकल व्यवस्था के रूप में उसकी एकता की प्रकृति पर विचार करेंगे।

अपने विचार-विमर्श का प्रारंभ हम, संभवतः अपने मुख्य-मुख्य पदों के पुनः परिभाषीकरण द्वारा अत्यन्त सुविधापूर्वक कर सकते हैं। अब तक तत्त्वमीमांसीय ज्ञान के लक्ष्य को हम उदासीनतापूर्वक 'अस्तित्व' या सत्ता 'जो है' 'जो सत्य ही वर्तमान है', इत्यादि नामों से पुकारते रहे हैं तथा 'वास्तविकता' और 'चरमरूप से वास्तविक' आदि शब्दों से भी उसे व्यक्त किया गया है। एक ही वस्तु के लिए प्रयुक्त नामों के इन दोनों समूहों में जहाँ तक पहचान की जा सकती है वहाँ तक हम कह सकते हैं कि इनमें से प्रत्येक शब्द-शृंखला हमारे विषय के किसी न किसी अलहदा पहलू पर विशेष जोर देती है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु 'है' या 'अस्तित्व रखती है' तब ऐसा कहने का हमारा प्रारम्भिक या मौलिक अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वह हमारी ज्ञानात्मिका चेतना का 'लक्ष्य' या 'उद्देश्य' है या यह कि वस्तुओं अथवा लक्ष्यों की उस व्यवस्था में जो संसक्त विचार द्वारा अभिज्ञात हुआ करती है—उसका अपना एक स्थान है। जब हम किसी पदार्थ या लक्ष्य को 'वास्तविक' अथवा एक 'वास्तविकता' कह कर पुकारते हैं तब हमारा जोर इस अभिसंधान पर अधिक होता है कि वह ऐसी कुछ वस्तु या लक्ष्य है जिसे हम पसन्द करें या न करें, लेकिन जिस पर निरुपाधि रूप से विचार करना हमारे लिए तब आवश्यक है जब उसके द्वारा हमारे अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि होना है।[1] इस

---

१. इस सम्बन्ध में विशेषतः देखिए रॉयस लिखित 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' सेकेंड सीरीज, लेक्चर १, जहाँ इस विचार की प्रभावी विस्तृत व्याख्या दी गयी है। मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि मैं स्वयं 'अस्तित्व' शब्द का प्रयोग, जैसा कि लोग अक्सर किया करते हैं, काल तथा अवकाश के किसी निश्चित या विशिष्ट बिन्दु पर हुई ज्ञेय घटना की उपस्थिति के विशिष्ट रूप से परिसीमित अर्थ नहीं किया करता।

प्रकार तब 'नास्ति' का मौलिक अर्थ होगा वह वस्तु जिसे संगत वैज्ञानिक विचार-पद्धति द्वारा अवेक्ष्य लक्ष्यों की योजना में कोई स्थान नहीं मिल सकता, 'अवास्तविक' वह वस्तु है जिससे हमें किसी भी मानवीय प्रयोजन हेतु कोई सरोकार नहीं।

वास्तविकता क्या है यह बतलाते हुए कहा जाता है कि वह, वह है जो हमारी अपनी इच्छाशक्ति के अधीन नहीं अपितु उससे स्वतंत्र है, जो प्रतिरोध का प्रयोग करती है, जो हठात् हमें मान्यता देने को बाध्य करती है अथवा हमारी प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करती है, भले ही हम ऐसा करना चाहें या न चाहें। दार्शनिकों ने बताया है कि विषय की इस प्रकार की प्रस्तुति अर्ध सत्य मात्र है। वे हठीले तथ्य अथवा वास्तविकताएँ जो उनको मान्यता देने के लिए हमें बाध्य किया करती हैं, इस तरह की बात इसलिए किया करती हैं चूँकि हमारे भीतर ऐसी निर्धारित अभिरुचियाँ और ऐसे प्रयोजन मौजूद हैं जिन्हें हम अपने आपको 'तथ्यों' के अपने विवरण द्वारा व्यक्त की गयी परिस्थिति के अनुकूल बनाये बिना, कार्यान्वित नहीं कर सकते। मेरी अपनी अभिरुचियों और योजनाओं के एकदम बाहर की जो बात है, उसे मेरा प्रत्यभिज्ञान या मेरी मान्यता किसी प्रकार की भी, नहीं मिलती, वह मेरे लिए 'अवास्तविक' है, ठीक इसलिए क्योंकि अपने विशिष्ट प्रयोजनों या उद्देश्यों के अनुगमनार्थ उससे मुझे कोई सरोकार नहीं होता। अतः जहाँ तक हम इस शब्द का प्रयोग सापेक्ष्यार्थ में और इस या उस विशिष्ट कारक के विशिष्ट प्रयोजनों के सम्बन्ध में करते हैं वहाँ तक, 'वास्तविकता' के उतने ही क्रम हो सकते हैं जितने कि विशिष्ट प्रयोजन हों, साथ ही एक उद्देश्य या प्रयोजन द्वारा प्रेरित कारक के लिए जो 'वास्तविक' है, वह संभव है उसके साथी उन अन्य कारकों के लिए जिनके प्रयोजन भिन्न हैं, अवास्तविक हो। उदाहरण के तौर पर, एक ऐसे अंग्रेज ईसाई के लिए जो इंग्लैंड में अपने घर पर रहता है भारत के वर्ण या जाति सम्बन्धी नियम, सभी क्रियात्मक प्रयोजनों की दृष्टि से अवास्तविक ही हैं, उसे कोई जरूरत नहीं कि वह उनके अस्तित्व का, अपने किन्हीं उद्देश्यों या अभिरुचियों के सफल कार्यान्वयन की एक शर्त के रूप में ध्यान रखे, उसके लिए उन नियमों की सार्थकता, आश्चर्य देश द्वारा स्वीकृत विधि-प्रक्रिया के नियमों से अधिक नहीं है। लेकिन भारतीय समाज के ऐतिहासिक अध्येता, हिन्दू से हुए ईसाई और शिवजी के भक्त उपासक के लिए तो वर्ण अथवा जाति सम्बन्धी वे नियम एक सच्ची 'वास्तविकता' ही हैं। इन तीनों में से एक भी अपने विशिष्ट प्रयोजन का निष्पादन उनका ध्यान रखे बिना तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचने के तरीके के निर्धारण में उन नियमों द्वारा संचालित मार्गदर्शन के बिना, नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त

जब इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग किया जाता है तब निस्सन्देह इसका क्षेत्र सत्य शब्द के अर्थक्षेत्र से कहीं संकीर्णतर हुआ करता है।

हमारे इन तीन प्रकार के व्यक्तियों के लिए जातिभेद के उपर्युक्त नियमों की वास्तविकता का प्रकार उनके अपने-अपने भिन्न-भिन्न विशिष्ट गुणीय प्रयोजनों के अनुसार भिन्न ही होगा । इतिहासवेत्ता के लिए वे इस कारण वास्तविक होंगे चूँकि उन्होंने विचारों की एक व्यवस्था के रूप में उस समाज के व्यवहार को, जिसका इतिहास वह इतिहासवेत्ता लिख रहा है इतना प्रभावित किया है और अब भी कर रहे हैं—कि उन नियमों को समझे बिना उसे हिन्दुत्व की सामाजिक संरचना के अन्तर्भाग का स्पष्ट दिग्दर्शन हो ही नहीं सकता। भारतीय ईसाई के लिए वे इस कारण वास्तविक हैं कि वे कठिनाइयों के स्थायी स्रोत हैं और उसके उच्चतम व्यावहारिक या चारित्रक आदर्शों के प्रति अनास्था जागृत करने के लुभावने स्रोत भी । एक शैव के लिए वे इसलिए वास्तविक हैं चूँकि वे कायिक और आत्मिक पापमोचन के अथवा भवताप से मुक्ति दिलाने के दैव-निर्मित साधन हैं ।

२—यहाँ तक तो ऐसा शायद लगे कि 'वास्तविकता' एक शुद्ध सापेक्ष शब्द है तथा यह कि पहले हमने वास्तविकता का जो मापदण्ड, उसे 'आत्मविरोध से एकान्ततः स्वतंत्र' कह कर निर्धारित किया था, वह इस आकस्मिक घटना के कारण मनमाना था कि तत्त्वमीमांसा के अध्ययन के लिए जब हम तैयार हुए, तब हमारा विशिष्ट प्रयोजन संगतिपूर्वक विचार करने का था। निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि जब आप कोई खेल खेलने को तैयार होते हैं, तब उस विशेष खेल के नियम आप के लिए मूर्धन्य वास्तविकता जरूर होंगे और तब तक रहेंगे, जब तक वह खेल आप खेलते रहेंगे। लेकिन यह आप के ऊपर निर्भर है कि आप कौन-सा खेल खेलेंगे और कब तक उसे खेलते रहेंगे। ऐसा कोई एक खेल नहीं है जिसे खेलने के लिए अपनी-अपनी व्यक्तिगत पसन्द के बावजूद हम सब मजबूर हों और इसीलिए ऐसी कोई चरम वास्तविकता भी नहीं है, जिसे मानने के लिए हम सब बाध्य हों। केवल हमारे अपने-अपने विशिष्ट वैयक्तिक प्रयोजनों के अनुरूप विशिष्ट वास्तविकताएँ ही अवश्य हैं । आप को कोई अधिकार नहीं कि आप वैज्ञानिक विचार रूपी खेल के लिए ऐसे विशिष्ट नियम बनायें जो उस विशिष्ट खेल[1] को खेलने के लिए अनिच्छुक लोगों से भी वास्तविकता के नाम पर निरुपाधिक मान्यता प्राप्त करने का तकाजा करें ।

किन्तु इस प्रकार का तर्क, विचार बाह्य होगा । यह सही है कि तथ्यों का वह विशिष्ट स्वरूप जिसे हममें से कोई वास्तविक मान लेता है, उसके वैयक्तिक या व्यष्ट प्रयोजनों के विशिष्ट स्वरूप पर ही निर्भर होता है और यह भी सच है कि चूँकि हम

---

१. तुलना कीजिए 'दि विल आइ बिलीव' में प्रस्तुत प्रोफेसर जेम्स के अधिक विश्वासप्रद न होते हुए भी चमत्कारी तर्कों से।

किसी हद तक यथार्थ व्यष्टियाँ हैं, इसलिए किन्हीं भी दो मनुष्यों के व्यष्ट प्रयोजन परस्पर एकदम तदात्म या सदृश नहीं हो सकते हैं। इसलिए, बहुत करके यह सही है कि हम में से हर एक के लिए वास्तविकता का रूप अलग-अलग और अपना-अपना हुआ करता है। लेकिन जोर देकर कहा जा सकता है कि यह सही नहीं कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रयोजनों और उनकी अभिरुचियों के स्वरूप में कोई साम्य ही नहीं हुआ करता। यह मान लेने से ही कि कोई भी व्यष्ट प्रयोजन अथवा अभिरुचि तभी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकती है जब कि वह उन परिस्थितियों के निर्धारित समूह के, जिनके मिलने से उस प्रयोजन या अभिरुचि के अनुरूप वास्तविकता का गठन होता है, अपने आपको अनुकूल न बना ले—यह ध्वनि भी निकलती है कि अन्ततोगत्वा यह दुनिया एक व्यवस्थित वस्तु है, न कि विभ्राट मात्र, दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह कि परिणामी रूप से वह वस्तुओं की एक ऐसी संरचना या ऐसा एक संगठन है जो अपने किसी न किसी रूप में सभी व्यक्तियों या व्यष्टियों के लिए महत्त्वमय होता है और ऐसे प्रत्येक प्रयोजन के लिए जिसे सिद्धि प्राप्त करना है, उस संरचना को ध्यान में रखना जरूरी होता है। यदि यह संसार तनिक भी एक व्यवस्थित संगठन है—और यदि वह एक व्यवस्थित संरचना नहीं, तो किसी प्रकार के भी निश्चित या निर्धारित प्रयोजन के लिए कोई स्थान भी नहीं हो सकता —तो उसका परिणामी संगठन अवश्य ही इस किस्म का होना चाहिए कि जो प्रयोजन उसकी ओर से मुँह मोड़े कभी सिद्ध न हो अतएव प्रयोजन के प्रत्येक संश्लिष्ट अनुगमन के लिए, वह चाहे जिस प्रकार का भी क्यों न हो, अन्ततोगत्वा, विश्व व्यवस्था के कुछ ऐसे लक्षणों की मान्यता पर निर्भर रहना आवश्यक है—जिनका बिना शर्त और निरपेक्ष रूप से ध्यान रखना सभी व्यष्ट कारकों के लिए जरूरी होता है चाहे उनके विशिष्ट प्रयोजन का स्वरूप कैसा भी हो। उपर्युक्त अभिप्राय ही हमारे इस कथन का कि तत्त्वमीमांसा द्वारा अनुसंध 'वास्तविकता' निरपेक्ष है—अभीष्ट हुआ करता है। यही आशय हमारा तब भी होता है जब हम तत्त्वमीमांसीय अध्ययन के लक्ष्य को 'निरपेक्ष' कहते हैं।

वास्तव में हम निरपेक्ष की सुविधापूर्ण परिभाषा यह कह कर कर सकते हैं कि वह विश्व-व्यवस्था की ऐसी संरचना है जिसे मान्यता देना हर एक और हर प्रकार के अन्तः संगत प्रयोजन की स्वयं अपनी सिद्धि के लिए आवश्यक है। इस प्रकार के नामधेय निरपेक्ष की सत्ता से इनकार करने के माने होंगे, सिद्धान्ततः इस विश्व और जीवन की महत्ता को घटा कर उन्हें विभ्राट मात्र बना देना। लेकिन इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि तत्त्वमीमांसा में यद्यपि हमारा विचार्य विषय चरम अथवा निरपेक्ष वास्तविकता ही होती है किन्तु उस पर विमर्श करने का हमारा दृष्टिकोण भी एक विशेष प्रकार का होता है। हमारा खास उद्देश्य होता है उन परिस्थितियों को 'जानना'

या उनके विषय में संश्लिष्ट रूप से विचार करना, जिनको मान्यता देना सभी बौद्धिक प्रयोजनों के लिए आवश्यक है। वैज्ञानिक अनुसन्धान का इस प्रकार का अभ्युपगम ही ऐसा एकमात्र अभ्युपगम नहीं जिसे चरम वास्तविक के प्रति ग्रहण किया जा सकता हो। उदाहरण के लिए हम भावनात्मक एकतानता तथा मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिए अपने कार्यात्मक जीवन का संचालन निश्शंक होकर विश्व संरचना के उन तत्त्वों के मार्गदर्शन पर छोड़ सकते हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष रूप में गहनतम और नित्यतम समझते हैं। कार्यात्मिक धर्म का तो यह एक बहु-ज्ञात अभ्युपगम है ही। ऊपर से देखने पर जहाँ इस प्रकार का अभ्युपगम इसी प्रकार अनुज्ञेय प्रतीत होता है जिस प्रकार कि सत्यान्वेषी के लिए विशुद्ध वैज्ञानिक अभ्युपगम, वहाँ 'विज्ञान और धर्म की सदाबहार लड़ाई' से यह भी अच्छी तरह जाहिर है कि दोनों अभ्युपगम एक से नहीं हैं। ये दोनों अभ्युपगम एक दूसरे से किस तरह सम्बद्ध हैं इस समस्या को हम इस अनुसन्धान के अंतिम भाग में हल करेंगे। इस समय तो हमारे काम के लिए इतना ही काफी है कि हम उन्हें उस चरम वास्तविकता के प्रति जो अन्ततः एक ही रूप में अवश्य चिन्तनीय है, परस्पर अपसारी किन्तु प्रत्यक्षतः एक समान तर्कसंगत अभ्युपगम स्वीकार कर लें। श्री ब्रैडले ने ठीक ही कहा है कि 'निरपेक्ष' के प्रति अपने दृष्टिकोण को ही एक मात्र तर्कसम्मत समझने वाले तत्त्वदर्शी के अपने ही आक्रामक पाप से बढ़ कर तत्त्वमीमांसानुसार कम तर्कसंगत पाप दूसरा नहीं है।

३--आइये अब हम तत्त्वदर्शी के लिए उपर्युक्त रूप से परिभाषित वास्तविकता तथा अनुभूति के अन्तः सम्बन्ध की विशद खोज की ओर फिर से लौट पड़ें। अब हम शायद पहले से अधिक पूर्णतापूर्वक देख सकेंगे कि केवल अव्यवहृत अनुभूति में ही वास्तविकता क्यों पायी जाती है। हम जिस कारण से वास्तविकता को अव्यवहृत अनुभूति का तदात्म मानते हैं उसका उस सिद्धान्त से कोई सरोकार नहीं है जिसके अनुसार 'संवेदनाएँ' 'मनोनीत' किसी वस्तु की उत्पादन होने के कारण अपने 'बाह्य' कारण के स्वतंत्र अस्तित्व का सीधा प्रमाणपत्र अपने साथ लिये फिरती समझी जाती हैं। अतः हम देख चुके हैं कि : (१) अव्यवहृति का अर्थ है अनुभूति के समग्र से एकदम अविभाज्य संयुक्ति और यह भी कि यह अव्यवहृति ऐसी प्रत्येक मनोदशा से संपृक्त होती है जो कार्यात्मक रूप से जीयी गयी है अथवा क्रियात्मक जीवन में से होकर गुजरी है; (२) यह कि संवेदनाओं की किसी 'बाह्य' कारण पर विशेष रूप से निर्भरता किसी अर्थ में भी अनुभूति का अव्यवहृत दत्त नहीं होती बल्कि वह एक ऐसी विमर्शात्मक प्राक्कल्पना होती है जो अन्य सभी इस प्रकार की प्राक्कल्पनाओं के समान वैध घोषित किये जाने से पहले परीक्षा की तथा औचित्य-निर्णय की अपेक्षा करती है; (३) यह कि वास्तविक का हमसे 'स्वतंत्र' मात्र के साथ तादात्म्य बैठाना एक दार्शनिक भूल है। जैसा कि हमने अभी

पाया, जो कुछ केवल स्वतंत्र है वह हमारे लिए केवल अवास्तविक ही होगा। जो कुछ भी वास्तविक है उस सब का अव्यवहृत अनुभूति में उपस्थित होना, उस वास्तविक का सार्वत्रिक लक्षण है क्योंकि जहाँ तक कोई वस्तु अनुभूति के वस्तुनिष्ठ जीवन की अव्यवहृत एकता में इस प्रकार प्रस्तुत की जाती है वहाँ तक ही उसे ऐसी परिस्थिति अथवा तथ्य के रूप में पेश किया जा सकता है जिसका ध्यान रखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि उसके बिना सिद्धि, अथवा पूर्णता अन्यथा प्राप्त न हो सकेगी। कार्यरत जीवन, जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं, सदा ही अनुभूति की ऐसी वस्तुनिष्ठ एकता का नाम है जिसमें किसी मानसिक तथ्य के दोनों ही प्रभेदक पहलू, उसका अस्तित्व और उसकी अन्तर्वस्तु, उसके तत् और कि, प्रभेद्य होते हुए भी पृथक् नहीं किये जा सकते। किसी दी हुई वस्तु का वैज्ञानिक विमर्श, जैसा कि हम देख चुके हैं, सदा निरपेक्ष या गुणपरक इस अर्थ में होता है कि अन्तर्वस्तु का प्रक्रिया से मानसिक पृथक्करण ही उस विमर्श का सार हुआ करता है। इस प्रकार के पृथक्करण द्वारा हम व्यवहृत रूप में, उस पृथक्कृत अन्तर्वस्तु के स्वरूप को ज्यादा अच्छी तरह जानने लगते हैं लेकिन अधिक परिपक्व या पूर्ण होते हुए भी हमारा यह ज्ञान अमूर्त या गुणपरक ही रहता है, फिर भी वह एक ऐसे लक्ष्य या पदार्थ का तद्विषयक ज्ञान तो है ही जो उससे बाह्य है। हम तभी पुनः एक बार वास्तविक अस्तित्व की वस्तुनिष्ठ क्रियात्मकता की ओर लौटते हैं जब विमर्शात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप हमें व्यष्ट प्रक्रिया सार की पुनरावृत्ति में नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है।

इसी परिणाम या निष्कर्ष को हम एक और अधिक सार्थक रीति से व्यक्त कर सकते हैं। यह कहना कि वास्तविकता और अव्यवहृत अनुभूति सारतः एक ही है, यह कहने का ही दूसरा तरीका है कि वास्तविक मूलतः वह ही है जो प्रयोजन की प्राप्ति के लिए सार्थक हो। अनुभूति मूलतः उद्देश्यपरक होती है जैसा कि हम साधारण आनन्द और पीड़ा के सम्बन्ध में देख सकते हैं। अनुभूति के इन सीधे से सीधे रूपों के विषय में जो मनोवैज्ञानिक प्रश्न या समस्याएँ उठाई जा सकती हैं उनसे उत्पन्न होने वाली सब तरह की गड़बड़ी और जटिलता के बीच एक बात जो जरूर ही स्पष्ट दिखायी देती है वह यह है कि आनन्द और पीड़ा मौलिक रूप से तंत्रिकाओं की क्रियाशीलता के क्रमशः अप्रतिहत तथा प्रतिहत विसर्जन से सम्बद्ध रहते हैं। आनन्द सफल प्रवृत्ति से अवियोज्य प्रतीत होता है और पीड़ा पराजित अथवा व्यारुद्ध प्रवृत्ति[1] से। और अगर हम

---

१. **डा० स्टाउट की पुस्तक 'मैनुअल ऑफ साइकोलॉजी' में अनुभूति विषयक सभी समस्याओं का समग्र विवेचन देखिए। निस्सन्देह मेरा यह मतलब नहीं कि 'क्रियाशीलता की संज्ञानता' चाहे वह सफल हो या व्यारुद्ध, तथ्यरूपेण, आनन्द या पीड़ा**

'सामान्य प्रकार के आनन्द' और 'सामान्य प्रकार की पीड़ा' नामक विविक्तियों पर अधिक ध्यान न देते हुए उन्हें विशिष्ट अथवा निर्धारित आनन्द या पीड़ा के रूप में अथवा

की पूर्वगामिनी और अनुकूलक होती है। इसके विपरीत यह हमारे अनुभव का एक परिचित तथ्य है कि अपने प्रयोजनों या उद्देश्यों की पराजय की अनुगामिनी पीड़ा द्वारा ही हमें पहले-पहल पता चलता है कि हमारे प्रयोजन या उद्देश्य क्या थे। उदाहरण के लिए, किसी आदमी को तभी पता चलता है कि वह किसी से प्रेम करता था, जब उसकी प्रेमिका द्वारा उसके प्रतिद्वन्द्वी को दी गयी अधिमान्यता से उत्पन्न पीड़ा का उसे अनुभव होता है। और इससे अधिक अन्य कुछ भी इतना निश्चित नहीं प्रतीत होता कि अनेक आनन्द जैसा कि प्लैटो ने बहुत पहले ही जान लिया था, 'कार्यात्मक सकल्प' से एकदम स्वतंत्र अर्थात् उस संकल्प के आधीन नहीं हुआ करते।

इस अवसर पर मुझे एक ही बार में यह चेतावनी दे देना उचित प्रतीत होता है कि कुछ निम्नलिखित भ्रान्त धारणाओं से हमें सावधान रहना चाहिए। (अ) जब मैं अनुभूति या संवेदना को 'प्रयोजनात्मक' अथवा 'उद्देश्यपरक' कहता हूँ तब मेरा अभिप्राय उसके बारे में ऐसा कोई अभ्युपगम बना लेना नहीं होता कि उसके लिए किसी मार्गदर्शी लक्ष्य अथवा उद्देश्य के चैतन्य प्राग्ज्ञान का पूर्वग्रहण आवश्यक होता ही है, ऐसा अभ्युपगम स्वयं मेरे ही मनको अत्यन्त उत्तेजक लगेगा। मेरा मतलब तो केवल इतना ही है कि तथ्य रूपतः चेतन जीवन की प्रक्रियाएँ उन परिणामों द्वारा ही बोद्धव्य हुआ करती हैं, जिनमें जाकर वे स्वयं समाप्त हो जाती हैं तथा जिन्हें अनुरक्षित रखने का वे यत्न करती हैं, इसके अतिरिक्त यह भी कि वे सब मिलकर अभिरुचि सातत्य के उस प्रकार को अन्तर्ग्रस्त किये रहती हैं जो अवधान का अंग हुआ करता है। (ब) यदि अवधानात्मिका अभिरुचि आवश्यक रूप से वास्तविक संकल्प या वास्तविक चेतन प्रयत्न नहीं तो वास्तविक 'इच्छा' तो वह उससे भी कम आवश्यकरूपेण है। मेरे लिए, श्री ब्रैडले के समान, (देखिए अक्टूबर, १९०२ के 'माइण्ड' में प्रकाशित उनका लेख) जहाँ किसी प्रक्रिया के परिणाम का कोई आदर्श प्राग्ज्ञान नहीं होता वहाँ न तो वास्तविक वांछा ही होती है न ही कोई वास्तविक संकल्प और चूँकि मैं नहीं देख पाता कि सब प्रकार के अवधान में आदर्श प्राग्ज्ञान भी समाद्धन होता है अतः प्रोफेसर रॉयस से इस बात में सहमत नहीं हो सका कि अंतिम या चरम वास्तविकता 'किसी विचार का आन्तरिक आशय' मात्र ही होती है।

मेरा अपना अभिप्राय, इस नोट के प्रारम्भ में दिए गये उदाहरण के संदर्भ से

एक जटिल भावनात्मक स्थिति के रूप में ग्रहण नहीं करते तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। ऐसा अस्तित्व ही, जिसके व्यवहार का निर्धारण, चेतनतापूर्वक अथवा अचेतन रूप में लक्ष्यों या प्रयोजनों द्वारा हुआ करता है—अस्तित्व प्राप्त करने में उसी सीमा तक समर्थ प्रतीत होता है जहाँ तक वे प्रयोजन अग्रगत अथवा बाधित आनन्दपूर्ण या पीड़ाप्रद, हर्षमय, दुखमय अथवा भले या बुरे हों। इसलिये हमारा प्रारम्भिक निर्णय कि वास्तविकता उसमें पायी जाती है जो अव्यवहृत रूप से अनुभव किया जाय न कि उसमें जो अनुगत विमर्शीय विश्लेषण द्वारा अनुभूति के साथ हुए अपने संयोजक से पृथक्कृत हुआ हो, तथा हमारा वाद का यह कथन कि वास्तविक वह है जिसका ध्यान रखने को हम अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बाध्य हैं, दोनों ही पूरी तरह संपाती हैं।

इस बात को एक उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए छोटे या बड़े महत्व के किसी प्रयोजन के कारण अगले शहर में मेरा तुरन्त उपस्थित होना जरूरी हो जाता है तब वे सब रास्ते जिनके द्वारा उस शहर तक पहुँच सकूँ, मेरे लिए ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं उन सबका ख्याल रखना मेरे लिए जरूरी हो जाता है और अगर मैं चाहता हूँ कि मेरा महत्वपूर्ण प्रयोजन असफल या व्यारुद्ध न हो तो मुझे अपने चलने को उन परिस्थितियों के अनुकूल बनाना ही पड़ेगा। हो सकता है कि उस शहर तक पहुँचने के वैकल्पिक मार्ग हों और यह भी संभव है कि मार्ग एक ही हो। हर हालत में, मेरे उद्देश्य या प्रयोजन के लिए जो भी विकल्प शेष रहेंगे वे कठोरता-पूर्वक मर्यादित ही होंगे। गणितीय संभाव्यता की तौर पर मैं या तो 'अ' से 'ब' तक अनिश्चित संख्याक मार्गों से पहुँच सकता हूँ। यदि मुझे यही यात्रा एक वास्तविक तथ्य के रूप में किसी दत्त दिवस पर और संचरण के तत्काल वर्तमान साधनों द्वारा ही करनी पड़े तो संभाव्य मार्गों की सैद्धान्तिक अनन्तता अतिशीघ्र ही घटकर, लग-

---

अधिक स्पष्ट हो जायगा। कोई आदमी तभी पहले-पहल समझ पाता है कि उसे प्रेम हो गया है जब प्रतिद्वन्द्वी की सफलता से उसे पीड़ा पहुँचती है। जहाँ तक यह बात इस प्रकार घटित होती है वहाँ तक कोई वास्तविक या क्रियात्मक संकल्प नहीं होता। न अतितरांभावी वास्तविक ही होती है न वास्तविक वांछा। लेकिन—और यही मेरा कथन बिन्दु है—उसे पीड़ा का अनुभव तब तक न हुआ जब तक कि उसके प्रतिद्वन्द्वी सफलता से मौलिकतः अग्रिमायायी अथवा उद्देश्यपरक प्रकार की निर्धारित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का सफल वाद-बिन्दु व्यारुद्ध नहीं होता। हो सकता है कि असफलता पहली बार इस प्रकार की प्रवृत्ति की उपस्थिति से अवगत कराये लेकिन उस प्रवृत्ति को अपनी असफलता की एक परिस्थिति के रूप में वहाँ पहले से जरूर मौजूद रहना चाहिए।

भग दो या तीन की संख्या तक ही रह जायगी । इसे और सरल रूप में प्रकट करने के लिए हम ऐसा उदाहरण लेंगे जहाँ एक ही मार्ग ग्राह्य हो। यह उपलब्ध एक मार्ग ही मेरे लिए 'वास्तविक' मार्ग होगा। और वह गणितीय रूप से संभाव्य मार्गों की अनिश्चित या अनन्त संख्या की तुलना में विषम होगा ठीक इसलिये कि मेरे प्रयोजन अथवा उद्देश्य की निष्पत्ति मेरे लिए उस एक मार्ग को ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रखती अपितु उसे ही ग्रहण करने को मैं बाध्य हो जाता हूँ। गणितीय रूप से संभाव्य असंख्य मार्ग मेरे लिए इसलिए अवास्तविक हैं चूँकि उन सबको एक सदृश संभाव्य मार्गमात्र मान लिया गया था। किसी वास्तविक उद्देश्य या प्रयोजन द्वारा उनमें से किसी एक या किसी निश्चित संख्यक मार्ग या मार्गों की मर्यादा मेरे लिए निर्धारित नहीं है न उसके द्वारा मैं उनकी विचित्रताओं के अनुसार अपने आपको ढाल लेने के लिए अथवा अपने लक्ष्य में असफल होने के लिए ही मैं बाध्य हूँ। वे मार्ग 'काल्पनिक' अथवा 'केवल संभव' ठीक इसलिये हैं कि उनका ऐसी अनुभूति या अनुभव के साथ कोई निर्धारित सम्बन्ध नहीं है जो निर्धारित प्रयोजन की अभिव्यक्ति हो।

इस उदाहरण द्वारा हम संभवतः परम महत्व के एक अगले बिन्दु तक जा पहुँचें क्योंकि उससे इस सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है कि वह वास्तविक जो केवल 'संभाव्य' अथवा 'केवल विचरित' का प्रतिमुख हो सदा व्यष्ट ही होता है। 'अ'से'ब' तक पहुँच सकने के गणितीय रूप से कल्पना संभाव्य मार्गों की संख्या की कोई निश्चित गणना नहीं है, किन्तु किसी वस्तुनिष्ठ या ठोस व्यष्ट प्रयोजन की पूर्त्ति के लिये केवल एक ही, अथवा परिशुद्धरूपेण निर्धारित संख्याक मार्ग हुआ करता है।(इस प्रकार मैं यदि 'ब' तक की यात्रा एक दत्त समय के भीतर करने के लिए बाध्य होऊँ तो मुझे रेलवे द्वारा अनुसरित मार्ग का ही अवलम्बन करना पड़ेगा।) अतः सर्वत्र रूप से यह बात सामान्यतः सर्वविदित ही है कि जहाँ विचार सर्व सामान्य है वहाँ वास्तविकता, जिसके विषय में हम विचार करते हैं तथा जिसे हम अपने विचार के परिणाम के रूप में विधेय मान कर चलते हैं, सदा व्यक्तिनिष्ठ या व्यष्ट ही हुआ करती है। केवल प्रकल्प्य की सामान्यधर्मिता के मुकाबले में वास्तविक की इस व्यक्तिनिष्ठता का स्रोत या सिद्धान्त क्या है, अब यह देखना है। यह स्रोत वास्तविक प्रयोजन के साथ वास्तविकता का ठीक वह सम्बन्ध ही है जिसके बारे में हम ऊपर बता चुके हैं। विचार के निष्कर्ष सामान्य इसलिए होते हैं क्योंकि वैज्ञानिक चिन्तन के प्रयोजनार्थ हम अनुभव के 'किं' को उसके 'तत्' से पृथक् कर एकाकी बना देते हैं, हम जो कुछ हमारे सामने प्रस्तुत होता है उसके स्वरूप पर, उसे उस अनन्य प्रयोजन से जो हम तक पहुँचने वाली अनुभूति में व्यक्त होता है, पृथक् कर के विचार किया करते हैं। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक चिन्तन की समस्याओं का एक ही प्रारूप हुआ करता है अर्थात् यह कि 'हमारे चिन्तन और क्रिया अथवा कार्य को परस्पर

संगत बनाये रखने का हमारा सामान्य उद्देश्य अमुक प्रकार की परिस्थितियों में किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है ?' उसका प्रारूप कभी भी इस प्रकार का नहीं हुआ करता कि 'इस निर्धारित प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुझे किस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा।' इन दोनों प्रारूपों की इस भिन्नता का कारण एकदम स्पष्ट है। 'इस निर्धारित प्रयोजन' को विचार या चिन्तन का विषय बनाकर मैं स्वतः ही उसके 'तत्' में से उसके 'किं' को निकाल बाहर करता हूँ और उसे एक मामूली दृष्टान्त अथवा एक विशिष्ट प्रकार का उदाहरण मात्र मान लेता हूँ । जब तक यह प्रयोजन वास्तविक जीवन में वस्तुतः ओतप्रोत या अन्तर्हित तथा उसकी अव्यवहृत अनुभूति का निर्धारक बना रहता है तब तक वह एक ऐसा पूर्णतः परिमित अनन्य 'तत्' रहता है जिसपर विचार किया जाय तो वह अनिर्धारित संख्याक सदृश संभाव्यताओं का एक प्रकार ही बन जाता है।

अब, यहाँ अत्यन्त सावधान होकर यह बात ध्यान में रख लेना आवश्यक है कि अव्यवहृत अनुभूति के तथ्यों अथवा पदार्थों की उस व्यष्टता का स्रोत जिसके द्वारा हम विज्ञान की सामान्यताओं अथवा उसकी अमूर्त या गुणपरक संभाव्यताओं से उनका वैषम्य बैठा पाते हैं, किसी वास्तविक अनुभूति में अभिव्यक्ति हुई, प्रयोजन की अनन्य व्यष्टता ही है । इस विचार-बिन्दु पर और भी विशद विचार करना इसलिए भी अधिक आवश्यक है क्योंकि यह जनविदित किन्तु भ्रान्त मत लोगों में घर कर गया है कि अवकाश तथा कालक्रम में स्थान ग्रहण करना ही वास्तविक अस्तित्व की व्यष्टता का स्रोत है। लोग बहुधा कहा करते हैं कि वैज्ञानिक सत्य इसलिए सामान्य होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध सभी स्थानों तथा कालों से रहता है। 'वास्तविक' तथ्य इसलिए व्यष्ट होता है क्योंकि वह होता है वह जो 'यहाँ' और 'अभी' अथवा 'अत्र' और 'अधुना' है। लेकिन हमें यह समझ लेने योग्य होना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार के विवरण से तार्किक निर्भरता का वास्तविक क्रम एकदम पलट जाता है । अवकाश और काल में अवस्थिति मात्र, केवल इस कारण से ही व्यक्तीकरण का एक सच्चा सिद्धान्त कभी नहीं हो सकती कि अवकाश का कोई बिन्दु तथा काल का कोई क्षण, उन वस्तुओं और घटनाओं से विलग होने पर भी जो उस अवकाश और काल को आपूरित करती हैं, हमारे प्रेक्षणार्थ[1] किसी तरह अन्य सभी बिन्दुओं तथा क्षणों से अप्रभेद्य होता है।

---

१. क्या 'स्थिति' स्वयं 'सापेक्ष' होती है या 'निरपेक्ष', इस अत्यन्त कठिन समस्या के पूर्व-निर्णय की बात को बरकाने के लिए इस प्रकार की उपाधि या शर्त जोड़ देना आवश्यक है। सौभाग्य से हमारी तर्कना, समस्या के निर्धारण पर निर्भर नहीं है। अगर लाल और नीला जैसी निरपेक्ष बातों तक में भिन्नता पायी जाय तो हमारी इस तर्कना का जोर कम न होना चाहिए, वह जोरदार ही रहेगी।

दूसरी ओर इसके विपरीत वे स्थान और समय, तथा वे वस्तुएँ और घटनाएँ जो उन स्थानों और समयों को घेर कर बैठी होती हैं, जीवनों की उन अनन्य अवस्थाओं के साथ, जो अनन्य और व्यष्ट प्रयोजन का मूर्तरूप होती हैं—केवल अपने सहसम्बन्ध के कारण ही हमारे लिए स्वयं अनन्य और व्यष्ट बन जाती है। मेरे लिए 'यहाँ' अथवा 'अत्र' का अर्थ है वह स्थान जहाँ इस समय मैं हूँ, और 'अभी' या 'अधुना' का अर्थ है वे प्रयोजन जिनकी अपनी अनन्यता के कारण मैं इस दुनिया में अनन्य बन जाता हूँ, इस प्रकार लगता है कि हम इस सार्थक निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि निष्पादन की यह अनन्य अवस्था हमारे इस कथन में निहित है कि 'वास्तविकता अनुभूति है' उसमें आगे के ये तर्कवाक्य कि 'वास्तविकता पारम्पार सोद्देश्य होती है' तथा 'वास्तविकता अनन्यत: व्यष्ट होती है' भी शामिल हैं।

४—हम पहले ही देख चुके हैं कि जब हम वास्तविकता का अनुभूति से तादात्म्य बैठाते हैं तब इसका यह मतलब नहीं होता कि हम अपनी उस अनुभूति के साथ जो वास्तविक जीवन में हमें जिस रूप में प्राप्त होती है उस वास्तविकता को तदात्म मानते हों या उससे भी घटिया यह बात मानते हों कि वह मेरी अपनी उस अनुभूति की तदात्म है जिसे हमने किसी चेतन या अचेतन दार्शनिक अभिमत के अनुसार पुनर्गठित किया हो। वास्तव में मेरी अनुभूति पूर्णतया और एकतानता की उन परिस्थितियों की शर्त को पूरा करने में एकदम असमर्थ हुआ करती है जिन्हें पिछले खण्ड में हमने 'शुद्ध' अथवा पूर्ण अनुभूति के लिए अनिवार्य पाया था। हमारी उस अनुभूति की सदोषता तीन प्रकार से प्रकट होती है: (१) जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उसके अन्त:तत्त्व सदा ही खंडित हुआ करते हैं। अस्तित्व के समस्त ऐश्वर्य का रद्दी से रद्दी अंश ही उसमें पाया जाता है। जिन प्रयोजनों और अभिरुचियो से मेरा चैतन्य जीवन बनता है वे उस अनुभूति में अत्यन्त सिकुड़ी-सिकुड़ी सी और सीमित होती हैं। विश्व के अधिकांश तथ्य अर्थात् उन परिस्थितियों का अधिक भाग, जिनका ध्यान रखना दुनिया के निवासियों के अभीष्ट प्रयोजनों अथवा लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक होता है मेरी अपनी वैयक्तिक अथवा व्यष्ट अभिरुचियों के—कम से कम उन अभिरुचियों के, जिनके प्रति मैं कभी भी स्पष्ट रूप से जागरूक होता हूँ—क्षेत्र के बाहर ही हुआ करता है। अब चूँकि मेरे व्यष्ट प्रयोजनों के हेतु उन तथ्यों का कोई मूल्य नहीं होता इसलिए वे मेरी विशिष्ट अनुभूति में सीधे ही प्रविष्ट नहीं होते। या तो मैं उनके विषय में कुछ भी नहीं जानता या उन्हें जितना भी जान पाता हूँ, वह अप्रत्यक्ष रूप से उन अन्य लोगों के साक्ष्य के आधार पर ही जान पाता हूँ, जिनके जीवन में वे वास्तव में और प्रत्यक्ष रूप से सार्थक हो चुके हैं। और फिर ये अन्य लोग भी अपनी-अपनी उन व्यष्ट अभिरुचियों के आधार पर ही, जिनके द्वारा वे मुझसे अलग पहचाने जा सकते हैं, उस तथ्यात्मक वास्तविकता के, बाहरी रूप से

उतने ही अवगत होते हैं, जितना कि मैं स्वयं।

(२) इसके अतिरिक्त अपने ही लक्ष्यों और अभिरुचियों में भी मेरी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त सीमित प्रकार की होती है। पहले तो वह उन लक्ष्यों और अभिरुचियों का एक छोटा-सा खंड भर ही होती है जो अनुभूति के किसी वास्तविक क्षण में अव्यवहृत रूप से अनुभूत विषयक सदा प्रदत्त रूप से पायी जाती है। वस्तुतः अनुभूत को, हमें, ज्यादातर सैद्धान्तिक रूप से ऐसी बुद्धिपरक अर्थ योजनाओं द्वारा, जो भूतकाल तक स्मृति के रूप में और भविष्य तक प्राग्ज्ञान के रूप में चला करती है व्यक्त करना होता है। और दोनों ही प्रकार की ये बौद्धिक अर्थ योजनाएँ अपरिहार्य होने पर भी, तर्काभासों द्वारा बुरी तरह दूषित होती हैं। दूसरी बात यह कि इस प्रकार की बौद्धिक अर्थ योजना की पूरी-पूरी सहायता होते हुए भी मैं, एकाकी और संगत लक्ष्य या प्रयोजन के मूर्त रूप अपने इस जीवन के समग्र अर्थ, को पूरी तरह से समझ पाने में कभी सफल नहीं हो पाता। मेरे प्रयोजनों में से बहुत-से प्रयोजन कभी भी स्पष्ट चेतना में पर्याप्त रूप से इतने नहीं उभर पाते जिससे उन्हें स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा सके। उनमें से जो इस प्रकार उभर भी पाते हैं उनकी शक्ल देखकर लगता है कि उनमें परस्पर कोई व्यवस्था—क्रमिक सम्बन्ध ही नहीं है। तब कोई आश्चर्य नहीं कि वे 'वास्तविकताएँ' अथवा 'तथ्य', अपने प्रयोजनों के निष्पादन हेतु जिनको ध्यान में रखने की बात मैं सीखता हूँ, प्रायः किसी विभ्राट के अंश-से लगते हैं न कि किसी ऐसी क्रमबद्ध व्यवस्था के जैसा कि इस दुनिया को, अगर हम उसे उसके सच्चे रूप में देख पायें तो, मानने के लिए बाध्य हों।

(३) अन्त में हमारे पास इतने गंभीर आधार यह मानने के लिए मौजूद हैं कि जिन वास्तविकताओं का ध्यान हम रखते भी हैं उनके भी उन पहलुओं के सिवाय जो मेरी विशिष्ट अभिरुचियों या स्वार्थों के लिए सार्थक होने के कारण मेरा ध्यान आकर्षित करते हैं अन्य किन्हीं पहलुओं पर मेरी नजर नहीं जाती। अपने साथी मनुष्यों से सम्बद्ध आश्चर्यजनक अनुभवों से मैं जो कुछ सीख पाता हूँ वह सार्वाधिक सत्य भी हो सकता है अर्थात् प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु के अनन्त पक्ष या पहलू उन पहलुओं के सिवाय भी होते हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान इसलिए आकर्षित होता है चूँकि वे हमारे प्रयोजनों के लिए अधिक महत्त्व के होते हैं। हमारी परिचित वस्तुओं में से अधिकांश में, लक्षणों की ऐसी अनन्तराशि मौजूद हो सकती है जिसे हम केवल इसलिए नहीं देख पाते चूँकि उसका कोई आर्थिक मूल्य इंसानी बाजार के लिए नहीं होता। इन्हीं सब कारणों से, हमें अपनी सीमित अनुभूतियों का उस अनुभूति के साथ जिसके बारे में हम कह चुके हैं कि 'वास्तविक' होने के लिए उसके साथ नत्थी होना पड़ता है और नत्थी होने अथवा ओतप्रोत होने से ही वास्तविक बनता है, तादात्म्य बिठाने से एकदम

वर्जित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस अनुभूति को हम विश्व की मानवीय या अन्य परिमित और इन्द्रिय-वेधी सत्ताओं की समष्टि की 'सामूहिक अनुभूति' का तदात्म ही कह सकते हैं। यह बात एक नहीं अनेक कारणों से स्पष्ट हो जाती है। पहले तो 'सामूहिक अनुभूति' पद का यदि कोई अर्थ है तो वह एक व्याधानी पद है। क्योंकि हम देख चुके हैं कि लक्ष्य और अभिरुचि या स्वार्थ की अनन्य या अद्वितीय व्यष्टता अनुभूति का आवश्यक या मौलिक लक्षण है, और कम से कम इस माने में तो एक सही या सच्ची अनुभूति का किसी व्यष्टकर्ता की अनुभूति होना आवश्यक ही है, और किसी प्रकार का समुदाय या समूह, व्यष्टकर्ता हो नहीं सकता। अतः यह तथाकथित 'सामूहिक अनुभूति' किसी प्रकार की एक अनुभूति नहीं है अपितु वह अनुभूति की ऐसी अनिर्धारित बहुलता है जिसे किसी एक अभिधान के नीचे डाल कर केवल इकट्ठा भर कर दिया गया है। यदि हम इस कठिनाई से किसी तरह पार पा भी लें तो एक और बड़ी कठिनाई हमारे सामने आ खड़ी होती है। परिमित व्यष्टियों की विभिन्न अनुभूतियाँ, सब, जैसा कि हम कह चुके हैं, खण्डखण्डीय तथा कम या अधिक असंश्लिष्ट होती हैं। उन सबको जोड़ मिलाकर आप कभी भी ऐसी एक अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते जो सर्वार्थग्राहिणी और सर्वतः एकतान हो। अगर खण्डखंडिता ही उनका एकमात्र दोष होता तो यह सोचा जा सकता था कि अगर ऐसा कोई बाहरी प्रेक्षक मौजूद हो सकता जो उन सब खण्डों को एकदम देख पाता तो संभव था कि उन सबकी कमियों की पूर्ति मात्र एक दूसरे के द्वारा करके उन्हें एक समग्र रूप दिया जा सकेगा। लेकिन हमारी परिमित अनुभूतियाँ न केवल खंडीय ही हैं बल्कि बहुतायत से परस्पर व्याघातिनी और आन्तरिक रूप से दुर्व्यवस्थित भी। निस्सन्देह हमारा विश्वास हो सकता है कि उनके परस्पर व्याघात आभासी मात्र हैं और यह कि अगर हम स्वयं अपने अन्तरतम लक्ष्यों और प्रयोजनों के प्रति पूर्णतः जागरूक या सचेत हो सकते तो तत्काल ही हम एकतान व्यवस्था के रूप में समग्र वास्तविकता के प्रति भी जागरूक हो सकते। लेकिन हम ऐसा कभी कर नहीं पाते, और आगे चलकर हम देखेंगे भी कि अपनी इस परिमिति के कारण ही हम अपने जीवनों की सार्थकता के प्रति इस प्रकार की आपूरित अन्तर्दृष्टि कभी भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे। इसीलिए ऐसी अनुभूति जिसके लिए सारी वास्तविकता एकतान समग्र के रूप में प्रस्तुत हो, हमारे द्वारा अधिकृत आंशिक और अपूर्ण अनुभूतियों की कोई नकल या अनुकृति मात्र नहीं हो सकती।

इस प्रकार, हम जोर देकर यह कहने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि ऐसी अतिमानव अनुभूति का अस्तित्व आवश्यक है जिसमें एक पूर्ण और एकतान व्यवस्था के रूप में सत्य का समग्र संसार प्रत्यक्षतः प्रस्तुत रहे। यह देखा जा चुका है कि किसी इन्द्रियवेध्य अनुभूति में अथवा संवेदना के समग्र में प्रस्तुत होने के अतिरिक्त,

वास्तविकता का कोई अर्थ ही नहीं होता साथ ही उसे उस सब को अनियत रूप से अनुभवातिक्रान्त करते भी देखा गया, जिसे किसी भी सीमित अनुभूति के क्षणों में प्रत्यक्षतः प्रस्तुत पाया जा सकता है। यदि यह निष्कर्ष ठीक हो तब हमारे निरपेक्ष को ऐसे चेतन जीवन की संज्ञा दी जा सकती है जो अपनी अनुभूति की अन्तर्वस्तु के रूप में, अस्तित्व की सकलता को एकदम समेट कर एक आदर्श और व्यवस्थित इकाई बन गया हो। इस प्रकार की परिकल्पना की अपनी कठिनाइयाँ होती हैं। इस प्रकार की सर्वाधानी अनुभूति को भौतिक प्रकृति के साथ और हमारी अपनी परिमित अनुभूति के साथ क्योंकर संबद्ध मानना जरूरी है । ये ऐसी समस्याएँ हैं जिन पर हम इस पुस्तक के अगले दो खण्डों में विचार करेंगे । इन समस्याओं को काफी पेचीदी पायेंगे अतः यह ठीक ही होगा अगर हम पहले से ही इस संभावना का सामना करना शुरू करदें कि संभव है निरपेक्ष अनुभूति संबंधी हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित सिद्ध हो, साथ ही अत्यन्त परीक्षणात्मक भी। वह ऐसा ही है, ऐसी बात जोर देकर कहने को हम मजबूर-से मालूम उस प्रयत्न के कारण ही देते हैं जो वास्तविकता विषयक अपनी धारणा में संगत अर्थ का अध्याहार करने के लिए हम किया करते हैं, लेकिन वह है क्या इससे स्वयं अधिकार अनभिज्ञ होने की बात हमें स्वीकार तो करना ही होगा।

अपने विवेचन की वर्तमान परिस्थिति में हम कम से कम यहाँ तक जरूर आ सकते हैं। सर्वाधानी और संगत अनुभूति की ब्योरेवार संरचना या बनावट हमारी अपनी खंडखंडीय और असंगत अनुभूति से कितनी भी भिन्न क्यों न हो लेकिन अगर उसे अनुभूति जरा भी बन रहना है तो उसे अपने अन्तःसार को उस सामान्य तरीके से ही ग्रहण करना होगा जो प्रत्यक्ष अनुभूति मात्र के लिए एक स्वाभाविक तरीका बन चुका है। उसे उन अन्तर्वस्तुओं का ध्यान रखना होगा और उनके प्रति जागरूक रहना होगा और अगर उसे किंचित् मात्र भी प्रत्यक्ष अनुभूति बने रहना है तो, वह और भी अधिक बाध्य होगी कि उन अन्तर्वस्तुओं की उस संरचनात्मक एकता का जो किसी संश्लिष्ट योजना अथवा प्रयोजन की प्रतिमूर्ति हुआ करती है—ध्यान रखे। हमें उसका ध्यान एक ऐसी व्यवस्थागत इकाई के रूप में करना होता है जिसमें न केवल वे सब 'तथ्य' ही शामिल हों जिनका ख्याल 'हमारी विभिन्न अनुभूतियों को रखना पड़ता है बल्कि वे सब प्रयोजन भी जिन्हें वे व्यक्त करती हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि जब हम इस प्रकार की किसी चरम अनुभूति की, अपने चेतन जीवन के रूप में, कोई निकटतम परिकल्पना करें तो उसका ध्यान परिपूरित ज्ञान के अविभेद्य समग्र के साथ हुए सर्वोच्च संकल्प के समेल के रूप में ही करें । लेकिन हमें याद रखना होगा कि इस प्रकार की अनुभूति के लिए ठीक इसीलिए कि वह स्वभावतः सर्वाधानी होती है—उसके 'तत्' और 'किं' दोनों ही अवियोज्य होते हैं। अतः तद्विषयक ज्ञान का

स्वरूप तथ्य जगत् की व्यष्ट रचना विषयक प्रत्यक्ष अनादृष्टि प्रकार का होना चाहिए न कि संभाव्यताओं के संबंधी सामान्यीकरण प्रकार का तथा उसके संकल्प का स्वरूप भी ऐसा प्रयोजनात्मक होना आवश्यक है जो हमारे अपने प्रयोजन के असदृश सदा चेतनापूर्वक इस तरह व्यक्त किया जा सके कि जिन तथ्यों के प्रति वह जागरूक[1] हो उनसे पूर्णतः एकतान तथा स्वयं परिपूर्ण हो। चूँकि ज्ञान और संकल्प में हमारे लिए अनुभूति की 'किं' और 'तत्' विषयक असंगति अन्तर्ग्रस्त रहती है अतः वे ऐसी पूर्णतः संतोषजनक अभिधाएँ नहीं हैं जिनके द्वारा निरपेक्ष[2] के जीवन का स्वरूप बखाना जा सके। इस प्रकार के जीवन का पर्याप्ततम अनुरूपी संभवतः प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि के साथ उस सन्तुष्ट अनुभूति या भावना के उस संयोजन में हमें शायद मिले, जिसका अनुभव व्यक्तियों के गहरे और बुद्धिपरक प्रेम से हमें होता है। प्रेम की अन्तर्दृष्टि को हम 'ज्ञान' कह सकते हैं लेकिन विज्ञान के सापेक्षिक प्रकार के सार्वत्रों से यह ज्ञान बिलकुल ही दूसरी तरह का है। मैं अपने मित्र को जानता हूँ लेकिन ऐसे व्यक्ति के रूप में नहीं जो इस या उस साधारण श्रेणी का विषय हो जिसके बारे में शरीरशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र संबंधी कुछ समस्याएँ खड़ी की जा सकती हों, बल्कि वैयक्तिक अभिरुचि के एक अद्वितीय—कम से कम मेरे लिए—केन्द्र के रूप में। इसके अतिरिक्त मेरे मित्र के साथ के मेरे सम्बन्धों में, जब तक कि वे संतुष्ट प्रेम के सम्बन्ध बने रहते हैं—मेरी व्यष्ट अभिरुचियाँ पूर्णतम रूप में मूर्त रहती हैं। लेकिन स्नेह या प्रेम करने का संकल्प या इच्छा वहाँ पहले असन्तुष्ट रूप में नहीं हुआ करती और न पूर्वता ही बाद में, उद्देश्यपरक उपायों द्वारा किसी प्रक्रिया के परिणाम के रूप में उसके साथ जोड़ी जाती है। प्रयोजन और उसका कार्यान्वयन दोनों ही साथ-साथ शुरू से आखीर तक अखण्ड एकाकार रूप में वहाँ मौजूद रहते हैं और जब तक ऐसा नहीं

---

१. चूँकि यदि ऐसा न हो तो जो तथ्य निरपेक्ष के प्रयोजनों और स्वार्थों से बाध्य होंगे, वे उसके लिए ऐसे 'परदेशी' तथ्य होंगे जो बाहर से 'दत्त' होंगे और अनुभूति के समग्र स्वरूप से उनकी कोई व्यवस्थित एकतानता न होगी। इस प्रकार सब तथ्यों की संपूर्णतः व्यवस्थित एकता, उस सर्वाधारी अनुभूति के बाहर की वस्तु होगी जिसे 'प्राक्कल्पनाश्चित' या 'एक्स हाइपोथिसोइ' होना चाहिए था।

२. 'विचार और संकल्प के समेल' के रूपमें निरपेक्ष की ऐसी परिकल्पना के असंतोषपूर्ण होने के विषय में अधिक विवेचन यदि अभीष्ट हो तो उसके लिए देखिए खण्ड ४ अध्याय ६ अनुच्छेद १ जहाँ यह दिखाया गया है कि ज्ञान और संकल्प, वास्तविक ज्ञान और वास्तविक संकल्प के रूप में परिमित सत्वों में ही पाये जाते हैं।

होता तब तक मित्रता—सच्ची पारस्परिक मित्रता का वहाँ अभाव ही रहता है।[1] इस प्रकार के किसी सामान्य चलन के अनुसार हम अपने लिए इस प्रकार की चेतना का सर्वोत्तम निरूपण करेंगे जिसका श्रेय हम सर्वग्राहिणी जगदनुभूति को ही देंगे। लेकिन इतना ध्यान हमें जरूर रखना होगा कि हमारे अपने जीवनों की खंडखंडीयता के कारण प्रयोजनों के जिस तादात्म्य पर मित्रता आधारित रहा करती है वह कभी भी इतना निकट और घनिष्ठ नहीं हो सकता कि उसे निरपेक्ष[2] में वर्तमान समग्र अनुभूति विषयक चरम एकता का पर्याप्त प्रतिनिधि कहा जा सके।

५—यहाँ एक सुखद तर्काभास के बारे में चेतावनी के दो शब्द कह देना उचित होगा। यदि हमारी माँग के अनुरूप निरपेक्ष अनुभूति कहीं मौजूद हो तो उसके सामने उन सब वास्तविकताओं का जिन्हें हम अपने पर्यावरण की अन्तर्वस्तुओं के रूप में जानते हैं—प्रस्तुत होना आवश्यक है। साथ ही उनका अपने उस रूप में—जिसमें अपनी पूर्णता के समय वे वास्तव में आ जाती हैं—प्रस्तुत होना भी आवश्यक है। लेकिन इस बात की भी सावधानी हमें रखना है कि कहीं हम यह अनुमान लेकर न चलें कि हमारा पर्यावरण किसी उस अनुभूति को जो उसे उसके वास्तविक रूप में ग्रहण करती है, जिस

---

१. अर्थात् यदि संकल्प या इच्छा का अर्थ वास्तविक अध्यवसाय या इच्छा माना जाय, तब प्रेम और 'प्रेम करने की इच्छा या संकल्प' दोनों का स्वतः अस्तित्व नहीं हो सकता, उस हालत में जब संकल्प का अनुचित अर्थ 'स्थायी' अभिरुचि या प्रयोजन लगायें तो बात दूसरी ही होगी।

२. दर्शन शास्त्र के इतिहास के विद्यार्थी को फिर से उन आधारों की याद आ जायेगी जिनके कारण स्पिनोजा ने अपने ईश्वर में 'बुद्धि' और 'इच्छा' नामक वस्तुओं के उनके सही मानों में अध्याहार के प्रति एतराज किया था, साथ ही ईश्वर की तीसरे प्रकार के अथवा 'अन्तः प्रज्ञान' की तथा अपने प्रति उस अनन्त बौद्धिक प्रेम की भी याद आ जायगी जिसका इतने जोरों के साथ प्रतिपादन 'एथिक्स' के पाँचवें भाग में किया गया है। इसी तरह के कारणों से अनुभूति की चरम एकता को व्यक्त करने के लिए 'प्रयोज्य अथवा उद्देश्यपरक 'अभिधाओं' की अपेक्षा 'आंगिक एकता' को अधिमान्यता दी गयी है। लेकिन आंगिक शब्द से वृद्धि, बाह्य पर्यावरण पर निर्भरता आदि की कल्पनाओं के सुझाव सामने आ सकते हैं जो यहाँ ठीक नहीं बैठते। लेकिन विद्यार्थी यदि चाहें तो यहाँ स्पिनोजा की किसी वस्तु की सत्ता से सम्बद्ध कल्पना 'कोनेटस इन सु ओ एसे परतीबेराण्डि' की तुलना व्यष्टता के प्रयोज्य अथवा प्रयोजनीय स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा जा चुका है उससे कर सकता है।

रूप में दिखायी देता है, वह रूप उसके उस रूप की प्रतिवृत्ति या पुनरावृत्ति मात्र नहीं होता जिस रूप में वह हमें प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मुझे यह मानकर न चलना चाहिए कि जिसे मैं ऐसी भौतिक वस्तु के रूप में देखता हूँ जो एक दूसरे से बाह्य किन्तु यान्त्रिक तरीके से एक दूसरे के साथ दिखावटी रूप में संयुक्त ऐसा समग्र है जो भागों का ऐसा समूह मात्र अथवा योग मात्र है जिसके विभिन्न भाग एक दूसरे से अलहदा किये जा सकते हैं, आवश्यक रूप से निरपेक्ष अनुभूति द्वारा सदृश अथवा तदनुरूप भागों के योग के रूप में बोद्धव्य होती है। वह वस्तु मेरी सीमित अन्तर्दृष्टि के सामने जिस रूप में आती है वह उस वस्तु से जो अपने सही रूप में इस प्रकार की अनुभूति के सम्मुख आती है, उतनी ही भिन्न हो सकती है जितना कि मेरी नजर के सामने पड़ने वाली आपकी देह उस देह से भिन्न होती है जिसका बोध आपको आंगिक संवेदन द्वारा होता है। विशेष रूप से हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि निरपेक्ष अनुभूति के लिए वस्तुओं का अस्तित्व उसी रूप में हुआ करता है जिस रूप में हम विज्ञान के सामान्य सिद्धान्त के लिए उनका विश्लेषण करते हैं, उदाहरणतः जैसे भौतिक वस्तुएँ उस हेतु अणुओं का संकलन और व्यष्ट मन मानसिक स्थितियों का अनुक्रमण या पौर्वापर्यमात्र हुआ करता है। वास्तव में आगामी खंडिकाओं के परिणामों का पूर्वानुमान किए बिना, हम तत्काल कह सकते हैं कि सिद्धान्ततः यह असम्भव होगा क्योंकि सब तरह का वैज्ञानिक विश्लेषण स्वभाव से ही सामान्य और प्राक्कल्पनात्मक हुआ करता है। उसे केवल प्रकारों और गुणपरक सम्भावनाओं से ही काम पड़ता है, व्यष्ट वस्तुओं के वास्तविक गठन से उसे कभी कोई सरोकार नहीं रहता। लेकिन सारा वास्तविक अस्तित्व व्यष्ट अथवा वैयक्तिक ही होता है।

इसी बात को दूसरी तरह पर यों कहा जा सकता है कि वस्तुओं के गुण संबंधी उन लक्षणों को जिनका हम ध्यान रखते हैं वैज्ञानिक सिद्धान्त उन्हें ही अपने व्यवहार में इसलिए लाते हैं चूँकि वे लक्षण हमारे मानवीय प्रयोजन के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। और वस्तुओं के इन लक्षणों का उपयोग करके वह उनके बीच की कड़ियाँ जोड़ने वाले उन सामान्य नियमों की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं जिनका उपयोग हम स्वयं अपने विभिन्न मानवीय स्वार्थों की प्राप्ति के क्रियात्मक प्रयोजन के लिए कर सकते हैं। यद्यपि ऊपर से न दिखायी देने पर भी यह क्रियात्मक उद्देश्य ही शुरू से आखीर तक हमारी सारी वैज्ञानिक प्रक्रिया का अनवरित रूप से नियंत्रण किया करता है। इसलिए किसी भी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की एक मात्र कसौटी उसकी तथ्यों के किसी समूह से एक समूह की अवतारणा कर सकने की क्षमता हमें प्रदान कर सकने में सफल होना ही है। क्या उन मध्यवर्तिनी कड़ियों का जिनके द्वारा हम एक समूह से दूसरे समूह तक जा पहुँचते हैं, कोई प्रतिरूप- वास्तविक अनुभूति की इस दुनिया में है

या नहीं या वे सिद्धान्त की ही सृष्टि मात्र हैं ठीक उसी तरह जिस तरह गणितीय अवकलन के प्रतीक या चिह्न अव्यक्तव्य हुआ करते हैं—यह बात इस दृष्टिकोण से उपेक्षा की वस्तु है । अपनी प्राक्कल्पना से हम इतना ही चाहते हैं कि जब हम परीक्षणात्मक सत्यापन योग्य तथ्यों से काम लेना शुरू करें तो उसके विनियोग से हम परीक्षणात्मक सत्यापन के योग्य अन्य तथ्यों तक पहुँच सकें । इस तर्कना द्वारा हम इस तर्कसंगत निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऐसी किसी भी अनुभूति के सम्मुख, जो वस्तुओं की वस्तुपरक व्यष्टि से परिचित है, वस्तुओं के वे पहलू प्रस्तुत होना आवश्यक है जिनकी पुनः प्रस्थापना हमारी वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं में नहीं होती तथा जो उन योजनाओं के जिनके अनुसार वैज्ञानिक अनुसंधान हेतु हम एकदम तर्कानुमोदित रूप में उनका पुनर्गठन कर सकते हैं—शुद्ध प्रतिरूप की शक्ल में उसके सम्मुख प्रस्तुत नहीं हो सकते । आगे के लिए, जब हम भौतिक विश्व रूप से भासमान वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर विचार करेंगे, हमें इस बात को ध्यान में रख लेना जरूरी है ।

६—यहाँ तक हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह, 'प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' तथा 'दि डायलाग्ज बिट्वीन हायलस एण्ड फिलोनस' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों में लिखित बर्कले की भौतिकवाद विरोधिनी तर्कना से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। किन्तु दोनों निष्कर्षों में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण भेद है जिसके परिणाम भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। अप्रत्यक्षीकृत द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व के विरुद्ध बर्कले द्वारा प्रस्तुत तर्कना इस सिद्धान्त पर ही शुरू से आखिर तक चलती है कि 'अस्ति' का अर्थ है किसी अनुभूति में उपस्थित होना। इस सिद्धान्त के अपवर्जन से वैज्ञानिक भौतिकवाद के पृष्ठपोषक को जिन व्याघातों का सामना करना पड़ता है—उनका बर्कले द्वारा किया गया प्रदर्शन प्रतिपक्षी आदर्शवादी दृष्टिकोण की सत्यता का एक वरण्य निरूपण बन गया है। लेकिन यह नोट करने की बात है कि उपर्युक्त पृष्ठपोषक 'अनुभूति' और 'अनुभूति में उपस्थिति' की अपर्याप्त संकल्पना से ही लगातार काम किया करता है। अनुभूति को वह प्रत्यक्षण के लिए प्रस्तुत किसी विशेषता के प्रति केवल निष्क्रिय 'जागरूकता' का समकक्ष समझता है । उसके लिए अनुभव करने का अर्थ है किसी प्रस्तुत गुण या विशेषता के प्रति चैतन्य मात्र होना, अनुभूति को वह, मनोवैज्ञानिक शब्दावली के अनुसार स्वभावतः प्रस्तुति-धर्मिणी मानता है । अतः वह इसी अनुमान पर पहुँचता है कि अनुभूति जिन वस्तुओं से हमारा सामना कराती है वे प्रस्तुत की गयी विशेषताओं या गुणों की जटिलताओं या गुत्थियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं अथवा जैसा कि वह कहता है उनका समस्त अस्तित्व प्रत्यभिक्षत होने में ही निहित हुआ करता है। भौतिक वस्तुओं की 'अस्ति' का प्रत्यक्षण के साथ इस प्रकार के तादात्म्य में अन्तर्ग्रस्त विरोधाभास की सीमा या मात्रा तब और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी

जब इस पुस्तक के अगले खण्ड में हम द्रव्य विषयक समस्या पर विचार करेंगे। इस समय तो मैं उसके अनेक पहलुओं में से एक पहलू की ओर ही ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इस सिद्धान्त पर कि अनुभूति विशुद्धतः निष्क्रिय और प्रस्तुतिपरक तथा कुछ संवेदनों के संप्रापन में गठित हुआ करती है, यह प्रश्न तत्काल उठ खड़ा होता है कि किसी दत्तक्षण पर प्राप्त संवेदन विशेषरूप से क्या होंगे यह बात कौन निर्धारित करता है ? बर्कले के मतानुसार उन संवेदनों के क्रम का निर्धारण एकदम बाहर से ही किसी ऐसे अनुभूतिबाह्य सिद्धान्त द्वारा होता है जिसका बर्कले के पूर्वग्रहणानुसार अपने सामने प्रस्तुत गुणों या विशेषताओं को ज्ञानाश्रित करने के सिवाय और कोई काम नहीं होता। इसीलिए मजबूर होकर उसे ईश्वरीय माध्यम का आश्रय ढूँढ़ना पड़ा जिसे वह मेरी अनुभूति में प्रत्यक्षणों के एक निर्धारित क्रम में पौर्वापर्य से प्रविष्ट होने का प्रेरक मानता है। विवृत्ति विषयक अन्य आगे की कठिनाइयों को छोड़कर यह सिद्धान्त हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वस्तु जगत के प्रति ईश्वर की भावना, अनुभूतिकर्ता हम लोगों की भावना से एकदम भिन्न होती है। मेरे लिए अनुभूति प्रस्तुतियों की विशुद्धतः निष्क्रिय ग्राहकता का ही नाम है। किन्तु दूसरी ओर प्रस्तुत किये गये पदार्थों के साथ ईश्वर का संबंध सक्रिय उत्पादन का है। मौलिकतः विरोधित इन सम्बन्धों में एक भी तत्त्व ऐसा नहीं जो दोनों में समान रूप से पाया जाय अतः बर्कले द्वारा ईश्वर की गणना भी उन्हीं पदार्थों में किया जाना जिनका विनियोग वह मानवीय अनुभूति को व्यक्त करने के लिए करता है तथा उस ईश्वर के मत्थे ऐसी वस्तुओं की चेतना थोपा जाना, जिन्हें ईश्वरीय माध्यम द्वारा मानवीय मन[1] में प्रेरित प्रस्तुतियाँ मात्र घोषित किया गया है, वास्तव में वाद-बाह्य विषय मात्र है।

वास्तव में बर्कले दो परस्पर विरोधिनी विचारधाराओं को असंगत रूप में जोड़ना चाहता था। एक ओर तो वह कहता था चूँकि प्रस्तुतियाँ एक के बाद दूसरे

---

१. अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' के ६६–७०–७५ के पढ़ने से लगता है कि बर्कले अवश्य ही इस बात से इन्कार कर रहा है कि जिन विचारों को ईश्वर अपनी क्रिया से हमारे हृदय में जागृत करता है वह स्वयं प्रत्यक्षण भी किया करता है। किन्तु ६–३९ में हम लिखा पाते हैं कि 'आत्मा' उसे कहते हैं 'जो विचारों का प्रत्यक्षण किया करती और इनके विषय में संकल्प तथा तर्क भी करती है, और तृतीय कथा प्रकथन (डायलॉग) में तो स्पष्ट ही लिखा है कि इन्द्रियवेध वस्तु ईश्वर द्वारा प्रत्यक्षित हुआ करती है, बर्कले, के संवेदनात्मकतावाद को यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो ईश्वर को विचारों (अर्थात् ऐंद्रिय वस्तु) का स्वामी मानने का अर्थ होगा उसकी आध्यात्मिकता से इनकार करना।

के पूर्वापर क्रम से मेरे मानसिक जीवन में प्रविष्ट होती हैं अतः इस क्रम का कोई कारण अवश्य होना चाहिए और उस कारण का स्रोत मुझसे विलग या स्वतंत्र होना चाहिए। इस स्रोत को ही वह ईश्वर का तदात्म बताते हैं लेकिन जहाँ तक तर्कना का सवाल है वहाँ तक तो यह स्रोत समान रूप से, लाक की तरह, द्रव्य की मौलिक संरचना में ही पाया जा सकता था। तर्कना के लिए केवल इतना ही अभीष्ट है कि इस स्रोत को स्वयं प्रस्तुतियों के पौर्वापर्य के बाहर की किसी वस्तु पर आधारित किया जाय। दूसरी ओर उसका यह भी कहना है कि भौतिक जगत के अस्तित्व का अर्थ चूँकि उसका चेतना के लिए प्रस्तुत किये जाने का तथ्य मात्र ही है अतः जब उस जगत की अन्तर्वस्तुएँ मेरी चेतना के लिए प्रस्तुत होना बंद हो जायँगी तब ईश्वर की चेतना के लिए वे अवश्य ही प्रस्तुत रहेंगी। लेकिन यहाँ भी एक एतराज यह उठाया जा सकता है कि मेरी अनुभूति के लिए जिस काल तक वह जारी रहे तब तक, प्रस्तुत रहना, किसी वस्तु की अस्ति का पर्याप्त विवरण है अतः कोई वजह नहीं मालूम होती है कि क्यों मैं किसी अन्य अनुभूति की वास्तविकता को मान्यता दूँ। यदि मुझे यह मानना पड़े कि मेरी अनुभूति से तिरोहित होने के कारण ही किसी वस्तु की वास्तविकता नष्ट नहीं हो जाती तब मेरे लिए यह मानना भी तर्कानुगत होगा कि उसका अस्तित्व, जब तक मेरे लिए प्रत्यक्ष है तब तक उसके प्रति मेरी सतर्कता के कारण वह निष्कासित नहीं होता। उसका अस्ति 'प्रत्यक्षण' मात्र नहीं हो सकता।

हमारे विवेचन की वर्तमान परिस्थिति में बर्कले की कठिनाई को यहाँ पूरी तरह हल करना समय पूर्व होगा। किन्तु हम उसके प्रधान उद्गम स्थल का निर्देश तो तुरन्त ही कर सकते हैं। यह कठिनाई इसलिए उठ खड़ी हुई चूँकि बर्कले ने अनुभूति के प्रयोजनात्मक पहलू का पर्याप्त ध्यान नहीं रखा। जैसा पहले ही देखा जा चुका है, अनुभूति प्रस्तुत किये गये पदार्थों के अनुक्रम की चेतना मात्र नहीं होती वह ऐसे पूर्वापर अनुक्रम की चेतना होती है जिसका नियंत्रण किसी अभिरुचि अथवा प्रयोजन द्वारा होता है। मेरी अनुभूतियों का क्रम मुझे बाहर से दी गयी कोई वस्तु नहीं अन्तस्थ आत्मनिष्ठ अभिरुचि द्वारा नियंत्रित और निर्धारित क्रम ही है। वास्तव में बर्कले ने मानव मन की अन्तर्वस्तुओं की मनोवैज्ञानिक गणना करते समय वरणक्षम अभिरुचि को उसमें शामिल नहीं किया। वह भूल गया कि अभिरुचियों के कारण ही मैं उन तथ्यों की ओर ध्यान देता हूँ जो मुख्यतः यह निर्धारित करते हैं कि किन तथ्यों को मैं अपने ध्यान में रखूँ और उसकी यह गलती और भी अधिक टिप्पणीय इसलिए है क्योंकि उसने 'क्रियाशीलता' को 'आत्माओं'[1] का विशेष गुण मानने पर बड़ा जोर दिया

---

१. दुर्भाग्य से बर्कले ने भी अन्य बहुत से दार्शनिकों की तरह 'क्रियाशीलता' को

है। अनुभूति के उद्देश्यपरक पक्ष पर जोर देकर जब हम उसकी गलती को दुरुस्त करते हैं तब हमें तत्काल स्पष्ट दिखायी देने लगता है कि सर्वोच्च मन तथा आधीन मन के तथ्य जगत् विषयक पारस्परिक सम्बन्धों की मौलिक असमानता गायब हो जाती है। प्रस्तुत तथ्यों को मैं सर्वोच्च मन द्वारा बाहर से ही मेरे लिए निर्धारित क्रमानुसार एकदम निष्क्रिय होकर ग्रहण नहीं किया करता अपितु अपनी वरणक्षम अवधान शक्ति के बूते पर, सीमित मात्रा में तथा अत्यन्त अपूर्ण रूप से मैं अपने लिए स्वयं उन तथ्यों के पूर्वापर क्रम की पुनः सृष्टि किया करता हूँ।

इसके अतिरिक्त समग्र अनुभूति के उद्देश्यपरक पक्ष को मान्यता देकर हम उस असंतोष को बहुत कुछ दूर कर सकेंगे जिसका सकारण अनुभव हमें बर्कले की तर्कना के दूसरे भाग से हो सकता है। जब मैं अनुभूतिगत 'तथ्यों' को मेरे बोधार्थ प्रस्तुत पदार्थों या लक्ष्यों के रूप में विचारता हूँ तो ऐसा कोई पर्याप्त कारण मुझे नहीं दिखायी देता जिसके आधार पर मैं मान सकूँ कि वे तथ्य जिस रूप में प्रस्तुत हुए हैं उसके अतिरिक्त अन्य किसी रूप में भी उनकी सत्ता वर्तमान रहती है। लेकिन ज्यों ही मैं प्रस्तुत तथ्यों के पौर्वापर्य को वरणक्षम अवधान में व्यक्त हुई आत्मपरक अभिरुचियों द्वारा स्वयं निर्धारित पौर्वापर्य के रूप में देखने लगता हूँ त्यों ही मामला दूसरा ही हो जाता है। 'वरण-क्षम अवधान' शब्द मात्र के साथ ही हमें फिर से तुरन्त याद आ जाता है कि वे तथ्य जिनपर मेरी अभिरुचियों की प्रतिक्रिया होती है एक अधिक बड़े समग्र में से वरित या चुने हुए तथ्य हैं। मेरे अपने स्पष्ट रूप से निर्धारित और चेतन प्रयोजनों की सिद्धि जिस तरीके से आंगिक एकता-सम्पन्न और विस्तृततर सामाजिक समग्र की अभिरुचियों और प्रयोजनों के साथ उनके सम्बन्ध पर निर्भर हुआ करती है उस तरीके के विषय में प्राप्त मेरे क्रियात्मक से मुझे यह समझने में सहायता मिलनी चाहिए कि विभिन्न प्रेक्षकों के वरणक्षम अवधान की निर्धारक अभिरुचियों और प्रयोजनों की सफलता किस प्रकार निरपेक्ष अनुभूति की एकतान और व्यवस्थित एकता का निर्माण, जैसा कि हम मान चुके हैं कि उसे अवश्य करना चाहिए—कर सकती है। इस विचारधारा पर विशद विवेचन अगले अध्यायों के लिए छोड़ देना यद्यपि आवश्यक है तथापि इतना कह देना अत्युक्ति न होगा कि अनुभूति का जो उद्देश्यपरक रूप उसे संवेदन के साथ उसके संयोग के कारण प्राप्त है वह विश्व[1] के आदर्शवादी निर्वाचन की कुंजी है।

मूलतः 'कारण' और उस द्रव्य के बीच का, जिसपर वह 'कार्य करती है,' बाह्य संबंध ही माना है। यही कारण है जिससे प्रत्यक्ष प्रक्रिया के 'क्रियाशील' या सक्रिय स्वरूप को वह समझ नहीं पाया।

१. अच्छा हो यदि पाठक उपर्युक्त अनुच्छेद की तुलना डा० स्टाउट की 'मैनुअल ऑफ

आदर्शवाद का यह सिद्धान्त कि समग्र वास्तविकता मनोजनित हुआ करती है तब अबोध्य हो जाता है—जैसा कि देखने के कई अवसर आगे आयेंगे—जब मानसिक जीवन की कल्पना 'दत्त' प्रस्तुतियों के प्रति जागरूकता मात्र के रूप में की जाती है।

७—इससे पहले कि हम, वास्तविक होने में क्या-क्या बातें शामिल होती हैं—एतद्विषयक अपने सामान्य विचारों को विस्तार रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रारंभ करें—वास्तविक अस्तित्व के स्वरूप के बारे में ऐसे दो एक दार्शनिक मतों की गिनती कर दें जिन्हें निरस्त्र करना हमारे वास्तविकताओं और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक निष्कर्ष के कारण हमारे लिए तर्कसंगत हो गया है। और सबसे पहले हम तत्काल देख सकते हैं कि जिस परिणाम पर हम पहले पहुँच चुके हैं यदि वह ठोस है तो वह 'रीयलिज़्म' अथवा यथार्थवाद नाम से साधारणत: अभिहित वस्तु के सभी रूपों के लिए घातक सिद्ध होता है। यथार्थवाद अथवा रीयलिज़्म का सिद्धान्त है कि उस वस्तु का, जो वास्तव में मौजूद है, मूलभूत स्वभाव उस वस्तु के जिसके मौजूद होने की कल्पना मात्र की गयी है, स्वभाव को छोड़कर—व्यक्ति या कर्ता की अनुभूति से सब प्रकार

साइकालाजी' पुस्तक ३, खण्ड १ अध्याय २ से करें।

मुझे यह कहने की जरूरत शायद ही हो कि मानसिक जीवन के लिए वरणता प्रयोजन की मौलिक सार्थकता को मान्यता देने मात्र से, मनोविज्ञानशास्त्र में कृतिवादी दृष्टिकोण को अपना लेना जरूरी नहीं हो जाता। वास्तविक मानसिक जीवन कुछ आधारभूत होता है। उसमें मनोविज्ञान के प्रयोजनार्थ अधिक सादे प्राक्कल्पनात्मक तत्त्वों में विश्लेषित हो सकने की गुंजाइश रहा करती है। अतः इस बात के मान लेने से कि सारा मानसिक जीवन उद्देश्यपरक और वरणात्मक होता है यह अभिप्रेत होना आवश्यक नहीं कि क्रियाशीलता विषयक वह तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त जिसकी प्रतिकूल आलोचना श्री ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'अपीयरेंस एण्ड रियलिटी' के सातवें अध्याय में की है तथा मनोविज्ञान शास्त्र, में एक विचित्र प्रकार की क्रियाशीलता विषयक चेतना की एक अविश्लेष्य दत्त के रूप में प्रस्तुति को भी मंजूर कर लिया गया है। यदि जीवन की वास्तविकताओं या क्रियात्मकताओं तथा मनोविज्ञान के दत्तों के बीच प्रतिस्थापना प्रो० मस्टर बर्ग ने अपनी साइकालाजी आफ लाइफ तथा ग्रुउजूज डर साइकालाजी में बतलायी है यदि उसे उसके द्वारा निर्दिष्ट उग्र रूप में अग्राह्य भी मान लिया जाय तो भी वह उस विरोधी रुख को, जिसके लिए परम महत्त्व की प्रत्येक वस्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए परमतत्व मानी जाती है, दुरुस्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

असम्बद्ध उसकी स्वतंत्रता में पाया जाता है। यथार्थवादी का दावा है कि जिसका अस्तित्व है या जो कुछ मौजूद होता है वह अनुभूत होने या न होने की दोनों ही अवस्थाओं में बराबर मौजूद रहता है। न उसके अस्तित्व विषयक तथ्य और न उसके अस्तित्व का प्रकार ही किसी तरह भी अनुभूति विषयक उसकी प्रस्तुति पर निर्भर हुआ करते हैं। अनुभूत होने से पहले भी उसकी सत्ता ठीक उसी प्रकार की थी जिस प्रकार की अब जब आप उसका अनुभव कर रहे हैं। और वह तब भी उसी प्रकार की रहेगी, जब वह अनुभूति के बाहर हो जायेगी। एक शब्द में कहा जाय तो इस परिस्थिति से कि मन—भले ही वह मन आपका हो, मेरा हो या ईश्वर का या किसी का इससे इस बहस का कोई सम्बन्ध नहीं कि अनुभूति के घटकों में उसके एक घटक होने की बात जानता है—वास्तविक वस्तु की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अनुभूति वह वस्तु है जिसे प्राविधिक या तकनीकी भाषा में एक-पक्षीय निर्भरता का संबंध कहा जाता है। इसके लिए कि अनुभूति किसी तरह हो और इसका इस या उस तरह का लक्षण या स्वभाव हो, निर्धारित स्वभाव या लक्षण वाली वास्तविक वस्तुओं का होना आवश्यक है, लेकिन वास्तविक वस्तुएँ हों या उनका अस्तित्व रह सके, इसके लिये अनुभूति का होना किसी प्रकार भी आवश्यक नहीं होता। संक्षेप में यथार्थवाद का सार यही है और जो दर्शन उसे वैध मान लेता है वह भावना रूप से यथार्थवादी दर्शन है।

स्वतंत्र वास्तविक वस्तु रूप में कल्पित वस्तुओं की संख्या तथा स्वभाव के सम्बन्ध में विभिन्न यथार्थवादी प्रतिनिधियों के विभिन्न विचार हो सकते हैं और होते भी आये हैं। तदनुसार कुछ यथार्थवादियों ने एकलचरम वास्तविकता का ही अस्तित्व माना है, जबकि अन्यों ने स्वतंत्र वास्तविकों की अनिर्णीत बहुलता को प्रश्रय दिया है। परमेनिडीज, जिसका मत है कि वास्तविक विश्व एक सकल, एक रूप अपरिवर्तनशील भौतिक वलय या गोला है, प्राचीन काल के यथार्थवादियों तथा हर्बर्ट स्पेन्सर अपने अविज्ञेय सिद्धान्त के साथ आधुनिक युग के यथार्थवादियों का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो एकवादी प्रकार का है। प्राचीन परमाणुवादी और आधुनिक काल के लीबिनिट्ज जिसका मत स्वतंत्र परस्पर असम्बद्ध मौलिक तत्त्वों की अनन्त बहुलता पर आधारित है तथा सरल 'वास्तवों' के जगत् के विश्वासी, हर्बट स्पेन्सर आदि व्यक्ति बहुलतापरक यथार्थवादी सिद्धान्त के उदाहरण हैं। इसी प्रकार और भी विविध सिद्धान्त 'वास्तवों' के स्वरूप के बारे में लोगों ने प्रस्तुत किए हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परमाणुवादियों ने उन्हें द्रव्यात्मक माना है और शायद यथार्थवादी सिद्धान्त का यह रूप ही बड़ी आसानी से जन-साधारण के दिमाग को ठीक प्रतीत होता है। यद्यपि भौतिकतावादी तत्त्वमीमांसक आवश्यक रूप से यथार्थवादी होता है। लेकिन यथार्थवादी को भौतिकतावादी होना जरूरी नहीं। हर्बर्ट ने स्वतंत्र 'वास्तवो' को गुणात्मक

रूप से सरल ऐसे अस्तित्वों के रूप में माना है जिनके स्वरूप का और अधिक निर्धारण संभव नहीं होता। लीबिनिट्ज़ ने उन्हें मन माना है जबकि स्पेन्सर जैसे अनीश्वरवादी दार्शनिक अपनी चरम वास्तविकता को एक प्रकार के ऐसे निष्पक्ष तृतीयक के रूप में देखते हैं जो न तो मानसिक ही है, न भौतिक। जिस बिन्दु पर सभी सिद्धान्त एकमत हैं वह यह है कि जिसको वे सत्य सत्ता स्वीकार करते हैं उसकी वास्तविकता, इसको अपने अस्तित्व अथवा स्वरूप के लिए किसी अनुभूति से सम्बद्ध होने पर निर्भर होने में निहित नहीं होती। स्वतंत्र 'वास्तवों' के संख्या तथा स्वरूप विषयक विवरणों में पाये जाने वाले अन्तर यद्यपि व्यष्ट यथार्थवादी की दार्शनिक स्थिति का पूरा-पूरा अन्दाजा लगा सकने में हमारे लिए बड़े काम के हैं, किन्तु यथार्थवाद के पहले व्यय की मान्यता विषयक हमारे सामान्य अधिमत पर उनका कोई असर नहीं पड़ता।

जिस एक बात पर यथार्थवादियों का भिन्न मत है और जो हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए गौण से अधिक महत्त्व का समझा जा सकता है, वह है अनीश्वरवाद और कट्टरवादी यथार्थवाद का पारस्परिक अन्तर। अनीश्वरपरक यथार्थवाद जहाँ हमारी अनुभूति को ऐसी वास्तविकता पर अन्तिम रूप से निर्भर रहने का समर्थन करता है, जो अनुभूति से स्वतंत्र होकर रहती है, वहाँ इस बात से इनकार भी करता है कि इस स्वतंत्र वास्तविकता के स्वभाव या स्वरूप का कोई ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं। समग्र अनुभूति की रूपरेखा की निर्धारक स्वतंत्र वास्तविकता इस दृष्टिकोण के अनुसार एक ऐसी अविज्ञेय या आत्मवर्तिनी वस्तु[1] है जिसके विषय में तर्कसंगत रूप से हम केवल इतना कह सकने के अधिकारी हैं कि वह अवश्य ही ऐसी है। लेकिन हम तनिक भी नहीं जानते कि वह है क्या? अनीश्वरपरक यथार्थवाद के सिद्धान्त को किसी विचारक ने संभवतः कभी भी दृढ़ संगतिपूर्वक नहीं चलाया। लेकिन वह काण्ट के दर्शन का एक मुख्य लक्षण है जिसे उसने अपने "फर्स्ट क्रिटीक" में व्यक्त किया है। वह काण्ट द्वारा सर विलियम हैमिल्टन और मिस्टर हर्बर्ट स्पेंसर की व्यवस्थाओं की नींव के रूप में इंग्लिश विचारधारा में शामिल हो गया है।[2]

---

१. आत्मवर्तिनी वस्तु अर्थात् वह जो उन बाह्य शर्तों से, जो इस मत के अनुसार उस पर अनुभूतिकर्ता मन के साथ सम्बन्ध होने के कारण लगायी गयी हों, प्रभावित नहीं होती।

२. काण्ट और स्पेंसर दोनों ही की असंगत बातों से, मानवीय मन की विशुद्ध अनीश्वरवाद को अंगीकार करने की अनिच्छा पर प्रकाश पड़ता है। 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन्' में काण्ट ने यहाँ तक आत्मविरोधी बातें लिखी हैं कि उसने आत्मवर्तिनी वस्तु को वेदना या संवेदन का हेतु बता दिया है। यद्यपि उसके शास्त्र

कट्टर यथार्थवाद, जिसका प्रमुख प्रतिनिधित्व आज के दर्शनशास्त्र में पहले लीबिनिट्ज़ और बाद में हर्बर्ट स्पेंसर ने किया है, इसके विपरीत इस मत की पुष्टि करते हुए भी कि वास्तव में सत्ता अनुभूति से स्वतंत्रत होती है, साथ ही साथ यह भी मानता है कि उसके अस्तित्व का ही नहीं अपितु उसके स्वरूप का भी निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से यथार्थवाद के इन दोनों ही रूपों का अपवर्जन खण्ड १ अध्याय २, ४ में लिखित तर्कनाओं द्वारा पहले ही किया जा चुका है। उस तर्कना के आधारभूत सिद्धान्त के सर्वोच्च महत्त्व के कारण शायद हम फिर उसे संक्षेप में दुहराने का साहस कर सकते हैं। आपको याद होगा कि इस बारे में हमारी तर्कना का स्वरूप एक आह्वान जैसा था। हमने यथार्थवादी को, जिसे हम तब तक इस नाम से नहीं जानते थे, ललकारा था कि वह जिस किसी वस्तु को स्वयं अपने लिए नयी वास्तविकता मानता है, उसका चाहे जो उदाहरण वह पेश करे और हम उसी को लेकर दिखा देंगे कि यथार्थवादी द्वारा मानी हुई उस उदाहरण की वास्तविकता इसी बात से प्राप्त हुई है कि वह कर्तृ विषयक अनुभूति से अन्ततोगत्वा पृथक नहीं की जा सकती। एक वस्तु आपके लिए काल्पनिक मात्र न होकर वास्तव में ठीक इसलिए है चूँकि अपने स्वभाव के किसी पहलू पर वह आपकी अपनी अनुभूति में प्रविष्ट हो जाती है और उसे प्रभावित करती है। अथवा दूसरे शब्दों में वही वस्तु क्या है वह आपके लिए इस कारण वास्तविक है, चूँकि वह आपके अपने किसी आत्मनिष्ठ स्वार्थ को अनुकूलतः अथवा अन्यथा प्रभावित करती है। निश्चय ही, जिस रूप में वह वस्तु आपकी अनुभूति में प्रविष्ट होती है तथा जिस रूप में वह आपके आत्मनिष्ठ हितों को प्रभावित करती है वह उस रूप में पूर्णावस्था प्राप्त वह वस्तु स्वयं नहीं होती, क्योंकि वह अपने अनेक पार्श्वों में से किसी पार्श्व द्वारा ही आपके जीवन का स्पर्श मात्र करती है। और इस आधार पर आप दलील पेश कर सकते हैं कि वास्तविक वस्तु आपकी अनुभूति के किसी रूपान्तरण की 'अनुभूत स्थिति' या 'अवस्था' मात्र है। लेकिन तब हमें फिर पूछना पड़ता कि

का मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि कार्य-कारण संबंध का प्रमेय वैध रूप से केवल अनुभूति के अन्तर्भूत तथ्यों को सम्बद्ध करने के ही लिए प्रयुक्त हो सकता है। अपनी बाद वाली पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ जजमेण्ट' के विषय में तो यह सही ही कहा गया है। शायद यह बात, मेरा ख्याल है, श्री एफ० सी० एस० शिलर ने "रिड्ल ऑफ स्फिक्स" नामक पुस्तक में लिखी है कि अपनी पुस्तक 'सिन्थेटिक फिलासफी' के दस भागों में उसने अविज्ञेय के स्वरूप के विषय में, कट्टरतावादी धर्मशास्त्र, ईश्वर के स्वरूप-विषय में हिम्मत करके अपेक्षाकृत कहीं अधिक निश्चयात्मक बात लिखी है।

आपके इस कथन का क्या यह मतलब है कि वे तथ्य, जिनका अनुभव आपने नहीं किया है, आपकी 'अनुभूति की अवस्थाओं' के रूप में वास्तविक हैं। पर हम देख चुके हैं कि 'अवस्था' की वास्तविकता के साथ हम जिस अर्थ को संपृक्त कर सकते हैं, वह है उस अनुभूति के लिए जो आपकी अनुभूति का अतिक्रमण करे—प्रस्तुत होना।

उपर्युक्त सामान्य तर्कना के साथ हम ऐसे दो उप-सिद्धान्त अथवा दो पूरक विचार भी जोड़ सकते हैं जो कोई नयी बात कहे बिना ही इस तर्कना की समग्र शक्ति को और भी स्पष्ट कर देने में सहायक हो सकते हैं।

(१) मौलिक रूप में प्रस्तुत किये जाते समय इस तर्कना का सीधा संबंध वास्तविकता के तथ्य अथवा उसके अस्तित्व विषयक तथ्य मात्र से था। लेकिन उसे हम, अगर चाहें तो, उसके किसी पक्ष अथवा वास्तव द्वारा अधिगृहीत स्वरूप अथवा प्रकृति पक्ष से भी वाद प्रस्तुत कर सकते हैं। आप किसी वस्तु के वास्तविक अस्तित्व के बारे में कोई अभिमत दृढ़तापूर्वक तब तक सिद्ध नहीं कर सकते जब तक कि उसके साथ ही साथ उसके स्वरूप अथवा प्रकृति विषयक अभिमत भी अन्तर्ग्रस्त न किया जाय। अगर आप इतना ही कहें कि 'वास्तविकता अविज्ञेय है' तो आप इस कथन में अपनी वास्तविकता के साथ अनुभूति से स्वतंत्र होने के गुणों के अलावा और कुछ भी जोड़ देते हैं। ऐसा कहते समय आप इस बात पर जोर दे रहे होते हैं कि जो कुछ इस प्रकार स्वतंत्र है, उसमें संज्ञान का अतिक्रमण कर जाने का एक निश्चयात्मक अन्य गुण भी अधिक मौजूद है। अब तर्कशास्त्र के अनुसार आपकी स्वतंत्र वास्तविकता के अन्य गुण की अपेक्षा इस गुण का समावेश करने का क्या आधार होना आवश्यक है? यह आधार केवल यह तथ्य अथवा कल्पित तथ्य ही—जिसकी दुहाई अनीश्वरवादी अपने विश्वास के मूलाधार के रूप में लगातार दिया करता है—हो सकता है कि हमारी अनुभूतियाँ स्वयं, सारी की सारी आत्म-व्याघातिनी पायी जाती हैं। वास्तविकता की अविज्ञेयता को सत्य मान लेने का कोई आधार तब तक नहीं होगा जब तक आपका मतलब ऐसे स्वभाव या स्वरूप से न हो, जिसका किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध न हो जो समग्र अनुभूति-बाह्य हो बल्कि जो स्वयं अनुभूति से ही सम्बद्ध हो। यही तर्क अन्य किसी भी ऐसे विधेय पर भी लागू होता है जिसे यथार्थवादी अपनी चरम वास्तविकता के विषय में सत्य सिद्ध करता या बतलाता है।

(२) हम अपने इस तर्क को और भी प्रभावी तरीके से निषेधात्मक रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि एकदम से अवास्तविक का ध्यान करने की कोशिश कीजिए और तब देखिए कि आप को उसकी कल्पना कैसे करनी होती है। क्या एकान्त अवास्तविकता के विषय में इसके सिवाय कि वह ऐसी कुछ है जिसका ज्ञान किसी भी मन को कभी नहीं हुआ है और जिसकी खबर रखने की जरूरत किसी भी प्रयोजन को

अपनी सिद्धि की जरूरी शर्त के रूप में कभी नहीं पड़ती—आप कुछ और भी सोच सकते हैं लेकिन उसे इस रूप में विचारने का मतलब होगा उसे उसकी परिभाषा के रूप में, उस स्वतंत्रता से विभूषित कर देना जिसे यथार्थवादी चरम वास्तविकता का चिह्न बतलाता है। और यदि निर्भरता-रहितता अथवा स्वतंत्रता से अवास्तविकता का गठन होता है तो अनुभूति के लिए प्रस्तुति उसके साथ संयोजन अवश्य ही वे वस्तुएँ होंगी जिनसे वास्तविकता का गठन होता है।

लेकिन यथार्थवादी मत के सिद्धान्तों के लिए यह तर्कना चाहे जितनी घातक क्यों न हो हमें इस तरह के सामान्य खण्डन मात्र से संतुष्ट नहीं हो जाना होगा। हमें पता लगाने की कोशिश करनी होगी कि यथार्थवादी दृष्टिकोण में ऐसा कौनसा सत्य का अंश है जिसके कारण कुछ खास किस्म के मनों को वह सदा से ही सही लगता आया है। दर्शनशास्त्र में हम कभी भी किसी गलती या भ्रान्त धारणा से तब तक छुटकारा नहीं पा सकते जब तक यह न जान लें कि उसका उद्गम कैसे हुआ और यह कि उसमें सत्य का कितना अंश है।

(१) अनीश्वरवादी यथार्थवाद: आइये हम अनीश्वरवाद से ही शुरू करें क्योंकि उसके बारे में अब हमारे सामने कोई गहरी कठिनाई नहीं आनी चाहिए। अनीश्वरवादी यथार्थवाद, जैसाकि बताया जा चुका है, सिद्धान्ततः एक दुगुना आत्मविरोधी मत है, क्योंकि एक ही साँस में वह ऐसी असमाधेय घोषणाओं को जोड़ डालता है कि वस्तुओं की वास्तविकता अविज्ञेय होती है तथा यह कि वास्तविकता उसे ऐसा ही जानती भी है।[1] इसके अतिरिक्त जैसाकि हमने अभी बताया, वह ऐसे तथाकथित व्याध्यासों की

---

१. प्राचीन काल के संशयवादी आजकल के अनेक अनीश्वरवादियों की अपेक्षा इन व्याघातों के प्रति कहीं अधिक जागरूक थे और इस कठिनाई का निवारण वे यह कह कर किया करते थे कि वस्तुओं की अविज्ञेयता का समर्थन 'निरूपित नैश्चित्य के रूप में नहीं अपितु संभाव्य मत' के रूप में करते हैं। लेकिन इस तरह का विभेद स्वयं अतार्किक है, क्योंकि जब तक कोई प्रमेय निश्चित न हो तब तक किसी एक प्रमेय की अपेक्षा दूसरे को अधिक संभाव्य समझने के लिए कोई आधार ही नहीं होता। उदाहरणतः अगर मैं जानता हूँ कि किसी पाँसे के छः पहलू हों और उनमें से हर दो पहलुओं पर एक पहलू पर पाँच गुटके हों तो तर्कानुसार मैं कह सकता हूँ कि 'इस पाँसे से पंजे की अपेक्षा चौका अधिक बार फेंका जा सकता है।' लेकिन अगर मुझे एकदम निश्चय न हो कि विभिन्न पहलुओं पर बने गुटकों की संख्या क्या है तो मैं एक दाँव या प्रक्षेप की अपेक्षा दूसरे दाँव को अधिक संभाव्य नहीं बता सकता।

रचना करता है जिसकी सत्ता अनुभूति में तथा उसके लिए ही होती है—ऐसी अनुभूति, जो उसका एकमात्र आधार यह प्रतिपादन करने के लिए है कि वह वस्तु जिसके विषय में हम केवल इतना ही बता सकते हैं कि वह समग्र अनुभूति से बाह्य है, समस्त संज्ञान का अतिक्रमण करती है। इन दोनों बातों को अच्छी तरह समझ लेने पर कहा जा सकता है कि अनीश्वरवाद के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त होने की बात को निरस्त कर दिया है।

किन्तु इतना सदोष होते हुए भी अनीश्वरवाद में सत्य का एक अंश भी मौजूद है जिसे तत्त्वमीमांसक अक्सर भूल जाया करता है। चूँकि तत्त्वमीमांसक की वास्तविकता के विषय में अंतिम और निश्चित कुछ बात जानने की विशेष अभिरुचि हुआ करती है अत: अन्य सब लोगों की अपेक्षा अपने निश्चयात्मक ज्ञान की इयत्ता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश करने की प्रवृत्ति रहा करती है। यह याद दिलाना ठीक होगा कि जिस निश्चयात्मकतापूर्वक हम कह सके कि वास्तविकता अनुभूति है उतनी ही अनुभूति विषयक अत्यन्त अपूर्ण और सीमित तथा सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि के साथ संगत बैठती है। वास्तविक जीवन का यह अत्यन्त सुपरिचित तथ्य है। सामान्य बोधगम्य साहित्य में इस बात का जगह-जगह उल्लेख पाया जाता है कि अपने दिल की बात हम ही कभी नहीं जान पाते और यह कि ऋषियों का सबसे कठिन कर्त्तव्य है अपने आपको जानना आदि यानी ऐसी शिकायतें जिनका एक ही अभिप्राय होता है यह बताना कि हमारे अपने अभिप्रायों और प्रयोजनों की हमारी अपनी सीमित प्रत्यक्ष अनुभूति उस वस्तु से बहुत आगे अतिक्रान्त हो जाती है—जिसे हम किसी भी क्षण विमर्शात्मक ज्ञान की शक्ल में व्यक्त कर सकते हैं। लेकिन जब हम तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत चरम वास्तविकता के स्वरूप पर विचार करने लगते हैं तब इसे भूल जाना आसान होता है और यह कल्पना आसानी से कर ली जाती है कि जितने निश्चयपूर्वक हम कह सके कि अन्तिमत्थ वास्तव एक अनुभूति है उतनी ही तर्कसंगत उस अनुभूति के स्वभाव, विशिष्ट स्वभाव, के विषय में हमारी कट्टरवादिता भी होगी। वास्तविकता के स्वरूप के बारे में हमारे सैद्धान्तिक ज्ञान की इयत्ता के इस प्रकार के बढ़े-चढ़े अनुमान के विरोध का कारण अनीश्वरवाद में असली और महत्त्वपूर्ण सत्य का एक अंकुर मौजूद है जिसका उद्गम, हमारी अनुभूति के केवल बौद्धिक पक्ष पर दिए जाने वाले अनुचित बल के विरुद्ध हुई प्रकनिमोध प्रतिक्रिया से है। तत्त्वमीमांसापरक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों को अभिभूत करने वाली इस कमजोरी के बारे में शिकायत करने का यह आधार हम पहले ही जान चुके हैं और उसे अधिक अच्छी तरह जानने के अवसर हमें आगे भी मिलेंगे।

(२) कट्टरतापरक यथार्थवाद अर्थात् स्वीकृत रूप से ज्ञेय स्वतंत्र 'वास्तवों' का यथार्थवाद, बहुत अधिक कार्य योग्य सिद्धान्त है। अपने तथाकथित 'प्रकृत-यथार्थ-

वाद' नामक रूप में जिसके मतानुसार अनुभूत वस्तुओं के इस संसार का अस्तित्व अपने समग्र प्रेक्षित गुणों सहित, किसी अनुभवकर्त्ता के साथ सम्बद्ध रहे बिना स्वतंत्र रूप से ठीक उसी शक्ल में जिसमें हम उसे अनुभव करते हैं—मौजूद रहा करता माना गया है, वह अदार्शनिक 'सामान्य बुद्धि,' लोगों के सामान्य विचारों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करता है। 'सामान्य बुद्धि' को इससे बढ़कर और कुछ इतना स्पष्ट नहीं दीखता कि अपने प्रेक्षण द्वारा मैं अभाव से किसी वस्तु का भाव उत्पन्न नहीं कर सकता न उसमें ऐसे गुणों का जो पहले से उसमें न थे अध्याहार ही कर सकता हूँ। अतः वह वस्तु पहले से ही वर्तमान है और पहले से ही उसकी प्रकृति अमुक प्रकार की है अतः मैं 'सामान्य बुद्धि' पुरुष उसे इसीलिए उस रूप में तथा उन गुणों सहित उसे ऐसा देखता हूँ। इसलिए प्रेक्षित वस्तुओं के उस संसार का भी उसी शक्ल में जिसमें उन वस्तुओं का प्रत्यक्षण किया गया, स्वतंत्र अस्तित्व होना, और मेरे तत्संबंधी प्रेक्षण की शर्त के रूप में, आवश्यक है।

'प्रकृत यथार्थवाद' के उपर्युक्त मत पर जब दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में विचार किया जाता है तब आमतौर पर उसका चोला कुछ बदल जाता है। भ्रान्ति अथवा माया के तथ्य तथा व्यष्ट प्रेक्षकों[1] के परीक्षणों द्वारा निर्धारित आत्मनिष्ठ भिन्नताएँ या एक ही प्रेक्षक की विविध दशाओं के कारण उत्पन्न वैविध्य आदि ऐसे कारक हैं जिनसे वैज्ञानिकताभिमानी यथार्थवादी के लिए यह प्रतिपादन करना कठिन हो जाता है कि अनुभूतिगत वस्तुओं की सभी प्रेक्षित विशिष्टियाँ अनुभूतिकर्त्ता से एक समान स्वतंत्र होती हैं। विमर्श आमतौर पर दैनन्दिन जीवन के 'प्रकृत यथार्थवाद' की जगह 'वैज्ञानिक यथार्थवाद' के एक ऐसे सिद्धान्त को ला देता है जिसके अनुसार अस्तित्व तथा अनुभूतिगत जगत के कुछ ज्ञात गुणधर्म तो अनुभूतिकर्त्ता से स्वतंत्र माने जाते हैं जबकि अन्य गुणधर्मों को ऐसे गौण प्रभाव मात्र माना जाता है जिनका उद्गम कर्त्ता की चेतना पर हुई स्वतंत्र वास्तविकता की क्रिया द्वारा होता है। वैज्ञानिक यथार्थवाद के विविध प्रकारों के उन पारस्परिक विभेदों से जो प्रेक्षककर्त्ता से स्वतंत्र वस्तुओं के कथित विशिष्ट गुण-धर्मों पर आधारित हैं, इस समय हमारा कोई सरोकार[2] नहीं है।

---

१. उदाहरण के लिए व्यक्ति की वैयक्तिक विचित्रताएँ या विशेषताएँ—जैसे रंगों का स्पेक्ट्रम या वर्ण-क्रम, संपूर्ण अथवा आंशिक वर्णान्धता, सांगीतिक स्वर तारत्व के प्रति संवेदनशील शक्ति का उतार-चढ़ाव आदि-आदि।

२. इस सिद्धान्त के सबसे अधिक ज्ञात तथा सबसे अधिक जनप्रिय रूप लॉक का मत तथा हमारे प्रचलित विज्ञान का अधिकांश भाग हैं। दोनों ही के अनुसार द्रव्य के 'मूलभूत गुण' यानी वे गुण जिन्हें भौतिक विज्ञानों में मूलाधार रूप

निस्संदेह इतना तो स्पष्ट ही है कि अनुभूति के बिना किसी वास्तविकता के अस्तित्व के रह सकने के विरुद्ध हमारी सामान्य तर्कना 'प्रकृत' यथार्थवाद के तथा उसी की अधिक विमर्श-प्रधान उपशाखा 'वैज्ञानिक' यथार्थवाद के भी विरुद्ध उतनी ही जोरदार है जितनी कि अनीश्वरवाद के । लेकिन इस प्रकार के यथार्थवादी विचारों के आभासी औचित्य तथा विस्तृत विसरण के कारण हमें यह दिखा कर कि यथार्थवाद का सत्य वास्तव में क्या है तथा वह सत्य वास्तव में क्या है तथा वह सत्य कहाँ मार्ग भ्रष्ट होकर तर्कभास में परिणत हो जाता है—अपनी तर्कना को और भी जोरदार बनाना आवश्यक हो जाता है । और ऐसा कर सकने में कोई विशेष कठिनाई भी नहीं है। यथार्थवाद में पाये जाने वाले सत्य के प्रमुख तत्त्व दो हैं: (१) यह निश्चित है कि मेरी अनुभूति के प्रभेद्य पहलू के रूप में चेतनतापूर्वक प्रस्तुत हुए बिना भी कोई वस्तु वास्तव या वास्तविक हो सकती है। वस्तुओं का अस्तित्व तभी से प्रारंभ नहीं हुआ करता जब से मैं उनके प्रति जागरूक होना शुरू करता हूँ न ही उनका भाव या अस्तित्व त्योंही समाप्त हो जाता है ज्यों ही मैं उनके प्रति जागरूक रहना बंद कर देता हूँ। साथ ही साथ यह तथ्य भी कि मैं गलातयाँ करता रहता हूँ और मुझ में भ्रम भी संभाव्य होते हैं —सिद्ध करता है कि वस्तुओं के गुण, आवश्यक रूप से उस रूप में वास्तविक नहीं जिस रूप में मैं उन्हें ग्रहण करता हूँ ।(२) इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि चूँकि मैं अपने ही संवेदनों तथा प्रयोजनों को पूर्णरूप से नहीं समझ पाता इसलिए हो सकता है कि कोई वस्तु मेरे अनुभूतिकर्त्ता रूप में मेरे जीवन का ऐसा अविकल अंग बन जाय जिसे अपनी अनुभूति की अन्तर्वस्तुओं पर विचार करते समय मैं उसे स्पष्टतः और चेतनतापूर्वक उस रूप में पहचान न सकूँ ।

लेकिन उपर्युक्त दोनों बातों से ठीक-ठीक कहाँ तक सिद्ध होता है ? केवल इतना ही तो पहला विचार-बिन्दु सिद्ध कर पाता है जैसा कि हम पहले भी जोर देकर कह चुके हैं कि वास्तविकता का गठन मेरी अनुभूति द्वारा नहीं होता, दूसरे विचार-बिन्दुओं से भी इतना ही सिद्ध होता है, जैसा कि हम पहले ही बार-बार देख चुके हैं कि अनुभूति केवल संज्ञानात्मिका नहीं हुआ करती । लेकिन इन दोनों विचार-बिन्दुओं को स्वीकार कर लेने के बाद भी यथार्थवादी द्वारा इन दोनों बातों से निकाले गये

समझा जाता है, स्वतंत्र रूप से 'वास्तव' हैं, जबकि शेष गुण ऐसे प्रभाव मात्र हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर हुई उनकी क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं । चूँकि लीबिनिट्ज तथा हर्बर्ट जैसे यथार्थवादियों के कहीं अधिक सूक्ष्मान्वेषी तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त अविमर्शक सामान्य प्रज्ञावानों के प्रकृत यथार्थवाद से कहीं अधिक भिन्न होने के कारण कभी भी उसकी तरह ही प्रचलित नहीं हो पाये ।

इस निष्कर्ष के कि वास्तविक अस्तित्व समग्र अनुभूति से स्वतंत्र होते हैं—एक कदम और अधिक पास भी नहीं पहुँच पाते । चूँकि यह सिद्ध करना आसान है कि किसी वस्तु की वास्तविकता किसी भी निश्चित एक प्रेक्षक द्वारा अथवा निश्चित प्रेक्षकों के योग द्वारा स्पष्ट रूप से मान्य होने पर ही निर्भर नहीं हुआ करती और यह कि किन्हीं भी निश्चित प्रेक्षकों की किसी भी अनुभूति में उससे कहीं अधिक और कुछ भी मौजूद रहता जितना उन प्रेक्षकों को मालूम रहता है । इसलिये यथार्थवादी समझता है कि वह यह अवतारण आसानी से कर सकता है कि ऐसी वास्तविकताएँ हैं जो किसी अनुभूति के अन्तर्गत हुए बिना भी वास्तविक बनी रह सकेंगी । लेकिन इस अवतारण के आधार वाक्यों और उनसे निकाले गये निष्कर्ष के बीच किसी प्रकार का भी कोई मेल या संयोजन नहीं है ।

यह बात दो-एक उदाहरणों से और भी स्पष्ट हो जायगी । शुरू करने के लिए आइए अपने साथी मानवजीवों के मानसिक जीवन को ही ले लिया जाय । और तत्संबद्ध विषय को यथार्थवादियों के निष्कर्ष के अत्यधिक पृष्ठपोषक प्रतीत होने वाले रूप में प्रस्तुत करने के लिए आइये कल्पना की जाय कि कोई अलेक्जैण्डर सिल्कर्क नामक व्यक्ति सागर मध्यस्थित किसी अनुपजाऊ पहाड़ी पर बेबस रुका पड़ा है । हमारे इस सिल्कर्क की आशाएँ और आशंकाएँ उसी प्रकार और उसी माने में एकदम मेरे ज्ञान के अधीन नहीं हैं, मेरे ज्ञान से उसी प्रकार पूर्ण स्वतंत्र हैं जिस प्रकार और जिस माने में उस पहाड़ी चट्टान का अस्तित्व और बनावट मेरे ज्ञान के बाहर की बात है, जिस पर सिल्कर्क बैठा है । मैं तथा इस पृथ्वी के अन्य सब निवासी भी सिल्कर्क के अस्तित्व से तथा उसके विचारों से उतने ही अनभिज्ञ हो सकते हैं जितने कि हम सब उसकी अधिष्ठित चट्टान के अस्तित्व तथा उसके भूगर्भीय गठन से बेखबर हैं । इसके अतिरिक्त अपने आभ्यन्तरिक जीवन के जितने भी अंश का संज्ञान सिल्कर्क स्पष्ट रूप से ग्रहण करता है वह समग्र जीवन का अनुपाततः उतना ही कम अंश हो सकता है जितना कि चट्टान का सिल्कर्क द्वारा अधिष्ठित भाग पूरी चट्टान का अंश है तथा चट्टान के जिस अंश के गुणों का संज्ञान वह प्राप्त कर सका है वह समग्र चट्टान के समग्र गुणों या प्रकृति का भी उतना ही अंश है । लेकिन इस सबसे यह प्रकट नहीं होता कि सिल्कर्क की आशाएँ-निराशाएँ तथा उसका शेष मानसिक जीवन अनुभूति नहीं है तथा उनकी वास्तविकता अनुभूति-बाह्य अतः स्वतंत्र है । ऐसी आशाएँ और आशंकाएँ, जो अनुभूति नहीं मानसिक तथ्य पदार्थ या द्रव्य नहीं, वास्तव में निर्धारित अभिधाओं के पारस्परिक व्याघात का उदाहरण होंगी । और इस तर्कना द्वारा सिल्कर्क के मानसिक जीवन के विषय में जो कुछ सिद्ध नहीं किया जा सका, उसी कारण से सिल्कर्क की चट्टान के विषय में भी वह सिद्ध नहीं होता ।

एक साथी मानव के मानसजीवन के इस उदाहरण को पीछे छोड़कर आइए अप्रेक्षित भौतिक वास्तविकता का एक मामला हाथ में लें। अभी हाल ही के एक यथार्थ-वादी दार्शनिक श्री एल० टी० हाब्हाउस ने स्वतंत्र भौतिक वास्तविकता का एक उदाहरण सामने रखा है जो किसी सुरंग से तत्क्षण बाहर आती हुई एक रेलवे ट्रेन का है। वह कहता है कि मैं ट्रेन को तब तक नहीं देखता जब तक वह सुरंग से बाहर नहीं आ जाती लेकिन ट्रेन तो सुरंग में मौजूद ही है और उतनी ही वास्तविक भी तब थी, जब सुरंग के भीतर थी। इसलिए उसकी वास्तविकता प्रेक्षण की क्रिया से स्वतंत्र है। हम उसे न देखें तब भी उसकी स्वतंत्र सत्ता रहती है। लेकिन तर्कना की पहली शर्त है कि ट्रेन बिलकुल खाली हो और वह भगोड़ी ट्रेन भी हो जिसमें न ड्राइवर हो, न गार्ड और न मुसाफिर क्योंकि तर्कारंभ के आधार ही यह रखे गये हैं। फिर दूसरी जवाबी बात यह कही जा सकती है कि ऐसी एकदम खाली और भगोड़ी ट्रेन को किसी ने कहीं से चालू करके रवाना तो किया ही होगा। साथ ही साथ हमारी रेलवे यातायात व्यवस्था में व्यक्त प्रयोजनों और हितों की साधारण योजना के साथ उसका कोई न कोई सम्बन्ध होना जरूरी है और प्रयोजनार्थ तथा हितों की इस योजना के साथ का यह सम्बन्ध ही इस भगोड़ी ट्रेन को वास्तविकता प्रदान करता है। वह किसी विदग्धदार्शनिक की कल्पना-प्रसूत कल्पितार्थ मात्र नहीं रहती। अगर हाब्हाउस की तर्कना सुरंग स्थित ट्रेन की स्वतंत्र सत्ता या वास्तविकता सिद्ध कर सकती है, तो उससे एकान्त चट्टान पर बैठे सिल्कर्क की आशा और निराशा के और निराशा से आशा के बीच की दोलायमान स्थिति की स्वतंत्र सत्ता भी सिद्ध होती है, और ठीक इसलिए कि इस तर्कना से दोनों ही निष्कर्ष समान रूप से सिद्ध होते हैं। अतः जिस प्रकार की स्वतंत्रता की स्थापना उसके द्वारा होती है वह अनुभूति की स्वतंत्रता नहीं हो सकती। यथार्थवादियों की सारी तर्कनाओं के समान यह तर्कना भी अनुभूति के संज्ञानात्मक पक्ष को ही अनुभूति का तादात्म्य मान लेने के कारण ही इस प्रकार का चक्कर पैदा हो जाता है। इस प्रकार के तादात्म्य की ध्वनि स्वयं आदर्शवादियों की बातों से भी निकलती है।[1]

---

१. तुलना कीजिए, वार्ड की पुस्तक, 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसीज्म' भाग २ पृष्ठ १७८ तथा रॉयस की पुस्तक 'वर्ल्ड एण्ड इण्डिविजुअल,' फर्स्ट सीरीज, ले० ३। प्रो० रॉयस का यथार्थवाद विषयक विवेचन रोचक और ध्वन्यात्मक होते हुए भी प्रतिपक्षी के प्रति संक्षिप्त और आसान तरीका अख्तियार करने के कारण विश्वासोत्पादक नहीं है। श्री हाब्हाउस की आदर्शवाद विरोधिनी तर्कना (थियरी ऑफ नौलेज, ५१७–५३९) मुझे तो अगले अनुच्छेद में चर्चित व्यक्ति-'निष्ठावाद' मात्र के विरुद्ध ही रुक सकने वाली लगती है। किन्तु अच्छा हो यदि पाठक उसकी स्वयं अच्छी तरह परीक्षा कर लें।

८—यथार्थवाद की लगातार बनी रहने वाली जीवनी शक्ति का रहस्य, उस विरोधी मत के तर्काभासों के विरुद्ध उसकी अभ्यापत्ति में निहित है—जिसे अभी हाल में प्रकृतिविज्ञान के कुछ विशिष्ट विद्यार्थियों का विशेष पृष्ठपोषण प्राप्त हुआ है। व्यक्तिनिष्ठावाद नाम से उसे अभिहित किया जा सकता है।[1] जैसा कि हम देख चुके हैं, यथार्थवाद इस सत्य तर्काधार को लेकर ही चला था कि ऐसे वास्तविक तथ्य मौजूद हैं, जिनके प्रति मेरी अनुभूति मुझे विशेष रूप से जागरूक नहीं बनाती। और यह कि मेरी अपनी ही अनुभूति विषयक मेरा संज्ञान अपूर्ण होता है। लेकिन इसके बाद तर्कना द्वारा वह इस झूठे निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि इसी कारण ऐसी वास्तविकताएँ भी हैं जो सभी प्रकार की अनुभूति से स्वतंत्र होती हैं। व्यक्तिनिष्ठावाद की तर्कना इससे उल्टी है। वह सत्य ही प्रतिपादन करता है कि अनुभूति बाह्य वास्तविकता होती ही नहीं, किन्तु इस असत्य निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मैं अपनी संज्ञानात्मक स्थितियों के अतिरिक्त अन्य किन्हीं वास्तविकताओं के बारे में जान ही नहीं सकता। उसके प्रिय प्रमेय सूत्र इस तरह के वाक्य हुआ करते हैं, 'हम जो कुछ जान पाते हैं, वे स्वयं हमारे ही प्रेक्षण होते हैं।' 'हम केवल अपनी चेतना के रूपान्तरणों को ही जान पाते हैं।' चेतना की दशाओं के अतिरिक्त अन्य किसी का भी अस्तित्व नहीं होता। इन सूत्रों में स्पष्टतः कोई भी अर्थ-सादृश्य नहीं है। लेकिन तो भी व्यक्तिनिष्ठावाद के हिमायती उनमें किसी तरह का संज्ञप्रभेद किये बिना ही इन सूत्रों का प्रयोग किया करते हैं। अतः इस सिद्धान्त

---

१. इसे उदयनीयतावाद अथवा प्रेजेण्टेशनलिज्म नाम से यदि पुकारें तो अनुचित न होगा लेकिन यह तभी उचित होगा जब यह नाम मनोविज्ञान के कुछ सिद्धान्तों के विभेद के लिए भिन्नार्थ वाचक के रूप में पहले ही से निर्धारित न कर लिया गया हो। अंग्रेजी जानने वाले पाठकों को व्यक्तिनिष्ठावाद का एक संविलयित (भ्रान्ति भरा) किन्तु उपलक्षक निर्वचन प्रोफेसर कार्ल पीयर्सन की पुस्तक 'ग्रामर ऑफ साइंस' के प्रारंभिक अध्यायों में मिलेगा। व्यक्तिनिष्ठावादी लेखक अपने आपको 'आदर्शवादी' कहते हैं और अपने आपको बर्कले तथा ह्यूम का शिष्य समझा करते हैं। मान भी लिया जाय कि बर्कले व्यक्तिनिष्ठावादी था भी तो सिर्फ भौतिक जगत् के मामले में। लेकिन ह्यूम के निष्कर्ष तो विशुद्ध संशयवादी ही हैं। प्रोफेसर पीयर्सन के ग्रन्थ के पाठकों को ध्यान-पूर्वक नोट कर लेना होगा कि भौतिक विज्ञान के 'वर्णनात्मक' सिद्धान्त का कोई विशेष संबंध व्यक्तिनिष्ठावाद से नहीं है और यह कि उस सिद्धान्त के मानने वाले दार्शनिक प्रो० वार्ड तथा रॉयस जैसे व्यक्ति हैं, जो व्यक्तिनिष्ठावादी नहीं हैं।

के साथ अन्याय न होगा, यदि हम उसकी आलोचना इस पूर्व ग्रहण को मानकर करें कि ये सूत्र एकार्थ वाचक माने जाने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्तों के तर्क सम्बन्धी परिणाम उन सब क्रियात्मक पूर्वानुमानों के लिए, जिन पर दैनिक जीवन आधारित है, इतने विध्वंसकारी हैं कि उन्हें स्वीकार करने से पहले हमें उनकी सत्यता का दृढ़तम प्रमाण पा लेना जरूरी है। यदि व्यक्तिनिष्ठावाद साध्य सिद्ध हो जाय तो उसका तात्कालिक परिणाम यह होगा कि न केवल स्वर्ग का समवेत संगीत और भूमि का यह सब श्रृंगार 'अपितु यह समग्र मानवता, जहाँ तक उसके अस्तित्व का मुझे पता है—मेरी चेतना' के व्यक्तिनिष्ठ भाव मात्र होंगे अथवा जैसा कि विज्ञानपरक व्यक्तिनिष्ठावादी किन्हीं अस्पष्ट कारणवश, प्रायः कहना अधिक पसन्द करता है—'मेरे मस्तिष्क के व्यक्तिनिष्ठ भावमात्र'। ऐसी प्रत्येक तर्कना जो व्यक्तिनिष्ठावादी यह दिखाने के लिए प्रस्तुत कर सकता है कि 'वस्तुएँ कम से कम मेरे लिए तो, मेरी अपनी चेतना की रूपान्तरण मात्र होती हैं'—मेरे साथी मानवों के मामले में भी उतनी ही जोरदार साबित होती हैं जितनी कि निरिन्द्रिय जगत् के मामले में। व्यक्तिनिष्ठावादी के तर्काधारों से जो तर्कानुमोदित निष्कर्ष निकालता है तथा जिसे वह मुश्किल से, या बिलकुल ही नहीं, निकालने को तैयार होता, यही होगा कि हवाई कल्पना-मूर्तियों की इस दुनिया में—जहाँ इन कल्पना-मूर्तियों में से एक भी मूर्ति निश्चयपूर्वक किसी वास्तविक वस्तु की प्रतिरूप कही जा सकती है—वह स्वयं ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है। उलट कर यदि कहा जाय तो मेरे साथी मानवों की सत्ता को मेरी अपनी चेतना की दशा मात्र से अधिक और कुछ मानने का कोई भी वैध आधार, दैहिक जीवन की अनुभूतियों के कारण सुपरिचित शेष वस्तु[1] जगत् की वास्तविकता को भी उसी माने में स्वीकार कर लेने का भी एक आधार होगा। क्योंकि यदि क्रियात्मक जीवन की इस दुनिया को गठित करने वाली वस्तुओं में से किसी एक की भी वास्तविकता ऐसी है, जो मेरी विशिष्ट अनुभूति के लिए अपनी प्रस्तुति पर निर्भर नहीं होती, तो यह मान लेने के लिए

---

१. भौतिक जगत् के वस्तुनिष्ठ अस्तित्व के एकमात्र प्रमाण के रूप में मेरे साथी मानवों के विषय में देखिए रॉयस की 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' में 'नेचर कांशेसनेस एण्ड सेल्फ कांशेसनस' नामक निबंध तथा इस पुस्तक के लेखक का अक्तूबर नेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स में प्रकाशित लेख 'माइण्ड ऐण्ड नेचर'। इस में मैंने, शायद, उन लचर दलीलों को, जिनके द्वारा व्यक्तिनिष्ठावादी अपने दृष्टिकोण के अनुसार अन्य मानव सत्ताओं के अस्तित्व में विश्वास करने की बात को तर्कसंगत ठहराने की कोशिश करते हैं, अच्छी तरह लेकर सिद्ध किया है।

भी कि हर एक ऐसी अन्य वस्तु की भी वैसी ही वास्तविकता है वह कारण ही तब तक रहेगा जब तक कि उस प्रेक्षण को, जिसके लिए वह वस्तु प्रस्तुत हुई है, एक निर्मूल भ्रम मात्र समझ लेने के कोई विशेष कारण न हों ।

लेकिन व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्त को संक्षेपतः इस प्रकार से चलता कर देना ठीक नहीं। हमें उसकी विस्तृत परीक्षा करना चाहिए इसलिए आवश्यक है जिससे हम अच्छी तरह जान सकें कि तर्काभास का प्रवेश उसमें कहाँ से होता है और वह कैसे उठ खड़ा होता तथा गम्भीर दार्शनिक के तीन विचार-बिन्दु निम्नलिखित हैं—

(अ) व्यक्तिनिष्ठावाद की पक्षपोषक चालू तर्कनाएँ प्रायः इस तरीके से पेश की जाती हैं जिससे दो स्पष्टतः भिन्न स्थितियों में गड़बड़ पैदा हो जाय। जब कहा जाता है कि हम जो कुछ देखते हैं वे 'हमारी अपनी व्यक्तिनिष्ठ स्थितियाँ होती हैं', तो इस कथन के अभिप्रेतार्थ या तो यह हो सकता है कि मेरी "चेतनात्मक स्थितियों" के अतिरिक्त इस विषय में, जहाँ तक मैं मालूम कर सकता हूँ, कम से कम वहाँ तक तो, अन्य कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, अथवा यह कि—इस तरह की वास्तविकताएँ हैं जरूर लेकिन उनके जिन गुण-धर्मों का प्रेक्षण मैं करता हूँ, व स्वभावतः उनके अपने गुण-धर्म नहीं हैं अपितु वे मेरी चेतना पर हुई उनकी क्रिया द्वारा प्रस्तुत वस्तुनिष्ठ प्रभावमात्र हैं, अथवा यदि आपको शरीरशास्त्रीय भाषा में कहना ज्यादा पसन्द हो तो आप मेरी चेतना पर हुए प्रभाव की जगह, मेरे तांत्रिक तंत्र पर प्रभाव कह सकते हैं। व्यक्तिनिष्ठावादी द्वारा साधारणतः प्रयुक्त अनेक तर्कनाएँ ज्यादा से ज्यादा उस दूसरे निष्कर्ष को ही प्रमाणित कर पाती हैं, जिसके विषय में व्यक्तिनिष्ठावादी विज्ञानपरक यथार्थवादी से अधिकांश में सहमत हैं। अतः इस तरह की दलील पेश करना मानो निर्मूल भ्रम संबंधी तथ्य, माया, विभिन्न प्रेक्षकों द्वारा प्रस्तुत विवरणों के वैभिन्न्य एक ही प्रेक्षक की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत विवरणों के वैभिन्न्य से व्यक्तिनिष्ठावाद के मत को बल मिलता हो, विषयान्तर तर्काभास अथवा 'इग्नोरेंशिया एलेन्शाई' ही है। व्यक्तिनिष्ठावादियों की तरह ही विज्ञानपरक यथार्थवादियों द्वारा भी दुहाई के विषय बनाय गये। इन तथ्यों से जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इससे ज्यादा और कुछ साबित नहीं होता कि हम वस्तु जगत् को सदा उसी रूप में नहीं देख पाते जैसा कि वह है अथवा जैसा कि उसे अवश्य ही तब होना चाहिए जब हम उसके विषय में सत्य विचार करें यानी दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि त्रुटि नामक वस्तु भी कोई है।

जैसा कि ग्रीक अथवा यूनानी दर्शन के विद्यार्थी को पहले ही से मालूम है— यह समस्या कि 'हमारे लिए असत्य रूप से विचार करना अथवा असत्य प्रेक्षण क्यों कर. संभव होता है?' महत्त्वपूर्ण और कठिन दोनों ही है। लेकिन त्रुटि के अस्तित्व से किसी

यह बातें इसलिए मामूली अन्तर्ग्रस्त हैं कि जब मैं कोई पन्ना (पृष्ठ) पढ़ता हूँ तो लेखक के अभिप्राय को समझ सकना मेरे लिए साधारणतः संभव होता है। यह बात इस तथ्य में भी उतनी ही अन्तर्ग्रस्त है कि मैं किसी भी सामान्य ऐतिहासिक तथ्य वस्तु की सच्चाई जान सकता हूँ। जैसे कि लन्दन के महान् अग्निकाण्ड की तिथि। लेकिन न तो लन्दन के महान् अग्निकाण्ड की 'तिथि' न मेरे पत्र लेखक के वाक्यों का अर्थ ही 'मेरी चेतना की दशा अथवा स्थिति" इन शब्दों के बोधगम्य आशय के अनुसार है, तथापि दोनों ही उदाहरण उन तथ्यों की किस्मों के उपलक्षक नमूने हैं—जिनसे मिलकर हमारे दैनिक जीवन की दुनिया का समग्र ज्ञान गठित होता है। और जो बात दूसरों के कार्यों और प्रयोजनों से सम्बद्ध तथ्यों के विषय में सही है, वही मेरे अपने कार्यों और प्रयोजनों के विषय में भी समान रूप से सही है। जिन तथ्यों से मेरा जीवन गठित हुआ है, वे भाषा के साथ बलात्कार किये बिना किसी प्रकार भी, मेरी अपनी चेतना की दशाओं में परिणत नहीं किये जा सकते। उदाहरण के तौर पर शायद मैं जानता होऊँ कि मेरी प्रकृति अथवा तबीयत एक खास किस्म की है यानी स्वभावतः मैं चिड़चिड़ा हूँ अथवा भावुक प्रकृति का हूँ। लेकिन अपने बारे में इन सत्यों का जानना यद्यपि एक तरह से मेरी चेतना की एक दशा भले ही कही जा सके, तथापि इन सत्यों को 'मेरी चेतना की दशा' तर्कशास्त्रानुसार मध्यपद सम्बन्धी अनेकार्थक दोषी हेत्वाभास का आश्रय लिए बिना किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता।

(२) यह बात व्यक्तिनिष्ठावादियों द्वारा साध्यमान मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर विचार करने से और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी। वस्तुनिष्ठावादी जब यह कहता है कि प्रेक्षण में मैं सिर्फ अपनी चेतना की दशाओं से अथवा उसके वस्तुनिष्ठ रूपान्तरणों से ही अवगत हुआ करता हूँ तब उसका आशय यह होता है कि प्रेक्षण की प्रत्येक दशा या स्थिति जिस लक्ष्य से अवगत होती है वह लक्ष्य ही स्वयं एक प्रेक्षण की एक दशा, रूप होता है। प्रेक्षण स्वयं अपना ही प्रेक्षण किया करता है और कुछ नहीं। उदाहरण के लिए, जब मैं कहता हूँ कि मैं लाल देखता हूँ तो जिससे मैं वास्तव में अवगत हुआ हूँ वह है लाल देखने की दशा। जब मैं कहता हूँ कि मैं एक शोर सुनता हूँ तो जिससे मैं अवगत होता हूँ वह यह है कि मैं शोर सुनने की दशा में हूँ और यही तर्कना दुनिया भर की बातों पर भी लागू होती है। लेकिन यह बात सत्य तो क्या सत्य से इतनी दूर है कि वह एकदम और प्रामाणिक रूप से झूठी है। वास्तव में हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसी एक वस्तु, जिससे अन्तः प्रेक्षक मनोवैज्ञानिक के अतिरिक्त अन्य कोई भी कभी अवगत नहीं होता, प्रेक्षण कार्यगत स्वयं अपनी प्रेक्षण की स्थिति ही है। और यह कि ऐसे मनोवैज्ञानिक के मामले में भी, जो जानबूझ कर स्वयं अपनी स्थितियों या दशाओं के अध्ययन का व्रत लेता है, कोई भी प्रेक्षण की दशा कभी भी अपना प्रश्न नहीं

किया करती। जब मैं किसी लाल धरातल को देखता हूँ तब जिससे मैं अवगत होता हूँ वह 'लाल देखता हुआ मैं अपने आप' से नहीं अपितु लाल रंग की झलक ही होती है। जब मैं किसी आदमी को देखता हूँ तो मैं आदमी देखते हुए अपने आप से अवगत नहीं होता बल्कि मैं उस अन्य व्यक्ति को ही देख रहा होता हूँ। इसी प्रकार मैं जब किसी विशेष प्रकार से कार्य करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करता हूँ अथवा यह जान लेता हूँ कि मैं एक विशेष मनोदशा में हूँ तो मैं जिस वस्तु से अवगत हुआ होता हूँ वह 'प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए मैं स्वयं' अथवा 'उस मनोदशाग्रस्त मैं स्वयं' नहीं होती बल्कि वह प्रतिज्ञा और वह मनोदशा ही वह वस्तु होती है। अन्तर्दर्शी मनोविज्ञानी के रूप में भी, जब मैं निश्चयों की निर्मित अथवा भावनात्मक मनोदिशाओं की विशिष्टियों का अध्ययन अपनी अनुभूति पर पड़े प्रतिबिम्ब द्वारा करने बैठता हूँ, तब निश्चय के निर्माण की वह दशा अथवा आवेगी भाव का वह स्वरूप स्वयं उस सम्बद्ध निश्चय अथवा भाव के गृहीत या अनुभूत होने की दशा या स्थिति नहीं होती। हम कितना भी जोर देकर कहें फिर भी वह कम होगा कि यदि 'आत्मचेतना' शब्द से ऐसी कोई संज्ञानात्मिका स्थिति अभिप्रेत हो जो स्वयं अपना लक्ष्य हो तो इस तरह की कोई चीज नहीं होती और आत्म-चेतना जैसी वस्तु होना एक मनोवैज्ञानिक असंभाव्यता है। कोई भी संज्ञानात्मिका स्थिति स्वयं अपना ही लक्ष्य कभी नहीं हुआ करती। प्रत्येक संज्ञानात्मिका स्थिति का लक्ष्य अपने आप से अतिरिक्त अन्य कुछ भी हुआ करता है।[1]

अपनी व्यक्तिनिष्ठावादी स्थिति के बारे में जब मैं इस प्रकार की बात कह

---

१. आत्म ज्ञान, जो कि वास्तविक जीवन का एक तथ्य है, कुछ मनोविज्ञानशास्त्रियों की काल्पनिक आत्म-चेतना से भिन्न है। वह एक बिलकुल ही अलग चीज है और उसमें संज्ञान के दो स्पष्ट कार्य अन्तर्ग्रस्त होते हैं: (१) कुछ संज्ञानीय लक्ष्यों की अवगति और (२) उन लक्ष्यों का किसी प्रकार मेरे 'आत्म' को विशेषित करने वालों के रूप में, स्वीकार करना। और जिस आत्म को इस प्रकार विशेषित रूप में मैं स्वीकार करता हूँ वह फिर अनुभूति का अव्यवहृत-दत्त नहीं होता अपितु वह प्राक्काल्पनिक बुद्धिजात एक निर्मिति ही होता है जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे।

और भी एक बात कह देने का शायद यह भी उचित स्थल है। वह यह कि अगर हम मनोवैज्ञानिक शब्दावली के विषय में अधिक कठोरतापूर्वक सही रहना चाहते हैं तो हमें अपनी भाषा से चेतना तथा 'चेतना की दशाएँ' ये पद ही बहिष्कृत कर देने होंगे। जो कुछ अनुभूति के लिए प्रस्तुत या प्रदत्त होते हैं वे हैं एक से

रहा होता हूँ कि 'मैं बहुत ही क्रुद्ध हूँ' तब भी मेरे संवेदन के बारे में जानने की स्थिति उसी प्रकार संवेदन से भिन्न है जिस प्रकार कि मैं लाल देखता हूँ इस बात को जानने की दशा जिस लाल रंग को मैं देखता हूँ उससे भिन्न होती है। वस्तुनिष्ठावादी इस बारे में जो कुछ करता है वह इतना ही कि वह इन दोनों में गड़बड़ी पैदा करता है। चूँकि जानने की क्रिया स्वयं जानने वाले कर्त्ता की एक दशा होती है और चूँकि कुछ मामलों में इस ज्ञान का कुछ संबंध उसी कर्त्ता की किसी अन्य दशा से भी हो सकता है अतः वह यह अवतारणा करता है कि मैं किसी भी क्षण पर जो कुछ जान पाता हूँ वह जानने की क्रियान्तर्गत मेरी अपनी व्यक्तिनिष्ठीय स्थिति होती है, दूसरे शब्दों में अधिक तंत्रीय है। कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठावादी संज्ञानीय कार्य अथवा स्थिति उसके अपने लक्ष्य के साथ संविलयन कर रहा है। दोनों को गड़बड़ कर रहा है । इस तरह के संविलयन अथवा गड़बड़ से यदि वह इससे निकलने वाली अनुमितियों में तर्काश्रयी बना रहता है तो वह किन ऊटपटांग या अनर्गल नतीजों पर पहुँचेगा, यह हम पहले ही देख चुके हैं। अब हम देख सकते हैं कि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह संभ्रान्ति दुहरी है: (१) व्यक्तिनिष्ठावादी अनुभूति को प्रस्तुत अन्तःसार के प्रति अवगति मात्र के साथ संविलयित करता है। वह अनुभूति में लगातार वर्तमान चयनात्मक अवधान के सही निष्ठाकारक की उपस्थिति की उपेक्षा करता है इसीलिए वह भूल जाता है कि सभी अनुभूतियों में ऐसा तत्त्व अन्तर्हित रहता है जो अनुभूतिकर्त्ता मन में ही मौजूद रहता है। लेकिन उसके लिए प्रस्तुत नहीं किया जाता । (२) और अनुभूति के प्रस्तुत्यात्मक अथवा उपयानात्मक पक्ष तक ही अपने अवधान को केन्द्रित करके वह प्रस्तुत किये गये अन्तर्सार के साथ उसकी प्रस्तुति के तथ्य को संकरित कर देता है और इस द्वितीय संभ्रान्ति का निराकरण करने हेतु ज्ञान के एक सत्य सिद्धान्त के लिए जरूरी

सामान्य स्वभाव वाली कुछ संचेतक प्रक्रियाएँ। हम इस स्वभाव को विविक्त कर लेते और उसे 'चेतना' का नाम दे देते हैं । और तब इन मूर्त प्रक्रियाओं को इस विविक्ति की स्थितियों अथवा रूपान्तरणों का नाम देने की भारी गलती कर बैठते हैं ठीक उसी तरह जिस तरह हम भौतिक वस्तुओं के मामले में पहले उनके सामान्य गुण-धर्मों को पृथक् करके उन्हें 'द्रव्य' नाम से पुकारते । और उसके बाद उनके बारे में ऐसे बात करते हैं मानो वे वस्तुएँ ही स्वयं द्रव्य के रूप हों। सही तरीके से कहा जाय तो भौतिक वस्तुएँ भी हैं और मानस भी, लेकिन वास्तविक जगत् में द्रव्य तथा चेतना जैसी चीजें कहीं नहीं हैं और जहाँ तक बन पड़े इन शब्दों का प्रयोग न करना ही अच्छा है ।

हो जाता है कि वह प्रस्तुत अन्तःसार अथवा संज्ञानात्मिका स्थिति के लक्ष्य तथा अनुभूतिकर्ता पुरुष के इतिहास की एक प्रक्रिया रूप में परिलक्षित स्थिति के बीच विभेद करने की तीन बातों पर जोर दे: (१) संज्ञान की दशा स्वयं अपना लक्ष्य कभी नहीं होती वह किसी ऐसे लक्ष्य का या तो निर्देश करती है या उसका संज्ञान प्राप्त करती है जो भौतिक घटना के रूप में उसके अपने अस्तित्व से बिलकुल विलग होता है। यह वह सत्य है जिसे तोड़-मरोड़ कर यथार्थवाद अपने इस मंतव्य के रूप में प्रस्तुत करता है कि ज्ञान के लक्ष्य की वास्तविकता अनुभूति से स्वतंत्र होना आवश्यक है। (२) ज्ञान का लक्ष्य कभी भी ऐसी मानसिक स्थिति के घटन के कारण सृष्ट नहीं हुआ करता, जिसमें कोई विशिष्ट प्रेक्षक उसके अस्तित्व से अवगत हो उठता हो। यह बात केवल विचारात्मक लक्ष्यों के विषय में उतनी ही लागू होती है जितनी कि मौलिक वस्तुओं के विषय में। स्वाभाविक लघुगुणकों के तथा त्रिकोणमिति के वृत्तीय फलनों के गुण-धर्म मेरे बहिर्विषयक ज्ञान से उतने ही स्वतंत्र हैं जितने कि उन वृक्षों और जीवों के गुण, जिन्हें यदि मैं अपनी लिखने की मेज से जरा मुड़कर खिड़की के बाहर झाँक कर देखना चाहूँ तो देख सकता हूँ। (३) ज्ञान के लक्ष्य का हमेशा कोई न कोई स्वरूप हुआ करता है जिसका एक खंड मात्र ही मेरे प्रेक्षण अथवा विमर्श के लिए, किसी संज्ञानात्मिका स्थिति में प्रस्तुत हुआ करता है। प्रत्येक संज्ञानात्मिका स्थिति, जो कुछ उसमें मेरे लिए प्रत्यक्षतः अभिप्रेत है उससे कहीं बहुत अधिक अर्थ का या तो निर्देश करती है अथवा उसका प्रतिनिधित्व करती है।

(३) जैसा कि अवेनारियस ने बड़ी अच्छी तरह सिद्ध किया है व्यक्ति-निष्ठावादीय तर्काभास का मूल उद्गम, अपनी-अपनी अनुभूतियों को एक दूसरे तक पहुँचा सकने में समर्थ बहुसंख्यक प्रेक्षकों के 'कर्ताभ्यन्तरिक संसर्ग' में स्वयं अपने आपसे ही मुझे सरोकार होता अथवा अपने पर्यावरण के प्रति मेरे अपने संबंध का प्रश्न होता है, वहाँ तक इन दोनों के बारे में व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यक्ति संभव ही नहीं होती। मेरी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय में मुझे मानसिक दशाओं अथवा केवल संज्ञान लक्ष्यों से कोई मतलब नहीं रहता। मुझे तो उन वस्तुओं से ही काम पड़ता है जो अपनी अनुमितियों द्वारा अनेक प्रकार से मेरे विभिन्न प्रयोजनों की परिपूर्ति में सहायता पहुँचाती अथवा बाधक होती हैं। इन वस्तुओं का इसीलिए ध्यान रखना होता है जिससे मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने के अपने तरीकों को उन वस्तुओं के व्यवहार तरीकों के अनुकूल बना सकूँ। अतः एकल अनुभूतिकर्तृ सत्ता के लिए जगद्विषयक स्वाभाविक दृष्टिकोण प्रकृत यथार्थवादी दृष्टिकोण ही होगा जिसके अनुसार मेरे पर्यावरण की निर्मात्री वस्तुएँ उसी अर्थ में वास्तविक हैं जिस अर्थ में मैं स्वयं वास्तविक हूँ। लेकिन ज्यों ही मुझे अन्य प्रेक्षकों की अनुभूतियों की विवृत्ति लेनी पड़ती

है तभी ऐसा अपरिहार्य तर्काभास उठ खड़ा होता है जिसके दार्शनिक परिणाम अत्यन्त गंभीर होते हैं। जो वस्तुएँ मैं देखता हूँ वे वास्तविक वस्तुएँ हैं इस पूर्वानुमान पर चलने में मुझे एक कठिनाई यह महसूस होती है कि उन्हीं एकसी वस्तुओं का प्रेक्षण मेरे आस-पास के अन्य प्रेक्षक किस प्रकार कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर जिस सूर्य को मैं देखता हूँ यदि वह वास्तविक है तो जिस सूर्य का दर्शन किसी अन्य ने किया है वह कैसा है? इस प्रश्न की यह सही व्याख्या ढूँढ़ निकालने के बजाय कि सभी प्रेक्षक एक ही ऐसे पर्यावरण से सम्बद्ध हैं जो किसी एक प्रेक्षक की अनुभूति के लिए प्रस्तुत होने के लिए बाध्य नहीं अथवा अनुभूत्यर्थ प्रस्तुति से स्वतंत्र हैं---मैं बिलकुल स्वाभाविक तरीके से यह मान लेने की गलती कर बैठता हूँ कि दूसरे लोगों द्वारा प्रेक्षित वस्तुएँ मेरी प्रेक्षित वास्तविक वस्तुओं के प्रत्यय अथवा 'प्रत्यक्ष' हैं। वास्तविक वस्तुओं की इन प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक प्रतिलिपियों का पता मैं स्पष्ट कारणोंवश, अपने साथी मानव प्रेक्षकों अथवा परिग्राहकों के अंग संगठनों में लगाया करता हूँ। इससे आगे बढ़कर मैं अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति उस सिद्धान्त के नियमों के अनुसार, जिसे मैंने स्वयं अपने साथी मानवों के मामले को सुलझाने के लिए गढ़ा था, किया करता हूँ। और अनुमान करता हूँ कि मैं जिसका स्वयं प्रेक्षण करता हूँ वह प्रत्यक्षों का अथवा प्रत्ययों का एक कुलक है जिसे मेरे आंगिक गठन में सकल अनुभूतिबाह्य वास्तविकता ने उत्पन्न किया है। और तब इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना बहुत आसान हो जाता है कि जहाँ तक ज्ञात है वहाँ तक सभी ज्ञात और ज्ञेय वस्तुएँ किसी के सिर के प्रत्यय मात्र हैं। उनके अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं होती अथवा अन्य किसी का अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार इस तर्काभास के विकास का जिसका आरंभ अवेनारियस द्वारा अभिहित, अन्तर्निवेश से होता है---आखिरी कदम व्यक्तिनिष्ठावाद है। जैसा कि हम जान चुके हैं कि हमारे साथी मानवों का अस्तित्व अनुभूति का ऐसा प्रमुख तथ्य है जिसके द्वारा व्यक्तिनिष्ठावादी सिद्धान्त का तत्काल निराकरण हो जाता है और इस प्रकार अपनी अनुभूति का, हमारी अनुभूति की वास्तविकता के समान स्तर पर होना स्वीकार न कर सकना ही, व्यक्तिनिष्ठावादी तर्काभास का मूल स्रोत है।

(४) सत्य का जो कुछ तत्त्व विकृत रूप में व्यक्तिनिष्ठावाद अपने में सुरक्षित रखे है उसके बारे में बहुत कुछ नहीं कहना है। हम देख चुके हैं कि यथार्थवाद के विरुद्ध वास्तविक सत्ता की अनुभूति के साथ अविच्छेद्य एकता का निरूपण करने में व्यक्तिनिष्ठावाद सही रास्ते पर है यद्यपि वह इस सत्य स्थिति को मरोड़ कर अनर्गलता में इस प्रकार परिणत कर देता है कि वह पहले तो अनुभूति को मेरी अपनी सीमित अपूर्ण अनुभूति का तदात्म बतलाता है और फिर स्वयं उस अनुभूति की ही प्रकृति का झूठा मनोवैज्ञानिक भाषान्तरण प्रस्तुत करता है। कोई वास्तविकता किस

प्रकार एक ओर तो मेरी अनुभूति में प्रस्तुत होने से स्वतंत्र हो सकती है और दूसरी ओर अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने स्वभाव और अस्तित्व के लिए अनुभूति पर निर्भर भी, यह बात पहले ही पर्याप्त मात्रा में निर्दिशित की जा चुकी है। लेकिन शायद हम इतना तो कह ही सकते हैं कि अनुभूति को मेरी अपनी अनुभूति का तदात्म मानने में असली दार्शनिक सत्य का एक अन्त: स्तर जरूर अध:स्थ है। हम अनेक बार जोर दे चुके हैं कि अभिव्यक्त रूप से मेरी अपनी अनुभूति में उससे कहीं बहुत ज्यादा मौजूद रहता है जितना कि चैतन्य संज्ञान के लक्ष्य रूप में किसी भी समय प्रस्तुत होता है। अथवा जैसा कि श्री ब्रैडले बड़े शौक से कहा करते थे कि मेरे मन में उससे कहीं अधिक सदा रहता है जो मेरे मन के सामने रहता है। किसी भी समय में अपनी भावनाओं और प्रयोजनों की संपूर्ण प्रकृति से पूरी तरह से अवगत नहीं होता, इसीलिए मेरे अपने हृदय की छलपूर्णता धार्मिक आत्म-परीक्षा तथा संसारी प्रज्ञान की सामान्य पृष्ठ-भूमि बन गयी है।

इसके बाद यह भी है कि हमारी अपनी वास्तविक भावनाओं तथा प्रियजनों की अन्तर्दृष्टि की प्रत्येक वृद्धि के साथ उन अन्य भावुक सत्ताओं की भावनाओं और प्रयोजनों विषयक अन्तर्दृष्टि भी अन्तर्ग्रस्त होती है जिनके साथ सामाजिक संसर्ग का विविध प्रकार का संबंध होता है।[1] अत: औचित्यपूर्वक यह कहा जा सकता है कि आपके अपने अभिप्राय को जानने का तथा आप क्या चाहते हैं इसको पूरी तरह समझने का अन्तर्हित अर्थ यह है कि आप वास्तविकता के सकल संसार की रचना के पूर्ण अन्तर्द्रष्टा बनें, तथ्यत: यह कहिए कि आत्मज्ञान और विश्वज्ञान अन्ततोगत्वा एक ही वस्तु होनी चाहिए। अनुभूति के सकल जगत् की व्यवस्थित एकता संभवत: इतनी पूर्ण हो सकती है कि उसमें ऐसा कुछ कहीं भी मौजूद न हो जो उस जगत् के प्रत्येक अंग के अथवा अनुभूति के किसी तत्त्व का प्रतिरूप न हो। लीबिनिट्ज़ के मूलाणुओं की तरह, जगत् का प्रत्येक अंग सकल व्यवस्था का प्रतिनिधित्व कर सकता है यद्यपि प्रत्येक की संगति का स्तर तथा दृष्टिकोण अत्यन्त भिन्न होगा। लेकिन इस प्रकार की कल्पना, यद्यपि व्यक्तिनिष्ठावाद के इस मत से कि वास्तविक सत्ताओं की व्यवस्था

---

१. सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि की अग्रगति में भी, जो पहली ही नजर में एक आपवादिक मामला मालूम होता है, यह बात सही है। उन समस्याओं के, जिनकी ओर आपके अपने बौद्धिक अनुसरण आपको ले जाते हैं, स्वरूप को जितना ही अधिक स्पष्ट रूप से आप देख पायेंगे, उतनी ही आप की अन्तर्दृष्टि उसी क्षेत्र में काम करने वाले अन्य व्यक्तियों की समस्याओं और प्रयोजनों के बारे में स्पष्टतर होती जायेगी।

का अंगभूत जो कुछ भी हो वह किसी न किसी तरह मेरी व्यष्ट अनुभूति के अन्तर्भूत हो जाता है——सहमत होते हुए भी, अपने दावे के आधार के रूप में, उसी भिन्नता को पेश करेगी, जो मेरी अनुभूति में अन्तर्हित रूप से प्रस्तुत तथा उसके सामने स्पष्ट रूप से मौजूद के बीच हुआ करती है तथा व्यक्तिनिष्ठावाद जिसकी उपेक्षा लगातार किया करता है। इस प्रकार पुनः प्रस्थापित यह सिद्धान्त एक आकर्षक संभाव्यता से भी अधिक किसी बड़े रूप में निरूपित हो सकता है या नहीं इस बात का निर्णय हम तब ले सकेंगे जब हम अपने अगले अध्याय में वास्तविकता की व्यवस्थित एकता का विवेचन करेंगे।

अधिक ज्ञानार्थ देखिए :——ए० एच्० ब्रैडले कृत 'अपीयरेंस एण्ड रीयलिटी' अध्याय——१३ १४; टी० केर्स लिखित 'फिज़िकल रीयलिज़्म' भाग १; एल्० टी० हाबहाउस की 'थियरी ऑफ नौलेज' भाग ३, अध्याय ३, दि 'कांसेप्शन ऑफ एक्स-टर्नल रीयलिटी'; एच० लोत्ज़े की 'मेटाफिज़िक्स' पुस्तक १ अध्याय ७ (पृ० २०७–२३१ खण्ड १ अंग्रेज़ी संस्करण); जे० एस० मैकेंज़ी की 'आउटलाइंस ऑफ मेटाफिज़िक्स' पु० १ अध्याय ३ 'थियरीज़ ऑफ मेटाफिज़िक्स'; जे० रॉयस कृत० 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल,' फर्स्ट सीरीज़ (लेक्चर्स ऑन दि फर्स्ट कांसेप्शन ऑफ बीइंग)।

अध्याय २

वास्तविकता की व्यवस्थित एकता

१—अंतिमेत्थ रूप में वास्तविकता केवल एक है अथवा अनेक यह समस्या अनिवार्य रूप से हमारे सामने, जगत् सम्बन्धी हमारी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के विविध रूपों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस समस्या के अपने-अपने प्रकार के समाधान के अनुसार ही विभिन्न सिद्धान्तों का एकवादी, बहुतवादी अथवा एकाणुवादी नामों से वर्गीकरण। २—बहुतवाद मानव आत्माओं की पारस्परिक स्वतंत्रता के अनुमानित तथ्य को लेकर ही चलता है और बतलाता है कि एक दूसरे से इस प्रकार की स्वतंत्रता सकल वास्तविक सत्ताओं में भी प्राप्त होती है। लेकिन (अ) अनुभूतिदन स्वतंत्रता कभी भी पूर्ण नहीं हुआ करती न 'आत्मा' की संयुक्ति अथवा एकता ही परिपूर्ण। (ब) ज्ञान और कर्म में ही पूर्वानुमित रूप वाली सकल वास्तविकता के व्यवस्थित स्वरूप के साथ इस सिद्धान्त की संगति नहीं बैठती। ३—एकाणुवाद के अनुसार भी वास्तविक की एकता को या तो माया मानता है या अव्याख्येय दुर्घटना। ४—वास्तविकता चूँकि व्यवस्थित होती है अतः वे वैविध्याभ्यन्तर तथा वैविध्य मध्यागत एकमात्र प्रमुख नियम की अभिव्यक्ति वह अवश्य होगी। एकता और वैविध्य दोनों ही अवश्य वास्तविक होने चाहिए और दोनों ही एक दूसरे में ओतप्रोत भी जरूर होने चाहिए। ५—यदि दोनों को एक समान वास्तविक होना है तो समग्र व्यवस्था का एक अनुभूति होना भी जरूरी है और उसका गठन भी अनुभूतियों द्वारा ही हुआ होना चाहिए। कोई परिपूर्ण व्यवस्थित समग्र न तो कोई समष्टि ही हो सकती है न भागों से बना कोई यांत्रिक समग्र न शारीर-गठन। भागों के लिए समग्र का अस्तित्व आवश्यक है और समग्र के लिए भागों का। ६—इसी बात को यों कह कर भी व्यक्त किया जा सकता है कि वास्तविकता वह विषय है जो अधीन विषयों की एकता का विषय है अथवा वह ऐसी व्यष्टि है, जिसकी गठक अथवा घटक—लघुतर व्यष्टियाँ हैं। ७—इस प्रकार के व्यवस्थित समग्र का निकटतम परिचित अनुरूप, हमारे समग्र 'आत्म' तथा आंशिक मानसतंत्रों या लघुतर 'आत्मों' के बीच का संबंध ही है। ८—इस मत का निकटतम ऐतिहासिक समान्तर स्पिनोजा के मानवमन और 'ईश्वर की अनन्त बुद्धि' के पारस्परिक संबंध विषयक सिद्धान्त में पाया जा सकता है।

का अंगभूत जो कुछ भी हो वह किसी न किसी तरह मेरी व्यष्ट अनुभूति के अन्तर्भूत हो जाता है--सहमत होते हुए भी, अपने दावे के आधार के रूप में, उसी भिन्नता को पेश करेगी, जो मेरी अनुभूति में अन्तर्हित रूप से प्रस्तुत तथा उसके सामने स्पष्ट रूप से मौजूद के बीच हुआ करती है तथा व्यक्तिनिष्ठावाद जिसकी उपेक्षा लगातार किया करता है। इस प्रकार पुनः प्रस्थापित यह सिद्धान्त एक आकर्षक संभाव्यता से भी अधिक किसी बड़े रूप में निरूपित हो सकता है या नहीं इस बात का निर्णय हम तब ले सकेंगे जब हम अपने अगले अध्याय में वास्तविकता की व्यवस्थित एकता का विवेचन करेंगे।

अधिक ज्ञानार्थ देखिए :—ए० एच्० ब्रैडले कृत 'अपीयरेंस एण्ड रीयलिटी' अध्याय—१३ १४; टी० केर्स लिखित 'फिज़िकल रीयलिज़्म' भाग १; एल्० टी० हाबहाउस की 'थियरी ऑफ नौलेज' भाग ३, अध्याय ३, दि 'कांसेप्शन ऑफ एक्स-टर्नल रीयलिटी'; एच० लोत्ज़े की 'मेटाफिज़िक्स' पुस्तक १ अध्याय ७ (पृ० २०७—२३१ खण्ड १ अंग्रेज़ी संस्करण); जे० एस० मैकेंज़ी की 'आउटलाइंस ऑफ मेटाफिज़िक्स' पु० १ अध्याय ३ 'थियरीज़ ऑफ मेटाफिज़िक्स'; जे० रॉयस कृत० 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल,' फर्स्ट सीरीज (लेक्चर्स ऑन दि फर्स्ट कांसेप्शन ऑफ बीइंग)।

अध्याय २

वास्तविकता की व्यवस्थित एकता

१—अंतिमेत्थ रूप में वास्तविकता केवल एक है अथवा अनेक यह समस्या अनिवार्य रूप से हमारे सामने, जगत् सम्बन्धी हमारी अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के विविध रूपों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस समस्या के अपने-अपने प्रकार के समाधान के अनुसार ही विभिन्न सिद्धान्तों का एकवादी, बहुतवादी अथवा एकाणुवादी नामों से वर्गीकरण। २—बहुतवाद मानव आत्माओं की पारस्परिक स्वतंत्रता के अनुमानित तथ्य को लेकर ही चलता है और बतलाता है कि एक दूसरे से इस प्रकार की स्वतंत्रता सकल वास्तविक सत्ताओं में भी प्राप्त होती है। लेकिन (अ) अनुभूतिदन स्वतंत्रता कभी भी पूर्ण नहीं हुआ करती न 'आत्मा' की संयुक्ति अथवा एकता ही परिपूर्ण। (ब) ज्ञान और कर्म में ही पूर्वानुमित रूप वाली सकल वास्तविकता के व्यवस्थित स्वरूप के साथ इस सिद्धान्त की संगति नहीं बैठती। ३—एकाणुवाद के अनुसार भी वास्तविक की एकता को या तो माया मानता है या अव्याख्येय दुर्घटना। ४—वास्तविकता चूँकि व्यवस्थित होती है अतः वे वैविध्याभ्यन्तर तथा वैविध्य मध्यागत एकमात्र प्रमुख नियम की अभिव्यक्ति वह अवश्य होगी। एकता और वैविध्य दोनों ही अवश्य वास्तविक होने चाहिए और दोनों ही एक दूसरे में ओतप्रोत भी जरूर होने चाहिए। ५—यदि दोनों को एक समान वास्तविक होना है तो समग्र व्यवस्था का एक अनुभूति होना भी जरूरी है और उसका गठन भी अनुभूतियों द्वारा ही हुआ होना चाहिए। कोई परिपूर्ण व्यवस्थित समग्र न तो कोई समष्टि ही हो सकती है न भागों से बना कोई यांत्रिक समग्र न शरीर-गठन। भागों के लिए समग्र का अस्तित्व आवश्यक है और समग्र के लिए भागों का। ६—इसी बात को यों कह कर भी व्यक्त किया जा सकता है कि वास्तविकता वह विषय है जो अधीन विषयों की एकता का विषय है अथवा वह ऐसी व्यष्टि है, जिसकी गठक अथवा घटक—लघुतर व्यष्टियाँ हैं। ७—इस प्रकार के व्यवस्थित समग्र का निकटतम परिचित अनुरूप, हमारे समग्र 'आत्म' तथा आंशिक मानसतंत्रों या लघुतर 'आत्मों' के बीच का संबंध ही है। ८—इस मत का निकटतम ऐतिहासिक समान्तर स्पिनोजा के मानवमन और 'ईश्वर की अनन्त बुद्धि' के पारस्परिक संबंध विषयक सिद्धान्त में पाया जा सकता है।

१—एक और अनेक की समस्या उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं दर्शनशास्त्र। उसका जन्म उन बहुत ही सीधे-सादे और प्राचीनतम प्रयत्नों से हुआ है जो इस विश्वरंगमंच के, जहाँ अपनी-अपनी भूमिका हम भी प्रस्तुत करते हैं, स्वरूप के विषय में, संगत रूप से विचार करने के लिए किये जाते रहे हैं। एक ओर जहाँ हमारी अनुभूति में तद्विषयक विमर्श प्रारंभ करते ही शुरू-शुरू में टुकड़ों की शक्ल में ही प्राप्त होती है, कम-बढ़ रूप से स्वतंत्र-सी वस्तुओं की अनन्त बहुलता प्रतीत होती है और उनमें से प्रत्येक वस्तु का अपना अलग रास्ता और अलग चलन होता है। अपने सर्वोत्तम रूप में वह हमारे पर्यावरण के अन्य सदस्यों में से कुछ थोड़े से सदस्यों से ही संबद्ध होती है। उदाहरण के लिए किसी एक आदमी की वृत्ति का उसके समकालीन बहुतेरे व्यक्तियों की वृत्तियों से अगर उसके पूर्वगामी तथा दायें-बायें आने वाले लोगों की फौज को छोड़ दिया जाय—इस जीवन संग्राम में कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार पहली नजर में ही एक निर्जीव वस्तु का व्यवहार उसके आसपास की बहुत-सी वस्तुओं में से अधिकांश के व्यवहार से अप्रभावित ही दिखायी पड़ेगा। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि यह संसार ऐसी असंख्य और अनन्त सत्ताओं से मिलकर बना है जो एक ही रंगमंच के नाटक-पात्र रूप में अपनी-अपनी भूमिका प्रस्तुत करने के लिए इकट्ठे हो गये हैं लेकिन जिनमें से ज्यादातर पात्रों का एक दूसरे की भूमिका पर कोई प्रभाव नहीं है।

किन्तु दूसरी ओर भी इतने ही सशक्त और स्पष्ट कारण इस जगत् को एक सकल एकता मानने के लिए मौजूद हैं। वस्तुओं की संरचना को भीतर से देख सकने वाली हमारी सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों ही उन वस्तुओं और प्रक्रियाओं के, जो पहले असंबद्ध लगती थीं, गहरे पारस्परिक संबंध को पहचानने की हमारी शक्ति भी बढ़ती जाती है। भौतिक विज्ञान में भी ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों वह प्रकृति को, अन्तःसम्बद्ध घटनाओं के ऐसे साम्राज्य के रूप में जहाँ कोई-सा भी तथ्य अन्ततोगत्वा किसी भी अन्य तथ्य से एकदम स्वतंत्र नहीं हुआ करता, देखने को अधिकाधिक अभ्यस्त होता जाता है। राजनीति का अनुभव तथा समाजविज्ञान भी समान रूप से, मानव जीवनों तथा उनके प्रयोजनों की गहरी अन्तर्निर्भरता ही प्रकट करते हैं। अनुभवजात उन निर्धारित तथ्यों से जो संसार की अस्तिमेत्थ एकता का निर्देश करते हैं—कहीं बहुत आगे बढ़ा हुआ एक अन्तःशक्त प्रभाव और भी है जिसे हम जगत् की एकता का विश्वास दिलाने वाला "निसर्गवृत्तिक" आधार कह सकते हैं। मेरा पर्यावरण चाहे जितना विच्छिन्न क्यों न लगता हो लेकिन वह एक असंबद्ध बहुलता मात्र किसी तरह भी नहीं है। चूंकि यह पर्यावरण लगातार मेरा ही पर्यावरण रहता है और इसीलिए उन

लक्ष्यों का सापेक्ष होता है जिनसे मेरा अवधान निर्धारित होता है अतः यह परि-स्थिति ही स्वयं उसे एक संसक्त तंत्र में परिणत कर देती है। दार्शनिक विमर्श की नीची से नीची सीढ़ी पर भी हम अपने इस विश्व को सिद्धान्ततः एक जान लेने से सदा के लिए कभी भी ठीक इस लिए नहीं चूक सकते क्योंकि वह हमारा विश्व है और हम स्वयं किसी न किसी अंश तक स्थिर और व्यवस्थित प्रयोजनों वाली व्यक्तियाँ या सत्ताएँ हैं न कि असम्बद्ध और परस्पर विरोधी आवेगों के गट्ठर मात्र, लेकिन फिर भी यह हमारे अपने हितों का सीमाबन्धन ही है जिसके कारण तथा उन हितों के पूर्ण आशय को समझ सकने वाली स्पष्ट अन्तर्दृष्टि की कमी के कारण भी हमें कभी-कभी अपनी इस दुनिया में आभासी असम्बद्ध बहुलता और संसक्ति का अभाव दिखाई पड़ने लगता है।

आनुभूतिक विश्व सम्बन्धी इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी पक्षों से काम लेने की इस दार्शनिक समस्या का रूप तब यह हो जाता है कि उन दोनों पक्षों में से किसे सत्य मानकर दूसरे को उससे कैसे अलहदा रखा जाये। और अगर दोनों में से एक भी समग्र सत्य नहीं तो फिर हमें अपने से प्रश्न करना होगा कि यह विश्व एक ही साथ एक और अनेक क्यों कर हो सकता है और कैसे एक ही वास्तविकता के दोनों रूपों की जिनसे एक व्यवस्थित अथवा व्यवस्थाबद्ध एकतापरक और दूसरा अनिश्चित विविधतापरक—परस्पर संगति बैठायी जा सकती है। हमें पूछना होगा कि क्या वास्तविकता एक है अथवा अनेक और अगर वह दोनों ही है तो एकता और बहुलता दोनों एक दूसरे से किस प्रकार संबद्ध हैं?

विभिन्न दार्शनिक शास्त्रों ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं वे सुविधा की दृष्टि से तीन सामान्य कोटियों में श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं। पहला है (१) एकतावादी या एकवादी मत जिसका सबसे ज्यादा जोर वास्तविक के एकत्व पर है। वह उसके बहुलतापरक तथा विविधतापरक पक्षों को भ्रामक अथवा कम से कम, गौण महत्त्व का मानता है। (२) दूसरे हैं बहुलतावाद के विभिन्न रूप जिनके अनुसार वास्तविक सत्ताओं या व्यक्तियों की बहुलता तथा विविधता मौलिक तथ्य है और उनकी व्यवस्थागत एकता या तो भ्रान्ति है या उनकी प्रकृति का एक अधीन पहलू। तीसरा है (३) एकाणुवादी मत जिसका उद्देश्य है 'एकाणुओं' अथवा वास्तव में स्वतंत्र वस्तुओं की बहुलता को ही संसार का प्रतिरूप मानकर एकतावादी और बहुलतावादी की स्थितियों को समेल और एकसार बनाना। ये एकाणु ही किसी प्रकार बाह्य शक्ति द्वारा एक दूसरे से मिलाये जाकर व्यवस्थाबद्ध हो जाते हैं और संसार का रूप धारण कर लेते हैं। इस अन्तिम दृष्टिकोण के अनुसार बहुलता तथा व्यवस्थागत एकत्व दोनों ही समान रूप से वास्तविक और इस विश्व को समझने के लिए एक समान ही महत्त्वपूर्ण

हैं लेकिन दोनों का मूल भिन्न-भिन्न है। बहुलता स्वयं वस्तुओं में ही अन्तर्हित होती है, पर एकत्व उनसे बाह्य होता है और किसी बाह्य स्रोत से ही उन्हें प्राप्त होता है। सिद्धान्त के इन तीनों प्रमुख रूपों में से प्रत्येक रूप में निश्चय ही, वास्तविक के विशिष्ट स्वरूप के बारे में अधिकतम विचार वैभिन्य की काफी गुंजाइश है। एकतावादी विचारधारा हो सकता है, पार्मेनिडीज के समान जिसके कथनानुसार यह विश्व एक सकल समांग ठोस गोला है, शुद्ध भौतिकतावादी हो अथवा शोपेन हावर की तरह 'आदर्शवादी' अथवा वह मन और द्रव्य को सर्व सामान्य वास्तविकता का एक 'पक्ष' या 'पहलू' भी मान सकता है। इसके अतिरिक्त कोई बहुलतावादी अथवा कोई एकाणुवादी अपनी-अपनी स्वतंत्र वास्तविक वस्तुओं में से हर एक को भौतिक परमाणु मान सकता है या किसी भी संगठनांश की आत्मा अथवा आजकल की विचारधारा के समकालीन चलन के अनुसार वह उसे एक व्यक्ति ही मान ले सकता है।

दार्शनिक सिद्धान्तों के इस प्रकार के वर्गीकरण तथा विगत अध्याय के वर्गीकरण के पारस्परिक संबंध के विषय में मुझे यहाँ इतना ही कहना है कि जहाँ एकतावादी का आदर्शवादी होना आवश्यक नहीं है वहाँ समझा जाना चाहिए। क्योंकि विविध वास्तविक वस्तुओं की पारस्परिक स्वतन्त्रता का अस्तित्व तब तक नहीं रह सकता जब तक कि वह उन वस्तुओं की अनुभूति से स्वतंत्रता अथवा अनुभूतिबाह्यता को भी अपने में शामिल न कर ले। मान लीजिए कि 'अ' और 'ब' एकदम आत्मनिर्भर या स्वतंत्र दो वस्तुएँ हैं। तब 'अ' का अस्तित्व और स्वरूप 'ब' की अनुभूति के लिए प्रस्तुत होने से स्वतंत्र अवश्य ही है। 'अ' इसी तरह 'स' की अनुभूति के लिए प्रस्तुत होने से भी स्वतंत्र है अथवा दुनिया की अन्य किसी भी वस्तु से, सिवाय अपने के, भी वह इसी तरह स्वतंत्र है। और हम यह भी जान चुके हैं कि किसी भी परिमित प्रेक्षक या परिग्राहक की प्रवृत्ति में सदा ही उससे कहीं अधिक मौजूद रहा करता है जितना कि उसमें से उसकी अपनी अनुभूति के लिए प्रस्तुत हो सकता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा 'अ' का अस्तित्व और उसके गुण सभी अनुभूति से, जिसमें स्वयं 'अ' की भी अनुभूति शामिल है,[1] स्वतंत्र जरूर होना चाहिए। इस कारणवश मैं यही समझ सकता हूँ कि

---

१. इस बात ने लीबिनिट्ज को भी प्रभावित किया था। इस विचारतंत्र का यह बहुधा आलोचित मत है कि प्रत्येक एकाणु अथवा सरल वास्तविक वस्तु अपनी आन्तरिक स्थितियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का प्रेक्षण या परिग्रहण नहीं करती। ऐसी कोई 'खिड़कियाँ' नहीं होतीं जिनमें होकर एक एकाणु दूसरे एकाणु की दशाओं या स्थितियों को देख सके। यह सिद्ध करना आसान है कि विभिन्न एकाणुओं के बीच के आभासी संचार की बात का जवाब देने के लिए इस

बहुलतावाद को यह प्रतिपादित करके कि विश्व बहुसंख्यक और आत्मनिर्भर अथवा स्वतंत्र 'आत्माओं' या 'व्यक्तियों' से मिलकर बना है, आदर्शवाद के साथ संयुक्त करने के प्रयत्न विचारों की गड़बड़ी पर ही निर्भर हैं। ये सिद्धान्त उनकी अन्तर्भावना को देखते हुए सारतः यथार्थवादी ही प्रतीत होते हैं।

२—सबसे पहले ऐसे मतों का जो सिद्धान्ततः भ्रान्त प्रतीत होते हैं, परित्याग करके या बहिष्कार करके ही हम एक और अनेक विषयक अपने मत या सिद्धान्त का सुविधापूर्वक निर्माण करने का प्रयत्न कर सकते हैं तथा इसी तरह धीरे-धीरे अपनी वृत्त-रेखा को सँकरा करते जा सकते हैं। मजबूर होकर मुझे इन भ्रान्त धारणाओं में संगत और पूर्ण बहुलतावाद के सभी रूपों को भी गिनना पड़ रहा है। जहाँ तक मैं जान सका हूँ बहुलतावाद का आरंभ ही, उन तथ्यों के मिथ्या ज्ञान से होता है जिनको वह अपनी आधार-भूमि कहता है और उसकी समाप्ति उन तथ्यों की उसके द्वारा की गयी ऐसी व्याख्या से होती है जो सारतः अयुक्तिक है। समग्र अनुभूति के अन्तिमेत्थ दत्त के रूप में जिस मौलिक तथ्य को लेकर बहुलतावाद चलता है वह एक सुपरिचित तथ्य है और वह यह कि इस जगत् में मेरे अतिरिक्त और भी आदमी हैं। मेरी दुनिया कोई रंगमंच ही तो नहीं है जिसपर मैं अपने उद्देश्यों को कार्य रूप में परिणत किया करता हूँ या अपनी जरूरतें पूरी किया करता हूँ। उसमें ऐसे भी स्वार्थ या हित हैं जो मेरे नहीं हैं और जिनके प्रति मुझे अपने आपको इसलिए अनुकूल बनाना आवश्यक है कि जिससे मैं खुद अपने प्रयोजनों की प्राप्ति कर सकूँ। इस प्रकार इस विश्व में मेरे अपने मानस के अतिरिक्त दूसरे मानस अथवा अन्य मन भी हैं तथा जिस कारण वे मानस 'अन्य' कहलाते हैं वह यह है कि जिन प्रयोजनों तथा हितों या अभि-रुचियों द्वारा उन मानसों के जीवन निर्धारित होते हैं, वैसे ही जैसे कि मेरा मन का जीवन निर्धारित होता है, वे अद्वितीय और असंचार्य हुआ करते हैं। इस प्रकार वर्णित तथ्यों को, विश्व की हमारी कल्पना के लिए नमूने के रूप में ग्रहण करने का ही अनुरोध बहुलतावाद किया करता है। बहुलतावाद के वास्तविकता संबंधी विचार जिस साँचे में ढाले गये हैं वह ऐसे समुदाय का है जो बहुत-से या बहुसंख्यक ऐसे स्व या व्यक्तियों से मिलकर बना है, जिनके अपने-अपने अनन्य अथवा

सिद्धांत का आसरा लेने से अत्यन्त दूरानीत और हवाई प्राक्कल्पनाएँ पैदा हो जाती हैं। लेकिन यह सिद्ध करना आसान नहीं कि बहुलतावाद इसके बिना भी काम चला सकता है। विशेषतः देखिए लीबिनिट्ज की पुस्तक 'न्यू सिस्टम ऑफ दि नेचर आफ सब्स्टेन्सेज' (वर्क्स, सं० एडीमेन, एडि० जहार्ट, अंग्रेजी अनुवाद लोट्टा की पुस्तक 'लीबिनिट्ज, दि मोनाडोलाजी' आदि पृष्ठ २९७ विशेषतः अनुच्छेद १३–१७ तथा मोनाँडोलाजी ७–९, ५१

अद्वितीय हित हैं, और इसीलिए जिनमें से हर एक-एक ही समय है अन्तःसरल, अविभाज्य तथा सभी से अनन्य। अपनी चरम वास्तविकताओं का चाहे जिन विशिष्ट रूपों में, बहुलतावादी ध्यान करे—चाहे सरल और भौतिक रूप से अविभाज्य कणों की शक्ल में या गणितीय बिन्दुओं के रूप में अथवा संवेदनशील सत्ता के रूप में, लेकिन आखीर में जाकर उसे मानव के सामाजिक जीवन के उन तथ्यों से ही जिनकी कल्पना वह उपर्युक्त अति-व्यक्तिनिष्ठ तरीके से किया करता है—उनकी सरलता और पारस्परिक विकर्षण का स्रोत पाता है।

किन्तु (अ) तथ्य स्वयं ही ठीक तरह से प्रतिपादित नहीं किये गये। मानवीय अनुभूतियाँ, जिनपर बहुलतावादी अपने निष्कर्ष के लिए निर्भर होता है, उसके मन्तव्य की सिद्धि के लिए एक ही साथ, अत्यन्त अतिशय और अत्यन्त न्यून एकत्व प्रस्तुत करती हैं। तो समाज को गठित करने वाले सत्व अथवा व्यक्ति स्वयं ही सरल अव्यतिरिक्त एकत्व नहीं होते। ठीक जिस तरह आपके और मेरे हित अक्सर भिड़ जा सकते हैं, उसी तरह मेरे अपने व्यक्तित्व में भी, जिसे बहुलतावादी पहले से ही एक अविभाज्य इकाई मान लेता है, इसी तरह की भिड़न्त हो सकती है। जिन्हें मैं 'स्वयं अपने हित या अभिरुचियाँ' अथवा मेरे अपने 'सप्रत्यक्षीय निकाय' अथवा 'विचार सरणि या विचारों की शृंखला" कहा करता हूँ उनमें भी उसी प्रकार की असंयोज्यता और प्रवरता के लिए उसी प्रकार का संघर्ष पाया जा सकता है जिस तरह का कि तब दिखायी पड़ता है जब आपके विचार मेरे विचारों से टकराते हैं। इस प्रकार नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान को मेरे सच्चे 'स्व' या 'आत्म' तथा मेरे झूठे आत्मों या स्वों के बीच विभेद करना पड़ता है। ये झूठे आत्म कभी-कभी मेरे सच्चे आत्म को दबा लेते हैं। इसी प्रकार उसे मेरे 'उच्चतर' आत्म तथा उन 'नीचतर' आत्मों में भी विभेद करना होता है जिन्हें नैतिकतार्थ दबाना जरूरी होता है। उन्हें मेरे स्थायी 'आत्म' तथा मेरे उन अस्थायी हितों का विभेद भी करना होता है जो मेरे 'स्थायी' आत्म पर प्रायः आक्रान्त हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त 'अवसीमीय' चेतना और 'द्वैध' अथवा 'प्रत्यावर्ती व्यक्तित्व' की तो बात ही न पूछिए। 'आत्म' एक इकाई मात्र होने से तो इतना दूर है कि उसकी अन्तर्वस्तुओं की विविधता और उनकी पारस्परिक असंयोजनीयता दैनिक अनुभव की वस्तु बन गयी है।[1]

---

१. **इस विषय के अभी हाल में किये गये विवेचन के लिए देखिए श्री ब्रैडले का, जुलाई १९०२ के 'माइण्ड' नामक पत्र में प्रकाशित 'मेण्टल कन्फ्लिक्ट एण्ड इम्प्यूटेशन' शीर्षक लेख जिसमें इस मत का संकल्प तथा नैतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर प्रभाव बतलाया गया है। मनोविज्ञान का ऐसा कोई भाग शेष नहीं है जिसे भोंडे तथ्यों के अनुचित अति-सरलीकरण के कारण इससे अधिक हानि पहुँची हो।**

बहुलतावाद इस बात को शायद वाचा मान भी ले, और कई बार उसने माना भी है। हमें बताया जाता है कि बहुलतावादी की इकाइयाँ विविधता से शून्य विविधताएँ मात्र नहीं होतीं अपितु वे ऐसे समग्र होती हैं जो भिन्नताओं का संयोग होते हैं। लेकिन इस बात को मान लेना बहुलतावादी के तलवों-तले की जमीन हटा लेने जैसा है। आत्म के तत्वों के वैविध्य और उनके पारस्परिक संघर्ष से ही यदि उसकी एकता नष्ट नहीं होती तो हेतु साम्यानुमान द्वारा विश्व के आत्मों की बहुलता तथा उनके पारस्परिक विकर्षणों से ही यह सिद्ध नहीं होता कि अपने अंगोपांगों की बहुलता के रहते होने पर भी वास्तविकता का साकल्य हमारी अनुभूतियों का आंशिक प्राप्य एकत्वों की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्णएकता है। तथ्य तो यह है कि बहुलतावादी को निम्नलिखित समस्या का समाधान करना होता है। या तो उसकी इकाइयाँ ऐसी इकाइयाँ मात्र हैं जिनमें कोई आन्तरिक वैविध्य नहीं होता और तब यह सिद्ध करना ही असामान्य होगा कि वे इकाइयाँ केवलातिकेवल अवस्तुएँ हैं अथवा उनकी अन्तर्भूत। न स्वयं अपनी विविधता मौजूद है जिससे वे उन समस्याओं की, जिनका समाधान करना उनका कर्त्तव्य समझा जाता है, पुनरावृत्ति-सी करती प्रतीत होती हैं।

दूसरी ओर, आनुभूतिक तथ्यों से जिस प्रकार अनुमानित इकाइयों के आभ्यन्तर संघर्ष और विकर्षण का पता चलता है उसी प्रकार विभिन्न इकाइयों के बीच के पारस्परिक अपवर्जन के सिवाय अन्य संबंधों का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए मानव के व्यक्तिगत हित कभी भी परस्पर-अपवर्जक मात्र नहीं होते। किसी भी समाज में ऐसे ही व्यक्ति नहीं रहते जिनके हित और प्रयोजन केवल अन्योन्यतः प्रतिकर्षी हों। मेरे उद्देश्य और प्रयोजन संभवतः कभी भी समुदाय के अन्य सदस्यों के उद्देश्यों और प्रयोजनों के एकदम या पूर्ण संपाती भले ही न हो सकें, तो भी उनका कोई अर्थ ही न रहे और न उनकी सिद्धि ही हो सके अगर वे सामाजिक हितों और प्रयोजनों के उस बृहत्तर समग्र के भाग न हों जो उन सामाजिक संगठनों को जिनका मैं एक सदस्य हूँ, जीवन प्रदान करता है। यदि एक दूसरे के अनुकरण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के तरीके के बारे में किये गये मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान के परिणाम की बाबत कुछ न भी कहा जाय तो भी 'समाज' और 'समुदाय' जैसे शब्दों की व्युत्पत्ति मात्र से ही पता चलता है कि मानव आत्म ऐसी स्वतंत्र या स्वच्छन्द इकाइयाँ हैं जो किसी तरह आकस्मिक अथवा बाह्य बन्धन में बँधी एकत्र खड़ी हैं, किन्तु मानव आत्मों की इस प्रकार की कल्पना हमारे समाज के अत्यन्त आधारभूत अनुभव के एकदम विरुद्ध है। तथ्य का व्यवस्थित अधिलंघन करके वैयक्तिक अथवा व्यष्ट और सामाजिक या समष्ट जीवन को बहुलतावादी प्राक्कल्पनाओं का समर्थक बनाया जा सकता है।

(ब) तथ्यों विषयक बहुलतावादी विवरण यदि हम स्वीकार भी कर लें तो

उन्हें सिद्ध करने के लिए जो सिद्धान्त बहुलतावादी हमारे सामने प्रस्तुत करता है वह अन्ततोगत्वा बोधगम्य नहीं रहता। जान-बूझ कर हो चाहे अनबूझे, बहुलतावाद जो कुछ करता है वह इतना ही कि वह विश्व के एकत्व को उसकी बहुलता से विलग कर देता है। वह बहुलता को तो स्वयं वास्तविक वस्तुओं की चरम प्रकृति में ही ओत-प्रोत मानता है किन्तु एकत्व को एक व्यवस्था के रूप में, यदि वे वास्तव में एक व्यवस्था रूप हों तो उन पर बाहर से थोपी गयी वस्तु मानता है। अतः हमारे सामने दो ही वैकल्पिक मार्ग रह जाते हैं। एक यह कि इस विश्व को हम एक व्यवस्थित समग्र बिलकुल ही न मानें बल्कि उसे एकदम स्वतंत्र परमाणुओं का एक संघट्ट या दुर्व्यवस्थित रूपमात्र समझें तब उस हालत में हमारा सब सोचा-विचारा, ज्ञान के लक्ष्य की व्यवस्थागत एकता के अपने अपरिहार्य पूर्वानुमान सहित एक भ्रान्ति मात्र प्रतीत होगा अथवा अगर विश्व वास्तव में एक व्यवस्था या क्रम माना जाय तो, कहना होगा कि वह दुर्घटनावश या अकस्मात ही व्यवस्था या क्रम बन गया है। जिन वस्तुओं से यह व्यवस्था बनी है वे अनासक्त पृथक इकाइयों के रूप में वास्तविक हैं लेकिन किसी सुभग घटनावश एक बाह्य तृतीयक (उदाहरण के लिए ईश्वर) के साथ उन सबका कुछ अन्योन्य सम्बन्ध पैदा हो गया लगता है और इस संबंध के कारण वे एक क्रम के रूप में संयुक्त हो गयी हैं और इसीलिए एक परस्पर संबद्ध समग्र के रूप में ज्ञेय भी।

अब अगर हम बौद्धिक रूप से अन्तर्भावनाशील हैं तो कभी भी इस तरह के कथन से संतुष्ट नहीं रह सकते क्योंकि वह वास्तविक संसार की बहुलता और क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित एकता की बात को एक साथ ही प्रस्तुत करके उन्हें दो स्वतंत्र असम्बद्ध तथ्यों की शक्ल में पेश करता है। अगर विश्व की अन्तर्वस्तु से वास्तव में किसी तरह भी किसी प्रकार का कोई क्रम निर्मित करती हैं तो वह एक क्रम ही स्वयं, अन्य तथ्यों के बीच एक ऐसा मुख्य तथ्य है जिसे तत्त्वमीमांसा के गंभीर सिद्धान्तों को मान्यता देनी ही होगी और उसके विषय में कोई बोधगम्य विवेचन भी। उदाहरणार्थ मान लीजिए आप कुछ बहुलतावादियों के साथ मिलकर कहें कि यह विश्व ऐसे अनेक स्वतंत्र व्यक्तियों अथवा आत्माओं से मिल कर बना है जो अनेक होने के बावजूद एक सम्बद्ध व्यवस्था या क्रम की 'नैतिक बादशाहत या राज्य' की रचना इस तथ्य के कारण करते हैं कि उन्हें अपना नैतिक आदर्श ईश्वर में, जो उन आत्माओं में सबसे अधिक पूर्ण है, देखने को मिलता है। अब आप के सामने स्वतंत्र आत्माओं की बहुलता का ही एक चरम तथ्य नहीं रहता बल्कि दो तथ्यों का आपको सामना करना पड़ता है, एक तो उपर्युक्त बहुलता का और दूसरे तदन्तर्भूत प्रत्येक तत्त्व के ईश्वर के साथ संबंध का। जब तक आप इस द्वितीय तथ्य को 'अन्तिमेस्य अव्याख्येयता' अथवा सुभग घटना मानने को तैयार नहीं होते तब तक आप बाध्य हैं आत्मों के ईश्वर के साथ

व्यवस्थित सम्बन्ध को और ईश्वर के द्वारा उसमें से एक दूसरे के साथ के संबंध को भी, उनकी चरम प्रकृति का उतना ही भाग मानने के लिए जितना कि आप उनके पारस्परिक विभेद को मानते हैं। उनकी पृथकता और स्वतन्त्रता, इस प्रकार आपके लिए अब अन्तिमेत्थ सत्य नहीं रहती, आपके कथनानुसार वे उतने ही सच्चे रूप में एक हैं जितने सही कि वे अनेक। उनका व्यवस्थात्मक संयोग उनकी अपनी प्रकृति से अमेल, कोई बाहरी संबंध तब नहीं रहता बल्कि वह स्वयं प्रकृति के ही विषय का गहनतम सत्य बन जाता है।

इस तर्कना के सार को दुबारा दूसरी शक्ल में पेश करना चाहता हूँ। किसी भी प्रकार के बहुलतावाद को अगर वह असली है, तो इतना दृढ़प्रतिज्ञ होना चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्र वास्तविकताओं के अन्तःसम्बन्ध को मानव मन की भ्रान्ति मानने का ख्याल ही मन से निकाल दे। लेकिन ऐसा करते समय संगतता के ख्याल से उसे उनके आपस में एक दूसरे की दशाओं के अन्यान्य ज्ञान की संभावना से भी इनकार करना होगा। प्रत्येक वास्तविक वस्तु तब निश्चय ही अपने ही आन्तरिक अन्तःसार के वन्दवृत्त में कैद एक छोटा-सा अपना संसार होगी। इस प्रकार यदि मैं भी अपने आपको बहुलतावादी योजना की वास्तविक वस्तुओं में से एक मान लूँ तो मेरे पास उसे सत्य जानने का कोई साधन नहीं रह जायगा। दार्शनिक सिद्धान्त की परीक्षा के लिए श्री ब्रैडले के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न के सामने ठहरने में बहुलतावाद असमर्थ है। वह प्रश्न है 'क्या इस सिद्धान्त की सत्यता, उस तथ्य से जिसमें जानता हूँ कि वह सही है, संगत है?' बहुलतावाद की बहुव्यापी अनवरत जनप्रियता का कारण यह है कि तत्त्वमीमांसा दर्शन में विशुद्धतः दार्शनिक हितों से अतिरिक्त अन्य बहुत से हित घुस पड़े हैं। उसका मंडल एक संगत मंतव्य रूप में उसके अपने दार्शनिक गुणों के कारण नहीं किया जाता बल्कि इसलिए कि उसके नैतिकता और धर्म के कुछ हितों का संरक्षक होने का दावा उसके कुछ अनुयायी करते हैं। हमें बताया जाता है कि वह हमें एक वास्तविक ईश्वर और वास्तविक नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है लेकिन इस प्रश्न को छोड़कर कि क्या निष्पक्ष परीक्षा द्वारा इस सिद्धान्त के ये दावे[1] सही भी साबित होते हैं या नहीं, किसी

---

१. जैसा कि पाठक को विगत विवेचन द्वारा स्पष्ट हो गया होगा कि मैं स्वयं उन्हें तर्कसंगत मानने को तैयार नहीं। इसके विपरीत मुझे यह कहना चाहिए कि बहुलतावाद को चाहिए कि वह अनीश्वरवादिता की ओर मुँह करे और अधेकाकतालीय न्याय के सिद्धान्त को ही समग्र वस्तुओं का भाग्य विधाता माने। इस बारे में जुलाई सन् १९०२ के माइण्ड में पृष्ठ ३१३ पर उल्लिखित श्री ब्रैडले के जोरदार विरोध से पूरी तरह सहमत होना पसन्द करूँगा साथ ही साथ

तत्त्वमीमांसीय विवेचन में उनको जरा-सा भी स्थान दिए जाने का हमें जोरदार विरोध करना चाहिए। तत्त्वमीमांसा शुरू से आखीर तक एक परिकल्पनात्मक कार्यवाही है। उसका एक ही काम है। वास्तविकता की रचना के विषय में तर्कसंगत विचार करना और जिन हितों के विषय में ही विचार करने का उसे अधिकार है वे हैं संगत तार्किक विचार के हित। यदि नैतिक तथा धार्मिक समस्याओं सम्बन्धी संगत तार्किक विमर्श में 'वास्तविक ईश्वर' तथा 'वास्तविक स्वातंत्र्य' की मान्यता का भी समावेश है और यदि यह सब केवल बहुलतावादी सिद्धान्त द्वारा ही संभव हो तो संगत विचार की प्रक्रिया द्वारा ही हम अन्त में जाकर अवश्य ही बहुलतावादी नतीजे पर ही जा पहुँचेंगे इसलिए तर्कबाह्य हितों की दुहाई इस काम के लिए देते फिरना बेकार ही है। लेकिन अगर उन लोगों की, जो बहुलतावाद की हिमायत इस आधार पर करते हैं कि वह हमें 'सच्चा ईश्वर या वास्तविक ईश्वर' और 'वास्तविक स्वतंत्रता' देता है, मंशा यह हो कि इस प्रकार के मंतव्य, उन प्रश्नों के बौद्धिक औचित्य के अतिरिक्त इसलिए भी समर्थित किये जायें कि उनके बिना कुछ लोग कहीं कम नीतिशास्त्रानुसारी, कम सुखी न रह जायँ तो हमें ऐसे लोगों को जवाब देना होगा कि हमें नैतिकता सिखाना अथवा सुखी बनाना तत्त्वमीमांसा का काम बिलकुल भी नहीं है। किसी मन्तव्य की सत्यता का प्रमाण यह नहीं हुआ करता कि वह मेरे सद्गुण बढ़ाता है या मुझे अधिक सुखी बनाता है, न उन गुणों या सुख में कमी आना उसकी असत्यता का ही सबूत। और यदि तत्त्वमीमांसा के अध्ययन के कारण किन्हीं लोगों का कम सद्गुणवान् अथवा कम सुखी बन जाना सिद्ध भी किया जा सके तो भी तत्त्वमीमांसा का मामला किसी हालत में भी वे नीतिशास्त्र या औषधिशास्त्र के अध्ययन-विषयक परिणामों से कम न होगा। हो सकता है कि कुछ ऐसे भी लोग हों जिनके लिए, सुख अथवा नैतिकता के आधार पर परिकल्पनात्मक सत्य के अनुसंधान का अनुसरण अवांछनीय हो लेकिन इस पर भी ऐसे आदमी के लिए जिसने परिकल्पनात्मक

श्री बी० रसल की टिप्पणी से भी जो उनकी पुस्तक 'दि फिलासफी ऑफ लीब्निज' के पृष्ठ १७२ पर छपी है। मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि मैं यह बातें अपमान करने की खातिर नहीं लिख रहा हूँ। यदि निरीश्वरवाद ही संगत तर्कना का तर्कानुमोदित परिणाम निकलता हो तो निश्चय ही हमें वैसा ही कह देना चाहिए, मुझे तो एतराज यह है कि ऐसे ऐसे तत्त्वमीमांसक, जिन्हें जहाँ तक मुझे मालूम है अगर वे अपनी स्थिति के प्रति वफादार होते तो, निरीश्वरवादी होना चाहिए था, लगातार धार्मिक विश्वासों की दुहाई दिया करते हैं।

विसंगत अथवा परिकल्पनाबाह्य विचार-वस्तुओं की लगातार दुहाई दे-दे-कर, उल्लंघन करना बौद्धिक एकोद्दिष्टता से च्युत होना ही कहा जायगा।[1]

३—लीबिनिट्ज़ का एकाणुवाद बहुलतावाद और एकत्ववाद में समझौता कराने का एक प्रयत्न है। इस दृष्टि से यह संसार मूलतः पृथक् सत्ताओं की अपरिसीमित बहुलता द्वारा निर्मित है। ये सत्ताएँ एकदम सरल और अविभाज्य हैं और साथ ही साथ उनमें से हर एक में आन्तरिक दशाओं की अपरिसीमित विविधता भी होती है। चूँकि वे अन्योन्यतः स्वतंत्र होती हैं अतः एकाणुओं का एक दूसरे के साथ कोई विशुद्ध सम्बन्ध नहीं होता, उनमें से प्रत्येक एकाणु केवल अपनी ही दशाओं के पूर्वोपर क्रम के प्रति ही चेतन हुआ करता है। जैसा कि लीबिनिट्ज़ ने एक रूपक द्वारा, जो अब एक अभिजात बन चुका है, बताया कि एकाणु में एक भी खिड़की नहीं है। यहाँ तक तो वह शास्त्र शुद्ध बहुलतावाद है। लेकिन इसके साथ-साथ ही एकाणुओं की समग्र व्यवस्था के एकत्व को 'आदर्श' अथवा 'प्रत्ययी' होते हुए भी 'वास्तविक' न होकर, असली या विशुद्ध ही होना है। वे सब मिलकर प्रत्ययहेतु से अथवा आदर्शहेतु अपनी व्यवस्था या क्रम का निर्माण करते हैं—यानी सर्वज्ञ द्रष्टा को समझ सकने के लिए—जिससे कि प्रत्येक एकाणु, आन्तरिक दशाओं का शेष एकाणुओं की आन्तरिक दशाओं के साथ मेल बैठाया जा सके अथवा जैसा कि लीबिनिट्ज़ का कहना है कि प्रत्येक एकाणु अपने विशेष दृष्टिबिन्दु से उसी क्रमिक व्यवस्थागत रचना का प्रतिनिधित्व करता रहे। अतः यद्यपि कोई भी एकाणु किसी अन्य एकाणु का न तो प्रेक्षण या प्रत्यक्षण ही करता है न उस पर किसी प्रकार का कोई कार्य करता है, फिर भी प्रत्येक एकाणु इस प्रकार व्यवहार करता है जैसा कि वह तब करता यदि उन सब के बीच अन्योन्य प्रेक्षण और अन्योन्योक्तियाँ चलती होतीं। इस 'पूर्व-

---

१. यहाँ जिन धार्मिक और नैतिक हितों की दुहाई देने की बात पर एतराज किया जा रहा है उसके जनप्रिय उदाहरणीकरण के लिए देखिए प्रो० जेम्स की पुस्तक 'विल टु बिलीव' का प्रथम निबंध। मैं कभी नहीं समझ पाया कि अगर ये दुहाइयाँ उचित हैं तो मनोविज्ञानशास्त्र अथवा किसी भी अन्य विज्ञान में भी तत्त्वमीमांसा की तरह उनका उपयोग उतनी ही आसानी से क्यों न करने दिया जाये। क्या प्रो० जेम्स, कालानवच्छिन्न आत्मा के लिए इस तरह की दुहाई देने को वैध-तर्कना मानने को तैयार होंगे, जिससे कि उस पर विश्वास लाकर लोग ज्यादा सुखी या ज्यादा अच्छे इन्सान बन सकें? अगर नीतिशास्त्र का अध्ययन करके कुछ लोग कम सुखी अथवा कम चरित्रवान बन जायें तो क्या यह बात खुद ही नीतिशास्त्र के अध्ययन के विरुद्ध मत बन जायगी?

स्थापित एकतानता' के स्रोत के विषय में जब हम पूछ-ताछ करते हैं तब हमें दोहरा जवाब मिलता है—एक तो यह कि तथ्य के रूप में उसका वास्तविक अस्तित्व ईश्वर की सृजनात्मिका इच्छा पर निर्भर है। दूसरा यह कि इसके विविध एकाणुओं की आभ्यन्तर दशाओं के पूर्व समंजन ने ही वास्तव में ईश्वर को उन अपरिमित रूप से बहुसंख्यक किन्तु तर्कानुसार संभव ऐसे अन्य क्रमों की अपेक्षा जिन्हें ईश्वर पहले से जानता था और अगर चाहता तो उन्हें चुन भी सकता था—वर्तमान विश्व-क्रम के अस्तित्व की कामना करने के लिए प्रेरित किया। ईश्वर और विश्व क्रम का यह अन्योन्य संबंध और भी पेचीदा बन जाता है जब लीबिनिट्ज़, यदा-कदा ईश्वर को भी एकाणुओं में से एक एकाणु ही—भले ही सर्वोच्च एकाणु सही—मानता है।

इस प्रकार के क्रम में बहुलतावाद के सब दोष तो दिखायी ही पड़ते हैं, किन्तु उनके साथ-साथ उसकी स्वयं अपनी कठिनाइयाँ भी ऊपर से लदी प्रतीत होती हैं। यह एतराज सयुक्तिक होगा अगर हम कहें कि अनुभव से हमें ऐसे असली क्रम का एक ही उदाहरण नहीं मिला जिसमें सकल तत्त्व असली तौर पर स्वतंत्र हों। इस प्रकार के उदाहरण का निकटतम नमूना कृत्रिम वर्गीकरण के वर्गों में मिल सकता है जिनमें अन्योन्य-क्रिया-सम्बन्ध-विरहित वस्तुओं को हम एक जगह इसलिए जमा कर देते हैं कि हमारे अपने कुछ बाह्य प्रयोजनों के लिए एक ही दृष्टिबिन्दु के अन्तर्गत उनका ज्ञान प्राप्त करना सुविधाजनक हो। लेकिन इस प्रकार के किसी वर्गीकरण की रचना कर सकने की असंभाव्यता को छोड़कर जो अपेक्षाकृत रूप से कहीं अधिक कृत्रिम होगा, इस प्रकार का समुच्चय मात्र अथवा संग्रह मात्र एक वास्तविक क्रम नहीं होता। किसी सच्ची व्यवस्था अथवा सही क्रम में, किसी संग्रह से एकदम भिन्न, एकत्व के नियम या सिद्धान्त का कुछ-कुछ महत्त्व या अर्थ स्वयं उस क्रम या व्यवस्था के सदस्यों के लिए अवश्य ही हुआ करता है। कम से कम वह उस तरीके का प्रतिनिधित्व तो अवश्य ही करता है जिसके अन्तर्गत सदस्यगण आपस का पारस्परिक व्यवहार चलाया करते हैं। (पाराकोटिक उदाहरण के लिए किसी संग्रहालय में संगृहीत काटने के औजारों के उस श्रेणिक क्रम को ही ले लीजिए जिसके अन्तर्गत प्रस्तर युग के शल्कल पत्थर से लेकर शेफील्ड के काटने वाले औजारों के आधुनिकतम नमूने वर्गीकृत हैं। किन्तु यह श्रेणी विभाजन मात्र ही नहीं है बल्कि उससे कुछ ऊँची चीज है ठीक इसी वजह से कि वह समानता और असमानता के आधार पर विभिन्न वस्तुओं के समूहीकरण मात्र से कहीं अधिक अच्छा विभाजन है और एक सतत ऐतिहासिक विकास की विभिन्न स्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है)। अब एकाणुवाद के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि चूँकि एकाणु अन्ततोगत्वा स्वतंत्र होते हैं इसलिए अन्योन्य क्रिया पर मात्र प्रतीत हों। वे ऐसे एकल विश्व का रूप धारण करते प्रतीत होते हैं जिसका अपना इतिहास है तथा

प्रत्येक एकाणु की प्रत्येक दशा जिसकी अपनी अवस्थिति है। किन्तु, जहाँ व्यष्ट एकाणु की क्रमिक दशाएँ—जैसी कि वे दिखायी भी पड़ती हैं—विकास की परस्पर संबद्ध प्रक्रियाएँ हैं, वहाँ इन विविध प्रक्रियाओं से एकल विश्व इतिहास की रचना बिलकुल नहीं होती। केवल अपरिहार्य भ्रान्तिवश ही वे ऐसी रचना करती प्रतीत होती हैं। अतः सकल व्यवस्था या क्रम का एकत्व, अन्ततोगत्वा न केवल आदर्श अथवा प्रत्ययात्मक ही होना आवश्यक है अपितु—सही कहा जाय तो उसका काल्पनिक होना भी जरूरी है।

इस योजना में ईश्वर को दी गयी गड़बड़ जगह के कारण इसी तरह की कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। यदि व्यष्ट एकाणुओं की स्थितियों के बीच पहले ही संस्थापित 'एकतानता' ईश्वर की सृजनात्मिकता वृत्ति का ही परिणाम होती तो हमें यह सिद्ध करने के लिए कि अस्तित्व दुर्व्यवस्थात्मक क्यों नहीं केवल स्वेच्छया पृच्छा को ही उसके कारण स्वरूप, यदि उसे कारण नाम योग्य समझा जाय तो, प्रस्तुत करने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प न रह जाता। लेकिन अगर ईश्वर ने वस्तुओं की वर्तमान योजना को दूसरी योजना की अपेक्षा अधिक सृष्टियोग्य, अधिक आकर्षक इसलिए समझा कि उसकी दैवी बुद्धि को दुनिया का सम्बद्ध और व्यवस्थित रूप अधिक रुचा हो तो, सृष्टि के पूर्व वैकल्पिक संभावनाएँ जिस रूप में मौजूद थीं[1] तथा दूसरों की अपेक्षा व वर्तमान रूप की संभावना को ही ईश्वर ने क्यों चुना इन बातों का कारण हमें अन्ततोगत्वा दैवी मन की गठन में ही खोजना होगा। और इस प्रकार एकाणुओं के अन्तिमेत्थ और स्वतंत्र होने की बात आगे के लिए बिलकुल खतम हो जाती है तथा ईश्वर की प्रकृति ही सकल वास्तविकता का एकमात्र निर्धारित आधार रह जाती है।

इतना और कह देने की जरा भी जरूरत नहीं मालूम देती कि एकाणुवाद में भी वे ही दोष पाये जाते हैं जो हमें बहुलतावाद में मिले थे। यदि एकाणु को आभ्यन्तरिक विविधताशून्य इकाई मात्र बना दिया जाय तो वह निर्धारित स्वभाव युक्त वस्तु ही नहीं रहता और यदि उसका एकत्व उसके दशावैविध्य के अनुकूल पड़ता है तो कोई विशेष कारण नहीं कि क्यों दुनिया के अस्तित्व वैविध्य की दौलत हमें स्वतंत्र सार-घटकों की बहुलता को अपना आधार मान लेने को प्रेरित करे। यह बताया जा चुका है कि लीबिनिट्ज़ को एकत्ववाद की अपेक्षा एकाणुवाद के पक्ष-पोषण निश्चय इस

---

१. याद रखने की बात है कि, संख्या में अपरिमित होते हुए भी इन संभावनाओं या संभाव्यताओं को गुणात्मक रूप से परिमित मान लिया गया है क्योंकि वे तार्कि अव्याहृति सिद्धान्त के प्रति अनुकूल होने की शर्त के अनुसार गठित हैं। अब स्वतंत्र वस्तुओं की बहुलता के रूप में ऐसा कोई कारण नहीं जिससे इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के बजाय अस्वीकार किया जाय।

अनुमान के कारण करना पड़ा था कि व्यष्ट मानव-आत्म आन्तरिकतः सरल इकाइयाँ हैं पर बाह्य रूप में वे एक-दूसरे की एकदम अपवर्जक होती हैं। इस अनुमान या कल्पना को रद्द कर देने का कारण हम पहले ही जान चुके हैं।

४—अतः ऐसा लगता है कि हमें इस मत को अस्वीकार ही कर देना होगा कि अनुभूति जगत्, अन्तिमेत्थतया भिन्न और विजातीय सारघटकों की बहुलता की अभिव्यक्ति है। क्योंकि अपने ज्ञातरूप में अथवा व्यावहारिक प्रयोजनों की सिद्धि के साधन के रूप में, वह एक क्रम-बद्ध व्यवस्था है। उसके बारे में किसी अन्य प्रकार की पूर्वकल्पना कर लेने से संगत ज्ञान और संश्लिष्ट क्रियाकलाप दोनों ही असंभव हो जाते हैं। इसलिए तत्त्वमीमांसीय विश्व को किसी सकल अन्तिमेत्थ नियम या सिद्धान्त का संसिद्ध पूर्व रूप अथवा उसकी अभिव्यक्ति माना जाना जरूरी है। अतः लगता है कि हमें, एकत्ववाद नामधेय सिद्धान्त के साथ किसी न किसी रूप में बँधे रहना होगा। भले ही एकत्ववाद का बिल्ला हमें न लगाना पड़े क्योंकि उस नाम के कुछ ऐसे सहचारी लग गये हैं जिनसे उसकी नाम पट्टिका लगाकर चलना भ्रान्तिजनक होगा। एकात्मक नाम से बहुधाचर्चित सिद्धान्तों में से कुछ ऐसे सिद्धान्त भी हैं जिनके अनुसार अस्तित्व विषयक दृश्य वैविध्य तथा बाहुल्य, केवल इन्द्रजालात्मक ही है। इसके अतिरिक्त हाल में ही इस नाम का उपयोग, उस स्वयंभू सिद्धान्त ने भी अपने आपको जाहिर करने के लिए किया है जिस सिद्धान्त के अनुसार 'मन' और 'पदार्थ' किसी ऐसे तीसरे सारतत्त्व का 'रूप' अथवा 'अभिव्यक्ति' है जो स्वयं न तो पादार्थिक या भौतिक है न मानसिक। यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि पहले हो चुके विचार-विमर्श में जिस सिद्धान्त की चर्चा की जा चुकी है वह एकत्ववाद के इन दोनों ही रूपों या पहलुओं से बहुत ज्यादा भिन्न है। हमने इस बात पर वहाँ आग्रह किया था कि बाहुल्य-वाद और एकाणुवाद में पाये जाने वाले तर्काभास दोष का कारण वह एकपक्षीय बल है जो एक और अनेक की प्रति-स्थापना की अन्य कड़ियों की उपेक्षा करते हुए एक कड़ी पर दिया गया है और उसी गलती को अपने मामले में भी हम दुहराया नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त हम इस नतीजे पर भी पहुँचे थे कि वास्तविकता की वैवृत्तिक रचना चाहे जो कुछ भी हो, पर उसका सामान्य स्वरूप मनस्तत्वीय ही होता है। 'तदस्थ' अथवा 'नास्तिक' एकत्ववाद से इसीलिए हमारा कोई सरोकार नहीं हो सकता। विश्व के एकत्व तथा उसकी बहुलता के मध्यगत सम्बन्ध विषयक हमारे सविवरण सिद्धान्त का दोनों ही के लिए सम-दृष्टिक होना आवश्यक है। साथ ही वास्तविक की, हमारे द्वारा पहले ही से मान्यता प्राप्त आनुभाविक स्वरूप के साथ, संगति बैठना आवश्यक है।

हमारे सिद्धान्त की विशद विवृत्ति निम्न प्रकार से शायद हो सकती है। हम देख चुके हैं कि विश्व विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस विश्व का एक व्यवस्थित

समग्र अथवा एकव्यवस्था रूप होना आवश्यक है और व्यवस्था का रूप ग्रहण करने के लिए उसका किसी एकल नियम अथवा सिद्धान्त की विशद अभिव्यक्ति अथवा उसका सिद्धान्त विवृत विकास रूप होना आवश्यक है। अतः विश्व का एक होना जरूरी है। वह ऐसे स्वतंत्र तत्वों का गड्डमगड्डा नहीं हो सकता जो सौभाग्य से एक संगत झुंड में इकट्ठे हो गए हों। और फिर चूँकि विश्व एक व्यवस्थित तंत्र रूप है इसलिए वह एकदम एक इकाई रूप नहीं हो सकता। उसका किसी एकल नियम अथवा सिद्धान्त के पदों और कारकों के बहुल माध्यम द्वारा अभिव्यक्त होना आवश्यक होता है। न केवल उसका एक और अनेक दोनों ही होना जरूरी है अपितु उसका अनेक होना ठीक इस वजह से आवश्यक है चूँकि वह दरअसल एक है और उसका एक होना इसलिए जरूरी है क्योंकि सही तौर पर वह अनेक है।[1] इसके साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि चूँकि विश्व-व्यवस्था एक यथार्थतया व्यवस्थित समग्र है इसलिए बाहुल्य उसके एकत्व के लिए न केवल सामान्यतः आवश्यक ही है, अपितु उस बहुलता के प्रत्येक विशिष्ट तत्त्व का, समग्र के एकत्व के स्वरूप के रक्षार्थ उस बहुलता में मौजूद रहना तर्कानुसार बेहद जरूरी भी है। किसी परिपूर्ण व्यवस्था का कोई भी विशिष्ट अंग तब तक कभी न तो गायब ही हो सकता है, न जैसा वह है उससे भिन्न ही बन सकता है जब तक कि समग्र अस्तित्व का मौलिक नियम ही न बदल जाय। आनुषंगिक रूप से यह भी कह सकते हैं कि किसी परिपूर्ण व्यवस्था की विशिष्ट कड़ियों अथवा पदों की संख्या वस्तुतः अनन्त हो सकती है जब कि रचना-विषयक नियम यथार्थतया परिमित ही रहता है। अतः विश्व को एकल व्यवस्थित इकाई मानने के माने होते हैं उसे एक पूर्णतया परिमित या निर्धारित सारतत्त्व की विवृत्ति-बहुल अभिव्यक्ति मानना और निस्सन्देह ही, जिनको हमने बहुलता के व्यष्ट तत्त्व नाम से पुकारा है वे ही अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करने पर खुद अनन्त जाटिल्यमयी ऐसी व्यवस्थाएँ दिखायी पड़ने लगते हैं, जिनका निर्धारण-रचना विषयक ऐसे नियम के अनुसार होता है जो नियम

---

१. **स्वतंत्र वस्तुओं का स्वतंत्र गड़बड़झाला तक वस्तुतः 'अनेक' तब तक नहीं हो सकेगा, जब तक कि पहले पहला, दूसरा, तीसरा आदि आपकी गाँठ में न हो। अनेक की गिनती ही एक दो तीन की गिनती पर निर्भर होती है। किसी संगत और सम्बद्ध श्रृंखला के पद उसकी कड़ियाँ ही तो गिनी जा सकती हैं। जो कुछ गिन कर आप उसे अनेक कह पाते हैं वह इस बात को जाहिर करता है कि उस सब की एक ही-सी प्रकृति है और वह एक ही सर्वसामान्य व्यवस्था का ऐसा अंग हैं जिसे व्यवस्थित क्रम में रखा जा सकता है। तुलना कीजिए—प्लेटो लिखित 'पारमेनाइड्स' पृ० १६४–१६५।**

स्वयं पूर्ण व्यवस्था से किसी निर्धारित तरीके पर विनिसृत होता है और यह सिलसिला इसी प्रकार अनन्त श्रृंखला के रूप में बढ़ता ही जाता है। इसीलिए वास्तविक के लिए सारतत्त्व विषयक जिस प्रकार का अन्तिमेत्थ एकत्व हम चाहते हैं उसमें अनन्त रूप से अपरिमित विवृतियों की सम्पद् को किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं माना जाता।

५—हम महत्त्व का एक कदम और भी आगे बढ़ा सकते हैं। इस सर्व-व्यवस्थित समग्र के एकत्व और अनेकत्व दोनों ही का समान रूप से वास्तविक होना आवश्यक है और प्रत्येक को दूसरे के द्वारा वास्तविक होना चाहिए। लेकिन यह सम्भव क्यों कर है? ऐसा होना एक ही शर्त पर संभव है—वह यह कि समग्र व्यवस्था एक एकल अनुभूति बन जाय और यह कि व्यवस्था के निर्माणकर्ता तत्त्व एकल अनुभूतियाँ हों। यह बात और भी अधिक तरह तब समझ में आ सकेगी, जब हम अनेकता में उस प्रकार की एकता जो हमारे प्रयोजनार्थ अपर्याप्त है उपलक्ष मामलों की जाँच करें। (अ) किसी संग्रह अथवा योग में जिस प्रकार का एकत्व पाया जाता है, विश्व का एकत्व वैसा नहीं है। किसी भी योग मात्र के तत्त्व 'योगांगीभूत सत्त्वों' के रूप अपने पारस्परिक सम्बन्ध पर अनिर्भररूप में वास्तविक होते हैं। जब तक हम उस वस्तु के, जो एक योगसे अधिक और कुछ नहीं मान लेनेपरही विचार करेंगे तब तक उन तत्वों का गुण योग में उन तत्वों के शामिल होने के कारण, अप्रभावित ही रहेगा। उस योग का कोई ऐसा अपना एकात्मक स्वरूप नहीं हुआ करता जो उसके अपने तत्त्वों में अथवा उन तत्त्वों के व्यवहार में प्रकट होता हो उसका एकत्व केवल इसी बात में है कि हमने उसके तत्त्वों या कारकों के विषय में एक साथ विचार करना उचित समझा। उदाहरण के तौरपर दस ईंटों के जमाव अथवा योगका अपना कोई स्वरूप अथवा उपलक्षण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता कि हम एक ही मानसिक क्रिया के अन्तर्गत उन सब के बारे में एक साथ सोचते हैं। उस योग का कोई संयुक्त वजन भी तब तक नहीं होता जब तक कि आप अपनी दसों ईंटों को एक ही गाड़ी पर अथवा तराजू के एक पलड़े पर नहीं रखते। जहाँ आपने एक बार ऐसा किया वहाँ ही, एक धरातल पर उनका भार एक साथ पड़ना ज्योंही शुरू होता है त्योंही वे ईंटें एक सच्ची पदार्थीय व्यवस्था बन जाती हैं।

(ब) ना ही वास्तविकता के विश्व को अंशों का समग्र मात्र ही समझा जा सकता है। अंशों अथवा खण्डों का समग्र एक योगतन्मात्र की अपेक्षा, व्यवस्थित एकत्व के आदर्श के कहीं अधिक निकट होता है, क्योंकि समग्र रूपेण उसका एक निर्धारित या परिमित एकल स्वरूप ऐसा होता है जो समग्र के विभिन्न भागों की संरचना में अपने आप को व्यक्त किया करता है। कोई आकृति अथवा मशीन इसी कारण वैभिन्न्यों की सच्ची इकाई होती है। लेकिन इस मामले में हम वस्तुतः यह नहीं कह सकते कि एकत्व और

वैविध्य दोनों ही समानतः वास्तविक हैं क्योंकि खण्डों के बिना समग्र का अस्तित्व नहीं रह सकता, जहाँ कि खण्ड, निस्सन्देह इस समग्र के खण्ड रूप में नहीं, अपितु समग्र के बिना विद्यमान रह सकते हैं। समग्र बनता ही खण्डों के क्रमिक प्रजनन अथवा संरचन से और इसीलिए उसे पहले से वर्तमान खण्डों द्वारा निरूपित कहा जा सकता है किन्तु खण्ड समग्र का नाश हो जाने के बाद भी वर्तमान रह सकते हैं। इस उदाहरण के मामलों में दोनों ही पक्षों की वह समतुल्य वास्तविकता तथा पारस्परिक पूर्ण अन्तर्ग्रस्तता नहीं दीखती जिसे हमने यथार्थ और व्यवस्थित एकत्व के लिए आवश्यक माना था।

(स) कुछ बातों में खण्डों के समग्र तन्मात्र की अपेक्षा जैव तन्त्र कहीं सच्चा एकत्व होता है। उस का अपना ऐसा व्यवस्थित स्वरूप हुआ करता है जो उसके विभिन्न अंगों द्वारा तथा इन अंगों में स्वयं व्यक्त हुआ करता है। वह उन अंगों का परिणामी नहीं होता अपितु वह उनका जीवित एकत्व होता है। अंग, समग्र के साथ, तथा समग्र के वृद्धिक्रम के दौरान ही अस्तित्व प्राप्त करते हैं और वे अंग समग्र से विलग कर दिये जाने के बाद भी विद्यमान भले ही रहें लेकिन उनका अस्तित्व तब वैसा नहीं होता जैसा कि समग्र के अस्तित्व के समय था।[1] किन्तु मशीन जैसे किसी संगठन में एक और अनेक की वह यथार्थतः पूर्ण तथा व्यवस्थित एकता, जिसकी हमें तलाश है, हमें नहीं दिखायी पड़ती। मशीन में बहुलता का रूप अपेक्षतया अधिक वास्तविक है, एकत्व का बहुत कम। किसी पूर्णतया विकसित संगठन अथवा तन्त्र में बहुलता की अपेक्षा एकता अधिक पूर्णतया वास्तविक दिखायी पड़ा करती है। क्योंकि वह एकता चैतन्य प्रकार की होती है और किसी हद तक कम से कम, उसका अस्तित्व स्वयं अपने लिए ही होता है। और उसके अंग उसके वास्ते विद्यमान रहते हैं। जब कि यह बहुत अधिक सन्देहास्पद होना चाहिए कि क्या अंग का अस्तित्व अपने ही लिए होता है या नहीं और इससे भी ज्यादा सन्देहास्पद यह होना चाहिए कि क्या समग्र का अस्तित्व अपने अंगों के हेतु है या नहीं। और अंग, यद्यपि समग्र के अंग होने के नाते प्राप्त अपने विशिष्ट रूपयुक्त अस्तित्व को, उस अंगत्व के बिना भी अपने साथ बनाए नहीं रख सकता तो भी उच्चतम

---

१. **जैसा कि अरस्तू ने अनेक बार कहा है कि, उदाहरणार्थ मनुष्य के हाथ को जब शरीर से अलहदा कर दिया जाता है तब 'हाथ' नहीं रहता, वह केवल मूर्ति के हाथ का पर्यायवाची मात्र रह जाता है। जिस प्रकार मूर्ति का हाथ सच्चा हाथ नहीं होता उसी तरह वह कटा हाथ भी एक बेमाने चीज हो जाता है। वह चीज सच्चा हाथ तभी कहलाती है जब सच्चे हाथ की-सी हरकत करती है। कप्तान कटल का आँकड़ा शायद कटे हाथ से कहीं अधिक, हाथ कहलाने योग्य प्रतीत होता है।**

तंत्र में भी एकत्व अपेक्षतया इतना अधिक अनिर्भर हुआ करता है कि कुछ अंगों के हटा दिए जाने पर भी वह एकत्व अप्रभावित ही बना रहता है।

ना ही प्रत्येक अंग को जीवित रखने के लिए जीवनदायी महत्त्व की वस्तु होता है। किन्तु किसी परिपूर्ण व्यवस्थित एकता में, जैसा कि हमने देखा, व्यवस्थागत एकत्व और बाहुल्य दोनों ही का सामान रूप से वास्तविक और समान रूप से ही अन्योन्य-निर्भर होना आवश्यक होता है। और यह तभी हो सकता है, जब कि समग्र का अपने अंगों के लिए अस्तित्व हो और अंगों का समग्र के लिए। मामला ठीक ऐसा ही बन सके इसलिए, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, जिस प्रकार कि सर्वग्राही वास्तविकता के समग्र का अनुभूति रूप होना आवश्यक है उसी प्रकार उस समय के प्रत्येक अंग का स्वयं भी अनुभूतिरूप होना आवश्यक है। और चूँकि अंग मिल कर एक एकल व्यवस्था का निरूपण करते हैं और जिस प्रकार कि किसी अंग की अनुभूति में ऐसी कोई बात नहीं हुआ करती जो अनुभूति के समग्र में मौजूद न हो उसी प्रकार दूसरी ओर भी समग्र में ऐसी कोई चीज़ नहीं हो सकती जो प्रत्येक अंग की अनुभूति को किसी न किसी तरह प्रभावित न करे। ऐसा होने पर ही हम ऐसी व्यवस्थापूर्ण वास्तविकता की कल्पना कर सकते हैं जिसमें व्यवस्था विषयक ऐसा और बाहुल्य दोनों ही समान रूप और समानतः वास्तविक हों। सही कहा जाय तो इस प्रकार का अभिमत मुश्किल से ही बाहुल्यवाद अथवा एकत्ववाद कहा जा उकेगा। वह अभिमत बाहुल्यवाद इसलिए नहीं है चूँकि वह व्यवस्थागत ऐक्य को भ्रान्ति नहीं मानता न अव्याख्यायेय आकास्मिक घटना। उसे एकत्ववाद भी इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह बहुलता को भ्रान्तिजनक नहीं मानता। इसके लिए अगर किसी नाम की जरूरत हो तो हम शायद उसे व्यवस्थित आदर्शवाद का नाम दे सकते हैं।

६—तब हम कह सकते हैं कि वास्तविकता एक ऐसी व्यवस्थागत अनुभूति का नाम है जिसके विधायक अंग भी अनुभूतियाँ ही होती हैं। अगर हम उसे ऐसा विषय कहें जो अपने अधीनस्थ विषयों की इकाई है तो भी बात वही रहेगी। पहले-पहल तो यह कहना लुभावना लगता है कि वह स्वात्मों का स्वात्म है। लेकिन सामयिक मनोविज्ञान स्वात्म शब्द का उपयोग जिस अर्थ में करता है उस अर्थ के बारे में वर्तमान सन्देहास्पदता के कारण यह उचित जान पड़ता है कि इस शब्द का प्रयोग ही न किया जाय, जिससे उसके दुरुपयोग का मौका ही न आये।[1] यह कह सकना

---

१. **आगामी किसी अध्याय में (चतुर्थ खण्ड, अध्याय ३) यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि स्वात्म के किसी भी उपयोगी यथार्थतानुसार 'स्वात्म' शब्द वास्तविकतावाचक नहीं होता न 'स्वात्मों' का समूह ही उसका वाचक है।**

असंभव-सा ही है कि सही तौर पर किसी एक 'स्वात्म' से हमारा क्या अभिप्राय हुआ करता है जब कि सामान्य तौर पर यह कह सकना संभव होता है कि एक अनुभूति से हमारा क्या अभिप्राय होता है। किसी अनुभूति को एक और वही उस हद तक कहा जा सकता है जहाँ तक कि वह, किसी एकल संगत प्रयोजन अथवा हित की, उस सीमा जहाँ तक कि तथ्यतः उसका कोई साध्यपरक एकत्व हो, एक व्यवस्थीकृत अभिव्यक्ति हो। व्यवहार में ठीक तौर पर यह बता सकना असंभव हो सकता है कि कब यह शर्त पूरी होगी किन्तु सामान्य मानस जीवन की प्रतिद्वंद्विनी विचार-व्यवस्थाओं तथा असामान्य मानस जीवन के 'द्वैत' और 'बहुल' व्यक्तित्वों के बीच चलने वाले संघर्ष के मनोवैज्ञानिक तथ्यों से थोड़ा-सा भी परिचय सिद्ध कर देगा कि एकल अनुभूति के लिए हमारी परिभाषा द्वारा निर्धारित मर्यादाएँ, 'स्वात्म' अथवा 'व्यक्तित्व' विषयक अस्थिर अर्थों के अनुसार मेरे 'स्वात्म' और मेरे 'व्यक्तित्व' सम्बन्धी अर्थों से मेल नहीं खातीं। जिन सीमाओं के भीतर रहता हुआ अनुभव, हमारी परिभाषानुसार एक अनुभूति बना रहता है, जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध है, वे प्रायः संकीर्णतर ही होती हैं। किन्तु परिभाषा के अनुसार वे सीमाएँ 'स्वात्म' के लिए आमतौर पर निर्धारित की जा सकने वाली सीमाओं से विस्तृततर भी हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त हमारी व्यवस्था के प्रत्येक अंग के स्वयं अन्य लघुतर व्यवस्थाओं की एक व्यवस्था रूप हो सकने की संभाव्यता के विषय में हम जो कुछ पहले कह चुके हैं उसके कारण हम अपने अभिमत को किसी ऐसे सिद्धान्त के साथ एकाकार नहीं कर सकते जो आणविक और सरल 'स्वात्मों' को वास्तविकता के तत्त्व घोषित करता है।

इसी विचार को दूसरे तरीके से कहने का तरीका यह भी होगा कि वास्तविकता ऐसा व्यष्ट है जिसके तत्त्व भी लघुतर व्यष्ट ही होते हैं। इस प्रकार के कथन का फायदा यह है कि उससे वास्तविक के ऐक्य का मूलतः साध्यपरक स्वरूप और उभर आता है और साथ ही उसके कारकों में से प्रत्येक कारक का और सब कारकों का मूलतः साध्य पत्रक स्वरूप भी स्पष्टतर हो उठता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, कोई वस्तु उसी सीमा तक व्यष्ट हुआ करती है जिस सीमा तक कि वह अनन्य होती है। अनन्य केवल वही हो सकती है जो किसी एकल प्रयोजन अथवा हित का मूर्त रूप हो। अनुभूति का वह समग्र जिसकी समग्रता के एकत्व का कारण वह पूर्णता और एकतानता है जिसके अनुपातानुसार वह किसी एकल प्रयोजन अथवा हित को व्यक्त करता है, निश्चित रूपेण व्यष्ट होता है। इस प्रकार वास्तविकता की निर्मायिका सर्वग्राहिणी अनुभूति अपने आभ्यन्तरतम स्वरूप में एक पूर्ण व्यष्ट हुआ

करती है। और वास्तविकता के पादार्थिक अन्तर्विषय स्वरूप तत्त्वों की निरूपिका लघुतर अनुभूतियों में से प्रत्येक अनुभूति उस सीमा तक जहाँ तक वह स्वयं एक सही अनुभूति रूप होती है, व्यष्ट उसी माने में होती है जिस माने में कि समग्र अनुभूति व्यष्ट होती है। अतः वास्तविकता को हम अवर अथवा अपूर्ण व्यष्टों का एक पूर्ण और पूर्णात्पूर्णतर व्यष्ट कह सकते हैं।

महान्‌तम व्यष्ट समग्र तथा लघुतर व्यष्टों का पार्थक्य किस बात में हुआ करता है इसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। इसी बीच आइए हम दो बातें नोट कर लें—(१) संख्यात्मक एकता मात्र किसी व्यष्ट की महत्ता की द्योतक नहीं होती। उसकी गुणात्मक अनन्यता ही महत्त्वपूर्ण होती है। ऐसी किसी भी अनुभूति को जिसे हम व्यष्ट कह सकें, केवल इसलिए ही व्यष्ट नहीं कहना पड़ेगा चूँकि उसकी संख्या एक है अनेक नहीं, अपितु इसलिए कि वह एक संश्लिष्ट प्रयोजन की संगत और एकरस अभिव्यक्ति है। गणना की दृष्टि से देखें तो, इस प्रकार का हर एक व्यष्ट आवश्यक रूप से अनेक और एक ठीक इस वजह से होगा क्योंकि वह व्यवस्था रूप है। अनुभूति की परिपूरित व्यवस्था, निरपेक्ष व्यष्ट अथवा परम व्यष्ट पर यह बात खास तौर पर लागू होती है। वह प्रारंभ से ही इसलिए व्यष्ट नहीं होता चूँकि वह गिनती में एक होता है अपितु वह व्यष्ट इसलिए हुआ करता है चूँकि वह किसी संश्लिष्ट विचार अथवा प्रयोजन की परिपूर्ण अभिव्यक्ति होता है। इस तथ्य को आँख ओझल कर देना ही बहुतेरे एकत्ववादी सिद्धान्तों का दोष रहा है। इस पर जोर देने के बजाय वे वास्तविक की गणनात्मक एकता को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

(२) पहले ही व्याख्यात अर्थों में व्यष्ट किसी अनुभूति को ही हम 'स्पिरिट' अथवा 'आत्मा' नाम से पुकारते हैं। 'प्राकृतिक पदार्थ' जैसी अनुमानित अनात्मवान् वस्तुओं के साथ वैषम्य-निदर्शन द्वारा आत्म को परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि इस आधार पर की गयी परिभाषा का अर्थ यह दृढ़ कथन मात्र ही होगा कि आत्म वह वस्तु है जो अनात्म नहीं होती। इससे आत्म शब्द द्वारा अभिधेय वस्तु के विषय में हमें कुछ भी न पता लगेगा, न 'आत्म' शब्द की सही परिभाषा उसे 'चेतनता' नामक विविक्त विचारणा की विविध दशाओं अथवा परिवर्तनों की शृंखला बता कर ही की जा सकती है। आत्मात्मक अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व जिस निश्चयात्मक लक्षण द्वारा पहचाना जा सके वह यह है कि उसके 'किं' और 'तत्' दोनों ही अव्यवहृत भावना के ऐक्य में मिल जाते हैं। और अव्यवहृत भावना जैसा कि हम देख चुके हैं, साररूपेण साध्यपरक होती है। जहाँ कारकों की ऐसी सम्बद्ध व्यवस्था आपको मिले जिसे उस व्यवस्था की एकता के आधारभूत किसी स्पष्ट या अस्पष्ट लक्ष्य के संदर्भ में आप समग्रतः समझ सकते हों वहाँ ही आपको स्पिरिट, आत्म या भावना के दर्शन

हो सकते हैं। जहाँ इस प्रकार की 'आत्मा' अथवा ऐसी 'भावना' आपको मिले वहाँ ऐसी व्यवस्था भी आपको मिलेगी। अतः वास्तविकता को व्यष्टों का व्यष्ट कहने के माने यह कहना ही है कि वह ऐसी आत्मिक अथवा भावनात्मक व्यवस्था है जिसके तत्त्व, कारक अथवा पद भी अपने कई आत्मक अथवा भावनात्मक व्यवस्था रूप होते हैं।[1] इस प्रकार हमारा सिद्धान्त आदर्शवाद नाम से अभिहित होने का बहुत कुछ अधिकारी प्रतीत होता है जबकि प्रचलित प्रथानुसार यह नाम इस अभिमत को दे दिया गया है कि समस्त अस्तित्व अन्तिमेत्थरूपेण मानस होता है।

७—वास्तविकता के व्यष्ट समग्र तथा उस समग्र के अन्तर्गत तत्त्वों अथवा कड़ियों या पदों का मध्यगत उपर्युक्त प्रकार का संबंध आवश्यकरूपेण अनन्य होता है और दैनंदिनीय अथवा वैज्ञानिक विचारणा द्वारा मान्यीकृत किसी कम पूर्ण प्रकार के एकत्व द्वारा उसे पर्याप्तरूपेण उदाहृत नहीं किया जा सकता। 'अंगों' के 'अंगों के समग्र' के साथ अथवा 'पुर्जों' के 'पुर्जों के समग्र—पूरी मशीन' के साथ सम्बन्ध के समान ही उपर्युक्त तत्त्वों तथा समग्रता के संबंध की भी यान्त्रिक सम्बन्धवत् कल्पना हमें न करना चाहिए। साथ ही शरीर के अथवा प्राणितन्त्र के अंगों और पूरे प्राणी के मध्यगत जैवशास्त्रीय संबंध में समान ही तत्त्वों और तत्त्व समग्र के मध्यगत सम्बन्ध की कल्पना से भी हमें वचना होगा। इस प्रकार के सादृश्यों में प्रायः संयोजन के उस गहरे सम्बन्ध को नजरन्दाज कर दिया जाता है जो तत्त्वों और सकलता के बीच न केवल आपस में अथवा एक दूसरे के द्वारा मौजूद होता है अपितु वह सम्बन्ध भी आँख-ओझल कर दिया जाता है जो उन दोनों का एक दूसरे के प्रति होता है।

परम अनुभूति की निर्मायक व्यष्ट अनुभूतियों की स्वयं अपनी भी एक यथार्थ व्यष्टता, भले ही वह अपूर्ण और आंशिक क्यों न हो, हुआ करती है। वे उस परम अनुभूति 'वैचारिक रूपेण' अथवा अभिप्रेतार्थतया इस प्रकार नहीं रहते जिस प्रकार कि किसी वृत्त परिधि के वक्र पर अवस्थित बिन्दु वृत्तान्तर्गत कहा जाता है। दूसरी ओर

---

१. हमें पाठकों को पुनः स्मरण दिलाना होगा कि मन के इस उद्देश्यपरक स्वरूप को स्वीकार कर लेने से मानसिक दशाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता का पूर्व-परिहार नहीं होता। उस विश्लेषण में, मानसिक दशा के अन्य कारकों के साथ-साथ एक विशेषीकृत पहलू के रूप में अथवा एकाकीकृत मानस-दशा के निर्मायक के रूप में प्रस्तुत्यात्मक और आवेगात्मक पक्षों आदि जैसे संकल्पात्मक तत्त्व को भी शामिल कर लेने की आवश्यकता उसके कारण नहीं होती। कहा जा सकता है कि 'तिपहल' अथवा त्रि-पक्षीय मनोविज्ञान, समग्र मनस्तत्वीय तथ्य को स्वयं अपना अंगभूत यदि मानता है तो गलती करता है।

समग्र भी एक वास्तविक व्यष्ट होता है न कि ऐसा सामूहिक झुंड मात्र जिसके भाग तो वास्तविक होते हैं पर उनका एकत्व केवल कल्पनात्मक ही होता है। अगर चाहें तो हम यों भी कह सकते हैं कि वह परम अनुभूति अनुभूतियों अथवा मानसों से बनी होती है किन्तु हमें यह कभी न कहना होगा कि वह अनुभूति मानसों का संचय अथवा समूह है। क्योंकि समूह तन्मात्र में, जैसा कि हमने देखा, जहाँ तक वह एक संचय अथवा समूह मात्र से अधिक कुछ नहीं होता वहाँ तक यथार्थ व्यष्टता विद्यमान है ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें उद्देश्यपरक रचनात्मक एकत्व उतने से अधिक नहीं होता जितना कि हम उसके खण्डों की गणना करते समय अर्थात् उन्हें क्रमानुसार सज्ज करते समय ही मनमाने तौर पर तथा उसकी अपनी प्रकृति से वाह्य लक्ष्यों के संदर्भ में उसमें अध्यादधृत कर देते हैं। क्या निरपेक्ष समग्र को मानसों का समाज कह सकते हैं, यह नहीं, एक और भी कठिन अगला प्रश्न हमारे सामने आता है। समाज किसी समूह से बहुत बढ़ी-चढ़ी वस्तु है। उसकी संरचना किसी एक उद्देश्य को लेकर की जाती है। और वह औद्देश्यीय एकता केवल वाहर ही उसे देखने वाले समाजशास्त्रीय प्रेक्षक के लिए ही नहीं होती अपितु वह अपने सदस्यों का, अन्य सदस्यों के साथ उनके संबंध के अनुसार विशिष्ट स्थान निर्देश करने वाली सक्रिय शक्ति के रूप में वर्तमान रहती है। समाज में इस प्रकार की एकता किस हद तक स्वयं अपने लिए होती है इस प्रश्न का उत्तर हम सब तब तक न दे पायेंगे जब तक कि स्वात्मत्व और व्यष्टत्व के पारस्परिक संबंध की समस्या का पूर्णतः विवेचन न कर लेंगे। और जव तक हम उस प्रश्न का उत्तर नहीं दे लेते तब तक हमें इस बात के फैसले को स्थगित रखना पड़ेगा कि क्या निरपेक्ष की व्यवस्थित व्यष्टता को तब पर्याप्त मान्यता प्राप्त हो सकेगी जब हम उसे एक समाज मान लें। (देखिए आगामी खंड ४, अध्याय ३)

यदि इस मौके पर हमें किसी एकल परम व्यष्ट के अन्तर्भूत व्यष्टों के उस प्रकार के एकत्व के विषय में, जैसा कि हम वास्तविकता-विषयक व्यवस्था में चाहते हैं, अपनी व्यावहारिक आंशिक अनुभूति के अन्तर्गत कोई ऐसा अनुरूप दरकार हो तो इस दुनिया की सबसे ज्यादा परिचित वस्तु अपनी वैयक्तिक अनुभूति की ओर मुड़ना ही हमारे लिए सर्वोत्तम होगा। यदि हम किसी संश्लिष्ट प्रयोजन अथवा 'मानस तन्त्र' के स्वरूप या उसकी प्रकृति पर विचार करें तो हम देखेंगे कि प्रयोजन की संश्लिष्ट मूर्तता के रूप में उसकी अपनी ही व्यष्टता की कुछ न कुछ मात्रा उसमें मौजूद है। उसमें व्यापकता तथा हित विषयक आभ्यन्तर एकरूपता और व्यवस्थित संरचनात्मकता जितनी मात्रा में होगी उसी अनुपात में वह एक यथार्थ, आत्मास्तित्ववान, उस प्रकार का व्यष्ट समग्र होगा जिसे मनोविज्ञानी

'स्वात्म' नाम से पुकारते हैं । और फिर जिस सीमा तक मेरे जीवन में निर्धारित चरित्र जिस मात्रा में प्रकट होता है उतनी ही मात्रा में इन प्रयोजनों अथवा अवर 'स्वात्मों' की वृहत्तर क्रम व्यवस्था निरूपित होगी तथा वह व्यष्ट भी जिसे मेरा 'सकल स्वात्म' भी कह सकते हैं । और लघुतर या अवर स्वात्म तथा वह बृहत्तर क्रम व्यवस्था दोनों ही वास्तविक शब्द के उसी अर्थानुसार वास्तविक होंगे। दोनों में से कोई भी केवल अन्य में अथवा दूसरे के लिए विद्यमान नहीं होता। विस्तृततर अथवा समग्र 'स्वात्म' विशिष्टता स्वात्मों का न तो समूह तन्मात्र ही होता है न विशिष्ट स्वात्मों का परिणामी मात्र अथवा उत्पाद । ना ही वे विश्लेषण और अपकर्षण की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं के ही परिणाम मात्र ही होते हैं। वे स्वात्म जब तक जरा से भी यथार्थ व्यवस्था रूप होते हैं तब तक समग्र के अंग नहीं होते अपितु उनमें से प्रत्येक, मूर्त चेतन जीवन के अन्तर्गत, एक विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार, बृहत्तर समग्र के स्वरूप की अभिव्यक्त करता है। समग्र भी प्रत्येक भाग में बराबर से यदि उपस्थित नहीं होता तो भी समग्रतः प्रत्येक भाग में मौजूद रहता है और ठीक इसी वजह से समग्र और खण्ड का श्रेणी विभाजन उनके आपसी सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए अपर्याप्त होता है । कुछ-कुछ इस तरीके से ही लघुतर व्यष्टों के किसी भी व्यष्ट समग्र की संरचना भी हमें प्रकल्पित करनी होगी। इस आनुरूप्य के होते हुए भी समग्र वास्तविकता या सत् को स्वात्म कहना क्यों वांच्छनीय नहीं है यह बात ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ेंगे त्यों-त्यों स्पष्टतर होती जायगी ।[१]

८—यहाँ हमने जिस मत का निरूपण किया है वह इतिहास-प्रसिद्ध अन्य सभी अभिमतों की अपेक्षा स्पिनोज़ा की, मानव-मन और 'अपरिमित ईश्वरीय प्रज्ञा' के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक परिकल्पना से अधिक मिलता-जुलता है। स्पिनोज़ा के मतानुसार मानव मन 'चेतना की एक ऐसी अनन्त विधा' है जिसे यदि इसी प्रकार की अन्य विधाओं के साथ मिला लिया जाय तो वह 'ईश्वर की अपरिमित प्रज्ञा' बन जाय। 'अनन्त' के अर्थ सम्बन्धी पचड़े में हम तब तक पड़ना नहीं चाहते जब तक कि हम कालीय प्रक्रिया के साथ अनुभूति के संबंध पर विचार नहीं कर लेते हैं। परिभाषा के शेष भाग का सामान्य अभिप्राय स्पष्ट रूप से हमारे उस अभिमत से एकदम मिल-जुल जाता है जो हमने परम अनुभूति तथा उसकी कारक अनुभूतियों के संबंध के विषय में व्यक्त किया है। क्योंकि स्पिनोज़ा की 'विधाओं' के विषय में लोगों का

---

१. आगामी खण्ड ४ अध्याय ३ देखिए जहाँ से पता चलेगा कि सामाजिक समग्र के साथ व्यष्ट स्वात्म का संबंध हमारे इस नियम का पूर्णतया संतोषजनक न सही पर और भी अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

पक्का ख्याल है कि वे स्पिनोज़ीय चरम सत, 'पदार्थ' अथवा 'ईश्वर' के स्वरूप की यथार्थतः व्यष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। उनकी व्यष्टता तथा उनकी अपरिमित बहुलता माया या भ्रान्ति का परिणाम नहीं है न वह अवैध विविक्त विचारणा का ही परिणाम है। और दूसरी ओर 'पदार्थ' अथवा 'सारतत्त्व' स्वयं भी यथार्थतः व्यष्ट है। वह अन्तिमेत्थतया अनिर्भर अनेक वस्तुओं के सामान्य गुणधर्मों का अमूर्त नाम मात्र भी नहीं है।

स्पिनोज़ीय सिद्धान्त के मानव मन के स्वरूप विषयक अंश के विरुद्ध की गयी आलोचना का अधिकांश इन विचार-बिन्दुओं में से पहले विचार के अन्यथा ग्रहण पर आधारित प्रतीत होता है। स्पिनोज़ा ने चूँकि खण्ड और समग्र के संख्यात्मक 'पदार्थ' का उपयोग सारतत्व और उसकी विधाओं के संबंध को व्यक्त करने के लिए किया है इसलिए लोगों ने उसका गलत मतलब यह लगाया कि वह परिमित अनुभूति की याथार्थिक व्यष्टता को नहीं मानता और इसीलिए परिमित के अस्तित्व को निराधार भ्रान्ति मात्र घोषित करता है। इस प्रकार मिथ्या-व्याख्यात उसके सिद्धान्त के साथ निस्सन्देह हमारे सिद्धान्त का कोई सादृश्य नहीं है। उसे भ्रान्ति कहने से भी किसी बात का स्पष्टीकरण नहीं होता। उसे चाहे जितने कठोर नामों से पुकारिए फिर भी 'भ्रान्त' तथ्य तो वर्तमान रहेगा ही, किसी भी अन्य तथ्य के समान वह भी व्याख्यापेक्ष्य है। हमारा सिद्धान्त परिमित व्यष्टता को भ्रान्तियुक्त कह कर उड़ा नहीं देना चाहता बल्कि वह उसके अर्थ का अभिनिश्चयन चाहता है। वह उसकी सीमाएँ भी जानना चाहता है और साथ ही यह कि अनुभूति के इस पूर्ण व्यष्ट समग्र के साथ जिसे स्पिनोज़ा ईश्वर की 'अनन्त प्रज्ञा'[1] कहता है, उसका क्या संबंध है।

चूँकि स्पिनोज़ा का यहाँ जिक्र आ गया इसलिए, निस्सन्देह पाठकों के मन में उस प्रसिद्ध सिद्धान्त का सुझाव उठना स्वाभाविक है, जिसने दार्शनिक एकत्ववाद के वास्तविकता विषयक 'द्विपक्षीय' अथवा द्विगुणात्मक रूप के अनुक्त विकास में बहुत बड़ा योगदान किया है। आधुनिक एकत्ववाद ने स्पिनोज़ा से ही यह बात सीखी कि मानस तथा भौतिक क्रम व्यवस्थाएँ उभयनिष्ठ अन्तर्हित वास्तविकता की दो समान्तर पर पृथक् अभिव्यक्तियों के रूप में, इस प्रकार एक दूसरे से संबद्ध हैं कि एक क्रम व्यवस्था प्रत्येक भाग का निर्धारित प्रत्येक अनुरूप भाग दूसरी व्यवस्था में मौजूद रहता है। इस आधारभूत बात पर आकर हमारा सिद्धान्त स्पिनोज़ा के सिद्धान्त से पूर्णतया पृथक् हो जाता है जैसा कि हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। यह बात कि एक ही

---

१. स्पिनोज़ा के सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेषतः देखिए 'एथिक्स' १. १५, २५; २. ११, ४०; ३. ६–९; ५. २२, २३। साथ ही उसके सिद्धान्त का कोई अच्छा भाष्य भी देखिए उदाहरणतः पोलक और जो आश्रिम कृत टीकाएँ।

उभयनिष्ठ समग्र दो एकदम अविघटनीय रूपों में समान रूप से अभिव्यक्त हो, कभी भी संभाव्य नहीं है। संगत रूप से यदि हम विचार करना चाहेंगे तो या तो हमें समग्र के एक होने की बात छोड़ देनी होगी या फिर उसकी जुड़वा अभिव्यक्तियों के एकान्त पार्थक्य की बात का त्याग करना होगा। इसीलिए हम यह पूछे बिना रह ही नहीं सकते कि माना हुआ उभयनिष्ठ स्वरूप इन दोनों ही शृंखलाओं में से किसमें ज्यादा अच्छी तौर पर अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रश्न के उत्तर के अनुसार ही अन्त में हम अपने आपको या तो ठेठ भौतिकवाद की ओर धकेला जाते पायेंगे या फिर ठेठ आदर्शवाद की ओर। हमारी पूछें तो हम तो इस प्रेक्षण द्वारा कि वास्तविकता या सत् अनुभूति का ही नाम है और वह अन्य कुछ भी नहीं, यह मानने के लिए पहले ही से बाध्य हो चुके हैं कि आभासतः पृथक् दिखायी पड़ने वाली दोनों शृंखलाओं का अन्ततः अवश्य ही मानसिक होना चाहिए। इस प्रकार हमारा सिद्धान्त स्पिनोज़ा के 'सिद्धान्त' से बहुत ज्यादा मिलता-जुलता तब कहा जा सकता है जब उसमें से 'विस्तृत' विशेषण को उसकी योजना में से निकाल दिया जाय और समग्र वास्तविकता या सकल सत् को ईश्वर की 'अनन्त प्रज्ञा' मान लिया जाये।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—बी० बोसांक्ये कृत 'एसेंशियल्स ऑफ लाजिक', ले० २; 'लाजिक' वॉ २, अध्याय ७; एफ० एच० ब्रैडले लिखित, 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' अ० १३, १४, २०; एल० टी० हॉबहाउस कृत 'थियरी ऑफ नालेज' भाग ३, अध्याय ६, 'रियलिटी ऐज़ ए सिस्टेम' एच० लोत्ज़े कृत 'मेटाफिज़िक्स' बु० १ अध्याय ६ (अंग्रेज़ी अनुवाद वॉ० १ पृ० १६३–१९१); जे० एस० मैकेंज़ी लिखित, 'आउट लाइन्स ऑफ मेटाफिज़िक्स' बुक १, अध्याय २, ३; बुक ३ अध्याय ६; जे० ई० मैकटेगार्ट कृत 'स्टडीज़ इन हीगेलियन कास्मालाजी' अध्याय २।

अध्याय ३

सत् अथवा वास्तविकता और उसका आभास

१—यतः सत् एक एकल व्यवस्थित समग्र है इसलिए उसके निर्मायक तत्त्वों का स्वरूप समग्र व्यवस्था की ज्ञान-प्राप्ति द्वारा ही पूर्णतया बोद्धव्य है। अतः उसके 'आभासों' में से प्रत्येक आभास को जब तक स्वतः एक समग्र नहीं माना जाता तब तक वह न्यूनाधिकतया व्याघाती ही रहता है। २—किन्तु कुछ 'आभास' समग्र की संरचना को दूसरों की अपेक्षा अधिक पर्याप्त प्रदर्शित करते हैं इसीलिए उनमें वास्तविकता की मात्रा उच्चतर होती है। ३—वास्तविकता की मात्रा की इस कल्पना को, गणितीय अनन्त और अत्यणु के अनुवर्ती क्रमों की तुलना द्वारा निर्दशित किया जा सकता है। विश्व की अन्तर्वस्तुओं को वास्तविकता की क्रम शृंखलाओं में उपयुक्त स्थान दिलाने का काम पूर्ण दर्शनशास्त्र का होगा। ४—सामान्यतया कोई भी अधीनस्थ समग्र उसी अनुपात में वास्तविक हुआ करता है जिस अनुपात में कि वह एक आत्मपरिपूर्ण समग्र होता है। और वह एक आत्मपरिपूर्ण समग्र उसी अनुपात में हुआ करता है जिस अनुपात में कि वह (अ) 'व्यापक' और (ब) व्यवस्थित होता है। अर्थात् कोई वस्तु वहाँ तक ही वास्तविक होती है जहाँ तक कि वह सही तौर पर व्यष्ट होती है। ५—व्यष्टता की दोनों ही कसौटियाँ संपातिनी होते हुए भी, हमारी अन्तर्दृष्टि हेतु विशेष मामलों में इसलिए एक दूसरे से विलग हो जाती हैं क्योंकि मानवीय ज्ञान सीमित होता है। ६—अन्ततोगत्वा केवल अनुभूति की समग्र व्यवस्था ही पूर्णतया व्यष्ट होती है। अन्य सभी व्यष्टता सन्निकटीय ही होती है। ७—दूसरे शब्दों में अनुभूति की समग्र व्यवस्था एक अनन्त व्यष्ट है और सभी अधीनस्थ व्यष्टता परिमित या सान्त होती है। इस स्थिति की लीबिनिट्ज़ के सिद्धान्त के साथ तुलना। ८—वास्तविकता अथवा सत् के उसके आभास के साथ के संबंध के विषय में पुनरावृत्तिपरक विवरण।

१—हम जान चुके हैं कि वास्तविक को व्यष्ट अनुभूति के निरूपक एक ऐसे व्यवस्थित समग्र के रूप में ही देखना होगा जो ऐसे तत्त्वों अथवा कारकों से बना है जो अपने तईं भी व्यष्ट अनुभूति रूप होते हैं। इन कारकों में से प्रत्येक कारक में समग्र व्यवस्था का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार से अपने आपको व्यक्त किया करता है। उनमें से प्रत्येक अपनी विशिष्ट अन्तर्वस्तु का प्रतिदान समग्र व्यवस्था के निर्माणार्थ किया करता है और चूँकि उनमें से किसी एक के भी दमन अथवा परिवर्तन से समग्र व्यवस्था

का स्वरूप भी बदल जाता है इसलिए समग्र की प्रकृति ही समग्र के प्रत्येक कारक के स्वरूप की निर्धारिका होती है। इस प्रकार समग्र तथा उसके अंगीभूत कारक परस्पर पूर्णतया अन्तर्विद्ध रहते हैं और पूर्णत्पूर्णता विशुद्ध इकाई बने रहते हैं। लीबिनिट्ज़ के सुखद शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि प्रत्येक खण्डानुभूति अपने विशिष्ट 'निदर्शन बिन्दु' के अनुसार समग्र को प्रतिबिम्बित किया करता है। स्वरूपस्थ इस परिपूरित व्यवस्था को यदि हम उत्कृष्टतम वास्तविकता अथवा श्रेष्ठतम सत् कह सकें तो उन खण्डानुभूतियों को जिनमें उस वास्तविकता का स्वरूप विभिन्नतया अभिव्यक्त हो रहा होता है सही तौर पर हम उसका आभास कह सकेंगे। फिर भी हर तरह से हमें यह याद रखना होगा कि उन खण्डानुभूतियों को आभास की संज्ञा देना उन पर 'भ्रान्तिमयी' अथवा 'अवास्तविक' का ठप्पा लगा देना नहीं है। वे उसी समय मायावी अथवा भ्रान्त मानी जायँगी जब भूल जायेंगे कि वे सब की सब एक ऐसे समग्र के खण्डीय रूप अथवा अभिव्यक्तियाँ हैं जिसकी अन्तर्वस्तु का पर्याप्ततया विरेचन उनमें से कोई भी नहीं कर पाता।

जब उपर्युक्त तथ्य को भूल कर हम किसी भी खण्डानुभूति से ऐसा व्यवहार करने लगते हैं मानो वह वास्तविकता के समग्र स्वरूप की पूर्ण तथा पर्याप्त अभिव्यक्ति हो—दूसरे शब्दों में, जब हम अस्तित्व अथवा विश्व के समग्र स्वरूप में उन परिकल्पनाओं का विनियोग करने लगते हैं जो केवल अस्तित्व के विशिष्ट रूपों या पक्षों पर ही वैध रूप से लागू की जा सकती हैं, तो अनिवार्यतः ही हम अपने आपको व्याघात दोषयुक्त और अनर्गल परिणामों की ओर घसीटे जाते पायेंगे ही। किसी भी समग्रीय व्यवस्था के प्रत्येक खण्डीय पक्ष या रूप को उसके समग्र रूप के सन्दर्भ में ही ठीक तरह से समझा जा सकता है इसीलिए तो यदि खण्ड को समग्र से अपकृष्ट करके उसे एक आत्मपूर्ण समग्र रूप में देखने का प्रयत्न अथवा दूसरे शब्दों में, उन धारणाओं को, जिनका विनियोग हम अनुभूतिजगत् के किन्हीं विशिष्ट रूपों में ही किया करते हैं, समग्र व्यवस्था के विनियोगार्थ भी अन्तिमेत्थतया वैध मान लेने का प्रयत्न, निश्चित रूप से हमें व्याघात के गड्ढे में ला पटकेगा। फिर व्यवस्था के समग्र स्वरूप के विषय में हमारा वर्तमान ज्ञान जहाँ अपूर्ण है वहाँ उसके कारकों की संरचना विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि भी सीमित है। इसलिए आम तौर पर यह होता है कि अपने विनियोग क्षेत्र के भीतर भी हमारे विज्ञानों की विभिन्न विशिष्ट धारणाओं पर जब विचार किया जाता है तो वे आन्तरिक व्याघात से रहित नहीं पायी जातीं। उदाहरण के लिए, भौतिकवाद की तरह, जब हम अस्तित्व की समग्र व्यवस्था की व्याख्या विशुद्ध भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली द्वारा करने लगते हैं, तब हम अत्यन्त अनर्गल निष्कर्षों पर जा पहुँचते हैं। और फिर इन धारणाओं का भौतिक पदार्थरूपेण प्रतिबद्ध

उपयोग करने पर भी हम उन्हें इस प्रकार परिभाषित नहीं कर पाते कि व्याघात दोष का कोई न कोई तत्त्व उस परिभाषा में न आ पाये।

इन दोनों ही प्रकार के बोधों में आभास के साथ व्याघात का पुट मिला रहता है। केवल इसी अन्तर्दृष्टि को ही जो अस्तित्व की समग्र व्यवस्था को एक साथ ग्रहण कर सके, उसे आभास की विवृत्तियाँ पूरी तरह संगत और एकतान दिखायी पड़ सकती हैं। लेकिन इससे यह तथ्य बदल नहीं जाता कि समग्र के किसी भी अंग या भाग के तथा अन्य भागों या अंगों के साथ उसकी संयुक्ति के बारे में हमारी अन्तर्दृष्टि जहाँ तक आत्म-संगत रहे वहाँ तक वह समग्र विषयक असली ज्ञान का, भले ही वह अपूर्ण हो, परिवहन अवश्य ही किया करती है । भले ही समग्र की संरचना विषयक हमारी विव्यक्तिमय अन्तर्दृष्टि आत्मसंगत परिशुद्ध आदर्श तक न पहुँच पाये लेकिन हो सकता है कि वह विभिन्न अंशों में, विभिन्न अवस्थितियों में अथवा विभिन्न पहलुओं के सिलसिले में, उस आदर्श के लगभग तो पहुँच ही सके। और जितना ही सान्निकट्य गहरा होगा हमारे ज्ञान को उतना ही कम रद्दोबदल, उस आभास को अपने साथ पूरी तरह एकरूप बनाने के लिए करना पड़ेगा और उसमें वर्तमान वास्तविकता विषयक सत्यांश भी उतनी ही मात्रा में अधिक होगा।

वास्तविकता और उसके आभासों की दुनिया को दो अलग और पृथक् राज्य मानने की गलती का परिहार करते रहने का हमें विशेषरूप से ध्यान रखना पड़ेगा। हमें याद रखना होगा कि किसी व्यवस्थागत एकत्व में समग्र का अस्तित्व तभी तक रह सकता है जब तक कि वह अपना स्वरूप अपने अंगों या भागों की व्यवस्था द्वारा व्यक्त करता रहता है और इसके साथ ही अंगों अथवा भागों का भी अस्तित्व भी उनके द्वारा समग्र के स्वरूप की अभिव्यक्ति बने रहने तक ही रहता है। व्यवस्था के हमें ज्ञात प्रकारों में से कोई भी प्रकार जितने अंश तक इस उपर्युक्त परिस्थिति से दूर हटता है, पूर्णतः व्यवस्थित होने की स्थिति से वह उतना ही नीचे रहता है। वास्तविकता का व्यवस्थागत समग्र होने के कारण, अपने आभास से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रह सकता फिर भी उनमें से यदि एकल रूप में किसी को लिया जाय या दोनों को मिलाकर[1] उनके योग को लिया जाय तो उनमें से एक भी समग्र की

---

१. **उनका योग नहीं, क्योंकि वास्तविकता का व्यवस्थागत समग्र योग नहीं होता अपितु एकल अनुभूति ही हुआ करता है। आभासों के योग के साथ उसे तदात्म बताना वैसी ही गलती होगी जैसी कि नीतिशास्त्र में प्रसन्नता को सुखों के योग का तदात्म्य बताने के कारण हुआ करती है। (प्रसन्नता गुणात्मक समग्र है जब कि सुखों का योगफल एक राश्यात्मक समग्र)।**

अन्तर्वस्तुओं को निःशेष नहीं कर सकता। यद्यपि कोई भी आभास वास्तविकता का समग्र नहीं होता तथापि उन आभासों में से किसी भी आभास में समग्र वास्तविकता अपने समग्र रूप में अभिव्यक्त होने से नहीं चूकती। समग्र सही तौर पर, अपने समग्र रूप में अपने प्रत्येक भाग या अंग में वर्तमान रहता है जब कि कोई भी भाग या अंग स्वयं समग्र नहीं हुआ करता।[1]

आइये अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति का उदाहरण देकर हम एक वार फिर इसी बात को स्पष्ट करें। सोचिए, किसी विशेष विज्ञान अथवा किसी विशेष व्यापक विषय पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने जैसी किसी व्यवस्थित योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए हम किस मनोयोगपूर्वक उसमें जुट पड़ते हैं ? उपर्युक्त प्रकार के मामले में हमारे विचार का केन्द्र कोई लक्ष्य. या प्रयोजन ऐसा होता है जो कार्यान्वियन प्रक्रिया के बीच ऐसे समग्र में व्याप्त किसी सर्वनिष्ठ लक्ष्य को लेकर एकीभूत हुए अधीनस्थ विचारों और हितों के परस्पर संबद्ध क्रम में विस्तार ग्रहण कर लेता है या फैल जाता है। अधीन अवस्थितियों के पूर्वापर साधन द्वारा ही यह सर्वोच्च अथवा केन्द्रीय लक्ष्य सिद्ध किया जा सकता है लेकिन साथ ही साथ जहाँ यह लक्ष्य ही व्यवस्थागत सभी अंगों को जीवन दान दिये रहता है वहाँ उन अंगों से पृथक् उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं होता, यद्यपि वह न तो उन अंगों में से किसी एक का न समष्टि रूप से गृहीत उनके योग का ही स्वरूप होता है।

२—यदि हमारा यह विश्वास कि वास्तविकता एक ऐसी एकल व्यवस्थित इकाई है जो लघुता व्यवस्थित इकाइयों में व्याप्त तथा उनमें ही अभिव्यक्त है, सही हो तो हम आशा कर सकते हैं कि क्रियात्मक जीवन विविध विज्ञानों में हमें जिन कुछ लघुता व्यवस्थित इकाइयों या एकत्वों से काम पड़ता रहता है वे अन्य इकाइयों की अपेक्षा उस समग्र के, जिसकी वे अंग हैं; सकल स्वरूप को कहीं अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित करेंगी। जिन 'दृष्टि बिन्दुओं' से प्रत्येक लघुतर व्यवस्था समग्र का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है उसका पूरी तरह सही होते हुए भी, समान रूप से सब सही होना जरूरी नहीं। किसी भी विशुद्ध या असली व्यवस्था में, यद्यपि समग्र का प्रत्येक भाग में

---

१. प्रोफेसर सिज्विक किस प्रकार अज्ञात रूप से कल्पना कर बैठते हैं कि वास्तविकता तथा आभास में परस्पर प्रभेद का मतलब दो न्यूनाधिक स्वतन्त्र 'विश्वों' या 'वस्तुओं' की पारस्पर भिन्नता है, पाठक को पर्याप्त मनोविनोद होगा (देखिए 'फिलासफी इट्स स्कोप ऐण्ड रिलेशन', लेक्चर १ व ४) । उक्त प्रोफेसर महोदय की आलोचनाविधि को हमारे जैसे मन्तव्यों के विरुद्ध समग्र वैधता की प्रतिस्थापना से वंचित रह जाना पड़ता है ।

भी समग्र रूप में उपस्थित या प्रस्तुत रहना आवश्यक है तथापि उसका सब भागों में बराबर अंश में या समान रूप से प्रस्तुत होना आवश्यक नहीं । हो सकता है कि वह 'एक बाल में उतने ही पूर्ण और उतने ही विशुद्ध रूप में मौजूद न हो जितना कि एक हृदय में' आइये एक ठोस उदाहरण द्वारा इसे समझाएँ । द्रव्यमान कणों का पुंज, मशीन जीवित शरीर-तन्त्र, और सत्य के चैतन्य तथा व्यवस्थित इकाइयाँ हैं और इसीलिए इन सब में हमें किसी न किसी अंश में उस समग्र विषय की जिसकी ये सब इकाइयाँ अंग हैं संरचना की पुनरावृत्ति देखने को मिलती है। लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि ये सब इकाइयाँ उस समग्र की संरचना को एक समान पर्याप्त और पूर्ण रूप में भी व्यक्त करती हैं । वास्तव में ऐसा कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त जो विकास को विश्व प्रक्रिया का असली लक्षण मानता हो यही कहेगा कि वे इकाइयाँ ऐसा नहीं करतीं तथा यह कि वास्तविकता की समग्र व्यवस्था का स्वरूप द्रव्यमानकण व्यवस्था की समाकृति के परिवर्तनों की अथवा भौतिक जैवतन्त्र की जीवनी प्रक्रियाओं तक की अपेक्षा चेतन मन के कार्यकलाप में कहीं अधिक अपरिमिततः पर्याप्त और स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ता है।

क्रियात्मक जीवन में हमारे अनेक अमूलोच्छेद्य विश्वासों में से एक अन्यतम विश्वास यह भी है कि अर्हता की ऐसी मात्राएँ मौजूद हैं जो बृहत्तर समग्र के स्वरूप को प्रकट करने वाली तत्संबद्ध आंशिक व्यवस्थाओं की पर्याप्तता एकदम समरूप हों। उदाहरण के लिए उन्हें मानसिक व्यवस्थाओं में, जिन्हें मेरे आंशिक 'आत्मों' के नाम से अभिहित किया जा सकता है कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ भी हैं जिन्हें मैं अन्यों की अपेक्षा 'सत्यतर' इस आधार पर कहता हूँ कि वे एक मानव सत्ता की हैसियत से मेरे समग्र स्वरूप या चरित्र को कहीं अधिक पूर्णरूप में प्रकट करती हैं। निःसन्देह मेरे मानसिक जीवन की निर्णायक अधीनस्थ व्यवस्थाओं में मेरा समग्र स्वरूप दिखायी देता है और वह ही उन व्यवस्थाओं के स्वरूप का निर्धारण भी किया करता है। उन व्यवस्थाओं में से प्रत्येक किसी एक पहलू के रूप में या संकेतों की किसी विशेष व्यवस्था पर होने वाली प्रतिक्रिया के रूप में स्वयं समग्र स्वरूप ही है लेकिन उन व्यवस्थाओं में से किन्हीं में अन्यों की अपेक्षा वह समग्र कहीं अधिक विकसित और स्पष्ट दशा में पाया जाता है। मैं चाहे जहाँ होऊँ और चाहे जो कुछ करता होऊँ किन्तु एक माने में मैं स्वयं मैं ही रहता हूँ लेकिन बीमारी की हालत वाले मैं की अपेक्षा स्वस्थ दशा वाला मैं कहीं 'अधिक मैं' होता हूँ । इसी प्रकार स्वाध्याय के स्वेच्छापूर्वक अंगीकृत स्वतन्त्र अध्यवसाय में रत मैं, जीविकार्थ आय की आवश्यकता द्वारा वांछित और इसी कारण अरुचिकर कर्तव्यों में रत मैं की अपेक्षा कहीं 'अधिक मैं' हुआ करता हूँ ।

इसीलिए वास्तविकता के साथ आभासों के सम्वन्ध के विषय में इसी प्रकार की

वस्तुस्थिति सार्वत्रिक रूप से पाने के लिए हमें तैयार रहना ही पड़ेगा। ऐसी दुनिया में जहाँ 'उच्चतर' और 'लघुतर' 'अधिक' और 'कम' सत्य का कोई न कोई अर्थ हुआ करता है, वहाँ वे लघुतर व्यवस्थाएँ, जिनमें समग्र का स्वरूप अभिव्यक्त पाया जाता है अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा उस स्वरूप की कहीं अधिक पूर्ण और पर्याप्ततर प्रतिदर्शना किया करती हैं। यह कथन न्यूनाधिक ऐसा कहना ही है कि यह दिखलाने के लिए कि वास्तविकता की समग्र व्यवस्था का स्वरूप उनमें किस प्रकार अभिव्यक्त होता है हमारे ज्ञान द्वारा मान्यीकृत आंशिक व्यवस्थाओं में से कुछ ही व्यवस्थाओं का अपेक्षाकृत बहुत कम रूपान्तरण करने की आवश्यकता होती है। इसके मामलात में यह दिखलाने के लिए कि समग्र किस प्रकार अपने भागों या अंगों में स्वयं पुनरावृत्त हुआ करता है आवश्यक रूपान्तरण की मात्रा बहुत अधिक होगी। एक ही उदाहरण ले लीजिए, यदि वास्तविकता के सामान्य स्वरूप के बारे में हमारा विश्लेषण ध्रुव हो तो हम और भी स्पष्ट रूप में देख सकेंगे कि वह स्वरूप मानव मन की संरचना में किस प्रकार भौतिक वस्तु नामधेय वस्तुओं की अपेक्षा कितनी अधिक मात्रा में पुनराविर्भूत हुआ करता है और इसलिए हम कह सकते हैं कि समग्र व्यवस्था के मौलिक स्वरूप को, हमारे बोधार्थ वर्तमान भौतिक प्रकृति की अपेक्षा मानव मन बहुत अधिक पूर्ण और पर्याप्त रूप में व्यक्त करता है। यही बात और संक्षेप में यों कह सकते हैं कि वास्तविकता की डिग्रियाँ या श्रेणियाँ हुआ करती हैं और आभास के उन रूपों में जिनके द्वारा उसकी सामान्य प्रकृति अधिकतम पूर्ण और स्पष्ट व्यक्त होती है, वास्तविकता की उच्चतम मात्राएँ मौजूद रहती हैं।

३—मात्रामाप्य वास्तविकता की यह कल्पना एकाएक देखने पर विरोधाभास पूर्ण ही लगेगी। लोग पूछ सकेंगे कि कोई वस्तु वास्तविक होने के अतिरिक्त 'कम' या 'अधिक' वास्तविक क्यों कर हो सकती है? क्या उस वस्तु का या तो एकदम वास्तविक होना अथवा बिलकुल ही वास्तविक न होना आवश्यक नहीं है लेकिन उन अन्य मामलात में भी जहाँ मात्रा या डिग्री की वैधता सर्वत्र स्वीकृत हो चुकी है, मात्रा विषयक यही बाधा खड़ी की जा सकती है। इसी कारण कुछ लोगों के मन में यह बात उठ खड़ी हुई कि अनंत और अत्यणु की कोई मात्रा या डिग्री हो ही नहीं सकती, और उन्होंने सभी अपरिमितों या अनन्तों को तथा सभी शून्यों को भी व्यक्त रूप से बराबर अथवा समान घोषित कर दिया है। इसके बावजूद भी इस निष्कर्ष से बचा न जा सकता कि अनन्तन्तोबृहद् तथा अनन्ततः लघु परिमाणों के पूर्वापर क्रमों की कल्पना न केवल बुद्धिगम्य ही है अपितु, यदि हमें अपने मात्रामूलक विषय विचार को संगत बनाये रखना है तो, नितान्त आवश्यक भी। उदाहरण के लिए, जब किसी आयत की भुजाएँ अनन्तन्तोबृहद् अथवा अनन्ततः लघु, हमारे निर्धारित किसी भी आदर्श मापदण्ड के

हिसाब से, हो भी जायँ तो भी वह आयत तो रहेगा ही और इसलिए उसका क्षेत्रफल भी न केवल हमारे निर्धारित आदर्श मापदण्ड के अनुसार ही अपितु स्वयं उसकी भुजाओं के अनुपात के अनुसार भी अनन्तन्तोबृहद् अथवा अनन्ततः लघु अपने-अपने विषय क्रम से होगा। एक अर्थ में जहाँ कोई माला मात्रा का विषय नहीं होती वहाँ दूसरे अर्थ में उसी के लिए न केवल मात्रा की गुंजाइश ही हो सकती बल्कि न्यूनाधिक रूप में मात्राओं द्वारा विभेद करने की निश्चित आवश्यकता भी पड़ सकती है। विविध आभासों में अपने आप को व्यक्त करने वाली वास्तविकता का मामला ठीक ऐसा ही मामला है। इस अर्थ में कि एक ही एकल अनुभूति-व्यवस्था जो समग्र रूप में भी प्रकट होती है और अपने समग्र रूप में ही अधीनस्थ अनुभूति व्यवस्थाओं में से प्रत्येक व्यवस्था में भी प्रस्तुत रहती है, वे सब एक समान ही वास्तविक हैं और उनमें से प्रत्येक व्यवस्था समग्र के अस्तित्व के लिए उतनी ही अपरिहार्य है जितनी कि दूसरी प्रत्येक व्यवस्था। इस माने में कि समग्र किसी एक व्यवस्था में दूसरी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में मौजूद है, वास्तविकता और अवास्तविकता की संभाव्य मात्राओं की अनन्तता हो सकती है। आभासों और वास्तविकता के बीच इस प्रकार के द्वैत सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए गणितीय विज्ञान का शब्द यदि हम उधार ले लें तो उचित ही होगा, उस हालत में हम इस द्वैत सम्बन्ध को वास्तविकता के पूर्वापर क्रम नाम से अभिहित कर सकेंगे। तब हम कह सकेंगे कि जहाँ तक हमारे ज्ञान के वन्धन हमें अनुज्ञा दे सकें, वहाँ तक वास्तविकता के क्रमों को निर्धारित कर के उन उचित अनुक्रमों को सज्जित करना पूर्ण दर्शनशास्त्र की अनेक समस्याओं में से एक प्रधान समस्या है।

४—इस प्रकार का कार्य ऐसी बुद्धि ही कर सकती है जो तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण तथा विशिष्ट विज्ञानों के निष्कर्षों से एक समान परिचित हो ऐसा कार्य ही व्यावहारिक तत्त्वदर्शन का उचित कार्य होगा। तत्त्वमीमांसा के सामान्य सिद्धान्तों पर होने वाले विचार विमर्श में उन कसौटियों या निकषों के सामान्य स्वरूप का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा जिनके आधार पर किसी विशिष्ट आंशिक व्यवस्था द्वारा प्रदर्शित वास्तविकता की मात्रा का निर्धारण करना आवश्यक होता है। इस सामान्य स्वरूप का समुचित स्पष्टी करण, वास्तविकता के एकत्व विषयक पूर्वगत अनुसन्धान द्वारा पहले ही किया जा चुका है। वहाँ हम देख ही चुके हैं कि वास्तविकता एक आत्मपूर्ण व्यष्ट आनुभूतिक समग्र होने के नाते ही एक कही जाती है। औरइसका व्यष्टित्व इसी में है कि वह ऐसे घटकों अथवा अंगों या भागों की बहुलता के बीच एकल और संगत संरचना की व्यवस्थित प्रतिमूर्ति है, जो घटक अपने समग्र स्वरूप के लिए इस तथ्य पर निर्भर रहते हैं कि वे ठीक इसी संरचना की प्रतिमूर्ति हैं। अगर यह बात सही है तो हम कह सकते हैं कि वास्तविकता की मात्राओं का वही अर्थ है जो व्यष्टत्व की मात्राओं

का और और यह कि कोई वस्तु ठीक उसी सीमा तक वास्तविक होती है जिस सीमा तक वह सही तौर पर व्यष्ट होती है।

कोई भी अस्तित्ववती वस्तु, भले ही वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, वास्तव में वैसी ही होती है जैसी कि वह दिखायी देती है और वह उसी हद तक हमारे बोध के लिए प्रकट दिखायी पड़ती है जिस हद तक कि वह वस्तु स्वयं आत्मपूर्ण तथा इसी कारण एक अद्वितीय व्यवस्थित समग्र होती है। दूसरे शब्दों में, जिसको एक वस्तु स्वीकार करते हैं वह दार्शनिक आलोचना और विश्लेषण के सामने अपने आपको जिस सीमा तक एक आत्मपूर्ण व्यवस्थित समग्र प्रदर्शित करती है उसी सीमा तक हम भी उस वस्तु को वास्तविकता के मौलिक स्वरूप की अभिव्यक्ति के रूप में सही तौर पर ग्रहण करते हैं अथवा उसे इसी रूप में देखते हैं जैसी कि वह और उसी हद तक हमारा ज्ञान भी असल वास्तविकता हमें प्रदान करता है। दूसरी ओर जहाँ तक कि वह, जो पहले-पहल एक आत्मपूर्ण समग्र प्रतीत होता था, बाद के विश्लेषण द्वारा वैसा नहीं पाया गया, उसी हद तक हम भी वास्तविकता के एकत्र समग्र में तथ्यों को उनके सही स्थान पर देखने में चूक गये और उसी हद तक हमारा ज्ञान भी भ्रान्ति तथा अवास्तविकता से प्रभावित हुआ अथवा यों कहिए कि कोई चीज जितनी ही सही तौर पर एक आत्मपूर्ण समग्र व्यष्टि होगी, वास्तविकता के मापदण्ड में उसका उतना ही ऊँचा स्थान होगा।

जब हम पूछते हैं कि वे ऐसे चिह्न कौन से हैं जिससे किसी वस्तु का दूसरी की अपेक्षा अधिक सही व्यष्ट समग्र होना सिद्ध किया जा सके, तब हम पाते हैं कि उन चिह्नों की कम से कम संख्या दो हैं और दोनों ही, सिद्धान्ततः एक हैं, यह बात आसानी से दिखायी पड़ती है। लेकिन चूँकि हमारी अन्तर्दृष्टि सीमित है इसलिए किसी दत्त मामले में वे कभी-कभी एक-दूसरे से मेल खाते नहीं दिखायी देते। यदि अन्य सब बातें एक समान हों तो कोई वस्तु अन्य की अपेक्षा अधिक सही तौर पर व्यष्ट समग्र तब होती है, जब उसमें दूसरी की अपेक्षा, अपनी अंकगत अन्तर्वस्तुओं की विस्तृति अधिक हो, दूसरे जब विस्तृति को समेट कर आत्मसात् अथवा अंकगत कराने वाली एकता की मात्रा दूसरी की अपेक्षा उस वस्तु में अधिक हो। अथवा यूँ कहिए कि किसी व्यवस्था द्वारा अधिकृत व्यष्टत्व की मात्रा निर्भर होती है: (१) उसके अर्थग्राही व्यापकत्व पर, तथा (२) उसके आन्तरिक व्यवस्थीकरण पर जितना ही कोई वस्तु अस्तित्व का अधिक आत्मसात्करण करती है और यह आत्मसात्करण जितने ही अधिक एकतानता से किया जाता है उतनी ही व्यष्ट वह वस्तु होती है।

निस्सन्देह यह बात तो स्पष्ट ही है कि किसी भी व्यवस्थित समग्र के उपर्युक्त दोनों लक्षण अन्योन्यापेक्षी हैं। अतः ठीक इस कारणवश कि समग्र वास्तविकता

अन्ततोगत्वा एक एकलसंगत व्यवस्था होती है इसलिए किसी आंशिक व्यवस्था के बहिर्गत जितना भी अधिक कुछ होगा उस व्यवस्था के घटकों को अपने स्वरूप के लिए उतना ही अधिक निर्भर अपने उस सम्बन्ध पर रहना होगा। जो बाह्य वास्तविकता का उनके साथ है और उतनी ही कम मात्रा में वह व्यवस्था अपने अन्तरतम से पूर्ण स्पष्टीकरण योग्य होगी। आंशिक व्यवस्था जितनी ही अधिक व्यापक होगी उसके घटक अपने निर्धारण के लिए उससे बाह्य किसी वस्तु के साथ उसके सम्बन्ध के आधार पर उतने ही कम निर्भर होंगे और उतनी ही अधिक पूर्णता के साथ उसका संगठन, उसकी अपनी संरचना के आन्तरिक नियम के आधार पर व्याख्येय भी होगा। अर्थात् व्यवस्था की अर्थग्राहिता जितनी ही अधिक व्यापक होगी उसकी आन्तरिक संगतता भी सामान्यतः उतनी ही अधिक पूर्ण होगी और विलोमतः समग्र व्यवस्था का कार्यकलाप जितना ही अधिक ब्योरेवार पूर्णता के साथ आन्तरिक संरचना के एकल नियम की अभिव्यक्ति के रूप में आंतरिकतः व्याख्येय होगा उसकी अन्तर्वस्तुएँ उतनी ही कम निर्भर किसी बाह्य वास्तविकता पर होंगी और इसीलिए, यह जानते हुए कि सकल वास्तविकता अन्ततोगत्वा अन्तःसम्बद्ध हुआ करती है यह मानना पड़ेगा कि विवादग्रस्त व्यवस्था से बाह्य वस्तु की मात्रा कम ही होगी। अर्थात् आंतरिक एकत्व जितना ही बृहद् होगा व्यवस्था की अर्थग्राहिणी व्यापकता सामान्यतः उतनी ही अधिक होगी। इस प्रकार व्यष्टता के दोनों निकष अन्ततोगत्वा एकरूप हो जाते हैं।

५—किन्तु अनुष्ठान में यह देखा गया है कि जिस खंडखंडीय रूप में हमारी अनुभूतियाँ हम तक पहुँच पाती हैं उसके परिणामस्वरूप अर्थग्राहिणी व्यापकता तथा पूर्णतापेक्षिणी व्यवस्थागत एकता दोनों परस्पर विरोधिनी प्रतीत होती हैं। अतः हम इस साधारण नियम पर ही आ पहुँचते हैं कि ज्ञान का व्यवस्थित संगठन उसके विस्तार पर ही निर्भर होता है। जितना ही विस्तृत अथवा व्यापक हमारा ज्ञान होगा समग्र रूप से उतनी ही अधिक मात्रा में उसकी संगठनात्मक संरचना व्यक्त होगी। विज्ञान का व्यवस्थीकरण और उसका सीमा-विस्तार दोनों ही अन्ततोगत्वा सहगामी ही होते हैं। लेकिन कोई एकाध क्षण ऐसा भी आ जाता है जब ज्ञान के विकास काल में नवीन सत्यों को मान्यता देने के कारण विज्ञान के स्वीकृत सिद्धान्तों या नियमों में संगठन और विसंगति का अस्थायी अध्याहार आवश्यक हो सकता है। उदाहरणतः ज्यामिति के इतिहास में उस विज्ञान के स्वीकृत सिद्धान्त अस्थायी रूप से तब विसंगठित हो गये थे जब इस बात का पता लगाने पर कि किसी वर्ग की भुजा और विकर्ण का कोई समापवर्तक नहीं होता, प्राचीन कालिक यूनानी गणित असम्मेय्य परमाणों को स्वीकार करने के लिए मजबूर हो गये। और यह असंगति तभी दूर की जा सकी जब संख्याओं के सिद्धान्त के मौलिक नियमों का संशोधन संभव हो सका। इसी तरह आज भी असल खतरा इस

बात का मौजूद है कि मनोविज्ञान के अध्ययन को उसके विषय के ठीक-ठीक निश्चयन और अन्य भौतिक तथा मानसिक विज्ञानों के साथ उसके संबन्ध निर्धारण द्वारा एक विशुद्ध व्यवस्थित रूप देने की समग्र पूर्व उत्कंठा कहीं आध्यात्मिक जीवन के तथ्यों विषयक हमारे ज्ञान के विस्तार में बाधक न बन जाय। बहुधा हमारा महत्त्वपूर्ण ज्ञान विस्तार नियमों अथवा सिद्धान्तों के अस्थायी संविलय का बलिदान देने पर ही हमें प्राप्त होता है और हमें बाद में होने वाली प्रगति की दौड़ के मध्य, तथ्यों और नियमों के पारस्परिक भावी पुनः समंजन की प्रतीक्षा करते रहकर ही सन्तुष्ट होना पड़ता है।

अपने नैतिक जीवन में भी हम इसी तरह, किसी आदमी के चरित्र या स्वभाव को दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यष्ट या तो उसकी अभिरुचियों और हितों की प्रवर् विशालता के कारण या आत्मसंगत समग्र में उसके हित और अभिरुचियाँ जिस संगत रूप में खचित हों उसकी प्रवरता के कारण ठहराया करते हैं। विविध-रुचि व्यक्ति की व्यष्टता न्यून रुचि वाले आदमी की अपेक्षा अधिक सत्य होती है। इसी प्रकार दृढ़ उद्देश्यी व्यक्ति भी उस व्यक्ति की अपेक्षा जिसकी क्रियाशीलताएँ द्वन्द्वात्मक प्रतीत होने वाले व्यापारों में व्यर्थ नष्ट होती रहती हैं, कहीं अधिक सही तौर पर व्यष्ट होती हैं, लेकिन हमारी अन्तर्दृष्टि में दोनों कसौटियाँ सदा एक रूप नहीं हो पातीं। अभिरुचियों और हितों के वैविध्य और उनकी विशालता की वृद्धि के साथ-साथ ही शायद लक्ष्य की संलग्नता या संगतता में भी कमी आना शुरू हो जाती है तथा किन्हीं विशेष लक्ष्यों पर ध्यान केन्द्रित होने से कभी-कभी लक्ष्य की संगतता में बढ़ोत्तरी भी होती है। हमारे लिए यह निर्धारित करना कि व्यष्टता के ये दोनों पक्ष कहाँ जाकर एक दूसरे से इस प्रकार विलग होते हैं कठिन ही नहीं अपितु असम्भव ही होना चाहिए, साथ ही यह निर्धारित करना भी कि न्यून रुचि वाले किन्तु उन रुचियों पर गहन रूप से संकेन्द्रित ध्यानी व्यक्ति तथा बहुरुचि किन्तु अपेक्षाकृत विसरित अथवा दुर्व्यस्त क्रियाशील वाले व्यक्ति में से व्यष्टता किसमें प्रवर रूप में दिखायी पड़ती है, क्योंकि हो सकता है कि जो बात ऊपर से देखने पर असम्बद्ध लक्ष्यों के पीछे दौड़कर आत्म-विसरण करना मात्र दिखायी देती हो वह वास्तव में कहीं किसी ऐसे संगत प्रयोजन का क्रमबद्ध अनुधावन ही न हो जिसकी विशालता के कारण न तो समसामयिक द्रष्टा अथवा स्वयंकर्ता ही उसके एकत्व को समझ न सका हो, किन्तु वह एकत्व ऐसे इतिहासज्ञ के लिए बिलकुल स्पष्ट होता है जो किसी एक जीवन की सार्थकता समाज पर पड़े उसके समग्र प्रभाव द्वारा आँकने का अभ्यस्त है। इसी प्रकार जो कुछ समय किसी एकोद्देश्यी व्यक्ति का एकल लक्ष्य प्रतीत होता था, अन्तिम परिणाम को देखते हुए मूलतः असंगत लक्ष्यों का अदूरदृष्ट संयोजन मात्र ही सिद्ध हो।

किन्तु इस प्रकार के विमर्श से तो यही सिद्ध होता है कि हमारी अन्तर्दृष्टि

सीमित होने के कारण उन आभासों की क्रमिक व्यवस्था में जिनके द्वारा एकल वास्तविकता अपने आपको व्यक्त किया करती है, प्रत्येक आभास को उसका अपना स्थान निश्चयपूर्वक दिला सकने के लिए अपर्याप्त है। इस प्रकार के विचार हमारी इस सामान्य स्थिति को स्पर्श नहीं करते कि जहाँ कहीं भी अर्थग्राहिणी व्यापकता और एकतानता एक साथ जाती देखी जा सके, वहाँ ही यह व्यष्टता के मापमान के रूप में उनका उपयोग हमारे लिए न्याय्य होगा। साथ ही साथ वह उस आंशिक व्यवस्था की वास्तविकता का भी मापमान होगा, जिसमें हमें उपयुक्त व्यापकता और एकतानता दोनों ही दृग्गोचर होती हैं। उदाहरणार्थ यही वे आधार हैं जिनके बल पर हम सुरक्षित रूप से घोषित कर सकते हैं कि ऐसा कोई भी शरीरतन्त्र जिसमें उसके अंगों की एकता सजीव हुई हो, उन प्राग्वर्तमान इकाइयों के पुंज मात्र की अपेक्षा जिनमें अंगों की प्रकृति या उनका स्वरूप समग्रतया या मुख्यतया समग्र की संरचना से स्वतन्त्र हुआ करता है, कहीं अधिक व्यष्ट और इसीलिए उच्चतर मात्रा की वास्तविकता हुआ करता है। इसके अतिरिक्त यह भी हम घोषित कर सकते हैं कि वह मन जो लक्ष्यों की किसी आत्म चयित संगत व्यवस्था का चेतनतापूर्वक और क्रमानुसार अनुसरण या अनुधावन किया करता है अधिक व्यष्ट होता है। और इसीलिए वह उस शरीरतन्त्र की अपेक्षा उच्चतर वास्तविकता स्वरूपी होता है, जिसकी प्रतिक्रिया उसके अपने पर्यावरण के स्थायी स्वरूप के अनुसार अथवा उसकी तत्कालीन आन्तरिक दशा के अनुसार ऐसे तरीकों से होती है जो लक्ष्यों की परस्पर सम्बद्ध योजना की व्यवस्थित कार्य परिणति नहीं होते। और यह स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त आधार ही हमारा एकमात्र आधार हो तो हमें कहना पड़ेगा कि सम्पूर्ण वास्तविकता के व्यष्ट समग्र को हम यदि एक जैवतन्त्र मानें तो उसे एक पुंजमात्र मानने की अपेक्षा हम सत्य के अधिक निकट होंगे लेकिन यदि हम उसे मन रूप विचारें तो हम सत्य के उससे भी अधिक निकटतर होंगे। अपने जीवनों और स्वरूप के विषय में हमारे फैसलों का भी यही तरीका है। जहाँ तक किसी एक जीवन में दूसरे की अपेक्षा अधिक विस्तार और लक्ष्य का अधिक चैतन्य एकत्व मौजूद हो वहाँ तक वह अधिक यथार्थतया व्यष्ट होता है और इसीलिए संपूर्ण वास्तविकता का एक अधिक पर्याप्त या पर्याप्ततर उपलक्षक भी। मैं ठीक जहाँ तक व्यष्ट हूँ वहाँ तक ही यथार्थतः वास्तविक हूँ। और जिस सीमा तक मैं व्यवस्थागत व्यष्टता के आदर्श से, चाहे अपनी अभिरुचियों की कमी के कारण या उनकी पारस्परिक असंगति के कारण, कम बैठता हूँ मेरे जीवन में एकत्व का आभास वहाँ तक ही भ्रान्तिमय रहता है और मुझे एक अवास्तविक आभास कहा जाना आवश्यक है।

यहाँ हम बता देना चाहते हैं कि वास्तविकता का हमारा तत्त्वमीमांसीय निकष नैतिक अर्हता विषयक हमारे नीतिशास्त्रीय निकष का संपाती है क्योंकि नैतिकता

के अनुसार भी हम एक जीवन का दूसरे की अपेक्षा अर्हणीयतर या तो इसलिए मानते हैं कि उसके आदर्श अपनी अर्थग्राहिणी व्यापकता के कारण प्रवरतर हैं अथवा इसलिए कि वे आदर्श संगत प्रयोजन के एकतान समग्र में पूर्ण रूप से खचित हैं। श्रेष्ठतर व्यक्ति या तो विस्तृततर आदर्शों का व्यक्ति होता है या वह व्यक्ति जिसकी अपने आदर्शों के प्रति आत्मनिष्ठा पूर्णतर और शुद्धतर हो। इस प्रकार नैतिकता की अर्हता के लिए हमारा माप जिस प्रकार व्यष्टता में निहित है इसी प्रकार तत्त्वमीमांसा का वास्तविकता विषयक माप भी व्यष्टता में ही निहित है और नैतिकता के लिए व्यष्टता उसी प्रकार प्रधानतया मात्रा विषयक वस्तु है जिस प्रकार तत्त्वमीमांसा के लिए। इन दोनों से संबद्ध किन्हीं विशिष्ट मामलों में जैसे ही ह : अपने निकष का उपयोग करने चलते हैं वैसे ही वही कठिनाई हमारे सामने आ खड़ी होती है अर्थात् दोनों ही उपर्युक्त पहलू एक दूसरे से अलहदा हो जाते हैं । ऐसी बात नहीं कि अधिक अर्थग्राहिणी व्यापकता का आदर्श ही सदा अधिक उद्देश्यनिष्ठा द्वारा पोषित होता हो । इसीलिए तो विशिष्ट व्यक्तियों की अर्हता विषयक हमारे वास्तविक नैतिक निर्णय प्राय: उसी प्रकार आवश्यक रूप से अनिश्चित तथा उच्चावच होते हैं जिस प्रकार विशिष्ट वस्तुओं से सम्बद्ध वास्तविकता के क्रम विषयक हमारे तत्त्वमीमांसीय निर्णय। हम किसी आदमी को उसके आदर्शों की व्यापक बुद्धिमत्ता के कारण नैतिक रूप से बहुत ऊँचा मानते हैं तथापि उसमें शक्ति की एकाग्रता की कमी पायी जाती है; इसी प्रकार हम दूसरे व्यक्ति को, उसके उस स्थिर तथा सत्यनिष्ठ उद्देश्य के कारण, जिससे प्रेरित होकर वह ऐसे आदर्श का अनुसरण करता है जिसे हम संकुचित आदर्श कहकर दुरदुराते हैं, ऊँची पदवी देते हैं।

६—लघुतर व्यष्टों के साथ, वास्तविकता के निरपेक्ष समग्र नामधेय पूर्ण व्यष्ट के सम्बन्ध के विषय में सर्वोच्च महत्त्व की एक बात और कह दी जाय। अब चूँकि हम जान ही चुके हैं कि व्यष्टता की मात्राओं का क्या मतलब होता है इसलिए हम यह भी जान सकते हैं कि अन्ततोगत्वा पूर्ण और निष्पन्न व्यष्टि एक ही हो सकता है जो स्वयं वास्तविकता का समग्र होगा और यह कि अधीन व्यष्ट कभी भी अपने में समग्रत: तथा सकलत: व्यष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि निष्पन्न व्यष्ट होने के लिए, जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐसी समग्र व्यवस्था होना आवश्यक होता है जो निरपेक्ष रूप से आत्म-पूर्ण हो और केवल आन्तरिक संरचना के संदर्भ से ही व्याख्येय भी, उसके व्यवस्थित स्वरूप के समझने के लिए जो कुछ भी आवश्यक हो, जैसा कि उसके बाह्य, किसी अस्तित्व का संदर्भ, वह भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, जब तक कि उसे शेष अस्तित्व से विलय समझा जाता रहेगा, अव्यय ही, आन्तरिक रूप से निष्पन्न व्यवस्थागत एकसारता से रहित ही रहेगा और इस तरह पर व्यष्टता के आदर्श से दोबाला कम रहेगा ।

और ठीक इस कारण कि अनुभूति का समग्र स्वयं एक एकल व्यवस्था होता है इसलिए समग्र की आभ्यन्तर कोई लघुतर व्यवस्था, स्वयं अपनी आभ्यन्तर संरचना के पदानुसार सकलतः व्याख्येय नहीं होती। लघुतर व्यवस्था को पूर्णतः समझने के लिए तथा उस तरीके को पूरी तरह समझने के लिए भी कि जिसके अनुसार वह अपने घटकों के वैविध्य के माध्यम द्वारा एक सामान्य स्वरूप व्यक्त करती है, आपको सदा ही अन्ततोगत्वा स्वयं उस व्यवस्था के बाहर जाकर, अस्तित्व की शेष समग्र व्यवस्था के साथ उसके सम्बन्ध का लेखा-जोखा भी लेना पड़ेगा और केवल इसी कारण कोई भी अधीनस्थ व्यष्ट, स्वयं आत्मरूप में एक निष्पन्नततः संगत आत्म-निर्धारित समग्र नहीं होता। चूँकि हमारे जैसे सीमित ज्ञान का, मुख्यतः, अधीनस्थ व्यवस्थाओं से उनकी उसी हालत में जिसमें वे हमें मिलती हैं काम पड़ा करता है और चूँकि उस वास्तविकता की समग्र संरचना की वह पूरी जानकारी, जिसके द्वारा हम उनके समग्रगत सही स्थानों को जान सकते हैं हमें तो नहीं होती, इसलिये यदि कोई दृढ़प्रतिज्ञ दार्शनिक विश्लेषण द्वारा उनकी निकटतम निरीक्षा करें तो उसे अवश्य ही भूल की अथवा विसरण की कुछ मात्रा तथा व्यवस्थित एकत्व का राहित्य उनमें दिखायी पड़ेगा।

उदाहरण के लिए, किसी ऐसी व्यवस्था पर विचार कीजिए जिसका निर्माण विशिष्ट व्यक्तित्व वाले अथवा प्रसिद्ध व्यष्ट किसी आदमी के जीवन भर के कार्य द्वारा हुआ हो। समग्र रूप से ऐसे आदमी के जीवन को प्रयोजनों की संगत योजना की व्यवस्थित कार्य परिणति कहना ही उचित होगा। लेकिन ऐसा कहना, अन्ततोगत्वा, केवल सन्निकटतः ही सत्य होगा। हमारा मामला तो यह है ही नहीं कि योजना के केन्द्रीय अथवा प्रधान प्रयोजन का स्वरूप स्वयं ही इतना समर्थ होता है कि वह उन पूर्वापर सब स्थितियों के स्वरूप तथा क्रमों का, जिनके द्वारा यह प्रयोजन व्यक्त होता है निर्धारण कर सके। मनुष्य की 'आनुवंशिकता' के कारणों को भी हमें अपने हिसाब में शामिल करना पड़ता है और साथ ही साथ उसके सामाजिक और भौतिक पर्यावरण के उन कारकों का भी ध्यान रखना पड़ता है जो उसके केन्द्रीय प्रधान आदर्श के स्वरूप के कोई भाग न होते हुए भी उस प्रयोजन की सिद्धि की विधि को प्रभावित किया करते हैं। विवादग्रस्त व्यष्ट, व्यवस्था को पूरी तरह समझने के लिए तब हमारे पास वे परिस्थितियाँ ही रह जाती हैं, जो, जहाँ तक उस व्यवस्था का सम्बन्ध है, 'आकस्मिक' होती हैं अर्थात् वे परिस्थितियाँ स्वयं उस व्यवस्था-समेत, अनुभूत तथ्य की समग्र व्यवस्था की भाग समान रूप से होती हैं यद्यपि हम यह जान सकने में असमर्थ हैं कि यह व्यवस्था और वे परिस्थितियाँ मिलकर एक विस्तृततर संगत समग्र का निर्माण कैसे करते हैं। चूँकि अधीनस्थ व्यष्ट केवल

अन्तरत: व्याख्येय नहीं होता अत: अन्ततोगत्वा वह व्यष्टत्व का सन्निकट मात्र ही होता है और इसलिए ही हम जब कभी भी शेष वास्तविकता से उसे पृथक् करना चाहते हैं और उसे एकान्तत: व्यष्ट और आत्मपूर्ण मानकर चलना चाहते हैं तभी हमें परस्पर विरोधी बातों में फँस जाना पड़ता है ।

अधीनस्थ समग्रों पर विचार करते समय अगर हम काफी गहरे जायें तो हम सदा ऐसी जगह जा पहुँचते हैं जहाँ हमें बाह्य तथ्यों के ऐसे राज्य पर उनकी निर्भरता को स्वीकार करना पड़ता है । समग्र के साथ जिसके व्यवस्थित सम्बन्ध को हमारा ज्ञान देख नहीं पाता और इसीलिए उस सम्बन्ध को वह 'आकस्मिक' अथवा अन्तिमेत्थ 'संस्थिति' ही मान बैठता है । यही कारण है जिसके आधार पर विशुद्ध व्यवस्थागत समग्र के रूप में हमारे अपने लक्ष्यों और हितों विषयक हमारा ज्ञान, समग्र विश्व की संरचना विषयक हमारी निष्पन्न अन्तर्दृष्टि का संपाती हो जाता है । ढचरा बन चुके किसी पद्य के भावों को उल्टा कर हम सदृश सत्यता से कह सकते हैं कि जब तक आप नहीं जानते कि ईश्वर और मनुष्य क्या है, तब तक आप यह भी वास्तव में नहीं जान सकते कि 'दरारों वाली दीवार में उगा फूल' कौनसा है । इस कथन का मतलब यही है कि हमारे दार्शनिक विश्लेषण के हेतु प्रत्येक आभास में व्याघात का पुट अवश्य ही होना चाहिए, ठीक इसलिए कि अन्त में जाकर हम पूरी तरह यह नहीं जान सकते कि कोई भी आभास वास्तविकता के समग्र के साथ किस प्रकार सम्बद्ध है । लेकिन हमें यह तो सावधानी से याद रखना ही होगा कि यदि आभास आत्मरूप से व्याघाती हैं तो वे इसलिए व्याघाती नहीं होते कि वे आभास हैं बल्कि इसलिए कि आभास रूप से गृहीत वे किसी हद तक मात्र आभास होते हैं । इस सब का यही निष्कर्ष निकलता है कि सत्ता के अन्तिमेत्थ समग्र से न्यून किसी भी वस्तु की व्यष्टता मात्रा और सन्निकटन का विषय होती है । हमारा यह मान लेना भी इतना ही त्रुटिपूर्ण होगा कि चूँकि कोई भी अधीनस्थ व्यवस्था पूर्णत: व्यष्ट नहीं होती, अत: कुछ व्यवस्थाएँ अधिक व्यष्ट न होने के कारण अन्यों से अधिक वास्तविक नहीं होती हैं अथवा यह कहना भी उतना ही त्रुटिपूर्ण होगा कि जो कुछ भी किसी तरह पर भी वास्तविक है उसे अपनी मात्रानुसार व्यष्ट भी अवश्य होना चाहिए इसलिए वास्तविकता का प्रत्येक तत्त्व या घटक अपने एकाकीपन में निष्पन्नतया वास्तविक होता है । प्रथम त्रुटि एकपक्षीय एकत्ववाद की है और द्वितीय समान रूप से एकपक्षीय एकत्ववाद की है और तृतीय समान रूप से एकपक्षी बहुलत्ववाद की ।

आइए एक बार फिर हम व्यष्टता के सामान्य तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त तथा **नैतिक** अभिकर्ता रूप में अपने अनुभव के परस्पर सादृश्य की बात ध्यान में रख लें ।

जहाँ तक कि हम में से हर एक व्यक्ति यथार्थतः व्यष्ट है वहाँ तक उसके लक्ष्य और उद्देश्य मिलकर एक ऐसी व्यवस्था का निरूपण करते हैं जिसकी संरचना में आन्तरिक एकत्व व्याप्त रहता है अतः एक व्यवस्था के रूप में वह प्रगामी सिद्धता के योग्य होती है। फिर भी चूँकि हममें से हर एक व्यक्ति वास्तविकता के समग्र से कम है, अथवा यों कहिए कि चूँकि हमारे आभ्यन्तर जीवन का एकत्व कभी भी निष्पन्न नहीं होता तथा हमारे हितों, सम्बन्धों तथा आकांक्षाओं का साकल्य कभी भी एक निष्पन्नतया आत्मपूर्ण, क्रमिक समग्र नहीं होता अतः हमारे आदर्शों में सदा ऐसे पहलू पाये जायँगे जो कभी भी पूरी तरह एकतान न हो पायें तथा ऐसे तत्त्व भी उसमें मिलेंगे जो उस एकत्व की संरचना के क्षेत्र के बाहर ही रहते हैं, जो हमारे एकत्व व्यक्तित्व की सीमा के भीतर स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार हमारी समस्त विजयों में, पराजय के अवियोज्य तत्त्व वर्तमान रहते ही हैं। आत्म के पराजित पक्ष, हमारी व्यष्टता की मात्रा के अनुपात से, निस्सन्देह, 'निम्नतर' और अपेक्षतया 'असत्यतर' अथवा 'अयथार्थता' आत्म के अंग हो सकते हैं और सामान्यतः होते ही हैं, तो भी वे समग्र आत्म के अन्तःतत्त्व तो रहते ही हैं और उनके अधिलंघन का अर्थ है आत्म का असली और शायद आवश्यक अधिलंघन करना। एक माने में पराजय का कोई पक्ष प्रत्येक अधीनस्थ और इसी कारण अपूर्ण या अनिष्पन्न, व्यष्ट के जीवन का एक अपरिहेय लक्षण भी हुआ करता है। मसीह के प्रभुत्व के इन हज़ार वर्षों में भी, जैसा कि हम सही तौर पर समझते हैं, मानव जीवन, मानव जीवन न रह जाय अगर उदासी का पुट उसमें से निकल जाय। एकान्त अथवा निरपेक्ष समग्र की एकत्व अनुभूति में ही असंगत स्वर अन्ततोगत्वा त्रुटिरहित एकतानता पुनः प्राप्त कर सकते हैं।

७—निष्पन्न तथा सन्निकटित व्यष्टता में विभेद हम प्राविधिक या तकनीकी तौर पर यह कह कर सकते हैं कि निरपेक्ष समग्र एक अपरिमित या अनन्त व्यष्ट होता है। और यहाँ उन बहुधा अत्यधिक दुष्प्रयुक्त पदों के यथार्थ और सही माने ध्यानपूर्वक नोट कर लेना बेहद जरूरी है कि अनन्त को अनिर्धारित और अनिष्पन्न समझ बैठने की गलती करना ठीक नहीं। उसका मौलिक गुण-धर्म इतना नकारात्मक मात्र नहीं ज़िसका कोई अन्त न हो या 'अन्तिम पर्यवसान' न हो अपितु वह ऐसा विध्यात्मक या सकारात्मक है कि जिसकी अपनी आभ्यन्तर गठन भी है जो किसी एकल आत्मसंगत नियम की एकतान और निष्पन्न अभिव्यक्ति कही जाती है। इसी तरह परिमित केवल इसलिए ही मूलतः परिमित नहीं होता कि उसका एक 'अन्तिम पर्यवसान' होता है। यानी उससे बाह्य भी कुछ और है, बल्कि वह इसलिए परिमित कहलाता है कि उसका 'अन्तिम पर्यवसान' हठात् निर्धारित कर दिया गया है अर्थात्

उसकी आभ्यन्तर गठन के नियमों से बाह्य किसी अन्य वस्तु द्वारा निर्धारित कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि परिमित की मूलभूत त्रुटि यह है कि वह स्वयं अपनी रचना के एक मात्र नियम द्वारा ही निर्धारित नहीं होता।

अंकगणित और बीजगणित की सुपरिचित 'अनन्त श्रेणी' के सीधे-सादे मामले में भी हमें यह बात देखने को मिल सकती है। १,½, ¼ जैसी श्रेणी केवल इसलिए ही अनन्त नहीं चूँकि हम उसके अंतिम पर्यवसान तक नहीं पहुँच पाते बल्कि वह इसलिए अनन्त कही जाती है चूँकि उसके स्वरूप का निर्धारण उसके अपने भीतर से, आभ्यन्तर से, केवल मात्र उस नियम द्वारा ही होता है जिसके अनुसार प्रत्येक पद उसके पूर्ववर्ती पद से व्युत्पन्न होता है; इस श्रेणी का छोर या अन्त नहीं है यह बात, आत्म-निर्धारण के उपर्युक्त निश्चयात्मक गुण-धर्म का सरल परिणाम मात्र है। लेकिन मान लीजिए कि मैं इस श्रेणी के पद ही लूँ अधिक एक पद भी नहीं और मान लीजिए एक निर्धारित संख्या हो, तब परिणामी श्रेणी परिमित होगी लेकिन मूलतः इस कारण नहीं कि उस श्रेणी के बहिर्गत इसी प्रकार की अन्य श्रेणी भी हैं बल्कि इसलिए कि ग्राह्य पदों की संख्या श्रेणी-निरूपण के नियमों द्वारा निर्धारित नहीं होती अपितु स्वयं श्रेणी के नियम से स्वतंत्र किसी वस्तु के हवाले से ही निश्चित होती है। दूसरे शब्दों में, केवल अनन्त ही, शब्दों के पूर्णार्थ में, निष्पन्न रूप से आत्मनिर्धारित समग्र होता है। सान्त या परिमित अपूर्ण होता है मूलतः इसलिए नहीं कि उससे बाह्य कुछ होता है बल्कि इसलिए कि उसकी अन्तर्वस्तुओं का निर्धारण केवल मात्र उस संरचना के नियम द्वारा, जिसकी वे प्रतिमूर्ति हैं, नहीं होता। उदाहरण के लिए मुझे ले लीजिए। मैं एक परमित सत्ता हूँ लेकिन मुख्यतः अथवा केवलतः इसलिए ही मैं परिमिति नहीं चूँकि दुनिया में और भी आदमी हैं बल्कि इसलिए कि मेरे विचार और प्रयोजन स्वयं में एक पूर्णतः संगत व्यवस्थागत समग्र नहीं हैं।

व्यष्टता और परिमित तथा अपरिमित व्यष्टता के पारस्परिक विभेद के बारे में हमने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह बहुत कुछ लीबिनिट्ज़ के दर्शनशास्त्र के मौलिक विचारों से मिलता-जुलता है। यह लीबिनिट्ज़ का ही मत था कि उसका प्रत्येक एकाणु अस्तित्व की समग्र व्यवस्था के स्वरूप का प्रतिनिधि होता है अर्थात् एक विशिष्ट 'दृष्टि बिन्दु' से, वह स्वयं अपनी विशिष्ट संरचना में समग्र की संरचना की पुनरावृत्ति किया करता है। इस प्रतिनिधित्व अथवा 'पुनः प्रस्तुत' की पूर्णता और स्पष्टता के अनुसार अर्थात् पर्याप्तता की उस मात्रा के अनुपात से ही जिसके अनुसार एकाणु संरचना समग्र की व्यवस्था-संरचना का पुनरावर्तन किया करती है, वे एकाणु अस्तित्व के तुला-दण्ड पर 'उच्चतर', अथवा निम्नतर स्थान पाते हैं। एकाणु के अपने आभ्यन्तर में समग्र की 'पुनः प्रस्तुति' जितनी ही अधिक स्पष्ट होती है उसकी 'क्रियाशीलता' भी उतनी

ही अधिक होती है और वह पुनःप्रस्तुति जितनी ही अस्पष्ट होती है उसकी निष्क्रियता भी उतनी ही अधिक होती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि इस बात का ध्यान रखते हुए कि कोई भी स्पष्ट एकाणु अपने भीतर वास्तविकता के समग्र की व्यवस्थित संरचना को पूर्णतया प्रदर्शित नहीं करता, कहा जा सकता है कि उनसे में से प्रत्येक में निष्क्रियता का कुछ न कुछ पुट मौजूद रहता ही है और यह भी कि निष्क्रिय होने का मूल अर्थ है बाह्य प्रभावों से प्रभावित न होना अपितु अपने भीतर अस्पष्टता या गड़बड़ी लिए रहना।

इस प्रकार लीबिनिट्ज़ की 'क्रियाशीलता' एकदम उस वस्तु की अनुरूप होती है जिसे हमने व्यष्टता कहा है और उसकी 'निष्क्रियता' निष्पन्न आभ्यन्तर व्यवस्थीकरण की उस कमी के अनुरूप होती है जिसे हमने परिमित अस्तित्व से अवियोज्य पाया है। आभ्यन्तर व्यवस्थीकरण की शब्दावली द्वारा क्रियाशीलता और निष्क्रियता के इस परिभाषीकरण की अपरिमेय सार्थकता तब और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी जब हम अपने पुस्तक के अन्तिम खण्ड में मानवीय स्वतन्त्रता के अर्थ तथा निश्चय और 'कारणता' के साथ उसके सम्बन्ध में विचार करेंगे। इस समय तो इतना ही नोट कर लेना पर्याप्त होगा कि हमारा अपना सिद्धान्त सार रूप में लीबिनिट्ज़ का ही सिद्धान्त है यदि उसमें से वह असंगति दूर कर दी जाय जो विविध परिमित व्यष्टों की पूर्ण निष्पन्न स्वतन्त्रता विषयक, एकाणुवादी पूर्वानुमान के कारण उसमें आ घुसी है। इन दोनों ही उपर्युक्त विचारधाराओं को मिला देना, जैसी कि लीबिनिट्ज़ ने कोशिश भी की थी, असम्भव है। या तो अन्ततोगत्वा केवल एक ही स्वतन्त्र व्यष्ट, अनन्त व्यष्ट समग्र रह जाता है अथवा व्यष्टता की उच्चतर और निम्नतर मात्राओं की बात ही व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। इस मामले में लीबिनिट्ज के सिद्धान्त की असंगति का एकमात्र कारण, विशिष्ट मानव 'आत्मा' की निरपेक्ष व्यष्टता सिद्ध करने की उसकी इच्छा ही थी और वह कुछ इसलिए भी थी कि लीबिनिट्ज़, स्पिनोज़ा तथा अन्य दार्शनिकों के समान ही, उस युग के सरकारी धर्मशास्त्र से टक्कर नहीं लेना चाहता था।

८—अनन्त और परिमित व्यष्टता के परिभाषीकरण वास्तविकता के समग्र रूप की तथा उसके घटकों के साथ उसके सम्बन्ध विषयक हमारी कल्पना का सामान्य खाका पूरा हो जाता है। उस सिद्धान्त का संक्षिप्तीकरण करते हुए अब हम कह सकते हैं कि अनुभूति अथवा भौतिक तथ्यवस्तु के ऐसे सर्वांगीणएकल समग्र को ही वास्तविक कहते हैं जिसका निर्धारण एकदम अपने भीतर से ही आभ्यन्तर संरचना के किसी नियम द्वारा हुआ करता है और इस कारण ही वह एक पूर्ण व्यष्ट होता है। चूँकि व्यवस्था की सारवस्तु, जो उसके अंग-अंग की वस्तु होती है, अनुभूति ही है अतः उसकी संरचना के नियम के स्वरूप का उद्देश्यपरक होना आवश्यक है। मतलब यह कि उस व्यवस्था को

किसी संगत हित या अभिरुचि अथवा मानसिक अभिवृत्ति की चेतन भावना के एकतान एकत्व का मूर्त रूप होना आवश्यक है। और उसके इस रूप को हम किसी प्रयोजन अथवा विचार की उदासीनतापूर्वक संप्राप्ति कह सकते हैं तथा एकान्त या निरपेक्ष अनुभूति को हम निरपेक्ष ज्ञान अथवा निरपेक्षण इच्छा की निष्पन्नीकृत अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

लेकिन यदि हम ऐसा करें तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ इस प्रकार के विचार का कोई सवाल ही नहीं जो किसी बाह्य स्रोत से अपेक्षाकृत अबोधगम्य और असम्बद्ध रूप में मूलत: प्राप्त दत्तों के समूह पर कार्य करके उनका पुनर्निर्माण करता है अथवा ऐसे किसी अध्यवसाय या संकल्प का जो किसी ऐसे उद्देश्य अथवा प्रयोजन को जो उसके सामने मूलत: एक असिद्ध विचार के रूप में प्रस्तुत हुआ हो, वास्तविकता में परिपात कर देता है। स्पष्ट है कि किसी ऐसी अनुभूति में जिसके लिए किं और तत् कभी विभक्त नहीं होते, विचार की प्रक्रियाओं और अध्यवसाय का कोई स्थान नहीं हुआ करता। जैसा कि हम शनैः शनैः अधिक पूर्णतया देखेंगे, कालाभिनिवेशी अस्तित्व उनमें संपृक्त रहता है और कालाभिनिवेशी अस्तित्व परिमित और अपूर्ण का ही अंग होता है। इसलिए बौद्धिक स्पष्टता तथा निश्छलता के श्रेष्ठतम हितार्थ, निरपेक्ष अनुभूति के विषय में बात करते समय ज्ञान और इच्छाशक्ति आदि शब्दों का व्यवहार यथासम्भव न करना ही अच्छा होता है। अपने अच्छे से अच्छे रूप में वे शब्द अधिकांशत: रूपकात्मक होते हैं और बुरे से बुरे माने में बौद्धिक बेईमानी के हथियार भी व्यवस्था के घटक अथवा निर्मायक भी उसी सामान्य प्रकार की लघुतर अनुभूति व्यवस्थाएँ होती हैं जिनमें से प्रत्येक में समग्र का स्वरूप, भले ही वह विभिन्न मात्राओं में ही क्यों न हो, व्यक्त हुआ करता है। इस प्रकार वे सब विविध मात्राओं की व्यष्टता वाली परिमित व्यष्ट होती हैं। कोई व्यवस्था कितनी ही अधिक व्यापकार्थग्राहिणी तथा उद्देश्यपरक संरचना के अन्तर्हित नियम द्वारा जितनी ही अधिक आभ्यन्तरत: एकीभूत होगी उतनी अधिक पूर्णतया व्यष्ट भी वह होगी और साथ ही साथ सर्वव्यापक समग्र की संरचना को भी वह उतनी ही अधिक पूर्णतया वह व्यक्त करेगी। और हमारे इस सहज विश्वास का कि हमारी मानवीय अनुभूति के लिए जो कुछ भी उच्चतम और श्रेष्ठतम है वह विश्व के संगठन में अन्ततोगत्वा अत्यन्त पूर्णतया वास्तविक है।

अधिक जानकारी के लिए देखिए : एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' अध्याय २४, 'डिग्रीज़ ऑफ ट्रुथ एण्ड रियलिटी'; प्लैटो कृत 'रिपब्लिक' ६, ५०९ आर० एल० नेटलशिप के 'लेक्चर्स ऑन प्लैटोज़ रिपब्लिक' में दी गयी टीका सहित, अथवा बोसांक्ये की पुस्तक 'कम्पैनियन टु दि रिपब्लिक' टिप्पणी सहित।

अध्याय ४

वस्तु जगत्—(१) पदार्थ, गुण और सम्बन्ध

१—विश्व विषयक सहज अथवा पूर्व विज्ञान कालीन मतानुसार विश्व 'वस्तुओं' की ऐसी बहुलता का नाम है जिसमें प्रत्येक वस्तु के, अन्य वस्तु के साथ उसके सम्वन्ध के कारण, अपने भी गुण होते हैं और वे वस्तुएँ अन्योन्य क्रिया पर होती हैं। २—इस कारण ही, वस्तु की एकता, पदार्थ और गुण, सम्बन्ध तथा कारणता विषयक समस्याओं का जन्म होता है। ३—'एक वस्तु क्या है' इस सवाल का कोई सीधा-सादा जवाव नहीं दिया जा सकता। उस वस्तु का एकत्व, उद्देश्यप्रधान संरचनापरक होता है जो मात्रा का विषय हुआ करता है और अधिकांशतः हमारे अपने वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का भी। ४—पदार्थ और गुण। वस्तुओं के सार पदार्थ का उनके प्रारम्भिक गुणों के साथ तादात्म्य बैठाना, भौतिक विज्ञान में उपयोगी होते हुए भी तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से तर्कसंगत नहीं। ५—सार पदार्थ, 'गुणों के अविज्ञेय अधःस्तर' के रूप में, उन वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समझ सकने में जरा भी सहायक नहीं है। ६—वस्तु आभ्यन्तर-एकत्वहीन गुण-समुदाय मात्र नहीं हो सकती। ७—किसी वस्तु की उसकी विभिन्न दशाओं के सम्बन्ध विषयक नियम अथवा विधा रूप में कल्पना, उपयोगी होते हुए भी तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से असन्तोषप्रद नहीं। अन्ततोगत्वा 'प्रति प्रस्तुत' या 'प्रतिनिधित्व' द्वारा अनेक का केवल एक में विलय अथवा अन्तर्धान हो सकता है। वस्तुओं के अन्तर्हित एकत्व को स्पष्ट अनुभूति का एकत्व होना ही आवश्यक है। ८—सम्बन्ध। हम गुणों को घटाकर सम्बन्धों में परिवर्तित नहीं कर सकते, न सम्बन्धों को गुणों में परिवर्तित कर सकते हैं। ९—सम्बन्धगत गुणों के रूप में वास्तविकता की कल्पना करने का प्रयत्न भी हमें अनन्त प्रतीपत्व की ओर ले जाता है। १०—सब सम्बन्धों को बाह्य मानकर हम इस कठिनाई से बच नहीं सकते। और इस अनन्त प्रतीपगायिता का प्रोफेसर रायंस द्वारा किया गया समर्थन अन्तिमेत्थ वास्तविकता के सम्वन्ध में समग्र और अंश की अपर्याप्त कोटि का अनालोचित प्रयोग करने पर निर्भर रहता-सा प्रतीत होता है। ठोस अनुभूति में एक और अनेक का संयोग करना अति सम्बन्धीय है। पूरक नोट, श्री ब्रैडले के प्रति डा० स्टाउट का उत्तर।

१—किसी भी संगत दर्शन द्वारा आवश्यक रूप में प्रकल्प्य वास्तविकता की संरचना विषयक खोज को छोड़कर हम जब उसके उस रूप की ओर मुड़ते हैं जो मामूली

अदार्शनिक विचारवान् व्यक्ति को दिखायी पड़ता है तो विगत दो अध्यायों में हमारे ध्यान की विषय, व्यवस्थागत एकता की जगह को हम चकरा देने वाले ही नहीं अपितु अगणनीय वैविध्य को घेरे-सा पाते हैं। क्रियात्मक जीवन की अनुभूति से सहज संभूत, अस्तित्व के उस सरल पूर्व-विज्ञान कालीन सिद्धान्त के अनुसार, जहाँ से भौतिक विज्ञानी, मनोवैज्ञानिक तथा तत्त्वमीमांसा-शास्त्री के वैज्ञानिकतर तथा व्यवस्थिततर सिद्धान्त अपना-अपना अलग मार्ग पकड़ते हैं, यह संसार प्रकटत: ऐसी स्वतन्त्र वस्तुओं से, जिनमें से कुछ हमारी तरह जीवित हैं और कुछ जीवहीन, मिलकर बना है। इन वस्तुओं में से प्रत्येक को जो किसी माने में एक इकाई होती है, मात्राओं और गुणधर्मों की अनन्त बहुलता से युक्त अन्य वस्तुओं से विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ, अन्य वस्तुओं पर क्रिया करने वाली और उन वस्तुओं द्वारा विविध प्रकार से प्रभावित होने वाली समझा जाता है।

इन सभी बातों में, यह देखने की चीज है कि विज्ञान काल से यह पहले की सरल यथार्थवादी विचारधारा जिसे एक ही समझती थी, जिसे अधिक विकसित दृष्टिकोण के अनुसार मानसिक और भौतिक अस्तित्वों के दो भिन्नार्थों में बाँटा जा सकता है, उस सरल विचार के अनुसार मानव व्यक्ति भी, उन्हीं अन्य वस्तुओं के समान जिनसे मिलकर मेरा पर्यावरण निर्मित हुआ है, एकदम ऐसी इकाइयाँ ही माने जाते हैं जो विभिन्न गुण-धर्मों के स्वामी हैं, एक दूसरे के तथा अन्य वस्तुओं के साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध बनाने में समर्थ तथा एक दूसरे के प्रति और शेष पर्यावरण के प्रति भी मिथ:क्रिया पर। आध्यात्मिकत्व को, भौतिकता से पृथक् क्रम रूप में, मान्यता दिया जाना, बौद्धिक विकास के बाद के और अत्यधिक सुरुचिपूर्ण युग की बात है, जिसके परिणाम तत्त्वमीमांसा के सामान्य सिद्धान्तों के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। सरल यथार्थपरक बौद्धिकता के विषय में यह भी नोट करने की बात है कि समानरूपी वस्तुओं के पर्यावरण में से मैं भी एक पदार्थ या वस्तु माना जाता हूँ और उस पर्यावरण के साथ मेरे सम्बन्धों का स्वरूप भी उसी प्रकार का समझा जाता है जिस प्रकार का सम्बन्ध उस पर्यावरण के विभिन्न संघटक के बीच परस्पर है। मेरे अपने विचार के अनुसार भी, जब तक कि मेरी विचार-शक्ति का स्तर उपर्युक्त प्रकार से आदिमयुगीन रहता है तब तक, मैं स्वयं विविध गुण-धर्मसम्पन्न ऐसी एक वस्तु मात्र हूँ जिसके अन्य वस्तुओं के साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं और जो उनके साथ विविध भाँति से मिथ: क्रिया करती है।

अस्तित्व के स्वरूप की कल्पना करने के इस अत्यन्त आदिमयुगीन तरीके को हमने 'पूर्व विज्ञान कालीन' इस कारण कहा है कि व्यक्ति तथा व्यक्ति-समुदायों, दोनों ही के मानसिक विकास के मामले में यह जगत् या विश्व विषयक विचारों को एक संगत समग्र का रूप देने के अत्यन्त परीक्षणात्मक प्रयत्नों से भी बहुत पहले का है।

इसके बाद की सभी वैज्ञानिक और दार्शनिक रचनाओं को, इस पूर्ववर्ती दृष्टिकोण के इतने बहुत-से ऐसे कृत्रिम रूपान्तरण मात्र समझा जा सकता है जिनका प्रवर्तन और कार्यरूप परिणति उस विचार को अधिक संगत और व्यवस्थित बनाने के लिए ही की गयी हों। लेकिन इसके बावजूद, 'पूर्व वैज्ञानिक', पद के हमारे प्रयोग को भ्रान्तिजनक न बनने देना चाहिए। 'पूर्व वैज्ञानिक' दृष्टिकोण एक ही मन में, उन विविध रूपान्तरणों सहित जो संगतिपूर्वक विचार करने के प्रयत्न के कारण उत्पन्न हो जाते हैं, एक साथ ही वर्तमान रह सकता है। अनुभूति जगत् के उन रूपों के बारे में, जो हमारे व्यक्तिगत वैज्ञानिक अध्ययनों की सीमा से बाहर की वस्तु है हम सभी स्वभावत: या आदतन, सरल यथार्थवादी हैं। अस्तित्व जगत् के उन रूपों के सम्बन्ध में भी, जिनके बारे में हमारे सैद्धान्तिक विचार अत्यधिक विकसित प्रकार के हों, स्वभावत: हमारा रुख तब 'पूर्व विज्ञान कालीन' हो जाता है जब हमारा तात्कालिक लक्ष्य, विचारों की तार्किक संगतता की अपेक्षा कार्यकरण में क्रियात्मक सफलता अधिक हो। दैनंदिन जीवन के प्रयोजन के लिए अत्यधिक 'अग्रवर्ती' वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला के बाहर सरल यथार्थवादी बने रहने में सन्तोष मानता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्व के प्रति आदिम कालीन भावना इस माने में भी पूर्व विज्ञान कालीन है कि वह विचारों की व्यवस्था तथा संगति हेतु किये जाने वाले विमृष्ट प्रयत्न से अप्रभावित रहता है इसलिए वह इस हद तक वैज्ञानिक होता है कि वस्तुओं के बारे में विचारों के क्रम और व्यवस्था की आवश्यकता विषयक हमारी बौद्धिक वांछा का वह एक वास्तविक किन्तु प्रारंभिक और अचेतन उत्पाद होता है। वह अनुभूति के क्रम के बारे में हमारे पुरातनतम विमर्श का असली किन्तु अचेतन परिणाम है और इस लिए एक विचार संरचना है न कि दत्त वस्तु मात्र का एक निष्क्रिय उत्पाद। अनुभूति के व्यवस्थीकरण का वह काम ही, वह एक अविकसित रूप में तथा बिना किसी स्पष्ट उद्देश्य के, किया करता है जिसको अधिक विस्तारपूर्वक और चेतन संकल्प सहित करने का जिम्मा, अधिक विकसित मानस के विविध वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्त अपने ऊपर लिया करते हैं। इस प्रकार वह पूर्व विज्ञान कालीन है लेकिन सही कहा जाय तो अवैज्ञानिक नहीं।

ज्यों-ज्यों निश्चयित तथ्यों का ढेर इकट्ठा होता जाता है और उस पर होने वाला विमर्श अधिकाधिक विमृष्ट और व्यवस्थित होता जाता है त्यों-त्यों ही वास्तविक के व्यवस्थित स्वरूप के बारे में हमारा आदिम कालीन प्रत्यय दो कारणों से अपरिहार्य रूप में असन्तोषजनक हो जाता है। नये तथ्य ऐसे निकलते आते हैं जिन्हें पुरानी योजना में ठीक से तब तक नहीं बैठा पाते जब तक कि उसकी संरचना में रद्दोबदल न हो जाय और फिर यह कि जिन प्रत्ययों के रूपों को मिलाकर वह योजना मूलत: बनी थी

वे प्रत्यय ही, परीक्षा करने पर, स्वयं यथार्थ में संदिग्ध और दुर्बोध सिद्ध हुए। मौलिक योजना के पुर्निर्माण या पुनर्गठन के लिए इस प्रकार दो उद्देश्य सदा ही कार्यरत रहते हैं। सद्यः तथ्यों के समावेश के लिए पुराने ढाँचे या खाके में आवश्यक परिवर्तन करने के तरीके ढूँढ़ निकालने का काम मुख्यतः विविध विज्ञानों के कन्धे पर ही आ पड़ता है। उन्हें किस हद तक एक बोधगम्य और संगत व्यवस्था का रूप अन्ततोगत्वा दिया जा सकता है। इस बात का निर्धारण करने की दृष्टि से मौलिक योजना तथा उसमें बाद को किये गये रद्दोबदल दोनों ही की विभिन्न शर्तों की जाँच करने का काम तत्त्व-मीमांसीय आलोचना का विशिष्ट क्षेत्र है।

२—विश्व विषयक इस मौलिक 'पूर्व विज्ञान कालीन' सिद्धान्त की, इस दृष्टिकोण से जब हम जाँच करेंगे तो हमें दिखायी पड़ेगा कि उसके चार मुख्य लक्षणों के कारण महती सामान्यता और पर्याप्त कठिनाई से भरपूर चार तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। ऐसी वस्तुओं के जिनमें से प्रत्येक ही एक है बाहुल्य से बने हुए विश्व की कल्पना के कारण वस्तु के एकत्व की समस्या उत्पन्न होती है। गुणों की बहुलता तथा एकल वस्तु में आहित संबन्धों के बाहुल्य के कारण भी सार पदार्थ, गुण तथा सम्बन्ध विषयक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। और अन्त में विभिन्न वस्तुओं के बीच मिथः कार्य विषयक विश्वास से कारणता की विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथा कठिन समस्या का जन्म होता है। चारों ही समस्याएँ किसी न किसी हद तक आपस में जुड़ी हुई हैं एकदम अलग नहीं। खास तौर से, इस बात पर विचार किये बिना कि 'एक' वस्तु का अपने बहुत से गुण-धर्मों के साथ क्या सम्बन्ध है उस अर्थ पर विचार कर सकना जिसके अनुसार किसी वस्तु को एक कहा जा सकता है, बड़ा कठिन है। साथ ही साथ सम्बन्ध का सामान्य अर्थ भी विचारणीय होता है। कारणता की समस्या भी ऐसे सामान्य रूप में प्रस्तुत की जा सकती है जिसके भीतर अन्य तीनों समस्याएँ भी समा जायें। किन्तु फिर भी विचार का एक निश्चित क्रम बनाये रखने के लिए यही उचित होगा कि जहाँ तक हो उनमें से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् ही लिया जाये और अधिक सरल से चलकर भ्रामकता की ओर बढ़ा जाये। इन समस्याओं के खुद हमारे द्वारा निकाले गये हलों की रूपरेखा बता देने के बाद हमें पूछना पड़ेगा कि हमारे निष्कर्षों द्वारा स्थापित वस्तु की सामान्य कल्पना क्या है और यह कि हमारी उपर्युक्त कल्पना के वर्णन से मिलती-जुलती वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास रखने के औचित्य क्या हैं तथा उसके आधार कौन से हैं। वर्तमान अध्याय में हम कारणता के अभिप्राय पर विचार करेंगे और वस्तुओं के अस्तित्व विषयक अपने सामान्य निष्कर्ष पेश करेंगे। इस सबके परिणाम के बाद वास्तविकता की सामान्य संरचना विषयक हमारा सर्वेक्षण पूरा हो जायेगा और तब हम अपने तीसरे, और चौथे खण्डों में क्रमशः भौतिक प्रकृति के अस्तित्व और

चैतन्य मन द्वारा प्रस्तुत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट समस्याओं की जाँच करेंगे ।

३—**वस्तु का एकत्व**—समस्या जिसका हमें सामना करना है यह है : किस अर्थ में हम किसी वस्तु को 'एक वस्तु' कहते हैं और उसे उसके एकत्व का लक्षण कौन प्रदान करता है ? स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर हम परस्पर व्यतिरिक्त दो दृष्टिकोणों में से किसी एक द्वारा विचार कर सकते हैं। या तो हम पूछ सकते हैं कि अनेक वस्तुओं में से किसी सकल वस्तु के रूप में छाँटकर, अपने पर्यावरण के उतने से भाग को शेष भाग से क्यों अलहदा कर दिया करते हैं अथवा यह कि उपर्युक्त प्रकार अलहदा किये गये, पर्यावरण के उतने मात्र भाग में जिस एकत्व का हम अध्याहार कर देते हैं वह उस भाग के गुण-धर्मों की बहुलता के साथ किस प्रकार सम्मेल्य हो सकता है ? उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत दोनों प्रश्नों में से पहले प्रश्न पर ही हम इस अनुच्छेद में विचार करेंगे। अवर प्रश्न पर पदार्थ और उसके गुण-धर्म के रूप में हम अगले अनुच्छेद में विचार करेंगे। अन्यों की बहुलता में से जिसे भी हम एक वस्तु कहकर स्वीकार करते हैं उसे प्रदान किये गये एकत्व से हमारा क्या अभिप्राय हुआ करता है ? इस प्रश्न का अन्तर्हित या अव्यक्त उत्तर हम एक प्रकार से, वास्तविकता की व्यवस्था के तत्वों अथवा निर्भायकों के स्वरूप का निर्धारण करते समय पहले ही दे चुके हैं। लेकिन चूँकि अपने पहले वाले अनुसन्धान का आरम्भ हमने वास्तविकता की, अनुभूति के एक व्यवस्थागत समग्र रूप की कल्पना के साथ किया था और हम इस बात की जाँच करने के लिए कि इस प्रकार की व्यवस्था के घटकों पर, उस व्यवस्था में उसके घटक रूप में उपस्थित होने के कारण, किस प्रकार का स्वरूप थोपा गया है, आगे भी बढ़ते चले गये थे, इसलिए हमें अब उसी प्रश्न को दूसरी ओर से भी उठाना है। अपने पर्यावरण के वस्तुओं में विभक्त रूप की मान्यता को लेकर जब हम चलते हैं तो हमें पूछना पड़ता है कि इन वस्तुओं का स्वरूप कहाँ तक ऐसा है कि जिसका अधीनस्थ व्यष्ट के व्यष्ट-समग्र के विशुद्धतः व्यष्ट अंगों का भी स्वरूप होना आवश्यक है।

जाँच के प्रयोजनार्थ हमें वस्तु शब्द का उसी विस्तृत और अस्पष्ट अर्थ में, जिसमें कि लोग अपने दैनंदिन विचार और प्रवचन हेतु उसका प्रयोग करते हैं, ग्रहण करके अपना काम शुरू करना होगा। अपने विवादग्रस्त विषयों में हमें मानवीय व्यक्तियों, जीवधारियों, पौधों, छोटे-बड़े अजैव संहतियों, और एक शब्द में तो उस सब को भी गिनना पड़ेगा जिसे तथ्यविषयक साधारण बोधपरक अधिकांश विचारणा इस प्रकार के स्वरूप से युक्त मानती है जिसके द्वारा वह अनुभूतिके प्रवाह का किसी दत्तक्षण पर, समग्र रूप से निर्धारण कर सके। इस परिभाषा के कारण वह स्वरूप अथवा पक्ष जिसके आधार पर इस प्रकार का समग्र, अनुभूति के अन्य प्रकार के प्रवाह की अपेक्षा

इस विशेष प्रकार के प्रवाह-पथ का निर्धारण करता है, हमारी वस्तुविषयक कल्पना के बाहर ही रह जाता है। हमारी दूसरी और तीसरी समस्याओं का विषय, स्वयं वस्तु नहीं अपितु उसका गुण, अथवा गुण-धर्म, या किसी अन्य वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध ही उनके विषय हैं। इसलिए जिस अर्थ में हम वस्तु शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, उसी अर्थ में हम उस के विषय में कह सकते हैं कि यह वस्तु वह है, जिसका अनुभूतियों की श्रेणी में यहाँ ही और अभी, समग्र रूप से अस्तित्व है, यद्यपि ऐसा कहते समय हमें सावधानी से अपने मन में यह ख्याल रखना पड़ेगा कि वस्तु के अस्तित्वविषयक यहाँ और अभी देश और काल से अवच्छिन्न अविभाज्य बिन्दु नहीं हैं अपितु बहिर्वृद्धि और अवधि के सतत विस्तार मात्र हैं। अब जब हम प्रश्न करते हैं कि इस प्रकार की वस्तु किस माने में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उसी जगह एक है जहाँ हम उसे एक मानते हैं, तो तुरन्त प्रकट हो जाता है कि उसका यह एकत्व मात्र ही विषय है। यों देखने पर तो लगता है कि हम अपेक्षाकृत बहुत आसानी से ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि मानव जीव का जैवतंत्र तथा किसी अन्य उच्चकोटि के जीव का शरीर या जैवतन्त्र दोनोंही एक ही वस्तु हैं, लेकिन जब हम निम्नतर जैवतन्त्रों पर आते हैं जो अधिकांशतः स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाली कोशिकाओं के ढीले-ढाले से पूंजीभूत संघों से मिलकर बने होते हैं तो हम अनुभव करने लगते हैं कि यह घोषित करना कि एक जैवतन्त्र अथवा 'आर्गेनिज़्म' क्या वस्तु है, बड़ा कठिन है यद्यपि तब भी हम यह समझते रहते हैं कि एक कोशिका क्या है यह हम ठीक-ठीक बता सकते हैं। इसी प्रकार जब हम अजैव संहतियों पर कार्य कर रहे होते हैं, तब जहाँ हम बिना हिचक के कहने को तैयार हो सकते हैं कि हमारी खुद बनायी मशीन एक है वहाँ यह तय कर सकना कि जिसे हम अजैव संहति मात्र के रूप में देख रहे हैं वह एक है या अनेक, हमें कठिन मालूम होना चाहिए और किसी खास मामले में अपने इस निर्णय के लिए कारण बता सकना तो और भी बहुत अधिक कठिन होना चाहिए। और उन मामलों में भी जहाँ हम बिलकुल बेधड़क फैसला दे दिया करते हैं, बाद में विचार करने पर दिखायी पड़ता है कि मामला इतना आसान और स्पष्ट नहीं था जितना कि लगता था। उदाहरण के लिए, जुड़वाँ शरीर वाले जोड़े को जब अलग-अलग कर दिया गया हो तो उन दोनों को आमतौर पर दो जैवतन्त्र अथवा 'आर्गेनिज़्म' ही माना जाता है न कि एक; लेकिन अलहदा किये जाने से पहले वे एक थे या दो, यह सवाल पूछने में तो आसान लगेगा पर जवाब देते समय बेहद कठिन।

क्या कोई वस्तु एक है या अनेक इस बात के अपने विविध निर्णयों के बीच एक सर्व सामान्य नियम को ढूंढ़ निकालने की कोशिश हम करते हैं तो अग्रलिखित परिणाम निकलते दिखायी देते हैं :

(१) स्पष्ट है कि कोई वस्तु इसलिए एक नहीं बन जाती जैसा कि प्रायः मान लिया जाता है कि उसकी समानोच्च रेखा कहीं टूटी नहीं है अथवा इसलिए कि उसका कालिक या पार्थिव अस्तित्व अनवरुद्ध है। हो सकता है कि मेरी मनोदशाओं के पूर्वापर क्रम को लेकर एक मानसिक जीवन बना लिया जाय अथवा पालने से लेकर कब्र तक का मेरा जैवतंत्र किसी न किसी माने में एक घोषित कर दिया जाय लेकिन यह कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता कि न तो मेरी मनोदशाओं के ही न मेरे जीवन क्रम के पार्थिव या कालिक अस्तित्व में ही कोई व्यवधान पड़ा। अगर हम इस हिसाब-किताब से, शरीरविषयक उन काणिकावादी सिद्धान्तों को अलग भी कर दें जिनके अनुसार प्रत्येक वह वस्तु जो देखने में हमें क्षेत्रीय दृष्टि से अखण्ड या अटूट समानोच्चरेखा वाली एक सतत समग्र, प्रतीत होती है वास्तव में ऐसे विविक्त कणों से बनी होती है जिनके बीच में अनेक अन्तराल भी होते हैं तो यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी व्यवस्था के भागों को, जो एक सम्बद्ध समग्र के समान कार्य करती है, सामान्य बुद्धि, उनके बीच अव्यहत सम्पर्क से या नहीं इसका लिहाज किये बिना, एक वस्तु ही मानती है।

(२) इसके अतिरिक्त, किसी एक वस्तु का एकत्व, उसके सारद्रव्य के सादृश्य पर निर्भर नहीं हुआ करता, भले ही इस वाक् पद का कोई भी अर्थ हो। मेरा शरीर या जैवतन्त्र सदा एक ही वस्तु बना रहता है जब कि किन्हीं तत्त्वों की हानि तथा अन्यों के अधिग्रहण द्वारा उसका सारद्रव्य लगातार बदलता रहता है।

(३) निश्चयात्मक पक्ष को अगर हम लें तो यह स्पष्ट ही है कि किसी वस्तु में हम जिस एकत्व का अध्याहार करते हैं उसकी संरचना उद्देश्यमूलक होती है। कोई वस्तु उसी दृष्टिकोण के अनुसार एक या अनेक होती है जिससे आप उसे देखते हैं अर्थात् उस विचार या प्रयोजन के अनुसार जिसका ख्याल रखकर आप उसका अध्ययन करते हैं। वह वस्तु ही एक होती है जो एक ही की तरह काम करती है, दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि, जो संरचना की एक संगत योजना का व्यवस्थित मूर्त हो। इस प्रकार जब हम किसी जैवतन्त्र को समग्र रूप से किसी अनन्य अथवा अद्वितीय व्यष्ट लक्ष्य अथवा हित की प्राप्ति का वशवर्ती समझ रहे होते हैं, तब उस जैवतन्त्र को एक ही माना जाता है क्योंकि उस हित के सम्बन्ध में वह एक समग्र के समान ही व्यवहार करता है। हम जब किसी विशिष्ट तंत्रिका की प्रतिक्रिया की किसी निर्धारित विधि का अध्ययन कर रहे होते हैं तो वही जैवतन्त्र, उसी सहज प्रकार से हमें, वह एक दूसरे से पृथक् किन्तु अन्तः संबद्ध वस्तुओं की बहुलता प्रतीत होता है। इसी प्रकार द्रव्य कणों की कोई क्रम व्यवस्था हमें एक वस्तु रूप तब तक दिखायी पड़ती है जब तक हमारी उस व्यवस्था विषयक अभिरुचि उन्हीं विधियों की ओर निर्दिष्ट रहती है जिनके अनुसार वह एक वस्तु रूप में व्यवहार करती है। उदाहरणतः उस व्यवस्था तथा उसके बाह्य अन्य

व्यवस्थाओं के बीच चलनेवाला शक्ति का आदान-प्रदान । सामान्यतः यों कहा जा सकता है कि जिसे भी एक की संज्ञा दी जाय तो उसे एक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह किसी एकल लक्ष्य अथवा हित या रुचि की व्यवस्थागत अभिव्यक्ति होती है। कोई वस्तु वास्तव में उसी हद तक एक होती है जहाँ तक उसका स्वरूप वैसा हो जैसा कि हमने पिछले अध्याय में एक परिमित व्यष्ट का निरूपित किया था । उसका एकत्व अर्थात् संगत संरचना विषयक एकत्व कभी भी केवल संख्यापरक नहीं होता, अपितु गुणात्मक ही होता है।

अजैव और प्रकटतः संरचनाहीन संहतियों के एकत्व के साक्ष्य रूप में समानोच्चरेखा के सातत्य को पेश करने के हमारे ऊबड़-खाबड़ किन्तु तात्कालिक तरीके में भी इस नियम का ही प्रभाव हमें दीख सकता है। हम बाध्य रूप में संतत संहति को अनेक न मानकर एक वस्तु इसलिए निर्धारित करते हैं क्योंकि अनेक सुस्पष्ट विषयों में वह एक के ही रूप में व्यवहार करती है। (उदाहरण के लिए, अपने भार तथा अन्तरिक्ष या अवकाश के मध्य घूर्णन अथवा स्थानान्तरण के कारण होने वाले उसके भागों के विस्थापन के विषय में) हमारी अपने शरीरों के, जो बोधात्मक रूप से संतत होते हैं, साम्यानुमान से भी हमारा निर्णय निःसन्देह प्रभावित हुआ करता है। हम बोद्धव्य रूप से संतत अजैव संहति में भी,अपनी कल्पना द्वारा उसी प्रकार के उद्देश्य-परक एकत्व का प्रक्षेपण कर बैठते हैं जो हम अपने मानसिक जीवन में पाते हैं। दूसरी ओर ज्ञेयरूप से विसंतत का (उदाहरणार्थ, दो ऐसी अजैवतान्त्रिक संहतियाँ जो प्रकटतः रिक्त अन्तराल द्वारा पृथक्कृत हों) एक वस्तु न होने की अपेक्षा अनेक वस्तु होने का निर्णय इस कारण किया जाता है चूंकि अपनी कल्पना में हम इस प्रकार के मानसिक जीवन का प्रक्षेपण उन दोनों असंतत भागों में से प्रत्येक भाग में कर लिया करते हैं।

अगर यह सब इसी प्रकार हो तो निष्कर्ष यह होगा कि एक वस्तु से दूसरे वस्तु को विभाजित करनेवाली मध्य रेखा कभी भी निर्धारित तौर पर न खींची जा सकेगी। क्योंकि अगर कोई एक वस्तु अन्ततोगत्वा एक व्यष्ट अर्थात् एक अद्वितीय आत्मसंगत विचार का मूर्त, मानी जाती है तो वह एकमात्र वस्तु, पूर्णतया और निरपेक्षतया एक, अनन्त व्यष्ट वास्तविकता स्वयं ही होगी। वह सीमा जहाँ तक कि समग्र का कोई लघुतर भाग एक वस्तु घोषित किया जा सकता है उस सीमा पर निर्भर होगी जहाँ तक उसमें आत्मपूर्ण व्यवस्थित व्यष्टता प्रदर्शित होती हो और इस प्रकार यह सब बात मात्रा विषयक ही होगी। ऐसा उच्चतम कोटि का परिमित एकत्व जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, ऐसे उस जीवन का ही एकत्व हो सकता है जो संगत प्रयोजन की चैतन्य उत्तरोत्तर वर्धमान सिद्धि प्राप्ति का जीवन हो। इस प्रकार का जीवन केवल ऐसे बाहरी प्रेक्षक के लिए ही एक नहीं होता जिसे उस जीवन में अन्तर्हित लक्ष्य का एकत्व दीख

जाता है अपितु स्वयं अपने लिए भी एक होता है। इस प्रकार उसका एकत्व वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों ही कहा जा सकता है। अतः जितनी ही अधिक पूर्णतया हमारा अपना आभ्यन्तर जीवन संगत प्रयोजन को व्यवस्थित रूप में व्यक्त करता होगा उतना ही अधिक अधिकार हमें अपने आपको सही तौर पर 'एक वस्तु' मानने का होगा और उसी कारण सही तौर पर व्यष्ट मानने का भी। लेकिन जब हम याद करते हैं कि वह वस्तु जिसे हममें से कोई भी 'अपना' आभ्यन्तर जीवन कहता है, इस तरह की आभ्यन्तर-संरचना-संगति के प्रदर्शन से कितना व्यपगत है, (किस सीमा तक कम इस प्रकार की संगति उस जीवन में पायी जाती है)। तभी हमें पता चलेगा कि ऊँचे से ऊँचे मामले में भी यह एकत्व, मात्रा का विषय ही रहता है।

कायिक या जैविक जीवन के निम्नतर रूपों के बारे में तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट है। अगर इन जगजाहिर पहेलियों का यहाँ जिक्र न भी किया जाय जो तब उठ खड़ी होती हैं जब हम इस बात का फैसला करने चलते हैं कि क्या वह सृष्ट जो अधिकांशतः स्वतन्त्र कोशिकाओं का एक संघ है, एक जीव है अथवा अनेक जीव तो भी हमारी कठिनाइयों का दौर तभी शुरू हो चलता है जब हमें पूर्णतः आत्मचेतन जीवन की अपेक्षा निम्न प्रकार के किसी जीवन से काम पड़ता है। हम किसी हद तक कह सकते हैं कि कोई मानव स्वभाव या चरित्र तभी तक एक रहता है जब तक कि वह व्यवस्थित प्रयोजन की चेतन अभिव्यक्ति बना रहता है लेकिन यह कहना इतना आसान नहीं कि हम किस अर्थ में किसी जीव के चेतन जीवन को एक बतलाते हैं। जैव मनोवेग के उद्देश्य तथा रुचि के व्यवस्थित एकत्व जैसी किसी वस्तु से रहित होने पर पहली नजर में उसे 'एक' बतलाने के बजाय, स्पष्ट मनोवेगों और सहज-वृत्तियों का एक गट्ठर या समुदाय मात्र कहना ज्यादा उचित मालूम होता है।[1] मगर इसके बावजूद भी हम आदतन या स्वभावतः ही इस विशिष्ट उच्चतर जीव को अनेक के बजाय 'एक' कहते और सोचते हैं तो इसकी वजह निःसंदेह यह ही है कि हम चुपचाप ही उसे अभिरुचि के ऐसे चेतन एकत्व जैसी किसी वस्तु का अध्याहार कर लेते हैं, जैसा एकत्व हमें स्वयं अपने मानसिक जीवन में थोड़े बहुत कम स्पष्ट रूप में ही मिलता है।

जब हम अजैव जगत् पर विचार करने लगते हैं तो, किसे हम एक वस्तु कहें और किसे हम अनेक कहकर अभिहित करें यह सब हमारी व्यक्तिनिष्ठ या आत्मनिष्ठ

---

१. ऐसा लगता है कि जीव के मानसिक जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण, वास्तव में भी लोगों ने अपनाया हुआ था। उदाहरण के लिए स्वर्गीय प्रोफेसर टी० एच० ग्रीन को पेश किया जा सकता है। फिर भी देखिए ग्रीन कृत 'वर्क्स', २,२१७।

रुचि का ही विषय प्रतीत होता है। वह एक है जिसे एक समग्र के रूप में ऐसा कार्य करता समझा जा सके जिसका प्रभाव हमारे किसी हित पर पड़ता हो और वह अनेक है जो हमारे हितों के हिसाब से एक समग्र के रूप में व्यवहार नहीं करता। इस प्रकार उन मामलात को छोड़कर जहाँ हम जीवन के उन वर्गों को लेकर काम कर रहे होते हैं, जिनमें बहुत दिखावटी औचित्य के साथ, लक्ष्य और अभिरुचि विषयक चेतन एकत्व की कुछ मात्रा का होना हम मान सकते हैं, सुविधा के अतिरिक्त इसका अन्य कोई वैध कारण नहीं मालूम होता कि विभिन्न वस्तुओं के बीच किसी खास जगह पर ही लकीर क्यों खींची जाय दूसरी जगह क्यों न खींची जाय। अजैव जगत पर हमारे अस्तित्व विषयक आदर्शवादी सिद्धान्त को लागू करते समय उपयुक्त महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना जरूरी है। अगर आदर्शवादी सिद्धान्त के आधार मजबूत हैं तो प्रत्येक वास्तविक अस्तित्व का किसी न किसी व्यष्टता-क्रम की परिमित व्यष्ट अनुभूति होना आवश्यक है और यही बात अस्तित्व के उस भाग के बारे में भी जरूर सही होना चाहिए, जो हमें अजैव जगत्-सा मालूम देता है। अजैव जगत् का जैसा कि हम अगले अध्याय में ज्यादा अच्छी तरह पायेंगे—व्यष्ट अनुभूतियों की ऐसी व्यवस्था होना आवश्यक है जो हमें जीवनरहित और प्रयोजनरहित केवल इसलिए ही लगे कि जिस प्रकार का जीवन उसे प्राप्त है वह हमारे अपने जीवन से इतना अधिक अपसृत है कि हम उसे पहचान तक नहीं पाते। लेकिन हमें बड़ी सावधानी से देखना होगा कि उस अजैव जगत् की वास्तविकता की निर्मात्री विभिन्न व्यष्ट अनुभूतियों के बीच की सीमा-रेखा का सर्वत्र ही उस रेखा के साथ संपात होना आवश्यक नहीं, जो हम अपने मतलब से विभिन्न वस्तुओं के बीच खींच देते हैं।

४—**पदार्थ और गुण की समस्या**—तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के इतिहास में, वस्तुओं के एकत्व की समस्या का दूसरा रूप अधिक महत्त्व का रहा है। जिसे हम एक वस्तु कहते हैं, वह अपने एकत्व के बावजूद भी, अनेक गुणवती कही जाती है। वह, उदाहरणतः एक साथ ही, गोल, सफेद, चमकीली और सख्त होती है या एक साथ ही हरी, मृदु और खादरी भी हो सकती है। इस वस्तु के 'इस' से जिसमें यह सब गुण एक समान ओत-प्रोत हैं, हम क्या मतलब लगाते हैं और वे गुण उसे कैसे प्राप्त हैं? पारम्परिक शब्दावली में इसे कहें तो वे कौन पदार्थ हैं जिसमें ये सब गुण पाये जाते हैं अथवा जिसमें वे अन्तर्हित हैं और उन करणों की उस पदार्थ में निरूढ़ता का तरीका क्या है? इस समस्या की कठिनाई का पूरी तरह पता उन तरीकों से आसानी से लग जाता है जिनके जरिये सामान्य विचारक आमतौर पर उसे हल करने की कोशिश किया करता है।

(१) सबसे अधिक सामान्य और स्पष्टतम हल तो यह है कि ऐसे 'पदार्थ'

को जिसमें विशिष्ट गुण हो (पण्डिताई भाषा में जिन्हें आहार्यगुण कहते हैं) उस पदार्थ के गुणों में से किसी ऐसे गुण-धर्म-समूह से तादात्म्य मान लिया जाय जिसे हम विशेषत: महत्त्वपूर्ण अथवा स्थायी समझते हो। तब वह 'मौलिक' गुण-धर्म-समूह ही वह पदार्थ समझा जाता है और लघुतर महत्त्व के अथवा कम स्थायी गुण उसके 'गौण गुण" गिने जाते हैं। ऊपर से ही दिखाई पड़ जाने वाले कारणों से ही हम मौलिक गुणों को आधुनिक दर्शनशास्त्र में आमतौर पर पिण्ड के उन गणित शास्त्रीय गुण-धर्मों का तादात्म्य, जैसाकि गैलिलियों, डेस्कार्टीज, लॉक जैसे दार्शनिकों ने माना है जो यान्त्रिक भौतिक विज्ञान के लिये आधारभूत महत्त्व के हैं।[1] उपर्युक्त रूप में परिभाषित पदार्थ, प्राय: न कि सदा ही, जिस प्रकार गौण गुण धर्मों से संयुक्त हुआ करता है यह बात और भी स्पष्ट यों कहकर की जाती है कि ये गुण धर्म हमारी संवेदन शक्ति में हमारी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों पर प्राथमिक गुणों के कारण हुई क्रिया द्वारा उत्पन्न परिवर्तन है । इन दोनों विशिष्ट दृष्टियों में से कोई भी वस्तुओं के पदार्थ का उनके आधारभूत गुणों के साथ तादात्म्यीकरण करने में शामिल नहीं होती। इस सिद्धान्त का सारभूत नियम तो केवल इतना ही है कि गुणों के किन्हीं समूहों को प्राथमिक महत्त्व का मान लिया जाय और ऐसे किसी पदार्थ को उनका तादात्म्य मान लिया जाय जो उस समुदाय के गुणों में से अनेक गुणों से युक्त हो।

जब तक कि उपर्युक्त प्रकार का सिद्धान्त भौतिक विज्ञानों का वह काम, जिसके लिये उसकी जरूरत है, ठीक तरह से चलाया जाता है तब तक एक कार्यकर प्राक्कल्पना के रूप में भौतिक विज्ञानों के लिये उसके प्रयोग के बारे में किसी तरह का एतराज उठाना हमारे लिये असमीचीन होगा। निकाय रूप में भौतिक विज्ञानों का उद्देश्य केवल इतना ही है कि उनके द्वारा हम प्राकृतिक घटनाक्रम का वर्णन और गणन यथार्थता की पराकाष्ठा और शुद्धता की उच्चतम मात्रा तक न्यून से न्यून जटिल सूत्र समूह की सहायता द्वारा कर सकें। यदि संवेद्य वस्तुओं के किसी गुण धर्म समूह को

---

१. सही कहा जाय तो द्रव्य के अन्तिमेत्थ कणों की 'घनता' और 'अभेद्यता' जैसा कि लॉक और न्यूटन के मतानुसार उसका मौलिक अथवा 'प्राथमिक' गुण है वास्तव में उसका 'गणितीय गुणधर्म' नहीं है। लेकिन फिर भी उसे गणितीय गुणधर्मों की सूची में, इन दार्शनिकों के इस विश्वास के कारण ही शामिल किया गया है कि विस्तार और गुणधर्मों के समान ही गणितीय भौतिकी के लिये उसका आधारित महत्त्व है । 'गौण' गुणधर्मों की व्यक्तिनिष्ठ रूप से व्याख्या करने का तरीका डेमोक्रिटस के जमाने से ही चला आ रहा है।

मौलिक अथवा प्राथमिक महत्त्व का मान लेने और अन्य सभी शेष गुण धर्मों को उन प्राथमिक गुण धर्मों का व्युत्पाद मान लेने से यह उद्देश्य अत्यधिक सफलतापूर्वक सिद्ध हो सके तो अकेले इस तथ्य के कारण ही उपर्युक्त विभेद विधि का औचित्य पर्याप्त सिद्ध हो सकेगा। गुण धर्मों का वह कोई भी समूह जो वर्णन तथा गणन के उपर्युक्त प्रयोजनों के लिये अपने आपको प्रस्तुत करता है, भौतिक विज्ञानों के विशेष उद्देश्यों के लिये प्राथमिक महत्त्व की वस्तु हुआ करता है। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि भौतिक प्रयोजनों के हेतु उसके महत्त्व के कारण उसे, पदार्थ के अभिप्राय विषयक तत्त्वमीमांसीय समस्या के हल के रूप में, उसे उतना ही मूल्यवान समझने की कोई वजह नहीं दिखाई देती। उदाहरण के तौर पर, किसी पिंड के गणितीय गुण धर्म भौतिकी के लिये सर्वोच्च महत्त्व के क्यों हैं इसका एक मात्र कारण यह है कि उन गुण धर्मों को लेकर पिण्डों को जातित्व के विषय में परस्पर भिन्न नहीं माना जा सकता बल्कि केवल संख्या के मामले में ही वे भिन्न माने जा सकते हैं। यही है जिससे वस्तुओं के व्यवहार का हिसाब लगाने के आधार रूप में वे हमारे लिये बेअन्दाज काम की चीज़ साबित होते हैं। लेकिन यह भी हो सकता है कि वस्तुओं का असली स्वरूप केवल उन्हीं बातों में पूरी तरह प्रकट हो जिनके कारण वे जातिगत रूप से भिन्न हों। तत्त्वमीमांसक के स्थिति विन्दु से, अमानवीय प्रकृति विषयक कोई ऐसा दृष्टिकोण, भले ही वह कितने ही काम का क्यों न हो, जो केवल उन्हीं पहलुओं पर आधारित हो जिनके कारण वस्तुएँ सबसे ज्यादा एक समान प्रतीत होती हों, उतना ही अधिक ऊपरी या बाह्य होगा जितना कि सांख्यिकीपरक समाजशास्त्री के मतानुसार मानवीय प्रकृति विषयक स्थिति बिन्दु। किसी ठोस अथवा दृश्य वस्तु की सही सत्ता उसके गणितीय गुण धर्मों द्वारा उतने ही अपर्याप्त रूप में व्यक्त हो सकती है जितना कि किसी व्यष्ट मनुष्य का चरित्र मानवमितीय परिणामों द्वारा।

वास्तव में तो, हमें यह साफ दिखाई पड़ता है कि 'प्राथमिक' और 'गौण' गुणों के बीच के इस प्रभेद को यदि हम पदार्थ विषयक समस्या के हल के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो उससे हमें कोई विशेष लाभ नहीं होता। हम जहाँ थे वहाँ ही वह हमें छोड़ देता है। क्योंकि हम एक वस्तु के 'पदार्थ' में प्राथमिक गुणों का अध्याहार ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार कि 'द्वितीयक' या 'गौण' गुणों का। हम कहते हैं कि वस्तु अमुक रूपाकृतिक है, अमुक अमुक घनत्व की है, ठोस है इत्यादि, ठीक उसी तरह, जिस तरह कि हम कहते हैं कि वह खुरदरी है, भारी है या हरी है। अथवा हम जिस तरह कहते हैं कि उसमें आकृति है, घनत्व है, ठोसपन है उसी तरह यह भी कहते हैं कि उसमें वजन या भार है, स्वाद है, रंग है इत्यादि। इसलिये स्वयं प्राथमिक गुणों के बारे में भी वही पुरानी समस्या उठ खड़ी होती है। भले ही उनकी सूची चाहे जैसे क्यों न बनाई जाय

हमें फिर भी पूछना पड़ता है कि जिसमें आकृति है, घनत्व है, ठोसपन इत्यादि है वह क्या है ?

(२) इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त गौण गुणों के जिस स्वामित्व का अध्ययन प्राथमिक गुण समूह में करता है, उसके स्वरूप को समझाने में वह असमर्थ है। प्रश्न उठता है कि प्राथमिक गुण किस प्रकार गौण गुणों के स्वामी होते हैं अर्थात् उन्हें ये गौण गुण कैसे प्राप्त होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने की मनोयोग पूर्ण चेष्टा केवल कुछ उन दार्शनिकों (डेस्कार्टीज़, गैलिलियों, लॉक आदि ने) की है जो गौण गुणों को, प्राथमिक गुणों के हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर हुए 'व्यक्तिनिष्ठ' प्रभाव ही मानते हैं। किन्तु समस्या का यह सुपरिचित हल तर्कशून्य-सा मालूम देता है। क्योंकि गौण गुणों की व्यक्तिनिष्ठता के पक्ष में पेश की जाने वाली युक्ति में यही कहा जाता है कि वे गुण विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों के बिना देखे नहीं जा सकते। कहा जाता है कि वर्ण या रंग का अस्तित्व आँख के ही लिये, शब्द का कान के लिये और स्वाद का जिह्वा के लिये आदि। और किसी ज्ञानेन्द्रिय की बनावट या संरचना भेद अथवा उसकी किसी अस्थायिनी दशा के कारण भी गौण गुणों का ज्ञान भिन्न-भिन्न रूप में होता है उदाहरण के लिये प्रचलित कहावत को ही ले लें जिसमें कहा गया है कि पीलिया से पीड़ित आँख को सब संसार पीला ही पीला दीखता है या एक ही पानी किसी के हाथ को ठंडा और किसी को उष्ण प्रतीत होता है।

लेकिन ये प्रतिफल जिस प्रकार वस्तुओं के 'द्वितीयक' अथवा 'गौण' गुणों पर लागू होते हैं उनके तथानुमित 'प्रारम्भिक' अथवा 'प्राथमिक' गुणों पर भी वे उसी प्रकार लागू होते हैं। उदाहरण के लिये ज्यामितिक आकृतियाँ दृष्टि अथवा स्पर्श के बिना दृष्टिगोचर नहीं होती इसी तरह गति और परिणामतः समाकृति परिवर्तन तथा संहति जो त्वरण का अनुपात है, के प्रेक्षण के लिए भी या तो दृष्टि की या स्पर्श की आवश्यकता होती है। निश्चय ही हम गतियों अथवा संहतियों का ध्यान उन्हें घट रूप में देखे बिना भी ठीक इसी तरह कर सकते हैं जिस प्रकार किसी अपने सामने नामौजूद या अनुपस्थित सुगंध अथवा रंग का ध्यान कर लिया करते हैं और इन दोनों ही मामलों में गतियों, संहतियों अथवा गन्धों या रंगों के बारे में तर्कना करते समय हम उन्हें परिग्राहक अथवा प्रेक्षक की उपस्थिति से एकदम विलग करके भी रख सकते हैं, लेकिन इसका कोई प्रभाव इस तथ्य पर नहीं पड़ता कि पिंड के गणितीय गुण प्रेक्षण हेतु उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से युक्त किसी प्रेक्षक की उपस्थिति पर निर्भर होते हैं जैसे अन्य कोई वस्तु। वे आकृतियाँ, विस्तार तथा गतियाँ भी जिनका ज्ञान कोई भी व्यक्ति स्पर्श, अथवा किसी भी अन्य ऐन्द्रिक क्रिया द्वारा प्राप्त नहीं करता, उसी सूची में आती है जिसमें कि वह रंग जिसे कोई नहीं देख

पाता, अथवा वह ध्वनि जिसे कोई नहीं सुन पाता। परिग्राहक अंग की अपरिहार्यता की युक्ति तर्कसंगत्यानुसार अगर एक मामले में ठीक है तो उसे दूसरे मामले में भी ठीक उतरना चाहिए।[१]

इसके अतिरिक्त अनुभूति हमें कभी भी स्वयं प्रारम्भिक गुण नहीं दिया करती। वास्तविक अनुभूति से हमें जो कुछ प्राप्त होता है वह सदा ही प्रारम्भिक और द्वितीयक गुणों का एक मूर्त प्रत्यक्षगत योग मात्र होता है। इस प्रकार हमें 'द्वितीयक' या गौण प्रकार की किसी स्पर्शजन्य या दर्शजन्य भरती के बिना विस्तार का ज्ञान प्राप्त ही नहीं होता। विस्तृत के साथ रंग, बनावट अथवा प्रतिरोध आदि कोई न कोई गुण लगा हुआ मिलता ही है। ऐसा विस्तार जो रंग, स्पर्शगुण और पिंड के तथाकथित संवेद्य, अगणितीय अथवा द्वितीयक गौण गुणों में से प्रत्येक गुण से रहित हो, एक ऐसी अवास्तविक विविक्त मात्र है जिसकी प्राप्ति एक ऐसे पक्ष का परिहार करके ही होती है, जो वास्तविक अनुभूति में उससे अवियोज्य प्रतीत होता है, और इसीलिए अनुमान्यत: अवैध भी। इस माने में अवैध, कि जब उसे पिण्ड की आधारीय वास्तविकता के विवरण के रूप में पेश किया जाता है तो वह भौतिक विज्ञानों के हिसाब से उपयोगी होते हुए भी सहज तर्कना के लिये अवैध ही रहता है। अत: इन तथाकथित प्रारंभिक या मौलिक गुणों को ऐसे ऐकिक पदार्थ के रूप में ग्रहण करना जो द्वितीयक गुणों का भी 'स्वामी हो' और इन द्वितीयक गुणों को 'व्यक्तिनिष्ठ' बताकर टाल देने की कोशिश से हम किसी भी सन्तोषजनक परिणाम पर नहीं पहुँच पाते। प्रारंभिक गुणों का अधिक अन्तिमेत्थ अथवा चरम पदार्थ के गुण मात्र होना ही आवश्यक है।

५—अत: ऐसा लगातार होता चला आया है कि वे ही लेखक जो पदार्थ को वस्तुओं के प्रारम्भिक गुणों का तादात्म्य मानते हैं, अपने मत को एक ऐसे मत में एकान्तरित कर लेते हैं जिसके अनुसार पदार्थ एक ऐसी अविज्ञेय इकाई होता है जिसके विषय में हम इससे ज्यादा कुछ नहीं कह सकते हैं कि वह और चाहे कुछ क्यों

---

१. लॉक के मत का प्रोफेसर सिजविक द्वारा कृत समर्थन। ('फिलोसफ़ी इट्स स्कोप एण्ड रिलेशन', पृष्ठ ६३ एफ़एफ)। मुझे तो इस विवादग्रस्त विषय को किसी भी ऐसे संवेद या ज्ञान में 'जिसमें 'गौण' या 'द्वितीयक' गुणों को उनका अर्थ संवेदना की अन्तर्वस्तु द्वारा प्राप्त होता है, 'प्राथमिक' या प्रारंभिक गुणों की अर्थापत्ति भी इसी प्रकार होती है। असल बात तो यह है कि संवेदना न केवल (प्रक्रिया रूप में) काठिन्य अथवा मार्दव आदि के संज्ञान का अवसर प्रदान करती है अपितु (अन्त:सार रूप में) वह 'कठिन' और 'मृदु' का अर्थ तक भी हमें प्रदान करती है। तुलना कीजिए आगे लिखित, 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', अध्याय १।

न हो, लेकिन वस्तुओं के व्यवहार विषयक सभी तर्क वाक्यों में जिसे पूर्वग्रहीत माना जाता है, उसके विभिन्न गुणों का वह अज्ञात 'अध:स्तर' अवश्य है । इस मत के अनुसार, वस्तुओं के बहुतेरे गुण, किसी अव्याख्येय विधि द्वारा या तो स्वयं उसी के अज्ञात अध:स्तर या पदार्थ के स्वरूप से ही प्रवाहित होते हैं या फिर उस सम्बन्धों से जो इस अध:स्तर के अन्य वस्तुओं के अध:स्तरों के साथ होते हैं ।[1] तब हमारा ज्ञान, वास्तविक वस्तुओं के अज्ञात अन्तिमेत्थ स्वरूप के परिणामों तक ही प्रतिबद्ध माना जाता है। तब कहा जाता है कि हम भौतिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के अस्तित्ववान् पदार्थ से अनभिज्ञ हैं और उसके विशेषणों अथवा उसकी अभिव्यक्तियों मात्र को ही जानते हैं। यही बात दूसरी तरह यों कही जाती है कि हम यह जानते ही नहीं कि वस्तुएँ दरअसल हैं क्या हम तो सिर्फ यही जानते हैं कि उनका एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है और साथ ही यह कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों को वे कैसे प्रभावित करती हैं। उदाहरण के तौर पर यही बात लॉक के निबन्ध के उन अंशों में प्रस्तुत की गयी है जिनमें वस्तुओं के सत्यसार पदार्थ को अन्तिमत: जान सकने की हमारी असमर्थता पर जोर दिया गया है।

लेकिन इस तरह का सर्वसामान्य फतवा या निरूपण स्पष्टत: ही गंभीरतम आक्षेपों को निमन्त्रण देता है।(१) अगर हम वास्तव में किसी वस्तु के गुणों के अध:स्तर के स्वरूप की अविज्ञेयता का दृढ़तापूर्वक निरूपण करने पर तुले हों तो यह जानना बड़ा कठिन होगा कि उसके अस्तित्व के निरूपण से हमारे वस्तु विषयक ज्ञान में वृद्धि कैसे हो सकती है। इस कथन का कि हम इस अध:स्तर के स्वरूप से एकदम अनभिज्ञ हैं, केवल यही मतलब हो सकता है कि हम यह रत्ती भर भी नहीं जानते हैं कि अनेक गुण क्योंकर एक ही वस्तु के गुण हो सकते हैं। अगर बात ऐसी ही है तो एकल वस्तु को अनेक गुण विशिष्ट अथवा युक्त बताने में हमें क्या लाभ है यह पता नहीं लगता। हमें समझ न लेना चाहिए कि हमारे लिये यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम एकल अध:स्तर विषयक इस प्रकार के संस्वीकृतत: अबोध्य विचार का परित्याग कर दें जिसके अनुसार गुण स्वयं ही "अंतर्हित" माने जाते हैं, और कहने लगें कि हमारे समझने के लिये अनेक गुण मात्र ही स्वयं वस्तु है। पदार्थ रूप में वस्तु के उस एकत्व के जो उन

१. तब चर्च प्रधानतावाद पूर्वतर विकल्प होगा । आधुनिक विज्ञान पश्चोक्त विकल्प को न्यूनाधिक रूप में उन विचारकों ने स्वीकार कर लिया है जो पदार्थिक विचार के पृष्ठपोषक हैं। उनके दृष्टिकोण से विभिन्न गुण उन संबन्धों के परिणाम हैं जो प्रत्येक पदार्थ का (अ) किसी अन्य अन्त:कार्यकर पदार्थों के साथ और (ब) विशेषत: हमारी चेतना के अज्ञात अध:स्तर के साथ हुआ करते हैं ।

सभी निर्णयों में मौजूद रहता है जिनमें उसके विशेषण पूर्वविहित रहते हैं, मौन अभ्युपगम के साथ उपर्युक्त मत का मेल कैसे बैठाया जाय, इस पर हम अधिक अच्छी तरह विचार अगले अनुच्छेद में करेंगे।

(२) एक और भी अधिक गहन कठिनाई शेष रह जाती है। वह यह कि न केवल "गुणों का अविज्ञेय अधःस्तर' ही तत्वमीमांसीय सिद्धान्त के लिए एक अवांछित विलास वस्तु है अपितु इस अधःस्तर तथा उससे प्रवाहित होने वाले विशेषणों के बीच उपकल्पित संबन्ध का स्वरूप भी बोधगम्य नहीं है। न तो हम यह ही समझ पाते हैं कि गुणों से एकदम रहित वस्तु जगत के पदार्थ या अधःस्तर, सम्भवतः क्या और कैसा होगा न यह ही कि वस्तु जगत के हमारी अनुभूति के लिए प्रस्तुत विभिन्न गुण इन अधःस्तरों में से एकाधिक से द्वितीयक परिणामों के रूप में किस प्रकार प्रवाहित हो सकते हैं। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि किसी प्रकार के निर्धारित स्वरूप रहित अपनी इस संभूति के बिना वस्तु पहले 'हो' ही कैसे सकती है और बाद को अपने अन्योन्य अन्तः सम्बन्ध के आधार पर उनके गुणों अथवा संभूति को लाक्षणिक विधाओं को वह कैसे जन्म दे सकती है। कोई वस्तु बिना किसी निर्धारित विधा में हुए बिना हो ही नहीं सकती और किसी निर्धारित विधा की दशा में होने को ही हम उस वस्तु का गुण नामधेय कहते हैं। कोई वस्तु अपने पर्यावरण से किसी विशेष विधानुसार व्यवहार किये बिना हो नहीं सकती और व्यवहार की ये विशेष विधायें ही उस वस्तु के गुण हैं। अतः हम वस्तु की संभूति को अथवा उसके 'तत्' को उसकी संभूति की निर्धारित विधा से अथवा उसके 'किं' या 'यत्' से विलग नहीं कर सकते न निर्धारित विधा को ऐसी वस्तु मान सकते हैं जो प्रथमोक्त के बीच आ घुसती हो अथवा प्रथमोक्त से निस्तृत होती हो तथा न प्रथमोक्त को ही ऐसी वस्तु मान सकते हैं जो पश्चोक्त के बिना और उससे विलग मौजूद रह सकती हो। ऐसा कभी नहीं होता कि वस्तुएँ पहले हों और बाद को किसी रहस्यमय तरीके से वे गुणों से मंडित हो जायँ। उनके गुण तो उनके अस्तित्व की उनकी अपनी विशिष्ट विधायें मात्र हैं। जैसा कि लोत्जे ने ठीक ही लिखा है, कि ऐसे वे सब प्रयत्न जिनके द्वारा उस विधि का जिसके जरिये वस्तुओं का 'यत्' या 'किं' मात्र 'तन्मात्र' से उद्भूत होता हो, सत्ता का निर्माण कैसे होता है इस प्रश्न का उत्तर देने का ही प्रयत्न है।[१] यह विचार वास्तव में अर्थहीन तथा अनावश्यक है कि वस्तुओं का तत् अथवा सार पदार्थ, उनके यत् अथवा गुण से भी पहले होता है तथा वह ऐसी सत्ता से ही निर्मित होता है जो सत्ता अस्तित्व की न तो यह न वह, निर्धारित विधा होती है।

---

१. देखिए—उसकी 'मेटाफिजिक' के खंड १ के अध्याय १ व २

६——एतद्नुसार निश्चयात्मक विज्ञान के अनेक अध्येता, वस्तुओं के दशा बाहुल्य अथवा गुण बाहुल्य के पीछे छुपे हुये पदार्थसारीय एकत्व की समग्र विचारधारा से पक्ष में नहीं है। यत: गुण वह सब ही है जो वस्तु में हमें रुचि पैदा कराते हैं और अनिर्धारित व्याघाती अध:स्तर के प्रतीक भी, अत: कहा जाता है कि हमें बिना किसी आडम्बर के ही मान लेना चाहिए कि वस्तु, अपने ही दशा, कर्मों और गुणों का प्रतिरूप है। इस दृष्टिकोण से देखने पर वस्तु ऐसी अज्ञात कुछ जिसके रहस्यमय तरीके से कुछ गुण धर्म भी हुआ करते हैं, तब नहीं रहती। वह तब स्वयं गुण धर्मों का समूह रूप ही बन जाती है। तब वह अप्रेक्षित अथवा अपरिग्रहित एतत् जिसमें उष्णता, रक्तिमा, आदि है, नहीं रह जाती अपितु स्वयं उष्णिमा, रक्तिमा तथा अन्य जो कुछ भी इन्द्रियगम्य है उस सब का समूह रूप हो जाती है। प्रपंचपरक तत्त्वमीमांसा तथा साहचर्यवादी मनोविज्ञान दोनों ही के अनुसार वस्तु 'विशेषणों अथवा उपाधियों का गट्ठर मात्र' ही है अन्य कुछ नहीं।

जब हम पूछते हैं कि यदि 'वस्तु' स्वयं अपनी उपाधियों की श्रेणी अथवा योग मात्र ही है और उसमें ऐसा कोई अन्तर्हित एकत्व नहीं है जिसके साथ ये उपाधियाँ संलग्न हों तो वस्तुविषयक हमारी सामान्य बोलचाल किस प्रकार विपरीतार्थ ग्रहण के अनुसार गढ़ी जा सकती है, और कैसे हम सदा ऐसे कहें और सोच सकते हैं कि गुणों के इस प्रत्येक 'गट्ठर' या 'समूह' का मालिक ऐसा कुछ है, जिसके बारे में हम कह सकें कि यह गुण उसी का है, तब प्रपंचवादी हमें मनोविज्ञान का हवाला देकर हमारे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है। इस तथ्य के आधार पर जिसे प्रपंचवाद और साहचर्यवाद भी अन्तिमेत्थ मानने में सन्तुष्ट है——कि इन्द्रियगम्य गुण हमारे प्रत्यक्षण या प्रेक्षण हेतु निश्चित समूहों में ही प्रस्तुत हुआ करते हैं, यह कहा जाता है कि इस समूह के किसी एक अंगी का ध्यान ही, अपने साहचर्य या सम्पर्क द्वारा उन अन्य गुणों के विचार को पुनर्जीवित करने के लिये पर्याप्त होता है, जो या तो उस अंगी के साथ ही साथ अथवा उसके अव्यहृत पौर्वापर्य में, हमारे सामने आते रहे हैं। इसीलिए, चूँकि, अपने प्रत्यक्षण में इस प्रकार सहचरी होने के कारण उस गुण समूह के स्वभावत: किन्तु अवैधत: हम, उस मानसिक कल्पितार्थ द्वारा जिसका ह्यूम ने इतना विशद् विवरण दिया है, एक ही समझा करते हैं यद्यपि वास्तव में वह समूह एक विविक्त बाहुल्य ही है। अत: वस्तु का एकत्व स्वयं अपने में ही निहित नहीं होता बल्कि हमारे द्वारा उसके प्रत्यक्षण अथवा विचारण मात्र में ही वह निहित होता है।

प्रत्यक्षण को, किसी दत्त सामग्री का निष्क्रिय संग्रहण मात्र मानने की पुराने साहचर्यवाद की भूल को बचा कर चलनेवाले इसी अभिमत का एक आधुनिकतर संस्करण यह है कि अनेकों विधेयों के एक उद्देश्य का एकत्व अन्ततोगत्वा हमारे अपने

अवधानात्मक कार्यों से ही अभिस्रुत हुआ करता है, गुण 'एक' वस्तु के गुण इसलिए प्रतीत होते हैं कि हम अवधान के एक लक्षण में ही उन सब पर एक साथ एक रूप में ही ध्यान देते हैं। इस तर्क के अनुसार पदार्थ का वह एकत्व, जिसकी प्राप्ति सामान्य बुद्धि अपने लक्ष्यों से होना मानती है, वास्तव में उन लक्ष्यों में स्वयं परिग्रहीता मानस द्वारा ही अध्याहृत होता है। उसे जो कुछ 'दिया जाता है', वह गुणों का असम्बद्ध बाहुल्य ही होता है। उन गुणों के विभिन्न समूहों पर एक रूप में ध्यान देकर वह मानस उन समूहों को एकल वास्तविकता के विशेषणों में परिवर्तित कर देता है। काण्ट के सिद्धान्त का भी सार यही है। उस सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ की 'संकल्पना' 'सप्रत्यक्ष अथवा अभिबोध के संश्लेषणात्मक एकत्व' का केवल एक रूप ही है अर्थात् वह प्रक्रिया जिसके द्वारा हम अपने अवधानात्मक कार्यों के एकत्व का प्रक्षेप उनके लक्ष्यों में किया करते हैं और इस प्रकार उन संवेदनों से, जो हमें दिये जाने के समय दुर्व्यवस्थित हुआ करते हैं, अपने विचारों के लिये एक व्यवस्थित संसार की सृष्टि कर लिया करते हैं। सिद्धान्ततः काण्ट का अभिमत, जिसके उद्भव का उद्देश्य ह्यूम के साहचर्यवाद का निकारण करना था, ह्यूम के अभिमत से उस जोर के कारण ही भिन्न माना जाता है जो वह प्रत्यक्षण में वर्तमान व्यक्तिनिष्ठ अभिरुचि विषयक तत्व पर सही, ही देता है। काण्ट और ह्यूम दोनों ही के सिद्धान्त इस मुख्य विषय पर सहमत हैं कि ऐंद्रिक प्रत्यक्षण के विभिन्न गुणों को एकसूत्र में पिरोकर एक वस्तु बना देने वाला बन्धन एक व्यक्तिनिष्ठ बन्धन होता है। ह्यूम के अभिव्यक्तिपूर्ण शब्दों में 'मानसी कल्पना'[1]।

वर्तमान अनुसन्धान के सिलसिले में इस अभिमत के मनोवैज्ञानिक पहलुओं से हमारा कोई भी सीधा सरोकार नहीं है। हमारी समस्या यह नहीं है कि ठीक ठीक किस पदक्रमानुसार मन अपने लक्ष्यों में उस एकत्व की, जो वास्तव में, उनमें नहीं हुआ करता, 'व्याज कल्पना' कर लिया करता है, बल्कि हमारी समस्या तो यह है कि क्या वास्तव में, असम्बद्ध अनेक गुणों में मन द्वारा व्याज कल्पित इस एकत्व की संकल्पना, अन्ततोगत्वा स्वयं बोधगम्य है भी या नहीं। इस प्रकार तत्वमीमांसीय-वाद पद के क्षेत्र को संकरित करके निम्नलिखित प्रश्न में ही सीमित किया जा सकता

---

१. जो पाठक काण्ट के अभिमत का ब्योरेवार अध्ययन करना चाहते हों वे काण्ट की अपनी पुस्तक 'प्रोलेगोमिना टु दि स्टडी आफ् एनी फ्यूचर मेटाफ़िज़िक्' से अपना अध्ययन प्रारम्भ कर सकते हैं। वे लोग भी जो 'क्रिटीक ऑफ् प्योर रीजन' को अत्यधिक बिखरा और तकनीकी पाते हैं उस पुस्तक के अध्ययन से लाभान्वित हो सकते हैं। उपर्युक्त पुस्तक का आधुनिकतम और सस्ते से सस्ता अनुवाद, ओपन कोर्ट पब्लिशिंग कम्पनी द्वारा प्रकाशित दर्शन शास्त्रीय पुस्तक माला में शामिल है।

है, क्या हम बोधगम्य रूप से यह कह सकते हैं कि वस्तु वास्तव में उन गुणों की एक संख्या मात्र है जो स्वभावतः सहज रूप से सम्बद्ध नहीं होते और जिन्हें हम स्वेच्छया, जबर्दस्ती अपने मतलब के लिये एक समझा करते हैं ?[1] दूसरे शब्दों में क्या हम कह सकते हैं कि वस्तु अपने गुणों की तादात्म्य हुआ करती है यदि उन गुणों को एक योग अथवा पुञ्ज रूप में लिया जाय और उनमें इससे अधिक ऐसे एकत्व का जिसे पुराना तत्वदर्शन पदार्थ नाम से अभिहित करता है, अध्याहार, तथ्यों के साथ लगाया हुआ हमारा अपना मानसिक पुछल्ला मात्र है ?

अब दो विचार्य बातें ऐसी हमारे सामने रह जाती हैं—दोनों ही सिद्धान्ततः मिलाकर एक की जा सकती हैं जो वस्तु को अपने गुणों का—यदि उन गुणों को विविक्त रूप में देखा जाय तो तादात्म्य मानने में बाधक है। (१) इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता कि ऐसा कहना अधिकांशतः सही है कि गुणों का एकदत्त समूह हमें किसी एक वस्तु का गुण रूप इसलिए भासता है कि हम उन गुणों पर एक रूप में ही ध्यान देते हैं, और फिर अवधान का निश्चयन निःसन्देह हमारे अपने व्यक्ति-निष्ठ हितों द्वारा ही होता है। इसी बात को और अच्छी तरह कहा जाय तो कह सकते हैं कि वह अवधान हमारे अपने व्यक्तिनिष्ठ हितों की ही अभिव्यक्ति होता है। लेकिन इन बातों से यह जरा-सा भी सिद्ध नहीं होता कि अवधान एकदम कोई स्वेच्छ या बिल्कुल मनमानी चीज है। अगर हम किसी गुण समूह को केवल इसलिए एक वस्तु मानते हैं क्योंकि हम उनके प्रति एक रूप में ही अवहित होते हैं, तो उसके साथ-साथ यह भी सही है कि उनके प्रति हम एकरूप में इसलिए अनहित होते हैं क्योंकि वे एक रूप में ही हमारे व्यक्तिनिष्ठ हितों अथवा प्रयोजनों के प्रति क्रियाशील और प्रभावी होते हैं। इस प्रकार के गुण समूह को एक घोषित करने में हम किस विशिष्ट हित पर विचार करते हैं और किस हित में हम उसके प्रति अवहित होते हैं, यह बातें अधिकांशतः उस समूह के गुणों से स्वतन्त्र भी हो सकती है। लेकिन यह तथ्य भी, इस हित के सम्बन्ध में उपर्युक्त गुण समूह एक रूप से ही क्रियावान् है न तो कोई 'काल्पनिक' बात ही है न हमारे अपने विचार की सृष्टि ही। वह स्वयं समूह के स्वरूप की ही अभिव्यक्ति है और हमारे मन की उसे अपेक्षा नहीं होती उसके बिना ही वह उसी माने में स्वतन्त्र होता है कि जिस माने में किसी समूह के किसी एकल अंग का अस्तित्व और स्वभाव उस समूह से स्वतन्त्र होता है 'दत्त' में एकल गुण का अध्याहार करना तथा 'एकल

---

१. **'मनमाने तौर' पर अथवा 'स्वेच्छ रूप' में इसलिए कि आधुनिक समग्र मनोविज्ञान के प्रबल समर्थनानुसार हमारे अवधान का ही निशोदन ही यह निर्धारित करता है कि कौन से गुण एक साथ प्रयुक्त किये जायँ और इस तरह पर वे गुण 'सहचारी' बन जाते हैं।**

समूह में संचीभूत गुणों का 'मानस कार्य' बतलाना कोई माने नहीं रखता। एक तरह से तो दोनों ही 'मानस कार्य' हैं और दूसरी तरह देखा जाय तो वे दोनों 'दत्त' के स्वरूप की अभिव्यक्ति भी हैं।[१]

(२) किसी वस्तु के गुण समूह मात्र को उस वस्तु का ही तादात्म्य मान बैठने की अपर्याप्ता तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब इस बात पर विचार किया जाता है कि उस गुण समूह में क्या-क्या होना जरूरी है। जाहिरा तौर पर यह गुण समूह अपनी पूर्ण सकलता में अनुभूति के किसी भी क्षण पर समुपस्थित नहीं पाया जाता क्योंकि जिन्हें हम वस्तु के गुण कहते हैं उनमें से अधिकांश केवल वे तरीके होते हैं जिनके अनुसार वह 'वस्तु' बहुत सी अन्य वस्तुओं की उपस्थित में व्यवहार करती है यानी विभिन्न उद्दीपकों पर होने वाली प्रतिक्रिया के तरीके। किसी 'वस्तु' के अस्तित्व के किसी भी क्षण में वास्तव में उस वस्तु के सम्भाव्य उद्दीपनों में से कुछ पर ही उस गुण समूह की प्रतिक्रिया हुआ करती है और इस प्रकार उसके कुछ गुण ही प्रकाश में आ पाते हैं। उसके गुणों का विशाल अधिकांश तो उन तरीकों के, जिन्हें लॉक 'शक्तियाँ' कहकर पुकारता है, रूप में अन्तर्हित रहता है जिनके अनुसार वह वस्तु किसी भी क्षण पर व्यवहार करती अगर वे परिस्थितियाँ जो उस क्षण अनुपस्थित हैं—पूरी हो जातीं। इस प्रकार वस्तु जिसमें हम कई विधेयों का अध्याहार उसके गुणों के रूप में किया करते हैं कभी भी स्वयं उन विधेयों का समूह मात्र वास्तव में नहीं होती। घास हरी होती है लेकिन अँधेरे में उसकी हरीतिमा तथ्य रूप में नहीं होती। सूरज मोम को पिघला सकता है, और उसकी यह सामर्थ्य उसका स्थिर गुण कही जाती है लेकिन सूरज मोम को वास्तव में तब तक नहीं पिघला पाता जब तक मोम वास्तव में उसके सामने मौजूद न हो तथा और भी अन्य परिस्थितियाँ उस जगह मौजूद न हों। कोई आदमी स्वभावतः गर्म मिजाज का हो सकता है लेकिन अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में वह वस्तुतः उत्तेजना से उबलता नहीं रहा करता। हाँ उत्तेजना दिलाये जाने पर तुरन्त उबल पड़ने के लिये तैयार वह जरूर हो सकता है। इसी तरह किसी वस्तु के

---

१. मनोविज्ञान शास्त्र में यह बात, आधुनिक लेखकों द्वारा परिग्रहण अथवा प्रत्यक्षण की प्रक्रिया के, समग्र साहचर्यवादी विवरण को रद्द कर दिये जाने के कारण और भी स्पष्ट हो गयी है। इस विवरण के अनुसार किसी वस्तु के प्रत्यक्षण का समग्र रूप में प्रत्यक्षण का अर्थ होता है संवेदना के अन्तर्गत वस्तु के किसी एक गुण की वास्तविक समुपस्थिति और उसके साथ अन्य गुणों के विचारों की साहचर्य द्वारा पुनः स्थापना। वस्तु के निर्णायक अंगों के प्रत्यक्षण मात्र से भिन्न, समग्र के प्रत्यक्षण विषयक आधुनिक सिद्धान्त के लिये, स्टाउट लिखित 'एनैलिटिक साइकालाजी', खंड १, अध्याय ३ अथवा 'मैनुअल ऑफ साइकालाजी', खंड १, अध्याय ३ देखिए।

अधिकांश गुण भी संभाव्यता मात्र ही होते हैं। किन्हीं निर्धारित विशिष्ट परिस्थितियों में जिनकी पूर्ति या प्राप्ति वास्तविक अस्तित्व की अवस्था में हो सकती हो या न हो सकती हो अमुक प्रकार से व्यवहार करने या न करने का स्वभाव किसी भी वस्तु का होता है। इस प्रकार गुणों के जिस संग्रह या समुदाय के साथ प्रपंचवाद किसी वस्तु का तादात्म्य स्थापित करता है उस समुदाय या संग्रह का स्वयं उस रूप में कोई अस्तित्व ही नहीं होता। यह संग्रहत्व ठीक उसी प्रकार से एक 'मानसिक कल्पना' होता है जिस तरह उस समुदाय का वह एकत्व जिसका अध्याहार हम उस संग्रह में किया करते हैं। ऐसा होने पर भी, वस्तु का अस्तित्व वस्तु के गुणों के प्रधानतः केवल संभाव्यता मात्र होने के कारण ही नष्ट नहीं हो जाता। वस्तु तो वस्तुतः मौजूद होती ही है और किसी तरह इन संभाव्यताओं से अलंकृत या विशेषित भी रहती है। और उस कारण के आधार पर ही उसके अस्तित्व को, किसी समुदाय, अथवा घटनाओं के संग्रह की वास्तविक सिद्धि का तादात्म्य नहीं बताया जा सकता, एक और शर्त के तौर पर हम यह भी कह सकते हैं कि इन संभाव्यताओं की संख्या अनिर्धारित अथवा अनन्त भी हो सकती है और उसमें न केवल वे तरीके ही शामिल हो सकते हैं, जिनके अनुसार वह वस्तु व्यवहार कर चुकी है अथवा अभी अनुपस्थिति परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने पर वह आगे चलकर व्यवहार करेगी। अपितु वे तरीके भी जिनके अनुसार वह उस अवस्था में व्यवहार करेगी, जब वे परिस्थितियाँ पैदा हो जायँ तो वास्तविक अस्तित्व में कभी भी परिसिद्ध नहीं होती। किन्तु ज्योंही पूर्वगत् तर्कना की सार्थकता पूरी तरह समझ में आ जाती है त्यों ही जाहिर हो जाता है कि वह पूर्वगत् तर्कना स्वयं इस धारणा को शान्त करने में समर्थ है कि किसी वस्तु का तादात्म्य केवल वस्तुतः वर्तमान इन्द्रियगम्य गुणों के किसी समूह के साथ ही स्थापित किया जा सकता है। वस्तुओं की सत्ता की खोज हमें इन्द्रियगम्य गुणों के समूह के वास्तविक अस्तित्व में न करके उस नियम अथवा उन नियमों में करनी होगी जो उन गुणों का निर्धारण करते हों जो परिवर्तमान परिस्थितियों के विभिन्न कुलकों की उपस्थिति के परिणामस्वरूप हमारे सामने आयें या आ सकें।[१]

---

१. यह बात वस्तुओं के तथाकथित प्राथमिक या प्रारंभिक गुणों के विषय में भी उतनी ही सही है जितनी कि अन्य गुणों के सम्बन्ध में। तद्नुसार किसी संरक्षी पदार्थ व्यवस्था विषयक द्रव्यमान और गतिज ऊर्जा, सही तौर पर उन तरीकों के नाम हैं जिनके अनुसार वह व्यवस्था किन्हीं निर्धारित परिस्थितियों में व्यवहार करेगी न कि उन उन व्यवहार विधाओं के जो उसके अस्तित्व काल में लगातार, आवश्यक रूप से तथा वस्तुतः प्रकट दृश्यमान हुआ करती है। गति विषयक नियम भी इसी

७––इस प्रकार की बातें हमें मजबूर करती हैं कि हम किसी वस्तु के विभिन्न दशाओं को सामूहिक रूप में लेकर उनके अनुक्रम के अनुसार उसके सार पदार्थ या उसकी सत्ता का पता लगाने का प्रयत्न ही न करें । घटना विकास क्रमवाद अथवा प्रपंचवाद को कार्ययोग बनाने के लिये हमें कम से कम इतना कहने के लिये तो मजबूर ही होना पड़ता है कि वह वस्तु अथवा पदार्थ जिसमें विभिन्न विशेषणों या गुणों का अध्याहार किया जाता है 'उसकी दशाओं का कानून अथवा नियम' होता है अथवा 'उसके विभिन्न गुणों के सम्बन्धों की विधा।' स्पष्ट होता है कि इस तरह की परिभाषा उन दोनों परिभाषाओं की अपेक्षा जिन्हें हमने अभी अभी खारिज किया है बहुत अधिक सुविधापूर्ण है। गुणों के एक अज्ञात अधःस्तर के रूप में वस्तु की परिकल्पना की अपेक्षा वह कहीं अधिक श्रेष्ठ है इसलिये है क्योंकि उसमें वस्तु जगत विषयक उस भ्रान्त धारणा की एकदम जरूरत नहीं होती जिसके अनुसार वस्तुएँ किसी निर्धारित तरीके के बिना ही आ मौजूद होती है और अस्तित्व के निर्धारित तरीके बाद में वे वापस में तै करती हैं। किसी कानून या नियम का, जो उन घटनाओं का ही जिनके द्वारा उसकी संसिद्धि या प्राप्ति हो, एक समूह मात्र नहीं होता, घटनाओं की उस श्रृंखला के अलावा, जो उसके अनुरूप है, अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं हुआ करता । इसके साथ साथ ही हर एक नियम या कानून संभाव्यताओं का ब्योरा मात्र हुआ करता है, यानी ऐसा सूत्र जो उन दिशाओं का निर्देश करता है जिनका अनुगमन, घटनाचक्र अवश्य ही करेगा यदि कुछ निर्धारित परिस्थितियाँ कार्य कर रही हों। कोई भी नियम या कानून वस्तुतः प्रेक्षित अनुक्रमों का पंजीयन मात्र नहीं होता ।[1] इसीलिए जब हम किसी वस्तु

तरह के उन सोपाधिक कथनों का नाम है। जो उस तरीके को बतलाते हैं जिसके अन्तर्गत हमारे विश्वासानुसार, किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में कण गतिमान होते हैं । वह सिद्धान्त जिसके अनुसार भौतिक जगत् की सब घटनायें वस्तुतः गतिरूप मानी जाती हैं एक खास बर्बर प्रकार की तत्वमीमांसीय भूल पर ही आधारित हैं। देखिए। स्टालो कृत 'कॉन्सेप्ट्स एण्ड थियरीज ऑफ् मॉडर्न फिजिक्स', अध्याय १०, १२।

१. इस प्रकार उदाहरणार्थ, हमारे आधुनिक यांत्रिक विज्ञान का 'गति विषयक प्रथम नियम' जैसा मौलिक प्रमेय भी, निश्चित रूप से एक ऐसा कथन है जो बतलाता है कि किसी एक ऐसी परिस्थिति में, जो जहाँ तक हमें पता है कभी भी वस्तुतः पूर्ण नहीं हो सकती , वस्तुओं का व्यवहार किस प्रकार का होगा। वस्तु क्योंकर 'अपनी दशाओं का नियम' कही जाती है, इस बारे में देखिए लोत्जे कृत 'मेटाफिजिक्स' १; ३, ३२, एफएफ. (अंग्रेजी अनु०, खण्ड १, पृ० ८८ एफएफ.) तथा एल. टी. हॉबहाउस कृत 'दि थियरी ऑफ् नालेज', पृष्ठ ५४५ से ५५७ ।

लेकिन इस मौके पर लीब्निट्ज[1] के इस मत से कि एकत्व अनन्त बाहुल्य को अपने में धारणा करके भी अपने एक स्वरूप को केवल एक ही तरीके से नष्ट नहीं करता और वह तरीका है प्रातिनिध्य का—इस उलझन को दूर करने में कुछ सहायता मिलती-सी प्रतीत होती है। अनुभव से वास्तव में भी, हमें केवल एक ही उदाहरण ऐसा मिलता है जिसमें एकत्व व्यौरों की अनन्त बहुलता का समावेश अथवा सम्पर्क करके भी निःसंशय एक बना रहता है और वह है स्वयं हमारी अनुभूति का गठन। यह हम इसलिये कहते हैं कि हमारी एकल अनुभूति में नियमपूर्वक अनेकों मानसिक दशाओं का समावेश रहता है जिनमें 'नाभिक' और 'पार्शिवक' दोनों ही प्रकार की दशायें शामिल रहती हैं साथ ही युगपदीय और पूर्वापर दशायें भी इन सब का अनुभव उनके इस वैविध्य के बावजूद, हमें एक एकल समग्र के रूप में ही होता है और वह इसलिए कि वे सब दशायें किसी एक संगत प्रयोजन अथवा हित को व्यक्त करती है और किसी विशिष्ट या अनन्य हितपरक भावना द्वारा निर्धारित इस प्रकार का चेतनापूर्ण एकत्व ही एक वह उदाहरण है जिसकी ओर हम तब तब अंगुलि निर्देश कर सकते हैं जब हमें वास्तविक उदाहरण द्वारा यह दिखाना हो कि अनेक एक ही समय किस प्रकार एक हो सकता है। यदि हम वस्तु के गुणों और उन गुणों के सम्बन्धों विषयक नियम के पारस्परिक सम्बन्ध को उसी प्रकार

सकता है कोई समाधान नहीं होता न यही मालूम होता है कि ऐसा करने का कारण या उद्देश्य क्या है। श्री हॉबहाउस तो प्रत्येक व्यस्क प्रेक्षण में 'दत्त' तादात्म्य से ही सन्तुष्ट हैं लेकिन उनकी संतुष्टि का उद्भव मुझे तो उनके द्वारा दिये गये इस उत्ताम विवरण से ही हुआ लगता है जिसके अनुसार दृश्य और स्पृश्य आकाशों के पारस्परिक संश्लेषण का आधार मेरे अपने शरीर का, और भी अधिक आदिकालीन अवबोध द्वारा एक भावित ऐकत्व के रूप में ग्रहण किया जाना है। अगर बात ऐसी हो तो 'पदार्थ के एकत्व' का अंतिमेत्थ स्रोत उस गहराई के जहाँ तक कि श्री हॉबहाउस जाना चाहते हैं, और भी अधिक नीचे जाकर ढूंढ़ना होगा। फिर भी पूछना पड़ेगा कि, यदि उनके बयान को अन्तिमेत्थ मान लिया जाये तो क्या पदार्थ को अवकाश या आकाश का तादात्म्य तब न मानना होगा? उन कठिनाइयों की जानकारी के लिये जो तब उठ खड़ी होती हैं जब आप कहते हैं कि पदार्थ ही आकाश है, साथ ही साथ उसका गुण भरने वाला गुण पूरक या गौण व्याप्य भी—देखिए 'अपीयेरेन्स एण्ड रियालिटी', अ० २, पृ० १९, २० प्रथम संस्करण।

१. देखिए—मोनाडोलॉजी—८–१६, ५७–६२।

ग्रहण कर सकें जिस प्रकार कि हम अपने वैयक्तिक हितों के मूर्त रूप कार्यों की विशद श्रृंखला और स्वयं इस हित को जो अपने एकत्व के कारण उस श्रृंखला को एकत्व की भावना प्रदान करता है एक रूप में ग्रहण करते हैं तो सैद्धान्तिक रूप से यह बात हमारी समझ में आसानी से आ जायगी कि अनेक गुण किस प्रकार एक वस्तु में व्याप्त रह सकते हैं। उस दशा में वह वस्तु एक वैयक्तिक अथवा एकल अनुभूति का ऐसी मूर्त रूप होगी जो किसी अनन्य व्यक्तिनिष्ठ हित द्वारा निर्धारित हुआ है और इसीलिए उसमें अव्यवहृत भावनाजन्य एकत्व भी पाया जायेगा, उसके अनेक गुण उसी माने में उसके 'अपने होंगे' जिस माने में कि अव्यवहृत अनुभूति द्वारा इस प्रकार एकीकृत अनुभूति के विभिन्न घटक उनके द्वारा घटित एकल अनुभूति के अपने घटक कहे जाते हैं। और इस प्रकार वास्तविकता के सामान्य स्वरूप की आदर्शवादी व्याख्या में हमें पदार्थ और गुण सम्बन्धी समस्या का हल प्राप्त हो सकेगा।

अब यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु जगत सम्बन्धी पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त आदर्शवादी हल अंकुर रूप में पहले से ही मौजूद है। इस बात में अब सन्देह की गुंजायश कम ही हो सकती है कि वस्तु के गुण बाहुल्य के विपरीत उसके एकत्व विषयक हमारा मौलिक विचार हमें उन सभी गुण समूहों में जो हमारे अपने किसी हित के सम्बन्ध में हमें किसी एक क्रिया रूप में प्रभावित करते हैं उसी प्रकार के बोधगम्य एकत्व का 'अन्तःप्रवेश' करा देने से प्राप्त होता है जिस प्रकार के एकत्व हमें अपने भीतर तथा अपने दूसरे साथियों में मौजूद रहना स्वयं मानते हैं। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ेंगे त्यों-त्यों हमें ऐसे अनेक अवसर आयेंगे जिनसे हमें उस विशाल सीमा का पता चलता रहेगा जहाँ तक जगत् सम्बन्धी पूर्व वैज्ञानिक दृष्टि-कोण अस्तित्व विषयक अपनी अभिव्यक्ति के विषय में हमारे अपने ही वैयक्तिक निबन्धों पर आधारित है। और शनैः शनैः हमें यह भी पता चल जायगा कि व्यवस्थित आदर्श-वाद वास्तविकता की उस मानवतापरक अभिव्यक्ति के जो मनुष्य के अपने आस-पड़ोस की हर एक बात को अपने लिए बोधगम्य बना लेने के, सभी प्रयत्नों में निहित रहा करती है। संगत और वैचारिक रूप में और भी अधिक आगे बढ़ा ले जाने का ही एक प्रयत्न है। परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि यदि एक पदार्थ विषयक समस्या के प्रति हमारा सामान्य रुख ग्राह्य माना जाय तो वही वस्तु जिसे हमने व्यष्ट अनुभूति कहकर पुकारा है सही मानों में 'पदार्थ' या 'सार पदार्थ' नाम से अभिहित की जा सकती है और यदि 'पदार्थ' शब्द दार्शनिक शब्दावली में बनाये रखना जरूरी है तो, ऐसी अनुभूतियाँ उसी हद तक जहाँ तक वे सहीतौर पर व्यष्ट हैं 'पदार्थ' ही कही जाँयगी। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमें उस विभेद तक जा पहुँचना चाहिए जिसके द्वारा वह एक अनन्त या अनिर्धारित पदार्थ जिससे वास्तविकता का समग्र

बनता है और वे शान्त या निर्धारित किन्तु अपूर्ण पदार्थ जो उसके उपांग या कारक हैं पहचाने जा सकते हैं।

फिर एक बार हमें याद रखना होगा कि चूँकि सामान्य रूप से हम उसी गुण समूह को एक कहते हैं जिसकी क्रिया हमारे हितों पर एक रूप से होती है और उन हितों के विषय में हमारी अन्तर्दृष्टि भी सीमित और भ्रान्त हुआ करती है अतः किसी एक पदार्थ में उसकी 'दशा' रूप से अध्याहृत गुण समूह की हमारे द्वारा निर्धारित सीमायें भी न्यूनाधिक मनमानी ही होंगी और हमारी अपनी वास्तविक अन्तर्दृष्टि की मात्रा पर निर्भर भी। हो सकता है कि एक ही वस्तु की दशाओं के रूप में हम ऐसे गुणों को एक रूप में समुहित कर दें जो गहनतर अन्तर्दृष्टि के सामने परस्पर असम्बद्ध दीखें। इसी प्रकार इसके विपरीत भी हो सकता है। अन्ततोगत्वा जो कुछ भी है अगर वह किसी एकल संशिलष्ट आत्मनिर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत आ जाता है तो यह स्पष्ट है, कि सख्ती से कहा जाय तो अन्तिमेत्थ रूप से केवल एक ही पदार्थ बाकी रह जायगा——व्यवस्था का या तन्त्र का खुद अपना केन्द्रीय रूप या नियम—— जिसके सभी अधीनस्थ पहलू या अस्तित्व के भाग, गुण अथवा विशेषता रूप होंगे।

८——**सम्बन्ध विषयक समस्या** :——पदार्थ और उसके गुणों की समस्या से कहीं अधिक उलझनभरी समस्या वह है जो पूर्व वैज्ञानिक काल की इस पूर्वमान्यता से पैदा होती है कि दुनियाँ 'परस्पर सम्बद्ध' वस्तुओं से बनी है। सम्बन्ध विषयक यह समस्या तब और भी अधिक जोर से सामने आती है जब पदार्थ तथा गुण सम्बन्धी विवेचन से यह व्यक्त होता है कि जिन्हें हम वस्तुओं के गुण कहते हैं वे सब ही या तो हमारे प्रेक्षक अंगों के साथ के या अन्य वस्तुओं के साथ के अपने सम्बन्धों पर निर्भर होते हैं। बिलकुल साधारण रूप से यही बात यदि कही जाय तो समस्या का रूप यह हो जाता है, वस्तुओं का आपस में कई तरह का सम्बन्ध हुआ करता है और जिन्हें हम साधारणतया उन वस्तुओं में से प्रत्येक के गुण कहते हैं वे गुण निर्भर होते हैं (अ) अन्य वस्तुओं के साथ अपने सम्बन्ध की विधाओं पर (आ) तथा हमारे प्रेक्षक या परिग्राहक अंगों के साथ उनके सम्बन्ध पर। साथ ही साथ एक ही वस्तु के विभिन्न गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध भी रहता ही है। गिनती प्रारम्भ करने के लिये कहा जा सकता है कि उन सब में सबसे पहले तो तादात्म्य और विभेद का सम्बन्ध होता है। सबमें एक ऐसा सामान्य स्वरूप तो मौजूद रहता ही है जिसके द्वारा उनकी तुलना उन विशिष्ट तरीकों के सम्बन्ध में की जा सकती है जिसके द्वारा वे अपने स्वरूप को व्यक्त करते हैं और तद्नुसार एक दूसरे के तादात्म्य होते हैं, इसके अतिरिक्त विभेद विषयक सम्बन्ध की सहायता से उनमें से हर एक को अलग-अलग किया जा सकता है, और यह जाना भी जा सकता है। इसके साथ ही, एक ही वस्तु के अनेकों गुण

परस्पर अन्तः सम्बद्ध भी हुआ करते हैं जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। इस सम्बन्ध विषयक कई विशिष्ट नियम अथवा विधायें भी होती हैं जिनसे आसपास की परिस्थितियों में होनेवाले परिवर्तनों के कारण उनके व्यवहार में हुये परिवर्तनों का परिचय मिलता है।

अतः जब प्रपंचवाद अथवा घटना-क्रिया विज्ञानवाद वस्तुओं में पादार्थिक या सारभूत एकत्व का निराकरण करता है तब उसके लिये वस्तुजगत का तादात्म्य गुणों के अन्योन्य सम्बन्ध के साथ बैठाना आवश्यक हो जाता है जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि सम्बन्धगत गुणों की परिकल्पना हमारी समझ में आयेगी कैसे ? क्या एक ओर हम सभी गुणों को सम्बन्धों के रूप में या सभी सम्बन्धों को गुणों के रूप में घटित कर सकते हैं अथवा दूसरी ओर क्या हम किसी ऐसे बोधगम्य प्रत्यय की कल्पना उस तरीके के बारे में कर सकते हैं जिसके द्वारा कोई एकल समग्र अथवा व्यवस्था या क्रम इन दोनों के संयोग से बनाया जा सकता हो ? सम्बन्ध विषय से सम्बद्ध अत्यन्त किन्तु अपेक्षतया द्वितीयक महत्व की अन्य समस्यायें भी यद्यपि हैं—उदाहरण के लिये जैसे, अन्तिमेत्थतया अलघुकरणीय प्रकार के सम्बन्धों की संख्या का प्रश्न किन्तु इस पुस्तक की विषय परिधि इजाजत नहीं देती कि केन्द्रीय कठिनाई के संक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त और किसी बात पर उसके अन्तर्गत विचार किया जा सके। विभिन्न विकल्पों से हम उनके क्रमानुसार ही विचार करेंगे।

(१) दार्शनिकगण, गुणों और सम्बन्धों, दोनों को लेकर उन्हें क्रमबद्ध करने की कठिनाई से बचने के लिये प्रायः अपनी प्रति स्थापना के एक अंग को एकदम दबा जाने के लोभ में पड़ते रहे हैं। अतः एक ओर तो यह कहा जाता रहा है, कि वास्तविक वस्तु-जगत केवल सीधे-सादे और परस्पर असम्बद्ध गुणों से ही बना है तथा जिन्हें हम इन गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध बताते हैं, वे उन गुणों का परिग्रहण करने के हमारे व्यक्ति-निष्ठ तरीके मात्र है। दूसरी ओर यह भी सुझाव रखा गया है कि वास्तविक जगत में सम्बन्धों के अतिरिक्त शायद और कुछ भी नहीं तथा जिन्हें हम विभिन्न प्रकार के गुण कहते हैं वे सम्बन्धों के रूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लेकिन इन दोनों दृष्टिकोणों में से कोई दृष्टिकोण गम्भीर रूप से ग्राह्य नहीं मालूम देता।

क्योंकि (अ) वास्तविकता का निर्माण सम्बन्ध मात्र द्वारा ही नहीं हो सकता। प्रत्येक सम्बन्ध में ऐसे दो या अधिक पदों का अन्तर्हित रहना आवश्यक है जो परस्पर सम्बद्ध हों। किन्तु इन पदों की सृष्टि सम्बन्ध स्वयं नहीं कर सकता। प्रत्येक सम्बन्ध में, पदों का उस सम्बन्ध के पद होने के गुण मात्र के अतिरिक्त स्वयं अपना भी कोई स्वरूप हुआ करता है। एक सीधे-सादे उदाहरण की तौर पर अगर लें तो किसी क्रमसूचक संख्या की शृंखला के पूर्वापर पद स्वयं क्रमबद्ध शृंखला में अपनी निर्धारित

स्थित के अतिरिक्त और कुछ व्यक्त नहीं करते। लेकिन जब उन पदों का प्रयोग शृंखला-बद्ध क्रम में वर्तमान किसी सार पदार्थ की वास्तविक व्यवस्था को व्यक्त करने के लिए किया जाता है तब इस सार पदार्थ (इ) की दृष्टि किसी क्रमबद्ध शृंखला के पदों की व्यवस्थाबद्ध कर देने से नहीं होती और (आ) अपने पदों के वास्तविक क्रम बन्धन के लिए अपने किसी निश्चयात्मक लक्षण पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जब आप वास्तविक गणना करते हैं तो आप उन नामों की गणना नहीं करते जिनका प्रयोग आप कर रहे हैं बल्कि उनकी बजाय और ही किसी की गणना कर रहे होते हैं और गणना भी ऐसे क्रमानुसार करते हैं जो विशिष्ट ग्रण्य वस्तुओं के स्वरूप पर निर्भर होता है।[1] और यही बात सही सम्बन्धों पर सामान्यतः लागू होती है। ऐसा एक सवाल उठाया गया है जिसके कारण पर्याप्त कठिनाई समुपस्थित होती है और उस प्रश्न पर विचार भी अभी नहीं किया जा सकता। वह प्रश्न है कि क्या कुछ ऐसे भी सम्बन्ध हैं जो केवल बाह्य सम्बन्ध मात्र हैं। क्या ऐसे सम्बन्ध हैं भी या एकदम नहीं होते ? (अर्थात् ऐसे सम्बन्ध जो अपने नामिक विशेष गुणों से एकदम विलग और स्वतन्त्र हों)। लेकिन अगर हम यह स्वीकार भी करते कि उपर्युक्त प्रकार के ऐसे केवल बाह्य सम्बन्ध हो सकते हैं जो उन नामिक पदों से जिनके मध्य उन्हें जीवित रहना पड़ता है, स्वतन्त्र रहते हों, लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि किसी प्रकार के नामिक पदों के बिना कोई सम्बन्ध वर्तमान नहीं रह सकता और यह भी कि ये नामपद अथवा स्थितियाँ शून्य से केवल पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही सृष्ट नहीं होती।[2] शायद प्रत्युत्तर में कहा जा सके कि जिन्हें हम किसी सम्बन्ध के पद या निबन्धन कहते हैं, वे

---

१. यह बात तब भी सही उतरती है जब हम गुणात्मक रूप से एकतुल्य कुछ इकाइयों की गणना उनका योग पता लगाने के लिये करते हैं। गुणात्मक रूप से एकतुल्य उनके निश्चित स्वरूप के कारण ही इस उदाहरण में हमें उनमें से किसी को भी प्रथम मान लेने की छूट रहती है हम उनमें से किसी को भी द्वितीय और तृतीय आदि भी गिन सकते हैं। लेकिन गुणात्मक रूप से असमान क्रम व्यवस्था पर जब हम संख्यात्मक शृंखला को लागू करते हैं तो किसे आप प्रथम, द्वितीय या तृतीय कहें यह बात तद्विषयक आपके विशेष हित या आपकी तद्विषयक विशिष्ट अभिरुचि से सम्बद्ध आपकी सामग्री के स्वरूप पर निर्भर होगी।

२. इन अर्थों में अपने पदार्थ से बाह्य सम्बन्धों की संभाव्यताओं के विषय में जानने के लिए देखिए, बी० रसेल कृत, 'दि फिलासफी आफ़ लीब्निज', पृष्ठ १३०, तथा उसी लेखक का जनवरी तथा जुलाई १९०१ की 'माइण्ड' नामक पत्रिका में प्रकाशित लेख।

नि:सन्देह उस विशिष्ट सम्बन्ध द्वारा स्पष्ट न होते हुये भी स्वयं अन्य सम्बन्धों में विश्लिष्ट किये जा सकते हैं और वे सम्बन्ध भी अन्य अनन्त सम्बन्धों में इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अ, ब सम्बन्ध के 'अ' पद या निबन्धन का कोई ऐसा असंदिग्ध अपना गुण हो सकता है जो इस सम्बन्ध द्वारा उद्भूत या सृष्ट न हो। किन्तु यह गुण जिसे $अ_1$ यदि कहें तो, यह $अ_1$ विश्लिष्ट होने पर स-द सम्बन्ध के रूप में विघटनीय पाया जा सकता है और फिर स का गुण $स_1$ भी 'इ-फ' सम्बन्ध में रूप में विश्लिष्ट हो सकता है तथा यह शृंखला अनन्त तक चलती रह सकती है। लेकिन इसे किसी प्रकार भी गुणों का सम्बन्ध मात्र शेष रह जाना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इससे हमें अपनी वस्तु विषयक योजना की इकाई के रूप में सम्बद्ध गुणद्वय अथवा पदयुग्म मात्र ही प्राप्त होगा तथा चाहे जितनी बार हम विश्लेषण प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करते चले जायँ हमें तो परिणामस्वरूप एक ही प्रकार का त्रैत हाथ आयेगा अर्थात् दो पद और एक सम्बन्ध। इस विशिष्ट हल की अर्हता चाहे जो कुछ भी हो पर यह हमारे द्वितीय विकल्प के ही अन्तर्गत आयेगा और उसी के साथ ही उस पर विचार भी करना होगा।

(२) फिर भी इतना तो स्पष्ट दिखायी देता ही है कि हम समग्र सत्ता या वास्तविकता को गुण शेष नहीं बना सकते न उनके बीच के सम्बन्ध को इतना ही कहकर कि वे हमारे प्रत्यभिज्ञान या बोध के आत्मनिष्ठ प्रकार मात्र है टाला भी नहीं जा सकता। इस विचारसरणि को परस्पर थोड़े से भिन्न दो तरीकों से काम में लाया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि जो कुछ वास्तव में सत्तावान् है वह ऐसे असम्बद्ध साधारण गुण मात्र हैं जो प्रत्येक अन्य सब गुणों से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार लाल मीठे से, ऊँचे सुर वाला शब्द गर्म से, साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि सम्बन्धों का वह सारा, तानाबाना जिसके द्वारा हमारी दैनिक तथा वैज्ञानिक विचारधारा इन 'वास्तवों' का सम्बन्ध जोड़ा करती है, केवल एक ऐसा बौद्धिक पाठ है इस वास्तविक संसार में जिसका कोई भी अनुवर्ती या सानी नहीं पाया जा सकता। ह्यूम के इस सिद्धान्त का कि सभी सम्बन्ध वास्तव में 'मानसिक ताना-बाना' मात्र है और वास्तविकता या सत्ता केवल उस अवशिष्ट का ही नाम है जो तब बच खुच रहती है जब हम विश्वविषयक अपनी प्रत्यभिज्ञा से उस सबको जो हमारे मन के कल्पना जाल से उद्भूत है, दूर हटा लेते हैं—उपर्युक्त विचारधारा से बहुत कुछ मिलता जुलता है। ह्यूम तथा उसके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त को जिन आधारों पर प्रस्तुत किया था वे बहुत पहले ही, मनोवैज्ञानिक प्रगति के कारण तथा संवेदना और मानसिक रचना विषयक कड़े विभेद के तदनुगत परित्याग के कारण भी, नष्ट हो चुके हैं। ह्यूम का तथा प्रकट रूप से काण्ट का भी यह अभिमत था कि 'संवेदना'

द्वारा जो कुछ भी हमें प्राप्त होता है वह एकल अमिश्र गुण मात्र होता है और इन मनस्तत्वीय अणुओं के बीच का सारा सम्बन्ध अनुवर्ती व्यक्तिनिष्ठ से संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होता है। लेकिन मनोविज्ञान की उन्नति के कारण जब यह बात स्वीकार कर ली गयी कि संवेदना स्वयं एक लगातार चलनेवाली ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ऐसे 'औपान्तिक' तत्वों का बाहुल्य होता है जो विविध प्रकार से अपने केन्द्रीय अथवा नाभीय तत्व का स्वरूप ही परिवर्तित कर देते हैं। तब प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी उस कारक को जो वेदनात्मक तथा बौद्धिक ज्ञान के बीच एकान्तिक विभेद बनाये रखना चाहता है जीवित रख सकना असंभव हो गया है।

विभेद के उस आभासी रूप के अतिरिक्त, जिस पर उपर्युक्त सिद्धान्त आधारित था, तत्वमीमांसा के प्रयोजनार्थ, उस सिद्धान्त की अपनी ही अर्न्तहित अनर्गलता के कारण पर्याप्त निन्दा की गयी। तत्वमीमांसीय मौलिक पूर्वगृहीत सभी गंभीर विज्ञानों के पूर्वगृहीतों के समान वास्तविकता को एक संश्लिष्ट या संगत व्यवस्था ही मानता है। लेकिन उस दृष्टिकोण के अनुसार जो सम्बन्धों को 'मानसिक कल्पना मात्र' मानता है, हमारा विचारगत वह तत्व जो विचार को उसका व्यवस्थित रूप प्रदान करता है अनधिकारपूर्वक स्वयं हमारे द्वारा वास्तविक के साथ जोड़ा गया तत्व होता है। क्रम और व्यवस्था, इस दृष्टिकोण के अनुसार वास्तव में भ्रम मात्र होते हैं और जैसाकि ह्यूम के आलोचकों ने अनेक वार दिखाया है, इस बात का अनुमान कर सकना एकदम असम्भव है कि ऐसी दुनिया में जहाँ परस्पर असम्बद्ध सरल गुणों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं भ्रम की उत्पत्ति कभी हो कैसे सकी। जहाँ हमारा अपना आन्तरिक जीवन ही एकदम असंगत और असंबद्ध हो तो यह अनुमान किया ही नहीं जा सकता कि हम लोगों ने क्योंकर, कल्पना के रूप में ही सही, तथ्यमय संसार में व्यवस्था के दर्शन कर लिए।

समस्त सम्बन्धों को गुणों के रूप में विघटित करने का एक और अधिक युक्तिसंगत प्रयत्न नीचे लिखे तरीके पर किया जाता है। कहा जाता है कि सम्बन्ध व्यक्तिनिष्ठ निर्माणोद्भूत हुआ करते हैं लेकिन इसके बावजूद ये एकदम विशुद्ध काल्पनिक वस्तु नहीं कहा जा सकता क्योंकि अ और ब नामक दो पदों के बीच के प्रत्येक सम्बन्ध अ और ब में वर्तमान कुछ उन गुणों पर आधारित होता है जिन्हें सम्बन्धों का आधार कहा जाता है। हो सकता है कि ये गुण दोनों पदों में एक से ही हों और उस दशा में इस सम्बन्ध को सममित कहा जा सकता है। उदाहरणतः अ और ब के गुणों का विषय इसी श्रेणी का विषय है क्योंकि उसका आधार अ और ब का एक-सा परिमाणवान होना है। यहाँ जिस वास्तविक तथ्य को आधार माना जा रहा है वह यह है कि अ का जितना परिमाण है उतना ही

परिमाण ब का भी है । इसके साथ जो व्यक्तिनिष्ठ विचार आ जुड़ता है वह है हमारी उस स्वेच्छ तुलना का विचार जिसके अनुसार हम अ और ब को उनके उपर्युक्त एक से गुण के कारण एक-सा बतलाते हैं। समानता का अध्याहार ही हमारे अपने विचार का सप्रयोजन है। दूसरी ओर सम्बन्ध के आधारभूत गुण दोनों पदों में एक दूसरे से भिन्न भी हो सकते हैं और उस दशा में उनका पारस्परिक सम्बन्ध तकनीकी तौर पर असममित कहा जायगा। इस प्रकार के असममित सम्बन्ध के उदाहरण हैं अ का ब से बड़ा होना अ का ब से छोटा होना तथा अ का पितृ और ब का पुत्रत्व । इन दशाओं में जो वास्तविक तथ्य ग्राह्य होगा वह है अ का क्ष परिमाणयुक्त होना और ब का क्ष-य, परिमाणयुक्त होना, अ का ब के जनकत्व संयोगवान् होना और ब की अ से जन्मवान् होना । इन तथ्यों के साथ भी पहले की तरह जहाँ तक एक से गुणों के कारण तुलना द्वारा हमने उन्हें एक ही विचार कोण का विषय बना डाला था, व्यक्तिनिष्ठ संप्रयोग आ जुड़ेगा।

सम्बन्धों को गुणों में विघटित करने की अन्तर्हित व्याधियाँ सिद्धान्त के उपर्युक्त संस्करण या विवरण द्वारा बड़ी मुश्किल से ही छिपा पायी है। यह युक्ति प्रस्तुत करना कि सम्बन्ध विषयक निर्णयों की स्थापना में सम्बद्ध पदों का किसी न्यूनाधिक स्वेच्छानिर्धारित दृष्टिबिन्दु के अनुसार की गयी व्यक्तिनिष्ठ तुलना पूर्व-गृहीत रहती है—तत्वमीमांसा के अनुसार असंगत है। असली सवाल तो यह है कि क्या इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप वस्तुएँ व्यवस्थित समग्र रूप में अधिक बोध-गम्य बन जाती है या नहीं। अगर बन जाती हैं तो वास्तव विषयक सत्यता के सम्बन्ध में इस प्रक्रिया की व्यक्तिनिष्ठता द्वारा प्राप्त परिणाम को झूठा ठहराने की कोई वजह नहीं मालूम देती। और अगर ऐसा नहीं है तो उन दर्शनशास्त्रियों को जो सम्बन्धों की व्यक्तिनिष्ठता पर जोर देते हैं बतलाना होगा कि सम्बन्ध से अतिरिक्त गुणों के रूप में हम वास्तविकता का ध्यान एक संगत व्यवस्थित समग्र रूप में कैसे कर सकेंगे। पर वे आज तक ऐसा नहीं कर सके, और इसका कारण भी स्पष्ट हैं। उन गुणों का जिन्हें हम सम्बन्धों का मूल मानते हैं, कोई बोधगम्य विवरण पूर्ववर्ती सम्बन्धों को बीच में लाये बिना, स्पष्ट रूप से एकदम असंभव ही है । तदनुसार अ और ब के उभय-निष्ठ परिमाण क्ष के स्वामित्व को उनके बीच की सममितता का आधारत्व प्रदान किया जा सकता है किन्तु जब हम पूछते हैं कि अ और ब के लिये क्ष परिमाण के स्वामित्व का विधान करने का क्या मतलब है तब हम पाते हैं कि हमें फिर एक बार अ और ब के बीच के सम्बन्ध विषयक एक तीसरे पद स को अपने माप की इकाई के रूप में ग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । अ और ब दोनों ही का परिमाण क्ष इसलिए है क्योंकि उनमें स ठीक क्ष बार सम्मिलित

है । इसी प्रकार इस तथ्य को कि अ ब का जनक है अ और ब के मध्यवर्ती असममितीय पितृत्व सम्बन्ध के आधार रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसी तथ्य को दूसरे नाम से ब और अ के बीच के पुत्रत्व के असममितीय सम्बन्ध के आधार रूप में भी प्रस्तुत किया गया है ।

किन्तु, इस कथन का कि एक ही तथ्य अ और ब को अलग अलग तरीकों से विशेषित करता है, क्या अभिप्राय है । इस प्रश्न का किसी प्रकार का भी उत्तर हमें तत्काल सम्बन्धों के ताने-बाने में ला फँसाता है । पहले तो, हो सकता है कि तथ्य क्ष को अ और ब को विभिन्न रूप से विशेषित करने की बात हमें मालूम हो तब अ और ब को अलग किया जा सकता है यानी तब उनकी तुलना करना आवश्यक हो जाती है और उन्हें परस्पर भिन्न पाना भी आवश्यक हो जाता है और सम्वन्ध के बिना भिन्नता कोई माने नहीं रखती । यतः दो पद अन्तिमतः तभी भिन्न हो सकते हैं जब उनमें स्वरूप की ऐसी उभयनिष्ठता हो जिसके आधार पर उनकी तुलना एक उभयनिष्ठ मापदण्ड के अनुसार की जा सके। समान वस्तुएँ ही भिन्न हो सकती हैं और उनकी समानता के साथ उनके वैभिन्न्य के सम्बन्ध की समस्या वैभिन्न्य के अस्तित्व मात्र से ही हमारे सामने आ खड़ी होती है । इसी प्रकार उभयनिष्ठ तथ्य क्ष दोनों पदों में से किसी भी पद को एक निर्धारित विधि के द्वारा ही वैशिष्टय प्रदान करता है और वह तरीका उन अन्य तरीकों से जिनके द्वारा उस पद को अन्य तथ्य विशेषित करते हैं अलग किया जा सकता है। और यह विभेद ठीक उसी तरह पर अ के ही विभिन्न गुणों के मध्यवर्ती विभिन्न गुणों के दृढ़ीकरण के लिये विवश नहीं करता अपितु ब के गुणों के दृढ़ीकरण के लिये भी ।[1]

समग्र वास्तविकता को गुणों में विघटित करने तथा सम्बन्ध मात्र के साथ उसकी तदनुरूपता स्थापित करने के प्रयत्न की कठिनाइयों के सर्वनिष्ठ स्रोत को जान सकना कठिन बात नहीं है। वास्तविक अनुभव के समय यह संसार समग्र रूप में ही हमारे सामने आता है, अनेक और एक सब एक साथ, कोई वस्तु अकेली कभी हमारे सामने नहीं आती न कुछ खास चीजें ही हमें दिखाई पड़ती हैं, लेकिन एकत्व विषयक पहलू पर ही यदि आपका ध्यान केन्द्रित है और आप उसके अन्तः सम्बन्ध को ही देखना चाहते हैं तो स्वाभाविक ही है कि आप अपने तत्वों के मध्यवर्ती सम्बन्धों पर ही ध्यान देते रहें और दूसरे तत्वों पर जरा भी ध्यान न दें। लेकिन यदि आप वैविध्य पहलू पर ही विचार करना

---

१. सम्बन्धीय योजना विषयक ऐसे विशद विवेचन के लिये जो रॉयस की विभेद विषयक किसी स्थापना में अन्तर्हित हो, देखिए, 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल', सेकेण्ड सीरीज, लेक्चर २ ।

चाहते हैं, तब भी तत्वों को वास्तविक मानकर उनके सम्बन्धों को काल्पनिक समझना उसी तरह स्वाभाविक होगा। लेकिन दोनों ही मामलों में आप अपना ध्यान मनमाने तौर पर अनुभूत तथ्य के किसी ऐसे एकल पहलू पर जिसे अन्यों से विलग करके ले लिया गया है। केन्द्रित कर लेते हैं और इस प्रकार ऐसे परिणामों पर जा पहुँचते हैं। जिनको समग्र तत्वों से संघट्ट होना निश्चित है। सच्चा दृश्य देख सकना यदि कभी संभव हो तो उसे तभी देखा जा सकता है जब समग्र तथ्यों को निष्पक्ष रूप से साथ लेकर चला जाय।

९—इस प्रकार हम अपने दूसरे विकल्प तक आ पहुचते हैं। क्या हम 'सम्बन्धगत गुणों' के रूप में अथवा गुणों और उनके सम्बन्धों के रूप में वास्तविकता की कल्पना कर सकते हैं। प्रश्न का यह रूप, वस्तु की उस परिभाषा से कि वस्तु उसकी दशाओं के नियम का नाम है, उद्भूत प्रश्न का अधिक विकसित रूप है। अब हमें गुणों को एक स्थिर बिन्दु के रूप में ग्रहण करना होगा और उनमें उनके अपने ऐसे स्वरूप की स्थापना करना होगा जिसका सम्बन्ध और भी आगे तक जायगा अथवा अन्य सम्बन्धों का पोषण करेगा। तब यह प्रश्न होगा कि इन आधारों पर स्थापित विश्व का जो चित्र हम बनाते हैं वह पूर्णतः बोधगम्य है? तब झट ही स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण कितना बाधावरुद्ध है। क्योंकि यदि मान लिया जाय कि अ और ब ऐसे दो गुण हैं जिनका स से कोई सम्बन्ध है। सरलता के लिए स के साथ वाले उपर्युक्त सम्बन्ध को वैभेद्य सम्बन्ध इस अर्थ में मान लें कि अ और ब एक ही रंग की दो विभिन्न छायायें हैं जो एक दूसरे से विभक्त हैं तब अ और ब में स सम्बन्ध होने के कारण वे दोनों अ और ब के अनुरूप या तादात्म्य नहीं हो सकते क्योंकि उस दशा में ये उपर्युक्त सम्बन्ध से व्यक्तिरिक्त होंगे। (उदाहरणतः अ ब से असाम्य-विभेद-गुण विशिष्ट होने के कारण अ वह अ वस्तु मात्र नहीं रहता जो ब से किसी प्रकार प्रभावित नहीं और यह ऐसा तथ्य है जो आश्चर्यजनक प्रबलता के साथ अपने वैषम्यजन्य प्रभाव के कारण हमारे सामने जबर्दस्ती आ खड़ा होता है।) साथ ही यह भी स्पष्ट है कि स नामक सम्बन्ध स्वयं अपने पदों या उपसर्गों का सृजन नहीं कर सकता। अ भी स नामक सम्बन्ध में ब के प्रति अपनी स्थित के अनुसार विशेष रूप से विशेषित होने के कारण उपर्युक्त सम्बन्ध से बाहय होकर वर्तमान रह सकता है। और हमारे द्वारा अ रूप में उसे स्वीकृत कर लिये जाने के तथ्य मात्र से ही प्रकट है कि स सम्बन्ध के अन्तर्गत और उसके बाहर भी दोनों जगह 'अ' का एक चिन्हार योग्य तादात्मिकस्वरूप है। (उदाहरणार्थ ब से विभिन्न अ ठीक वही वस्तु नहीं है जो अ इस विभेद से पूर्व था लेकिन ब से अ का यह विभेद विभेदन या विवेचन क्रिया द्वारा सृष्ट नहीं होता। विवेचित होने के हेतु उसका पहले ही से भिन्न होना आवश्यक है)।

इस प्रकार गुण अ को जिसे हमने अपने सम्बन्ध विषयक उपसर्गों या पदों में से अन्यतम रूप से ग्रहण किया था हम दो पहलुओं में विभक्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं यानी अ (अ$_{१}$) नामक वह उपाधि जो उक्त सम्बन्ध की स्थापना के पहले वर्तमान थी और अ (अ$_{२}$) वह उपाधि जो सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद अब मौजूद है। उपर्युक्त प्रकार से आविष्कृत ये दोनों पहलू जिन्हें हमने 'अ' नामक एकल समस्त उपाधि या गुण में से ढूंढ़ निकाला है येन केन प्रकारेण एक दूसरे से भी अवश्य सम्बद्ध होंगे। अ (अ$_{१}$) और अ (अ$_{२}$) के बीच भी वही प्रक्रिया पुनरावृत्त होगी और जिन्हें हम सम्बन्धों के स्थिर पद या ध्रुव उपसर्ग मानकर चले थे वे स्वयं सम्बन्धगत गुणों की क्रम व्यवस्थायें सिद्ध होंगी और इस प्रक्रिया की कोई सीमा न रहेगी। ऐसी दशा में अनुभूति की अन्तर्वस्तुओं को स्थिर पदों में तदगत् सम्बन्ध सहित श्रेणी विभक्त करना इस समस्या का कि अनुभूतिगत विश्व किस प्रकार एक और अनेक दोनों ही हो सकता है, कोई हल प्रस्तुत न कर सकेगा। न इससे अन्तर्व्याघात ही बरकाया जा सकेगा। और समस्या हल करने में हम सफल तभी हो सकते हैं जब हम अपनी आँखें ही मूँद लें क्योंकि खुली आँख तो हमें हमेशा धिक्कारती ही रहेगी। 'इसलिये यही नतीजा निकाला जाता है कि सम्बन्धपरक विचार द्वारा सत्य की नहीं अपितु आभास ही प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार की तर्कना एक ऐसा अस्थायी जोड़-तोड़ मात्र अथवा कामचलाऊ समझौता मात्र होगी जो अत्यन्त आवश्यक होते हुये भी अन्ततोगत्वा अत्यन्त अप्रतिवाद्य होगी'।[1]

१०—उपर्युक्त तर्कना का जिसे श्री एफ० एच० ब्रैडले की पुस्तक 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी' में दिये गये लम्बे पूरे विवेचन को संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया गया है तकाज़ा है कि उस पर गहराई से विचार इसलिए किया जाय कि उससे जिस परिणाम पर हम पहुँचते हैं वह चरम सत्य अथवा वास्तविकता के स्वरूप सम्बन्धी समग्र तत्वमीमांसीय दर्शन के लिये महानतम महत्व का है। यदि श्री ब्रैडले जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह ठीक है तो स्पष्ट हो जाता है कि अथ से इति तक सम्बन्धों पर आधारित विधेयात्मक-योजना-प्रधान हमारी तर्कना प्रणाली कभी भी हमें एक और अनेक के संयोग के स्वरूप का पर्याप्त अन्तदर्शन नहीं करा सकती। अतः हमें यही नतीजा निकालना पड़ता है कि सत् या वास्तव के वास्तविक शुद्ध रूप के दर्शन हमें वास्तविकता विषयक विचार में नहीं होते वल्कि अनुभूति की किसी ऐसी विधा में होते हैं जो हमें उद्देश्य के विधेय से विलगाव का अतिक्रमण करने की क्षमता प्रदान करती

---

१. ब्रैडले 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय ३। तुलना भी कीजिए अध्याय १५, 'थॉट एण्ड रीयालिटी।'

है और इसी कारण अधितर्कनीय होती है। अतएव ऐसे पारस्परिक रहस्यवाद के साथ थोड़ी बहुत सहानुभूति होना हमारे लिये स्वाभाविक हो जाता है। जिसने उद्देश्य के विधेय से विलगाव का अतिक्रमण करने को सदा ही दैवत्व की अनुभूति प्राप्त करने को विशिष्ट विधि का मूलमंत्र बना रखा है। दूसरी ओर यदि सामान्य ज्ञान संवन्धिनी तार्किक अथवा युक्तिसंगत योजना की प्रतिरिक्षा यह कह कर की जाए कि वह तथ्य दर्शन की एक आत्मसंगत विधि है तो निरपेक्ष अनुभूति को हमारे अपने बौद्धिक जीवन के पद क्रम में अर्थान्तरित करने की जितनी छूट रहस्यवाद हमें देता है उससे कहीं अत्यधिक पूर्णतया व्यक्त करने की क्षमता की सुविधा हमें प्राप्त हो सकेगी।

तब श्री ब्रैडले द्वारा सूचीकृत रहस्यवादीय प्रबल आपत्ति के सामने संबन्धगत गुण व्यवस्था के रूप में विश्व की अभिव्यक्ति का पृष्ठपोषण क्यों कर दिया जा सकता है? और ऐसे पृष्ठपोषण की अर्हता भी क्या है? प्रत्युत्तर में तर्क की ऐसी दो संभाव्य दिशायें सामने आती हैं जिन्हें परीक्षार्थ पर्याप्त रूप से युक्तिसंगत कहा जा सकता है। (१) उपर्युक्त आपत्ति की धार जिस हद तक वह अनिश्चित पश्चाद्गामिता की असन्तोषप्रदता पर निर्भर है कुंठित की जा सकती है यदि हम सभी संम्बन्धों को बाह्य मान सकें यानी उसे ऐसे सम्बन्ध मान सकें जिनके कारण संबद्ध गुणों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह बात दृढ़तापूर्वक कही गई है कि कुछ सम्बन्ध बाह्य ही होते हैं उदाहरणतः स्थितपरक सम्बन्ध तथा संवेदना या संज्ञानपरक संवन्ध यदि उक्त शब्दार्थ का ग्रहण उसके ज्यामितिक अर्थ में किया जाय। (जैसे सीधे हाथ के और उल्टे हाथ के दस्तानों का विभेद।) तब अन्ततोगत्वा यही वात सभी सम्बन्धों के विषय में भी क्यों नहीं काम आ सकती? लेकिन अगर सभी सम्बन्ध बाह्य हों तो हम फिर यह न कह सकेंगे कि समस्त सम्बद्ध पदों में आधारभूत परस्पर अन्तर्गत अन्य सम्बन्ध होना भी आवश्यक है और यह कि उन पदों का प्रथम सम्बन्धजन्य परिणाम होना भी जरूरी है और इसलिए समग्र सम्बन्ध विरोधी मामला खत्म हो जाता है।

किन्तु इस प्रकार का अभिमत घातक त्रुटियों से परिपूर्ण प्रतीत होता है। क्योंकि। (अ) कम से कम यह समझना तो कठिन ही लगता है कि कोई सम्बन्ध अपने पदों या उपसर्गों से बाह्य कैसे हो सकता है। क्योंकि आप किन्ही दो पदों को किसी भी प्रकार के किसी भी सम्बन्ध में, उन दोनों के बीच विभेद किए बिना बाँध नहीं सकते। इसीलिए विभेद अथवा चिन्हारविषयक सम्बन्ध सभी सम्बन्धों का मूल है। लेकिन जहाँ विभेद कर सकते हैं वहाँ विभक्त पदों में किसी प्रकार की कोई भिन्नता पहले से ही वर्तमान होना आवश्यक है जिससे विभेद कर सकने का आधार हमें मिल जाता है। उसी की हम चिन्हार कर सकते हैं जो पहले से ही विशिष्ट गुणोपेत होता

है। और इस बात को स्वीकार कर लेने पर अनिर्धारित पश्चाद्गमन के लिये द्वार खुल जाता है।

(ब) यदि ऐसा न भी हो तो यह भी अविचार्य मालूम होता है कि समग्र सम्बन्ध अन्ततः आत्म-पद-बाह्य हों। यदि अंततः किसी सम्बन्ध के कारण उसके पदों में कोई भिन्नता नहीं आती और इस प्रकार वह उन पदों के स्वरूप में आधारित नहीं होता तो वह एक जाग्रत आश्चर्य इस तथ्य का बन जाता है कि पद इस प्रकार के सम्बन्धों में कैसे और क्यों कर व्यापृत हों जिनके प्रति वे सकल काल एकदम उदासीन रहे हों। इस प्रकार के अभिमत का तर्कसंगत परिणाम तब निश्चय ही यही होगा कि सब सम्बन्धों को विशुद्ध भ्रम मात्र कहकर विसृष्ट कर दिया जाय और वास्तविक अस्तित्व को ऐसे असम्बद्ध विभ्राट में विघटित कर दिया जाय जिसे किसी अप्रतर्क्य बौद्धिक विपर्यास के कारण हम एक व्यवस्था के रूप में जबर्दस्ती मानते चले आते हैं। इन दिशाओं के आधार पर एक वस्तुवादी सिद्धान्त को खड़ा करने के हर्बर्ट के द्वारा किये गये प्रयत्न की जगजाहिर असफलता, इसी भाँति के किसी अन्य भावी सिद्धान्त की सफलता के लिए एक अपशकुन ही प्रतीत होता है।

(२) 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' (प्रथम क्रम) नामक पुस्तक के अनुषंगी अपने निबन्ध में प्रोफेसर रॉयस ने विचार की जिस दिशा का सुझाव दिया है वह कहीं अत्यधिक अन्तर्वर्तिनी है। प्रोफेसर रॉयस अनिर्धारित पश्चाद्गमन को सम्बन्धगत पदों के रूप में विश्व के विघटन का अनिवार्य फल या परिणाम तो मानते हैं पर वे यह मानने को तैयार नहीं कि उस पश्चाद्गमिता से विघटन की समांगता पर कोई असर पड़ता है। इसके विपरीत, वे उसे उस अस्तित्व के जो उसका उद्भावक है अर्थ निर्वचन की ध्रुव सत्यता का प्रमाण मानते हैं। उनकी तर्कना जो अनन्त क्रम शृंखलाओं के आधुनिक सिद्धांत पर आधारित है, संक्षेप में इस प्रकार है:—अनन्त क्रम शृंखला का यह एक उरीकृत लक्षण है कि (जो अन्य किसी क्रम शृंखला में नहीं पाया जाता) उसका अपना अंश या भाग उसका पर्याप्त प्रतिनिधित्व कर सकता है। अथवा यों कहिए कि आप चाहे जिस अनन्त शृंखला को ले लें, आप उससे एक अन्य ऐसी दूसरी शृंखला का निर्माण सदा ही कर सकते हैं कि जो चयन से बनी हो, हाँ केवल चयन द्वारा ही और वह चयन भी पहली शृंखला के पदों से ही किया गया होगा तथा दूसरी शृंखला की प्रत्येक कड़ी या पद एक निर्धारित नियमानुसार प्रथम शृंखला की तदनुरूपी कड़ी से ही उद्भूत और तत्सदृश होगी, तथा यह दूसरी शृंखला, जैसा कि आसानी से साबित किया जा सकता है, स्वयं अनन्त होगी और इसीलिए एक तीसरी शृंखला द्वारा जो कि उस द्वितीय शृंखला से ही उद्भावित उसी प्रकार होगी जिस प्रकार की द्वितीय शृंखला प्रथम शृंखला से हुई थी, उक्त द्वितीय शृंखला का पर्याप्त

प्रतिनिध्य हो सकेगा तथा यह क्रम अबाध रूप से जारी रह सकता है।

उदाहरण के लिए मान लें कि पहली अनन्त श्रृंखला सहज प्रथमांकों १, २, ३, ४. . .आदि से मिलकर बनी है तब उदाहरणार्थ यदि हम इन अंकों की द्वितीय शक्ति युक्त अंकों $१^{२}$, $२^{३}$, $३^{२}$, $४^{२}$,. . . से द्वितीय अनन्त श्रृंखला बना डालें तब स्पष्ट ही दीखेगा कि इस दूसरी श्रृंखला या श्रेणी के समस्त पद प्रथम श्रेणी या श्रृंखला के पदों से एक निर्धारित नियम के अनुसार ही उद्भावित हुए हैं तथा वे उनके तदनुरूपी हैं साथ ही साथ प्रथम श्रृंखला से चयित है। उनमें से प्रत्येक पद प्रथम श्रृंखला का ही पद है लेकिन कुछ ऐसे पद भी हैं जो द्वितीय श्रृंखला में पुनरावृत्त नहीं हुए हैं। अब अगर हम एक तीसरी श्रृंखला दूसरी श्रृंखला से उसी प्रकार से लें जिस प्रकार द्वितीय श्रृंखला प्रथम से ली गयी थी और उसे $(१^{२})^{२}$, $(२^{२})^{२}$, $(३^{२})^{२}$, $(४^{२})^{२}$ आदि रूप दें तो इस तृतीय श्रृंखला के पद भी उपर्युक्त सभी शर्तें पूरी करते हैं। वे द्वितीय श्रृंखला के पदों का अनुरूपण एक निर्धारित नियमानुसार करते हैं और स्वयं पदों से चयित है। और इस प्रकार हम उत्तरोत्तरवर्तिनी ऐसी अनन्त श्रृंखलायें अनन्त बार बनाते चले जा सकते हैं जिनमें से प्रत्येक पूर्वगामिनी की श्रृंखला की 'पर्याप्त प्रतिनिधि' है। और इस प्रकार हम अपनी मौलिक अनन्त श्रृंखला तथा तदुद्भूत श्रृंखलाओं के बीच आनुरूप्य के एकल निर्धारित सिद्धांत या नियम का सांगत्य स्थापित करने के अपने प्रयत्न द्वारा ही इस अनिर्धारित पश्चादगामित्व तक आ पहुँचते हैं। अपने उदाहरण $१^{२}$, $२^{२}$, $३^{२}$, $४^{२}$, . . . में प्रथम उद्भावित श्रृंखला का निर्माण करते हुए ही हम आवश्यकतया $(१^{२})^{२}$, $(२^{२})^{२}$, $(३^{२})^{२}$, $(४^{२})^{२}$. . .तथा तदनुवर्ती अन्य उद्भावित भी श्रृंखलायें बना डालते हैं इसीलिए प्रोफेसर रॉयस दावा करते हैं कि किसी भी अनन्त समग्र के पदों का क्रमबद्ध निर्धारण करने का कोई संगत प्रयत्न अवश्य ही अपनी पुनरावृत्ति कराता रहेगा। अतः चूँकि प्रत्येक सम्बन्ध के प्रत्येक पद के विश्लेषण से यही सिद्ध होता है कि वह खुद भी सम्बद्ध पदों से निर्मित होता है, कोई वैध एतराज इस तरह का नहीं उठाया जा सकता है कि अर्थनिर्वचन का हमारा सिद्धांत सही नहीं है। वह तथ्य आवश्यक रूप से वास्तविकता या सत की अनन्तता का ही फल या परिणाम है।[1] किसी अनन्त समग्र को क्रमिक पद व्यवस्था रूप में प्रदर्शित करने का कोई प्रयत्न अवश्य ही हमें अनिश्चित पश्चाद्गामित्व की ओर ले जायगा।

---

१. जो पाठक प्रो० रॉयस के सिद्धांत के आधारभूत अंकिक सिद्धांत विषयक अनुसंधानों का और भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों वे डेडेकिण्ड लिखित 'वाज सिंद अंड वाज सालेन डाइ जाह्लेन', तथा कॉतुरत लिखित 'एल. इनफिनी मैथमैटीक' के अनुशीलन से लाभ उठा सकते हैं ।

इससे तुरन्त पता लगता है कि प्रोफेसर रॉयस द्वारा प्राप्त निष्कर्ष जरूरत से ज्यादा बात साबित करने का खतरा उठा रहा है। तथ्यों का उपयोग करने की किसी विधि को सही प्रमाणित करने के लिए निश्चय ही आपको यह दिखाना जरूरी नहीं कि वह हमें अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर ले जाती है। सभी जानते हैं कि झूठा आदमी अपने पहले झूठ की पुष्टि के लिए दूसरा झूठ जरूर ही बोलता है और उसके अनुमोदन के लिए तीसरा और इस सिलसिले का अन्त ही नहीं हो पाता। इसी तरह आप एक क्वार्ट शराब को एक पाइन्ट वाले बर्तन में तब तक नहीं भर पाते जब तक कि पहले आधे क्वार्ट द्रव को आधी जगह में न रख दें और यह सिलसिला यों ही अनन्तवार तक चलता रहता है। लेकिन इन बातों से यह साबित नहीं होता कि झूठ बोलना या क्वार्ट भर शराबों को पाइन्ट भर के बर्तनों में भरना वास्तविकता का उपयोग करने का संगत तरीका है। कार्यान्वयनगत उद्देश्य सम्भवतः हमें अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर ले जा सकता है क्योंकि यह आत्मव्याघाती है और इसीलिए आत्म पराजक जैसाकि उपर्युक्त उदाहरणों से ध्वनित होता है। और इसी से सवाल उठता है कि क्या इसी कारण से, कि किसी सत्य समग्र को पदों का अनुक्रम मानकर चलना उसके वास्तविक स्वरूप से मेल नहीं खाता, किसी अनिर्धारित या अनन्त समग्र को पदों की आनुक्रमिक व्यवस्था में लगाने का उद्देश्य हमें कहीं अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर तो न ले जायगी, लेकि कम से कम इतना तो पूछना उचित ही है कि प्रोफेसर रॉयस ने स्वयं जिस प्रकार इस विषय का प्रतिपादन किया है। उससे यह पता नहीं चलता कि बात ठीक उपर्युक्त प्रकार की है।[1]

शुरू करने से पहले कुछ महत्त्व की एक बात जिसके सम्बन्ध में प्रोफेसर रॉयस

---

१. **इंगलैण्ड के धरातल के एक भाग पर ही उस देश का एक मानचित्र तैयार करने की प्रो० रॉयस की योजना का उनके द्वारा स्वयं कार्यान्वयन ही आत्मव्याघाती उद्देश्य का एक उपलक्षक उदाहरण प्रस्तुत करता है। उनका कहना था कि इस प्रकार के मानचित्र में उसे सिद्धांततः पूर्ण शुद्ध बनाने के लिए, मानचित्रित देश भाग की अपनी विघटित प्रतिकृति का शामिल होना जरूरी है और उस प्रतिकृति में दूसरी प्रतिकृति का और उसमें फिर दूसरी प्रतिकृति की प्रतिकृति का अनन्तवार। किन्तु इस तर्कना का समग्र प्राबल्य इंगलैण्ड के उस धरातल के जो इस मानचित्र के निर्माण से पहले था तथा उस धरातल में जो इस मानचित्र की समुपस्थिति के कारण बदल गया बीच के विभेद की उपेक्षा करने पर ही निर्भर है। प्रोफेसर रॉयस पहले से ही मान लेते हैं कि आप उस मानचित्र में ऐसी वस्तुस्थिति का प्रातिनिध्य करने चल देते हैं जिसका वास्तविक अस्तित्व तब तक**

की शब्दावली संदिग्ध-सी है यहाँ नोट कर लें। उन्होंने उन अनन्त अनुवर्तिती अनन्त शृंखलाओं का जो स्वाभाविक या प्रकृत अंकों का 'प्रातिनिध्य' कराने के एकल उद्देश्य से, उन्हीं अंकों में से चयन द्वारा उद्भूत होती हैं, इस प्रकार से जिक्र किया है मानों इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनका निर्माण वस्तुतः किया जा सकता हो। लेकिन साफ जाहिर है कि बात ऐसी नहीं है। आप जो कुछ वास्तव में कर सकते हैं वह केवल इतनी ही कि आप लक्ष्यार्थमात्रपूर्वक उन शृंखलाओं के निर्माण हेतु एक नियम प्रस्तुत कर दें और इस प्रकार उन विभिन्न शृंखलाओं का निर्माण कर दें। शृंखलाओं की वास्तविक या कार्यान्वित निर्मित आत्मपराजक और इसी कारण आन्तरिक रूप से व्याघाती उद्देश्य का एक उपलक्षक उदाहरण होगी क्योंकि उसमें एक कभी अन्त न होने वाली प्रक्रिया की वास्तविक परिपूर्ति अन्तर्हित होगी। अतः हम ऐसा विभेद जिसकी उपेक्षा प्रो० रॉयस ने अनुचित रूप से कर डाली है, करने को बाध्य से हुए प्रतीत होते हैं। यदि आंकिक शृंखला के एक निश्चित योजनानुसार क्रमबद्ध करने में आपका उद्देश्य अनुवर्तिनी शृंखलाओं के पदों की कितनी भी संख्यायें प्राप्त करने के लिए एक नियम बना डालने से अधिक कुछ नहीं है तो उस प्रयोजन का क्रियान्वयन संभव है और उसमें अनिर्धारित प्रतिगामिता सम्मिलित नहीं होती, लेकिन अगर उसका अभिप्राय शृंखला निर्माण की प्रक्रिया का वस्तुतः परिपूरण है तो निश्चय ही अनिर्धारित प्रतिगामिता उसमें शामिल रहेगी और वह प्रक्रिया आत्म-व्याघातिनी होगी तथा क्रियात्मक रूप से कभी सिद्ध न हो सकेगी। एतदनुसार ही हम सम्बन्धगत गुणों की योजना के बारे में भी कह सकते हैं कि अगर उस योजना का अभिप्राय परिमित वस्तु को संगठित करके उसे क्रमबद्ध कर देना मात्र ही हो उसमें अपरिमित या अनन्त प्रक्रिया की पूर्ति शामिल नहीं होती और वह प्रक्रिया कार्यान्वियन योग्य तथा उपयोगिनी होती है किन्तु यदि उसे ऐसे वर्णन या विवरण के रूप में प्रस्तुत किया जाय जो कि उस तरीके या विधि का वर्णन हो जिसके अनुसार समग्र वास्तविकता की परिपूरित सर्वानुषंगिनी तथा पूर्णतः

नहीं हो सकता जब तक कि मानचित्र तैयार नहीं हो जाता। मानचित्र की एक विशिष्ट बिन्दु पर पहले से ही अवस्थिति, एक ऐसी असत्य शर्त है जिसका अनुसरण मानचित्र बनानेवाले के लिए आवश्यक है। अतः 'मानचित्रान्तर्गत मानचित्रों' से प्रत्येक मानचित्र में उसे जिले का भ्रामक प्रतिनिध्य तथा विरूपण शामिल होना जिसे वह चित्रित करता है, शामिल रहता है। ऐसा करना ठीक वैसा ही है जैसे 'हैमलेट' नाटक के हैमलेट का 'नाटकान्तर्गत नाटक' के विषय रूप हैमलेट को ही ग्रहण करना। इस प्रकार प्रोफेसर रॉयस द्वारा प्रस्तुत उदाहरण उनके सिद्धांत की न्याय्यता सिद्ध नहीं करता।

एकतान अनुभूति आन्तरिकतया संगठित हुआ करती है तो उसमें अपरिमित या अनिर्धारित प्रक्रिया की पूर्ति शामिल रहती है और इसीलिए वह आत्म व्याघातिनी तथा अन्तिमतः अपर्याप्त हुआ करती है।[1]

उपयुक्त विमर्श द्वारा एक ऐसी अन्य विचारणा तक पहुँचा जा सकता है जो विषय के हृदय तक पहुँचाती-सी प्रतीत होती है। वे अनुसन्धान जिन पर प्रो० रॉयस की साम्बन्धिक-योजना विषयक प्रतिरक्षा आधारित है, पहिले पहल आंकिक श्रृंखला की सार्थकता विषयक खोज ही थे। तदनुसार वे अनुसंधान परस्पर[2] या अन्योन्य बाह्य खण्डों के समग्र की क्रम व्यवस्था की परिकल्पना को अपनी खोज का उद्देश्य मानकर प्रारम्भ होते हैं। फलतः जहाँ ये अनुसन्धान उच्चतम दार्शनिक महत्व के इस लिए होते हैं। क्योंकि उनके द्वारा इस परिकल्पना के लक्ष्यार्थ सामने आ जाते हैं, वहाँ चरम सत् या वास्तविकता के विश्लेषण के रूप में ही वैध होते हैं जबकि समग्र और खंड की परिकल्पना उस विधि की जिसके अनुसार वास्तविकता का समग्र अपने उपादानों में और उपादान उसमें ओतप्रोत वर्तमान रहते हैं पर्याप्त अभिव्यक्ति हो। किन्तु जैसाकि हमने स्वयं एक विगत अध्याय में कहा था, यदि खण्डों के किसी समग्र की परिकल्पना, निरपेक्ष अनुभूति[3] और परिमित अनुभूतियों के बीच के भेद को व्यक्त कर सकने में एकदम असमर्थ हो तो इस बात का प्रमाण देना कि अनिर्धारित प्रक्रिया तर्कसंगत रूप

---

१. प्रोफेसर रॉयस की तर्कना का मौलिक दोष मुझे तो यही लगता है कि वे अपरिमित या अनिर्धारित श्रृंखलाविषयक विचार करते-करते चुपचाप एक अपरिमित पूर्ण योग विषयक विचार की ओर संक्रमित हो जाते हैं अतएव वे मौलिक अंकों की श्रृंखला को ईश्वर के मानस के सन्मुख एक ही काल में समग्र रूप से प्रस्तुत रहने का जिक्र करने लगते हैं। लेकिन मौलिक अंक अथवा कोई अन्य अपरिमित या अनिर्धारित श्रृंखला क्या वास्तव में कभी योग है भी? किसी भी मौलिक अंक के विषय में वर्तमान सामान्य सत्यों के आधार पर, वे अंक निश्चय ही योग नहीं कहे जा सकते।

२. उदाहरणार्थ देखिये, देदे किण्ड गत अनुच्छेद २ के नीचे दिया उद्धरण। 'ऐसा अनेक बार होता है कि अ ब स··· आदि विभिन्न वस्तुएं किसी भी अवसर पर एक ही सर्वसामान्य दृष्टिकोण द्वारा गृहीत होकर मानस द्वारा एकत्र कर दी जाती हैं और तब कहा जाता है कि उनसे एक क्रम व्यवस्था निर्मित होती है, अ, ब, स, वस्तुओं को उस··· व्यवस्था का तत्व या उपादान कहा जाता है' तथा अनुच्छेद ३ के अन्तर्गत दी गयी समग्र और खण्ड की परिभाषा से।

३. देखिए विगत खण्ड २, द्वितीय अध्याय २–५।

से समग्र, और खण्डों के सम्बन्ध में अन्तर्हित रहती है, सिद्ध नहीं करता कि वह चरम वास्तविकता या सत् की संरचना से सम्बद्ध है। बल्कि हमें यह बताने की उत्सुकता होगी कि इस तथ्य से कि साम्बन्धिक योजना हमें अनिश्चित अथवा अनिर्धारित प्रक्रिया की ओर ले जाती है। सिद्ध होता है कि समग्र और खण्ड की वह परिकल्पना जिस पर यह आधारित है पूरित अनुभूति तथा उसके उपकरणों या अंगों के मध्यगत संयोजन की विधि का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। और इसीलिये इस संयोजन का आंकिक श्रृंखला के शब्दों या पदों द्वारा अर्थनिर्वचन करने का प्रयत्न आलोचना निकष पर कसा नहीं जा सकता।

साथ ही साथ, प्रोफेसर रॉयस की तर्कना से, प्रत्येक दशा में, सम्बन्ध-विषयक समस्या पर पर्याप्त प्रकाश तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे प्रकट होता है कि सम्बन्धगत गुणों की क्रम व्यवस्था के रूप में विश्व की रचना करने का प्रयत्न हमें अनिर्धारित प्रतिगामिता की ओर क्यों घसीट ले जाता है। एक ही थपेड़े में समग्र अस्तित्व को आत्मसात कर लेनेवाली पूर्ण अनुभूति के लिए इस प्रकार की रचना, जैसाकि हम देख चुके हैं, सारतः अपूर्ण होने के कारण, असम्भव होगी। लेकिन जब हम अपनी खण्डानुभूति के दत्तों को सम्बद्ध समग्र रूप में खण्डशः एकत्र करने का प्रयत्न करने लगते हैं तो हमें न्यूनाधिक विच्छिन्न या एकाकी तथ्यों को स्थिर पद मान कर ही अपना कार्य प्रारंभ करना तथा किसी सम्बन्ध द्वारा उन्हें परस्पर संधानित करना अनिवार्य होता है। ऐसा करते समय हमें अपने दृष्टि बिन्दु को उसी स्थान पर जमाना आवश्यक होता है जहाँ से आंकिक श्रृंखला उद्गत होती हैं। अपहार्य रूप से हम अस्तित्व को ऐसा समझा करते हैं मानों वह अन्योन्य बाह्य खण्डों का समग्र हो। और इसीलिए अंक व्यवस्था के स्वरूप में अन्तर्हित अनिश्चित प्रतिगामिता अस्तित्व सम्बन्धी हमारी समस्त प्रवचनात्मक तथा सम्बन्धात्मक विचारणा में परेड कराया करती है। लेकिन उस प्रतिगामिता की उपस्थिति का॰ कारण होती है वास्तविकता विषयक कल्पना की वह अपर्याप्तता जिसके आधार पर हमारी तर्कनात्मक विचारणा को काम करना होता है।

तब समग्रतः ऐसा लगता है कि प्रोफेसर रॉयस के अनुसन्धान इस बात को पहले से कहीं और भी ज्यादा प्रकट कर देते हैं कि तर्कनात्मक विचारणा जिस साम्बन्धिक योजना का उपयोग करती है वह वास्तव के सही रूप को पर्याप्ततया व्यक्त नहीं करती और यह भी कि सभी युगों के रहस्यवादियों का कथन इस हद तक सही ही था कि हमारी अनुभूति का वह रूप जो निरपेक्ष की अनुभूति का सत्यतम साम्यानुमान प्रस्तुत करता है अवश्य ही अधिसाम्बन्धिक होना चाहिए अथवा दूसरे शब्दों में परिमित अनुभूति का वास्तविकतम उपलक्षक वही हो सकता है जो उद्देश्य और विधेय के विभेद का

अतिक्रमण कर जाय। लेकिन इस बात को स्वीकार कर लेने का मतलब यह स्वीकार कर लेना नहीं कि हम इस बात से एकदम अनभिज्ञ हैं कि एक और अनेक वास्तविकता में मिल कैसे जाते हैं क्योंकि तर्कनात्मक और साम्बन्धिक बुद्धि द्वारा अभिभावित मानव अनुभूति के अतिरिक्त और बहुत सी अन्य प्रकार की मानव अनुभूतियाँ भी हुआ करती हैं।

अव्यवहृत सरल अनुभूति में, स्पष्टतः चैतन्य अनुभूति का एक ऐसा उपलक्षक मौजूद रहता है जिसमें वैशिष्ट्य और संबंध का तब तक आविर्भाव नहीं हुआ होता। खंड १, अध्याय २ में हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया किसी सौन्दर्यपरक समग्र के, प्रशिक्षित कलाकार द्वारा किए गए प्रत्यक्षण से प्राप्त प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान में, उच्चस्तर पर किस प्रकार हमें उस अनुभूति की प्राप्ति होती है जिसमें वैशिष्टच और संबंधविषयक विशद प्रक्रिया के परिणाम सम्मिलित रहते हैं तथा इस ढंग पर शामिल रहते हैं कि जो साम्बन्धिक प्रारूप का अतिक्रमण करके अपनी आनुदिक्ता के कारण अव्यवहृत संवेदनात्मक एकत्व में प्रत्यावृत हो जाती है। फिर जहाँ वैयक्तिक प्रेम में, जो अन्योन्यी अन्तर्दृष्टि के आधार पर एक है, अनुभूति का वह रूप हमें मिलता है जिसे यदि बौद्धिक भाषा द्वारा व्यक्त किया जाय तो उसके वर्णनार्थ दुनिया भर के सम्बन्धों और विधेयों की जरूरत पड़ सकती है और जो अनुभूत रूप में फिर भी एक ऐसी घनिष्ठ एकता बनी रहती है जिसकी अस्पष्ट झलक मात्र ही प्रत्येक साम्बन्धिक योजना मुश्किल से प्रस्तुत कर पाती है। और यह एक विचारणीय बात है कि सभी युगों की धार्मिक भावना ने अनन्त और सान्त अपरिमित और परिमित के पारस्परिक समागम की श्रेष्ठतम विधि को प्रकट करनेवाले 'भगवद्‌दर्शन', 'भगवद्‌भक्ति' आदि चहेते शब्द अनुभूति के इन्हीं रूपों से उधार लिये हैं।

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है मानों बुद्धि मात्र का काम अव्यवहृत बोध के निम्नतर और उच्चतर स्तरों के बीच एक आवश्यक तथा कीमती बिचवानिया का ही काम सदा से रहा है। वह सम्बधो और वैशिष्टचों का आविर्भाव करके, सरल संवेदना के किं और तत के मौलिक संयोग को विच्छिन्न कर देती है और किं को, जिसका उपयोग वह उसके एकाकित्व में करती है, सदा की अपेक्षा कहीं और भी अधिक जटिल बना डालती है। किन्तु प्रकिया के चरम वादविन्दु तथा उसके चरम उद्देश्य की सिद्धि तक हम तब ही पहुँच पाते हैं जब वह मानसिक विकास को उच्चतर स्थिति में हमें अपने तत और किं की अव्यवहृत एकता के सम्पन्नतर तथा अधिकतर व्यापक समग्र के प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान की ओर ले जाती है। केवल रहस्यवादी का बुद्धि मात्र के कार्य को मानव अनुभूति का उच्चतम और सत्यतम उपसाक्षक मानने से इनकार करना, इतना बड़ा बाधक दार्शनिक पाप नहीं जितनी कि अव्यवहृति के ऐसे उच्चतर रूपों

की ओर, जिनमें बौद्धिक विचारणा का कार्य सुरक्षित रहता है यद्यपि उसका रूप अतिक्रान्त हो जाता है, प्रत्यावृत्त होने के बजाय उसके ऐसे निम्नतर रूपों की ओर जिन पर बौद्धिक विचारणा अपना कार्य नहीं किया है, प्रत्यावृत्त होकर किं के साथ तत् के पूर्णतर संयोजन की माँग पूरी करने की उसकी प्रवृत्ति ।

उपर्युक्त विमर्श इस आक्षेप के निराकरण के लिए पर्याप्त होगा कि साम्बन्धिक योजना को तब अस्वीकार करके जब उसे चरम सत्य कहकर पेश किया गया हो, माने यही है कि उस योजना द्वारा हम जो कुछ वैज्ञानिक कार्य करते हैं उसके मूल्य तथा महत्व से आपको इनकार है। यद्यपि सम्बन्धों विषयक योजना परिमित और अपरिमित की संयोजन विधि को पर्याप्त: व्यक्त नहीं कर पाती तो भी उससे उस सम्बन्ध विषयक योजना में जिसके द्वारा वैज्ञानिक विश्लेषण अनुभूति के वास्तविक जगत को अनूदित किया करता है, ऐसी कोई अभिवृद्धि नहीं होती, जो वास्तव जगत् में क्या-क्या होना चाहिए एतद्विषयक हमारे ज्ञान को बढ़ाती न हो भले ही वह वृद्धि यह न बता सके कि वह सब उस जगत में मौजूद कैसे हैं। और अन्त में परिणाम-स्वरूप यह स्मरणीय है कि केवल न धार्मिक रहस्यवादी की देव साक्षात विषयक विशिष्ट अनुभूति के विषय में ही अपितु सब प्रत्यक्ष अनुभूति के बारे में भी यह सही है कि सांबन्धिक योजना यह बता सकने में असमर्थ है कि अपने एकत्व और बहुलत्व के दोनों ही पहलुओं को, अपने 'तत' और अपने 'किं', को वह पूर्ण अन्तर्वेधन की अवस्था में कैसे बनाये रहती है । यत: कोई भी जीवित अनुभूति खण्डों का समग्र मात्र नहीं हुआ करती है । और इसी लिए समग्र और खण्ड विषयक परिकल्पना पर आधारित कोई योजना इस प्रकार की किसी भी अनुभूति का प्रातिनिध्य नहीं कर सकती ।[1]

---

१. यह कहना कि ज्यों ही बुद्धि वास्तविकता पर विचारविमर्श करने और उसका वर्णन करने का काम हाथ में लेना चाहती है त्यों ही उसे यह कार्य अपरिहार्य रूप से साम्बन्धिक शब्दों या पदों द्वारा ही करना पड़ता है, उपर्युक्त अभिमत का उत्तर देना नहीं कहा जा सकता । क्योंकि हमारा दावा है कि वही बुद्धि जो इन साम्बन्धिक विधियों का उपयोग करती है यह भी देखा करती है कि वे विधियाँ अपर्याप्त क्यों होती है और कम से कम, कुछ सीमा तक, वे अन्तिमत: उच्चतर प्रकार की अनुभूति में किस प्रकार लीन हो जाया करती हैं । इस प्रकार स्वयं तत्त्वमीमांसा में ही किया गया, बुद्धि का व्यवस्थित उपयोग हमें यह मानने लिए, प्रस्तुत करता है कि बुद्धि मात्र ही वास्तविकता का समग्र नहीं है । इससे भी अधिक विरोधाभासी शब्दों में कही जाने पर यही बात यो कहीं जा सकती है कि बुद्धितन्मात्र के लिए सत्य वास्त-

अनुशीलनार्थ इन्हें भी देखिए:—एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरैन्स एण्ड रीयालिटी' अध्याय १–३, १५, २७; एल० टी० हॉबहाउस, 'थियरी आफ नालैज', पृष्ठ १७२–१८१ (क्वालिटीज़ एण्ड रिलेशन्स), ५४०–५५७ (सबस्टैन्स); एच० लोत्से, 'मेटाफिजिक', खण्ड १, अध्याय १, 'दि बीइङ्ग आफ थिङ्गस', अध्याय २, (दि क्वालिटी आफ थिङ्गस), अध्याय ३, (दी रीयल एण्ड दी रीयालिटी); जे० रॉयस, 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' प्रथम शृंखला आनुसंगिक निबन्ध, बी० रसेल, 'दि कांन्सेप्ट आफ ऑडर', (माइण्ड, जनवरी १९०१) तथा 'पोजीशन इन स्पेस एण्ड टाइम' नामक उनका लेख (माइण्ड, जुलाई १९०१); जी० एफ० स्टाउट, 'अलजेड कन्ट्राडिक्शन्स इन दि कांन्सेप्ट आफ रिलेशन' (दि प्रोसीडिंग्स आफ दि अरिस्टोटलियन सोसायटी, न्यूसीरीज़, भाग २, पृष्ठ १–१४ अनुगत विमर्शसहित, पृष्ठ १५–२४) ।

अध्याय ४ का अनुपूरक नोट

सम्बन्ध विषयक परिकल्पना की श्री ब्रैडले द्वारा कृत आलोचना का, डाक्टर स्टाउट द्वारा दिया गया प्रत्युत्तर ।

पिछले अध्याय को लिख लेने के बाद मुझे डाक्टर स्टाउट के 'प्रोसीडिंग्स आफ दि अरिस्टोटलियन सोसायटी' के हाल के अंक में छपे लेख को पढ़ने का अवसर मिला । डाक्टर स्टाउट की आलोचना के परिणामस्वरूप अध्याय ४ के मूलपाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन करना मुझे आवश्यक नहीं लगा, किन्तु निम्नलिखित टिप्पणी जोड़ देने की आज्ञा प्रार्थनीय है यद्यपि उसे डाक्टर स्टाउट के अभिमत का सिलसिलेवार गुणावबोधन अथवा विवेचन न समझा जाय । उक्त अभिमत की परीक्षा अन्तिम रूप से तब तक नहीं की जा सकती, जैसा कि स्वयं डा० स्टाउट ने ही कहा है जब तक वें उक्त विधेयम सिद्धांत को पूर्ण नहीं कर लेते, जिसके लिए उनका उपर्युक्त लेख मार्ग प्रशस्त करता है ।

(१) डाक्टर स्टाउट ने अपने लेख में यह बात स्वीकार करते हुए ही प्रारंभ किया है कि जिसे मैं सम्बन्ध-विरोधी तर्कना का सार मानता हूँ, उन्होंने लिखा है 'न तो

विकता विषयक एक क्रमबद्ध व्यवस्थागत विचार का ही नाम है । किन्तु अन्ततः यह सब क्रम, समग्र और खण्ड के श्रेणी विभाजनयुक्त आंकिक शृंखला पर आधारित होता है और इसी लिए वह अधि-साम्बन्धिक वास्तविकता या सत् का परिपूर्णतः पर्याप्त प्रतिनिधि नहीं हो सकता । इसी लिए सत्य स्वयं अपने स्वरूप के कारण ही कभी भी वास्तविकता नहीं हो सकता ।

कोई सम्बन्ध न कोई साम्बन्धिक व्यवस्था कभी भी आत्मनिर्भर और आत्मपूर्ण वास्तविकता बना सकती है। सर्वसमावेशी विश्व अन्ततोगत्वा कभी भी 'अन्त: सम्बद्ध पदों का संग्रह' नहीं बन सकता (विगत उद्धरण पृष्ठ २)। और जब यह बात एक बार मान ली जाय तो मुझे उसके अपरिहार्य फलस्वरूप यह समझ ही लेना चाहिए कि 'अन्त:सम्बद्ध पदों का संग्रह' हमें किसी भी वस्तु के स्वरूप,के बारे में अन्तिम सत्य प्रदान नहीं कर सकता। जैसाकि मैं समझ सका हूँ और जैसा कि मैंने इस पुस्तक में स्थापित करने का प्रयत्न किया है, आदर्शवादी मत का सारा निचोड़ यही है कि समग्र की संरचना की उस समग्र के किसी भी और हर एक अंग या भाग में ऐसी पुनरावृत्त रहा करती है कि समग्र के विषय में जो भी सत्य नहीं होता वह किसी भी वस्तु के विषय में कभी अन्तिमेत्थ सत्य नहीं होता। ठीक इसलिए कि अन्ततोगत्वा कुछ भी समग्र से विलग नहीं होता और अपने अंगियों से विलग समग्र भी कुछ नहीं होता। मैं समझता था कि, यह सब हम सभी हेगल के लेखों से पहले से ही जानते हैं। इसीलिए डाक्टर स्टाउट की यह परेशानी में, कि सम्बन्धों पर जोर देनेवाली कोई भी प्रस्तावना तब तक असत्य होगा ही जब तक कि स्वयं चरम समग्र के विषय में परिपुष्टि होने तक कोई भी साम्बन्धिक योजना हमें सत्य प्रदान नहीं कर देती—कोई जोर नहीं दिखाई पड़ता। डाक्टर स्टाउट द्वारा स्वयं समुद्धित, ब्रैडले के साथ सहमत होकर मुझे कहना होगा कि यदि साम्बन्धिक योजना स्वयं ही आंतिरिक रूप से असंगत न हो तो, समग्र के विषय में उसकी उपयोजनात्मकता से इनकार करने की कोई वजह नहीं रहती।

(२) 'साम्बन्धिक एकत्व' के साथ एक तीसरे पद 'सम्बद्धता' को नत्थी करने का डाक्टर स्टाउट का प्रयत्न, हमारी समस्या में अन्तर्हित कठिनाइयों का निराकरण कर सकेगा ऐसा मुझे नहीं लगता। उसके समर्थन में उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह भी अप्रमाणिक-सा ही लगता है, उनकी तर्कना इस प्रकार है कि जब मेरी टोपी मेरे सिर पर होती है तो उस स्थिति में (१) दो सम्बद्ध पद टोपी और सिर अन्तर्हित होते हैं साथ ही साथ (२) 'पर' और 'नीचे' का सम्बन्ध और (३) उन पदों का सम्बद्धता अर्थात् यह तथ्य कि उपयुक्त दोनों पदों में अमुक सम्बन्ध है यह दोनों बातें भी। इनमें से (१) और (२) स्थितियाँ तब भी मौजूद रह सकती हैं जब कि टोपी मेरे सिर के बजाय खूटी पर होती और मेरा सिर नंगा होता। पर निश्चय ही 'ऊपर' और 'तले' 'तथा' 'पर' और 'नीचे' नामक संबंधों में गड़बड़ी यहाँ जरूर हो सकती है क्योंकि दोनों ही एक दूसरे से भिन्न हैं। 'पर' और 'नीचे' के सम्बन्ध में तात्कालिक या अव्यवहृत संपर्क सम्मिलित है जो 'ऊपर' और 'तले' के सम्बन्ध में व्यक्त नहीं होता। अब यदि (१) टोपी भी हो और 'सिर' भी तथा (२) 'पर' और 'नीचे' का उपर्युक्तार्थ सम्बन्ध भी उन दोनों के बीच हो तो सिर पर टोपी नामक ठोस कार्यरूपता की पूर्ति के

लिए किसी तीसरे कारक की जरूरत नहीं पड़ती। किन्तु जब 'टोपी सिर पर' कार्य-रूपत: न हो तब उपर्युक्त माना हुआ सम्बन्ध उनमें नहीं है, और यदि संबंध (२) उनमें है तो समग्र तथ्य वहाँ पहले से ही मौजूद है। संक्षेपतः, मुझे लगता है कि डाक्टर स्टाउट 'सम्बद्ध पहलुओं की प्रदर्शक वस्तुओं' विषयक ठोस तथ्य को ठीक उसी प्रकार, स्वयं एक उपादान रूप में गिन लेते हैं, जिस प्रकार लौकिक तर्कशास्त्र कभी कभी, वास्तविक निर्णय को संयोजक या 'कापुला' नाम से, अपने एक उपादान या कारक रूप में गिन लिया करता है।[1]

सम्बन्ध और सम्बद्धता विषयक तथ्य के उपर्युक्त विभेद के डाक्टर स्टाउट द्वारा किये गये उपयोग के जवाब में मेरी समझ में यह कहा जा सकता है कि वह विभेद हमें वहाँ ही छोड़ देता है जहाँ हम पहले थे। टोपी का विशेषण है सिर 'पर' होना और सिर का गुण या विशेषण है टोपी के नीचे या उसमें होना तथा टोपी और सिर का संयुक्त गुण है 'पर' और 'नीचे' के तन्मध्यवर्ती सम्बन्ध-विशिष्ट होना। किन्तु एक तथ्य के ये विभिन्न या विविध पहलू एक एकल संगत दृष्टि में कैसे मिलाये जा सकते हैं। इसके उत्तर के बारे में और अधिक कुछ भी नहीं जान पाते।

(३) **अन्तहीन प्रतिगामिता** :—मेरा ख्याल है कि पिछले अध्याय के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि स्वयं मेरे मतानुसार ही असली अन्तहीन प्रतिगामिता अपनी जनक अवधारणा की असत्यता की साक्षी होती है और यह कि मेरे उक्त अभिमत का आधार प्रतिपन्नतया गृहीत किसी अनिश्चित शृंखला का योग करने के लिए आत्मव्याघाती उद्देश्य या प्रयोजन का अन्तहीन प्रतिगामिता द्वारा किया गया पूर्वानुमान। इसीलिए अब तक जो कुछ मैं समझ सका हूँ इसी आधार पर मैं डाक्टर स्टाउट द्वारा किये गये आत्मव्याघातयुक्त और आत्मव्याघातमुक्त अन्तहीन प्रतिगामिताओं के विभेद से सहमत नहीं हो सका। द्वितीय प्रकार की अन्तहीन प्रतिगामिता के उदाहरण रूप से

---

१. अथवा क्या डॉ० स्टाउट का केवल यही कहना है कि हो सकता है कि एक टोपी हो और एक सिर और एक रिश्ता या सम्बन्ध भी 'ऊपर' और 'नीचे' का (उदाहरणतः टोपी और खूँटी के बीच) फिर भी मेरी टोपी मेरे सिर पर न हो, यदि उनका मतलब यही हो तो मेरा जवाब होगा कि ऐसी दशा में वास्तव में कोई 'सम्बन्ध' हमारे सामने नहीं है न 'पद' ही हमारे सामने है। अगर टोपी सिर पर नहीं है तब टोपी और सिर ऐसे पद नहीं हैं जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध है। मेरी समझ में नहीं आता कि डॉ० स्काउट अपने सिद्धांत के आधार पर ही क्यों एक चौथे तथ्य को अपने विश्लेषण के साथ नहीं जोड़ लेते, यानी वैशिष्टयवत्ता को अथवा गुण या विशिष्टताओं की सत्ता को तथा इसी प्रकार अनन्त बातों को।

(पृ० ११ पर) प्रस्तुत आकाश या अवकाश की अनन्त खण्डनीयता के विषय में मेरा ख्याल है कि इस मामले में कोई अन्तहीन प्रतिगामिता दरअसल तब तक नहीं हुआ करती जब तक कि आप अनिश्चित खण्डनीयता के स्थान पर अनिश्चित वास्तविक उपखण्डों की स्थापना नहीं कर देते और यह कि जब आप यह प्रतिस्थापना कर देते हैं तो तुरन्त ही उसके कारण आप कभी न समाप्त होने वाले काम के आत्मव्याघाती परिपूरण के लिए अपने आप को बाँध लेते हैं। (तुलना कीजिए—१० में अनिश्चित आंकिक शृंखला विषयक–१० के पूर्वोल्लेख के साथ)।

(४) डाक्टर स्टाउट इनकार ही किये जाते हैं कि साम्बन्धिक योजना में कोई अन्तहीन प्रतिगामिता, आत्मव्याघातिनी या अनात्मव्याघातिनी, शामिल होती है। उनके कथानुसार सम्बन्ध को उसके पदों से जो कुछ जोड़ता है वह कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं होता। (यदि हो तो निश्चय ही उससे अन्तहीन प्रतिगामिता उठ खड़ी होगी) अपितु वह उनकी सम्बद्धता ही है। जो 'सम्बन्ध और पदों दोनों ही का उभयनिष्ठ विशेषण है' (पृ० ११)। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि क्यों उपर्युक्त प्रश्न का यह हल मुझे उक्त समस्या की केवल पुनरावृत्ति-सी ही करता प्रतीत होता है। जहाँ तक मुझे सूझता है, सम्बद्धता एक ठोस तथ्य का नाम है जिसके दोहरे पहलू हैं उसके गुण और सम्बन्ध। मुझे समझ में नहीं आता कि तथ्य की ठोस एकता पर अड़ने से इन दोनों पहलुओं का सहयोजन क्यों कर अधिक बोधगम्य बनाया जा सकता है।

(५) डाक्टर स्टाउट अपने मत को और भी अधिक पुष्ट करने के लिए सतत संयोजन प्रकार के एक सिद्धांत पर जोर देते हैं लेकिन शायद मैं उसे समझ नहीं पा रहा हूँ। प्रतिपक्षी के इस संभाव्य आक्षेप की यदि 'सम्बद्धता' पदों को उनके सम्बन्ध के साथ संयोजित करती है तो शृंखला की एक दूसरी कड़ी भी होना चाहिए जो पदों को उनकी सम्बद्धता के साथ जोड़े, प्रतिकल्पना करते हुए प्रत्युत्तर रूप में डाक्टर स्टाउट कहते हैं, कि ऐसी कोई कड़ी नहीं होती न उसकी जरूरत ही है। क्योंकि दोनों का संयोजक सतत होता है और उसका आधार वह चरम सातत्य होता है जिसका पूर्वानुमान सभी साम्बन्धिक एकता किया करती है। (पृष्ठ १२, तु० की० पृ० २–४)। और जैसा उन्होंने पहले ही बताया है, 'जब तक यह सतत सह-योजन चलता रहता है तब तक उनके बीच और कुछ नहीं रहता। (अर्थात् सम्बद्ध पदों के) और इसीलिए कोई सम्बन्ध भी नहीं होता।'

लेकिन मुझे इस जगह पर एक व्याघात अन्तर्हित प्रतीत होता है। निश्चय ही सतत सहयोजन में विशिष्ट या विभिन्न किन्तु संयुक्त पदों का ऐसा अस्तित्व शामिल होता है जो शृंखला का निर्माण करता है। जहाँ इस प्रकार के विशिष्ट या भिन्न

पद नहीं होते वहाँ संयोज्य भी कुछ नहीं होता। जहाँ तक मैं समझा हूँ, कि श्रृंखला के किन्हीं दो पदों के बीच अन्तवर्ती अनेक संभाव्य पदों का सदा मौजूद रहना किसी भी सतत श्रृंखला का सहज या स्वाभाविक अंग ही हुआ करता है और इसी लिए किसी भी सतत श्रृंखला में कोई अव्यवहृत: निकटवर्ती पद नहीं हुआ करते। डाक्टर स्टाउट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से यह वात और भी स्पष्ट हो जाती है :—

ऊपर लिखे रेखाचित्र में बी० और बीटा को डाक्टर स्टाउट 'मध्यत: सह-संयुक्त' बताते हैं किन्तु ए और अल्फा 'अव्यवहृतत: सह-निकटवर्ती' है। निश्चय ही डाक्टर स्टाउट यहाँ भूल जाते हैं कि बुद्धिगम्यत: जिसे 'सह-निकटवर्ती' कहा जा सकता है वे पंक्तियाँ नहीं अपितु पंक्तियों पर वर्तमान 'बिन्दु' अथवा 'स्थितियाँ' हैं और अल्फा के किसी बिन्दु ए पर वर्तमान किसी बिन्दु के मध्य अन्तर्वर्ती स्थितियों का बाहुल्य वर्तमान है जो ए के सीमान्तिक सव्य विन्दु तथा अल्फा के सीमान्तिक दक्षिण बिन्दु की विशेष स्थिति से व्यतिरिक्त है। ये सभी एक बिन्दु एम पर निश्चय ही समाचयित हो जाते हैं और उस दशा में कोई भी माध्यिक अथवा अव्यवहृत सम्बन्ध शेष नहीं रहता।[1] उपर्युक्त उदाहरण डाक्टर स्टाउट के मत की एक

---

१. **अगर आप ए और अल्फा नामक पंक्तियों पर उसी प्रकार विचार करना चाहें जैसा कि डाक्टर स्टाउट ने किया है, तो मेरी राय में दो अभिमत संभव हो सकते हैं। (अ) यह कि दो पंक्तियाँ हैं ही नहीं पंक्ति केवल एक ही है और एम बिन्दु पर कहा गया जोड़ वैचारिक मात्र है। उस दशा में जोड़ने योग्य कुछ रहता ही नहीं और उस दशा में 'अव्यवहृत संयोजन' विषयक कोई सम्बन्ध उनमें नहीं होता। (ब) यह कि जोड़ को अगर असल चीज माना जाय तो आपके सामने एक पूर्णत: सामान्य सम्बन्ध का मामला होगा जिसके पद होंगी अन्तवती पंक्तियाँ 'ए' और 'अल्फा' और उनका सम्बन्ध होगा उन दोनों का एम बिन्दु पर स्पर्श। प्रत्येक आधार पर (अ) अभिमत मुझे सही मालूम देता है। लेकिन 'अव्यवहृत संयोजन' में विघटित सातत्य के अनुकूल नहीं पड़ता। अत: कठिनाई का स्रोत यह है कि (१) 'अव्यवहृत संयोजन' केवल किसी असतत श्रृंखला के अव्यवहृतत: अनुवर्ती पदों के बीच ही रह सकता है तो भी (२) उनके बीच ठीक इसी कारण स्थिर नहीं रह सकता कि वे असतत होती है।**

बड़ी कमी दर्शाने का काम कर सकता है। डाक्टर स्टाउट उस उदाहरण में पाते हैं कि सम्बन्ध ऐसी एकता का पूर्वानुमान कर लेते हैं जो अधि-साम्बन्धिक होती है और जिसे डा० स्टाउट ने उसके अधि-साम्बन्धिक स्वरूप के आधार पर 'सतत्' संज्ञा दी है। साथ ही साथ अन्तहीन प्रतिगामिता की ओर ले जाने के दोषारोपण से इस सम्बन्धिक योजना को बचाने की खातिर उन्हें अपनी इस अधि-साम्बन्धिक एकता को ही ऐसे सम्बन्ध का रूप दे देना पड़ा जिसे उन्हें निकटवर्ती पदों और अव्यवहत पदों के मध्यवर्ती सम्बन्ध से अभिहित करना पड़ा और उसे एक 'भग्नसातत्य' शृंखला के मौलिक स्वरूप का जामा पहनाना पड़ा है। मैं उनकी इस कार्यवाही को इस सिद्धांत की, कि वास्तविकता के समग्र के विषय में जो कुछ सत्य नहीं होता वह किसी भी वास्तविकता के विषय में अन्तिमतः सत्य नहीं होता।

अध्याय ५

वस्तु जगत (२) परिवर्तन और कारणता

१—वस्तुओं के अन्योन्य क्रियापरक होने की कल्पना परिवर्तन और कारणता की दो समस्याओं की ओर ले जाती है। इस तथ्य के कारण कि स्थायी ही परिवर्तित हो सकता है, परिवर्तन का विरोधाभासी स्वरूप। २—किसी अभिज्ञान या तादात्म्य के आन्तरिक अनुक्रमण को ही परिवर्तन कहते हैं; यह तादात्म्य, पादार्थिक तादात्म्य के समान ही उद्देश्यात्मक होता है अर्थात् उसका परिवर्तन, प्रक्रिया में ओत-प्रोत विन्यास अथवा उद्देश्य का तादात्म्य होना आवश्यक है। ३—इस प्रकार सभी प्रकार का परिवर्तन, आधार और परिणाम नामक उस तर्कशास्त्रीय श्रेणी विभाजन के अन्तर्गत आता है जो कालात्मक अनुक्रमण में उपनयित होने पर पर्याप्त तर्कना का सिद्धांत बन जाता है। ४—**कारणता,** कारण—आधुनिक लोक प्रचलित तथा वैज्ञानिक अर्थानुसार परिवर्तन का वह आधार होता है जो पूर्ववर्ती परिवर्तनों में पूर्णतया व्याप्त समझा जाता है। प्रत्येक परिवर्तन के आधार का पूर्ववर्ती परिवर्तनों में भी पूर्णतया ओत-प्रोत होना, न तो कोई स्वयंसिद्ध सूत्र है न अनुभवसिद्ध सत्य बल्कि हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओं द्वारा सुझायी गयी अभिधारणा ही है। ५—अन्तिमतः अभिधारणा सत्य नहीं हो सकती। घटनाओं के बीच की निर्भरता एकपक्षीय नहीं हो सकती। अभिधारणा के हमारे उपयोग की वास्तविक न्याय्यता उसके क्रियात्मक साफल्य में निहित होती है। ६—कारण की परिकल्पना का उद्गम देवादि में मानव रूपारोपणात्मक है। ७—कारणताविषयक भूलभुलैयाँ (१) **सातत्य**। कारणता का सतत होना जरूरी है। पर किन्तु किसी सतत प्रक्रिया में कारण का कार्य से कोई विभेद या वैशिष्टय नहीं हो सकता। कालानुसार कारण का कार्य का अग्रवर्ती होना आवश्यक है वह अग्रवर्ती हो नहीं सकता। ८—(२) **अनिश्चित प्रतिगामिता** कारणातागत। ९—(३) **कारण बाहुल्य** कारणों का बाहुल्य अन्तिमतः एक तार्किक व्याघात ही होता है किन्तु किसी भी ऐसे रूप में जहाँ कारणजन्य अभिधारणा क्रियात्मक रूप से उपयोगी हो, यह जरूरी है कि वह बाहुल्य को मान्य समझे। १०—कारणात्मक सम्बन्ध की 'आवश्यकता' मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिनिष्ठ। ११—अन्तःस्थ और इन्द्रियातीत कारणता, संगत बाहुल्यवाद के लिए इन्द्रियातीत कारणत्थ से इनकार आवश्यक; किन्तु सफलतापूर्वक इनकार कर सकना संभव नहीं।

१२—इन्द्रियातीत या अनुभवातीत तथा अन्तःस्थ दोनों ही प्रकार कारणतायें अन्ततोगत्वा आभास होती है ।

१—विश्वसंबंधी पूर्व-वैज्ञानिक मत के लक्षणों में से चौथा लक्षण जो हमें मिला था वह था यह विश्वास कि वस्तुएँ एक दूसरे पर क्रिया करती हैं और दूसरी वस्तुओं द्वारा उन पर क्रिया की जाती है । यह विश्वास जिन समस्याओं को जन्म देता है वे इतनी विशाल हैं और ऐतिहासिकतया तत्वमीमांसा के लिए इतने महत्व की हैं कि उन पर विचार करने के लिए एक पूरे अध्याय की जरूरत है । पूर्व वैज्ञानिक-कालीन सरल मानस द्वारा की गयी वस्तुओं का अन्तःक्रिया विषयक परिकल्पना में दो पहलू हमें विलग मालूम पड़ सकते हैं । (१) एक पहलू तो उस विश्वास का है जिसके अनुसार वस्तुएँ बदलती हैं, और यह कि किसी एक वस्तु के एकत्व के भीतर भी विभिन्न दशाओं का अनुक्रमण जारी रहता है । (२) दूसरा यह विश्वास कि विविध वस्तुओं की दशा के परिवर्तन ऐसे अन्तः संयुक्त रहते है कि एक वस्तु में हुए परिवर्तन दूसरी वस्तुओं में निश्चित परिवर्तनों के अवसर सिद्ध होते हैं । अतः पहले तो हमें परिवर्तन के उस सामान्य दृष्टिकोण पर जो वस्तुओं के अस्तित्व का अवियोज्य पहलू माना जाता है—विचार करना है और उसके बाद विभिन्न वस्तुओं के दशा परिवर्तनों के मध्यवर्ती व्यवस्थित अन्तः संयोग की परिकल्पना पर ।

(अ) **परिवर्तन**—अस्तित्व की प्रकटतः सतत परिवर्तनीयता, दर्शनशास्त्र की प्राचीनतम तथा निरन्तर वर्तमान समस्याओं में से एक अन्यतम समस्या है । यह प्रतीत हो सकता है कि विविध दशाओं की समयानुवर्ती प्रस्तुति स्वतः, तादृश प्रकार की ही दशाओं की युगपद प्रस्तुति की अपेक्षा, अनुभूति जगत के ध्यान देने योग्य लक्षणों में न तो कुछ अधिक न कम ध्यान देने योग्य लक्षण हैं । किन्तु हमारी वैयक्तिक आशाओं और आशंकाओं, आकांक्षाओं और निराशाओं के साथ वाहनरूप से सम्बद्ध होने के कारण मानव कल्पना के लिए उत्परिवर्तनीयता विषयक समस्या सदा से ही एक विशेष आकर्षण का कारण रहती आयी है । 'टेम्पोरा म्यूटेंटर नॉस एट म्यूटेमर इन इलिस' में वह रहस्य निहित है जिसके कारण हमारी दार्शनिक विचारधारा प्रारम्भ से ही आग्रहपूर्वक इस समस्या के चारों ओर चक्कर लगाती चली आ रही है। उपर्युक्त कथन में ही हमें, समग्र उत्परिवर्तनीयता में निहित इस केन्द्रिक विरोधाभास का कि केवल समरूपी और स्थायी ही परिवर्तित हो सकता है, सगर्भ सुझाव प्राप्त होता है । सो इस कारण कि जो स्वात्म कालान्तर से और परिस्थिति व्यवधान के साथ-साथ बदलता रहता है किसी हद तक वही पुराना स्वात्म होता है और उसके परिवर्तनों को ही हम हर्ष और विषाद की सामग्री से भी भरा-पूरा अनुभव करने लगते हैं । अपने स्वात्म के प्रत्येक अनुवर्ती परिवर्तन के साथ-साथ ही अगर हम भी एकदम

नवनिर्मित होते रहते तो अच्छे की ओर ढल जाने पर न तो हमें हर्ष का कोई कारण मिलता न कु-दशा-प्राप्ति पर विषाद का।

इस विचार ने कि जो कुछ स्थायी है केवल वही परिवर्तनीय होता है दर्शनशास्त्रीय इतिहास के विभिन्न युगों की दार्शनिक विचारधारा को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित किया है। यूनानी दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ काल में ही वह उन यूनानी भौतिक विज्ञानियों के लिए एक मार्गदर्शी सिद्धांत रहा, जो अनुवर्ती प्रपंचों के आभासी वैविध्य को एकल पैण्डिक वास्तविकता के रूपान्तरणों के रूप में देखने का प्रयत्न करते रहे। ज्यों-ज्यों इस प्रकार के रहस्यवादपरक एकत्ववाद में अन्तर्हित कठिनाइयाँ प्रकटतर होती गयीं, वैसे ही वैसे, अस्तित्व को किसी भी प्रकार का एकत्व प्रदान करने की अनुभूयमान आवश्यकता ने पारमेनाइडीज और उसके इलायाती उत्तराधिकारियों को इस सीमान्तक अभिमत की ओर प्रेरित किया कि चूँकि किसी स्थायी रूप से एकरस पैण्डिक वास्तविकता में किसी प्रकार का परिवर्तन असंभाव्य है अतः वह अवश्य ही हमारे भ्रामक इन्द्रियग्राम का स्वप्नजाल मात्र ही होता है। फिर भी जहाँ एक ओर वाद के यूनानी भौतिकविज्ञानी और उनका सिसिली देशवासी प्रतिरूप एम्पीडोल्कीज, वस्तुओं की आभासी उत्परिवर्तनीयता को इस सिद्धांत द्वारा कि इन्द्रियों को जो कुछ गुणात्मक परिवर्तन रूप गोचर होता है वह वास्तव में, गुणात्मकतया अपरिवर्तनीय 'तत्वों' अथवा 'अणुओं' का अवकाशी या आकाशस्थ, पुनः समूहीकरण मात्र ही होता है।

यूनानी विचारधारा की कुछ अधिक विकसित स्थिति में अस्तित्व की उत्परिवर्तनीयता तथा स्थैर्य का कुछ लेखा-जोखा लेने की आवश्यकता ने प्लेटो या अफलातून को अस्तित्व की दोनों दुनियाओं अथवा दोनों क्रमों के बीच महत्वपूर्ण विभाजन करने को प्रेरित किया अर्थात् उन्हें सतत, अपरिवर्तनशील आत्माभिज्ञानमय वास्तविक अस्तित्व तथा परिवर्तन, संभ्रान्ति और अस्थिरतापूर्ण आभास मात्र नामक दो विभागों में विभक्त करने के लिए। प्लेटो के इस बात को बुद्धिगम्य बनाने के प्रयत्नों की, कि ये दोनों क्रम सर्वकालिक और अल्पकालिक किस प्रकार अन्तिमेत्थ रूप से संयुक्त है—स्पष्ट असफलता के बावजूद भी उपर्युक्त विभेद किसी न किसी रूप में तब से अब तक तत्वमीमांसीय रचना का पीछा बराबर ही करता चला आया है। आजकल के वैज्ञानिक-द्रव्यवाद भी जो सभी शुद्ध तत्वमीमांसीय प्रश्नों को घोर घृणा की दृष्टि से देखने के लिए कटिबद्ध रहता है, सभी भौतिक अस्तित्व को किसी एकतान माध्यमवर्ती परिवर्तनों के अनुक्रम में घटित करने के अपने अनवरत प्रयत्नों द्वारा यही सिद्ध करता है कि बुद्धि परिवर्तनार्थ किसी स्थायी पृष्ठभूमि की माँग कितने आग्रहपूर्वक किया करती है तथा यह कि उसकी इस माँग को तर्कतः पूरा करना कितना कठिन होता है।

तथापि इस विरोधाभास से पीछा छुड़ाने के लिए उसकी सत्यता से ही इनकार कर जाने के प्रयत्नों की कमी नहीं रही है। जिस प्रकार ईलिया के दार्शनिकों ने परिवर्तन को ही एक आधारहीन भ्रान्ति बताकर इस विरोधाभास से बच निकलने का प्रयत्न किया उसी तरह हेराक्लीटस के शिष्यवर्ग में से कुछ लोगों ने भी इस प्रश्न से पीछा छुड़ाने के लिए परिवर्तनार्ह स्थायी तद्रूपता को स्वीकार करने से ही इनकार कर दिया। आज की दुनिया में भी उनकी नकल करनेवालों की कमी नहीं रही। तत्वमीमांसा के इतिहास में अन्तर्हित एकत्वविहीन अनवरत परिवर्तन के पक्षपाती लोग होते आये हैं यद्यपि उनकी संख्या बहुत ज्यादा नहीं रही। अतः हमें संक्षेपतः यह सोचना है कि इस विरोधाभासी परिकल्पना के पक्ष और विपक्ष में क्या-क्या बातें पेश करनी चाहिए। कौन से परिवर्तन स्थायी रूप से एक ही समय स्वतः तद्रूप कैसे हो सकते हैं इस बात को देख सकने की सामान्य कठिनाई के अतिरिक्त, इस सिद्धांत के पक्ष में कि, केवल अनवरत परिवर्तन मात्र ही वास्तविक है, एक ही विशिष्ट तर्कना जो प्रस्तुत की जा सकती है वह है प्रत्यक्ष अनुभूति को उदाहृत करने की। कहा जाता है कि किसी भी कार्यगत अनुभूति में भले ही उसकी सीमायें कितनी ही संकुचित हों हमें परिवर्तन और संक्रान्ति के तथ्यों के दर्शन होते हैं। हमें निरपेक्षतः अपरिवर्तनशील सारतत्व का बोध कभी नहीं होता। जहाँ हमारे सामने की वस्तु में कोई अनुक्रम ही दिखायी नहीं पड़ता वहाँ भी आत्मपरीक्षा द्वारा कम से कम उस विकल्पी आतति और वितति का पता तो चल ही सकता है जो शारीरिक संवेदनाओं के उतार-चढ़ाव के साथ हमारे भीतर होती रहती है।

अनुभूति के इन तथ्यों का बखान करने से निश्चय ही कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता किन्तु उन पर आधारित निष्कर्ष प्रत्यक्षतः ही, उस सीमा से भी बहुत आगे तक जा पहुँचता है जितने की हमारी प्रतिस्थापना के लिए जरूरत है। यदि अनुभूति द्वारा जहाँ हमें किसी अपरिवर्तनशील सारतत्व का अनुलंब मात्र कभी प्राप्त नहीं हो पाता वहाँ किसी ऐसे परिवर्तन मात्र के भी दर्शन नहीं होते जिसमें अनुलंबन मौजूद न हो। हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं उसमें तादात्म्य और संक्रान्ति के दोनों ही पहलू साथ ही साथ सदा दिखायी पड़ा करते हैं। अनुभूति काल में उन तत्वों के साथ ही साथ जो इन्द्रिय ग्राह्यतः परिवर्तित हुआ करते हैं वे अन्य तत्व भी मौजूद रहा करते हैं जो इद्रियग्राह्यतः लगातार अचर रहते हैं। और तब भी जबकि असावधानी के कारण हम इन अचर तत्वों को ग्रहण नहीं कर पाते, परिवर्तनशील सारतत्व की आनुक्रमिक दशायें भी स्वयं क्षणिक मात्र नहीं हुआ करतीं। उनमें से प्रत्येक की अपनी एक ऐसी संवेदनीय अवधि हुआ करती है जिसमें उसका अपना स्वरूप किसी प्रत्यक्षणीय परिवर्तन के बिना स्थिर रहता है। इस प्रकार अनुभूति भी, स्थिर तद्रूपता की

पृष्ठभूमि से विरहित किसी परिवर्तन मात्र के विचार की पुष्टि कर सकने में असमर्थ सिद्ध होती है।

किन्तु इस अभिमत का पक्का खंडन तो उसकी अपनी ही भीतरी बेतुकेपन में ही निहित है। तादात्म्य या तद्रूपता की पृष्ठभूमि के बिना स्वत: परिवर्तन असंभव इस कारण होता है कि अन्त:स्थ तद्रूपता जहाँ न होगी वहाँ परिवर्तन किस में होगा परिवर्तनीय तो वहाँ कुछ है ही नहीं। परिवर्तन तो किसी वस्तु का या किसी वस्तु में ही हो सकता है। एकदम असंयुक्त ऐसे सारतत्वों के, जो संक्रान्ति काल में भी स्थिर रहनेवाले किसी स्थायी प्रकार के स्वरूप द्वारा परस्पर संयुक्त न हों, के अनुक्रममात्र को परिवर्तन किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता अगर मेरे सामने पहले केवल 'अ' हो तब 'ब' और 'अ' और 'ब' में किसी तरह का कोई सम्बन्ध न हो तो यह कहना कोई माने नहीं रखता कि मैंने किसी परिवर्तन क्रिया का ग्रणह किया है। अगर कोई परिवर्तन हुआ है तो वह मुझमें ही तब हुआ है जब मैं 'अ' को देखने की दशा से 'ब' को देखने की दशा में परिवर्तित हुआ हूँ। और इस व्यक्तिनिष्ठ परिवर्तन को परिवर्तन उसी दशा में कहा जायगा जब कि यह मान लिया जाय कि जब अ के प्रथम परिलक्षण-गुण-विशिष्ट तथा तत्परिलक्षणानुगत भावनात्मक विविध अन्य क्रियाकलापों सहित, मैं, और इसी प्रकार ब के द्वितीय परिलक्षण गुण विशिष्ट मैं, एक ही व्यक्ति हैं। और जहाँ आपके सामने केवल परिलक्षण या प्रत्यक्षण का परिवर्तन मात्र न हो अपितु परिवर्तन का प्रत्यक्षण या परिलक्षण मौजूद हो तो बात और भी साफ हो जाती है। ऐसे मामलों में हमें जो परिलक्षित होता है वह है 'अ' का 'ब' में परिवर्तन होना, तथा अ और ब की दोनों अनुवर्ती दशाओं का इस तथ्य द्वारा कि वे किसी स्थायी एकता y की आनुक्रमिक दशायें हैं, सह संयुक्त होना उपर्युक्त प्रक्रिया की प्रथम दशा द्वितीय दोनों ही दशाओं में इस तद्रूप y की उपस्थिति के अतिरिक्त ऐसी और कोई बात ही नहीं जिसके आधार पर उसे परिवर्तन की दशा कहा जा सके।

२—तब परिवर्तन की परिभाषा यह कह कर की जा सकती है कि वह तादात्म्य का अन्तर्वर्ती अनुक्रम होता है, क्योंकि तादात्म्य उस प्रक्रिया के लिए उतना ही सारभूत है जितना कि अनुक्रम। परिवर्तनों के समग्र अनुक्रम में लगातार वर्तमान इस तादात्म्य या तद्रूपता या सामान्य प्रकृतित्व का ध्यान तब हम कैसे कर सकेंगे? यह बात साफ हो जानी चाहिए कि यह प्रश्न—कि जो परिवर्ततित हुआ करता है वह स्थायी या सतत क्यों कर हो सकता है—गुण और द्रव्यविषयक हमारी पुरानी गुत्थी ही है यानी यह प्रश्न ही कि कैसे अनेकों दशायें एक ही वस्तु से संपृक्त तब हो सकती है जब सामयिक अनुक्रम रूपी दशाओं के मामले के सम्बन्ध में विशेषरूप से उन पर विचार किया जाय। इस प्रकार एक ही वस्तु की अनेकों स्थितियों या दशाओं की एकता का

चाहे जो सही रूप क्यों न हो, वही स्वरूप उस तद्रूपता का भी होगा जो परिवर्तन प्रक्रिया की आनुक्रमिक स्थितियों का संयोजन करती है।

इससे पहले ही हम देख चुके हैं कि वह एकता जिससे अनेक दशायें सम्बद्ध रहा करती है किसमें ओत-प्रोत समझी जाना जरूरी होता है। हमने पाया था कि सारतः यह एकता साध्यपरक होती है। हमने देखा था कि दशाओं का वह गुट, एक वह वस्तु है जो किसी लक्ष्य अथवा हित के सापेक्ष एक के रूप में ही कार्य करता है अथवा जैसाकि हम यों भी कह सकते हैं कि वह संगतरचना का ही संगठित प्रतिरूप होता है। यही बात परिवर्तन की प्रक्रिया के विषय में भी सही है। प्रक्रिया की प्राक्तन तथा पश्चातन स्थितियाँ तद्रूपता की ही भिन्नतायें ठीक इस कारण से होती है वे मिलकर एक ही प्रक्रिया हुआ करती है। और प्रक्रिया तब एक होती है जब वह किसी एकल संगत उद्देश्य या लक्ष्य की व्यवस्थित संसिद्धि रूप होती है। प्रक्रिया के एक होने के माने यही होते हैं कि वह किसी एकल संगत योजना अथवा नियम की दशाओं के अनुक्रम की व्यवस्थित अभिव्यक्ति है। दशाओं का अनुक्रम इस प्रकार उन दशाओं में निहित योजना अथवा नियम की एकलता द्वारा एक एकत्व में जटित हो जाता है और प्रत्येक दशा अथवा स्थिति के अन्य सब स्थितियों के साथ इस व्यवस्थित संयोजन को ही हम यों कह कर व्यक्त किया करते हैं कि जो कुछ भी परिवर्लतित हुआ करता है उसमें स्वरूप विषयक स्थायिनी तद्रूपता सदा अर्न्तहित रहा करती है। हमारा उपयुक्त कथन ठीक होगा अगर हम कहें कि किसी भी परिवर्तनपरक वस्तु की आनुक्रमिक दशायें एक संयोजित व्यवस्था का निर्माण करती हैं।

यहाँ भी हमें उसी तरह सावधान रहना पड़ेगा, जैसा कि हमने पदार्थ विषयक विचार करते समय किया था, कि कहीं हम कल्पना के प्रतीकात्मक सहायकों को ही दार्शनिक सत्य मान बैठने की गलती न कर बैठें। जैसे वस्तुओं के पदार्थतत्व को एक प्रकार का द्रव्यात्मक अधःस्तर समझ लेना आसान हुआ करता है वैसे ही समग्र परिवर्तनों में व्याप्त तद्रूपता को अनेक द्रव्य खण्डों की तद्रूपता समझ लेना और परिवर्तनों को उन द्रव्यखण्डों की अवकाशीय गति कल्पित कर लेना भी उतना ही आसान होता है। किन्तु इस प्रकार की पुनः प्रस्तुति को कल्पना की सहायिका से अधिक और कुछ नहीं मानना चाहिए। वह मनोगत खाका खींचने में हमारी सहायक जरूर होती है लेकिन तद्रूपता और अनुक्रम के मध्यवर्ती सम्बन्ध पर वह किसी तरह का प्रकाश नहीं डालती। द्रव्य के प्रत्येक 'आत्म-तद्रूप' खण्डों में भी यही समस्या उठ खड़ी होती है। हमें बताना होगा कि उसकी सभी परिवर्तनावस्थाओं की श्रृंखलाओं में लगातार उसे एक ओर तद्रूप ही कहने से हमारा क्या अभिप्राय होता है और इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता ही तुरन्त हमें बता देती है कि किसी द्रव्य कण की तद्रूपता उसकी गति भर में

अनुक्रम व्यापिनी उस तद्रूपता का ही एक मामला है जो समग्र परिवर्तन से सम्बद्ध हुआ करती है। उस उत्तर से उस सिद्धांत का जिसकी व्याख्या करने के लिए[१] उसे प्रस्तुत किया गया था, कोई खुलासा हमें प्राप्त नहीं होता। जैसाकि अभी हाल के लेखक ने लिखा है "यह मानवीय मानस की एक मूलवद्ध अशक्तता ही प्रतीत होती है जिसके कारण वह भौतिक या द्रव्यात्मक आधारों से विरहित अन्य किसी प्रकार के क्रियाकलाप की कल्पना सभी प्रपंचों को यंत्रशास्त्रीय शब्दावली द्वारा प्रकट करने के प्रयत्नपरक स्वभाव की वजह से द्रव्यखण्डों की गति रूप में ही किया करते हैं, अतः हममें से बहुतेरे लोगों का यह विश्वास-सा हो गया है कि ऐसा करके हम प्रपंचों में अंतर्निहित वास्तविक घटनाओं का ही वर्णन करते हैं।[२] इसी लेखक के कथनानुसार यह 'दिमागी बीमारी' और कहीं इतना घर नहीं कर पायी जितना कि वह परिवर्तन विषयक विचार-विमर्श में घुस बैठी है।

अतः परिवर्तन में दो पहलू मिले रहते हैं। एक तो कालानुसारी अनुक्रम होता है और वे घटना में एक व्यवस्थित एकता द्वारा ऐसी तरह संयुक्त रहती हैं कि उन सबसे संरचना की एक योजना अथवा नियम व्यक्त होने लगता है। किसी वस्तु का इतिहास तैयार कर देने वाली उसकी आनुक्रमिक दशायें उस वस्तु के स्वरूप की या संरचना की अभिव्यक्ति होती हैं। किसी वस्तु की संरचना को समझने के माने होते हैं उसकी दशाओं के अनुक्रम की कुंजी पा जाना अथवा यह जान लेना कि एक दशा दूसरी अनुवर्ती दशा को अपनी जगह क्यों कर दे दिया करती है। इसी तरह पर वास्तविक के स्वरूप अथवा संरचना के समग्र की पूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेने का अर्थ होगा उन सिद्धान्तों को समझ लेना जिसके अनुसार विश्व के इतिहास की प्रत्येक संकातिमय घटना जिसे कालानुसारी घटनाओं की श्रृंखला के रूप में यदि देखा जाय तो, उस घटना की विशिष्ट अनुवर्ती घटना द्वारा अनुगम्य होती है।

यह स्पष्ट है कि जिस अनुपात से हमारा किसी वस्तु अथवा किसी वस्तुक्रम का ज्ञान उन वस्तुओं या वस्तुक्रम की संरचना के नियमों की अन्तर्दृष्टि के निकट पहुँचता है उसी अनुपात से परिवर्तन की प्रक्रियाएँ हमारे लिए एक नये रूप में प्रकट होने लगती है। उनका विरोधाभासी रूप नष्ट होने लगता है और वे उस तद्रूपता की स्वयं सिद्ध अभिव्यक्ति बन जाती हैं, जो उनका अन्तर्निहित सिद्धांत होती है। नियम रूप में एक बार घटित हो जाने पर और किसी सिद्धांत के अनुक्रम के मूर्त रूप में गृहीत होने पर

---

१. शक्ति के संबंध में विचार करते समय इस विचार विन्दु पर किये गये विवेचनार्थ देखिए प्रोफेसर शुस्तर का लेख 'ब्रिटिश असोशिएन रिपोर्ट', १८२३, पृ० ६३१।
२. डब्ल्यू० एम० डुगाल का लेख 'माइण्ड' पत्रिका, जुलाई, १९०२, पृ० ३५०।

परिवर्तन हमारी समझ में, अबोधव्य रहस्यमय परिवर्तन नहीं रह जाता। प्लेटो के इस सिद्धान्त पर कि अनवरत परिवर्तन का दृश्य रूप होने के कारण भौतिक जगत अवश्य ही अवास्तविक होगा—विचार करते समय हमें उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखना होगा। उपयुक्त दृष्टिकोण तभी समझ में आ सकता है जब हम याद रखें कि उन गणिततीय विधियों के आविष्कार से पहले जिनकी कृपा से इस भौतिक प्रपंचों को हम नियमानुयायी क्रमिक व्यवस्था रूप में घटित करने में विशिष्टतः सफल हो सके हैं, यह भौतिक जगत दार्शनिक के लिए ऐसे स्वच्छन्द, परिवर्तनों का जो किसी भी ज्ञातव्य सिद्धांत का अनुसरण नहीं करते थे, एक नजारा या दृश्य बना हुआ था। परिवर्तन, जहाँ तक उसे उसके सिद्धांत के आधार पर समझा जा सका है, बहुत पहले से ही एक परिवर्तन मात्र नहीं रह गया है।[1]

३—**आधार और परिणाम** :—तर्कशास्त्र की तकनीकी भाषा में किसी व्यवस्था के अन्तर्निहित सिद्धांत को उस व्यवस्था का 'आधार' कहा जाता है और वे विवरण जिनके द्वारा वह सिद्धांत व्यवस्थित रूप में व्यक्त हो उसके परिणाम कहे जाते हैं। और इस प्रकार आधार और परिणाम दोनों ही मिलकर एक ही व्यवस्थित समग्र होते हैं उन्हें केवल विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाता है। आधार किसी क्रम या व्यवस्था में व्याप्त उसका सामान्य स्वरूप होता है जिसका ध्यान, विवरण की स्वरूप निर्धारिका और व्यापिका तद्रूपता की शक्ल में किया जाता है। परिणाम भी उसी व्यवस्था या क्रम का नाम है। विवरण के दृष्टिकोण से देखा जाने पर जिसका रूप तद्रूपता सिद्धांत द्वारा निर्धारित और व्याप्त विभिन्नता बहुल प्रकट होता है। किसी परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने का नाम है उसे आधार और परिणाम की प्रक्रिया के अन्तर्गत ला देना। घटनाओं के आभासतः स्वच्छन्द अनुक्रमण में जहाँ तक हम किसी सिद्धांत को ढूँढ़ निकाल सकने में सफल हो सकते हैं वहाँ तक ये घटनायें हमारे लिए उस संरचना के सामान्य सिद्धांत पर आधारित एक व्यवस्था बन जाती है जिनका परिणाम दशाओं का अनुक्रमिक बाहुल्य होता है।

किन्तु आधार और परिणाम के सिद्धांत का एक मात्र उदाहरण परिवर्तन ही नहीं होता। यह दोनों ही पहलू उन व्यवस्थित समग्रों में भी पाये जा सकते हैं समयानुवर्ती अनुक्रम के तत्व नहीं होते उदाहरणतः जैसे कुछ मौलिक प्रतिस्थापनाओं से प्राप्त तार्किक परिणामों के समूह में। परिवर्तन के मामले की विशिष्ट विशेषता यही है वह ऐसी विषयवस्तु पर प्रयोजित आधार और परिणाम का सिद्धांत है जो समयानुवर्ती

---

१. **बोसान्क्वेट की प्रशंसनीय टिप्पणियों के लिये देखिये 'कंपैनियन टु प्लेटोज रिपब्लिक', पृ० २७५—२७६।**

रूप से अनुक्रमी है। इस प्रकार के प्रयोग के कारण ही इस सिद्धांत को 'पर्याप्त हेतुक सिद्धान्त' की विशिष्ट संज्ञा दी गयी है और उसका इस प्रकार सूत्रीकरण किया जा सकता है कि कुछ भी तब तक घटित नहीं होता जब तक इसका कि कोई पर्याप्त हेतु न हो कि वैसा हो ही क्यों न बल्कि न क्यों न हो। स्पष्ट है कि यह प्रस्तावना समयानुवर्ती अस्तित्व की विशेष घटना पर एक व्यवस्थित समग्र रूप में वास्तविकता की परिकल्पना के संप्रयोजन का ही परिणाम मात्र है। अएतव वह समस्त ज्ञान के इस मूलभूत स्वयंसिद्ध का ही सादा-सा एक मामला है कि सत्यतः जो वर्तमान होता है वह संगत समग्र होता है।[1] लेकिन हमें ध्यान में रखना होगा कि यह सिद्धांत हमें संभवतः इस असाध्य समस्या को साधना में, कि समयानुक्रम अनुभूति का एक लक्षण क्यों होना ही चाहिए—किसी प्रकार भी सहायक नहीं होता। वह तो ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर तभी मिल सकेगा जब हम यह दिखा सकें कि समयानुक्रम, व्यवस्थित समग्र की रचना किसी भी बहुलता के अस्तित्व का तर्कानुसारी परिणाम होता है। जब तक हम इस निष्कर्ष की स्थापना नहीं कर पाते तब तक हमें अनुक्रम को अपनी अनुभूति का एक दत्त ही स्वीकार करना होगा। (फिर भी इस समस्या पर और अधिक प्रकाश डालने के लिए देखिये (आगामी खंड ३, अध्याय ४–९)

४—**कारणता** : अब तक हमने परिवर्तन की समस्या लोक सुलभ विवेचन में आधार और परिणाम की परिकल्पना से कहीं अधिक परिचित कारण की परिकल्पना के बारे में कुछ भी नहीं कहा है। इस परिकल्पना पर बहस करने के लिए पहले जरूरी है कि हम कारण शब्द के अनेकार्थों में से किस अभिप्राय की परीक्षा करना चाहते हैं यह बता दें। 'सत्यता के कारण' तथा किसी 'घटना के घटित होने के कारण' के बीच विभेद करने का एक पुराना शैक्षिक विभेदक था जो कभी-कभी दार्शनिक लेखावली में अब भी दिखाई पड़ जाया करता है। 'कारण' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों में से दूसरा अर्थ ही, आधुनिक विज्ञान की भाषा में प्रयुक्त होता है और यही अर्थ आगे की धाराओं में हमें अपनी नजर के सामने रखना होगा।

किसी सत्य की पुष्टि करने का तार्किक कारण उन मनोवैज्ञानिक कारकों से पृथक् जो किसी व्यक्ति को उस कारण की पुष्टि के लिए प्रेरित किया करते हैं, आधुनिक वैज्ञानिकों की आधार नामधेय वस्तु का तद्रूप होता है। अन्ततोगत्वा, किसी भी प्रस्तावना को सत्य कह कर तर्कानुसार पुष्ट करना इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि वह सत्यों की विस्तृततर व्यवस्था में ऐसे स्थान की पूर्ति करती है जिसे कोई दूसरी

---

१. आधार और परिणाम के कोटि विभाजन तथा 'पर्याप्तहेतुक' सिद्धान्त के लिए देखिए बोसान्क्वेट लिखित 'लॉजिक', खंड १, अध्याय ६ तथा खंड २, अध्याय ७।

प्रस्तावना भर नहीं सकती। उदाहरण के लिए किसी त्रिभुज की भुजाओं और कोणों के मध्यवर्ती सबन्ध के बारे में एक विशिष्ट प्रस्तावना की विशेष आवश्यकता तर्कानुसार इसलिए होती है कि वह उस ज्यामितिक विचार व्यवस्था के विकास का एक समाकलीय तत्व है। जो समग्रतः अवकाशीय क्रम से सम्बद्ध कुछ आधारभूत पूर्वगृहीतों पर आधारित होती है। आन्तरिकतः संश्लिष्ट या संगत ज्यामितीय विचारों के किसी निकाय में किन्हीं प्रारंभिक पूर्वानुमानों पर उनके तर्कसंगत परिणाम तक पहुँचने के लिए तब तक काम नहीं किया जा सकता जब तक कि विचाराधीन प्रस्तावना उस निकाय में सम्मिलित नहीं कर ली जाती। व्युत्क्रमतः इन्हीं पूर्वानुमावों को ही, अन्यों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ मान लेने के तार्किक औचित्य इसी तथ्य में निहित है कि उनसे हमें अन्तःस्तः संगत परिणामों के निकाय की प्राप्ति होती है। घटनावश इस उदाहरण द्वारा हमें यह भी पता चल जाता है कि आधार और परिणाम अन्योन्य परिवर्ती भी हैं और यह वही बात है जो तब होती जब हम इसी परिणाम पर उस तरीके से पहुँचते जिसके अनुसार हमने उनकी परिभाषा एक एकल व्यवस्थित समग्र के दो अन्योन्यपूरक पहलू कह कर की थी।

कारणत्व के वैज्ञानिक तथा दैनंदिन विवेचन में हमें जिस बात से सरोकार होता है वह आधार और परिणाम के शुद्ध तार्किक सम्बन्ध की ही बात नहीं है बल्कि वह अंशतः तत्सम और अंशतः उससे भिन्न है। घटना के घटन-कारण की सार्थकता घटनाओं के समयानुवर्ती सम्बन्ध के कारण ही होती है और मोटे तौर पर वह अरस्तू द्वारा वर्णित 'परिवर्तन के स्रोत', तथा उसके मध्ययुगीन अनुयायियों के 'सक्षम कारण' से मिलती जुलती है। जन सामान्य की भाषा के प्रचलित मानों में कारण उस प्रयत्न का नाम है जो किसी व्यवस्था की घटनाओं के अन्तः सम्बन्धीय सिद्धांत को यह मानकर कि उनमें से प्रत्येक घटना ऐसी परिस्थितियों द्वारा पूर्णतः निर्धारित होती है जो स्वयं पूर्ण घटित घटनायें होती है––विशिष्ट दिशाओं के अनुसार ले जाने के लिए किया जाय। छोटी मोटी बातों में यद्यपि कारण शब्द के लोक प्रचलित अर्थ और वैज्ञानिक अर्थ में बहुत ज्यादा अंतर होते हुए भी दोनों अर्थ सारभूत बात पर एकमत हैं। वह यह कि दैनंदिनीय जीवन में भी और कारणता की कल्पना का उपयोग करनेवाले विज्ञानों में भी यह कहने के माने कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है यही होते हैं कि प्रत्येक घटना की घटन, तथा समय-शृंखला में होने वाली प्रत्येक घटना का स्वरूप पूर्ववर्ती घटनाओं द्वारा ही निर्धारित हुआ करते हैं। इससे भी अधिक तकनीकी भाषा में, दैनंदिनीय विचार तथा विज्ञान के लिए, कारणता का अर्थ होता है वर्तमान काल की भूतकाल पर तथा भविष्य की वर्तमान काल पर एकपक्षीय निरर्भरता।

स्वभावतः यह स्पष्ट ही है कि इन मानों में कारणता, आधार और परिणाम

के सिद्धांत से उद्भूत आवश्यक निगमन नहीं होती। ऐसा भी हो सकता है कि सभी घटनाओं को मिलाकर एक ऐसी संगत योजना या व्यवस्था का रूप दिया जाय कि अगर आप उस व्यवस्था के मौलिक नियम को एक बार अच्छी तरह समझ जायं तो उससे आप यह निष्कर्ष निकाल सकें कि किसी विशिष्ट क्षण पर कौन-सी विशिष्ट घटना जरूर घटित होना चाहिए। फिर भी वर्तमान क्षण तक के घटना क्रम की परीक्षा करने पर हो सकता है कि इस सिद्धांत को खोज निकालना असंभव हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि घटनाओं के व्यवस्थित आन्तरिक या अन्तः सम्बन्ध का सिद्धांत वैध हो सके तो भी, वर्तमान की घटनायें अपनी अनुवर्तीभावी घटनाओं पर उतनी ही निर्भर हो सकती है। जितनी अपने से पूर्ववर्तिनी भूतकालिक घटनाओं पर हो सकती है। उस हालत में पहले हुई घटनाओं की परीक्षा मात्र द्वारा ही इस निष्कर्ष पर निरपेक्ष तार्किक निश्चयपूर्वक पहुँच सकना असंभव ही होगा कि किसी दत्त क्षण पर क्या घटित होगा अर्थात् तब विज्ञानों में प्रयुज्यमान कारणता का सिद्धांत तर्कानुसार वैध न रह जायगा।[१]

प्रचलित रूप में कारण का जो अर्थ प्रयोग में आता है वह समग्र सत्य तार्किक आधार का तद्रूप नहीं होता बल्कि वह उस आधार के तद्रूप होता है जिसका यथासंभवतः कालिक पूर्ववर्ती परिस्थितियों के सिलसिले में लगता है—अर्थात् कारण एक अपूर्ण आधार हुआ करता है। यह विचार विन्दु महत्वपूर्ण इसलिए है कि उससे सिद्ध होता है कि कारणता का सिद्धांत 'पर्याप्त हेतु' के सिद्धांत के समान स्वयं सिद्धिमय नहीं है। यह वास्तविक के व्यवस्थित स्वरूप अथवा ज्ञातव्यता का कोई जरूरी तार्किक परिणाम नहीं कि किसी घटना का पूर्णतः निर्धारण कालिकतः पूर्ववर्ती घटनाओं द्वारा ही हो। वास्तविक के व्यवस्थित स्वरूप में अन्तर्हित जो कुछ भी होता हो, उसके बजाय वह घटना उतनी ही निर्भर परवर्ती घटनाओं पर भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त कारणता के सिद्धांत को अनुभूति के क्रियात्मक क्रम की दुहाई देते हुए अनुभव के बल पर स्थापित नहीं किया जा सकता। वास्तविक अथवा क्रियात्मक अनुभव निश्चय ही वह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं होता कि प्रत्येक घटना अपनी पूर्ववर्तिनी परिस्थितियों द्वारा ही निरपेक्ष तथा निर्धारित हुआ करती है। कारणता के पूर्वानुमान पर

---

१. यह कहना कि चूँकि वर्तमान वास्तविक है इसलिए भविष्य द्वारा वह नियमित नहीं हो सकता क्योंकि भविष्य अवास्तविक होता है—उपर्युक्त सुझाव का कोई जवाब नहीं। इस प्रकार का जवाब देने के माने यही होंगे कि आप पहले से ही मान बैठे हैं कि केवल वर्तमान ही वास्तविकता है। यह स्पष्ट ही है कि तब तत्सम सांगत्य से ही हम कह सकते हैं कि भूतकाल चूँकि गत और समाप्त हो चुका है अतः अब अवास्तविक है अतः वास्तविक वर्तमान पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता।

निर्धारण 'कारण' द्वारा। और इसीलिए कारणताविषयक प्रतिस्थापना सम्पूर्ण या समग्र सत्य नहीं हो सकती।

कारणता विषयक सिद्धांत के लिए घातक यह तर्क संबंधी दोष आगमात्मक विज्ञानों की तर्कना को किस प्रकार अपने आप को अनुभूत कराता है और उस दोष को बरकाने के लिए तर्कशास्त्रियों ने किस प्रकार असफल प्रयत्न किए हैं यह सब हम घटना क्रमानुसार अपने विचारविमर्श के दौरान आगे देखेंगे । इस समय तो हमें इतना ही नोट करके संतोष कर लेना होगा कि इस दोष के कारण, जहाँ-जहाँ भी कारणता पर जोर दिया गया है वहाँ वह एक आभास मात्र ही हो सकती है पूर्ण वास्तविकता कभी नहीं, और यह कि कारण और कार्य की कल्पना के बल पर जो भी विज्ञान अपना काम चलाता है वह हमें उच्चतम सच्चाई तक नहीं पहुँचा सकता। लेकिन निश्चय ही इस कल्पना के तार्किक दोषों के कारण उसकी क्रियात्मक अर्हता कम न हो सकना ज़रूरी नहीं है। पहले ही बतायें जा चुके कारण से स्पष्ट है कि यद्यपि यह बात कभी भी अन्तिमतः सही नहीं हो सकती कि किसी घटना का एकान्ततः अथवा निरपेक्षता निर्धारण पूर्ववर्ती घटनाओं द्वारा हो सकता है, तो भी इस प्रकार का पूर्वग्रहण, घटना-क्रम सम्बन्धी उपयोगी निगमनों की प्राप्ति के लिए, सत्य के पर्याप्ततः निकट पहुँच सकता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी कारणीय इयत्ता सम्बन्धी अर्हता का गणितीय सन्निकटन, सही अथवा एकदम यथार्थ सत्य न होते हुए भी, क्रियात्मक उपयोग के लिए, सत्य के पर्याप्ति निकट तक जा पहुँचता है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि कारणीय प्रतिस्थापन, अनुसन्धान के कुछ क्षेत्रों में, अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट तक जा पहुँचता है और यह एक ऐसी लब्धि है जिसका प्रभाव स्वातंत्र्य और दायित्व की नैतिक समस्या पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

अगर हम पूछें कि, अपूर्ण सत्य होते हुए भी जैसा कि उसे अपूर्ण सत्य होना ही चाहिए, कोई कारणीय प्रतिस्थापन किस प्रकार प्रतिस्थापित किया जाता है तो इस प्रश्न का जवाब साफ है। अगर विचार बिन्दु को पहले लें तो किसी घटना को केवल पूर्ववर्तियों मात्र द्वारा ही निर्धारित मानने के लिए तर्कानुसार कोई कारण उस कारण से बेहतर नहीं है जो उसे परवर्तियों द्वारा निर्धारित मानने के लिये दिया जा सकता है। लेकिन जब शकुनों और भविष्यवाणियों में सभी विश्वासियों की तरह अवर अनुमिति कर ली जाती है तो हम सब उसे अन्धविश्वासी अनुमति कह कर दुरदुराने में एकमत हो जाते हैं। लेकिन ऐसा होता क्यों है? इसके दो कारण बताये जा सकते हैं। (अ) अगर यह मान ही लिया जाय कि किसी घटना का निर्धारण परवर्ती घटनाओं द्वारा हो सकता है तो भी चूँकि हम तब तक नहीं जानते कि वे परवर्ती घटनायें कौन-सी हैं, जब तक कि वे घटित नहीं होती, इसलिए हमारे पास कोई ऐसे साधन न होंगे कि जिनकी

सहायता से हम निष्कर्ष निकाल सकें कि आगामी घटनाओं में से किस विशिष्ट घटना द्वारा वर्तमान घटना का रूप निर्धारण हुआ होगा और इसीलिए अगर हम उस घटना की उस काल तक भावी उपाधियों के निर्धारण का प्रयत्न करें तो हमारे पास असैद्धांतिक अनुमानी कार्य के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता।

(ब) इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण एक और परिस्थिति यह है कि कारणों की हमारी खोज का अन्तिमेत्थ स्रोत उन तरीकों या साधनों की खोज है जिनके द्वारा हम उन परिणामों की सिद्धि कर सकें जिनमें हमारी रुचि है। घटनाओं के घटन की परिस्थितियों या उपाधियों को मूलतः हम इसलिए जानना चाहते हैं कि उन्हीं उपाधियों को प्रस्तुत करके हम वही घटना अपने लिए घटित करना चाहते हैं। इसलिए हमारे अपने क्रियात्मक प्रयोजनों के हेतु यह आवश्यक है कि हम किसी घटना की उपाधियों की खोज फिर केवल उसकी पूर्ववर्तिनी घटनाओं में ही करें और कारणता विषयक प्रतिस्थापना जो इस बात पर जोर देती है कि घटना के सम्पूर्ण नियम-पद या उपाधियाँ पूर्ववर्तिनी घटनाओं की शृंखला में ही कहीं न कहीं समाविष्ट रहती है, इसीलिए, वास्तविकता के प्रति हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओं के तकाजे की एक बौद्धिक अभिव्यक्ति ही है। हम इसलिए उसकी स्थापना करते हैं कि जब तक ऐसी प्रतिस्थापना की सन्निकटतः सिद्धि नहीं होती तब तक घटना क्रम में हम सफलता के साथ अन्तर्विष्ट नहीं हो सकते। हम इस विचार को कि किसी घटना का निर्धारण उत्तर या परवर्ती तथा पूर्ववर्ती घटनाओं द्वारा होता है, इसलिए एक विशुद्ध बौद्धिक परिकल्पना के अतिरिक्त और कुछ मानने को तैयार नहीं होते चूँकि उस विचार या अभिमत द्वारा हमें हमारे पर्यावरण पर कार्य करने के क्रियात्मक नियमों की प्राप्ति नहीं होती।

६—हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओं द्वारा इतनी स्पष्टतः जनित प्रतिस्थापना से जैसी आशा की जा सकती है कारणता की परिकल्पना की जाँच करने पर उसका मानवतापरक रूप हमें दिखायी देता है। यह तब और भी अधिक स्पष्ट हो उठता है जब हम कारणता की परिकल्पना के उस रूप पर विचार करते हैं जैसी वह दैनंदिनीय अवैज्ञानिक विचार में प्रकट हुआ करती है। कारण सम्बन्धी लौकिक अभिमत के उपकल्प के रूप में प्रस्तुत सभी विभिन्न वैज्ञानिक उपकल्पों में उसकी परिकल्पना में से अधिक मानवतापरक तत्वों को निकाल फेंकने के प्रयत्नों के चिह्न पाये जाते हैं। उक्त परिकल्पना के लौकिक प्रयोग में यह नृवंशविधता दो प्रकार से विशिष्टतः परिलक्षित होती है। (अ) कारण की लौकिक परिकल्पना में उसे सदा किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के रूप में ही देखा जाता है अर्थात् किसी ऐसे रूप में एक समग्र की शक्ल में जिसकी कल्पना की जा सके और जिसमें हम अपने चैतन्य जीवन से मिलते-जुलते चैतन्य

का मानस रूप में प्रक्षेपण या प्रत्याधान कर सकें। वैज्ञानिक विचारक के लिए यह स्पष्ट है कि कारण और कार्य दोनों ही समान रूप से, घटनायें हैं, केवल घटनायें ही, लेकिन जन साधारण के विचार में जहाँ कार्य सदा एक गुण अथवा परिस्थिति हुआ करती है। (उदाहरणतः मौत, बुखार आदि की परिस्थिति) वहाँ कारण को वह नियमित रूप से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के रूप में ही देखता है। (उदाहरण के लिए बन्दूक की गोली, विष, उष्णवलीय सूर्य आदि)।

(ब) इसी से घनिष्ठता सम्बद्ध वह बल है जो जनसामान्य अभिमत द्वारा कारण की क्रियाशीलता अथवा सक्रियता नामधेय वस्तु पर दिया जाता है। कारण को कभी भी कार्य में पूर्वगामी मात्र, अवियोज्य पूर्ववर्ती नहीं समझा जाता, उसे कार्य का घटक ही समझा जाता है अर्थात् सक्रियता के प्रयोग द्वारा उसे करवा देने वाला। इस प्रकार के अभिमत की उत्तमतम संगत व्याख्यानुसार कारणता में एक वस्तु दूसरी अक्रिय वस्तु में परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए सदा सक्रिय रहा करती है। इस अभिमत का स्रोत पर्याप्ततः स्पष्ट है। जैसा कि ह्यूम से लेकर अब तक के सभी दार्शनिक स्वीकार कर चुके हैं कि कारण की 'सक्रियता' आत्म और आत्म प्रसार की उस लाक्षणिक भावना का आधान कर देने से ही पैदा होती है, जो घटना क्रम में हमारे अपने स्वेच्छ हस्तक्षेप अथवा व्यतिकरण की सहगामिनी होती है। इसी प्रकार जिस वस्तु में कार्य उत्पन्न किया जाता है उसकी 'अक्रियता' केवल अवपीड़न और कुंठित आत्मश्लाघा की उस भावना का ही दूसरा नाम है जो हमारे अन्दर तब पैदा होती है जब प्रकृति के नियम अथवा हमारे साथियों का व्यवहार हमारी अभिसंधियों या अभिकल्पों की स्वेच्छ कार्यपरिणति को दबा देते हैं।

अस्तित्व के समग्र साम्राज्य पर कारणीय निर्धारणता की कल्पना को छा देने के अपने प्रयत्नों के मार्ग में विज्ञान को ये नृवंशवधिक या पुरुषविधीय विवंक्षायें बाधा स्वरूप लगती है। और इन बाधाओं को निकाल बाहर करने के प्रयत्न से ही कारणता का वह सामान्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा होता है जिसे साधारणतः परीक्षाणात्मक अनुसन्धान हेतु स्वीकार कर लिया है और जो आगनात्मक तर्कशास्त्रियों के ग्रन्थों में अभिसूचित हो गया है। यतः विज्ञानों के लिए जिनका उद्देश्य घटनाओं के पौर्वापर्य को क्रमबद्ध कर लेना मात्र होता है, दशाओं के अन्तः सम्बन्ध की विधा के अतिरिक्त किसी वस्तु को अन्यथा कल्पना अनावश्यक होती है अतः कारणता विषयक इस अभिमत की जगह कि वह दो वस्तुओं के बीच के आदान-प्रदान का कार्य होता है, परीक्षणात्मक विज्ञानों में, इस कल्पना को दे दी जाती है, कि कारणता किसी घटना का तत्पूर्ववर्ती घटनाओं द्वारा निर्धारण मात्र ही है। इसी प्रकार कारणीय प्रक्रियाओं के वाहकों के रूप में वस्तुओं के विलोप के साथ ही सक्रिय और अक्रिय कारकों के बीच का प्रभेद भी समाप्त

हो जाता है यतः यह बात कि वे पूर्ववर्तिनी घटनायें जो किसी घटना का निर्धारण किया करती है एक जटिल बहुलता होती है और चूँकि उनमें वे दशायें भी जिन्हें आमतौर पर कार्यामार्गत वस्तु की दशायें कहा जाता है, तथा साथ ही साथ तथाकथित अभि-कर्ता में हुई प्रक्रियायें भी शामिल रहती हैं अतः विज्ञान, अभिकर्ता और सहनकर्ता के बीच के प्रभेद की जगह अन्योन्य-निर्भर परस्पर क्रिया पर कारकों की कल्पना को ला बिठाता है। उपर्युक्त प्रकार की दोनों स्थानापन्नताओं से हमें कारण की प्रचलित वैज्ञानिक उस कल्पना का पता चलता है जो 'परिस्थितियों या उपाधियों का सामग्र्य' कहलाता है तथा जिसकी उपस्थिति में ही कोई घटना घटित हुआ करती है और जिसके किसी भी अंग की अनुपस्थिति में वह घटना नहीं घटित होती। और भी संक्षेप में कहा जाय तो, विज्ञान के प्रचलित मानों में कारणता का अर्थ होता है निश्चित रूप से ज्ञात उपाधियों अथवा परिस्थितियों के अन्तर्गत आनुपूर्व्य।

कार्यकर रूप में यह अभिमत की प्रत्येक घटना का निर्धारण पूर्ववर्तिनी घटनाओं के निर्धारित संग्रह द्वारा ही हुआ करता है अन्य किसी भी वस्तु द्वारा नहीं कितना ही अपरिहार्य क्यों न हो पर अस्तित्व की व्यवस्थित एकता के सिद्धांत के तर्क-संगत सूत्रीकरण के रूप में वह गहरे आक्षेपों का विषय बन जाता है और उनमें से अधिकतम आक्षेप ऐसे हैं जिनका प्रभाव आगमनात्मक विज्ञानों की तर्कनाओं पर, ज्ञात तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण से एकदम स्वतंत्र रूप से, स्वतः ही पड़ा है। इन कठिनाइयों के मामले पर विचार करने पर हमें पता चलेगा कि वे हमें सामान्यतः निम्नलिखित चक्कर में डाल देती हैं। अगर हम कारणीय सिद्धांत को इस तरीके पर पेश करना चाहते हैं कि जिससे कि हम स्पष्ट या अभिव्यक्त परिकल्पनात्मक असत्यता को बचा सकें, तो हमें पता चलता है कि हमें उसमें यहाँ तक परिवर्तन करना पड़ेगा कि वह आधार और परिणाम के सिद्धांत के सार्वत्रिकतम रूप के अनुरूप हो जाय। लेकिन इस प्रकार परिवर्तन हो जाने पर वह परीक्षणात्मक विज्ञानों के लिए किसी मतलब की नहीं रह जाती। ऐसा लगता है कि इसके सिवाय आपके लिए कोई चारा ही नहीं रह जाता कि या तो आप उसे ऐसे रूप में लें कि जिसमें वह सत्य पर क्रियात्मकतया एकदम उपयोगहीन हो अथवा ऐसे रूप में कि जहाँ वह उपयोगी तो हो पर सत्य न हो। जिस तरीके पर ये भूल-भुलैया उठ खड़ी होती है उसे समझाने के लिए आइये हम उन विशिष्ट समस्याओं में से जो इस सिद्धांत के वैज्ञानिक उपयोग से उठ खड़ी होती है :— केवल तीन समस्याओं की जाँच करें—यानी (अ) सातत्य की पहेली, (ब) अनिश्चित प्रतिगामिता की पहेली, (स) कारणों की बहुलता अथवा कारण बाहुल्य की पहेली।

७—**(अ) सातत्य की पहेली**—सही मानें में कहा जाय तो सातत्य किसी शृंखला के गुण का नाम होता है और संदर्भार्थ उसकी लक्षणा बहुत कुछ यों की जा सकती है कि

कोई श्रृंखला तब सतत कहीं जायगी जब उसकी कोई कड़ी या पद सारी श्रृंखला को बिल्कुल स्पष्ट रूप में ऐसे दो अन्योन्य व्यपदेशी भागों में विभक्त कर दे जिनके दुबीचे में ही श्रृंखला की सारी कड़ियाँ समाविष्ट रहें जबकि वह हर कड़ी भी जिसने यह विभाजन किया था स्वयं उस श्रृंखला की एक कड़ी बनी रहे। इस दूसरी शर्त या उपाधि से स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी सतत श्रृंखला की किन्हीं दो कड़ियों के बीच अनेकों मध्यवर्ती कड़ियाँ प्रतिनिविष्ट की जा सकती हैं और श्रृंखला की किसी कड़ी की कोई अगली कड़ी नहीं हुआ करती। सतत की यही वह विशेषता है जिससे हमारा विशेष सम्बन्ध रहेगा। इस प्रकार किसी सीधी रेखा पर स्थित बिन्दुओं की श्रृंखला को सतत् इसलिए कहा जायगा क्योंकि (१) पंक्ति या रेखा पर स्थित कोई बिन्दु 'प' उसे बिन्दु समूहों के दो युग्मों में इस प्रकार बाँट देता है कि एक समूह का प्रत्येक बिन्दु दूसरे समूह के प्रत्येक बिन्दु की बाँयी तरफ रहता है तथा दूसरे समूह का प्रत्येक बिन्दु पहले समूह के प्रत्येक बिन्दु के दाहिनी ओर। (२) पंक्ति को इस प्रकार विभक्त करनेवाला प्रत्येक बिन्दु पंक्ति पर ही स्थित बिन्दु होता है। इसी तर्क के अनुसार वास्तविक अंकों की समग्र श्रृंखला भी सतत या अविच्छिन्न होती है। अंक श्रेणी या अंक श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी उसे दो जातों में इस तरह विभक्त करती है कि उनमें से एक का प्रत्येक अंक दूसरी जात के प्रत्येक अंक से कम होता है। और वह प्रत्येक अंक जो श्रृंखला का उपर्युक्त प्रकार से विभाजन करता है स्वयं भी अंक श्रृंखला की कड़ी होता है।

लेकिन परिमेय वास्तविक अंकों की श्रृंखला सतत या अविच्छिन्न नहीं हुआ करती क्योंकि उसे ऐसी कड़ियों अथवा संख्याओं द्वारा जो स्वयं उस श्रृंखला की अंग अथवा कड़ी नहीं होती, अन्योन्य व्यपदेशिनी जातों में विभक्त किया जा सकता है। (उदाहरणार्थ $\sqrt{२}$ परिमेय अंकों की श्रृंखला का अंग या कड़ी नहीं है किन्तु हम सभी परिमेय अंकों को पूर्णतया दो परस्पर व्ययदेशी अथवा अन्योन्य व्यतिरिक्त श्रेणियों या जातों में विभक्त कर सकते हैं यानी $\sqrt{२}$ से कम वाले परिमेय अंकों और $\sqrt{२}$ से न कम वाले परिमेय अंकों में।)[1] वास्तविक अंकों की श्रृंखला के सातत्य से यह परिणाम

---

१. सातत्य के क्या माने होते हैं इसकी पूरी व्याख्या के लिये डेडेकिण्ड लिखित Stetigkeit und irrationale Zahlen का और विशेषतः ३-५ का अनुशीलन कीजिए अथवा लैम्ब लिखित 'इन्फ़िनिटेसिमल कैल्कुलस' का अध्याय १ देखिए। ऐसे पाठकों को जो पुराने दार्शनिक ग्रन्थों की सातत्यपरक व्याख्या के आदी हो चुके हैं विशेषतया देखना चाहिए कि (१) सातत्य सही तौर पर श्रृंखला का ही एक लक्षण होता है और (२) यह कि सातत्य में यद्यपि अनन्त विभाज्यता

निलकता है कि यदि कोई शृंखला आंकिक शृंखला की कड़ियों के विन्दुशः अनुरूप हो तो वह अवश्य ही सतत या अविच्छिन्न शृंखला होगी । काल सम्बन्धी पूर्वापर अनुक्रमी भाग इसी प्रकार की एक शृंखला है । काल का प्रत्येक क्षण क्षणों की समग्र शृंखला को, अपने से पहले के क्षणों तथा अपने से न पहले के क्षणों की दो परस्पर व्यपदेशिनी श्रेणियों में विभक्त करता है । और जो कुछ काल शृंखला को उपर्युक्त प्रकार से विभक्त करता है वह स्वयं भी उसी शृंखला का एक क्षण है । अतः काल-शृंखला के सातत्य से निष्कर्षित यह होता है कि सातत्य के इस गुण द्वारा उद्भूत पहेलियाँ कारणता के मामले पर भी लागू होंगी । आगे के पृष्ठों में हम सातत्य विषयक समस्या पर विचार नहीं करेंगे क्योंकि उस पर ठीक तरह विचार करने के लिये विशिष्ट गणितीय उपकरणों की तथा तैयारी की जरूरत होती है । हम तो अपने आपको उन कठिनाइयों तक ही सीमित रखेंगे जो कारणता की वैज्ञानिक परिकल्पना के सामने सातत्य की इस समस्या द्वारा प्रस्तुत हो जाती है ।

इस समस्या पर आक्रमण करने के लिए यह सुविधाजनक होगा कि हम उसे उसी रूप में ग्रहण करके चलें जिस रूप में ह्यूम ने उसे आधुनिक विज्ञान को समर्पित किया था । ह्यूम का सावधानी से अध्ययन करनेवाले लोगों को ज्ञात होगा कि ह्यूम का कारणताविषयक सिद्धांत पूर्णतः इसी पूर्वग्रहण पर आधारित है कि कारणता की प्रक्रिया सतत नहीं होती । उसका अनुमान था कि अनुभूति हम तक एक अविरल धारा रूप में नहीं पहुँचती अपितु ऐसे एकाकी पृथग्भूत खण्डों में ही वह हमें प्राप्त होती है । जिन्हें हम बाद में कारणता के अभिमतानुसार कृत्रिमरूप से कड़ी-कड़ी मिला कर एकाकार करने का प्रयत्न किया करते हैं । वह अनुमान करता है कि हम ब घटना के अनुक्रम को पूर्वघटित स्पष्ट घटना अ में देखने के प्रयत्न द्वारा अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं और इस प्रकार कारणता की समस्या उस कड़ी के स्वरूप की खोज की समस्या बन जाती है जिसके द्वारा मूलतः पृथक् या भिन्न अ और ब हमारे वैज्ञानिक विचार द्वारा सम्बद्ध हो जाते हैं । तांत्रिक शब्दावली में कहा जाय तो ह्यूम घटनाओं की शृंखला को इस रूप में एक मानता था कि उस शृंखला की प्रत्येक कड़ी की अगली कड़ी मौजूद रहती है और मामले के प्रति इस तरह के दृष्टिकोण से कारणताविषयक विचार की बाद की समग्र प्रणाली का रंग ही उन आगमनी तर्कशास्त्रियों ने बदल डाला जिनके तत्वमीमांसीय सिद्धांत सामान्यतः ह्यूम पर आधारित हैं ।

आणविक संवेदन विषयक पुराने अभिमत की ओर से मुँह मोड़ कर 'चेतना-

---

अन्तर्हित रहती है तथापि इस कथन का अपरोक्ष्य जिसे कभी-कभी, पहले वाले लेखकों को मान बैठते थे—सही नहीं ।

प्रवाह' की ओर अभिमुख होने में आधुनिक मनोविज्ञान ने, घटनाक्रम के असातत्य विषयक उक्त ह्यूमीय सिद्धांत के पूर्वग्रहीत या अनुमित अनुभवाधारित मूल को ही नष्ट कर डाला है। अब तो हमें लगने लगा है कि आगमनी तर्कशास्त्री के लिए असली पहेली जो कुछ रह गयी है वह यह ही कि वह उस कड़ी को ढूँढ़ निकालने की कोशिश न करे जिसके द्वारा मूलतः पृथक अ और ब विचारक्रम में आकर जुड़ जाते हैं अपितु उस विभेद या वैशिष्ट्य के स्रोत की खोज करें जो उस पूर्वतर स्थिति अ के जिसे हम कारण कहते हैं, तथा पश्चातर स्थिति ब, जिसे हम परिणाम कहते हैं—के बीच प्राप्त होने वाली सतत प्रक्रिया की इन दोनों स्थितियों में हम किया करते हैं। लेकिन यहाँ हमें ह्यूममीय सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक कमजोरियों से कोई सरोकार नहीं बल्कि हमें तो उस तर्कात्मक कठिनाइयों पर विचार करना है जो उस सिद्धांत के कारण उठ खड़ी होती है।

इस कठिनाई को हम यों प्रस्तुत कर सकते हैं कि (१) कारणता को विच्छिन्न अथवा असतत नहीं माना जा सकता यानी एकदम व्याघात दोष किए बिना उसे अन्य घटनाओं के समूह पर घटित एक विशिष्ट घटना का परिणाम नहीं माना जा सकता। यदि उसे हम असतत मानेंगे तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि कारण अ पूर्णरूपेण पहले मौजूद था और परिणाम ब अकस्मात् ही तदनुगत हुआ (इस बात से कि कारण अ, ए, बी०, सी० आदि अनेकों परिस्थितियों से मिलकर बना है और ए० बी०, सी० स्वयं अनुक्रम से अस्तित्व में आयी तथा अ का तब तक कोई अस्तित्व वहाँ न था जब तक कि उपर्युक्त ए० बी० सी० . . . में से अन्तिम कड़ी पूरी नहीं हुई—कोई अन्तर इस सिद्धांत में नहीं पड़ता) लेकिन ऐसा लगता है कि उन आगमनी तर्कशास्त्रियों के, जो आग्रह करते हैं कि प्रत्येक का कारणता में कारण की परिणाम पर पहल होना निहायत जरूरी होता है, कथन का मतलब यही है जो हमने समझा है। लेकिन इस पहल के माने क्या हैं? इसके माने यही हो सकते हैं कि कारण अ में सन्निविष्ट परिस्थितियों के पूर्णतः सिद्ध या प्राप्त हो जाने के बाद और कार्य या परिणाम ब की मौके पर मौजूदगी पहले, बीच में कुछ खाली समयावकाश जरूर रहना चाहिए। घटना प्रवाह के मध्यवर्ती इस समयावकाश को आप चाहे जितना भी संक्षिप्त और 'क्षणिक' क्यों न मानें पर इस अन्तर की मौजूदगी रहेगी जरूर अगर आपके कारणविषयक इस कथन के कोई माने हों कि कारण का कार्य से पहले मौजूद रहना जरूरी होता है। क्योंकि अगर इस तरह का अन्तर या अवकाश न हो और ब अ की परिस्थितियों की संसिद्धि की सहानुवर्ती ही हो तो यह कहना सही न होगा कि ए० बी० सी० आदि सब मौजूद थी और ज्योंही वे मौजूद हुई त्योंही ब भी मौजूद हो गया और इस तरह पर अ और ब के बीच परवर्ती घटनाओं पर पूर्ववर्ती घटना का परिणाम सम्बन्ध नहीं रहता

अपितु वे वस्तुतः साथ ही साथ वर्तमान रहती है।

वास्तव में इस सिद्धान्त का, कि कारण कार्य से पहले रहता है इस अभिमत पर आधारित है कि काल शृंखला ऐसी शृंखला होती है जिसकी प्रत्येक कड़ी से अगली कड़ी मौजूद रहती है। लेकिन यह बात अकल्पनीयमूलक होती है। क्योंकि आप किसी निश्चित समय का परस्पर व्यपदेशी दो भागों में उप-विभाजन मात्र ही नहीं कर सकते, भले ही वह कितना ही सूक्ष्मकाल क्यों न हो, अपितु वह विभाजन विन्दु स्वयं भी उस काल शृंखला के आदिम अंतराल के आदि और अन्त का मध्यवर्ती एक क्षण ही होगा। अतः काल का सातत्य आवश्यक है और यदि कारण भी तत्सदृश ही सतत न होगा तो हमें समझ लेना होगा कि रिक्त समय के ही वे ये अन्तराल हैं जो प्रथम घटना, कारण को अनुवर्तिनी घटना कार्य से, पृथक करते हैं। तो भी यदि इसे अन्य आधारों के कारण एक परिरक्षणीय सिद्धान्त मान लिया जाय तो निष्कर्षतः यह भी मानना होगा कि अ घटनाओं का समूहन ब के घटित होने के लिये आवश्यक परिस्थितियों का साकल्य न होगा। 'परिस्थिति-साकल्य' अर्थात् पूर्वकथित परिभाषानुसार कारण होगा घटनाओं और किंचित रिक्त काल-व्यवधान का योग।[1] और इस प्रकार फिर भी कारण कार्य का पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं होता अगर हो तो हमें रिक्त समय के अन्तराल की समाप्ति को उसी में अन्तर्निविष्ट और ब के प्रारंभ से एक अन्य अन्तराल द्वारा व्यवहित अथवा पृथक्कृत मानना पड़ेगा और यह शृंखला योंही अनन्तशः चलती रहेगी।

न्यूनाधिक तथा स्पष्टतः अवबोधित रूप में इन कठिनाइयों ने बहुत से आधुनिक आगमनी तर्कशास्त्र के लेखकों को उस परिभाषा में जो मिल तक को मंजूर थी—परिवर्तन करने को प्रेरित किया। हमसे अब कहा जाने लगा है कि कारण और कार्य कोई दो पृथक विशिष्ट घटनायें नहीं अपितु वे एक ही सतत प्रक्रिया की दो प्राक्तन और परवर्तिनी दशाओं या स्थितियों के ही नाम हैं। विज्ञान का असली काम विशिष्ट या पृथक घटनाओं या प्रपंचों के मध्यवर्ती 'संबंध विषयक नियमों' की खोज करना नहीं है अपितु ऐसे गणितीय सूत्रों का आविष्कार करना है जिनकी सहायता से हम सतत प्रक्रियाओं के गतिक्रम का अनुसरण कर सकें। इस दृष्टिकोण के अनुसार कारण की खोज करने का काम तब घटकर ऐसे सूत्रों के निर्माण तक ही सीमित रह जाता है जो किसी परिमाण

---

१. **इस बारे में और भी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होंगी कि इस काल-व्यवधान की इयत्ता अ का कृतित्व है अथवा वह कारणीय अनुक्रम या परिणाम के सभी मामलों में एक समान पाया जाता है। किन्तु जब तक कारणीय परिणामता के इस सामान्य सिद्धान्त का हिमायती कोई व्यक्ति नहीं पाया जाता तब तक विवरणात्मक कठिनाइयों पर बहस करना व्यर्थ होगा।**

को काल-चर के क्रियाकलाप के रूप में प्रदर्शित कर सकें। परीक्षणात्मक विज्ञान के स्वरूप विषयक इस रूप को यदि पूरी तरह काम में उतारा जाय तो वह हमें वैज्ञानिक व्याख्या के तथाकथित 'वर्णनात्मक' उस आदर्श की ओर घसीट ले जायगा। जिसका पक्षपोषण, भौतिक विज्ञान शास्त्रियों में से किर्शॅफ, माश और ओस्वाल्ड तथा, आधुनिक दर्शन शास्त्रियों में से एवेनारियस, मंस्टरबर्ग, रॉयस और जेम्सवार्ड आदि ने विविध संशोधनों सहित किया है। इस सिद्धान्तानुसार विज्ञान का और हर हालत में भौतिक विज्ञान का तो अवश्य ही—चरम उद्देश्य अथवा आदर्श केवल इतना ही है कि वह सरलतम और न्यूनतम सामान्य सूत्रों की सहायता से घटना-क्रमों का वर्णन प्रस्तुत किया करे। वस्तुयें या बातें जिस रूप में होती हैं वे क्यों उस तरह पर होती हैं यह बतलाना अब कहा जाता है—विज्ञान के योग्य प्रश्न नहीं है, उसका तो एकमात्र काम है हमें इस बात के परिगणन योग्य बना देना कि वे बातें होंगी कैसे। इस सिद्धान्त द्वारा उठाये गये ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों पर हम आगे चल कर अपनी पुस्तक की तीसरे और चौथे खंड में विचार करेंगे। अभी तो हमें इस बात पर ही विचार करना है कि कारणीय सम्बन्ध[1] पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है।

हमें तत्काल जिस बात से सबसे ज्यादा मतलब है वह यह है कि क्या सभी घटनाओं को सतत प्रक्रियाओं में विघटित कर लेने से कारणता की एकदम आवश्यकता न रहेगी, जैसा कि इस सिद्धान्त-पक्षीय उन लोगों की मान्यता है जो विज्ञान की बोल-चाल में से कारण शब्द को ही निकाल बाहर करने के इच्छुक है।[2] क्योंकि किसी

---

१. अंग्रेजी जानने वाले पाठक के लिए विज्ञान के वर्णनात्मक सिद्धान्त के बारे में सूचनात्मक श्रेष्ठतम सामग्री प्रोफेसर वार्ड लिखित 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसिज्म' नामक पुस्तक के प्रथम भाग में मिलेगी। मॉश लिखित 'सायंस ऑफ मेकनिक्स' नामक पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद में भी वह पर्याप्त मात्रा में है। जर्मन भाषाभिज्ञ विद्यार्थी सुविधापूर्वक इन दोनों पुस्तकों के साथ एवेनारियस लिखित 'Philosophie als Denken der welt gemass dem pirnzip des kleinsten kraftmasses' को भी पढ़ सकते हैं। निश्चय ही प्रोफेसर जे० ए० स्टेवार्ट ने (जुलाई १९०२ की 'माइण्ड' नामक पत्रिका में प्रकाशित उनके लेख में) इस सिद्धान्त को आदर्शवादी तत्त्वमीमांसकों की खोज कह कर गलती की है। आदर्शवादी लोगों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग जिन तरीकों से किया है उनके बारे में और चाहे जो कुछ समझा जाय पर यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि यह उनका आविष्कार है।

२. देखिए माँश विषयक विगत उद्धरण पृ० ४८३, एफएफ तथा पीयर्सन की 'ग्रामर आफ सायंस', अध्याय ४।

सतत प्रक्रिया में यह अपनी मर्जी पर निर्भर होता है कि कहाँ हम अपने मन में वह विभाजन रेखा खींच दें जो 'प्राक्तन' और 'परवर्तिनी' स्थितियों का सीमा निर्देश करे। वह सूत्र जिसकी सहायता से हम, अपने काल-चर को आनुक्रमिक अर्हताओं की श्रृंखला देकर प्रक्रिया का पदक्रम या गतिक्रम खोजा करते हैं, जो कुछ हमारे सामने प्रस्तुत करता है वह प्रक्रिया का 'कारण' नहीं हुआ करता अपितु उस प्रक्रिया का 'नियम' होता है। घटना की 'परवर्तिनी' स्थितियों को 'प्राक्तन' स्थितियों द्वारा नियमित या निर्धारित समझने के बजाय हम उस प्रक्रिया के समग्र को एक ही सिद्धान्त के विवरणात्मक अभिव्यक्ति के रूप में देख रहे होते हैं। अब हमने कारण और कार्य के श्रेणी-विभाजन को त्याग कर उसकी जगह आधार और परिणाम का श्रेणी विभाजन अपना लिया होता है। अब हम समग्र प्रक्रिया के आधार की खोज कालिकतः पूर्वगामी घटनाओं के किसी समूह में न करके, उसके अपने आप में व्याप्त अपने सिद्धान्त में ही कर रहे होते हैं।

इस दृष्टिकोण से देखने पर कार्य का कारण पर वह एक पक्षीय निर्भरत्व जो कारणीय सम्बन्ध का लक्षण है, लुप्त हो जाता है। अब हम प्रक्रिया की परवर्तिनी स्थितियों का अनुमान पूर्वगामी स्थितियों से लगाना चाहें या पूर्वगामिनी स्थितियों का परवर्तिनी स्थितियों से तो यह बात निर्भर होगी हमारे कालचर की विध्यात्मक अथवा नकारात्मक अर्हताओं के अपने चुनाव पर ही। पहले जिस बात को हमने विरोधाभासी संभाव्यता के रूप में वर्णनात्मक विज्ञान के लिए सुझाया था वह वास्तविक तथ्य ही रहा। भूत का निर्धारण भविष्य द्वारा ठीक उसी माने में होता है जिस माने में कि भविष्य का निर्धारण भूत द्वारा हुआ करता है अर्थात् चूँकि दोनों एक ही सतत प्रक्रिया की दो स्थितियाँ हैं, अतः अगर आप प्रक्रिया के सिद्धान्त से अभिज्ञ हैं तो, आप दोनों में से किसी को भी लेकर विचार कर सकते और विमर्श द्वारा दूसरे तक पहुँच सकते हैं।[1] इस प्रकार परीक्षणात्मक विज्ञान की स्वयं अपनी सीमाओं में ही कारणीय सम्बन्ध की कल्पना ने अपनी जगह खाली करके वहाँ, अपने में अन्तर्हित आधार अथवा सिद्धान्त के बल पर एक तर्कसंगत क्रम में आबद्ध घटनाओं की कल्पना को ला बिठाया है। कार्यकर उद्देश्यों के लिए इस परिकल्पना का उपयोग करते समय परीक्षणात्मक विज्ञान को दो प्रतिस्थापनाओं से मार्गदर्शन लेना पड़ता है और दोनों ही प्रतिस्थापनायें तत्वमीमांसा द्वारा न्याय्य नहीं ठहरायी जा सकतीं। उसे मान कर चलना पड़ता है कि (अ) घटनाओं का पदक्रम या गतिक्रम न्यूनाधिकतया स्वतंत्र

---

१. **उदाहरण के लिए, ग्रहणों की गणना भूत और भविष्य के लिए एक समान कुशलतापूर्वक की जा सकती है।**

सतत प्रक्रियाओं के बाहुल्य से बना होता है और प्रत्येक प्रक्रिया का अपना आधार अपने ही भीतर कम से कम उस हद तक होता है कि वह हमारे मतलब के लिए दूसरों से स्वतंत्र मानने योग्य हो। (ब) तथा यह कि सभी घटनाओं का अन्तर्हित आधार या आधारसमूह गणितीय प्रतीकात्मकता के पदों द्वारा पर्याप्ततः व्यक्त किया जा सकता है।

इन दोनों विचार बिन्दुओं में से पहले के बारे में यही कहना है कि वास्तविकता के एकत्व पर किये गये विचारविमर्श ने हमें निश्चय करा दिया था कि अन्ततोगत्वा सकल अस्तित्व का एक ही आधार होना आवश्यक है और इसी लिए किसी भी आंशिक प्रक्रिया का पूर्ण कारण पूर्णतः उसी प्रक्रिया में वर्तमान नहीं रह सकता। विभिन्न प्रक्रियाओं की स्वतन्त्रता अवश्य ही सापेक्ष होना चाहिए और यह विश्वास भी कि उन प्रक्रियाओं को हमारे अपने विशेष प्रयोजनार्थ, आत्मप्रतिष्ठ तथा स्वतंत्र रूप में ग्रहण करने योग्य हमें बना देना पर्याप्त है—अवश्य ही एक ऐसी प्रतिस्थापना होना चाहिए जो हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओं द्वारा प्रोद्भूत हुई हों और अन्त में अपनी सफलता द्वारा न्याय्य सिद्ध हो। दूसरा विचार बिन्दु अधिक पूर्णतया हमारे विचार का विषय आगामी अध्यायों में होगा। यहाँ उसके बारे में एक ही टिप्पणी देना पर्याप्त होगा। सतत प्रकियाओं के नियमों की गण्यता उन्हें संख्यात्मक और परिमाणात्मक रूपों में विघटित कर सक़ने की हमारी अपनी क्षमता पर निर्भर हुआ करती है। किसी प्रकिया की किसी भी स्थिति पर जहाँ कहीं भी किसी नये गुण का आभास मिलता है वहाँ ही सातत्य का भंग स्पष्टतः दिखायी पड़ता है और तब यह हमारी शक्ति के बाहर की बात हो जाती है कि हम प्रकिया की नयी स्थिति को एक ऐसे रूपान्तर की तौर पर पेश कर सकें जिसे पूर्वगामिनी स्थितियों में पहले से ही व्यक्त का रूपान्तर कहा जा सकता हो। इसी लिए घटनाओं के समग्र परिणामों को सतत प्रक्रियाओं में विघटित कर सकने का प्राकृतिक विज्ञान का साफल्य इसी पूर्वग्रहण पर आधारित है कि हम गुणात्मकतया भिन्न इयत्ताओं या परिमाणों के बीच समीकरणों की स्थापना कर सकते हैं।

यह पूर्वग्रहण, पहले वाले पूर्वग्रहण की अपेक्षा कहीं अधिक एक स्पष्ट प्रतिस्थापना है। यह प्रतिस्थापना हमें इसलिए करनी पड़ती है कि हम घटनाक्रम की गणना कर सकें लेकिन इस बात की कोई गारंटी हमारे पास नहीं कि क्रियात्मक सफलता के अतिरिक्त भी यह प्रतिस्थापना सफल होगी। यदि यह कहीं असफल हो—जैसा कि हम आगे चलकर बतलायेंगे कि वह मानसिक घटनाओं के भौतिक. घटनाओं पर हुए परिणामों के बारे में तथा तद्विपरीत मामले में भी असफल होती है, तब उस दशा में दो परिणाम सामने आयेंगे एक क्रियात्मक और दूसरा परिकल्पित

या अपेक्षी। असफलता का क्रियात्मक परिणाम यह होगा कि ऐसे मामलात में हम सतत प्रक्रिया की परिकल्पना का विनियोग न कर सकेंगे और हमें कारणीय परिणाम या अनुक्रम के भोंडे अभिमत का आसरा लेना होगा। इस प्रकार, मनोभौतिक विज्ञान के सृजन का प्रयत्न करते समय हम किसी समग्र मनोभौतिकी प्रक्रिया को किसी एकल सिद्धान्त या नियम की सतत परिप्राप्ति या सिद्ध के रूप में पेश करने की आशा न कर सकेंगे और हमें प्रक्रिया के मानसिक तथा भौतिक पक्षों के बीच कारणीय सम्बन्ध या संयोजन के नियमों की स्थापना मात्र द्वारा ही सन्तुष्ट हो जाना पड़ेगा। असफलता का अपेक्षी या परिकल्पित परिणाम यह होगा कि चूँकि सतत प्रक्रिया विषयक परिकल्पना वहाँ ही विनियोज्य हुआ करती है जहाँ किसी एक ही आधार के अन्तर्गत गुणात्मक विभिन्नताओं को आँख ओझल किया जा सकता हो इसलिये यह परिकल्पना आधार और परिणाम के नियम का केवल अपूर्ण प्रातिनिध्य ही कर सकेगी। यह संकेत हमें उस आनेवाली आलोचना के लिए तैयार कर रखेगा जो काल-प्रक्रिया[1] विषयक तत्वमीमांसा पर जब हम विमर्श करेंगे तो सातत्य विषयक परि-कल्पना के बारे में उठेगी।

८—(ब) **अनिश्चित प्रतिगामिता**—व्याख्यानियम के रूप में कारणीय प्रति-स्थापन के दोष उन दो तरीकों को सामने पेश करके भी दिखाये जा सकते हैं जिनके जरिये वह हमें वह अनिश्चित प्रतिगामिता की ओर ले जाती है। कारणीय श्रृंखला में अनिश्चित प्रतिगामिता कालरचना का अनिवार्य परिणाम हुआ करती है और अपनी इच्छानुसार आप उसे किन्हीं दो घटनाओं या किसी सतत प्रक्रिया की किन्हीं

---

१. आगामिनी खंड ३, अध्याय ४ देखिए। चलते चलाते उस अजीब भारी भूल का जो कारणता के सिद्धान्त को ऊर्जा तथा संमात्रा की अविनाशिता के सिद्धान्त के साथ संकरित करने में लोग बाग कर बैठते हैं, यहाँ जिक्र कर देना ही काफी होगा। यह बात कि कारणता के सिद्धान्त का इन विशिष्ट भौतिकीय सिद्धान्तों के साथ कोई सरोकार नहीं है। इन अभिसंधानों से स्पष्ट हो जायगी कि (१) यह बात तो कम से कम स्वतः सिद्ध नहीं कि सकल कारणीय सम्बध भौतिक हुआ करता है। दार्शनिकों ने वास्तव में इस बात से इनकार कर दिया है कि एक मानसिक स्थिति प्रत्यक्षतः दूसरी मानसिक स्थिति का कारण बनती है लेकिन किसी ने भी अपने उस इनकार का आधार इस दावे को नहीं बनाया कि संमात्रा और ऊर्जा के बिना कोई कारणता [illegible] ही नहीं सकती। (२) यह कि जैसा हम देख चुके हैं, कारणता एक प्रतिस्थापना ही है अगर हम कभी [illegible] घटनाओं के क्रम में सफलतापूर्वक अन्तर्विष्ट हो सके तो अवश्य ही यह संभव हो जायगा कि हम कम से कम निकटतम

दो स्थितियों के किसी भी कारणीय सम्बन्ध के बाहर और भीतर दोनों ही जगह देखा जा सकता है। क्योंकि काल श्रृंखला की संरचना से ही यह निष्कर्षित होता है कि (अ) ऐसे किन्हीं दो अंगों के बीच में, जिनके मध्य एक निश्चित अन्तराल है—श्रृंखलीय पदों की अनिश्चित संख्या मौजूद रहती है और (ब) यह कि श्रृंखला के किसी भी दत्त अंग के आगे या पीछे भी पदों की अनिश्चित संख्या रहा करती है, चूँकि काल-श्रृंखला, सतत अनन्त श्रृंखला की परिभाषा पर खरी उतरती है, इसलिये वास्तविक अंकों की श्रृंखला के समान उसमें भी न तो आदिम न अन्तिम पद या कड़ी हो सकती है न उसके किसी अंग की कोई अगली कड़ी।[1] कारणता के मामले में इसी वात.का विनियोग करने पर निम्नलिखित तर्कना कर सकते हैं :—

(१) उन्हीं कारणों के कारण जो ब घटना के लिए अ कारण की माँग करने तथा उस कारण की खोज परवर्तिनी घटनाओं के पूग या समूह में करने को प्रेरित करते हैं यह आवश्यक हो जाता है कि हम अ का निर्धारण परवर्तिनी घटनाओं के दूसरे समूह द्वारा भी उसी प्रकार करें और यह कि इस अ नामक कारण का स्वयं एक परवर्ती कारण भी होना चाहिए और यह श्रृंखला यों ही अनन्त रूप में चलती जाय। इस प्रकार, यदि कारणीय सिद्धान्त का तर्कसंगत विनियोग करने पर, उसके द्वारा किसी घटना की बुद्धिगम्य व्याख्या हमें नहीं मिल पाती। अ-ब की संक्रान्ति किसी संगत सिद्धान्त की तर्कसंगत अभिव्यक्ति के रूप में प्रदर्शित करने के बजाय वह सिद्धान्त हमें उस संक्रान्ति का मतलब जानने के लिए उसी तरह की संक्रान्ति के किसी पहले वाले नमूने

परिशुद्धतापूर्वक घटनाओं को उनकी परवर्तिनी घटनाओं द्वारा निर्धारित मान सकें। संमात्रा तथा ऊर्जा के अविनाशित्व के सिद्धान्त, इसके विपरीत, द्रव्यात्मक क्रम-व्यवस्थाओं के दृष्ट व्यवहार पर आधारित आनुभविक सामान्यीकरण मात्र ही हैं, न तो विज्ञान को न क्रियात्मक जीवन को ही सफलता के स्वतंत्र अभिसंधान के रूप में उनको जरा सी भी जरूरत है। दैनंदिन क्रियात्मक जीवन के लिए उनकी कभी जरूरत नहीं पड़ती और विज्ञान के योग्यतम प्रतिपादक भी मानने को तैयार हैं कि हमारे पास उन सिद्धान्तों की वैधता के कोई प्रमाण नहीं सिवाय इसके कि उन्हें ताथ्यिक चाक्षुसीकरण द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। संक्षेप में कहा जाय तो वे अनुभवजन्य ही हैं जबकि कारणता का सिद्धान्त, जैसा कि पहले समझाया जा चुका है। प्रागनुभव है। देखिए आगामनी, खंड ३, अध्याय ६—६।

१. दोनों में से किसी में भी प्रथम पद नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में ही दो विपरीत अभिदिशायें होती हैं, एक में सकारात्मक और नकारात्मक तथा दूसरी में पहले और बाद में।

या उदाहरण का हवाला लेने को कहता है और फिर एक अन्य उदाहरण का और यों ही बिना किसी अन्त के, करते रहने को कहता है, किन्तु यह बात असंभव है कि जो कुछ एक नमूने से समझ में न आये वह उसी तरह के बोधगम्यताहीन नमूनों और उदाहरणों की बहुलता मात्र से बोधगम्य हो सके।

(२) इसी तरह से अगर हम संक्रान्ति अ–ब के भीतर देखें। चूँकि यह संक्रान्ति सतत है इसलिए उसमें मध्यवर्तिनी स्थितियाँ भी जरूर होनी चाहिए; अ इसलिए ब बन जाता है चूँकि वह पहले ही स बन चुका होता है और संक्रान्ति अ–स–ब की व्याख्या फिर यह दिखाकर की जा सकती है कि अ द बना जो स बना जो ई बना जो ब बनी। और इन अ–द, द–स, स–ई, ई– ब स्थितियों में से प्रत्येक स्थिति का एक बार फिर उसी प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है। किन्तु मध्यवर्तिनी स्थितियों के इस प्रकार के समग्र अन्तर्वेशन भर में कोई ऐसी बात नहीं जो उस सर्वसामान्य नियम के स्वरूप का दर्शन करा सकती हो जिसके आधार पर स्थितियाँ एक एकल प्रक्रिया का रूप धारण करती हों। उस समय हम वही कर रहे होते हैं जो हम वहाँ करते हैं जहाँ किसी प्रश्न का उत्तर उसकी पुनरावृत्ति करके देने के लिए, पदों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते समय किया करते हैं। और पिछले अध्याय की समाप्ति पर हमने निश्चय कर लिया था कि इस प्रकार की पुनरावृत्ति किसी प्रश्न का उत्तर कभी नहीं बन सकती। किसी भी कारण के विषय में पूछे गये प्रश्न का उत्तर दे सकने में किस तरह यह तरकीब असमर्थ रहती है यह हम देख चुके हैं, हम अगर पूछें कि ब का अस्तित्व क्यों है तो हमें जवाब मिलेगा कि ब का अस्तित्व इसलिए है चूँकि उसका निर्धारण अ के पूर्ववर्ती अस्तित्व द्वारा हुआ है। लेकिन अ का अस्तित्व क्यों है? इसलिए कि उससे पहले स का अस्तित्व था—बस इसी तरह अंततोगत्वा सभी वस्तुओं का अस्तित्व किसी दूसरे की अस्तित्व पर निर्भर बताये चले जाना पड़ता है और उसका किसी दूसरे के अस्तित्व पर। अगर बात ऐसी ही हो कि किसी वस्तु का अस्तित्व तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके कारण का अस्तित्व न हो और वह कारण तब तक नहीं वर्तमान् हो सकता जब तक कि उसके भी कोई कारण अस्तित्व न हो और वह कारण तब तक नहीं वर्तमान हो सकता जब तक उसका भी कोई कारण उससे पहले न रहा हो तो इस तरह कुछ भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। जब कभी भी कारणता-सिद्धांत के तार्किक परिणामों को सोचने की कोशिश की जाय तभी अनिश्चित प्रतिगामिता की इस तरह की अनिवार्य प्रस्तुति को कभी कभी मानवीय मस्तिष्क की अन्तः संश्लिष्ट या निरूढ सदोषता का ही परिचायक माना गया है। उससे जो कुछ सिद्ध होता है वह यह ही कि कारणता सकल अनुभूति के एकत्व के वास्तविक सिद्धांत का समुचित सूत्रीकरण नहीं है।

व्याख्या के चरमसिद्धांत के रूप में कारणता को पेश करने की आदत को छोड़े बिना उपर्युक्त कठिनाई से पार पाने के लिए दार्शनिकों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नों के बारे में एक बात यहाँ कही जा सकती है। इस कठिनाई से छुटकारा पाने की कम से कम दार्शनिक एक ही तरकीब यह है कि एक ऐसे प्रथम कारण की प्रतिस्थापना कर ली जाय जिससे पहले का कोई कारण न हो लेकिन इस स्थापना का मतलव यही होगा कि हम अस्तित्व के आरम्भ की अथवा काल के प्रथम क्षण की स्थापना करें। कठिनाई से उद्धार पाने का यह तरीका स्पष्टतः कारणता के सिद्धांत को उस समय स्वेच्छतया छोड़ भागना है जब उसके प्रति निष्ठावान बने रहना असुविधाजनक हो उठे। 'प्रथम कारण' रूप से ग्रहीत घटना चाहे जिस स्वरूप की क्यों न हो, यदि कारणता सिद्धांत जरा भी तर्कसंगत है तो वह इस घटना पर भी उतना ही सही-तौर पर प्रयोज्य है जितना कि अन्यत्र। आपके इस प्रथम कारण का भी कोई पूर्ववर्ती कारण अवश्य रहा होगा अन्यथा सारी कारणता विषयक योजना ही, जैसा कि हम बता चुके हैं, व्यवस्थित सम्बन्ध के प्रमाणिक नियम का एक ऐसा अतार्किक और अपूर्ण विपर्यास है जो कार्यकर रूप में तो अवश्य ही अपरिहार्य और उपयोगी है किन्तु सिद्धान्त रूप में प्रतिवाद्य।

प्रथम घटना और काल के प्रथम क्षण के वीच विभेद कर सकने की कठिनाई से पार पाने के काम में ऐसे किसी प्रथम कारण की प्रतिस्थापना करने में आप को कोई मदद नहीं मिलेगी, जिसका पूर्ववर्ती अनिश्चित कोई कालाच्युति या कालयापन वर्तमान हो। क्योंकि तब कारणता का सिद्धान्त आपसे अपेक्षा रखेगा कि आप उस पूर्ववर्ती रिक्त कालाच्युति में प्रथम घटना की जो दशायें थीं उनका निर्धारण करें। लेकिन यह च्युति अपनी रिक्तता के कारण किसी भी विशिष्ट घटना को अन्यों पर प्राथमिकता देकर, उसकी निर्धारक दशाओं को आत्मस्थ नहीं कर सकती। यही कारण है कि कारणीय शृंखला के कालपरक प्रारंभ की कल्पना हमें सदा इस असमाधेय पहेली पर ही ला खड़ा करती रही है कि 'किसी अन्य काल क्षण में सृष्टि का सृजन न करके ईश्वर ने उस ही क्षण में जिसमें कि संसार की रचना हुई है—विश्व का सृजन क्यों किया ?'

न इस कठिनाई से, घटनाप्रवाह के सातत्य की शरण लेकर ही बचा जा सकता है। क्योंकि (१) जैसाकि हम देख चुके हैं कि घटनाओं को यदि हम सतत प्रक्रियारूप में ग्रहण करते हैं तो उससे आवश्यक हो जाता है कि हम कारणता सिद्धान्त को, तथ्यों के वास्तविक संबंध को व्यक्त कर सकने में असमर्थ मान ले, आधार और परिणाम या आधेय की श्रेणी के एक विशिष्ट प्रारूप की शक्ल में कारणता, घटित होनेवाली बातों के एक असतत घटनाक्रम-सम्बन्धी दृष्टिकोण के साथ ही सफल या

विफल हो सकती है। और (२) यह कि अगर इस बात को छोड़ भी दिया जाय तो सातत्य की दुहाई ज्यादा से ज्यादा इतना ही तो कर सकती है कि किसी अनिश्चित प्रक्रिया के अनुक्रम के आन्तरिक विश्लेषण का वह जवाब दे सके। जब यह कहा जाय कि किसी दिये गये मामले में कारणता सिद्धान्तानुसार कारण और कार्य के बीच मध्यवर्तिनी दशाओं की अनन्त संख्या होना आवश्यक है तो उसके प्रत्युत्तर में यह तानाज़नी की जा सकती है कि विभिन्न 'स्थितियाँ' 'वास्तव' में पृथक् या भिन्न नहीं हैं बल्कि एक कृत्रिम विविक्ति द्वारा विशिष्टीकृत मात्र है, और प्रक्रिया क्रियात्मकतया एक और सतत है और इसी लिए उसमें किसी प्रकार की अनन्त प्रतिगामिता अन्तर्विष्ट नहीं होती। केवल तर्कशास्त्री ही जो गलती से उस प्रक्रिया को असतत बताता है, इस बात से सहमत नहीं होता। किन्तु अनिर्धारितरूपेण वर्तमान इस प्रकार की बाह्य प्रतिगामिता से आप यों नहीं निबट सकते। किसी सतत प्रक्रिया की परवर्तिनी स्थितियों को पूर्ववर्तिनी स्थितियों द्वारा निर्धारित बताने के सिद्धान्त से आरम्भहीनता की बात तब भी ठीक उसी रूप में सामने आती है जब स्थितियों का विशिष्ट अथवा पृथक् घटनाओं के रूप में ग्रहण किया जाता है। (यह बात इस सीधे-सादे विचार द्वारा आसानी से स्पष्ट देखी जा सकती है कि प्रक्रिया की आनुक्रमिक स्थितियों विषयक आपके सूत्र के कालचर में ∞ से लेकर $+ \infty$ तक की संभाव्य अर्हताओं की एक असीम परास मौजूद हो सकती है।)

संक्षेप में कहा जा सकता है कि, घटनाओं के अनुवर्तन को चाहे सतत माना जा सके या न माना जा सके पर इस स्वयंसिद्ध को, कि जो कुछ होता है उसका आधार उस व्यवस्था के स्वरूप में निहित होता है कि जिस व्यवस्था से वह घटना संबद्ध होती है—इस सिद्धान्त में अनूदित नहीं किया जा सकता कि कालापेक्षतया पश्च पूर्व द्वारा ही पूर्णतया निर्धारित होता और उस पर ही निर्भर होता है साथ ही वह हमें एकदम अनन्त प्रतिगामिता की ओर ही सीधा ले जाता है। और जैसाकि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि अनन्त प्रतिगामिता का आपात सदा इस बात का चिह्न हुआ करता है, कि उस प्रतिगामिता के जनक विचार में कहीं न कहीं कोई अपूर्णता अवश्य वर्तमान है। क्योंकि उसका अभिप्रेतार्थ होता है किसी अनन्त शृंखला की आनुक्रमिक वृद्धि द्वारा हुए वास्तविक संकलन का औपचारिक व्याघात। इस विचार बिन्दु पर और अधिक विमर्श तब तक के लिए स्थगित रखा जा सकता है जब तक कि हम काल सातत्य विषयक विचार-विमर्श तक न पहुँच जायँ।[1]

१. मेरा अनुमान है कि मुझे अपने पाठकों को यह याद दिलाना न होगा कि जब किसी संख्या को किसी अनन्त शृंखला का वास्तविक योगफल कहा जाता है (जैसा कि

९—(ख) **कारण-बाहुल्य**—काल सातत्य के सिद्धांत का सहारा लिए बिना भी एक अन्य प्रकार की वाद युक्ति द्वारा अनिश्चित प्रतिगामिता को कारणता में अन्तर्हित सिद्ध किया जा सकता है। जैसाकि पाठक निःसन्देह अवगत हैं, जॉन स्टुअर्ट मिल का यह एक चहेता सिद्धांत था कि चूँकि एक से कारण का अनुगामी कार्य भी एक-सा ही हुआ करता है—प्रतिकारिनी परिस्थितियों की अनुपस्थिति में—एक से कार्य का कारण भी जरूरी नहीं कि एक-सा ही हो। कोई प्रभाव या कार्य विभिन्न अवसरों पर एकदम भिन्न पूर्ववर्ती समूहों द्वारा उत्पन्न हो सकता है। उदाहरणतः मौत बीमारी से भी हो सकती है और बलप्रयोग से भी तथा बीमारी और बलप्रयोग दोनों ही की शक्लें अलग-अलग हो सकती हैं पर दोनों का प्रभाव या कार्य एक ही है मौत। ताप रगड़ से भी उत्पन्न हो सकता है, आघात से भी तथा रासायनिक संयोजन और अन्य कारणों द्वारा भी। कारण बहुलता का यह सिद्धांत स्पष्टतः इस महत्वपूर्ण क्रियात्मक विचार का सामान्यीकृत रूप है कि विभिन्न उपाय हमें प्रायः एक से ही नतीजे पर ला पहुँचाते हैं और इसीलिए जब हम किसी एक उपाय को काम में नहीं ला पाते तो हम दूसरे का उपयोग अक्सर कर ले सकते हैं।

मिल के आलोचक बताना भूल गये कि मिल का सिद्धांत वस्तुवाचक कारण तथा भाववाचक कार्य के अतार्किक अथवा अतर्कसंगत संयोजन पर आधारित है 'कार्य' अथवा 'प्रभाव' को, उसके अधिकतम सामान्यीकृत रूप में वह केवल एक स्थिति-दशा अथवा गुण ही मानता है उदाहरणतः 'ताप' और 'मौत' को और उसका यह कहना गलत नहीं कि यह सामान्यावस्था अथवा गुण विभिन्न अवसरों पर विभिन्न दशाओं के विभिन्न संयोजनों से उत्पन्न हो सकती है। लेकिन वह यह शायद नहीं देख सका कि किसी वस्तुवाचक मामले में यह प्रभाव या कार्य एक विशिष्ट रूप से परिलक्षित हुआ करता है और अपने पूर्ववर्तियों के विशिष्ट प्रकार के अनुरूप विशिष्ट परिवर्तन भी उसमें वर्तमान रहते हैं। उदाहरण के लिए मौत के हजारों बहाने हो सकते हैं लेकिन हर एक परिस्थिति या मामले में सकल प्रभाव या कार्य कभी भी मौत—मात्र ही नहीं होता बल्कि मौत की शक्ल किसी एक खास तरह की होती है। गोली लगकर मरा आदमी और डूब कर मरा आदमी, मरे जरूर होते हैं, लेकिन दोनों के विशिष्ट मृत्यु-लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं। पानी आपको मार

---

२ को शृंखला $१ + \frac{१}{२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{८}, + \ldots$ अनन्तवार तक का योगफल कहा जाता है।) तब योगफल शब्द का प्रयोग अवकलजत्व तथा अनुपयुक्तार्थद्योतक रूप में इसलिए प्रयुक्त होता है क्योंकि ज्यों ज्यों 'न' अनन्तशः वर्धमान होता है त्यों त्यों 'न' पदों के योगफल की एक सीमित अर्हता कल्पित कर ली जाती है।

डालेगा और गोली भी आपको मार डालेगी। लेकिन गोली लगने का घाव पानी में डूबने से नहीं आ सकता न पानी भरे फेफड़े ही बन्दूक की गोली से पैदा हो सकते हैं। अगर आप कारण और कार्य को वस्तुवाचकता के सम धरातल पर ही ग्रहण करना चाहते हैं तो वे आपको सदा एकदम सह-सम्बद्ध ही मिलेंगे। एक में यदि कोई विचरण होगा तो तदनुकूल विचरण दूसरे में भी जरूर होगा क्योंकि परिस्थितियाँ जो बिना किसी परिणाम के विचरित हुआ करती हैं, परिभाषानुसार उसकी दशाओं का कोई अंग नहीं होतीं।

आगमनी तर्कशास्त्रियों में से मिल की आलोचना करनेवाले यहाँ तक ही पहुँच पाये हैं। लेकिन इस वादमुक्ति को और आगे बढ़ाकर कह सकते हैं कि तर्कानुसार वह युक्ति हमें एक भूलभूलैया में डाल देती है। (१) कि वास्तव में एक 'कार्य' का एक से अधिक 'कारण' नहीं हो सकता। (२) फिर भी किसी ऐसे माने में जहाँ हम विश्व के अन्य कारकों में से किसी अन्यतम 'कार्य' को एक शेष करके उसे उसका 'कारण' समर्पित कर देते हैं तो उस अवस्था में कारण बाहुल्य की संभावना सदा ही बनी रहती है। इस भूलभुलैया के विकल्प पर हम अलग से विचार करेंगे।

(१) कारण और कार्य का कठोरतापूर्वक सहसम्बद्ध रहना बेहद जरूरी है। क्योंकि यह कहना कि कारण में ऐसा वैविध्य हो सकता है जिसका तदनुकूल अनुगमन कार्य में न हो, इस कथन के ही समान होगा कि ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जो नास्ति की परिस्थितियाँ बन सकें; और कारण के वैविध्य के बिना भी कार्य में वैविध्य के स्वीकरण के अर्थ यही होते हैं कि हम मान लें कि ऐसी घटनाएँ होती हैं जो एक साथ ही अपनी पूर्ववर्ती घटनाओं के संयोग द्वारा निर्धारित और अनिर्धारित दोनों ही होती है। इस प्रकार कारणबाहुल्य का निरसन कारण की परिस्थिति-साकल्य रूपी परिकल्पना द्वारा स्वयं ही हो जाता है। इस विचारसरणि का और आगे तक अनुसरण करते हुए हम पाते हैं कि वह हमें परेशानी में डालनेवाले परिणामों पर पहुँचा देती है। 'परिस्थिति-साकल्य' कभी भी वास्तविक साकल्य नहीं होता। क्योंकि घटना-जगत में एकाकी कार्यों और कारणों जैसी कोई वस्तुएँ नहीं होती। वह समग्र तथ्य जिसे हम कार्य नामधेय मानते हैं कभी भी तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि हम उसके साथ की दुनिया की हर एक चीज के साथ के उसके सम्बन्धों का सारा हिसाब-किताब भी साथ ही न बैठा लें। और इसी तरह परिस्थितियों के समग्र समुदाय में वह सब भी शामिल हो जाता है जिससे यह दुनिया बनी है लेकिन कारण और कार्य की परिकल्पना जब इतना विस्तार दे देते हैं तो कारण और कार्य दोनों ही एक दूसरे के तत्सम तो हो ही जाते हैं वे विश्व के समग्र कारकों के अनुरूप भी हो जाते हैं। और इस प्रकार कारणता की तर्कशास्त्रीय विवक्षा करने के हमारे प्रयत्न के बीच में ही, वास्तविकता के तत्वों के अन्तः सम्बन्ध के रूप में स्वयं कारणता का ही लोप हो जाता है।

अध्याय २ में एक और अनेक की समस्या की समीक्षा करते हुए समग्र वास्तविकता के बारे में जो सतत अन्तः सम्बन्ध हमने स्थापित किया था उसी का अनिवार्य परिणाम है यह। दूसरे शब्दों में कहें तो आप किसी भी घटना के संपूर्ण कारण तक तब तक नहीं पहुँच पाते जब तक कि उसकी परिस्थितियों की सकलता का व्योरा आप को नहीं मिल जाता यानी समस्त शेष अस्तित्व के साथ उसके सम्बन्धों की सकलता का व्योरा। लेकिन यह सकलता 'परिस्थिति-साकल्य' जैसे पद द्वारा पूर्वानुमित घटना-बाहुल्य के रूप में प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रकार या रूप में उसे प्राप्त करने के माने होंगे किसी अनन्त श्रृंखला का योग कर सकना। किन्तु जब आप उस अनन्त श्रृंखला के उस प्रारूप का परित्याग कर देते हैं तो कारण और कार्य दोनों ही एक समान रूप से वास्तविकता के व्यवस्थित समग्र के तादात्म्य हो जाते हैं।

(२) दूसरी और कारणीय प्रतिस्थापना की 'उपयोगिता' कारणता के एकल तारों को घटनाप्रवाह में स्थापित कर सकते की हमारी अपनी क्षमता अर्थात् घटनाओं के ऐसे विशिष्ट समुदायों को जो 'सकलता' से कम हैं विशिष्ट परवर्तिनी घटनाओं के साथ, उनकी आवश्यक तथा पर्याप्त परिस्थितियों के रूप में संयुक्त कर दे सकने की हमारी योग्यता पर निर्भर होती है। जब तक हम ऐसा नहीं कर पाते तब तक वांछित परिणाम के उत्पादन में प्रयोज्य क्रियात्मक उपायों के सम्बन्ध में हम किन्हीं नियमों का सूत्रीकरण नहीं कर सकते और जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं, कि अपने परिणामों के उपायों को जानने की आवश्यकता ही कारणीय प्रतिस्थापना को स्थापित करने का मूल ही नहीं अपितु एक मात्र उद्देश्य होता है। विशिष्ट कारणों को विशिष्ट कार्यों के सुपुर्द करने या संयुक्त करने के लिए ही एक ऐसे विभेद का उपयोग करना पड़ता है। जो क्रियात्मकतया उतना ही अधिक आवश्यक है जितना कि सैद्धान्तिकतया कम पक्षपोष्य है। हमें ऐसी अपरिहार्य स्थितियों तथा उपसाधक परिस्थितियों के बीच विभेद करना होता है जो प्रश्नमूलक विशेष परिणाम के स्वरूप को प्रभावित किये बिना प्रस्तुत या अप्रस्तुत हो सकें।

अब यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के विभेद की कृतकार्यता घटनाओं के 'सकल' प्रवाह के किसी निर्धारित भाग के शेष भाग से पार्थक्य और उसके 'प्रश्नगत विशिष्ट परिणाम रूप में', एकाकीकरण पर निर्भर है। और इस प्रकार के एकाकीकरण की स्वेच्छ विविक्त विचारणा पर सदा निर्भर रहना आवश्यक है। घटना-प्रवाह के किसी एक भाग अथवा पहलू का उसके संदर्भ से जब भी कभी एक बार इस प्रकार की स्वेच्छ विविक्त विचारणा या अपसारणा कर ली जाती है तो हम उक्त अपसृष्ट सन्दर्भ के अस्तित्व के स्वीकरण के लिए इस कथन द्वारा बाध्य हो जाते हैं कि जिस सन्दर्भ में कोई कार्य घटित होता है उस सन्दर्भ की प्रकृति के अनुसार ही वह कार्य किन्हीं अन्य वृहत्तर

कार्यों के वैविध्य में सम्मिलित हुआ करता है अथवा उनका अंग बनता है। स्थिति तथा स्थित के पूर्ण सह-सम्बन्ध के सिद्धान्त मात्र से ही अनुगत होता है कि जिसे हम विशिष्ट अथवा भागीय कार्य कहते हैं उसका पूर्ववर्तन परिवर्तिनी परिस्थितियों द्वारा भिन्न भिन्न बृहत्तर समग्रों या सन्दर्भों में उस कार्य के प्रवेश के अनुसार ही हुआ करता है। इस प्रकार ऐसी किसी भी कारणीय प्रतिस्थापना का कोई रूप जिसका हम कोई प्रभावी उपयोग कर सकते हों हमें उसी कारणबाहुल्य को स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य कर देता है जिसे हमने उस कारण कल्पना द्वारा जिसके द्वारा विज्ञान कार्य करता है—तर्कानुसार अपसारित देख चुके हैं। जैसाकि हम ऊपर बता चुके हैं सिद्धांत का कोई भी वह रूप जिसमें यह बात सत्य हो निरर्थक होता है और उसका कोई भी वह रूप जिसमें वह उपयोगी हो असत्य होता है।

तब हमारे विवाद का अन्तिम निष्कर्ष यही निकला जिस कारणीय प्रतिस्थापना के अनुसार घटनाओं का पूर्ण निर्धारण पूर्ववर्तिती घटनाओं द्वारा होना माना जाता है वह हमें मानने को बाध्य करती है कि घटनाप्रवाह सतत नहीं असतत होता है। यह अभिमत या विश्वास अन्तस्थत: आत्म व्याघाती है और अन्ततोगत्वा असत्य भी। इसी लिए कारणीय प्रतिस्थापना कारण और परिणाम अथवा कार्य के सिद्धांत का पर्याप्त प्रातिनिध्य नहीं करती भले ही वह प्रतिस्थापना क्रियात्मकतया कितनी ही अपरिवर्ज्य क्यों न हो। घटना-प्रवाह की सातत्य-कल्पना, समग्र वास्तविकता के व्यवस्थित अन्त: सम्बन्ध विषयक सिद्धांत का कोई अधिक अच्छा सूचीकरण हमें दे सकता है या नहीं इस बात का अधिक अच्छा निर्णय कर सकने में हम अपनी इस पुस्तक की तीसरे खंड में दिये गये विमर्श के बाद ही समर्थ हो सकेगें। यदि वह ऐसा कोई सूत्रीकरण हमें नहीं दे सकता तब हमें मानना पड़ेगा कि कालिक-अनुवर्तन की कल्पना उस तरीके या विधि को जिसके अनुसार वास्तविक अस्तित्व के एक और अनेक का संयोग होता है, व्यक्त कर सकने के लिए पर्याप्त नहीं है यानी काल या समय वास्तविक नहीं अपितु प्रपंचात्मक ही है।

१०—कार्य और कारण सम्बन्ध विषयक जिस 'आवश्यकता' का हमने जिक्र किया है उसके बारे में यहाँ एकाध शब्द कह देना उचित होगा। इस बात में बहुत कम सन्देह है कि इस 'आवश्यकता' का मूल उद्गम उस निरोध विषयक हमारी अपनी भावनाओं में ही पाया जा सकता है जिसका अनुभव हमें तब होता है जब हमारे कार्य का अध्यादेशन बाहर से होता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि हम निरोध की इस भावना का सम्बन्ध उस घटना में नहीं जोड़ सकते जिसका निर्धारण वास्तविकता की शेष व्यवस्था के साथ के उसके सम्बन्ध द्वारा होता है। विज्ञान में कारणीय सम्बन्ध की आवश्यकता का अभिप्राय केवल यही होता है कि यदि परिस्थितियाँ दत्त हों तो परिणाम

या निष्कर्ष अनुगत होगा अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि यदि आप परिस्थितियों के अस्तित्व पर जोर देते हैं तो आपको तर्कानुसार निष्कर्ष के अस्तित्व पर भी जोर देना जरूरी होगा। इस प्रकार निरोध हमारे भीतर से ही आता है और वह सोपाधिक प्रकार का ही होता है तर्क संगततया सोचना जब तक आप का प्रयोजन होता है तब तक आप वाध्यता अथवा निरोध का अनुभव इसलिए करते हैं चूँकि परिस्थिति पर जोर देने के बाद आपका निष्कर्ष पर जोर देने से बचने के लिए कोई न कोई कारण ढूँढ़ना पड़ता ही है। और दर्शनशास्त्र के प्रति ह्यूम की यह एक विशिष्ट सेवा है कि उसने कारणीय सम्वन्ध 'आवश्यकता' विषयक इस व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप को पहली बार स्पष्टतः प्रकट किया यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि उसने आगे चलकर अपने विवेचन को गलतियों के सम्मिश्रण द्वारा तब उलझा दिया जब उसने आधार से परिणाम की तार्किक अनुमिति की आवश्यकता को साहचर्य विषयक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित बताने का प्रयत्न किया।

११—कारणता विषयक अपने विवेचन का उपराम करने से पहले उन कुछ विशेष कठिनाइयों पर ध्यान देना हमारे लिए आवश्यक है जिनके कारण इस समस्या ने कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों की शास्त्रीय व्यवस्था को उलझन में डाल दिया है। ज्ञानातीत और अन्तर्व्याप्त कारणता में बहुधा विभेद कर दिया गया है। जिस सीमा तक किसी एक वस्तु की स्थिति के परिवर्तनों को अन्य वस्तुओं की स्थिति के परिवर्तनों का कारण माना गया है उस हद तक इस सम्बन्ध को तकनीकी तौर पर ज्ञानातीत कारणता विषयक सम्बन्ध माना गया है। दूसरी ओर किसी वस्तु के स्थिति परिवर्तनों के, उसके ही पूर्ववर्ती परिवर्तनों द्वारा निर्धारण करने को अन्तर्व्याप्त कारणता की संज्ञा दी गयी है। इस विभेद के परिणामस्वरूप ज्ञानातीत कारणता के लक्षण के विषय में गंभीर कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं। इस प्रकार की कारणता अर्थात् किसी वस्तु के परिवर्तनों का अन्य वस्तुओं के परिवर्तनों द्वारा निर्धारण अनुभूतिजगत् के अन्योन्य क्रियापरक-बाहुल्य रूपी पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण का एक आवश्यक अथवा मौलिक लक्षण या अंग है।

व्यवस्थित बाहुल्यवाद के लिए तो यह कल्पना अपरिहार्यतः ऐसी कठिनाइयाँ प्रस्तुत कर देती है जिनका हल हो ही नहीं सकता। क्योंकि विविध वास्तविक वस्तुओं की चरम निरपेक्ष स्वातंत्रता का मेल इस स्वीकृति के साथ बिठा सकना असंभव ही है कि किसी एक वस्तु की दशाओं का अनुक्रम अन्य वस्तुओं में से किसी भी वस्तु की दशाओं के अनुक्रम पर निर्भर होता है। यदि वस्तुओं का बाहुल्य परस्पर एक दूसरे से अंततः स्वतंत्र हो तो यह स्पष्ट है कि उनमें से प्रत्येक वस्तु अवश्य ही पूर्णतः ऐसा समग्र रूप होगी कि जो आत्म निर्धारित और अपने विवरणों के आधार को आत्मगत किए हुए भी। विलोमतः यदि किसी वस्तु की व्याख्या उसकी विशुद्ध आभ्यन्तर-व्यवस्था संबंध

विषयक सिद्धांत द्वारा नहीं की जा सकती अपितु उसकी पूर्ण व्याख्या के लिए ऐसी बाह्य वास्तविकता का हवाला देना जरूरी होता है जिसके साथ वह अन्तः सम्बद्ध है, तो समझना चाहिए कि उसकी अनिर्भरता केवल आंशिक ही है। अतः अपने अधिकतर संगत प्रारूपों में बाहुल्यवाद सदा ही ज्ञानातीत कारणता की वास्तविकता से इनकार करने की ही कोशिश करता रहा है और साथ ही सभी कारणीय सम्बन्धों को किसी वस्तु की पूर्ववर्तिनी दशाओं द्वारा निर्धारित आन्तरिक दशा रूप में विघटित करने का प्रयत्न भी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐतिहासिकतया गृहीत मुख्य उपाय है (अ) प्रसंगवाद और (ब) पूर्वस्थापित-समन्वयवाद।

(अ) प्रसंगवाद—दर्शन शास्त्रीय इतिहास में प्रसंगवाद शरीर और मन को एकदम दो विसंवादी और अन्योन्य स्वतंत्र वास्तविकतायें मानते हुए उनके बीच के अन्त सम्बन्ध की विशिष्ट समस्या के कथ्य मान्य हल के रूप में प्रकट हुआ है यद्यपि अपने विस्तृततर अर्थ में वह किन्हीं भी दो स्वतंत्र वास्तविक वस्तुओं के असमान सम्बन्ध की अधिक सर्वसामान्य समस्या पर भी समानतः लागू हो सकता है। इस सिद्धांत का अधिकतर घनिष्ट सम्बन्ध कार्टेजियन दार्शनिकों तथा आर्नल्ड ज्यूलिनेक्स और एन्० मैलेब्रांश के नामों के साथ जुड़ा हुआ है लेकिन बर्कले ने भी अमानसिक वस्तुओं के विशुद्ध निष्क्रियता-विषयक अपने विश्वास के परिणामस्वरूप इसका आंशिक वरण किया था। कार्टेजियन दार्शनिकों की मन और शरीर की एकदम विसंवादता तथा अनिर्भरता विषयक वास्तविकता द्वय की कल्पना को लेकर चलने के कारण ज्यूलिनेक्स और मालेब्रांश को इस आभासी तथ्य का सामना करना पड़ा कि मानसिक स्थिति अथवा दशायें स्वेच्छ-गतिपरक शारीर स्थितियों के रूपान्तरणों की ओर ले जाती हैं और तद्विपरीत जब संवेदना उद्दीपनोद्भूत होती है तभी शारीर स्थितियाँ मानसिक स्थितियों का घटना-निर्धारण कर देती हैं।

'विश्वविषयक प्राकृतिक दृष्टिकोण' इन मामलों को भी ठीक उसी स्तर पर ही जिस पर कि वह किसी एक पिंड के स्थिति परिवर्तन को दूसरे पिण्ड के स्थिति परिवर्तन द्वारा उद्भूत मानता है, वेहिचक स्वीकार करता है और देस्कार्तेज स्वयं भी इस व्याख्या से सहमत था। किन्तु उस प्रकार का अभिमत जैसाकि उसके उत्तराधिकारियों ने अपनाया अस्तित्व के मानसिक और शारीरिक नामक दोनों ही क्रमों की तथा-कथित विसंवादिता और अनिर्भरता से किसी प्रकार भी मेल नहीं खाता। इसी लिए ज्यूलीनेक्स और मालेब्रांश ने इस सिद्धांत की शरण ली कि अन्तःक्रिया केवल आभासी ही हुआ करती है। वास्तव में तो जब भी एक क्रम में हो रही परिवर्तन श्रृंखला का अन्त होता है और दूसरे क्रम की परिवर्तन श्रृंखला का आरम्भ तो क्रिया सातत्य को बतला सकने की पूरी व्याख्या वहाँ मौजूद रहती है। दरअसल होता यह है—उन्होंने बताया

कि भगवान ही एक श्रृंखला को दूसरी के अनुरूप बना देते हैं। शरीर उद्दीपन के घटित होने पर भगवान बीच में पड़ कर उस संवेदना अथवा भावना की सृष्टि कर देते हैं जिसकी आवश्यकता हमारे पर्यावरण के साथ हमारी क्रिया का तालमेल बैठाने के लिये होती है। इसी प्रकार मानसिक इच्छा के घटित होने पर ईश्वर फिर बीच में पड़कर तद्नुकूल आन्दोलन की उत्पत्ति हमारे शरीरतंत्र में करवा देते हैं।

इस प्रकार एक क्रम में होने वाला परिवर्तन ईश्वरीय माध्यम का ही परिणाम होता है, उस ईश्वर के बीच में पड़ने से घटित जो दूसरे क्रम में घटित तद्नुकूल परिवर्तन का भी वास्तविक कारण होता है। प्रत्येक क्रम में एकबार प्रचारित परिवर्तनों की श्रृंखलाओं को तब कारणता द्वारा सम्बद्ध मान लिया जाता है। दैवी हस्तक्षेप तब ही बीच में आता है जब दोनों क्रम एक दूसरे की संगति में आते हैं। बर्कले ने इस सिद्धांत के अर्धभाग को तो स्वीकार कर लिया किन्तु दूसरे अनुपूरक भाग को छोड़ दिया। उसके कथनानुसार, भौतिक या शारीर अथवा अमानस वस्तुएँ प्रस्तुत्यात्मक मनोग्रंथि मात्र अथवा उसकी अपनी शब्दावल्यनुसार 'विचार' मात्र होती हैं और विचार विशुद्धतया निष्क्रिय होते हैं अतः प्रत्येक संवेदना का वास्तविक कारण अवश्य ईश्वर ही होना चाहिए क्योंकि वह ही इस प्रकार प्रत्यक्षतः बीच में पड़कर हमें उन आगे आनेवाली संवेदनाओं का सन्देश देता है जो हमें उस कार्यवाही द्वारा प्राप्त होंगी जो मौजूदा प्रस्तुति पर हम आगे करेंगे। इसकी विलोम दिशायें ज्ञानातीत कारणता को, अर्थात् इच्छाशक्ति अथवा संकल्प द्वारा शारीर आन्दोलन की तात्कालिक उद्भूति को उसने बिना किसी ननुनच के स्वयंसिद्ध तथ्य रूप[1] में ग्रहण कर लिया।

यहाँ बर्कले द्वारा अधिकृत प्रसंगवाद के अर्धांगीण विवरण पर बहस करने की जरूरत नहीं होगी। स्पष्ट ही है कि इस बात की स्वीकृति को कि शारीर परिवर्तन प्रत्यक्षतः मानस परिवर्तनों से ही उद्भूत होते हैं, सकल ज्ञानातीत कारणता की विलोम दिशीय अस्वीकृति से संगततया संयुक्त या सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। यदि समग्र भौतिक अस्तित्व जिसमें मेरा अपना शरीर भी शामिल है—प्रस्तुतियों की निष्क्रिय मनोग्रंथि अथवा सम्मिश्र मात्र की प्रस्तुतियों से अधिक कुछ नहीं है तो यह समझ सकना कितना कठिन होगा कि वह मानसोद्भूत परिवर्तन का प्राप्तिकर्ता इस माने में कैसे हो

---

१. संक्षेपतः यहाँ लिखे गये विविध अभिमतों के लिए मूल स्रोत देखिए, ज्यूलिनेक्स—'मेटाफिजिका वेरा' पार्स प्राइमा, ५–८; मालेब्रांश—'एन्ट्रेटियन्स सर लां मेटा फिजिक एट् सर ला रिलिजियन, सप्तम कथोपकथन; वर्कले कृत 'न्यू थियरी ऑफ विजन', पृ० १४७–१४८; 'पिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज', २५–३३, ५१–५३, ५७, १५०, सेकेंड डायलाग विट्वीन हइलास एण्ड फिलोनस

सकता है कि वह यह भी जान सकें कि वह मानस परिवर्तनों का मूलोत्पादन कैसे कर सकता है। जो किसी माने में भी क्रियाशीलता अथवा सक्रिय नहीं होता वह निष्क्रिय नहीं हो सकता क्योंकि निष्क्रियता के माने होते हैं केवल निरोधित अथवा कुंठागत क्रियाशीलता या सक्रियता।

अतएव हम कोरे प्रसंगवाद तक ही अपने आपको सीमित नहीं रख सकते। इस प्रकार के प्रसंगवाद के विरुद्ध एक यह स्पष्ट एतराज या आपत्ति है कि वह हमारे समस्त अस्तित्व क्रम को चमत्कारों के एक लम्बे अनुक्रम में रूपान्तरित कर देता है और इसी बात को लेकर लीबनिट्ज मालेब्रांश की आलोचना में हेठपूर्वक प्रवृत्त होने का शौकीन बना था। और यह सिद्धांत भी वास्तव में आत्मसंगत दो कारणों से नहीं है। (१) यह स्पष्ट है कि कारणता की किसी भी संभव परिभाषानुसार, प्रसंगवाद के सिद्धांत में एक ओर परमात्मा और दूसरी ओर वास्तविकता के अनुमानतः विसंवादी दोनों ही क्रमों के बीच की कारणीय अन्तःक्रिया भी शामिल है। किसी भी एक क्रम में होनेवाले परिवर्तन निश्चिततया तथा दूसरे क्रम के निश्चिततया निर्धारित परिवर्तनों का प्रवर्तक ईश्वरीय हस्तक्षेप को ही मानते हैं। इस प्रकार ईश्वर कृत आन्तरिक निर्धारण ही दोनों क्रमों में हुए परिवर्तनों के कारण और कार्य दोनों होते हैं। लेकिन उदाहरणतः यदि स्थिति विषयक कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन ईश्वरीय निर्धारण कारण हो सकता है तो इस बात की अस्वीकृति का कि किसी एक भौतिक क्रम में होनेवाला परिवर्तन वास्तविकता के दूसरे क्रम में भी परिवर्तन का प्रवर्तन कर दे सकता है—सारा दारोमदार या आधार ही, रह जाता है। अतः इस सिद्धांत का नकद निष्कर्ष केवल इतना ही रह जाता है कि वह दोनों ही क्रमों की परस्पराधारित ज्ञानतीत क्रिया की पुनः स्थापना द्रविड़ी प्राणयास सदृश एक चक्करदार परिपथ के आधार पर ईश्वरीय मानस द्वारा की जाय।

ज्यूलिनेक्स और मालेब्रांश के मन में जो कुछ था वह यही सीधा-सादा-सा विचार था कि हम यह नहीं बता सकते कि कोई भी भौतिक परिवर्तन कैसे मानसिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है अथवा तद्विलोम।[1] लेकिन इस समस्सा का हल निकालने में ईश्वर या परमात्मा जैसे एक तीसरे कारक को बीच में ला घुसेड़ने से जरा सी भी प्रगति हमारी नहीं होती। किसी एक क्रम में होने वाले परिवर्तन से परमात्मा के मन में यह निर्धारण क्यों कर उत्पन्न हो सकता है कि वह दूसरे क्रमों के परिवर्तन का निर्धारण करे और फिर वह कैसे तद्नुकूल परिवर्तन ही दूसरे क्रम में कर दे सकता है ये दोनों ही एक ही तरह की असाध्य समस्यायें हैं जिनका समाधान उन दोनों ही दार्शनिकों

१. ज्यूलिनेक्स इस नियम को निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त करता है (देखिए विगत उद्धरण खंड १,५), क्वोड नैसिस क्वोमोडो फियत, इड नॉन फैसिस।

को ढूंढ़ निकालना था। तीसरे कारक के रूप में कारणीय समस्या में ईश्वर को बीच में लेने के बावजूद भी बात जहाँ थी वहाँ ही रह जाती है कि एक क्रम में होने वाले कुछ निश्चित परिवर्तन दूसरे क्रम में हुए परिवर्तनों के परिणाम या अनुगत होते हैं और सही तौर पर यही वह तथ्य है जो ज्ञानातीत कारणता नामक अभिधान द्वारा अभिधेय होता है।

निश्चय ही इस समस्या का रूप ही बदल जाय अगर ईश्वर की कल्पना, वास्तविकता की समग्र व्यवस्था की एक अन्य अभिव्यक्ति रूप में कर ली जाय। और तब प्रसंगवाद का यह सिद्धांत इस दृष्टिकोण का एक कथन मात्र बन जाय कि कोई भी दो वस्तुयें परस्पर स्वतंत्र नहीं होती और यह कि एक वृहत्तर व्यवस्थित समग्र में शामिल कर लिए जाने के कारण ही वे जिन्हें हम पृथक् वस्तुएँ नाम से पुकारते हैं एक दूसरे को प्रभावित कर सकती हैं। किन्तु अनेकों ऐसी उन व्याजोक्तियों के बावजूद जो इस दृष्टिकोण की ओर इंगित करती है, यह निश्चत ही है कि प्रसंगवाद को उसके रचियता गंभीरतापूर्वक ठीक पारंपरिक प्रथानुसार कारणता की समस्या के हल के रूप में ही प्रस्तुत करना चाहते थे।

(२) इस सिद्धांत का दूसरा दोष उसे कारणता सम्बन्ध विषयक सभी मामलों पर लागू करने में उसके प्रवर्तकों की असफलता के सिर आता है। यह केवल एक हठधार्मिता ही है जो ज्यूलिनेक्श और मालेब्रांश अपने आपको यह मान लेने की छूट देते हैं कि भौतिक परिवर्तन का अपने पूर्ववर्ती भौतिक परिवर्तन के साथ आनुपूर्व्य तथा मानस परिवर्तन का अपने से पहले के मानस परिवर्तन के साथ का आनुपूर्व्य किसी मानस परिवर्तन के किसी भौतिक परिवर्तन के साथ के आनुपूर्व्य की अपेक्षा कहीं अधिक स्वतः स्पष्ट होता दोनों ही मामलों में हम इस बात का निश्चय कर सकते हैं कि एक दशा या स्थिति अपने से पहली किसी स्थिति का निश्चय ही अनुगमन करती है और दोनों ही मामलात में से हम किसी के बारे में भी अन्ततोगत्वा इस निरर्थक प्रश्न का जवाब नहीं दे सकते कि किस यंत्र द्वारा यह परिवर्तन कराया जाता है। क्योंकि कोई जवाब जो दिया जाय उसमें किसी माध्य कड़ी का अन्तर्वर्तन जरूर ही शामिल होना चाहिए और इस माध्य कड़ी के उत्पादन के सम्बन्ध में वही प्रश्न फिर उठ खड़ा होता है और इस प्रकार फिर हम उस अनिश्चित प्रतिगामिता पर आ पहुँचते हैं जो इस बात की अपरिवर्तनीय पहचान है कि हम एक निरर्थक प्रश्न पूछ रहे थे।

(ब) पूर्व स्थापित सामञ्जस्य—वस्तुओं की आभासी अन्योन्य क्रिया के साथ बाहुल्यवाद की पटरी बैठाने का लिबनिट्ज का प्रयत्न कहीं अधिक दार्शनिक प्रयत्न था। लिबनिट्ज़ के कथनानुसार प्रत्येक अन्तिमतः वास्तविक वस्तु अथवा परमाणु एक स्वतः पूर्ण समग्र होता है और इसी लिये स्वयं उसके भीतर ही उसकी अपनी

स्थितियों के आनुपूर्व्य का आधार मौजूद रहता है। अतः एक परमाणु में दूसरे परमाणु में घटित परिवर्तनों के कारण किसी परिवर्तन का वास्तविक प्रवर्तन नहीं हो सकता। प्रत्येक परमाणु का जीवन अवश्य ही एकदम स्वयं अपने ही आभ्यन्तर स्वरूप के विकास का जीवन होना चाहिए। लीबनिट्ज़ के अपने शब्दों के अनुसार परमाणु में ऐसे कोई वातायन नहीं होते जिनमें होकर स्थितियाँ और गुण एक से दूसरी की ओर उड़ जा सकें। फिर भी आभासी तथ्य का कोई कारण तो बतलाना ही होगा कि चूँकि अनुभूति की यह दुनिया एक विभ्राट मात्र नहीं है इसलिए किसी एक वस्तु में हुए परिवर्तन दूसरी वस्तुओं में हुए परिवर्तनों से किसी निश्चित नियम विधि या कानून द्वारा सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

लीबनिट्ज़ के कथनानुसार इस आभासी अन्योन्य क्रिया का कारण तभी बताया जा सकता है यदि हम परमाणुओं के मध्य पूर्वस्थापित सामंजस्य के सिद्धांत द्वारा प्रस्तुत प्रसंगवादी सर्वकालीन चमत्कार को सहन कर सकने से इनकार कर दें। यदि सभी स्वतंत्र परमाणु इस प्रकृति के हों कि उनमें से प्रत्येक, जहाँ अपने विकास के नियमों का क्रियात्मक रूप से पालन करते हुए शेष दूसरे सभी परमाणुओं के आभ्यन्तर विकास के लिए वांछित तरीके पर भी चले या व्यवहार करे तब, उनमें से प्रत्येक के वास्तव में स्वतः पूर्ण होते हुए भी, अन्योन्य क्रिया का आभास प्रस्तुत होगा ही। इस प्रकार के सामञ्जस्य की संभावना को उदाहृत करने के लिए लीबनिट्ज़ दो ऐसी घड़ियों का मामला प्रस्तुत करता है जो एक दूसरे के अनुसार समयावर्तन करती है यद्यपि न तो एक को दूसरी के साथ वस्तुतः मिलाया जाता है और न उनके बीच किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध ही बनाये रखा जाता है बल्कि उनमें समयान्तर केवल इसलिए नहीं होता यतः दोनों ही ठीक से बनायी गयी हैं। दूसरा उदाहरण वह ऐसे वादकों का देता है जो एक ही गीत की तान पर अपना-अपना बाजा अलग-अलग बजा रहे होते हैं पर एक दूसरे को देख नहीं पाते। फिर भी उनके ताल और स्वर साथ इसलिए दे रहे होते हैं चूँकि उनमें से प्रत्येक अपने संगीत को ठीक से बजा रहा होता है।

संभवतः यही वह परम सन्तोषजनक उपाय है जिसके द्वारा आभासी मिथः क्रिया का ताल-मेल आमूल परिवर्तनपरक बाहुल्यवाद के साथ बैठाया जा सकता है। लेकिन इसके तार्किक दोष उसके चेहरे पर ही छपे दीखते हैं। जब हम पूछते हैं कि विभिन्न परमाणुओं के आभ्यन्तर स्थितियों के बीच का सामञ्जस्य किस के कारण उत्पन्न होता है तो लीबनिट्ज दोनों उत्तरों में से कौन सा उत्तर दे यह सोचकर हिचकिचाता है। एक जवाब के अनुसार जहाँ वह सामञ्जस्य उस ईश्वरेच्छा पर निर्भर कहा जाता है जिस ईश्वर ने अपनी बुद्धि द्वारा सभी संभव श्रेष्ठतम विश्वों की स्थापना करना उचित समझा। लेकिन साथ ही साथ इस विशिष्ट विश्व-व्यवस्था के परमाणुओं

के मध्य वर्तमान सामंजस्य का ईश्वर द्वारा स्वीकरण ही वह वस्तु है जिसने उस ईश्वर को पूर्ववर्तिनी संभाव्य विश्व-व्यवस्थाओं की अपेक्षा इस व्यवस्था को तरजीह या अधिमान देने के लिये प्रेरित किया और उसने दूसरी व्यवस्थाओं की अपेक्षा इस विश्व-व्यवस्था को संभावना मात्र के क्षेत्र से निकालकर वास्तविक अथवा क्रियात्मक अस्तित्व प्रदान किया।

अब यह स्पष्ट दीखता है कि अगर ईश्वर की सृजनात्मक क्रियाशीलता को दरअसल सहीतौर पर मानना है तव इस व्यवस्था के साथ ईश्वर का सम्बन्ध ज्ञानातीत कारणता का ही अवश्य होना चाहिए। लेकिन अगर परमाणुओं के एकल मामले में ही ईश्वरीय अभिवृत्ति की ज्ञानातीत कारणता को स्वीकार किया जाता है तव यह वात कुछ ज्यादा स्पष्ट नहीं मालूम देती कि स्वयं परमाणुओं के पारस्परिक संबंध विपयक अभिवृत्तियों के मामले में उस कारणता से क्यों इनकार किया जाता है। क्योंकि अब तो प्रत्येक परमाणु कम से कम एक ऐसा लक्षण तो है जिसका आधार स्वयं परमाणु में न होकर ईश्वर में है, नामतः उसका वास्तविक अस्तित्व।[१] और जब यह नियम या सिद्धांत कि प्रत्येक परमाणु अपने सब लक्षणों का आधार स्वयं ही है एक बार त्यागा जा रहा है तब फिर ऐसी कोई वजह नहीं रह जाती जिसके आधार पर अन्योन्य क्रिया से इनकार किया जाय। लेकिन अगर दूसरी तरफ हम इस अभिमत पर जोर दें कि उपयुक्त सामञ्जस्य स्वेच्छ सृजनात्मक क्रियाशीलता का ही परिणाम मात्र नहीं अपितु परमाणुजगत की कल्पना में ही निहित एक ऐसा लक्षण है जिसे एक संभाव्यता मात्र समझा जाता था, तब हम क्यों न इसी के बराबर एक ऐसे विश्व की कल्पना कर लें जो अन्योन्य क्रिया पर तथा परस्पर सम्बद्ध और इसी लिए अन्ततः अस्वतंत्र वस्तुओं का विश्व हो तथा जो वास्तविक रूप ग्रहण कर सकने का दावा भी कर सके, लीबनिट्ज का वह बाहुल्यवाद जिसका तार्किक परिणाम ज्ञानातीत कारणता की यह अस्वीकृति है, अनालोचित दुराग्रहों या पूर्वाग्रहों से बढ़कर अच्छी किसी वस्तु पर आधारित नहीं प्रतीत होती।[२]

---

१. बात ऐसी नहीं कि बोध्यरूप में अस्तित्व को एक लक्षण न माना जा सके। इस बारे में काण्ट की 'जीव विज्ञानी प्रमाण' विषयक आलोचना परिणामी अथवा अन्तिम प्रतीत होती है। किन्तु लिबनिट्ज के दृष्टिकोण से देखने पर एक ऐसे अतिरिक्त विधेय रूप में उसकी कल्पना करना जरूरी होगा जो 'संभाव्य' रूप में विश्व कल्पना में पहले से ही मौजूद विधेयों के साथ ईश्वर के सृजनात्मक कार्य द्वारा येन-केन प्रकारेण जोड़ दिया गया हो।

२. लीबनिट्ज के सिद्धांत के अधिक अनुशीलनार्थ देखिए 'दि मोण्डालॉजी एँट् ऑफ

१२—संक्षेप में यहाँ ज्ञानातीत कारणता विषयक समस्या के उस अभिमत का भी जिक्र कर दिया जाय जो कारणीय प्रतिस्थापना सम्वन्धी हमारे विचार-विमर्श में भी शामिल है। क्योंकि ऐसे किसी भी प्रयोजन के लिए ही जिसके कारण विश्व को वस्तुओं के एक वाहुल्य के रूप में कल्पित कर लेना संभाव्य तथा वान्छनीय माना जाय, ज्ञानातीत कारणता को स्थिर रखने की जरूरत है और वह भी इसलिए क्योंकि विश्व की वस्तुएं अन्त में जाकर एक सम्बद्ध व्यवस्था का रूप धारण करती हैं अतः किसी वस्तु की स्थितियों का पूर्ण आधार आत्मस्थ नहीं हो सकता अपितु उसे समग्र व्यवस्था में स्थित ही होना चाहिए। ऐसे किसी माने में जिसमें वस्तुओं की बहुलतायें मौजूद हों और जिसमें आधार और परिणाम के नियम को निकटतम प्रकार से परिवर्तनी घटनाओं के पूर्ववर्तिनी घटनाओं द्वारा कारणीय निर्धारण रूप में पेश किया जा सकता हो वहाँ हमें तैयार रहना होगा कि किसी वस्तु की स्थितियाँ अन्य वस्तुओं की परिवर्तिनी स्थितियों की प्रतिबन्धक रूप में वहाँ मौजूद हों। लेकिन फिर, चूँकि आभासी रूप में पृथक् वस्तुएं पूरी तरह पर स्वतंत्र अथवा अनिर्भर नहीं होतीं अपितु किसी एकल व्यवस्था की विवरणात्मक आत्माभिव्यक्ति मात्र होती है अतः ज्ञानातीत कारणता का अन्ततः आभासी होना आवश्यक होता है। अतः वस्तुओं का मध्यवर्ती सारा अन्योन्य सम्बन्ध वास्तविकता की एकल व्यवस्था उन वस्तुओं के समावेश पर निर्भर होता है अतः कहा जा सकता है कि जब आप समग्र को अपने ब्योरे में दाखिल कर रहे होते हैं तब सारी कारणता अन्ततोगत्वा अन्तर्व्याप्त होती है। लेकिन फिर, जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं, कि आधार और परिणाम के नियम के अनुसार, अन्तर्व्याप्त कारणता समग्र अस्तित्व के व्यवस्थित सम्बन्ध को व्यक्त करने का एक अपूर्ण अथवा अयथार्थ तरीका है। पूरी तरह सोचकर यदि देखा जाय तो समग्र की एक स्थिति का पूर्ववर्तिनी अन्य स्थिति द्वारा निर्धारण वाला, अन्तर्व्याप्त कारणता का रूप, इस विशुद्ध तार्किक नियम द्वारा कि वे दोनों ही स्थितियाँ मिलकर संरचना के एकल संगत नियम की विवरणात्मक अभिव्यक्ति मात्र ही होती हैं—विविध वस्तुओं के अन्योन्य-सम्बन्ध की कल्पना में रूपान्तरित हो जाता है। और इस प्रकार सारी कारणता अन्तिम रूप में अयथार्थ अथवा अपूर्ण आभास ही रह जाती है।

लीबनिट्ज', आर० लाटा द्वारा सम्पादित, भूमिका भाग २ और ३ तथा 'मोण्डालॉजी न्यू सिस्टम् आफ दि कम्यूनिकेशन आफ सब्टैन्सेज,' का अनुवाद 'फर्स्ट एण्ड थर्ड एक्सप्लैनेशन्स आफ दि न्यू सिस्टम्' सहित। साथ ही देखिए बी० रसेल कृत आलोचना, 'दि फिलांसफी आफ लीबनिट्ज,' अध्याय ४ तथा उसके आगे के अध्याय।

निम्नलिखित बात कुछ रुचिकर रहेगी। जैसाकि हम देख चुके हैं कि व्यष्टिगत अनुभूति में ही अन्त में उस प्रकार की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता और आभ्यन्तर एकता मौजूद रह सकती है जिसे विचारणा वस्तु विषयक लक्षण के रूप में व्यक्त करना चाहती है। यह यहाँ यह भी जोड़ दे सकते हैं कि ठीक उसी मात्रा में जिनमें कि किसी अस्तित्व में यह वैयक्तिकता अथवा व्यष्टता मौजूद होती है और तद्नुसार वह स्वतः पूर्ण समग्र रूप होता है, उसके व्यवहार का आधार स्वयं उसी वस्तु के भीतर मौजूद रहेगा। इसी लिए कोई वस्तु जितनी ही अधिक व्यष्ट होगी उतनी ही अधिक वे प्रतिबन्ध जिन पर उस वस्तु की स्थितियाँ निर्भर होती हैं, उसी वस्तु की अन्य स्थितियों में समाविष्ट तब प्रतीत होते हैं जब हम कारणता की प्रतिस्थापना का विनियोग उस मामले में करते हैं। अतः जितनी ही अधिक व्यष्टता किसी वस्तु में होगी ज्ञानातीत कारणता से भिन्न अन्तर्व्याप्ति कारणता उतनी ही अधिक पूर्णता के साथ उसके आभ्यन्तर गठन में प्रकट होगी अर्थात् वह वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ हुए उसके समागम में उतने ही कम रूपान्तरणों में से गुजरेगी। यदि हम परिवर्तनार्थ प्राप्त बाहरी प्रेरणाओं या उकसाहट के बावजूद आभ्यन्तर गठन के अपरिवर्तित रख-रखाव को 'मूलानुपातिनी क्रियाशीलता' शब्द से व्यक्त करें तो हम अपने निष्कर्ष को यह कह कर प्रकट कर सकते हैं कि जितनी ही अधिक कोई वस्तु व्यष्ट होगी उतनी ही मूलानुपाततः वह सक्रिय होगी।

नैतिक तथा सामाजिक जीवन की विशिष्ट समस्याओं से जब हमें काम पड़ेगा तो कारणता विषयक निर्धारण के नैतिक स्वतान्त्रय तथा दायित्व के साथ सम्बन्ध के बारे में और भी प्रश्न हमारे सामने आयेंगे साथ ही हमें उस निर्धारण के साध्यहेतुक सोद्देश्य कर्म के साथ सम्बन्ध के बारे में भी ऐसे प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा। हमारा पूर्ववर्ती विचारविमर्श तब इन अधिक पेचीदें सवालात के लिए, उन कठिनाइयों को जो उठ खड़ी होती हैं जब कारणीय प्रतिस्थापना को वास्तविकता के व्यवस्थित स्वरूप के भाषान्तरण के स्वयंसिद्ध नियम या सिद्धांत के रूप में गलत तौर पर मान लिया जाता है। दूर करने के लिए रास्ता साफ कर देने वाला सिद्ध होगा।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—बी० बोसान्क्वेट कृत 'एलिमेण्ट्स आफ लॉजिक,' पृष्ठ १६४, १६५; 'लॉजिक' खंड १, पृ० २३३, एफएफ०, खंड २, पृ० २१२; एफएफ०; एफ० एच० ब्रडले, 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय ५ (मोशन एण्ड चेंज), ६ (काजेशन), ७ (एक्टिविटी), ८ (थिंग्ज); एच० लोट्जे, 'मेटाफिजिक्स', खंड १, अध्याय ४ (बिकमिंग एण्ड चेंज), ५ (नेचर आफ फिजिकल एक्शन); एच० टी० हॉबहाउस, 'थियरी ऑफ नौलेज', भाग २, अध्याय ८, १५, (कारणबाहुल्य विषयक विमर्श के लिए); कार्लपियर्सन, 'ग्रामर आफ साइन्स', अध्याय ३ और ४;

बी० रसेल, 'फिलॉसफी आफ लीबनिट्ज', अध्याय ४, ११ (प्रिएस्टैबिल्स्ड हार्मनी); जेम्सवार्ड, 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर्स २–६; ह्यूम का कारणता विषयक प्रसिद्ध विमर्श (ट्रीटाइज आफ ह्यूमन नेचर, खंड १, भाग ३, ३–१५) का मूल्य आज भी कम नहीं हुआ ऐसा मुझे लगता है और शायद आधुनिक दर्शनशास्त्र की सबसे अधिक महत्वपर्ण एकल देन है कारणता विषयक व्यवस्थित विमर्श को।

तृतीय खण्ड

विश्व विज्ञान—प्रकृति की व्याख्या

अध्याय १

आमुखीय निर्वचक

१—परीक्षणात्मक विज्ञानों तथा मन और प्रकृति-विषयक दर्शन में भेद। परीक्षणात्मक विज्ञानों का विषय है तथ्यों का वर्णन करना और प्रकृति और मानस दर्शन का काम है उन तथ्यों की व्याख्या करना। २—भौतिक क्रम व्यवस्था के विशिष्ट लक्षणों की आलोचनात्मक परीक्षा करने का ही नाम विश्व विज्ञान है। उसकी मुख्य समस्यायें हैं (१) द्रव्यात्मक अस्तित्व या पिण्डास्त्वि की प्रकृति की समस्या; (२) प्रकृति की यांत्रिक एकरसता विषय कल्पना को न्याय्यसिद्ध करने की समस्या; (३) देश-काल की समस्या, (४) विकास की सार्थकताविषयक समस्या; (५) मानवीय ज्ञान शास्त्र में वर्णनामक भौतिक विज्ञान के स्थान निर्णय की समस्या।

१—अपने आगे के शेष दोनों खंडों में हमें वास्तविकता की दो 'क्रम-व्यवस्थाओं', भौतिक तथा मानस के आभासी अस्तित्व से उद्‌भूत उन प्रारम्भिकतर समस्याओं का विवरण देना होगा जो एक बार फिर बहुत कुछ अन्योन्य मिथः क्रिया पर प्रतीत होती है। इस खंड में हम कुछ उन अग्रगामी लक्षणों पर विचार करेंगे जिन्हें हमारी दैनिक विचारप्रणाली ने और वैज्ञानिक विचारसरणि ने भी क्रमशः भौतिक प्रकार का बताया है। और हम भी जिज्ञासा करेंगे कि ये लक्षण उन लक्षणों की तुलना में कैसे वैठते हैं जिन्हें वास्तविकता के साथ संयुक्त करने का कारण हमें मिल चुका है। अर्थात् हम प्रयत्न करेंगे ऐसे सिद्धांत के सूत्रीकरण की जो वास्तविकता की सकल क्रम-व्यवस्था में भौतिक अस्तित्व का स्थान निर्धारण करें। चौथे खंड में हम इसी तरीके पर प्रचलित रूप में प्रकल्प्यमान मानस-क्रम व्यवस्था के प्रधान लक्षणों तथा भौतिक क्रम व्यवस्था के साथ उसके सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में विचार करेंगे। इन विषयों पर विचार करने का हमारा तरीका आवश्यक रूप से अपूर्ण और प्रारम्भिक या बचकाना ही अनेक कारणवश होगा, जिन तथ्यों पर हमें कुछ विचार करना आवश्यक है वे न केवल इतने बहुसंख्यक और उलझे हुए है कि उन पर काबू पाने के लिये भौतिक और मानस विज्ञान संबंधी परीक्षणात्मक विज्ञानों के समग्र क्षेत्र के साथ विश्वकोषात्मक परिचय जैसी किसी चीज की जरूरत पड़ेगी। लेकिन उनकी पर्याप्त व्याख्या के लिए विशेषतः उसकी विश्व विज्ञानीय शाखा के लिए गणितीय सिद्धांत के चरम आधारों के साथ घनिष्ठ परिचय होना जरूरी है। और इस तरह का परिचय

परीक्षापरक वैज्ञानिकों तथा तत्त्वमीमांसकों में बहुत कम पाया जाता है। अपने ग्रन्थ के इस भाग में ज्यादा से ज्यादा हम जो कुछ कर पा सकते हैं वह इतना ही होगा कि सामान्य सिद्धांतों या नियमों के बारे में एक दो मोटे मोटे निष्कर्षों की स्थापना कर सकें, व्याख्या की बारीकियों के बारे में हम जो कुछ भी सुझाव दे सकेंगे वे माने हुए तौर पर आरजी या आनुमानिक होंगे।

प्रकृति विषयक दर्शनशास्त्र तथा मानस-दर्शनशास्त्र के कर्तव्य कर्म तथा उन परीक्षणात्मक विज्ञानों के जिन्हें भौतिक और मानस व्यवस्थाओं के साथ सीधा काम पड़ता है, कर्तव्य कर्म के बीच विभेद करने में हमें सावधानी से काम लेना जरूरी है। परीक्षणात्मक विज्ञानों का मूलाधारी काम जैसा कि हम देख चुके हैं यही है कि वे ऐसे वर्णनात्मक सूत्रों को ढूँढ निकालें जिनकी सहायता से भौतिक तथा मानस क्रम-व्यवस्थाओं की निर्मात्री विधित प्रक्रियाओं का चित्रण और परिसंख्यान किया जा सके। ये सूत्र जितने ही कम और सीधे-सादे होंगे आगे उतनी ही अधिक बचत गणन की मेहनत की उनके द्वारा होगी उतना ही ज्यादा पूरी तौर पर परीक्षणात्मक विज्ञान उस काम को अंजाम दे सकेंगे जिसकी हम उनसे आशा करते हैं और तबतक हमारे ये सूत्र गणन का यह काम अच्छी तरह पर किये चले जाते हैं तब तक परीक्षणात्मक विज्ञानों को इस बात की परवाह नहीं होगी कि वे सूत्र जिस भाषा में ग्रथित हुए हैं वह 'वास्तविकता' का प्रातिनिध्य करती है या नहीं। हमारे भौतिक सूत्रों विषयक, 'अणु', 'शक्तियाँ', 'ईथरें' आदि हमारे मनोवैज्ञानिक सूत्रों सम्बन्धी 'संवेदन' हमारी अपनी कल्पना की उतनी ही विशुद्ध प्रतीकात्मिकता सृष्टि हो सकते हैं जितने कि गणित शास्त्र के 'काल्पनिक परिमाण' जबकि उनकी अवास्तविकता से उनकी वैज्ञानिक उपयोगिता में कोई भी खलल नहीं पड़ता, किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। एक विशिष्ट भौतिक विज्ञानी के शब्दों में "आणविक सिद्धांत" भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वही भूमिका प्रस्तुत करता है जो गणितशास्त्र की सहायक कल्पनाओं की भूमिका के सदृश होता है—यद्यपि कंपनों को हम प्रसंगवादी सूत्र द्वारा, शीतन क्रिया को घातांकों द्वारा और अवपतनों को कालीय वर्गों द्वारा प्रकट किया करते हैं, फिर भी कोई यह कल्पना कभी नहीं करेगा कि स्वतः रूप से कम्पनों का कोई सरोकार वृत्तीयफलन के साथ है अथवा गिरते हुए पिण्डों का कोई सम्बन्ध वर्गों से। (मॉश कृत 'सायंस ऑफ मैकेनिक्स', पृ० ४९२) जब यह कहा जाय कि किसी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की उपयोगिता, उदाहरण के लिए आणविक सिद्धांत की अथवा किसी दोलायमान ईथरीय माध्यम के अस्तित्व की प्राक्कल्पना, वस्तुओं के उस वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध करती है जो प्राक्कल्पना द्वारा विनियुक्त प्रत्ययों के अनुरूप होता है और यही विरोधाभास तब पैदा किया जाता है जब यह कहा जाता है कि यदि किसी बीजगणितीय

अवकलन का ज्यामितीय भाषान्तर अथवा अनुवस्थन सामान्यतः हो सकता हो तब उसकी क्रिया का प्रत्येक पद अवश्य ही व्याख्येय अथवा अनुवाच्य होना चाहिए।

प्रकृति तथा मानस विषयक दर्शन का काम शुरू ही वहाँ से होता है जहाँ परीक्षणात्मक विज्ञानों का काम खत्म होता है। उसके दत्त वे विशिष्ट तथ्य नहीं होते जो परीक्षणों तथा प्रेक्षणों द्वारा एकत्रित किए गए हों अपितु वे प्राक्कल्पनायें ही उसकी दत्त होती है जिनका उपभोग परीक्षणात्मक विज्ञान उन तथ्यों के समन्वययन तथा विवरणन हेतु किया करता है। और प्रकृति तथा मानस दर्शनशास्त्र इन प्राक्कल्पनाओं की परीक्षा उनकी संरचना को इस तरह पर सवारने और सुधारने के उद्देश्य से नहीं किया करता कि उनमें नये तथ्य भी शामिल किए जा सकें अथवा पुराने तथ्य अधिक सरल रूप में, किन्तु विशुद्धतः इसी प्रयोजन से कि चरमतः वास्तविक अस्तित्व या सत्ता के रूप में उनका मूल्य आंका जा सके। क्या ये प्राक्कल्पनायें प्राकृतिक प्रक्रियाओं की गणना के औजारों के रूप में पर्याप्त हैं या नहीं यह वह प्रश्न है जिसे दर्शनशास्त्र, जब वह अपने स्थान को जान लेता है, विशिष्ट विज्ञानों के लिए उत्तरार्थ छोड़ देता है। क्या वे प्राक्कल्पनायें जरूरत से ज्यादा उपयोगी गणनार्थी सूत्र होने का दावा कर सकती है, अर्थात् क्या वे हमें चरम सत्ता विषयक ज्ञान दे सकती हैं या नहीं यह समस्या है वह जिसका हल निकालना केवल उस विज्ञान का ही काम है जो व्यवस्थित तथा वास्तविकता या परम सत्ता का अर्थ विश्लेषण करता है यानी तत्त्वमीमांसा का। उद्देश्य विषयक इस विभेद को शब्दावली के विभेद द्वारा प्रकट करने के कुछ आधुनिक लेखकों के रिवाज का शायद हम भी अनुसरण कर सकते हैं और कह सकते हैं कि परीक्षणात्मक विज्ञानों का लक्ष्य है तथ्यों का वर्णन और तत्त्वमीमांसा का उद्देश्य है उनकी व्याख्या। किन्तु लक्ष्यों का यह विभेद अन्तिम या परम विभेद नहीं क्योंकि तथ्यों का वर्णन स्वयं ही, तब तत्त्वमीमांसीय व्याख्या बन जाता है जब हम वर्णन रूप में उस वर्णन से इसलिए सन्तुष्ट नहीं रह पाते कि वह केवल गणनात्मक प्रयोजन के ही काम का होता है और हमें चाहिए होता है तथ्य के वास्तविक अस्तित्व का ज्ञान।

अपने तत्त्वमीमांसीय अध्ययन के इस भाग में जिस प्रमुख खतरे से हमें बचे रहना है वह है अपने विज्ञान द्वारा बहुत ज्यादा पा लेने की आशा। निश्चय ही हम, केवल सर्वज्ञानिता को संभवतः उपलभेय तथ्यों के पूर्ण अनुवचन, को इस विज्ञान द्वारा पा सकने की आशा कभी भी नहीं कर सकते। ज्यादा से ज्यादा हम केवल इतनी ही आशा करते हैं कि आमतौर पर हम यह देख सकें कि अगर वास्तविकता अथवा सत्ता की चरम संरचना के बारे में हमारा दृष्टिकोण दृढ़ और सही है तो भौतिक तथा मानस क्रम व्यवस्थाओं को किस रूप में सोच सकते हैं। परम सत्ता के इस सर्वंकष साचें में प्राकृतिक और मानसिक अस्तित्व की बारीकियाँ कैसे पिरोई हुई हैं इसको पूरी

तरह या सही तौर पर समझ पाने की आशा हमें करना ही नहीं चाहिए। लेकिन इस तरह की सामान्य व्याख्या का ही मूल्य अधिकतर इस बात पर निश्चय ही निर्भर होगा कि हम कहाँ तक विविध विज्ञानों द्वारा अपनी प्राक्कल्पनाओं के क्रियात्मक उपयोग के प्रकार से परिचित हैं। दुनिया के अच्छे इरादे को लेकर चलने पर भी विज्ञान की उन प्रकल्पनाओं से काम लेते समय जिनके साथ हमारा कोई क्रियात्मक परिचय नहीं है हम सभी प्रकार के मिथ्या बोध को बरका सकने की आशा नहीं कर सकते।

खतरे से यह आम खबरदारी यद्यपि कम से कम ऐसे नौसिखिये विद्यार्थियों के बचकाने प्रयत्नों पर भी उसी तरह लागू होती है जिनकी मानस दीक्षा परीक्षणात्मक विज्ञानों के किसी समूह-विशेष सम्बन्धी तत्त्वमीमांसीय आलोचन-क्षेत्र तक ही सीमित रही है, तो भी अभ्यास के लिये एक अच्छा नियम रहेगा अगर तत्त्वमीमांसा का प्रत्येक विद्यार्थी अनुभवाधारी विज्ञान की कम से एक किसी एक शाखा के नौसिखिये विद्यार्थी से कहीं अधिक ज्ञानवान अपने आपको बना लेना अपने कर्त्तव्य का अंग समझे। चूँकि मनोविज्ञान का दार्शनिक अध्ययन के साथ पुराना ऐतिहासिक संबंध रहा है। इसलिए शायद इस मामले में वह खासतौर पर उपयोगी है। इसके विपरीत परीक्षणात्मक विज्ञानों के किसी भी विशेषज्ञ को तर्कशास्त्र के नियमों से भद्रतया परिचित हुए बिना—और वह परिचय जेवन के 'एलिमेण्टरी लेसन्स' के अध्ययन तथा मिल के लेखों के ज्ञानातिरेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—कभी भी चरम तत्त्वमीमांसीय रचना क्षेत्र में पदार्पण करने का साहस न करना चाहिए।

२—अतः विश्व विज्ञान का अर्थ है भौतिक क्रम व्यवस्था को एक विशिष्ट व्यवस्था के रूप में स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत पूर्वानुमानों में शामिल अनुमानों का आलोचनात्मक अनुसंधान तथा उन प्राक्कल्पनाओं की आलोचनात्मक परीक्षा का, जिनका उपयोग सामान्य विचारणा और वैज्ञानिक विमर्श क्रमशः विशिष्टतया भौतिक अस्तित्व के वर्णन के लिए किया करते हैं। यह साफ ही है कि भौतिक अस्तित्व तथा अस्तित्व के सभी अन्य प्रकल्प्य प्रकारों के बीच के इस विभेद के स्वीकार मात्र का मतलब ही है वैचारिक विश्लेषण विषयक उस मात्रा का उपयोग जो उस विश्लेषण की मात्रा से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है जो उस सहजात पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण में मूर्त है जिसे लेकर हम विगत दो अध्यायों में चले थे। अस्तित्व जगत की अन्योन्य क्रिया पर वस्तुओं की परिवर्तनशील स्थिति बाहुल्यमयी सरल कल्पना में अब तक शुद्ध भौतिक और मानस अस्तित्वों में विभेद कर सकने का कोई आधार नहीं था। बच्चों और जंगली मनुष्यों के मनोविज्ञान के अध्ययन ने यह बात सन्देहरहित बना दी है कि दुनिया में इस प्रकार की विचारणा विस्तृत रूप से मौजूद है जिसके विषय में उपर्युक्त प्रकार के विभेद की जरूरत ही कभी नहीं पड़ी। बच्चे और जंगली लोग दोनों ही जीवित और जीवहीन

वस्तुओं में किसी प्रकार का विभेद नहीं मानते और जंगली आदमी तो जीवित वस्तुओं के प्रपंच का कारण बताने के अपने प्रयत्नों में इस प्रकार की प्रकृति का प्रदर्शन स्वाभाविकतः भौतिक शारीर तन्त्र को उसी प्रकार के अस्तित्व क्रम के एकाधिक लघुतर शारीरतन्त्रों द्वारा अधिवासित मानने की अपनी कल्पना द्वारा किया करता है। वस्तुओं में जिस 'आत्मा' का वह अध्याहार करता है वह एक लघुता और परिणामतः असत्वरदृश्य पिण्डान्तर्गत पिण्ड मात्र होती है।

संस्कृत व्यक्ति के लिए समग्र अस्तित्व के समानक्रमिक होने की यह कल्पना अर्थात् ऐसी एक ही क्रम व्यवस्था का होने की कल्पना—उस क्रम-व्यवस्थाओं से संबद्ध होने के कल्पना जिसे हम अपने अधिक विकसित स्थिति बिन्दु के अनुसार एकदम सजीव और भौतिक बता सकते हैं—इतनी अधिक दूरवर्तिनी और अपर्याप्त हो चुकी है कि अब हमें विश्वास नहीं होता कि यह कल्पना कभी स्वतः सिद्ध सत्य की शक्ल में सर्वत्र स्वीकृत रही होगी। भौतिक विज्ञान और उसके मार्गदर्शन में चलनेवाली सभ्यजगत की वर्तमान विचारधारा उस इन्द्रियगम्य अत्यधिक संख्यक वस्तुओं के जिन्हें वह विशुद्ध भौतिक मानती है और उन अल्पसंख्यक वस्तुओं के बीच जिनसे चेतना प्रकट होती है एक विशिष्ट विभेद करने लगी है । अतएव अस्तित्व को भौतिक और मानसिक नामक दो क्रम विभागों में विभक्त करने का एक ऐसा सिद्धांत निकल खड़ा हुआ है जिसने विश्व विषयक हमारी साधारण विचारणा पर ऐसा सिक्का जमा लिया है कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों के, दोनों क्रम व्यवस्थाओं को मिलाकर फिर एक बार एक कर देने के सारे प्रयत्न इतने अशक्त से प्रतीत होते हैं कि उनका कोई प्रभाव अधिकांश दिमागों पर नहीं पड़ता।

जब हम पूछते हैं कि भौतिकक्रम व्यवस्था की प्रचलित कल्पना के वैशेषिक चिह्न क्या है, तो इस प्रश्न का विशुद्ध उत्तर निर्भर होगा उस व्यक्ति की वैज्ञानिक योग्यता पर कि जिससे यह प्रश्न पूछा जायगा। लेकिन प्रचलित विज्ञान तथा दैनंदिनीय विचारणा दोनों ही ने मुख्यतया जहाँ तक इस समस्या पर विचार किया है, वहाँ तक वे संभवतः निम्नलिखित दो बातों पर सहमत होंगे। (अ) यह कि भौतिक अस्तित्व विशुद्ध रूप से द्रव्यात्मक अथवा अमानस और अचेतन भी है। इन विशेषणों या विधेयों की पूरी-पूरी यथार्थता उन लोगों के लिए भी संभवतः बहुत कम स्पष्ट होगी जो इनका जी खोलकर उपयोग किया करते हैं। ऊपर से देखने पर तो इन विशेषणों से केवल इतना ही सूचित होता है कि भौतिक प्रकार का अस्तित्व किन्हीं महत्त्वपूर्ण बातों में मानस प्रकार के अस्तित्व से भिन्न होता है। भिन्नता के स्वरूप पर उन शब्दों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। लेकिन विमर्श से किन्तु कुछ प्रकाश इस विषय पर पड़ सकता है।

एक पक्ष के व्यक्तियों और जीवधारियों तथा द्वितीय पक्ष की मात्र वस्तुओं के बीच का विभेद अन्ततोगत्वा एक महत्वपूर्ण कार्यकर विचार पर निर्भर प्रतीत होता है। पूर्व वैज्ञानिक सिद्धांत विषयक सरल यथार्थवाद के अनुसार जिन वस्तुओं से मेरा पर्यावरण निर्मित है, उनमें से कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो मेरे अपने बहुत अधिक भिन्न प्रकारों के व्यवहार के प्रत्युत्तर में नियमपूर्वक एक-सा ही सामान्य व्यवहार ज्यादातर किया करती है। कुछ दूसरी वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो उनके प्रति किये गये मेरे व्यवहार की भिन्नता के अनुसार मेरे प्रति भिन्न प्रकार का व्यवहार करती है। दूसरे शब्दों में, कुछ वस्तुएँ ऐसे विशिष्ट व्यष्ट प्रयोजन प्रदर्शित करती हैं जो विविध रूप में मेरे अपने व्यष्ट प्रयोजनों पर निर्भर होते हैं पर अन्य वस्तुएँ ऐसा नहीं करती। अतः कार्याभ्यासार्थ यह जानना बहुत जरूरी हो जाता है कि किन वस्तुओं पर एक ही सामान्य प्रकार के व्यवहार के प्रदर्शन के लिए सदा निर्भर रहा जा सकता है और किन पर नहीं तथा किन के विषय में, यह बता सकने के लिए कि मेरे विभिन्न प्रयोजनात्मक व्यवहार के प्रत्युत्तर में वह कैसा व्यवहार करेगी—प्रत्येक के व्यष्ट अध्ययन की जरूरत पड़ेगी। मानस व चेतन और विशुद्ध भौतिक व अचेतन अस्तित्वों का विभेद इसी कार्यकर वा क्रियात्मक भिन्नता पर आधारित है। विशुद्ध द्रव्यात्मक या भौतिक अस्तित्व की अचेतनता का अर्थानुवचन अगर यों कह कर किया जाय कि उसमें प्रयोजनात्मक व्यष्टता के कोई चिह्न नहीं पाये जाते अथवा कोई ऐसे तद्विषयक चिह्न नहीं पाये जाते जिन्हें हम पहचान सकें। तो शायद हम कोई भारी गलती न कर रहे होंगे। और भी संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि भौतिक क्रमव्यवस्था ऐसी वस्तुओं से निर्मित है जिनमें पहचानने योग्य व्यष्टता नहीं पायी जाती।

(ब) इस विशिष्टता से प्रगाढ़तया सम्बद्ध एक दूसरी विशिष्टता भी है, भौतिक व्यवस्था या भौतिक जगत ऐसी घटनाओं से बना है जो किन्हीं विशिष्ट सार्वत्रिक अथवा विश्वजनीन नियमों का विशुद्ध दृढ़तापूर्वक प्रतिपालन किया करती है। उस व्यवस्था का प्रयोजनात्मक व्यष्टता की कमी का यह एक क्रमिक परिणाम है। इस व्यवस्था के निर्मायक तत्व चूँकि प्रत्येक प्रकार के निजी प्रयोजनात्मक लक्षणों से रहित होते हैं इसलिए किसी एक तरह की परिस्थितियों में एक ही तरह का नियमित व्यवहार करते हैं। इसी लिए उनके व्यवहार-विषयक विशुद्ध सामान्य नियमों का हम सूत्रीकरण कर पाते हैं। मूलतः भौतिक जगत या व्यवस्था की इस एकरूपता को लोग बाग निःसन्देह उन प्रयोजनरत जीवों के जो एक-सी बाह्य स्थितियों में भी अपने-अपने आन्तरिक व्यष्ट प्रयोजनों की विविधतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार किया करते हैं, अनियमित व्यवहार की विषमता प्रकट करने का साधन समझते हैं। मानसिक प्रक्रियाओं के परीक्षाणात्मक विज्ञान के रूप में मनोविज्ञानशास्त्र की उन्नति

के साथ साथ ही सामान्य नियम की एकरूप प्रतिपालना की इस कल्पना का, मानस जगत की प्रक्रियाओं में भी विनियोग करने की प्रवृत्ति सी चल पड़ी है और अब हमें इस प्रसिद्ध समस्या का सामना करना पड़ रहा है कि वैज्ञानिक नियम का मानवीय 'स्वतन्त्रता' के साथ मेल कैसे बैठाया जाय। भौतिक जगत के तत्वों के भासमानतया नियमित और अप्रयोजनात्मक व्यवहार तथा मानस जगत के अंगों के अनियमित और प्रयोजनात्मक व्यवहार के बीच की इसी प्रकार की प्रतिपक्षता भी यह कह कर प्रकट की जाती है कि भौतिक जगत् का घटनाक्रम कारणता सिद्धांत या नियम द्वारा मशीनी तौर पर अथवा 'यन्त्रचालनवत्' निर्धारित होता है जबकि मानस जगत का घटनाक्रम-'साध्यपरक' होता है अर्थात् साध्य, प्रयोजन अथवा उद्देश्य के अनुसार निर्धारित।

(स) भौतिक जगत का प्रत्येक तत्व अथवा अंग देश और काल के मध्य किसी न किसी स्थान की पूर्ति किया करती है। इसीलिए देश अथवा आकाश या अवकाश तथा काल स्वरूप विषय तत्त्वमीमांसीय समस्याओं का प्रभाव भौतिक जगत के स्वरूप से सम्बद्ध हमारे अभिमत पर पड़ना जरूरी है। एक बार फिर इस बारे में भी कम से कम वैषम्य की बात भौतिक विश्व-व्यवस्था तथा मानस विश्व-व्यवस्था के बीच उठ खड़ी होना संभव है। ज्यों ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है त्यों त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्टतर होती जाती है कि मेरे साथी मनुष्यों के शरीर और मेरा अपना शरीर भी जिस हद तक कि वे विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रेक्ष्य अन्य वस्तुओं के समान ही पदार्थमात्र है और बहुत-सी बातों में सामान्य नियमों का उन्हीं की तरह पालन करते हैं तथा वे भी उन्हीं रचक अंगों से बने हुए हैं जिनसे कि अन्य संज्ञानमय जगत् बना है, इसलिए प्रयोजन-पर अभिकर्ताओं के इस प्रकार के जीवन पिण्डों अथवा शरीरों को भी भौतिक जगत के ज्ञानवान् अथवा संज्ञानी अस्तित्व के अन्य शेष भाग में ही शामिल कर लेना पड़ता है। व्यष्टि की प्रयोजनपर व्यष्टता को अब भौतिक जगत से बाह्य प्रकार की उसकी व्याकृति के एक विशिष्ट कारक में अध्यवसित मानना पड़ता है और इसीलिए इन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं मानना पड़ता अर्थात् प्रचलित मनोविज्ञानी अर्थ में उसे 'मन', 'आत्मा' अथवा 'चैतन्य-धारा' कहा जा सकता है। इस प्रकार के मन, आत्मा अथवा चैतन्यधारा को आमतौर पर देश या अवकाश में स्थितियों की शृंखलायें आपूरित न करते हुए तथा कभी भी कालगत स्थिति शृंखलायें आपूरित न करते हुए माना जाता है।

(द) एक अदृश्य आत्मा अथवा मन की पुरः स्थापना द्वारा अन्तिम रूप से इस प्रकार संगठित भौतिक जगत की कल्पना में अब कारणता के नियम द्वारा परस्पर शृंखलित और सामान्य नियमों का प्रतिपालन प्रदर्शित करनेवाला समग्र चेतन

अस्तित्व[1] भी देश तथा कालस्थ घटनाओं के समुच्चय रूप में, शामिल हो गया है। इस कल्पना में आधुनिक विज्ञान ने सतत उत्क्रान्ति और विकास के ऐसे नजरिये अथवा दृष्टिकोण को, जो समग्र शृंखला भर में आदि से अन्त तक व्याप्त प्रतीत होता है, भी शामिल करके उसमें एक महत्वपूर्ण वृद्धि कर दी है। अतएव अब हम अन्तिम रूप से भौतिक जगत् की परिभाषा करते समय अब उसे देशकालावस्थित, ऐसा घटना-पिण्ड कहा जा सकता है जो अडिग और कठोर एकतानतापूर्वक सामान्य नियमों का अनुपालक और सतत विकासशील है।[2]

भौतिक जगत् के इन सामान्य लक्षणों से, जिनकी कल्पना आधुनिक विज्ञान तथा प्रचलित लौकिक विचार प्रणाली द्वारा हुई है, विश्व विज्ञान की मौलिक समस्याओं का जन्म हुआ है। अब हमें इन समस्याओं पर विचार करना है। (१) द्रव्यात्मक अथवा भौतिक अस्तित्व का वास्तविक स्वरूप अर्थात् दोनों विश्व व्यवस्थाओं के बीच के विभेद की चरम सार्थकता तथा उन दोनों को घटा कर एक कर देने की संभाव्यता पर। (२) मशीनी और साध्यपरक प्रक्रियाओं के मध्यगत विभेद की न्याय्यता तथा भौतिक जगत की एकरूपी नियमों के प्रति कठोर अनुरूपणीयता विषयक कल्पना की न्याय्यता (३) देश और काल की कल्पनाओं सम्बन्धी मुख्य कठिनाइयाँ और भौतिक जगत् से समन्व्ययनीय वास्तविकता की मात्रा पर उन कल्पनाओं का प्रभाव। (४) भौतिक जगत की घटनाओं पर उत्क्रान्ति अथवा विकास के सिद्धांत के विनियोग की दार्शनिक लक्ष्यार्थ विवक्षायें। (५) और अन्त में शायद हमें अत्यन्त संक्षेप में बहुत ही प्रारम्भिक रूप में अवशिष्ट मानवीय ज्ञान के साथ वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान के समग्र रूप सम्बन्ध की वास्तविक स्थिति विषयक समस्या पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

---

१. अर्थात् उसी प्रकार का अस्तित्व जो इन्द्रियप्रेक्ष्य या ग्राह्य हो, भले ही वह इन्द्रियों द्वारा वाकई ग्रहण कर पाती हो या न कर पाती हो। इस अर्थ में, न्यूटन अथवा लॉक के ठोस अभेद्य, प्रबर्धित अणु 'चेतन' अस्तित्व हैं क्योंकि उनके गुण भी इस प्रकार के ही हैं जिस प्रकार के कुछ प्रेक्ष्य गुण वृहत्तर पिण्डों में पाये जाते हैं यद्यपि वे पिण्ड स्वयं प्रेक्ष्य नहीं होते।

२. निश्चय ही यह उत्क्रान्ति उस अवस्था में आत्मनिष्ठ आभास मात्र होना चाहिए जब भौतिक जगत की प्रक्रियायें अथ से लेकर इति तक, एकदम मशीनी प्रक्रियायें ही हों, जैसा कि कभी कभी मान लिया जाता है। लेकिन इससे केवल यह प्रकट होता है कि भौतिक जगत की वर्तमान अथवा प्रचलित कल्पना असंगतियों से रहित नहीं है।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए——एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरैन्स एण्ड रीयालिटी' अध्याय २६ (पृष्ठ ४९६–४९७ प्रथम संस्करण); एच० लोट्जे; 'आउटलाइन्स ऑफ मेटाफिजिक' पृष्ठ० ७७–७९; जे० एस० मैकेंजी, 'आउटलाइंस आफ मेटाफिजिक्स' खंड ३, अध्याय २; जे० वार्ड, 'नैचुरलिज्म एण्ड एग्नास्टिलिज्म', लेक्चर १।

अध्याय २

द्रव्य अथवा जड़वस्तु की समस्या

१—चूंकि भौतिक जगत् अपने प्रेक्षित गुणों के लिए प्रेक्षककी ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर होता है इसलिए उसका उस चरमतर सत्ता या वास्तविकता का आभासी होना आवश्यक है जो अभौतिक है। २—बर्कले की आलोचना इस सत्ता या वास्तविकता 'द्रव्यात्मक पदार्थ' के साथ तादात्म्यीकरण के लिए घातक है। बर्कले के अभिमन का यह तार्किक परिणाम कि चेतन या संवेदनशील वस्तुओं का अस्तित्व प्रेक्ष्य होता है, यह वस्तुवादी अभिमत ही होगा कि भौतिक जगत् प्रस्तुतियों का झमेला मात्र है। ३—लेकिन यह बात भौतिक जगत के उस भाग के बारे में वस्तुत: सही नहीं जो मेरे सहयायी मानव पिण्डों से बना है। मेरी इन्द्रियों की प्रस्तुतियों के रूप में उनके अपने अस्तित्व से अधिकातिरिक्त उनका भावना केन्द्रात्मक अस्तित्व भी है। ४—चूंकि मेरे साथियों के शरीर-पिण्ड एक ही व्यवस्थान्तर्गत शेष भौतिक जगत के साथ सम्बद्ध हैं इसलिए समग्र रूप में उस जग व्यवस्था की सत्ता या वास्तविकता उसी प्रकार की होनी चाहिए जिस प्रकार की उन शरीरों की है। उसका अनुभूतिशील व्यक्तियों की व्यवस्थाओं का ऐसा जाटिल्य अथवा एक व्यवस्था होना आवश्यक है जो हमारी इन्द्रिय के लिए प्रस्तुत हो चुका हो। अनैन्द्रिक अथवा अजैव प्रकृति में भासमान जीवन तथा प्रयोजन की अनुपस्थिति का कारण उसके अंगों के साथ सीधा समागम स्थापित कर सकने की हमारी असमर्थता ही होगी। ५—इस अभिमत के कुछ परिणाम।

१—पिछले अध्याय में हमने बहुत ही संक्षेप में उन पैड़ियों का संकेत दिया था जिनके द्वारा विमर्शकारिणी विचारणा अस्तित्व की भौतिक तथा मानसिक व्यवस्थाओं के तीव्र विभेद कर पाती है। भौतिक जगद्विषयक कल्पना की जो पूर्ण आकृति उसमें मेरे अपने शरीर और उसके समस्त अंगों को शामिल कर लेने के बाद बनती है उसे विश्व के समस्त पिण्डों से युक्त एक व्यवस्था रूप में देखा जाता है अर्थात् उन समस्त अस्तित्वों की एक व्यवस्था के रूप में जो उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के अस्तित्वों का प्रत्यक्ष प्रेक्षण मैं विशिष्टेन्द्रियों द्वारा करता हूँ।[1] इस प्रकार प्रकल्पित समग्र

---

१. भौतिक विश्व व्यवस्था की यह परिभाषा प्रो० मंस्टरबर्ग द्वारा अपनी पुस्तक 'Crundzuge der Psychologie', खंड १, पृष्ठ० ६५–६७ में अंगीकृत परिभाषा के अत्यधिक निकट तक पहुँचती है। प्रो० मंस्टरबर्ग एकश

भौतिक जगत् के विषय में, जो दो बातें, थोड़ा सा भी विचार करने पर सामने आ जाती हैं—वे हैं कि यह जगत्-व्यवस्था अपने अस्तित्व के लिए मेरे द्वारा वस्तुतः प्रेक्षित होने के तथ्य पर निर्भर नहीं है और यह कि मैं जिन गुणों और सम्बन्धों को उसमें पाता हूँ उन सबके लिए वह मेरे प्रेक्षण पर निर्भर होता है। उसका तत् प्रेक्षक से स्वतन्त्र आभासित होता है किन्तु उसका 'कि' सारतः प्रेक्षणेन्द्रिय अथवा प्रेक्षणांग पर निर्भर अथवा उसकी संरचना का अपेक्षी होता है । जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं, ज्ञानेन्द्रियों के अस्थायी क्रियाकलाप अथवा उनके स्थायी संगठन की भिन्नताओं की सहयायिनी प्रेक्षण वैविध्य सम्बन्धी परिचित अनुभूतियों ने दर्शनशास्त्र के इतिहास में बहुत पहले से ही इस आपेक्षिकता को उन तथाकथित 'द्वितीयक' गुणों की सीमा तक, जो केवल एक विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही प्रेक्ष्य हैं, स्वीकार कर लेने के लिए प्रेरित किया था। हम यह भी पर्याप्ततया देख चुके हैं कि (खंड २ के अध्याय ४ में) यही बात उन 'प्राथमिक' गुणों के सम्बन्ध में भी उतनी ही सत्य है जो एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा प्रेक्ष्य हैं और जिन्हें संभवतः इसी कारण प्रेक्षकेन्द्रिय की इस आपेक्षिकता से अप्रभावित माना जाता है।

अपने पाठकों का समय अपने पूर्वकथित विमर्श के पिष्टपेषण द्वारा नष्ट किये बिना ही, यहाँ यह बता देना उचित होगा कि भौतिक जगत के गुणों की यह प्रेक्षणेन्द्रिय-परक पूर्ण यायिनी आपेक्षिकता किस प्रकार हमें सीधे ही उस अनिश्चित प्रगतिगामिता की ओर ले जाती है जो तत्त्वमीमांसीय शास्त्रानुसार सभी व्याघातों का प्रत्यक्षतः अपरिवर्ज्य परिणाम उस अवस्था में होती है जब उन गुणों को अनिर्भर रूप में वास्तविक मान लेते हैं। भौतिक अस्तित्व के गुणधर्मों को हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण करते हैं और प्रेक्षित रूप में ये गुण-धर्म इन इन्द्रियों की संरचना द्वारा अनुकूलित हुआ करते हैं। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय स्वयं भी भौतिक जगत् का ही एक अंग होती है और इस रूप में वह भी अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रेक्ष्य अथवा ग्राह्य तथा अपने प्रेक्षित गुणों के लिए उसी इन्द्रिय पर निर्भर भी होती है। यह दूसरी इन्द्रिय भी अपनी बारी पर, उसी भौतिक जगत् का अंग होती है और वह भी तीसरी या प्रथम इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य तथा अपने

व्यक्ति द्वारा ही प्रत्यक्षतः अनुभूति ग्राह्य मानसतथ्य के विपर्य्यरूप, भौतिक तथ्य को परिभाषा यों करते हैं कि वह ऐसा तथ्य है जो अनेकों इन्द्रिय संवेदनशील व्यक्तियों के प्रेक्षण हेतु प्रत्यक्षतः अभिगम्य हो। निःसंदेह यह स्मरण रखना होगा कि मेरा शरीर जब 'सामान्य संवेदनान्तर्गत तथा भावनात्मक तरंगत' अवस्था में प्रत्यक्षतः अनुभाव्य होता है तो वह मानस जगत की वस्तु हो जाता है, किन्तु मेरा शरीर जब अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रेक्ष्य होता है तब भौतिक जगत् का अंग होता है।

प्रेक्षित गुणों के लिए उपर्युक्त तीसरी या प्रथम इन्द्रिय पर निर्भर होती है। और इस पारस्परिक निर्भरता का कोई अन्त नहीं रहता। समग्रतः यह भौतिक जगत् अवश्य ही मेरे तंत्रिका-तंत्र की दशा विशेष होना चाहिए जो उस जगत का ही अंग है। अपनी इस पुस्तक के अन्तिम खंड में जब हम मन और शरीर की समस्या पर विचार करेंगे तब हम अधिक पूर्णतया जान सकेंगे कि इस प्रकार का व्याघात, मेरे अपने शरीर के इस भौतिक जगत में सम्मिलित कर लेने में निहित असंगति का ही एक अपरिवर्ज्य परिणाम है और यह एक ऐसी असंगति है जो अपनी बारी में अस्तित्व के दोनों विश्वों को कठोरतापूर्वक निगड़ित पृथक् विभागों में विभक्त कर देने का आवश्यक परिणाम है।[1]

इस प्रकार के विचारों के आधार पर सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि भौतिक जगत् को प्रपंचात्मक मानना जरूरी है अर्थात् ऐसी वास्तविकता अथवा सत्ता का इन्द्रियग्राह्य व्यक्ती भाव जो अपने स्वभाव के कारण ही इन्द्रिय-ग्राह्यता से परे है और इसीलिए सही माने में अभौतिक है भौतिक नहीं। किन्तु जब हम प्रश्न करते हैं कि यह अभौतिक जगत् जिसकी हमारे लिए इन्द्रिय ग्राह्य प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति यह भौतिक जगत् है कैसे विचारग्राह्य है तो हम अपने आपको उन्हीं कठिनाइयों में एकदम डूबता पाते हैं जिनमें हम सामान्य रूप से तब पड़े थे जब पदार्थ विषयक कल्पना पर हमने विचारविमर्श किया था। लौकिक विचारणा

---

१. तुलना कीजिए, ब्रैडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', ग्रन्थ के अध्याय २२, पृ० २६०–२६७ (प्रथम संस्करण)' उन प्रयत्नों की जो कि 'प्राथमिक' गुणों को इस आपेक्षिकता से छुटकारा दिलाने के लिए किए गए, गहरी आलोचना करने की कोई जरूरत नहीं मालूम देती। मूल पाठ में दी गयी युक्ति रंग और बाँस पर जितनी लागू है उतनी ही विस्तार और आकृति पर भी सही बैठती है। यह कथन पक्ष-पोषण योग्य ही नहीं, जैसाकि श्री हॉबहाउस करना चाहते हैं कि गुण चाहे वे प्राथमिक हों अथवा द्वितीयक, अपने प्रेक्षण हेतु ही सदा प्रेक्षक इन्द्रिय अथवा अंग पर निर्भर होते हैं, अपने अस्तित्व के लिए यह कथन अनुभूति के उन दो पहलुओं पर निर्भर है जो सदा एक साथ प्रदत्त होते हैं अर्थात् संवेद्य वस्तु के तत् और कि और इस युक्ति पर भी कि एकल समग्र के ये दोनों ही पहलू चूँकि अलग अलग पहचाने जा सकते हैं इसलिए उनमें से एक दूसरे से वस्तुतः पृथक् होकर भी वर्तमान रह सकता है। इसी विधि से और इन्हीं आधारों पर यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत होगा कि अन्तर्विषयहीन प्रत्यक्षणात्मक दशा का भी अस्तित्व हो सकता है क्योंकि अन्तर्विषय उस रूप में जिस रूप में हम उन्हें जानते हैं, दशा या स्थिति के बिना भी अस्तित्वमय रह सकते हैं।

तथा उस सीमा तक जहाँ तक वह विना किसी आलोचना के लौकिक विचारणा के अभिमतों को स्वीकार करने को तैयार हैं, विज्ञान भी, अप्रेक्षित 'अधः स्तर' रूप में भौतिक जगत् के अप्रपंचात्मक आधार के विचार की ओर झुक चुकी है, उसने इस अधः स्तर को 'द्रव्य' की संज्ञा दी है और इस नाम के द्वारा भौतिक जगत् की व्याख्या अदृश्य अथवा अप्रेक्षित द्रव्य के कारणीय कार्य द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियों में उत्पादित प्रभाव के रूप में की है। अथवा इसी वात को और भी सही तौर पर कहा जाय तो, हमारी ज्ञानेन्द्रियों के अज्ञात सारभूत अधःस्तर पर डाले गये प्रभाव के रूप में। जैसी कि आशा की जा सकती है, अनेक वार इस अधःस्तर को भौतिक जगत् के उन ज्ञात गुणों के साथ एकरूप या तादात्म्य वतलाने का प्रयत्न किया गया, जो गुण प्रेक्षक इन्द्रियों की परिवर्तमान स्थितियों या दशाओं के साथ साथ वहुत कम परिवर्तनीय, माप और गणना के लिए अपने आप को तुरन्त प्रस्तुत कर देने वाले तथा यान्त्रिक विज्ञान या मशीनी साइन्सों के तथाकथित 'प्राथमिक' गुणों की संज्ञा भी दी गई है। न्यूटन यही आधारस्थिति स्वीकार की है और मुख्यतः लॉक ने भी तथा प्रधानतः उनके ग्रन्थों के प्रभाव से ही वह सामान्य अंग्रेज के दिमाग को अधिकतम परिचित प्रतीत होती है। वे असंगतियाँ जिन्हें हमने पहले ही पदार्थ की कल्पना में भी उसी रूप में, जैसा कि यहाँ पूर्वानुमित है, अन्तर्निहित पाया था, किसी भी प्रकार की गंभीर परीक्षा करने पर अपने अस्तित्व से हमें इस तरह अवगत करा देती है, कि यह सिद्धांत विचारों के इतिहास में ज्ञेय शारीर गुण धर्मों के अप्रपंचात्मक और एकदम अज्ञात अधःस्तर रूपी द्रव्य-विषयक अतिपरिवर्तनवादी दृष्टिकोण की प्रगति पथ के एक अस्थायी विरामस्थल मात्र के रूप में ही नियमित रूप से पाया जाता रहा है।

२—यह अवर अभिमत भी स्पष्टतः उन सभी आपत्तियों का लक्ष्य है जो एक अज्ञात अधःस्तर अथवा गुणधर्मों के आलम्ब रूप में पदार्थ की सामान्य कल्पना के विरुद्ध पहले उठाई जा चुकी हैं। इन आपत्तियों को लेकर ही, द्रव्य की कल्पना के बारे में बर्कले की प्रसिद्ध आलोचना, आंग्ल दर्शनशास्त्र के इतिहास में भौतिक जगत् के वास्तविक स्वरूप विषयक निर्माणकारी सिद्धान्त की स्थापना का शायद सवसे अधिक मौलिक प्रयत्न है—प्रारंभ होती है। वर्कले ने सवसे पहले द्रव्यात्मक पदार्थ का उस प्रकार का तादात्म्य शरीर के प्राथमिक गुणों के साथ बैठाया जिस प्रकार के तादात्म्य को लॉक आंग्लदेश की काल्पनिक विचारणा में पहले ही प्रचलित कर चुका था। उसने प्रेक्षित गुण की प्रेक्षक इन्द्रिय के प्रति सापेक्षता पर जोर देकर यह सिद्ध किया कि उस प्रकार का तादात्म्य ग्राह्य नहीं हो सकता। अपने प्रतिपक्षी को तादात्म्य का इस प्रकार परित्याग कर देने के लिये

मजबूर कर देने के बाद और द्रव्य को भौतिक जगत् का अज्ञात अधःस्तर मनवाने के बाद वह सयुक्ति यह सिद्ध करना चाहता कि अधःस्तर विषयक यह अभिमत न केवल निरर्थक ही है अपितु अवोध्य भी। वह निरर्थक इसलिए है चूँकि हम स्वयं ही इस अधःस्तर द्वारा गुणाधर्मों के तथानुमित अपने प्रदत्त आलम्ब स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं वता पाते।

भौतिक अथवा द्रव्यात्मक पदार्थ को, एक अर्थहीन कल्पना होने के कारण इस प्रकार निरस्त करने के बाद भौतिक जगत् की वास्तविकता के रूप में हमारे पास रह क्या जाता है? बर्कले के मतानुसार वास्तविक प्रस्तुतियों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं अथवा 'प्रत्यय' जिनमें प्रेक्षक व्यक्ति शरीरों अथवा पिण्डों के गुणधर्मों के प्रति सजग होता है। प्रेक्षक के लिए पिण्ड अथवा शरीर प्रस्तुतियों का ऐसा ही जाटिल्य है, और इस रूप में प्रस्तुत होने के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व ही नहीं। जैसाकि वर्कले को कहना पसन्द है, द्रव्य का अस्तित्व-सार प्रेक्ष्यत्व मात्र है, अर्थात् प्रस्तुत होने का तथ्य। किन्तु जहाँ हमें आशा थी कि वर्कले इस व्यक्तिवादी कथन को स्वीकार कर लेंगे कि पिण्ड 'प्रेक्षक की चैतन्यावस्थाएँ' मात्र हैं अन्य कुछ नहीं, वहाँ ही उन्हें याद आ जाता है कि इन दोनों ही तथ्यों का कारण उन्हें ढूँढ़ निकालना है पहले यह कि हम जिसे चाहें उसका प्रेक्षण नहीं कर सकते तथा जहाँ चाहे वहाँ भी नहीं अपितु हमारे प्रेक्षण एक ऐसी क्रम व्यवस्था का निर्माण करते हैं जो हमारी मर्जी पर निर्भर नहीं होती, दूसरे सामान्य जनमानस में गहराई तक पैठे इस विश्वास का भी हल उन्हें निकालना है कि जब मेरा प्रेक्षण व्यवहित हो जाता है तब वस्तुओं के अस्तित्व का लोप नहीं होता। आभासतः—विरोधी इन तथ्यों के साथ इस सिद्धांत का मेल वैठाने के लिए उन्होंने दार्शनिकों तथा अन्यों की प्रथानुसार, दैवी सहायता का सहारा लिया। प्रेक्षण के अन्तरालों में भी भौतिक जगत के अनवरत अस्तित्व, उसके व्यवस्थित स्वरूप तथा हमारे संकल्प पर उसकी आंशिक अनिर्भरता को वह इस प्राक्कल्पना द्वारा हल कर देते हैं कि ईश्वर हमारे भीतर प्रेक्षण एक निश्चित अथवा स्थिर क्रमानुसार उत्पन्न करता रहता है और जब भौतिक जगत् का मेरे द्वारा होने वाला प्रेक्षण निलम्बित होता है तब ईश्वर ही उसकी प्रस्तुति-व्यवस्था के प्रति सतत जागरूक रहता है। उन भौतिक सत्ताओं के अस्तित्व का कारण बतलाने के लिए जिन्हें कोई मानव व्यक्ति देख या ग्रहण नहीं कर सकता, उपर्युक्त व्याख्या का ही आसरा लेना पड़ेगा।[1]

---

१. विशेष रूप से देखिए उसके अभिमत का विवृतिमय विवरण और आपत्तियों का विशद विमर्श 'थ्री डायलॉग्स बिटवीन हायलास एण्ड फिलोनस' नामक उसके ग्रन्थ

यह तो पर्याप्तः स्पष्ट है कि किसी संगत समग्र में बर्कले के सिद्धांत के दोनों अर्धभाग साथ-साथ सही नहीं बैठेंगे । यदि भौतिक वस्तुओं की समग्र 'अस्ति' उनकी 'प्रेक्ष्यता' मात्र है तो कोई वजह नहीं कि क्यों मैं उनके अस्तित्व को मानूँ। वे केवल इस माने में ही और तब तक ही वर्तमान रहती हैं जब तक कि वे मेरे प्रेक्षणार्थ प्रस्तुत रहती है। ऐसे सर्वत्र वर्तमान दैवी प्रेक्षण की जो उन विषयवस्तुओं के प्रति सजग रहता है, जो कि मेरे अपने प्रेक्षण से गायब हो चुकी होती हैं, सारी प्राक्कल्पना इस प्रकार निष्प्रतिफल हो जाती है । वर्कले के सिद्धान्तानुसार आन्तरिक रूप से असंगत होने का अलाभत्व भी उसमें पाया जाता है । क्योंकि यदि प्रस्तुतियों को मेरी अनुभूत्यर्थ प्रस्तुत होनेवाली घटना का कारण बतलाने के लिए ईश्वर की सहायता आवश्यक होती तो यह बात साफ नहीं दीखती कि हम क्यों एक ऐसे अन्य दैव की कल्पना न करें जो ईश्वर की अनुभूति हेतु प्रस्तुतियों की शृंखला प्रस्तुत करे और फिर उस दूसरे दैव के लिए तीसरे दैव की और इसी तरह अनेक रूप से आगे भी। दूसरी ओर यदि ईश्वर की अनुभूति को कारण द्वारा उद्भूत न माना जाय तो यह स्पष्ट नहीं होता कि मेरी अपनी अनुभूति को भी पहली ही दफा क्यों न इसी प्रकार अकारणोद्भूत मान लिया जाय और इस प्रकार इस सिद्धांत के मामले में ईश्वर के हस्तक्षेप से क्यों न वच निकला जाय । अतः तव इस सिद्धांत का कि वस्तुओं का अस्ति, उनका प्रेक्ष्यत्व मात्र ही है तर्कसंगत निष्कर्ष या तो स्वारित्तत्ववाद हो सकता था जिसके अनुसार अपने स्वतः अस्तित्व के अतिरिक्त मुझे अन्य किसी अस्तित्व का निश्चित ज्ञान नहीं होता अन्य सभी वस्तुयें मेरे अपने अस्तित्व की स्थिति विशेष मात्र है अथवा उनके रूपान्तरण मात्र, अथवा ह्यूमीय विचिकित्सावाद जिसके अनुसार मेरा अपना अस्तित्व तथा सारे वाह्य जगत् का भी, क्षणभंगुर मानसिक प्रक्रियाओं का अनुक्रम मात्र है । विलोमतः यदि यह विश्वास कर लेने का पर्याप्त कारण मेरे पास हो कि भौतिक जगत् का कोई अंग प्रस्तुति से अधिक भी कुछ है और मेरे प्रेक्षण पर अनिर्भर और कोई अस्तित्व किसी माने में भी यदि है तो उस जगत् के बारे में, बिना किसी विशेष कारण के मुझे यह घोषणा करने का कोई अधिकार नहीं कि वह अस्तित्व केवल प्रेक्ष्यत्व में ही निहित है ।

३—तव वर्कले ने क्यों नहीं तथ्यतः स्वारित्तत्ववादीय अथवा विचिकित्सावादीय निष्कर्ष को स्वीकार कर लिया ? और अन्ततोगत्वा क्यों उसने भौतिक जगत् के अंगों में ऐसे अस्तित्व का अध्याहार किया जो मेरे द्वारा उनकी प्रेक्ष्यता से स्वतंत्र है,

---

में जो 'प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नालेज' नामक संक्षिप्ततर ग्रन्थ (धारा १ से १३४ तक) का भाष्य है ।

और क्यों उसने अपने सिद्धांततन्त्र में इस प्रकार का व्याघात घुसा लिया ? जिन कारणों से वह अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा उन्हें जान लेना कुछ कठिन न होगा। सारे ही भौतिक जगत् को यह कह कर टाला नहीं जा सकता कि वह एक व्यक्तिनिष्ठ भ्रम मात्र है क्योंकि उसके कुछ अंग ऐसे हैं जिनका अस्तित्व निःसंदेह मेरी ज्ञानेइन्द्रियों द्वारा उनकी प्रेक्ष्यता पर निर्भर नहीं है । ऐसे अंग हैं मेरा अपना पिण्ड शरीर और हमारे साथी व्यक्तियों के शरीर।

निःसन्देह हमारे साथियों के शरीर, एक दृष्टिकोण से प्रस्तुति के ऐसे जाटिल्य हैं जिनका ग्रहण हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करते हैं और उस सीमा तक जैसाकि बर्कले कहते हैं उनका अस्तित्वसार अथवा भावत्व प्रेक्ष्य ही है किन्तु मेरे साथियों के साथ विविध सामाजिक संस्थाओं द्वारा होने वाला सारा सम्पर्क या समागम इस विश्वास पर ही निर्भर है कि प्रस्तुति-सह जाटिल्य अथवा मेरी प्रेक्षणात्मक स्थितियों की विषय-वस्तुओं के रूप में उनके अस्तित्व के अतिरिक्त, मेरे साथियों के शरीर पिण्डों का अस्तित्व अव्यवहृत संवेदना या भावना द्वारा प्रत्यक्षतः अवबोधित उसी प्रकार का अस्तित्व है जिसे मैं अपने शरीर से संपृक्त मानता हूँ। दूसरे शब्दों में सकल क्रियात्मक जीवन ही एक भ्रम मात्र है यदि मेरे साथी मनुष्य भी मेरी ही तरह प्रयोजनात्मक अनु-भूति के केन्द्र न हों। मेरे अपने प्रेक्षण से स्वतन्त्र जो अस्तित्व मैं उनमें अध्यादृत करता हूँ, उससे मेरा अभिप्राय ठीक प्रयोज-पर संज्ञाशील जीवात्मक अस्तित्व से है। अतः यदि सारा सामाजिक जीवन ही एक भ्रान्ति अथवा कल्पना मात्र नहीं है तो भौतिक जगत् का मुझसे बाह्य कम से कम एक भाग तो ऐसा है जो जिसकी सत्ता प्रेक्ष्यत्व मात्र नहीं अपितु प्रेक्षकीय अथवा ज्ञानशील है । यदि मेरे साथी मनुष्य प्रस्तुतियों के जाटिल्य से अधिक कुछ हैं अथवा 'मेरे शिरः प्रत्ययों' से अधिक कुछ, तब भौतिक जगत् के कम से कम इस भाग के लिए तो समग्र वास्तविकता का व्यक्तिवाद द्वारा मेरी 'चेतनता' की स्थितियों में विघटन सिद्ध नहीं होता । इसलिए चरम रूप में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का स्वीकरण अथवा परित्यजन, मेरे अपनी भावनाओं और प्रयोजनों से परे की मानवीय भावनाओं तथा प्रयोजनों के स्वतन्त्र अस्तित्व विषयक साक्ष्य के स्वरूप पर निर्भर होगा।

अपने साथियों से उनके अनुभूतिशील व्यक्ति रूप में इस प्रकार के स्वतन्त्र अस्तित्व का अध्याहार तब किस आधार पर करते हैं ? प्रचलित व्यक्तिवादी व्याख्या-नुसार हमारे सामने एक ऐसा निष्कर्ष है जो मेरे अपने शरीर की इन्द्रिय बोध द्वारा प्रस्तुत संरचना तथा अन्यों के शरीरों की संरचना के दृश्यानुमान पर आधारित है। अन्य व्यक्ति भी मेरे मानसिक जीवन की तरह मानसिक जीवनवन्त है, इस निष्कर्ष पर मैं इसलिए पहुँचता हूँ चूँकि उनकी दृश्यवान संरचना मेरी ही जैसी है और इस

निष्कर्ष को और भी अधिक पुष्टि मानवशरीर विषयक शारीरिक तथा शरीर क्रियात्मक ज्ञान की प्रत्येक वृद्धि द्वारा होती रहती है। किन्तु दृश्यानुमान पर आधारित युक्ति होने के कारण इस कथन को कभी भी एक सत्य वैज्ञानिक आगम का दर्जा नहीं मिल सकता और ऐसी मानवीय अनुभूति का जो मेरी अपनी अनुभूति नहीं है अस्तित्व, व्यक्तिवादी के लिए सदा एक संभाव्यता मात्र ही रहेगा वह कभी भी निश्चार्थता का रूप धारण नहीं कर सकता।

मुझे पूरा भरोसा है कि यह लोक प्रचलित और ऊपर से युक्तियुक्त प्रतीत होनेवाला दृष्टिकोण परिवर्त्यतः असत्य है और यह कि इसका तर्कसंगत परिणाम यह विश्वास कि हमारे साथी मानवों का अस्तित्व मेरे अपने अस्तित्व की अपेक्षा कम असंदिग्ध है एक गहरी दार्शनिक भूल है। दृश्यानुमानाधारित युक्ति प्रत्युक्ति मेरी अनुभूति से अतिवाह्य मानवीय अनुभूतिगत विश्वास के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं, यह बात नीचे लिखे प्रतिवन्धों के आधार पर आसानी से जानी जा सकती है। (१) जैसा कि सामान्यतः कहा जाता है अनुमानित निष्कर्ष के दत्तों का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता। क्योंकि मैं जिसका प्रेक्षण करता हूँ वह, जैसाकि व्यक्तिवादी का पूर्वानुमान हुआ करता है। मेरा अपना मानसिक जीवन, मेरी अपनी शरीर रचना और मेरे पड़ोसी का शरीरतन्त्र, सब त्रैत नहीं है अपितु द्वैत है यानी मेरा अपना मानसिक जीवन और मेरे पड़ोसी का शारीरतंत्र। यदि मैं अपने पड़ोसी की अनुभूति की वास्तविकता के विषय में तब तक असंदिग्ध नहीं हो पाता जब तक कि उसके शारीरतन्त्र और शारीर-क्रिया की तुलना अपने शारीरतंत्र और शारीर-क्रिया के साथ नहीं कर लेता तो मुझे कम से कम तब तक तो सन्देह में ही पड़ा रहना पड़ेगा जब तक कि विज्ञान कोई ऐसा यंत्र न बना डाले जिसके द्वारा मैं अपने तंत्रिका-तंत्र को देख सकूँ। इस समय उन शर्तों में से जिन पर कि यह दृश्यानुमानी बहस आधारित है। एक शर्त यह भी है कि मेरी अपनी आभ्यन्तरिक गठन को अधिकतर या संग्रहीत ही समझा जाय। व्यक्तिवादी की स्थिति को अपवर्तित करके यह कहना कि जब तक विज्ञान हमारे लिए अपने दिमागों को दे सकने के साधन नहीं जुटा देता तब तक हम अपने शारीरतंत्र के साथ अपने पड़ोसी के शारीरतन्त्र का साम्यानुमान पूर्वतः ज्ञात उसकी अनुभूति और अपनी अनुभूतियों के साम्य के आधार पर लगायेंगे, सच्चाई से कुछ ही कम होगा।

(२) और यदि इस कठिनाई को किसी तरह पहले ही हल हुआ मान लिया जाय, जैसा कि अनुमानतः भविष्य में होगा ही तो भी इस पूर्वकल्पित साम्यानुमानी निष्कर्ष में एक और भारी दोष रह जायगा। यदि एक बार मुझे इस विश्वास का कि आभ्यन्तर अनुभूति के सादृश्य की परिणति भौतिक रचना सादृश्य में होती है कोई अच्छा आधार मिल जाता है तब किसी विशिष्ट मामले में मैं निःसन्देह किसी शारीरतन्त्र के

साथ दूसरे शारीरतंत्र के रचना सादृश्य की मात्रा को तद्नुरूप आभ्यन्तर अनुभूतियों के तन्मात्र सादृश्य का अनुमान लगा सकने का पर्याप्त कारण मान सकता हूँ। किन्तु यह सामान्य नियम स्वयं किस आधार पर खड़ा है ? स्पष्ट है, यदि मेरी अपनी आभ्यन्तर अनुभति ही मूलतः मुझे ज्ञात एकमात्र अनुभूति हो तो मेरे पास इस बात का निर्णय कर सकने के कोई साधन नहीं कि मेरे शरीरतन्त्र की तथा आपके शरीर की बाह्य सदृशता कोई ऐसा कारण प्रस्तुत करती है या नहीं जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आपकी आभ्यन्तर अनुभूति भी मेरी आभ्यन्तर अनुभूति जैसी है या नहीं। किसी खास मामले में यदि साम्यानुमान पर आधारित निष्कर्ष का कोई मूल्य होता है तो मुझे पहले ही स्वतन्त्र रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि बाह्य आकृति का साम्य और आभ्यन्तर अनुभूति का साम्य दोनों ही कम से कम कुछ मामलों में तो सहयोगी होते ही हैं। उस विधि के विषय में जिसके अनुसार हम अपने साथियों में वास्तविक अस्तित्व का अध्याहार करने को तत्पर हो जाते हैं, व्यक्तिवादियों के प्रचलित विवरण का औचित्य केवल इसी कारण है कि वे इस महत्वपूर्ण विचार बिन्दु की ओर से चुपचाप अनभिज्ञ बने रहते हैं।

तब अपनी अनुभूति से बाह्य प्रयोजन-पर, संवेदनशील अनुभूति के अस्तित्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का क्या तरीका हो सकता है उत्तर स्पष्ट है। उसके जानने का वही तरीका है जिस तरीके से या प्रक्रिया द्वारा हम अपने बारे में स्पष्ट चेतनता प्राप्त करते हैं। व्यक्तिनिष्ठ मनोविज्ञान की विशुद्ध और भारी भूल है यह मान लेना कि किसी न किसी रूप में अनुभूति केन्द्र रूपी मेरे अपने अस्तित्व का तथ्य एक आदिकालीन ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है। अपने प्रयोजनों को कार्यरूप में विनियुक्त करने की प्रक्रिया द्वारा ही हम उन्हें अपने प्रयोजन के रूप में, अपने जीवन के अर्थरूप में और अपनी विश्वविषयक वान्छा के रहस्य के रूप में, जान पाते हैं और समाज में अपने अस्तित्व के तथ्य से लेकर प्रयोजन के सम्पादनार्थ अथवा किसी वान्छा की पूर्ति हेतु उठाये गये प्रत्येक पग में हमारे प्रयोजन-पर कार्यों का हमारे सामाजिक समग्र के अन्य अंगों के कार्यों के साथ समंजन शामिल रहता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आपको अपने साथियों के अंशतः संपाती और अंशतः व्याघाती उद्देश्यों का भी ध्यान रखना ठीक उसी प्रकार आवश्यक होता है जिस प्रकार कि स्वयं अपने उद्देश्यों का। आप उनमें से किसी एक का ज्ञान बिना उसी रास्ते से गये और बिना उतनी ही मात्रा तक ज्ञान प्राप्त किए जितना कि दूसरे का है, को प्राप्त नहीं कर सकते। ठीक इसी कारण कि चूँकि हमारे जीवन और प्रयोजन स्वतः पूर्ण, स्वतः व्याख्य समग्र नहीं संभवतः अपने निकट साथियों का अर्थ जानने तक ही सीमित रहने के अतिरिक्त स्वयं अपना अर्थ नहीं जान सकते। मेरे साथ सामाजिकतया सम्बद्ध मेरे जैसे ही जीवों के लक्ष्यों और प्रयोजनों द्वारा अनुकूलित लक्ष्यों और प्रयोजनों से युक्त जीव के रूप में

मेरे आत्मविषयक ज्ञान के बिना आत्मज्ञान शब्द एक थोथा और निरर्थक शब्द है। ज्ञानार्जन में अनुकरण का जो स्थान है उसके आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह निष्कर्ष स्पृश्यरूपेण और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा क्योंकि उन अध्ययनों से यह बात सामने आती है कि बहुत बड़ी सीमा तक बच्चा पहले स्वयं बिना कुछ जाने निरुद्देश्य रूप में दूसरों के सार्थक और सप्रयोजन कार्यों की पुनरावृत्ति करने के बाद ही स्वयं चेतन सार्थकतायुक्त व्यवहार करने लगता है। ज्यादातर पहले यह सीख लेने के बाद ही कि किसी शब्द का उच्चारण करने से अन्य लोगों का क्या आशय हुआ करता है। अथवा वे क्या काम करते हैं, बच्चा उसी शब्द के प्रयोग अथवा उसी काम को करने कराने विषयक अपने अर्थ को जानने लगता है। अतः हम भरोसे के साथ कह सकते हैं कि ऐसी प्रयोजन-पर और सार्थक अनुभूति की जो मेरी अपनी अनुभूति नहीं है, वास्तविकता उसी प्रकार से प्रत्यक्षतः निश्चित होती है जिस प्रकार कि मेरी अपनी अनुभूति की वास्तविकता और यह कि दोनों ही वास्तविकताओं का ज्ञान अनिवार्यतः मेरे अपने ही लक्ष्यों और हितों की स्पष्ट अन्तर्दर्शन प्राप्त करने की प्रक्रिया के समय ही, हमें एक साथ मिल जाया करता है। मेरे साथियों की आभ्यन्तरानुभूति उसी मात्रा में असंदिग्धतया वास्तविक होती है जिस मात्रा में मेरी अपनी क्योंकि मेरे अपने प्रयोजन-पर जीवन का अस्तित्व मात्र ही, उनके जीवन के तत्सम अस्तित्व के बिना अर्थहीन है।[1]

४—विगत धारा द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का अब हम 'भौतिक जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व' नामक सामान्य प्रश्न के विषय में विनियोग कर सकते हैं। ऐसा करने पर हमें श्रेष्ठतम श्रेणी के महत्व के दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। (१) चूंकि अब हमें मालूम हो गया है कि उस जगत् का कम से कम एक भाग अर्थात् हमारे साथियों के शरीर,

---

१. विवाद विषयक इस धारा की पूर्णतर व्याख्या के लिए रॉयस लिखित 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' ग्रन्थ का 'नेचर कांशसेनेस एण्ड सेल्फ कांशसनेस' नामक निबन्ध देखिए। उस निबन्ध से इस अध्याय भर के लिए पर्याप्त सहायता ली है साथ ही 'इण्टरनेशनल जर्नल' के अक्तूबर १९०२ के अंक में प्रकाशित 'माइण्ड एण्ड नेचर' शीर्षक निबन्ध में उल्लिखित तथा कथित साम्यानुमानी निष्कर्ष से निकटतया सम्बद्ध युक्तियों की विशुद्ध आलोचना के लिए भी मैं उस निबंध का आभारी हूँ। रॉयस लिखित इसी प्रकार की संक्षिप्ततर आलोचना को जो 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इंडिविजुअल,' सेकेंड सीरीज, के 'फिजिकल एण्ड सोशल रीयालिटी' नामक चौथे लेक्चर के पृष्ठ १७० पर दी गयी है, उपर्युक्त लेख लिखते समय देख सकने का अवसर मुझे नहीं मिला। अनुकरण संबंधी संपूर्ण विषयार्थ विशेषतः देखिए प्रोफेसर बाल्डविन लिखित 'मेन्टल डेवलपमेन्ट इन दि चाइल्ड एण्ड दि रेस'।

हमारी अपनी अनुभूति की प्रस्तुतियों के जाटिल्य मात्र नहीं है अपितु अनुभवकर्तृ रूपेण स्वयं उनका भी तद्रधिक अस्तित्व है और हमारी अनुभूति में वस्तुतः प्रस्तुत होने के अतिरिक्त उनके 'स्वतन्त्र' अस्तित्व का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक भौतिकजगत् के अपने वेदनशील गुणधर्मों के लिए, हमारे हेतु हुई प्रस्तुतियों पर निर्भर होने के तथ्य से अब और यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं। यदि उस जगत् के किसी एक भाग के विषय में जो प्रस्तुत होने की दशा में ठीक उसी श्रेणी का होता है जैसाकि उस जगत के शेष भाग और तत्सदृश ही अपने वेदनाशील गुणधर्मार्थं प्रस्तुति निर्भर भी, निश्चित रूप से यह ज्ञात हो कि वह प्रस्तुति जाटिल्य से अधिक कोई वस्तु है तो यही बात अन्य भागों के बारे में भी सत्य तो कम से कम हो सकती है । बिना किसी प्रमाण के अब हम भौतिक जगत् के किसी भाग के बारे में यह नहीं कह सकते कि उसकी सत्ता प्रेक्ष्यमात्र है ।

हम एक कदम और आगे बढ़ सकते हैं यह नहीं हो सकता कि भौतिक जगत् के अन्य भागों की वास्तविकता हमारे ऐन्द्रिय-प्रेक्षणार्थ प्रस्तुत होने के अतिरिक्त और अधिक कुछ न हो अपितु उसमें उसका होना आवश्यक है । यतः (अ) हमें अपने क्रियात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अपने भौतिक अथवा द्रव्यात्मक पर्यावरण सम्बन्धी कारकों का ध्यान रखना ठीक उसी तरह जरूरी है जिस तरह सामाजिक पर्यावरण के निर्मायक अपने से अतिरिक्त प्रयोजन-पर व्यवहार का ध्यान रखना जरूरी होता है। हमारे अपने आभ्यन्तर जीवन की जिस तरह कि प्रयोजन-पर मानव जीवन के विस्तृततर समग्र के भाग मात्र होने के अतिरिक्त कोई संगत सार्थकता नहीं होती उसी तरह लक्ष्य सिद्धि की ओर प्रेर्णमाण सार्थक आचरण की व्यवस्था रूप इस मानव समाज का अर्थ भी उसके अमानवीय घेरों तथा परिस्थितियों का ख्याल रखे बिना समझ में नहीं आ सकता। मेरी अपनी अनुभूति को समझ सकने के लिए मुझे उस सामाजिक समग्र के, जिसका मैं एक अंग हूँ, लक्ष्यों, आदर्शों, विश्वासों आदि का हवाला सामने रखना जरूरी होगा और इन लक्ष्यों आदि को समझने के लिए भौगोलिक, जलवायविक, आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों का हवाला लेना फिर जरूरी होगा। इस प्रकार न केवल भौतिक जगत् के विस्तृत रूप के लिए ही अपितु उसके उस विशिष्ट भाग के लिए भी जो मेरे साथियों के पिण्ड शरीरों से निर्मित है, यह कहना सही होगा कि उसके अस्तित्व का अर्थ उसकी प्रस्तुति मात्र से कहीं बहुत ज्यादा है। यदि मैं एक वास्तविक सत्ता हूँ तो अपेक्षित भौतिक अस्तित्व भी अवश्य वास्तविक होगा क्योंकि उसके हवाले के बिना मेरा आभ्यन्तर जीवन बोधगम्य नहीं हो सकता।

(ब) मानव जीवन उत्क्रान्ति तथा विकासधर्मिणी एक विशाल व्यवस्था का अंग है यह निष्कर्ष विविध विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत प्रमाण साक्ष्य से और भी अधिक

पुष्ट हो जाता है। यदि किसी सम्बद्ध ऐतिहासिक विकास का एक भाग प्रस्तुति-जाटिल्य से कुछ और अधिक वस्तु है तो उस विकास का अन्य स्थिति श्रेणियाँ सम्भवतः प्रस्तुति-जाटिल्य मात्र नहीं हो सकतीं। किसी ऐसे 'आदर्शवाद' के विरुद्ध, जो अपने आपको किसी कम संदिग्ध नाम से जाहिर करनेवाला व्यक्तिवाद अथवा प्रस्तुतिकरणावाद मात्र ही है, यह कहना कि उसके कारण उत्क्रान्ति या विकास घटकर एक स्वप्नमात्र ही रह जाता है और इसीलिए वह अवश्य ही असत्य होगी।[1] एक गहरी और उचित युक्ति होगी।

तव समग्र भौतिक जगत के विषय में यह बात सही नहीं हो सकती कि मेरी इन्द्रियों के लिए प्रस्तुत हो सकने के तथ्य के अतिरिक्त उसकी अन्य कोई सत्ता ही नहीं है। उसमें वर्तमान ऐसे तत्वों को, जो उपर्युक्त प्रकार से प्रस्तुत नहीं हुए, फिर भी कोई सत्ता इसलिए होना ही चाहिए चूँकि मेरे अपने 'व्यक्तिनिष्ठ' लक्ष्यों की सिद्धि के लिए मौलिक शर्त के रूप में उनकी सत्ता का उरीकरण मेरे अपने आभ्यन्तर जीवन के लिए वांछित होता है। जैसा कि विभ्रम, 'अनुभावन' और व्यक्तिनिष्ठ संवेदन के तथ्यों से प्रकट होता है कि भौतिक जगत् में जो कुछ हमें तत्व अथवा अंगरूप में भासता है, कदाचित् इस भासमानता विषयक तथ्य के अतिरिक्त उसकी अपनी कोई सत्ता ही न हो सकती हो, ऐसी अन्तर्वस्तुएँ प्रस्तुत हो सकती हैं, जिनके विषय में सही तौर पर कहा जा सके कि उनकी सत्ता उनकी प्रेक्ष्यता ही है। अन्य तत्सम भ्रान्तिमूलक प्रस्तुतियों से इन विभ्रमजन्य प्रस्तुतियों को पृथक कर सकने की संभाव्यता मात्र ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह बात समग्र भौतिक जगत् के विषय में सत्य नहीं हो सकती। ऐसा कहना इसी लिए सही है क्योंकि भौतिक अस्तित्व सामान्यरूपेण सामूहिक विभ्रम से अधिक कुछ है और मनोविज्ञानानुसार हम इस प्रकार के विभ्रमों का घटित होना स्वीकार कर सकते हैं। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है कि भौतिक जगत् के किसी असमान तथ्य को प्रस्तुति मात्रातिरिक्त अन्य किसी सत्ता से रहित कहकर आप तब तक निष्कासित नहीं कर सकते जब तक कि किसी विशिष्ट मामले के हालात पर आधारित इस निष्कर्ष के लिए कोई विशिष्ट कारण प्रस्तुत न कर सकते हों।

(२) हमारे पहले वाले निष्कर्ष का दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह है, कि अब हम समझ गये हैं कि, अपने साथी मनुष्यों के निर्णायक मामले में अपनी ज्ञानेन्द्रियों के प्रति प्रस्तुतिपरक तथ्य से स्वतंत्र किसी अस्तित्व की परिपुष्टि का वास्तविक अर्थ क्या

---

१. अपनी 'बाह्य सत्ता' में मेरे संकल्प के एक विश्वासोत्पादक कारक के रूप में भौतिक जगत की 'आंशिक अनिर्भरता या स्वतंत्रता' की सार्थकता के अध्ययनार्थ देखिए स्टाउट लिखित 'मेनुअल ऑफ साइकालाजी', पुस्तक ३, भाग २, अध्याय १–२ में 'दि पर्सेप्शन ऑफ एक्स्टर्नल रीयालिटी'।

था। उसके 'अनिर्भर' अथवा स्वतंत्र 'अतिस्त्व के माने थे अनुभूति केन्द्ररूपेण उसका अस्तित्व यानी संवेदनशील प्रयोजनपर जीवरूपेण उसके अस्तित्व। इस प्रकार अनिर्भर अथवा 'स्वतंत्र' सत्ता की समग्र कल्पना ही मूलरूपेण सामाजिक थी। यह भी देख चुके हैं कि जिन आधारों पर शेष भौतिक जगत् में स्वतंत्र या अनिर्भर अस्तित्व का अध्याहार आवश्यक हो जाता है वे आधार सारतः वे ही हैं जिनके कारण हमने अपने साथी मानवों के 'अनिर्भर' स्वतंत्र अस्तित्व का दावा किया था। तब यह बात एकत्व प्रतीत होती है कि 'अनिर्भर' अथवा 'स्वतंत्र' अस्तित्व का दोनों ही मामलों में एक ही सामान्य अभिप्राय अवश्य है। उसका अभिप्राय केवल संवेदनशील प्रयोजन-पर अनुभूति केन्द्रों का अस्तित्व ही हो सकता है और यही होना आवश्यक भी है। यदि हम इस बात को गंभीरतापूर्वक मानना चाहते हैं कि हमारी अपनी तथा हमारे साथी अन्य व्यक्तियों की सत्ता के समान ही भौतिक जगत् की सत्ता भी प्रेक्ष्यत्व मात्र नहीं है तब हमें यह भी मानना पड़ेगा कि वह सत्ता प्रेक्षणशील अथवा संवेदनशील भी है। भौतिक प्रकृति रूपेण जो कुछ हमारे इन्द्रिय प्रक्षण द्वारा भासता है उसे ज्ञानावान् अनुभावक जीवों अथवा सत्ताओं का समुदाय अथवा ऐसे समुदायों का जाटिल्य ही होना चाहिए और इस भासमानता[1] के पीछे वर्तमान सत्ता या वास्तविकता उसी सामान्य शैली की होनी चाहिए, जिस शैली की वास्तविकता के इन्हीं कारणोंवश ऐसी उन भासमानताओं के पीछे होने का दावा हम करते हैं जिन्हें हम अपने साथियों के पिण्ड शरीर कहते हैं।

यह निष्कर्ष इसलिए ही किसी भी मात्रा में भी अवैध नहीं हो जाता चूँकि हम यह नहीं बता पाते कि ऐसी ज्ञानशील अनुभूति की, जो भौतिक जगत् के उस भाग के अनुरूप है जो हमारे निकटवर्ती मानव तथा पाशव सहजातों के संकीर्ण वृत्त से बाहर का भाग है—विशिष्ट जातियाँ विशेषतः कौन सी है। जिसे हम साधारणतया 'अजैव' प्रकृति के नाम से पुकारते हैं, उसकी संवेदनशीलता और प्रयोजन के विशिष्ट रूपों को पहचान पाने की हमारी असफलता के माने आवश्यकरूपेण अब इससे अधिक नहीं हो सकते कि यहाँ हम अनुभूति की ऐसी किस्मों पर विचार कर रहे हैं जो निग्रहार्थ हमारी अपनी अनुभूतियों से बहुत अधिक दूरस्थ हैं। प्रकृति के इतने बड़े अंश के भासमान मृतत्व तथा प्रयोजनहीनता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है यदि उसकी तुलना ऐसी भाषा में लिखे गये लेख की अर्थहीनता से की जाय जिससे हम व्यक्तिगत रूप में अनभिज्ञ हैं। प्रकृति का बहुत बड़ा भाग अनुमानतः हमें इसी प्रकार जीवनरहित तथा प्रयोजनहीन प्रतीत

---

१. **इस सारे विवाद-विमर्श के बीच वास्तविकता या सत्ता की मात्रा विषयक सिद्धांत को सदा ध्यान में रखना होगा। वह सत्ता जिसका यह भौतिक जगत प्रपंच है स्वयं किसी उच्चतर सत्ता का प्रपंच हो सकती है।**

होता है जिस प्रकार कि किसी विदेशी का व्याख्यान किसी ऐसे गवांर को जो अपनी भाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं जानता, निरर्थक बकवास प्रतीत होता है।

कालपनिक अटकलों के मनमाने उपयोग द्वारा इन प्रत्ययों की ओर भी विशद् रूप में विकसित करना आसान तो होगा पर अपेक्षाधिक भी । इसमें जो जीवन्त नियम अध्याहृत है उस पर हम पहले ही जोर दे चुके हैं और वह यह है कि इन्द्रिय ज्ञानानपेक्ष अस्तित्व का एक ही बोधगम्य अर्थ हुआ करता है अतः उसका वही एक अर्थ होना तब आवश्यक है जब कभी हमें प्रेक्षित भौतिक जगन् के किसी भाग में ऐसी सत्ता या वास्तविकता का अध्याहार करने के लिए, जो अपनी प्रेक्षितव्यता के तथ्य मात्र का अतिक्रमण करती हो, मजबूर हों। यह दावा करने के कि भौतिक जगन्, अपने प्रेक्षित गुणों के लिए, विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों से युक्त प्रेक्षक की उपस्थिति पर निर्भर होते हुए भी, अपने अस्तित्व हेतु इस प्रकार के किसी सम्बन्ध पर बिलकुल भी निर्भर नहीं होता, यदि इस दावे का जो निश्चित अर्थ है तो, हमारे लिए यही माने हो सकते हैं कि वह जगत ऐसी जैव्र व्यवस्थाओं अथवा जव व्यवस्था जाटिल्यों का जिनकी अनुभूति उसी सामान्य प्रकार से ज्ञानशील संवेदनशील और प्रयोजन पर होती है जैसी कि हमारी और जो अनुमानतः स्पष्टता की उस मात्रा के मामले में अनन्तरूपेण विविध हुआ करते हैं—जिसके अनुसार वे स्वयं अपने व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्यों और हितों तथा उन हितों के विशिष्ट रूपों को पहचाना करते हैं। प्रपंची अथवा हमारी विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों को प्रतीतमान एक आभास है।

५—हम इस अध्याय की समाप्ति ऐसे कुछ निष्कर्षों के साथ कर सकते हैं जो इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने से स्वभावतः प्राप्त होते हैं (१) यह स्पष्ट है कि भौतिक जगत् के अस्तित्व की 'स्वतंत्रता' में क्या क्या निहित है इस बात के विश्लेषण का परिणाम वास्तविकता या सत्ता की सामान्य संरचना विषयक हमारे पहले वाले निष्कर्षों से मिलता जुलता ही है। यतः अपने पिछले खंड में हमने देखा था कि, न केवल यही मान लेना जरूरी हो गया था कि समग्र रूपेण वास्तविकता एक एकल व्यष्ट अनुभूति रूप ही है अपितु यह भी हमें मानना पड़ा था कि वह ऐसे अंगोपांगों अथवा कारकतत्वों से मिलकर बनी होती है जो स्वयं भी व्यष्टता की विविध मात्राओं की संवेदनशील अनुभूतियाँ होती हैं । और वस्तु के एकत्व विषयक विचार-विमर्श में यह मान लेने का कारण हमें मिला था कि संवेदनात्मक अनुभूति के अतिरिक्त अन्य कुछ व्यक्तिगत अथवा व्यष्ट नहीं हो सकता । इस प्रकार हमने खूब दिलजमई पहले ही कर ली थी कि मानव प्रेक्षकों द्वारा इकाइयों के रूप में प्रयुक्त होते समय उनकी सुविधा हेतु स्वेच्छ रूपेण एकत्रित किए गए प्रस्तुति-जाटिल्यों से अधिक यदि कुछ वस्तुएँ इस जगत् में है तो उन वस्तुओं का किसी न किसी प्रकार के विषय या व्यक्ति की संवेदनात्मक

अनुभूतियाँ ही होना आवश्यक है। भौतिक जगत् वस्तुतः विचार द्वारा अब हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि तथ्यरूपेण वह इस प्रकार की वस्तुओं से ही बना है। और इस प्रकार हमारा निष्कर्ष, पहले ही से सही ठहराये जा चुके इस परिणाम के कि वही वस्तु वास्तविक अथवा सत्तावान् या सत हो सकती है जो किसी न किसी मात्रा में सही तौर पर व्यष्ट हो—भौतिक अस्तित्व पर किये गये तार्किक विनियोग का नियम कहा जा सकता है।

भौतिक प्रकृति के गतिक्रम की व्याख्या करने के तत्वमीमांसीय प्रयत्न के इस परिणाम के विरोध में वर्णनात्मक विज्ञान के विधितंत्र लगातार और संगत अनुसरण द्वारा अनिवार्यतः प्राप्य परिणाम को प्रस्तुत करना रोचक होगा। वर्णनात्मक विज्ञान का समग्र विधितंत्र इस बात पर ही निर्भर है कि हम, कुछ प्रयोजनों के लिए, उस समस्या को जिसमें भौतिक जगत् की वास्तविकता निहित है ताक में उठाकर रख देने को हम तैयार हो जाय और अपना सारा ध्यान पर्याप्तरूपेण तथा प्राक्कल्पनाओं का ज्यादा बचाव करते हुए इस बात का वर्णन करने के काम पर केन्द्रित कर दें कि प्रस्तुत अन्तर्वस्तुओं की वह व्यवस्था कैसी है जिसमें वह जगत् अपने आपको हमारी इन्द्रियों के सामने अनावृत अथवा प्रकट करता है। क्योंकि विशुद्ध वर्णनात्मक कार्यों के लिए, भौतिक जगत् विषयक हमारा एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि हम पता लगायें कि अनुक्रम के किन नियमों के अनुसार हमारे लिए प्रस्तुत कोई अन्तर्वस्तु दूसरी अन्तर्वस्तु का अनुगमन करती है। अतः प्रस्तुत अन्तर्वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक नियमों की स्थापना किए जा सकते हैं वहाँ तक विशुद्ध वैज्ञानिक प्रयोजन को इससे कोई मतलब नहीं कि हम उस वास्तविकता या सत्ता की कल्पना कैसे करते हैं जिस पर उपर्युक्त प्रस्तुति अनुक्रम आधारित है अथवा जो इस अनुक्रम का मूलाधार है। चाहे हम उसे परिमित विषयों की व्यवस्था रूप में लें अथवा किसी व्यक्तिक देवता की इच्छा के रूप में या प्राथमिक गुणों के जाटिल्य के रूप में अथवा किसी अज्ञात अधःस्तर के रूप में या फिर इस विषय में कोई बहस करने से ही इनकार कर दें, पर उस समय तक जब तक कि हमारा एकमात्र उद्देश्य अपने लिए प्रस्तुत किए गए ज्ञानेन्द्रिय विषयों के अनुक्रम को गणनीयता-परक नियमों द्वारा नियन्त्रित रूप में प्रस्तुत करना ही रहेगा तब तक परिणाम एक से ही रहेंगे। विज्ञान इस प्रपंचात्मक व्यवस्था अथवा जगत् की पृष्ठवर्तिनी वास्तविकता या सत्ता की समस्त तत्त्वमीमांसीय व्याख्याओं की कोई परवाह किए बिना अपने रास्ते चलता चला जा सकता है।

घटनाओं के अनुक्रम प्रपंच के मूलाधारों के विषय में जाँच किए बिना ही केवल उनके वर्णन मात्र ही समस्या में मग्न रहने का तार्किक परिणाम यही होगा कि जितनी ही अधिक सही तौर पर यह काम किया जायगा उतनी ही अधिक पूर्णरूप से भौतिक जगत्

की विज्ञान द्वारा वर्णित व्यष्टता लोप होती चली जायगी । दैनंदिनीय विचारानुसार भौतिक जगत् ऐसी अन्योन्य क्रियापरक वस्तुओं का घर है जिसमें से प्रत्येक वस्तु एक अनन्य व्यष्टि हैं, किन्तु प्रचलित विज्ञान, भौतिक जगत् के विभिन्न तत्वों के एक ही तरह पर काम करते रहने की बात पर अड़े रह कर इस भासमान व्यष्टता का अपरिवर्ज्यतया एकदम विघटित कर डालता है । अधिक परिचित आणविक सिद्धांतों के अनुसार, विभिन्न तत्वों के विभिन्न अणुओं के व्यवहार की भिन्नताएँ, यद्यपि अब भी अन्तिमतः निर्णीत समझी जाती है तो भी किसी एक तत्व के सभी अणुओं को सामान्यतया एक दूसरे की ऐसी सही प्रतिमूर्ति माना जाता है जो व्यवहार विषयक अनन्य व्यष्टता से एकदम विरहित है। समसामयिक विज्ञान के उन प्रयत्नों में, जो वह परमाणुवाद के पीछे जाकर समस्त भौतिक अस्तित्व को पूर्णतया समांग माध्यमवर्तिनी गतियों के रूप में विघटित करने के लिए किया करता है हमें उसकी वर्णनात्मक अभिरुचि के एकात्मतया अंगीकरण के और भी अधिक परिवर्तनवादी परिणाम दिखाई पड़ते हैं। यहाँ आकर व्यष्टता एकदम लुप्त हो जाती है वह केवल उस हद तक ही बाकी रह जाती है जहाँ तक कि किसी पूर्णतया समांग माध्यमवर्तिनी गति का प्रवर्तन चरम ऐसी अव्याख्येयता बना रहता है जिसे तथ्यरूपेण स्वीकार तो करना पड़ता है पर जिसका मेल उन सैद्धांतिक पूर्वानुमानों के साथ नहीं बैठाया जा सकता जिनके कारण अनुमति माध्यम की समांगता का आग्रह करना जरूरी हो जाता है ।

इस प्रकार धीरे-धीरे करके व्यप्टता को भौतिक जगत की प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक वर्णनों से निकाल बाहर करने के तार्किक कारण अब स्पष्ट हो गये होंगे । यदि सारी व्यष्टता अनुभूतिगत व्यष्ट विषयों या व्यक्तियों की ही व्यष्टता है तो यह स्पष्ट है कि भौतिक जगद्विषयक तत्वमीमांसीय आधार के प्रश्न की उपेक्षा द्वारा हमने पहले ही सिद्धांतरूपेण उस सब को ही अपने दृष्टि क्षेत्र में शामिल नहीं किया जिसके कारण उसे व्यष्टता प्राप्त होती है । भौतिक जगत् की प्रपंचात्मक अन्तर्वस्तुओं से अनन्यरूपेण काम लेने की हमारी प्रक्रिया जितनी ही अधिक तर्कपूर्ण होगी उतनी ही कम गुंजायश उसके भीतर व्यष्टता विषयक तत्व के किसी अस्तित्व को स्वीकार करने की हमारे लिए रह जायगी । इस प्रपंचात्मकता को तर्कसंगत विवृति देने के प्रयोजन में केवल सामान्य शब्दों में ही उसका वर्णन कर देना ही शामिल है। वास्तविक सत्ता या अस्तित्व की व्यष्टता का सिद्धांत तो तभी एक बार फिर अपने पूरे रूप में हमारे सामने आ सकता है जब तत्त्वमीमांसा शास्त्र में हम प्रपंचात्मकता के वर्णन को बदलकर उसकी व्याख्या इन्द्रियगोचर चरमतर वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें ।

(२) उसके आधार को लेकर की गयी अस्तित्व की विवृति की सारी व्याख्या

के विपय में जो कुछ पहले कहा जा चुका है भौतिक जगत् की व्याख्या के बारे में भी उसी को दोहरा देना शायद इस जगह जरूरी है। हमें पहले ही से यह मान लेने की जरूरत नहीं कि क्रियात्मक अथवा वैज्ञानिक प्रयोजनार्थ वस्तुओं के बीच सुविधाजनक विभेद करने की जो सरणियाँ हमने अपना ली है वे उन अधिक महत्वपूर्ण विभेदों के अनुरूप हैं जो उन विभिन्न व्यष्ट अनुभूति विषयों के बीच खड़े कर दिए गए हैं जिन्हें भौतिक जगत् के प्रपंची स्वरूप के द्योतक वास्तविकता अस्तित्वों के रूप में मानने के लिए हमारे पास कारण मौजूद हैं। उदाहरण रूपेण, यह ऐसी ही एक गलती है जिसके कारण भौतिक पदार्थ की प्राणवत्ता विषयक विश्वस्त सिद्धांत प्रत्येक रासायनिक अणु परमाणु में 'आत्मा' का होना मानते हैं। हमें यह बात याद रखना चाहिए कि विवरणात्मक विज्ञान द्वारा स्वीकृत वस्तु विषयक बहुत से विभेद ऐसे विषयात्मक सीमांकन मात्र हो सकते हैं जो हमारे अपने विशिष्ट प्रयोजनों के लिए सुविधाजनक होते हुए भी भौतिक जगत् की वास्तविक्ताओं के स्वरूप पर आधारित किन्हीं मौलिकता विभेदों के संभवतः अनुरूप नहीं होते। प्रकृति को अपनी ज्ञानेन्द्रियों के लिए प्रस्तुत, संवेदी व्यष्टों की क्रम व्यवस्था की अभिव्यक्ति के रूप में देखने के हमारे अभिमत से यह परिणाम जरा भी नहीं निकलता कि उन व्यष्टों के बीच के संबंधों का हमारी विभिन्न वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं द्वारा निर्मित भौतिक जगत् के विभिन्न कारकों के पारस्परिक सम्बन्ध पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं करते।

इसी लिए, उदाहरणतः हमारे अपने आत्म-ज्ञान तथा हमारे साथी व्यक्तियों के ज्ञान से मालूम होता है कि किसी न किसी माने में एक एकल अनुभूति ऐसी मौजूद है जो भौतिक विज्ञान के मतानुसार मानवीय तंत्रिका-तंत्र के प्रभावी केन्द्रभूत तत्वों के असीम जाटिल्य के अनुरूप है। मानवीय अनुभूति के भीतर जाकर प्रत्यक्ष देखनेवाले हमारे अन्तंदर्शन के अलावा भी, अगर हम मानवीय तंत्रिका-तंत्र के बारे में उतना ही जानते होते जितना कि अजैव प्रकृति के भाग मात्र को तो भी हम यह बात न तय कर पाते कि यह विशिष्ट जाटिल्य किसी व्यष्ट अनुभूति से इस प्रकार सम्बद्ध है। सामान्यतः हमें यह मान लेना पड़ता है कि भौतिक प्रकृति के उस छोटे से भाग को छोड़ कर जिसमें हमें अपनी अनुभूति से खासतौर पर किसी मिलती जुलती प्रकार की प्रयोजन-पर अनुभूति का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है, हम जरा से भी भरोसे के साथ यह बिलकुल नहीं कह सकते कि प्रकृति का गठन कैसे हुआ और उसके कौन से भाग व्यष्ट अनुभूति हेतु 'ऐन्द्रिय' 'इन्द्रियगम्य' हैं। 'अध्यात्मवाद' तथा ऐसे ही अन्य अन्धविश्वासों के हित में भौतिक जगत् के अर्थ विषयक सामान्य सिद्धांत के दुरुपयोग को बचाने के लिए उपर्युक्त चेतावनी को हमें लगातार ध्यान में रखना होगा। वह चेतावनी जरूरत से ज्यादा जल्दबाजी करनेवाले शैलिंग और हेगल जैसे उन प्रकृति विषयक दर्शनशास्त्रियों के

सिद्धांतों से भी जो इस असिद्ध पूर्वानुमान को लेकर चल निकलते हैं कि मानव की संरचनात्मक वाह्य आकृति का सान्निकटय उस मात्रा का विश्वास्यसूचक है जहाँ तक बोधगम्य अनुभूति भौतिक प्रकृति में मौजूद है।

(३) चलते चलाते एक और बात की ओर भी ध्यान दिला देना उचित होगा। स्पष्ट ही है कि यदि भौतिक प्रकृति वास्तव में अनुभूतिशील व्यक्तियों का एक या अनेक समाज हैं।[1] तो हमें यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अपने अजीब अथवा विशिष्ट हितों और प्रयोजनों से युक्त हमारी मानव अनुभूति के बिशिष्ट स्वरूप के कारण हम भौतिक जगत् के उन अंगों को छोड़कर जिनका विशिष्ट प्रकार का प्रयोजन-पर जीवन हमारे जीवन से बहुत कुछ मिलता जुलता है, किन्हीं अन्य अंगों के साथ सामाजिक संपर्क स्थापित कर सकने से साधारणतः वंचित या वर्जित हैं। भौतिक जगत् की विशाल-संख्यक अन्तर्वस्तुओं के विषय में तत्त्वमीमांसीय सामान्य सिद्धान्त के अनुसार हम विश्वास कर सकते हैं कि उन्हें जिस प्रकार के स्वरूप से हमने आभूषित किया है वैसा स्वरूप उनका स्वयं अपना स्वरूप है भी या नहीं। इस निष्कर्ष की सत्यता की क्रियात्मक प्रत्यक्ष जाँच उन खास मामलों में, जिस व्यष्ट जीवन के साथ उनका सम्बन्ध है वहीं उनको पहचान द्वारा कर सकने के कोई साधन हमारे पास नहीं हैं परिणामतः हम उनके साथ क्रियात्मक रूप.से कोई सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं कर सकते तो भी यह नतीजा भी नहीं निकलता कि अति-मानव ज्ञानशील जीवन के साथ इस प्रकार के प्रत्यक्ष और वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकने से हम सदा के लिए पूर्णतया रोक दिए गए हैं। भौतिक प्रकृति तथा मानव बुद्धि के बीच 'अन्तःसंचरणर्हता का प्रवेशद्वार' अनुमानतः अब भी एकदम अज्ञात परिस्थितियों के अन्तर्गत बनता बिगड़ता रह सकता है। प्रत्यक्षतः आविर्भूत सत्य के समान महाकवियों के हृदय को स्पर्श करनेवाली, भौतिक जगत् के ज्ञानशील और प्रयोजन-पर स्वरूप की अनुभूति की जो झाँकी उन कवियों द्वारा साहित्य में प्रस्तुत की गयी है, तथा, जिसे किन्हीं मनोदशाओं के अन्तर्गत किसी हद तक बहुत से लोगों ने जाना भी है, उस अनुभूति की निर्भरता अनुमानतः उपर्युक्त प्रवेश द्वार के मनोवैज्ञानिक अवचयन पर आधारित है। अतः कम से कम इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि कवि का 'प्रकृति दर्शन' उत्प्रेक्षा मात्र न होकर और अधिक कुछ हो और शायद

---

१. **यहाँ अनेक 'समाज' शब्द का ग्रहण ही अधिक स्वाभाविक होगा। हमारे पास इस बात से इनकार करने का कोई कारण नहीं कि विभिन्न प्रकार के अमानवीय बोध पारस्परिक सामाजिक समागमन से उसी प्रकार वंचित रह सकते हैं जिस प्रकार कि वे हमारे साथ समागमन नहीं कर पाते।**

प्रकृति के साथ कवि के सामाजिक सम्बन्ध की वास्तविकता का मात्रा तक प्रतिनिधित्व वह उस प्रकार ही करता हो जिस प्रकार कि अपने साथियों तथा अन्य उच्च श्रेणी के अन्य जीवों के साथ के हमारे अपने सम्बन्ध करते हैं। यह सच हो सकता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के समान ही, प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध पारस्परिक प्रेम नामक उस महान् सीमावरोध निवारक वस्तु के कारण जो प्रयोजन और हित के साम्य का ही प्रतिरूप है, स्वरूप हो जाते हों।

(४) इस ओर अंगुलि निदेश की आवश्यकता शायद नहीं है कि इस अध्याय में प्रतिपादित प्रकृति विषयक अर्थागम का दृष्टिकोण वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान के अप्रतिहत विकास का न तो विरोध ही करता है, न ही उसका उद्देश्य उस विकास पर कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाना है। भौतिक जगत् विषयक हमारा दृष्टिकोण भले ही चाहे जो हो लेकिन मनुष्य की सेवा में लगी हुई प्राकृतिक प्रक्रियाओं के क्रियात्मक नियंत्रण सम्बन्धी किसी भी सिद्धांत के लिए यह भी उतना ही आवश्यक है कि वह उन प्रक्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध विषयक नियमों का सुत्रीकरण करता रहे। और इन नियमों के सूत्री-करण का कार्य तभी संतोषजनक रूप में हो सकता है, जब इन्द्रियगम्य अन्तर्वस्तु व्यवस्था रूप में, इस भौतिक जगत् का विश्लेषण, उसके अप्रपंचात्मक आधार विषयक तत्वमीमांसीय समस्याओं की ओर से एकदम आँख मूँदकर किया जाय। यह कहना भी सही न होगा कि अगर हमारी तत्वमीमांसीय व्याख्या वैध है तो वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुति प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण असत्य है। क्योंकि कोई प्रस्तावना, साध्य अथवा तर्कवाक्य कभी भी इसलिए असत्य नहीं ठहराया जा सकता चूँकि वह समग्र सत्य नहीं है। उसे तभी असत्य कहा जाता है जब उसके समग्र सत्य न होने पर भी गलत तौर पर उसे समग्र सत्य कहा जाय। यदि दर्शनशास्त्रानुसार कभी हम कहें भी कि जो कुछ समग्र सत्य से कम है वह असत्य ही होना चाहिए। तो इसका मतलब यही समझना चाहिए कि तत्त्वमीमांसक रूप में वह बात हमारे विशिष्ट अभिप्रायार्थ असत्य है अतः तत्त्वमीमांसक समग्र सत्य से कम किसी वस्तु को स्वीकार कर ही नहीं सकता। अन्य प्रकार के प्रयोजनों के लिए वही बात ही नहीं अपितु शुद्ध सत्य[1] हो सकती है।

भौतिक जगत् विषयक हमारी तत्त्वमीमांसीय व्याख्या गुणवाची वर्णनात्मक

---

१. अर्थात् सत्य की श्रेणियाँ या मात्रायें भी उसी प्रकार की जा सकती हैं जिस प्रकार वास्तविकता की और यह जरूरी नहीं कि दोनों तद्रूप हों। कोई अभिमत किस मात्रा में सत्य है यह बात उस प्रयोजन का विचार किए बिना नहीं निर्धारित की जा सकती जिसकी पूत्यर्थ वह प्रतिपादित किया गया है। तत्त्वमीमांसा के विशिष्ट अभि-प्रायार्थ अर्थात् अन्तमतः संगतरूपेण विश्व-विषयक चिन्तन करने के लिए जो

विज्ञान के परिणामों के 'अपने प्रयोजनार्थ' उनकी वैधता और अर्हता विषयक पूर्ण विश्वास के प्रति उतनी से अधिक असंगत नहीं है जितनी कि वह मानव शरीर के क्रियाकलाप और यंत्र विन्यास विषयक शरीर क्रिया सम्बन्धी और शरीर रचना सम्बन्धी अनुसन्धानों की अर्हता को समान ही मानव अनुभूति की एकोद्देश्यिता और प्रयोजन-परता को मान्यता के प्रति असंगत है। मानव अपने असली रूप में, शरीर-क्रिया शास्त्री और शरीर-रचना शास्त्री के अध्ययन विषयक मानव से एकदम भिन्न वस्तु होता है। कोई भी आदमी 'मानवीय इन्द्रिय संरचना' का चलता फिरता नमूना मात्र नहीं हुआ करता। प्रत्येक मानव वास्तव में सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ रूप में एक प्रयोजन-पर तथा ज्ञानशील कर्ता है। लेकिन तद्विपयक यह विचार उस शारीरशास्त्रीय तथा शरीर-क्रिया-शास्त्रीय अनुसंधान की क्रियात्मक अर्हता को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करता जो मानव शरीर की वैसी संरचना के बारे में किया जाता है जैसा कि वह किसी दूसरे मनुष्य की ऐन्द्रिय प्रस्तुति व्यवस्था के सामने आती है। इस मामले में जो कुछ सही है वह और सब मामलों के बारे में भी निःसन्देह वैसा ही सच है।

प्रकृति की आदर्शवादी व्याख्या के मार्ग की सबसे बड़ी और गंभीर बाधा उसकी ऐसी प्रक्रियाओं के जिन्हें एकाएक देखने पर ऐसा प्रतीत हो मानों वे प्रयोजन-पर व्यक्तियों के वास्तविक कार्य हो ही नहीं सकती—अनुक्रमविषयक कठोर नियमों के प्रतिपालन पर विचार-विमर्श करना तो अभी बाकी ही है। यह बाधा ही हमारे अगले अध्याय का विचार्थ विषय होगी।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए—एफ० एच० ब्रैडले लिखित 'अपीयरैन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय २२; एल० टी० हॉबहाउस लिखित 'थियरी आफ नालेज', भाग ३, अध्याय ३; एच० जे० लोट्जे, 'मेटाफिजिक', खंड २, अध्याय ५–६; एच० मंस्टरवर्ग, 'ग्रुंडज्यूज़ जर साइकालोजी', १, पृ० ६५–९२; के० 'पीयर्सन', 'ग्रामर आफ सायंस', अध्याय २; (दि फैक्ट्स ऑफ सायंस), ८ (मैटर) (विशेषतः 'प्रपंचवादी' के स्थिति बिन्दु से लिखित किन्तु जिसमें अचेतनरूपेण बहुत सी बातें अधिक भौतिकतावादी दृष्टि-कोणानुसार लिख गयी है); रॉयस लिखित, 'स्टडीज़ इन गुड एण्ड ईविल' नामक पुस्तक में 'नेचर, कांशसनेस एण्ड सेल्फ कांशसनेस' तथा उन्हीं की 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल' नामक पुस्तक की सेकंड सीरीज़ का लेक्चर ४; जे० वार्ड लिखित 'नैचुरलिज्म एण्ड

कुछ भी समग्रसत्य नहीं होता वह असत्य ही कहा जायगा। किन्तु तत्वमीमांसक जिसे लघुतर सत्य कहे वह उसके प्रयोजन से भिन्न अन्य प्रयोजनों के लिए अपेक्षा-तया उच्चतर सत्य माना जा सकता है। 'पर्सनल आइडिलिज्म' नामक ग्रन्थ में लिखित डाक्टर स्टाउट के 'एरर' विषयक निबन्ध के अभिमत से तुलना कीजिए।

एग्नास्टिसिज्म' के लेक्चर १–५, १४, १९। प्राचीनतर साहित्य में पढ़िए डेस्कार्तेज 'मेडिटेशन' ६, लीबनिट्ज़ लिखित 'मौण्डालॉजी' तथा' 'न्यू सिस्टम'; लॉक का 'ऐसेज़,' खंड ४, अध्याय २; काण्ट का रेफ्यूटेशन ऑफ आइडियलिज्म, नामक अध्याय उसकी पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' के द्वितीय संस्करण में, पहले ही उद्धृत बर्कले के ग्रन्थों के अतिरिक्त उपर्युक्त साहित्य का अध्ययन सम्भवतः अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा ।

अध्याय ३

नियम का अर्थ

१—भौतिक जगत् के बारे में जन सावारण में प्रचलित यह कल्पना कि उसमें सामान्य नियमों की यंत्रवत् अनुपालकता पायी जाती है तद्विषयक हमारी तत्व-मीमांसीय विवृति के विरुद्ध है। २—किन्तु हमारी व्याख्या में सांख्यिकी के तरीकों से निकटतम तथा सिद्ध की गयी एकरूपताओं अथवा माध्यों की स्थापना के लिए स्थान है क्योंकि वह व्याख्या घटना के सामुहिक रूप से ही सम्बद्ध होती है उसके व्यष्ट विवरणों की वह परवाह नहीं करती। ३—प्रकृति की 'एकरूपता' न तो कोई स्वयंसिद्ध है न अनुभवगम्यरूपेण सत्याप्य तथ्य अपितु वह एक प्रतिस्थापना मात्र ही है। प्रकृति विषयक इस प्रकार की 'एकरूपताओं' अथवा नियमों की स्थापना में कार्यरूप से प्रयुक्त होनेवाले तरीकों पर विचार करने से पता चलता है कि इसकी कोई गारंटी या प्रतिभूति हमारे पास नहीं कि वास्तविक और ठोस मामलों में हमें नियमों का यथार्थ प्रतिपालन का दिखाई पड़ेगा। ४—एकरूपता एक प्रतिस्थापना है जिसका जन्म, प्रकृति के नियन्त्रणार्थ क्रियात्मक नियमों की हमारी आवश्यकता के कारण हुआ है। इस प्रयोजन के लिए उसका यथातथ होना जरूरी नहीं और तथ्यतः हमारे वैज्ञानिक सूत्र भी तभी तक यथार्थ होते हैं जब तक कि वे गुणपरक अमूर्त और प्राक्कल्पनात्मक रहते हैं। उनके द्वारा हम किसी व्यष्ट प्रक्रिया के वास्तविक गति-क्रम का निश्चयपूर्वक निर्धारण नहीं कर पाते। ५—भौतिक जगत् की 'यांत्रिक' रूपेण कल्पना प्रतिस्थापना की गुणपरक अभिव्यक्ति ही है और इसी लिए वह उन अनुभव-साध्य विज्ञानों के लिए आवश्यक है जिनका काम ही भौतिक जगत् का अनुसन्धान है। ६—असली मशीनों के स्वरूप पर विचार करने से यह सुझाव मिलता है कि यांत्रिक पहलू अपने पूर्णरूप में बोधशील और प्रयोजन-पर प्रक्रियाओं का एक अधीनस्थ पहलू हुआ करता है।

१—भौतिक जगत् की अन्तर्हित वास्तविकता के बारे में विगत अध्याय में वर्णित अपने विचारों द्वारा हमने अपनी शब्दावली और पद विन्यास को प्रशस्त करने के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसा अधिक नहीं किया कि जिसके कारण ऐसे लोग जिन्हें तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों पर विश्वास है और जो निश्चयात्मक भौतिक विज्ञान के एकान्त भक्त हैं, हमारा अनुसरण कर सकें। निश्चयात्मक विज्ञान द्वारा हमें प्रायः

यह याद दिलाई जाती है कि जैव और अजैव व्यवस्थाओं के बीच तर्कसंगत रूप में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती तथा यह कि हमें इस बात को पहले ही से मान बैठने का कोई अधिकार नहीं कि उत्क्रान्ति अथवा विकास का सातत्य तभी समाप्त हो जाता है जब हम अपने सूक्ष्मावेक्षी यंत्र द्वारा उसका अनुसरण करने में असमर्थ हो जाते हैं तथा यह कि अपनी वैज्ञानिक श्रद्धादृष्टि के अनुसार हमें भौतिक जगत् के नीचातिनीच कण में भी समग्र जीवन की 'आशा तथा शक्ति' के दर्शन करना चाहिए आदि। उपर्युक्त प्रकार के सब कथन भौतिक जगद्विषयक उस कल्पना को, जिसे बहुत सही और तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है, एक भोड़ी और गड़बड़ शक्ल में पेश करने के तरीके भर हैं। लेकिन हमारी सबसे बड़ी और गहरी कठिनाइयाँ तो अब शुरू हो रही हैं जब कि इस अध्याय में प्रस्तुत समस्या का सामना हमें करना पड़ रहा है। हमें अब उन आपत्तियों का सामना करना है जो भौतिक जगत् विषयक हमारे अभिमत के विरुद्ध 'प्रकृति की एकरूपता' विषयक आगमनीय तर्कशास्त्र के सिद्धांत के बल पर उठायी जा सकती है।

कहा जा सकता है भौतिक व्यवस्था की घटनाएँ अनुभूति के व्यष्ट केन्द्रों के न्यूनाधिक चेतन प्रयोजनों और हितों की अभिव्यक्तियाँ नहीं हो सकतीं और इसकी एक सीधी सी वजह यह है। कोई प्रयोजन-पर कारक किस प्रकार व्यवहार करेगा यह बात उन लोगों के सिवा जो वास्तव में उसके प्रयोजन से अभिज्ञ हैं, अन्यों के लिए एक रहस्य ही होती है। उन प्रयोजनों के बारे में वास्तविक अन्तर्दृष्टि प्राप्त किए बिना, केवल उनके विगत व्यवहार की परीक्षा मात्र से ही यह बता सकना असंभव है कि उसका भावी व्यवहार कैसा होगा। क्योंकि किसी प्रयोजन-पर कार्य का विशेष लक्षण उद्दीपन की अनुक्रीया के नये नये तरीके ढूँढ़ निकालने की उसकी शक्ति ही है यही कारण है जिसके बल पर हम अनुभव द्वारा सीखने की शक्ति को अर्थात् उद्दीपन की अनुक्रिया की अधिकाधिक उपयुक्त विधियाँ अधिग्रहीत करने की शक्ति को ही--किसी जीव की बुद्धि की सही कसौटी मानते हैं। जहाँ इस प्रकार की उत्तरोत्तर वर्धमान अनुकूलनीयता नहीं पायी जाती वहाँ बोधशीलता अथवा बुद्धि और प्रयोजन का अस्तित्व मान लेने का कोई कारण नहीं हुआ करता। इसी लिए फिर एक बार हम कह देना चाहते हैं कि जब तक आप किसी व्यक्ति के साध्य प्रयोजन से वस्तुतः अभिज्ञ नहीं होते तब तक निश्चयपूर्वक यह बता सकना असंभव ही होगा कि उस बोधशील व्यक्ति का व्यवहार किस मार्ग का अवलम्बन करेगा।

कहा जा सकता है कि जैव जगत् को छोड़ कर प्रकृति के अन्य सभी क्षेत्रों में कहीं भी हमें उत्तरोत्तर वर्धमान अनुकूलनीयता नहीं दिखाई पड़ती। भौतिक जगत् की अजैव अन्तर्वस्तुओं की एक ही प्रकार के पर्यावरण पर बिलकुल एक ही प्रकार की प्रति-

क्रिया सदा हुआ करती है। उनके व्यवहार में, अनुक्रम के सामान्य नेमी कायदों या नियमों का कभी भी पथभ्रष्ट न होने वाला एकान्त अनुपालन पाया जाता है और यदि हमारे गणितशास्त्र के साधन समस्याओं का सामना करने के लिए पर्याप्त हों तो हम निरपेक्ष यथार्थता और निश्चय के साथ उस अनुपालन का पहले से ही परिगणन कर सकते हैं, हिसाब लगा सकते हैं। भौतिक प्रकृति में उक्त प्रकार की नेमी एकरूपता मौजूद है यह बात आगमनी विज्ञान की तर्कना का मूलभूत सिद्धांत ही वास्तव में है। वह प्रकृति अनुक्रमात्मक नियमों के कठोर प्रतिपालन ही का क्षेत्र है और ये अनुक्रम बिना किसी अपवाद के तथा अपरिवर्त्य होने के कारण विशुद्ध रूपेण 'यान्त्रिक' अथवा मशीनी हुआ करते हैं अर्थात् प्रयोजनपरताविहीन और बोधरहित। वास्तव में तो यह प्रकृति ही एक ऐसा पेचीदा यंत्र संभार है जिसमें प्रत्येक घटना अपथभ्रष्ट तथा आवश्यक रूप से अपनी परिस्थिति का अनुगमन किया करती है।

उपर्युक्त प्रकार के अभिमत भौतिक विज्ञान के सिद्धांतों के कारण प्रायः तार्किकतया आवश्यक हो जाते हैं। देखने से ही लगता है कि अगर ये अभिमत सही हों तो भौतिक जगत की जो व्याख्या इससे पहले की है वह सब अवैध हो जाती है। इस कारण तथा मानवीय स्वतंत्रता और नैतिक दायित्व सम्बन्धी जो दूरगामी निष्कर्ष उनसे प्रायः निकाले जाते हैं, उनके कारण भी इन अभिमतों के आधारों की विशद परीक्षा आवश्यक होगी।

२—इस परीक्षा या जाँच में जो मुख्य समस्या में हमारे सामने आयेंगी वे यह होंगी (१) अनुक्रम की यह परिगण्य एकरूपता वास्तव में किस सीमा तक प्रयोजन तथा बुद्धि की उपस्थिति से मेल नहीं खाती ? (२) भौतिक जगत् के वास्तविक अनुक्रमों में इस प्रकार की एकरूपता का अध्याहार करने के लिए कोई वास्तविक कारण या आधार भी हमारे पास है या नहीं ? (३) यदि ऐसे आधार हमारे पास नहीं हैं तो प्रकृति की तथाकथित एकरूपता के सिद्धांत का वास्तविक तर्कसंगत स्वरूप क्या है ? और (४) भौतिक जगत् की एक यंत्र संभार रूप कल्पना में सत्य की कितनी मात्रा है ? यांत्रिक अनुक्रम की आवश्यकता तथा प्रयोजन-पर कार्य की स्वतन्त्रता के बीच लोक-प्रचलित वैषम्य द्वारा प्रस्तुत समस्या पर विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आवश्यक कारणीय कार्य विषयक लोक-प्रचलित अभिमत पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि यांत्रिक अनुक्रम की आवश्यकता केवल एक विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठ और तार्किक समस्या ही है। अनुक्रम की आवश्यकता तो केवल इस माने में ही होती है कि जब तक हम तर्कसंगततया विचार करने के उद्देश्य को पकड़े रहते हैं, तब तक ही पूर्ववर्ती की पुष्टि के साथ ही अनुवर्ती की पुष्टि करना भी आवश्यक होता है। सच्ची आवश्यकता ही सदा बाध्य होती है और इसी लिए उसका प्रयोजन-पर कार्य की

विरोधिनी होना तो दूर, वह रह ही वहाँ सकती है जहाँ वास्तविक प्रयोजन की संभावना ही न हो अथवा जहाँ उसकी संभावना को कुचल दिया गया हो।[1] जब तक हम भौतिक जगत् के प्रपंचात्मक अनुक्रम पर ही विचार कर रहे होते हैं तब तक नेमी अपथभ्रष्ट अनुक्रमिक एकरूपता को ही आवश्यकता के पुरुषविध नाम से पुकारते हैं।

(१) **गण्य एकरूपता और बौद्धिक प्रयोजन :**—कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि किसी वस्तु के व्यवहार का समग्र सकल पूर्व निरूपण उस वस्तु में प्रयोजनपरता अथवा वुद्धि के अध्याहार से मेल नहीं खाता अतः लोक-प्रचलित प्रकार के नीतिदर्शन में यह दलील पेश की जाती है और लगातार पेश की जाती रही है कि अगर हम वुद्धि युक्त और आत्म प्रयोजनवान जीव हैं तो किसी भी दर्शक के लिए पहले से ही यह बता सकना असंभव होगा कि उस समय तक उपस्थित न हुई परिस्थितियों में हम कैसा व्यवहार करेंगे। बौद्धिक प्रयोजन के प्रति गण्यता की अननुकूल्यता के विषय में इस प्रकार का सीमान्तक दृष्टिकोण स्पष्टतः दोहरी भ्रान्ति पर आधारित होता है। पहले तो वे लोग ही जो इस अभिमत पर वल देते हैं, यह मान बैठने की गलती करते हैं कि भविष्य विषयक प्रागुक्ति संभवतः वर्तमान दत्तों द्वारा भूत-विषयक गणना की अपेक्षा किसी अन्य तार्किक स्तर की होती है। मेरे भावी व्यवहार विषयक प्रागुक्ति को पहले ही से एक प्रयोजन-पर जीव रूप में मेरे चरित्र के साथ जिस तरह पर बेमेल मान लिया जाता है। उसी तरह पर मेरे भूतकालिक व्यवहार से प्राप्त निष्कर्ष को नहीं देखा जाता। तर्क शास्त्रानुसार निश्चय

---

१. सही कहा जाय तो सभी आवश्यकता का उद्भव एक ही अनुभूति में परस्पर विरोधी प्रयोजनों अथवा हितों की उपस्थिति से ही हुआ करता है। उदाहरणतः जब आधारों की स्थापना की जा चुकी हो तब परिणाम की स्थापना करने की तर्कसंगत आवश्यकता के माने होते हैं (१) तार्किक रूप से विचार करने के सामान्य प्रयोजन की उपस्थिति, (२) ऐसे किसी प्रयोजन अथवा हित की उपस्थिति जिसके सिद्ध हो जाने पर पूर्व स्थापित आधारों से असंगत परिणाम की स्थापना करना आवश्यक हो जाय, (३) इस स्थापना की अभिभावी प्रयोजन (१) द्वारा अधिभूति। मेरा विश्वास है कि सावधानी से विश्लेषण करने पर आवश्यकता विषयक प्रत्येक असली मामले में यही सब तत्व प्रकट होंगे। अर्थात् मेरे प्रयोजन की निष्फलता मात्र सही तौर पर तब तक आवश्यक नहीं होती जब तक कि उसे किसी ऐसे द्वितीय हित अथवा प्रयोजन द्वारा पराजित न कर दिया जाय जिसने अपने अनुरूप बना लिया हो। इस प्रकार सर्वआवश्यकता अन्ततोगत्वा आत्मारोपित ही होती है। और जैसाकि हम आगे चल कर देखेंगे, नीतिशास्त्र पर संधारित हुए बिना वह नहीं रहती।

ही यह एक प्रकार का प्रारंभिक विरोधाभास कहलाता है। कारणता विषयक समस्याओं पर विचार करते समय हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की सफल उद्भावना हेतु आवश्यक शर्तें दोनों ही मामलों में एक-सी ही होती हैं। यह निर्णय करने के लिए किसी निर्दिष्ट व्यक्ति ने किसी निर्दिष्ट परिस्थिति में अपने पहले के इतिहास में किस प्रकार से व्यवहार किया होगा ठीक उसी प्रकार की अन्तर्दृष्टि आवश्यक होती है जिस प्रकार की कि वह बता सकने के लिए आवश्यक है कि वह उस परिस्थिति में जो आगे चल कर समुपस्थित होगी किस प्रकार का व्यवहार करेगा। अतः हमें अपने विचार विषय से प्रागुक्ति के विशिष्ट मामले को निरस्त करके उसे इस सामान्य प्रश्न तक ही सीमित कर लेना होगा कि किसी प्रक्रिया के गतिक्रम की सामान्य गण्यता किस हद तक उसके प्रयोजन-पर तथा बौद्धिक स्वरूप के प्रतिकूल है।

इस प्रश्न के उत्तर का सुझाव हमें हमारे अपने व्यवहार के गति क्रम की गणनार्थ किए जाने वाले इस प्रकार के प्रयत्नों के प्रति हमारी अपनी सामान्य अभिवृत्ति से ही तत्काल प्राप्त हो जाता है।[1] हम इस प्रकार के सभी प्रयत्नों का विरोध करते हों ऐसी बात किसी तरह भी ठीक नहीं है। इस पूर्वानुमान से कि हमारे व्यवहार में आगामी व्यवहार के अनुमान की गणना के लिए उपर्युक्त एकरूपता पर्याप्त पायी जाती है, नाराज होने की बजाय हम अपने मित्रों से आशा रखते हैं कि वे एकरूपता के बल पर विश्वास पूर्वक पहले से ही यह अनुमान लगा सकें कि हम कुछ बातें तो अवश्य करेंगे ही और कुछ के करने से इनकार जरूर करेंगे और यह कि हमने अमुक प्रकार से काम अवश्य किया होगा और अमुक प्रकार से काम हम किसी प्रकार भी न कर सके होंगे। मित्रों में ताना देने का यह एक सहजतः सामान्य वाक्य है कि 'तुम मुझे ठीक से समझने की कोशिश करो, मेरे बारे में तुम ऐसा सोच ही कैसे सके कि मैं ऐसी बात कर भी सकता हूँ।' जब हम किसी मित्र पर भरोसा रखते हैं तो प्रायः कहा करते हैं 'मैं जानता हूँ कि तुम जरूर ऐसा कर सकोगे।' किन्तु इसके विपरीत कोई अपेक्षाकृत अपरिचित व्यक्ति यदि हमारे बारे में इस तरह का अन्दाज लगाने लगे कि जिससे वह हमारे व्यवहार की सही गणना कर सकता हो तो हम उसका बुरा जरूर मानेंगे। और यदि इस प्रकार की गणना उसके व्यक्तिगत ज्ञान पर बिलकुल भी आधारित न होकर मनोवैज्ञानिक और नृवंशशास्त्रीय सामान्य साध्यों पर आधारित हुई तब तो निश्चय ही हमें लगेगा कि आकस्मिक सफलता से बढ़कर कोई चीज हमारे नैतिक व्यक्तित्व के लिए खतरा बन रही है।

इस प्रकार के भावना वैविध्य का कारण क्या हो सकता है? स्पष्ट है इसका

---

१. आगे जो कुछ लिखा जा रहा है उसकी तुलना एफ० एच्० ब्रैडले लिखित 'एथिकल स्टडीज' के प्रथम निबन्ध तथा आगामी खंड० ४, अध्याय ४ से कीजिए।

कारण हमें उपर्युक्त दोनों मामलों में जिन आधारों पर हमारे भावी व्यवहार का अनुमान लगाया गया था उन्हीं के मध्यगत विभेद में ढूँढना होगा । पहले मामले में हम उपर्युक्त प्रकार का अनुमान लगाने की आशा अपने मित्रों से इसलिए करते थे और हम उसका स्वागत भी करते थे क्योंकि हम उस अनुमान को अपने जीवन के पथदर्शक हितों और प्रयोजनों से अपने मित्र की पूर्णतः व्यक्तिगत अभिज्ञता पर आधारित अनुभव करते थे। वह अनुमान एक ऐसा निष्कर्ष था जो हमारे व्यष्ट चरित्र के अन्तर्ज्ञान पर आधारित था। दूसरे मामले में अपने चारित्रिक अनुमान से हम इसलिए उद्वेलित हो उठे थे चूँकि हम उसे आत्मविषयक वैयक्तिक प्रयोजनों और हितों के उपर्युक्त प्रकार के अन्तर्ज्ञान के अभाव पर आधारित और केवल मानव स्वभावविषयक सामान्य साध्यों के आधार पर लगाया गया अनुमान मात्र समझते थे। हम सहीतौर पर अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त द्वितीय प्रकार की अनुमान गणना की नियमित सफलता हमारे व्यष्ट चरित्र में अध्याहृत किसी वास्तविकता के अनुकूल नहीं है। मानव प्रकृति संबंधी विज्ञान के किसी सामान्य साध्य के आधार पर ही यदि हमारे सभी कार्यों की गणना हमारे व्यष्ट, प्रयोजन के विना ही यदि की जा सकती होती तो, हमारे इतिहास की प्रगति निर्धारणार्थ वैयक्तिक प्रयोजनों और हितों की प्रत्यक्ष उपयोगिता एक थोथी भ्रान्तिमात्र ही होती और यह देखते हुए कि वास्तव में हम कुछ भी काम नहीं करते हम सच्चे बुद्धिमान विचमानिया नहीं हो सकते ।

इस प्रकार दो प्रकार की गण्यता के बीच एक विशिष्ट विभाजन करना आवश्यक लगता है। व्यष्ट चरित्रगत तथा प्रयोजनगत अन्तर्दृष्टि पर आधारित गणना, बुद्धि तथा प्रयोजनपरता से असंगत नहीं है अपितु जीवन का नियंत्रण करनेवाले प्रयोजन जितने ही उससे संश्लिस्ट और व्यवस्थित होते हैं गणना उतनी ही अधिक संगत होती है। इसके विपरीत जहाँ प्रयोजन-पर व्यष्ट जीवों के व्यवहार की गणना का काम करना पड़ता है वहाँ इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान से रहित केवल सामान्य साध्यों पर आधारित यह गणना नियमितरूपेण सफल नहीं हो सकता ।[१]

---

१. गाढ़े मित्रों के वृत्त से बाहर के अन्य साथियों के व्यवहार की हमारी साधारण गणनाओं में दोनों शैलियों की गणना का मिश्रण पाया जाता है। उनके बारे में हमारा अन्दाज कुछ तो उन अनुमानों पर आधारित होता है जो हम उनके विशिष्ट हितों और प्रयोजनों के अपने विगत ज्ञान के आधार पर लगाते हैं और कुछ सामान्य अनुमानों पर आधारित होता है । जो मानव जीवन में विस्तृत रूपेण कार्यरत हितों और प्रयोजनों को देख कर लगाये जाते हैं। कार्य-पर लोग कभी नहीं भूलते कि इस प्रकार से प्राप्त निष्कर्ष सदा उच्चतम सीमा तक समस्यात्मक ही होते हैं । हमारे समग्र अनुसन्धानों का इतिहास ही इस बात का

भौतिक जगत की, हमारे मतलब के लिए बुद्धिमान प्रयोजन-पर जीवों की एक व्यवस्था की प्रस्तुतिरूपेण व्याख्या करने में जो कठिनाई सामने आती है वह यह है कि भौतिक विज्ञान की सफलताओं को देखकर पहले पहल तो यह लगता है कि अन्तर्हित व्यष्ट प्रयोजन को जाने बिना भी केवल घटनाओं के गतिपथ के दृष्ट अनुक्रम की यान्त्रिक, गणना कर सकना भौतिक प्रकृति के बारे में विचार करते समय सम्भव है। क्योंकि एक ओर तो हम यह स्वीकार कर चुके हैं कि यदि भौतिक प्रकृति व्यष्ट प्रयोजन-वतः होती तो हमें नहीं मालूम कि उन प्रयोजनों का विवरण क्या है। दूसरी ओर हम इससे भी इनकार नहीं कर सकते कि, भौतिक विज्ञान जो उन प्रयोजनों की उपस्थिति को ही व्यवस्थितरूपेण स्वीकार नहीं करता पहले भी भौतिक प्रकृति में एकरूपताओं को ढूँढ़ निकालने में विशेषतः सफल हो चुका है और आगे भी उन एकरूपताओं का विशुद्ध गणनार्थ विनियोग कर सकने में सफल होगा ऐसी आशा उससे की जाती है। इसलिए अनुमान लगाया जा सकता है कि अनुभवगम्य विज्ञान की वास्तविक सफलता का तालमेल, प्रकृति के गतिक्रम की हमारी तत्वमीमांसीय व्याख्या के सिद्धांतों के साथ नहीं बैठता।

लेकिन हमें इस बारे में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विभेद निर्धारित करना होगा। सांख्यिकीय औसतों की विधि एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा विशिष्ट प्रकार की कुछ एकरूपताओं को प्रयोजन-पर बौद्धिक जीवों के व्यवहार में उनके व्यष्ट प्रयोजनों के स्वरूप के भीतर झांके बिना भी, ढूँढ़ निकाला जा सकता है। अतः यद्यपि किसी भी व्यष्ट व्यक्ति के बारे में, उसके वैयक्तिक चरित्र और हितों के भीतरी ज्ञान के आधार के बिना, निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आपको गोली मार लेगा या विवाह कर लेगा तो भी अनुभव से पता लगता है कि कुछ प्रतिशत गलती की सीमा के भीतर यह कह सकना संभव है कि अमुक वर्ष के भीतर कितने प्रतिशत अंग्रेज अपने को गोली मार लेंगे और कितने प्रतिशत शादी कर लेंगे। सही है कि इस प्रकार से अनुमित प्रातिशत्य बहुत कम और शायद ही कभी किसी वर्ष सही उतरता है लेकिन जितने ही अधिक वर्षों का समय हम परीक्षण के लिए लेते हैं उतनी ही अधिक विशुद्धतापूर्वक किसी विशिष्ट वर्ष के लिए लगाये गये औसत के अनुमान की सही औसत से व्यपगति अन्य वर्षों की व्यपगतिओं की कमी को पूरा करती चली जाती है। इसकी व्याख्या निश्चय ही यों की जा

साक्षी है कि मानव स्वभाव विषयक नियमात्मक वह विज्ञान जिसके द्वारा किसी व्यष्ट व्यक्ति के निश्चितचरित्र विषयक निष्कर्ष शारीरिक और मानसिक सामान्यताओं से निकाला जा सकता है एक उपहासास्पद भ्रान्ति मात्र है। देखिये आगामी खं० ४, अध्याय ४।

सकर्ता है कि चूंकि किसी समाज की पर्याप्ततः स्थिर स्थिति में, विवाह और आत्मघात की प्रेरणा देने वाले कारण समग्रतः वर्षानुवर्ष स्थिर ही रहा करते हैं इसलिए कई वर्षों की विवाहों और आत्मघातों की गण-संख्याओं का औसत लेकर हम उन परिणामों को निरस्त कर सकते हैं जो स्वभाव तथा स्थिति विषयक वैयक्तिक विशेषताओं के कारण प्राप्त होते हैं, और इस प्रकार उस मात्रा के माप से मिलती जुलती कुछ ऐसी वस्तु प्राप्त कर लेते हैं, जिस मात्रा को सामाजिक अस्तित्व की सामान्य परिस्थितियाँ व्यक्तियों के हितों और प्रयोजनों पर एक तरह के सामान्य चलन अथवा स्वरूप का ठप्पा लगा देती है।

औसतों की विधि द्वारा प्राप्त सभी एकरूपताओं के सम्बन्ध में दो बातें तुरन्त सामने ही दिखाई पड़ सकती हैं। पहली बात तो यह कि सांख्यिक नियम द्वारा सूत्रीकृत परिणाम सदा ही इस प्रकार का होता है कि विचलन की कुछ सीमाओं के भीतर घटनाओं के वास्तविक क्रम के उस परिणाम के अनुसार चलते रहने की आशा उचित रूप से की जा सकती है किन्तु वह परिणाम ऐसा कभी नहीं होता कि जिससे हम आशा कर सकें कि घटनाक्रम निरपेक्षरूपेण उसी का अनुसरण अवश्य करेगा। उदाहरण के लिए किसी एक साल में हुए विवाहों की वास्तविक संख्या उदाहृत दस वर्ष की अवधि के लिए संगणित औसत प्रातिशत्य से सामान्यतः तो कुछ ऊपर होगी या कुछ नीचे। लेकिन जब हम एक लम्बी अवधि की तुलना दूसरी अवधियों से करते हैं तब ज्यादा लम्बी अवधि के लिए संगणित औसत प्रातिशत्य स्वयं भी कम-बढ़ होता है। इस प्रकार किसी संगणित-औसत का सही उतरना तभी उस 'लम्बे अरसे' में ही संभव हो सकता है जबकि गणना की अनन्त श्रृंखला वस्तुतः पूरी हो और ऐसा हो सकना प्रायः असंभव ही है। औसतों से जिन लोगों का किसी तरह का काम पड़ता है उनमें से शायद हर एक जानता है कि संगठित औसतों का मामलों की किसी निर्धारित श्रृंखला के भीतर एकदम सही पाया जाना हमारी गणनाओं में कहीं न कहीं गलती हो जाने का सन्देह तुरंत पैदा कर देगा। अतः इस प्रकार की एकरूपतायें कभी निरपेक्ष तथा दृढ़ नहीं होतीं। वे ऐसी आदर्श सीमायें हुआ करती हैं जिनके निकट तक विचलन की कुछ सीमाओं के भीतर रह कर घटनाक्रम को पहुँचते हुए देखा गया है।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार एकरूपता के अतित्व के कारण कोई तार्किक आधार हमें कभी नहीं मिलता कि जिसके आधार पर हम किसी खास ओर ठोस मामले में किसी वास्तविक घटना के आवश्यक रूप से घटित होने का दावा भरोसे के साथ कर सकें। आइये अपने उदाहरण की ओर फिर मुड़े और देखें कि ठीक उसी तरह जिस तरह कि हमें किसी दत्त समाज में प्रतिवर्ष होनेवाले विवाहों के निकटतमरूपेण स्थिर प्रातिशत्य से इस निष्कर्ष पर पहुँचने का, कि किसी खास एक वर्ष में भी ठीक वही

प्रातिशत्य प्राप्त होगा, कोई अधिकार नहीं है। उसी तरह हमें यह नतीजा निकालने का उससे भी कम अधिकार है कि उस समाज का कोई विशिष्ट व्यक्ति विवाह करेगा या नहीं करेगा। उस विशिष्ट समाज-सदस्य के चरित्र, उसकी स्थिति तथा उसके हितों की गहराई तक पहुँचे विना हमें कोई अधिकार नहीं कि हम विश्वासपूर्वक यह निर्णय कर सकें कि इस बारे में उसका क्या व्यवहार होगा। इसी तरह पर गलती की किसी हद तक यह कह सकना तो संभव है कि अगले १२ महीने के भीतर साठ बरस से ऊपर की आयु के कितने आदमियों के मरने की आशंका है किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि अमुक व्यक्ति वर्ष के भीतर मर जायगा तब तक तर्कानुगत पूर्वानुमान की पराकाष्ठा ही होगी जब तक कि हमें उस व्यक्ति के काम काज, आदतों, और उसके स्वास्थ्य सामान्य अवस्था के विशेष ज्ञान का बल प्राप्त न हो।[1] अतः हमें इसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि व्यष्ट प्रयोजन की अन्तर्दृष्टि के बिना भी एकरूपताओं की गणना तथा स्थापना संभव है, किन्तु इस प्रकार से प्राप्त एकरूपताएँ सदा परिवर्तनशील और सन्निकट ही होंगी और किन्हीं विशिष्ट ठोस मामलों में उनके आधार पर सही निष्कर्ष निकाल सकना कभी निरापद न होगा।

३—(२) **भौतिक प्रकृति में एकरूपता**—भौतिक प्रकृति में निश्चय एकरूपताओं की वर्तमानता से तब भौतिक व्यवस्था विषयक हमारी सामान्य अभिव्यक्ति में तब तक कोई व्यवधान नहीं आता जब तक कि ये एकरूपतायें उसी शैली की रहती हैं जिस शैली की एकरूपताओं को सामान्य सामाजिक सांख्यिक गणनाओं के सिलसिले में उदाहृत किया जा चुका है। दूसरी ओर ठोस गणनाओं के वास्तविक गतिक्रम का इस प्रकार के एकरूप सामान्य 'नियमों' का विशुद्ध और दृढ़ अनुसरण निश्चय ही लक्ष्यों के उद्देश्यपरक अभ्यनुकूलन की समुपस्थिति से असंगत होगा। सामान्य नियम के

---

१. **स्मरण रहे कि सामाजिक सांख्यिक गणनाओं का ऐसी निकटतम स्थिरता, प्रायः मूढ़तापूर्वक, नैतिक स्वातन्त्र्य की अप्रामाणिकता के तथाकथित साक्ष्य रूप में, प्रस्तुत की जा चुकी है। आवश्यकतावादी यौक्तिकता के ओर भी अधिक भोंडे रूप तक यह निष्कर्ष निकालने के लिए घर घसीटे गये हैं कि यदि किसी दत्त वर्ष की ३१ दिसम्बर तक की तारीख तक हुई आत्महत्याओं की संख्या किसी विशिष्ट वर्ष में हुई आत्महत्याओं के औसत से एक कम रह गयी है तब किसी न किसी व्यक्ति को ३१ दिसम्बर को १२ बजे रात तक अवश्य आत्मघात इसलिए करना आवश्यक है कि जिससे उक्त औसत पूरा हो सके। लेकिन हमें यह कभी नहीं बताया जाता कि अगर औसत आत्मघातों की संख्या में एक की वृद्धि हो जाय तब क्या होना जरूरी है।**

दृढ़ आनुचर्यपूर्वक अनुसरण का शासन प्रयोजन-पर व्यष्ट जीवन के साथ साथ कभी नहीं चल सकता। अब साधारणतया ऐसा माना जाने लगा है, तथा अभी शीघ्र ही हम देखेंगे कि एक रीति वैधानिक अभिधारणा के रूप में ऐसा पूर्वानुमान न केवल आवश्यक ही है अपितु न्याय्य भी कि 'नियम का राज्य' भौतिक प्रकृति में एकदम निरपेक्ष है। लेकिन इस पूर्वानुमान या अभ्युपगम को, मानव के क्रियात्मक प्रयोजनों की पूर्ति-हेतु निर्मित संभवतः असिद्ध एक अभिधारणा से अधिक कुछ मान लेने का कोई आधार है भी या नहीं मेरी समझ में तो यह बता सकना आसान है कि ऐसा कोई आधार हमारे पास नहीं है और यह कि ऐसी प्रकृति की जो प्रयोजन और ऐन्द्रियानुभूतिरहित हो तथा सदा केवल यान्त्रिक 'नियमों' द्वारा ही संचालित और डगमग होती रहे, कल्पना स्वयं हमारे द्वारा अविष्कृत एक तत्वमीमांसीय स्वप्नजाल मात्र है।

आरम्भतः ही स्पष्ट है कि किसी ठोस प्रक्रिया के वास्तविक गतिक्रम का वैज्ञानिक 'नियम' के अनुसार अविचलित अनुगमन अवलोकन या परीक्षण द्वारा एक अनुभव-सिद्ध तथ्य के रूप में कभी भी सत्यापित नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी भी अवलोकन अथवा परीक्षण में हम कभी भी किसी ठोस वास्तविक घटना अथवा प्रक्रिया के समग्र को व्यवदृत नहीं कर सकते। अपने अवलोक हेतु हमें सदा किसी प्रक्रिया के सामान्य पहलुओं में से कुछ ऐसे पहलुओं को चुन लेना पड़ता है जिन्हें हम 'सम्बद्ध कारकों' अथवा 'प्रतिबन्धों' के रूप में अपने ध्यान का विषय बनाते हैं और अन्य पहलुओं को असार समझकर उन पर ध्यान नहीं देते अथवा 'आकस्मिक' परिस्थिति मानकर उन्हें त्याग देते हैं। इस प्रकार का कृत्रिम अवशेषण, जैसा कि कारणता-विषयक विवेचन में हमने देखा, यद्यपि हमारे क्रियात्मक प्रयोजनार्थ अनिवार्य है, तथापि तर्कनात्मकतया अप्रतिरक्ष्य है। साथ ही साथ जिन पहलुओं को हम अपने ध्यान हेतु चुनते हैं उनसे भी परीक्षण द्वारा जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है वह इतना ही कि एकरूप अथवा सर्व-सामान्य नियम से विचलन अथवा अपगमन, यदि ऐसा कोई विचलन होता हो तो, पर्याप्ततया इतना महान् विचलन नहीं होता कि जिसका कोई प्रभाव हमारी नाप-जोख अथवा गणना पर पड़ सके। किन्तु हमारे मापों के मानक कठोर सौक्ष्म्य से कितना दूर हुआ करते हैं यह बात आगमनात्मक विज्ञान सम्बन्धी तर्कशास्त्र की किसी भी अच्छी पुस्तक के भौतिक मानक विषयक अध्याय को पढ़कर जाना जा सकता है।[१] हमारा नियम से विचलन की पकड़ न कर पाना इस बात का सिद्धि के लिए कि किसी तरह का कोई विचलन नहीं हुआ, साक्ष्यरूपेण एकदम मूल्यहीन है।

---

१. तुलना कीजिए मॉश लिखित 'सायन्स आफ मैकैनिक्स', पृ० २८० एफएफ. (अंग्रेजी अनुवाद), जेवोन लिखित 'प्रिंसिपल ऑफ सायन्स' अध्याय १३, १४।

अतः भौतिक प्रक्रियाओं की निरपेक्ष एकरूपता यदि एक क्रियात्मक अभिधारणा से अधिक कुछ है तो उसका एक स्वयंसिद्ध होना आवश्यक है, अर्थात् उन प्रक्रियाओं की धारणा मात्र में ही यह बात अन्तर्हित होना जरूरी है क्योंकि वे एक व्यवस्थागत समग्र की सारतत्व रूप होती है। लेकिन यह बात भी तुरन्त ही स्पष्ट होनी चाहिए कि इस प्रकार की एकरूपता के एकस्वयं सिद्ध रूप में पेश करने का कोई आधार उसी तरह पर नहीं है जिस प्रकार कि कारणता विषयक अभिधारणा को स्वयं सिद्धात्मक कहने का कोई आधार हमारे पास न था। व्यवस्थित समग्र की परिकल्पना में किसी प्रकार भी यह बात अन्तर्हित नहीं है कि उसके भाग अथवा अंग किसी एकरूप या समान नियम द्वारा सम्बद्ध होंगे। क्योंकि व्यवस्थागत एकता साध्यपरक भी हो सकती है अर्थात् भाग इस तथ्य द्वारा सम्बद्ध हो सकते हैं कि एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु अथवा एक ही कार्य की सिद्धि हेतु वे एक साथ मिलकर काम कर रहे होते हैं। उस दशा में किसी भी एक भाग का चलन या व्यवहार उस व्यवस्था द्वारा आपूर्यमाण योजना की उन भाग से की गयी माँग पर निर्भर होगा। और चूँकि इस प्रकार की माँगें समयानुसार बदलती रहती है इसलिए विचाराधीन भाग का व्यवहार या चलन भी तद्नुसार ही बदलता रहेगा यद्यपि किसी ऐसे दर्शक को जो व्यवस्था द्वारा प्राप्य लक्ष्य अथवा प्रयोजन का निग्रह नहीं कर सका, ऊपर से देखने पर उस भाग का आस-पड़ोस एक समान ही दिखाई पड़ सकता है।[1] उन व्यवस्थागत समग्रों का जिनके भीतर मानवीय दृष्टि प्रत्यक्षतः प्रयोजन अथवा लक्ष्य विषयक एकता ढूंढ़ पा सकती है, मामला वास्तव में ऐसा ही मामला है। निर्धारित प्रयोजनों को सामने रखकर चलनेवाला व्यक्ति उन परिस्थितियों में एक-रूपता सदृश तरीके पर काम नहीं किया करता, जिन्हें उस व्यक्ति के प्रयोजन के सम्बन्ध को छोड़कर अन्य रूपेण एक समान ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए उन्हीं परिस्थिति में हुई पहले की असफलताओं से वह शिक्षा ग्रहण करता है और प्रतिक्रिया स्वरूप उन परिस्थितियों में अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु वह और भी अधिक अच्छे अभियोज्य उपाय काम में लाने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। अथवा जहाँ वह कभी भी असफल नहीं होता वहाँ भी उसके प्रयोजन के प्रगामी निष्पादन के लिए दोनों अवसरों पर अलग अलग तरह का चलन आवश्यक हो सकता है। तर्कनानुगत सही तरीके पर यही कहा जाय तो, दोनों ही स्थितियाँ उसके विशिष्ट प्रयोजन की अपेक्षानुसार कभी भी एक सदृश नहीं होती भले ही उसके उन विशिष्ट प्रयोजन के साथ

---

१. तुलना कीजिए 'लोत्से लिखित' 'मेटाफिजिक', खं० १, भूमिका १०, अध्याय ३—३३ (अंग्रेजी अनु०, भाग १, पृ० १८, ९०-९३), खं० १, अध्याय ७–२०८ एफएफ (अंग्रेजी अनु०, भाग २, पृ० ८८–९१)।

के उनके सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का विभेद भी उनके बीच न पाया जा सके। बोधगम्य प्रयोजनों की उस व्यवस्था की जो परिस्थितियों द्वारा अपनी संसिद्धि प्राप्त किया करती है, अपेक्षा रखते हुए, सही तौर पर कहा जाय तो हर एक स्थिति अनन्य ही होती है।

अब यदि हम उन तरीकों अथवा विधियों की जिनके द्वारा प्राकृतिक 'नियम' नामधेय एकरूपताओं का वास्तविक सूत्रीकरण किया जाता है, विवेचना करें तो इस निष्कर्ष के लिए आधार मिल सकता है कि वे सब एकरूपताएँ संनिकटीय अयथार्थ प्रकार की ही हैं। सभी मामलों में न सही अनेक मामलों में तो ये एकरूपताएँ स्पष्टतया सांख्यिकीय विधियों द्वारा प्राप्त हुई होती है। अतः उदाहरण के लिए जब कहा जाता है कि किसी दत्त रासायनिक तत्व के सभी परमाणु एक सदृश होते हैं, उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि ओषजन के प्रत्येक परमाणु का आणविक भार १६ होता है तब इस एकरूपता को व्यष्ट मामलों में भी अविचल रूप से वस्तुतः संसिद्ध मान लेने का कोई भी निरपेक्षतया वैध आधार नहीं होता। परमाणु यदि हमारी अपनी सुविधा के लिए आविष्कृत ऐसा साधन मात्र सिद्ध हो जाय जैसा कि संभव है, जो संवेदनशील संहतियों के व्यवहार की संगणना के लिए उपयोगी तो है किन्तु जिसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है, तब निश्चय ही सिद्ध हो जाता है कि व्यष्ट मामलों के वास्तविक नियमानुवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। किन्तु परमाणु की हमारी कल्पना से मिलते-जुलते अविभाज्य पिण्ड यदि कहीं वास्तव में हों भी तो हमें याद रखना होगा कि व्यष्ट परमाणु से प्रत्यक्षतया काम लेने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। हम संवेदनशील उन द्रव्य संहतियों के, जिन्हें हम अधिक प्रत्यक्षतया काम में ला सकते हैं, व्यवहार से ही परमाणु के गुण धर्मों का अप्रत्यक्ष अनुमान लगाया करते हैं। अतः इस कथन का कि ओषजन के परमाणु का भार इतना है, अधिक से अधिक यही अभिप्राय हो सकता है कि अपने कार्यपरक प्रयोजनार्थ हम उक्त भार से थोड़ा बहुत इधर उधर के संभाव्य विचलन की उपेक्षा कर सकते हैं। ओषजनीय परमाणुओं के अगर वास्तव में ऐसे परमाणु मौजूद हैं तो व्यष्ट भार में औसतन कुछ घटा बढ़ी वास्तव में हो सकती है, फिर भी, जब तक व्यष्टिशः हम उनसे काम नहीं ले पाते और उनके अम्बारों से ही हमें काम करना पड़ता है, तब तक भार विषयक उतार चढ़ावों अथवा विचलनों का, भले ही वे बहुत ही अल्प क्यों न हों, हमारे निष्कर्षों पर कोई विवेच्य प्रभाव नहीं पड़ता और इसी लिए हमारे विज्ञान शास्त्र के लिए उन्हें अस्तित्वहीन मानना ही उचित होगा। प्रकल्प्यरूपेण, तब इस प्रकार की रासायनिक एकरूपताओं से हमें व्यष्ट परमाणु के भार विषयक सही कथन के लिए नृतत्वशास्त्रीय उन सांख्यिक गणनाओं की अपेक्षा जिनके आधार पर व्यष्ट मानव की वास्तविक ऊँचाई,

भार तथा आयाकृत जीवनमान विषयक विवरण वह शास्त्र देता है, कोई सुरक्षिततर आधार हमें नहीं मिल सकते। और तत्काल ही हम देख लेते हैं कि कोई ऐसा अमानव प्रेक्षक जिसकी इन्द्रियाँ एक मानव से दूसरे मानव में व्यष्ट प्रभेद कर सकने में असमर्थ हैं, मानवीय जीवों के बड़े समुदायों के व्यवहार में दृश्यमान आभासी एकरूपता द्वारा उसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है जिस प्रकार का निष्कर्ष परमाणुओं के बारे में निकालने का लोभ हमें हो जाता है।[1]

आभासतः दृढ़ एकरूपता के अन्य मामलों में भी बात ऐसी ही है जैसाकि किसी भी प्रयोगशाला में काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पता है।[2] इस तरह के परिणाम या नतीजे वास्तविक अभ्यास के समय विशिष्ट परिणामों की एक लम्बी शृंखला का माध्य लेकर तथा छोटे मोटे विचलनों का इसलिए अस्तित्वहीन मानकर क्योंकि सभी क्रियात्मक प्रयोजनार्थ वे उपेक्षणीय होते हैं, प्राप्त किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में सभी भौतिक प्रक्रियाओं का एक रूप नियम के प्रति आभासी दृढ़ अनुवर्तन इस बात का अपरिहार्य परिणाम है कि व्यक्तिनिष्ठ प्रकार के विविध सीमाबन्धनों के कारण हम किसी प्रक्रिया की व्यष्ट विवृतियों के गतिक्रम का अनुसरण नहीं कर सकते और इसी लिए हमें अपने सब अनुमान पर्याप्तः इतनी विस्तीर्ण प्रक्रिया शृंखलाओं के अवलोकन और उनकी तुलना द्वारा लगाने पड़ते हैं कि उनका विस्तार व्यष्ट प्रभेदों को परस्पर निराकृत कर देता है। किन्तु इस सब में यह नतीजा निकालने का कोई समाश्वासन एकदम मौजूद नहीं कि किसी एक व्यष्ट प्रक्रिया का गतिक्रम किसी भी दूसरी प्रक्रिया के गतिक्रम के तत्सदृश होता है। इन तुलनात्मक तरीकों ने एकरूपता में व्यष्ट विवृत्ति के उस अनन्त वैविध्य के लिए जगह बना ली है जिसका हमारी वैज्ञानिक निर्मिति जरा सा भी ख्याल था तो इसलिए नहीं करती चूँकि उस वैविध्य को पकड़ पाने के लिए हमारे अवलोकनात्मक साधन ही अपर्याप्त हैं अथवा इसलिए कि निगृहीत होने पर भी

---

१. इस अभिमत की पूर्ण व्याख्या के लिए देखिए वार्ड लिखित "नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर ४ जिसके आधार पर उपर्युक्त अनुच्छेद आधारित है; तुलना कीजिए जे० टी० मर्ज लिखित हिस्ट्री आफ योरोपियन थॉट, भाग १, पृ० ४३७-४४१।

२. मेरी टिप्पणी का अधिकतम आधार विशेषतः वे विधियाँ हैं जिनके द्वारा मनोभौतिकी के अनुसंधानों में मात्रात्मक एकरूपताएँ प्राप्त की जाती हैं। अन्य क्षेत्रों के स्वतः कृत अनुसंधानों से मेरा कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं है किन्तु जिस विधि द्वारा सामान्य एकरूपताओं की प्राप्ति उन क्षेत्रों में की जाती है वह एक ही सी प्रतीत होती है।

हमारे अपने जीवन में घटित होनेवाले अभ्यनुकूलनों से अत्यधिक विभिन्न प्रकार के सप्रयोजन और संघ अभ्यनुकूलनों के स्वीकरण में हमें आवश्यकरूपेण वर्जित करने वाले इसी प्रकार के अन्य व्यक्तिनिष्ठ प्रतिबन्ध वे प्रतिबन्ध हैं जो निर्धारित संख्या से अधिक प्रस्तुतियों पर एक साथ ध्यान देने की हमारी शक्ति पर लगे हुए हैं। साथ ही साथ ऐसे प्रतिबन्ध भी हैं जो हमारी इन्द्रिय प्रत्यक्षणता को कुछ विशिष्ट उपलक्षकों तक ही सीमित करते हैं। फिर उन उपलक्षकों से सम्बद्ध अन्तर्वस्तुओं के प्रत्यक्षणों की उस समय का असंभाव्यता भी है जब कि वे प्रत्यक्षण संवेद्यता की ऊपरी और निचली देहरियों से नीचे उतर जाते अथवा ऊपर उठ आते हैं। निश्चय ही इन अभिसंधानों द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि भौतिक प्रक्रियाओं की यह नैत्यिक एकरूपता एक व्यक्तिनिष्ठ आभास मात्र है अपितु वे अभिसंधान यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि उन एकरूपता को उससे अधिक और कुछ समझने का कोई वैध कारण नहीं है तथा यह कि समग्र वास्तविक अस्तित्व की इन्द्रिय संवेदक व्यष्टता के लिए प्रस्तुत हमारे पूर्वोक्त तर्क के साथ मिलकर वे भौतिक जगत्-सम्बन्धिनी हमारी सामान्य व्याख्या को श्री ब्रैडले के इस सामान्य नियम कि 'जिसका होना अनिवार्य है और जो हो सकता है वह है' के अन्तर्गत ला देने के लिए पर्याप्त है।

४—(३) 'प्रकृति की एकरूपता' विषयक सिद्धांत का तब हमें क्या करना होगा ? वैज्ञानिक कार्य-सक्षम किसी भी सिद्धांत का किसी न किसी तरह न्याय्य ठहराने योग्य होना आवश्यक है अतः यदि भौतिक जगत्-सम्बन्धिनी हमारी व्याख्या वास्तव में विज्ञान के किसी भी मौलिक सिद्धांत से टकराती है तो उसमें कहीं न कहीं तर्क-दोष होना ही चाहिए। किन्तु सौभाग्य से ऐसा कोई टकराव अथवा विरोध है नहीं। एकरूपता के सिद्धांत का विवेचन करते समय हमें उन अर्थों को जिन मानों में वह विज्ञान के उपयोग के लिए वस्तुतः वांछित होती है उन अर्थों से विभेद करना होगा जो विज्ञानों के वास्तविक विधि-विधान के आधार पर साधारण किन्तु अतर्कसंगत तरीके से निकाले जाकर तत्त्वमीमांसीय सिद्धांततन्त्र द्वारा उस एकरूपता में पिरोये गये हैं। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं एकरूपता के सिद्धांत की व्यवस्थित विचार प्रणाली के किसी स्वयं-सिद्ध के रूप में अभिपुष्टि कर सकना असंभव है। न किसी अनुभूत सत्य के रूप में उसका सत्यापन ही कराया जा सकता है। अतः उसका तार्किक स्वरूप किसी अभ्युपगम अथवा ऐसे पूर्वानुमान का ही हो सकता है जिसका पक्षपोषण क्रियात्मक उपयोगिता के आधार पर किया जा सकता है किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक वह सफल हो सकता हो।

और ठीक यही वह जगह है जिसकी पूर्ति उपर्युक्त सिद्धांत विज्ञानों के वास्तविक विधि-विधान में करता है। प्रकृति का मूर्त गतिक्रम कठोरतापूर्वक एक रूप है यह सिद्ध

कर सकने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी है। किन्तु उनका एकरूप होना, हमारे वैज्ञानिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक भी नहीं है हमें जितना कुछ चाहिए वह यही है कि भौतिक प्रक्रियाओं के बृहत्समूह से जब हमें काम पड़ा करे उनमें नैतिकता से तब उस विचलन के अतिरिक्त जिसकी घटना क्रम के गणन और नियंत्रण कार्य में उपेक्षा की जा सके अन्य किसी प्रकार का भी विचलन मानने न आये । अनुभवपरक विज्ञानों की वास्तविक सफलता से सिद्ध होता है कि हमारे सभी क्रियात्मक प्रयोजनों के लिए संनिकटीय एकरूपता की यह मांग पर्याप्त सूक्ष्मतापूर्वक वस्तुतः पूरी होती रहती है। और यह माँग वस्तुतः यों पूरा हो सकेगी इस बात का पहले से अनुमान कर चौकस कसे बिना हमें मिल नहीं सकता था। इन अर्थों में यह सिद्धांत कारणता सिद्धांत के समान ही, प्रागनुभवजात अभिधारणा कहा जा सकता है। लेकिन कारणता सिद्धांत की तरह ही फिर एक बार इस सिद्धांत को भी विश्वास योग्य तब तक नहीं माना जा सकता था जब तक कि उसके प्रयोग के बाद प्राप्त हुए परिणामों से इस बात की पुष्टि न हो गयी अतः काण्ट के मतानुसार अनुभवाधारित सत्यापन के बिना ही सत्य मान लिए जाने के कारण वह प्रागनुभवीय ही है।[1]

जिन विशिष्ट मामलों में एकरूपता के इस नियम का वस्तुतः जिस प्रकार विनियोग हुआ है उस तरीकों पर विचार करने से इस परिणाम की पुष्टि हुई है। हम सबको मालूम है कि वैज्ञानिक नियम विशुद्धतः सर्वसामान्य और अपूर्त है। वे यह नहीं कहते कि ऐसा होगा ही अपितु यह कि यदि परिणाम पर पहुँचने के लिए दी गयी शर्तों के अतिरिक्त अन्य कोई शर्त न हों तो उस हालत में क्या हो सकता है, इतना ही वे कहते हैं। इस अपूर्त अथवा शेषात्मक रूप में वे उन नियम के निश्चय ही यथार्थ और निरपेक्ष एक-रूपताओं के विवरण हैं। किन्तु इस अमूर्त रूप में किसी प्रक्रिया के वास्तविक गति क्रम में उनका प्रत्यक्षतः विनियोग नहीं किया जा सकता। नमूने के तौर पर प्रोफेसर वार्ड द्वारा प्रयुक्त उदाहरण को ही ले लीजिए।[2] यांत्रिकी में हम पढ़ते हैं कि आलम्ब

---

१. एक बार फिर तुलना कीजिए पहले भी उद्धृत लोट्से कृत 'मेटाफिजिक', १, ३, ३२ के अनुच्छेद खण्ड से।

२. देखिए 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर २ और तुलना कीजिए मॉश लिखित' 'सायंस आफ मेकैनिक्स' के पृष्ठ ९–२३ तक में लिखित विशद इस प्रमाण से कि उत्तोलक के समान्य सिद्धांत सम्बन्धी सारे तथाकथित निदर्शन उस सम्बन्ध के अत्यधिक सीधे-सादे मामले के अधिक उलझे हुए रूप के विघटन मात्र हैं, जो अन्ततोगत्वा अपनी मान्यता के लिए इन्द्रियों के प्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य अधिक विश्वसनीय प्रमाण पर निर्भर नहीं होते।

पर जब भार-घूर्ण समान और विपरीत होते हैं तब उत्तोलक पर सन्तुलन की स्थिति बनी रहती है। अमूर्त साधारणीकरण के रूप में यह कथन या अभिवचन स्थिर एक-रूपता विषयक कथन है। किन्तु सार्वत्रिकरूपेण इसके सत्य होने के लिए साध्य के सूत्री-करण में अन्तर्हित प्रतिबन्धों अथवा शर्तों की पूर्ति हो चुकी है ऐसा मान लेना होगा। उत्तोलक का स्वयं अनम्य अथवा दृढ़ होना जरूरी है साथ ही भाररहित होना भी। उनका एकदम एकरूपेण रचित होना भी आवश्यक है आलम्ब का गणितीय बिन्दुवत होना इसलिए आवश्यक है कि जिससे घर्षण का व्यवहार हो सके इसी तरह भारों को ऐसे पदार्थ मात्र समझना होगा जिनमें कोई गुणात्मक विशेषतायें नहीं होतीं जिससे उत्तोलक पर केवल उनके एक गुण भार-गुण का ही प्रभाव पड़ सके। उनके जोतों का तनाव आदर्श तनाव होना चाहिए अन्यथा कुछ नयी गड़बड़ियाँ पैदा हो सकती हैं। लेकिन जब तक इन सब शर्तों को पूरा कर लिया जाता है तब तक यह सिद्धांत इतना अमूर्त बन चुका होता है कि जो वस्तु अपने द्रव्यमान तथा आलम्ब से उसकी दूरी द्वारा कार्य किया करती है किसी अन्य गुण धर्म द्वारा कार्य नहीं करेगी।

किसी भी वास्तविक मामले में, घटनाओं का गतिक्रम उन सब परिस्थितियों से प्रभावित हो सकता जिन्हें इस सिद्धांत के अमूर्त सूत्रीकरण में शामिल नहीं किया गया। कोई भी वास्तविक उत्तोलक न तो भाररहित होगा न ऐसा कि उसे नवाया न जा सके या तोड़ा न जा सके। उसकी बनावट भी कभी एकरूप नहीं हो सकती। वास्तविक भारों का प्रभाव भी उत्तोलक के व्यवहार पर भारों के वैपुल्य, उनके रासायनिक संयोजन, और उनके जोतों के स्वरूप के कारण भिन्न भिन्न प्रकार से पड़ेगा। किसी मूर्त अथवा वास्तविक आलम्ब पर उत्तोलक की डण्डी और उसके आश्रय के बीच घर्षण की कुछ न कुछ मात्रा भी अवश्य होगी आदि आदि। वस्तुतथ्यतः इनमें से कोई भी एक अथवा सभी परिस्थितियों का उत्तोलक दण्डिका के चलन को तब प्रभावित कर सकती है जब भार को उससे लटकाया जाता है। परिणामतः किसी भी मूर्त मामले में घटनाओं के गति क्रम का निर्धारण करने के लिए यांत्रिक साधारणीकरणों का विनियोजन कर सकना एकदम असम्भव होता है।

इस दृष्टान्त में जो बात सही उतरी है वही प्रकृति सम्बन्धी नियमों के इसी प्रकार के सभी मामलों में भी सही है। जहाँ तक ये नियम वास्तव में यथार्थ होते हैं वहाँ तक वे सब सोपाधिक ही होते हैं और समस्या के ही काम के हैं। अगर किसी भौतिक अनुक्रम के संपूर्ण आधार इस नियम के प्रतिज्ञापन में परिगणित प्रतिबन्धों में निहित मान लिए जायँ तो उस अनुक्रम का गतिक्रम क्या होगा? इसके माने ये हैं कि वे सब नियम जिस हद तक निरपेक्ष हैं, वहाँ तक समानार्थवाची इस साध्य के ही विभिन्न रूप हैं कि जहाँ दो वस्तुओं में विभेद करने का कोई कारण न हो वहाँ कोई विभेद न

होगा। लेकिन ज्यों ही हम अपने नियमों का विनियोजन किसी व्यष्ट प्रक्रिया के वास्तविक गतिक्रम की गणना के लिए करते हैं त्यों ही हमें स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि उनकी दृढ़ यथार्थता-विषयक शर्त गायब है, व्यष्ट प्रक्रिया में सदा ऐसे पहलू मौजूद रहते हैं जो उन शर्तों में जिनके लिए कि वे नियम बनाये गये थे, शामिल नहीं किए गये और यह कि क्रियात्मक अनुभव ही हमें बता सकता है कि इन पहलुओं की उपस्थिति हमारे अभिप्रेत परिणामों के प्रत्यक्षतः प्रभावित करेगी या नहीं। अतः किसी व्यष्ट प्रक्रिया के अध्यनार्थ इस प्रकार विनियुक्त एकरूपता का सिद्धांत कारणता विषयक सिद्धांत की तरह ही एक ऐसा अभिधारणा ही है कि जिसका औचित्य उसकी क्रियात्मक सफलता द्वारा ही सिद्ध होता है।

कारणता सिद्धांत के समान ही एकरूपता सिद्धांत फिर एक बार विभिन्न मात्राओं में उन प्रक्रियाओं के जिनके लिए उसे परिकल्पित किया जाय, स्वरूप के अनुसार ही सफल हो सकता है। जिस प्रकार कि कारणता विषयक अभिधारणा का आधार वह प्रक्कल्पना थी कि किसी घटना के पूर्ववर्तियों में से किये गये चुनाव को, सभी कार्यार्थी प्रयोजनों के हेतु, संपूर्ण आधार का समकक्ष मान लिया गया था उसी प्रकार उससे भी अधिक सामान्य प्रकार की अभिधारणा, एकरूपता विषयक अभिधारणा भी इसी पूर्वकल्पना पर आधारित है कि किसी प्रक्रिया के आधार का निर्धारण करते समय उसके व्यष्ट प्रयोजन को गिना ही न जाय। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इन अभि-धारणाओं को भौतिक व्यवस्था के सभी विभागों के लिए अनुभवजन्य और चित्य की मात्रा एक जैसी ही मिल सकेगी। अर्थात् सब जगह उन्हें एक जैसा ही ठीक समझा जायगा। ऐसी कुछ प्रक्रियाएँ हो सकती हैं जिनका व्यष्ट प्रयोजनार्थक स्वरूप इतना स्पष्ट हो कि अपने कामचलाऊ मतलब के लिए हम उनके लक्ष्य अथवा प्रयोजन का ख्याल किए बिना उनके गतिक्रम की गणना कर सकें। उस हालत में एकरूपता अथवा सादृश्यता के सिद्धांत तथा कारणता के सिद्धांत की भी कोई क्रियात्मक मूल्य, भौतिक व्यवस्था के इस भाग के लिए नहीं रहता। और जनसाधारण का ऐसा ख्याल है कि इन दोनों क्रियात्मक अभिधारणाओं की इस प्रकार की असफलता वास्तव में तब हुआ करती है जब उनका उपयोग मानव कारकों के चेतन संकल्पों पर करना प्रारम्भ करते हैं। यह ऐसी समस्या है जिस पर और अधिक अच्छी तरह विचार करने का काम अगले खंड के लिए छोड़ देना जरूरी है लेकिन अभी हम दो सामान्य वक्तव्य दे सकते हैं।

(१) किसी विशिष्ट क्षेत्र में कारणता और एकरूपता अथवा सादृश्य विषयक अभिधारणाओं की इस प्रकार की असफलता में आधार और परिणाम विषयक तर्क-शास्त्र के मौलिक सिद्धांत शामिल इस लिए नहीं होते चूँकि, जैसा कि हम पहले ही पर्याप्तरूपेण देख चुके हैं—दोनों ही अभिधारणाएँ इस सिद्धांत पर ऐसे प्रतिबन्ध

लगाती हैं जो स्वयं उस सिद्धांत के स्वरूप को देखने से उचित नहीं प्रतीत होते। अतएव यह स्थिति कि मानवीय कार्य विषयक किन्हीं भी सामान्य नियमों का सूत्रीकरण नहीं हो सकता, आविचार्य अथवा तार्किकरूपेण अमान्य नहीं हो सकेगा।

(२) जब मानवीय कार्य सम्बन्धी नियमों के एकान्त अस्वीकरण की संभाव्यता तर्क शास्त्रानुसार संभव है तब मानवीय व्यवहार से संबद्ध विज्ञानों की सांख्यिकीपरक विधियों द्वारा प्राप्त सफलता हमें उसे स्वीकार करने से रोकती है। इन विज्ञानों की सफलता से सिद्ध होता है कि साकल्यरूपेण ग्रहीत होने पर मानवीय व्यवहार में कुछ संनिकटीय एकरूपताएं देखने को अवश्य मिल जाती है। लेकिन यह सिद्ध करने के कि सकलरूपेण तथा उसी विधि से ग्रहीत होने पर भी मानव व्यवहार के सभी पहलुओं में इसी प्रकार का सादृश्य अथवा ऐसी ही एकरूपता पाई जा सकती है कोई साधन उपलब्ध नहीं है। कम से कम इतना तो देखा ही जा सकता है कि कुछ सामाजिक क्रिया-कलाप किसी औसत अर्हता का सन्निकटन नहीं करते अर्थात् निर्धारित औसतों के निकट तक पहुँच सकने में असमर्थ रहते हैं भले ही उनके अनुसंधान के लिए कितना ही व्यापक क्षेत्र कितना ही लम्बा समय आधार रूप में क्यों न लिया जाय। अनुमानतः हमें शायद स्वीकार करना पड़ेगा कि सामाजिक जीवन के ऐसे भी विभाग हैं जिनके लिए नियमों का सूत्रीकरण नहीं हो सकता, यदि हम इस अभ्यासिक संभावना की उपेक्षा करते हैं तो उसका कारण कोई रीति वैधानिक कारण ही होगा। इस प्रकार की एकरूपताओं अथवा सादृश्यों को ढूंढ़ निकालना हमारी रुचि का विषय है और इसी लिए हमने सही तौर पर ही इस मान्यता को कि एकरूपता से अधिक कुछ नहीं है। कार्यविधि का नियम इस लिए बना लिया है कि असफलता का अर्थ होगा अस्थायिनी बाधा मात्र, जिस कारण हम सभी अपराधियों को संभवतः सुधार योग्य समझकर वैसा ही व्यवहार उनसे किया करते हैं उसी कारण हम सभी अनुक्रमों को भी उचित विधियों द्वारा एकरूपताओं में विघटनीय समझते हैं। हम चाहते हैं कि उन्हें ऐसा होना चाहिए और हम यह सिद्ध कर नहीं सकते कि वे ऐसे हैं अतः हम ऐसा व्यवहार करते हैं उनका होना मानों हम उन्हें वैसा ही समझते भी हैं।

उस क्रियात्मक आवश्यकता के स्वरूप के विषय में, जिस पर एकरूपता की अभिधारणा आधारित है एक आध बात यहाँ कह दी जा सकती है। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं कि कारणता विषयक ऐसी ही अभिधारणा भी प्राकृतिक प्रक्रियाओं के नियंत्रण के उपायों का जोड़ तोड़ लगाने की क्रियात्मक आवश्यकता से ही उत्पन्न हुई हैं। लेकिन इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कारणता-विषयक अभिधारणा अकेले ही पर्याप्त नहीं होती। क्योंकि अगर हम मान भी लें कि क्रियात्मक प्रयोजनों के लिये प्रत्येक घटना का निर्धारण उसके पूर्ववर्तियों द्वारा पर्याप्त रूप

से हो जाता है और यह कि उन पूर्ववर्तियों के ज्ञान की प्राप्ति जब इस प्रकार हो जाती है और वह ज्ञान उस घटना के उत्पादन के उपायों का ज्ञान होता है, तब भी उस घटना के उत्पादन का क्रियात्मक नियंत्रण हमारे हाथ में नहीं होता । क्योंकि ठीक तरह से ज्ञात उन उपायों का उपयोग करके उस घटना के पुनरुत्पादन कर सकने की अपनी शक्ति पर साधारणतः हमें भरोसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह सम्भावना मौजूद रहती है कि हमारे प्रयत्नों का परिणाम प्रत्येक बार हमारी पकड़ से बाहर के अति सूक्ष्म वैविध्यों द्वारा अथवा ऐसे अन्य कारणों द्वारा जो हमारे प्रेक्षणातिरिक्त हैं, प्रभावित हो सकता है । हमें यह विश्वास दिलाया जाना आवश्यक है कि जो कुछ हमें सदृश प्रतीत होता है वह सभी क्रियात्मक प्रयोजनार्थ सदृश या वैसा ही है भी, जिससे सदृश उपायों के प्रयोग पर भरोसा करके सदृश परिणाम प्राप्त किए जा सकें यही वह प्रतिबन्ध अथवा स्थिति है जिसे एकरूपता का सिद्धांत अमूर्तरूप से व्यक्त करता है । वह बताता है कि प्राकृतिक प्रक्रियाओं का गतिक्रम सामान्य नियमों के अनुसार ही चला करता है और क्रियात्मक प्रकार की मूर्त घटनाओं पर जब उन नियमों का क्रियात्मक विनियोग होता है तब वे नियम प्रभावों के उत्पादन हेतु सहीतौर के क्रियात्मक नियम होते हैं और उन नियमों की अनुल्लंघ्यता का अर्थ केवल इतना ही होता है कि तुलना के कुछ मानकों की अपेक्षानुसार जो वस्तुयें सदृश प्रतीत होती हैं वे उन परिणामों के सम्बन्ध में भी जिनमें हमें दिलचस्पी है, समान रूप से ही सफल प्रभावशाली मान सकते हैं जैसाकि हम पहले भी देख चुके हैं इस पूर्वानुमान का वैधता प्रागनुभवरूपेण कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता थी । उसे वस्तुतः वैध तभी कहा जा सकता है जब उसके वास्तविक प्रयोग से उसका औचित्य सिद्ध हो जाय । साथ ही साथ यह कार्यविधि विषयक एक सिद्धांत है कि पिछले अनुच्छेद में बताए गए तरीके पर जब कभी किसी क्रियात्मक अभिधारणा का विनियोग हमारे हितार्थ उपयोगी समझा जाय तब उसकी सार्वत्रिक विनियोज्यता पहले ही से मान लेना ठीक होता है । इसी लिए तो उन क्षेत्रों में जहाँ सामान्य एकरूपताओं की सफल स्थापना जब तक नहीं हो सकी है तब तक के लिए जब तक कि उनके विनियोजन के विरुद्ध कोई दृढ़ कारण प्रस्तुत नहीं किया जाता, अभिधारणाओं की विनियोज्यता को हम सही मानते हैं । आगे चलकर जब हम उन नैतिक कठिनाइयों पर जो एकरूपता तथा कारणता विषयक अभिधारणाओं के स्वेच्छा कार्य में विनियोजित करने से सामने आयी है विचार करेंगे तब हमारा यह अन्तिम अभिमत सुझाव देगा ।

निःसंदेह स्पष्ट है कि एकरूपता को केवल एक क्रियात्मक अभिधारण मात्र बना डालने के कारण वर्तमान वस्तुओं की क्रियात्मक व्यवस्था में विशुद्ध संयोग की कोई बात शामिल नहीं हो जाती । 'संयोग' अनेकार्थवाची शब्द है और उसकी अनेकार्थकता

के कारण अनेक प्रकार के भ्रम अथवा दुरुहताएँ पैदा हो सकती हैं । संयोग का अर्थ हो सकता है (अ) ऐसा अनुक्रम जिसका कोई आधार हमारे वास्तविक ज्ञान द्वारा नहीं बताया जा सकता, निश्चय ही हमारे अपने अज्ञान मात्र के इस अर्थ में, संयोग को कोई भी ऐसा सिद्धांत मान्यता दे सकता है जिसमें मानवीय अज्ञान तथा त्रुटि संभाव्यता को आँख ओझल नहीं किया जाता ।

इसके अतिरिक्त संयोग का (ब) ऐसा अनुक्रम भी हो सकता है जिसका आधार आंशिक रूप से ही समझा जा सका हो संभव है। कि ऐसे अनुक्रम के आधार के विषय में हमें इतना पर्याप्त ज्ञान हो कि जिससे हम संभावनाओं के विकल्पों की एक निश्चित संख्या तक सीमित कर सकने में तो समर्थ हो सकते हों लेकिन इतना पर्याप्त ज्ञान हमें न हो कि जिसके आधार पर हम बता सकें कि कौन सा विकल्प किसी विशिष्ट मामले की सब शर्तों को पूरी तरह पूरा करता है । यही वह अर्थ है जिसमें हम संयोग शब्द का प्रयोग तब करते हैं जब हमें वैकल्पिक घटनाओं में से किसी एक को संगणन योग्य कह कर उन घटनाओं के संगणनार्थक नियमों को तथाकथित 'संभाव्यता-सिद्धांत' में विशिष्ट गणितशास्त्रीय विस्तार का लक्ष्य बनाना होता है ।

(स) और अन्ततः संयोग का अर्थ विशुद्ध संयोग मात्र भी हो सकता है अर्थात् किसी वस्तु का ऐसा अस्तित्व जिसका कोई आधार ही न हो। इस अन्तिम अर्थ में संयोग समस्त संगत विचारप्रणाली के चरम स्वयं सिद्ध के रूप में, आधार और परिणाम के सिद्धांत द्वारा व्यक्त वास्तविकता की व्यवस्थित एकता की कल्पना से एकदम बहिष्कृत हो जाता है। अगर हम कारणता और एकरूपता के सिद्धांतों की निरपेक्ष वैधता से इनकार करते हैं तो इसके यही माने होंगे कि हम उन सिद्धांतों को आधार और परिणाम विषयक स्वयं सिद्ध के आवश्यक परिणाम रूप मानकर वस्तुओं के विशुद्ध संयोग को स्वीकार कर रहे हैं। यदि वे सिद्धांत ऐसी क्रियात्मक अभिधारणायें मात्र हैं जो आधार विषयक स्वयं सिद्ध को ऐसे कृत्रिम प्रतिबन्धों के वश प्रस्तुत करती हैं जिनका कोई तर्कसंगत औचित्य स्वयं उस स्वयंसिद्ध में ही नहीं है तब यह स्वीकरण कि वे अन्तिमतः सत्य नहीं, किसी प्रकार भी अस्तित्व की सुदृढ़ व्यवस्थिति एकता की पूर्ण मान्यता के विरुद्ध नहीं पड़ता। उसका केवल यही मतलब है कि हमारी क्रियात्मक अभिधारणाओं द्वारा ग्रहीत उस एकता के स्वरूप विषयक अभिमत का पूर्वानुमान, विशिष्टरूपेण उपयोगी होते हुए भी अपर्याप्त हैं ।

यहाँ अपने निष्कर्षों की संक्षिप्तावृत्ति कर देना सुविधाजनक होगा। तत्त्व-मीमांसीय आधार पर भौतिक व्यवस्था अथवा जगत् को अपनी विशिष्ट संवेदनात्मकता के लिए अभिव्यक्त हमारे अपने सदृश अन्तःसम्बद्ध ऐसे जीवों की जिन्हें हमारी तरह के ही इन्द्रियवेद्य तथा सप्रयोजन अनुभव हुआ करते हैं, एक व्यवस्था मानने के लिए

हमें बाध्य होना पड़ा था। उस व्यवस्था के अधिकांश भाग की आभासी निष्प्रयोजनीयता तथा निर्जीवता का समाधान हमने यों किया था कि उसकी वह दशा तब समझ में आ सकती है जब हम मान लें कि उनके अनेक अंगों के व्यक्तिनिष्ठ प्रयोजन और हित हमारे अपने हितों और प्रयोजनों से इतने ज्यादा भिन्न प्रकार के हैं कि हम उन्हें जान नहीं पाते। तब हमें समझ में आया था कि यदि प्रकृति ऐसी इन्द्रियवेद्य अनुभूतियों से बनी है तो उस प्रकृति का निरपेक्ष नियम तथा एकरूपता के वशवद होना कभी भी अन्तिम रूपेण सत्य नहीं हो सकता। उसमें जो कुछ भी एकरूपता पायी जाती है वह अवश्य ही सन्निकटीय होगी और वह आवश्यक परिणाम होगी ऐसे तथ्य संग्रहों के वैपुल्य से भरे हमारे काम का, कि जिस संग्रह के तथ्यों का व्यष्ट ब्योरेवार हम अनुसरण नहीं कर पाते और इसी लिए वह एकरूपता उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार कि मानव चरित्र के विभिन्न विभागों में नृतत्वीय विज्ञानों द्वारा स्थापित सांख्यिकीय एकरूपताएँ होती हैं। आगे फिर हमने यह भी पाया था कि जिन एकरूपताओं को हम प्रकृति के 'नियम' कह कर पुकारते हैं वे दरअसल इस उपर्युक्त प्रकार की एकरूपताएँ हैं। और यह कि वे उन औसत निष्कर्षों का प्रतिनिधित्व करती है जो ऐसे दृष्टान्तों के ऐसे बृहत्समूहों की तुलना द्वारा संगणित किए गए हैं। जिन दृष्टांन्तों का व्यष्टरूपेण विवेचन हम नहीं कर सकते अथवा तब तक नहीं कर पाते जब तक हम अपने वैज्ञानिक उद्देश्य से चिपटे रहते हैं। वे एकरूपताएँ तभी तक निरपेक्ष रहती हैं जब तक वे प्राक्कल्पनात्मक रहती हैं। वे कभी भी मूर्त घटनाओं के गतिक्रम के विषय में किसी निरपेक्ष दावे की आधार नहीं बन पाते।

आगे चलकर हमने यह भी पाया था कि विज्ञान प्रकृति के वास्तविक गतिक्रम के विषय में जिस एकरूपता की अपेक्षा करता है वह पर्याप्ततः इतनी सन्निकट है कि हम उसके बल पर अपने विशिष्ट प्रयोजन की प्राप्ति के लिए व्यष्ट विचलनों की उपेक्षा कर सकते हैं। हमने यह भी देखा कि एकरूपता का सिद्धान्त स्वयं भी कोई तार्किक स्वयंसिद्ध नहीं है अपितु यह एक ऐसी क्रियात्मक अभिधारणा मात्र है जो प्रकृति के गतिक्रम के क्रियात्मक हस्तक्षेप के नियमों के सफल निर्धारण के लिए आवश्यक शर्त को व्यक्त करती है। अन्त में हमने यह भी देखा कि जहाँ हमें यह मान बैठने का कि भौतिक जगत् के सभी विभागों के लिए इस प्रकार के नियम बनाए जा सकते हैं कोई प्रागनुभवीय तर्कसंगत अधिकार नहीं है वहाँ रीति-वैधानिक आधारों पर हम मानने के लिए बाध्य हैं कि जब तक हमारे पास इसके विपरीत बात पर विश्वास करने के कोई विशेष कारण न हों तब तक वे नियम बनाए जा सकते हैं। अतः एकरूपता-विषयक अभिधारणा की सार्वत्रिकता का यह अर्थ नहीं कि वह सार्वत्रतया 'सत्य' है अपितु यह कि सामान्य नियमों के सूत्रीकरण के प्रयत्न में जहाँ कहीं भी हमारी अभिरुचि हो वहाँ ही इस एक-

रूपता का सार्वत्रिकरूपेण गठन हम कर सकते हैं।

५—(४) **यंत्र-विन्यास के रूप में भौतिक व्यवस्था की परिकल्पना**— सामान्य नियमों के दृढ़ समविन्यासी के रूप में प्रकृति की कल्पना उलझे हुए यंत्र-विन्यास के रूप में समग्र भौतिक जगत् के अभिदर्शन में पूर्णतः अभिव्यक्त होती है।

यह कहना आसान नहीं कि जब हम भौतिक प्रक्रियाओं अथवा संसार विषयक 'विशुद्ध यान्त्रिक', सिद्धान्त की बात सुनते हैं तब उसमें क्या क्या और कितना शामिल रहता है। कभी तो उसका मतलब इतना ही होता है कि विचाराधीन सिद्धान्त के अनुसार दृढ़ एकरूपता सिद्धान्त का सामान्य नियमों का अनुसरण एक चरम स्वयंसिद्ध है कभी संसार के प्रति एक 'यांत्रिक दृष्टिकोण' भी अपनाया जाता है जिसका मतलब संकुचित रूप में होता है भौतिक व्यवस्था की रासायनिक, वैद्युत तथा अन्य सभी प्रक्रियाओं का द्रव्यमानीय कण-व्यवस्था के विन्यास परिवर्तन की जटिल घटना मात्र समझा जाय। इस संकीर्णार्थ में भौतिक जगत् विषयक यांत्रिक सिद्धान्त उस यथार्थपरक तत्त्वमीमांसा का ही एक अनगढ़ रूप है जिसके अनुसार गतिमान द्रव्यमानों के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं होता और द्वितीयक गुण विशिष्ट प्रत्येक वस्तु एक व्यक्तिपरक भ्रांतिमात्र होती है। इस यांत्रिक दृष्टकोण के विस्तृततर तथा संकीर्णतर दोनों ही रूप भौतिक प्रकृति की प्रक्रियाओं को अबौद्धिक और अचेतन मानने तथा जिस उद्देश्य अथवा प्रयोजन की पूर्ति वे करती हैं उसका कोई हावाला लिए बिना पूर्ववर्तिनी परिस्थितियों द्वारा ही उन्हें पूर्णतया निर्धारित मानने में एकमत है। इस सिद्धान्त को यांत्रिक, नामधेय बनाने का श्रेय उस साम्यानुमान को है जो भौतिक व्यवस्था तथा मानव निर्मित उन मशीनों के बीच मौजूद माना जाता है और जिसके अंगोपांगों की गति क्रिया शेष अंगों के साथ उनके सम्बन्ध के आधार पर मशीन के सदृश ही हुआ करती है न कि किसी प्राप्य लक्ष्य के प्रति चैतन्यता द्वारा प्रेरित होने के कारण।[1]

निश्चय ही इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रकृति के गतिक्रम सकल हस्तक्षेप के लिए नियमों के सूत्रीकरण की जहाँ कहीं भी आवश्यकता होती है वहाँ हमारी क्रिया विषयक आवश्यकताएँ भौतिक प्रक्रियाओं के उपर्युक्तार्थक यांत्रिक अभिदर्शन के लिए हमें बाध्य कर देती हैं। यदि हमें घटनाओं के गतिक्रम में सफलतापूर्वक दखल देना है तो जैसाकि

---

१. 'यांत्रिक अभिमत' विषयक संकीर्णतर और अधिविशिष्ट अर्थ पर कुछ अन्य टिप्पणियों के लिए देखिए इसी खंड का अध्याय ६। अधिक विशुद्धतार्थ यान्त्रिक अभिमत के इस विशिष्ट रूप को प्रकृति का यांत्रिक सिद्धांत कहना अधिक सुविधाजनक होगा।

हम पहले ही समझ चुके हैं, उस गतिक्रम का सन्निकटतया एकरूप समझा जा सकने योग्य होना जरूरी है अन्यथा कोई सुरक्षा इस बात की हमारे पास नहीं है कि नियमानुसार तथा पूर्ववर्ती अनुसार किये गये हमारे हस्तक्षेप का परिणाम या निष्कर्ष एकरूप और असंदिग्ध होगा। अतः यदि हमें क्रियात्मक हस्तक्षेप के सामान्य नियम सूत्रीकृत करना है तो हमें वस्तुओं के गतिक्रम को सब तरह से यांत्रिक रूप में ही देखना होगा। इसके विपरीत अगर ऐसी प्रक्रियाएँ हुई जिन्हें संनिकटतया भी यांत्रिक न समझा जा सकता हो तो घटनाओं के क्रियात्मक परिचालन के सामान्य नियम बना सकने की हमारी शक्ति उन घटनाओं तक नहीं पहुँच सकती। घटनाओं के यांत्रिक अभिदर्शन की सीमाएँ ही अनुभवाधारित विज्ञान तथा व्यावहारिक कला विषय के सामान्य उपदेशों की भी सीमाएँ होती हैं।

इस बात का प्रशंसनीय दृष्टान्तीकरण हमें मानवीय स्वभाव के अध्ययन में मिलता है। जैसाकि हमें पहले ही ज्ञात हो चुका है, मानवजीवों के विशाल समुदायों के व्यवहार की कम से कम अनेक बातों में हमें संनिकटीय एकरूपता देखने को मिलती है और इसी लिए उसे उन बातों के सन्दर्भ में तो सब प्रकार से यांत्रिक ही माना जा सकता है। अतः मानव-जाति-विज्ञान, समाज विज्ञान, आदि अनेकों मानवीय प्रकृति विषयक ऐसे अनुभवाधारित विज्ञानों का अस्तित्व संभव है जिनमें वे एकरूपताएँ संग्रहीत होतीं रहें और उन्हें संहिता रूप में ग्रथित किया जाता है। साथ ही यह भी संभव है कि इन विज्ञानों के आधार पर अमूर्त अथवा गुणात्मक रूपेण ग्रहीत अपने साथी मानवों के प्रति हमारे व्यवहार का नियमन करने के लिये अनेकों प्रज्ञात्मक सामान्य सूत्र अथवा उक्तियाँ गढ़ ली जायँ। किन्तु जब हमें मूर्ति विशिष्ट मानव-व्यष्टियों से काम पड़ता है, तब जैसा कि हम देख चुके हैं, यह यांत्रिक अभिमत सफल नहीं हो पाता और हमारी सहायता नहीं कर पाता। मूर्तव्यष्टि क्या कर बैठेगी इसका अनुमान निश्चयपूर्वक केवल उस व्यक्ति के हितों और प्रयोजनों के ज्ञान के आधार पर ही लगाया जा सकता है, अतः व्यष्ट चरित्र विषयक कोई सर्व-सामान्य विज्ञान हो ही नहीं सकता न किसी व्यष्ट सहयायी मानव के प्रति व्यवहार के प्रज्ञात्मक सर्वसामान्य नियम ही परिणामतः बनाये जा सकते हैं। यह जानने के लिए कि उन वास्तविक व्यक्तियों के साथ जिन्होंने हमारा जीवन क्रम हमारे साथ प्रत्यक्ष, गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध सूत्र में बाँध देता है, हमारे व्यवहार का नियमन कैसे हो, हमें मानव स्वभाव के तथाकथित विज्ञानों की शरण नहीं लेनी पड़ेगी अपितु इसके लिये हमें उन व्यक्तियों के विषय में अपने वैयक्तिक अनुभव ही से काम लेना होगा। वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप और उसकी मर्यादाओं पर हुए दार्शनिक विमर्श ने पूरी तरह उस निर्णय का समर्थन किया है जो मानवजाति की व्यवहार बुद्धि ने उस सिद्धांतवादी अहम्मन्य पाण्डित्य के विरुद्ध लिया है, जो वैयक्तिक

चरित्र और प्रयोजन की ठोस समझदारी को छोड़कर और चाहे जिस आधार पर वास्तविक व्यक्तियों के साथ व्यवहार के नियम ढूँढ़ निकालना चाहता है।

अतः भौतिक-प्रक्रिया विषयक यान्त्रिकीय अभिमत उन अनुभवाधारित विज्ञानों की एक अनिवार्य अभिधारणा बन गया है जो सामान्य सूत्रों की सहायता से उन प्रक्रियाओं का वर्णन करना चाहते हैं। इसी लिए तो वे अभ्यापत्तियाँ जो कभी-कभी वर्णनात्मक विज्ञानों में यान्त्रिकीय अर्थनिर्णयों के प्रयोग के बारे में उठायी जाती हैं, वास्तव में वैज्ञानिक सामान्यीकरण और वर्णना के सारे ही व्यापार के प्रति अभिव्यक्त वैयक्तिक अरुचि के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होतीं। यदि भौतिक प्रक्रियाओं के बारे में कोई विज्ञान हो सकते हैं तो उन विज्ञानों का यान्त्रिकीय होना आवश्यक है अर्थात् यान्त्रिकता के विस्तृत अर्थों में यान्त्रिकीय। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि चूँकि हमारे अनुभवाश्रित विज्ञानों के लिए भौतिक प्रक्रिया विषयक यान्त्रिकीय अभिमत जरूरी है इसलिए वह अभिमत परिणामतः अन्तिमेत्थ रूपेण सही भी है। जैसा कि हमें पहले ही ज्ञात हो चुका है कि जब इस कथन को छोड़ कर कि भौतिक जगत् की प्रक्रियाओं को सामान्य सूत्रों द्वारा वर्णन करने के लिए तथा उनके उत्पादनार्थ व्यवहारिक विधियों का आविष्कार करने के लिए सब प्रकार से यांत्रिक माना जा सकता है उस कथन से बिलकुल भिन्न दूसरे इस कथन की ओर कि भौतिक व्यवस्था दृढ़तया यान्त्रिक है, तब हम अनुभवाश्रित विज्ञान को छोड़कर कट्टरपंथी तत्त्वमीमांसा का पल्ला पकड़ चुके होते हैं और हमारे तत्त्वमीमांसीय मताग्रह को सत्ता विषयक विचारप्रणाली के रूप में स्वयं अपनी चरम संगति और बुद्धि ग्राह्यता के बल पर ही या तो खड़ा रहना होगा या नष्ट हो जाना होगा। अन्य प्रयोजनों के लिए यान्त्रिकीय निर्वचन या अर्थनिर्णय की उपयोगिता, तत्त्वमीमांसक के विशिष्ट प्रयोजनार्थ उसके उपयोगार्ह होने का कोई प्रमाण नहीं है।[1]

६—हमारे पहले वाले विचारविमर्श ने हमारा संतोष कर दिया था कि तत्त्वमीमांसा के रूप में भौतिक जगत के यांत्रिकीय अभिमत की आधार एकरूपताविषयक अभिधारणा अबोधगम्य अथवा दुरुह है और इसीलिए अपक्षपोष्य भी है किन्तु उक्त विचारविमर्श

---

१. मनोविज्ञान को उन विज्ञानों की श्रेणी में रखना शायद उचित नहीं जिनके लिए यान्त्रिकीय अभिमत मूलाधार रूप है। किन्तु भौतिक जगत् के किसी भी भाग से मनोविज्ञान को काम नहीं लेना पड़ता। देखिए इस पुस्तक के लेखक द्वारा की गयी मंस्टरबर्ग लिखित 'ग्रुण्डजिग डर साइकालौजी', की 'माइण्ड' नामक पत्रिका के एप्रिल १९०२ के अंक में प्रकाशित समालोचना, तथा हवाला लीजिए लेखक की इसी पुस्तक के खंड ४ के अध्याय १ व २ का।

की अनुपूर्ति के लिए दो एक ऐसे विमर्श प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे भौतिक जगत् की एक स्वयं कार्य करनेवाली ऐसी वृहत्काय मशीन के रूप में परिकल्पना की जिसे वैज्ञानिक विचारधारा के अन्तिम निर्णय के रूप में आज हमारे सामने पेश किया जाता है, अपर्याप्तता एकदम स्पष्ट होकर सामने आ जाती है। तत्त्वमीमांसा के यान्त्रिकीय सिद्धांतों में दो बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उस सिद्धांत के सूक्ष्मदर्शी प्रतिपादकों के अनुसार यह भौतिक जगत एक ऐसा यन्त्र विन्यास है जो (अ) स्वयं पूर्ण और स्वतः कार्यकारी है तथा (ब) आन्तरिक प्रयोजन से पूर्णतया विरहित भी।

इन दोनों ही संदर्भों में अनुमित जगद्यंत्र उस वास्तविक यंत्र से एकदम भिन्न पाया जाता है। जिसके साम्यानुमान पर अन्तिमोपाय रूपेण यांत्रिक अभिमत आधारित है। पहली बात तो यह है कि हर एक असली मशीन किन्ही संवेदनशील जीव के आन्तरिक प्रयोजन का अवतार होती है। वह ऐसी कोई चीज हुआ करती है जिसे किसी परिणाम के प्राप्ति के विशिष्ट उद्देश्य से गढ़ा जाता है और उसकी संरचना जितनी ही यथार्थ होती है उतनी ही अधिक असंभाव्यता जिस परिणाम की प्राप्ति के लिए उसका जोड़ तोड़ बैठाया गया है उसे समझे बिना, उसके निर्माण के सिद्धांत के समझ में आने की होती है। जब आपको यह मालूम हो जाय कि मशीन बनाने वाले ने क्या काम करने के लिए उस मशीन को बनाया तभी आप बता सकते हैं कि विविध पुर्जों और हिस्सों के आकार दृढ़ता आदि गुण जिस प्रकार के उस मशीन में पाये जाते हैं वे वैसे क्यों हैं। जहाँ तक मामला इस तरह का नहीं होता। और जहाँ आप मशीन की गढ़न को उसकी रचना के विशिष्ट उद्देश्य के ज्ञान के बिना भी मशीन में लगे पदार्थ गढ़न के परम्परा द्वारा पवित्रीकृत ढाँचे अन्य बातों को देख समझकर ही समझा सकते हैं वहाँ उस मशीन को सही शैली तक न पहुँची मशीन ही मानना होगा। पूर्णतया यथार्थ मशीन में तो उसके हर एक हिस्से और पुर्जे के स्वरूप और उसकी चलन का निर्धारण निरपेक्षतया उस हिस्से और पुर्जे से लिए जाने वाले उस काम के द्वारा हुआ होता है जिस प्रयोजन की पूर्ति के लिए वह सारी मशीन तैयार की गयी होती है। कभी भी इस तरह का पूर्ण विशुद्ध मशीनी ढाँचा बना सकने की हमारी असमर्थता के कारण हमारी सारी वास्तविक मशीनें उनके निर्माण के हमारे आदर्श की पूर्ति यथार्थ और पर्याप्त रूप से नहीं कर पाती।

अतः एक सच्ची मशीन निष्प्रयोजन तो होती ही नहीं हाँ चैतन्य प्रयोजन का मूर्त रूप अवश्य होती है। सही है कि एक बार चालू कर दी जाने पर मशीन बिना इस बात का ख्याल रखे ही निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति पर्याप्तरूपेण हो रही है या नहीं। अपने निर्माण में मूर्त हुई दिशाओं के अनुसार लगातार काम करती रहेगी । घड़ी में एक बार चाभी भर दी जाय तो वह चलती रहेगी भले ही नयी परिस्थितियों में व्यतीत हुए समय का

निर्देश उस घड़ी के बनानेवाले या उस घड़ी के मालिक के हितों की पूर्ति न करें। और फिर अगर घड़ी की बनावट ही दोषपूर्ण हुई तो वह जिस काम के लिए बनायी गयी है उसे ठीक से पूरा नहीं करेगी। मशीन में यह शक्ति नहीं होती कि वह अपने आप को बदलकर नये उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति के लिए उपयुक्त बना लें अथवा जिस काम या प्रयोजन की द्योतक वह है उस उद्देश्य या प्रयोजन में ही सुधार कर लें अथवा अपने काम में पाये जाने वाले मौलिक दोष को दूर कर लें लेकिन इससे केवल इतना तो पता चलता है कि मशीन के निर्माण से प्रकट होने वाले प्रयोजन का उद्गम मशीन से बाहर की ही वस्तु है और यह भी कि मशीन का जनक अपने उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति पूर्ण संगत रूप से कर सकने की शक्ति से रहित था। बहैसियत एक मशीन के, मशीन के सारभूत साध्यपरक अथवा प्रयोजनपरक स्वरूप में इससे कोई कमी नहीं पड़ती।

अब हम दूसरे विचार बिन्दु तक आ पहुँचते हैं। जिस तरह पर कोई भी सच्ची मशीन निष्प्रयोजन नहीं हुआ करती ठीक उसी तरह पर कोई भी सच्ची मशीन स्वतः कार्य करनेवाली भी नहीं होती। सारी मशीनें अन्ततोगत्वा न केवल अभिकल्पनात्मक बुद्धि का उत्पादन ही होती है अपितु अपने नियन्त्रण के लिए वे बाहरी प्रयोजक बुद्धि पर निर्भर भी होती है। उन्हें चालू करने के लिए तो बुद्धि की जरूरत तो होती ही है उनके कार्य-कलाप की देख-रेख और नियंत्रण के लिए भी उसी मात्रा में उस बुद्धि की किसी न किसी रूप में आवश्यकता होती है। कोई मशीन कितने ही उलझे हुए तरीकों की क्यों न हो, स्वतः नियमन और स्वतः समंजन, स्वतः भरण आदि के चाहे जितने पेचीदे उसके उपकरण आदि क्यों न हों तो भी उसे चलाने वाला आदमी, ध्यान से देखने पर आपको कहीं न कहीं मिल ही जायगा। इस विमर्श का ऊपर से ही स्पष्ट स्वरूप दुर्भाग्य से तत्त्व-मीमांसकों को उस विमर्श की स्वयं उपेक्षा करके विचित्र प्रकार के निष्कर्ष निकालने से रोक नहीं सका।

मशीनों के सही रूप पर गहराई से विचार करने पर भौतिक जगत् की एक-रूपताओं तथा हमारी मशीनों की नियमित कार्य व्यवस्था विषयक साम्यानुमान की व्याख्या प्रकृति विषयक 'यान्त्रिक अभिमत' द्वारा स्वीकृत और तत्त्वमीमांस के सिद्धांत के रूप में विस्तरित व्याख्या से इस प्रकार अत्यधिक भिन्न पड़ जाती है उस व्याख्याओं के आधार पर कल्पना की जा सकती है कि आभासी यान्त्रिक सर्वत्र ही वही कार्य करता है जिसकी पूर्ति वह हमारे सामाजिक जीवन में किया करता है। हमें समझ रखना होगा कि यांत्रिक उन प्रक्रियाओं का जो अपने पूर्ण स्वरूप में, सारतः साध्यपरक और प्रयो-जनात्मक है, एक अपरिहेय किन्तु गौण भाग है, साध्यपरक कार्य की सफलता स्पष्टः दो मौलिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। उसके लिए प्रक्रिया के ऐसे प्रकार आव-श्यक होते हैं जो तब तक एक रूप रहें जब तक उनके रख-रखाव से उस उद्देश्य की जिसकी

प्राप्ति के लिए उन्हें निदेशित किया गया है पूर्ति होती रहे। साथ ही साथ वह शक्ति भी आवश्यक होती है जिसके द्वारा समय समय पर उन प्रतिक्रिया प्रकारों में इस प्रकार के सुधार किये जा सकें जो उद्देश्य की उत्तरोत्तर प्राप्ति के मार्ग में आ टकराने वाली अथवा स्वयं उत्पादित नयी परिस्थितियों का सामना भी कर सकें। हमारे अपने वैयक्तिक जीवन में भी यह दोनों परिस्थितियाँ यानी आदतें डाल सकने की शक्ति तथा पर्यावरण के परिवर्तित हो जाने पर उसका सामना करने के लिये नये तरीके पर तुरन्त अपने आप को बदल डालने की शक्ति पायी जाती है। जिस सीमा तक हम एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया की एकरूप प्रत्यावृत्ति द्वारा अपने मुख्यहितों का अनुसरण श्रेष्ठतम रूप में करते रहते हैं। वहाँ तक हमारा ध्यान उस प्रतिक्रिया के कार्यानुसरण के प्रति स्वभावानुसारी हो जाने के कारण अर्थ-चेतन बन जाता है यानी जैसाकि हम सहीतौर पर कहा करते हैं मशीनी अथवा यांत्रिक बन जाता है क्योंकि तब वह ध्यान स्वाभाविकी क्रिया में आवश्यक नये अथवा टटके सुधार करने के लिए छुट्टी पा जाता है। हमारी विविध औद्योगिक तथा अन्य प्रकार की मशीनें श्रम के उपर्युक्त विभाजन की सुविधाजनक साधन हैं। मशीन को एक बार ठीक से बनाकर चालू कर देने पर वह अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रिया करती चली जाती है और मशीन निरीक्षक का ध्यान पर्यावरण की नयी परिस्थितियों का सामना करने के लिए आवश्यक और अपेक्षतया नवीन अनुक्रियात्मक परिवर्तन प्रारम्भ कर सकने के लिए स्वतंत्र हो जाता है।

भौतिक जगत में पायी जानेवाली इन यांत्रिक एकरूपताओं को उपर्युक्त साम्यानुमान के रूप में व्यक्त करने में हमें कोई बाधा नहीं है किन्तु तब हमें भौतिक प्रकृति में पायी जाने वाली 'एकरूपताओं' अथवा उसके 'नियमों' को एन्द्रिय ज्ञानवान उन जीवों की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं की विधाओं के अनुरूप देखना होगा। जिनके आन्तरिक जीवन प्रपंच का ही प्रतिबिम्ब यह भौतिक जगत है। ये एकरूपताएँ अपने स्वभावानुसार ही मूलतः उद्देश्यपरक होंगी और ऐन्द्रिय-ज्ञान-संपन्न उन्हीं जीवों के पर्यावरण संबंधी वैविध्यों अथवा विचलनों के नवीन अनुक्रियात्मक स्वतः स्फूर्त उपक्रमणों के साथ उनका गहरा सम्बन्ध होगा। स्वभाव और स्वतः स्फूर्ति जिस प्रकार हमारे अपने मानसिक जीवन में परस्पर अन्तर्हित रहती हैं उसी प्रकार प्रकृति के उन्मुक्त स्वरूप में भी वे उसी प्रकार अन्तर्हित होंगी। और इसी लिए दोनों ही मामलों में यान्त्रिक ही वह निम्नतर स्तर होगा जिसको संनिकट अनुपाती साध्य अथवा उद्देश्यपरक कार्य तब होगा जब उसकी पूर्ति हेतु ध्यान अथवा अवधान की आवश्यकता न रहेगी।

हमारी इस कल्पना का प्रकृति के 'एकरूप नियमों' के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले साध्य के प्रकार के विषय में की गयी हमारी विगत जाँच के साथ बहुत बढ़िया मेल बैठेगा क्योंकि वह उन व्यक्तिपरक सीमाओं का अनिवार्य परिणाम होगा जो हमें उस

प्रक्रिया वैपुल्य से जिसकी व्यष्ट विवृतियों का व्यष्टिशः अनुसरण हम नहीं कर पाते, काम लेने के लिए यों बाध्य करती हैं कि जिससे हमारा भौतिक जगत का प्रेक्षण शैलीबद्ध बाह्य परिस्थितियों की आभ्यासिक अनुक्रियाओं के मोटे-मोटे सामान्य प्रकारों को तो प्रकट कर दें भले ही हम उन परिस्थितियों के विशिष्ट विचलनों की जवाबी अनुक्रियाओं के सूक्ष्मतर रूपान्तरणों का निग्रह न कर पायें। मानव स्वभाव के सांख्यिकीय अध्ययन द्वारा निश्चयीकृत एकरूपताएँ भी विशेष प्रकार की बाह्य परिस्थितियों में होने वाली मानव जीवों की प्रधान आभ्यासिक प्रतिक्रियाओं का ठीक इसी तरह बड़े पैमाने पर ऐसा प्रदर्शन करती हैं कि जो उपर्युक्त प्रकार से ही उस अनाभ्यासिक स्वतः स्फूर्ति अनुक्रिया से भिन्न होता है जो किसी भी बौद्धिक प्रयोजनपरक व्यष्ट मूर्त जीवन के साथ अवियोज्यरूपेण सम्बद्ध बाह्य परिस्थितियों के नवीन तत्वों के कारण उत्पन्न होती है।

'प्राकृतिक नियमों' को वेदनाशील जीवों की जटिल व्यवस्था के आभ्यासिक व्यवहार के वर्णनात्मक सूत्रों के रूप में ग्रहण करने के बारे में इस कथन पर आधारित आपत्ति के अतिरिक्त कि ये 'नियम' निरपेक्ष, यथार्थ और निरपवाद हैं, अन्य कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। हम पहले ही देख चुके हैं कि भौतिक विज्ञान के पास उपर्युक्त कथन को सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है न इस तरह का कथन प्रस्तुत करने की जरूरत ही उसे है क्योंकि नियम के 'दृढ़' और 'अविचल' अनुसरण विषयक मत एक ऐसी व्यावहारिक अभिधारणा मात्र है जिसे विचारकों की एक विशिष्ट शाखा गलत तरीके पर एक स्वयं-सिद्ध मान बैठी है। हम यह भी देख चुके हैं कि दृढ़ और अविचल नियम विषयक धारणा भौतिक व्यवस्था के वास्तविक अस्तित्व सम्बन्धिनी परिकल्पना की समझ में आ सकने वाली जो एकमात्र व्याख्या हम प्रस्तुत कर सके हैं, उसके साथ मूलरूपेण मेल नहीं खा सकती। इसीलिए उसे सत्य मान लेने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं, न उसे असत्य मान कर उसका निराश कर देने के ही लिए कोई पूर्णतम आधार हमारे पास है। 'प्राकृतिक नियमों' के अन्धविश्वासी और अबौद्धिक पूजा करनेवाले कुछ लोग अगर न होते तो इस साधारण सीधी-सी बात पर इतना लम्बा चौड़ा और संपुष्टियुक्त विचार करने की जरूरत ही न होती।

कुछ भिन्न रूप में अन्यत्र दिए गए एक सुझाव पर फिर से एक बार निष्कर्षरूपेण जोर दिया जा सकता है। मानव जीवों में भी वैयक्तिक जीवन की आभ्यासिक प्रतिक्रियाओं तथा सद्य और स्वतः स्फूर्ति अभ्यनुकूलनों आपेक्षिक प्रधानता विभिन्न व्यक्ति क्रमानुसार बहुत कुछ घटती-बढ़ती रहती है भिन्न भिन्न मनुष्यों के प्रतिक्रियामूलक अपने स्थिर अभ्यासों में परिस्थितियों के अनुकूल तत्काल नये परिवर्तन कर सकने की उनकी शक्ति के आधार पर नापी गयी बौद्धिक शक्ति की विभिन्न अर्हताओं की श्रेणी क्रम अत्यधिक दूर तक फैला पाया गया है। अपने आस पास के साथियों के उद्देश्यों

अथवा प्रयोजनों का जितना गहरा पता हमें रहा करता है अगर वैसी ही गहरी अन्तर्दृष्टि हमें अमानव कारकों के व्यष्ट प्रयोजनों के बारे में भी कहीं प्राप्त हो जाए तो अनुमानतः हम पायेंगे कि वहाँ भिन्नता की श्रेणी माने में और भी अधिक लम्बी चौड़ी है। सिद्धांततः इस श्रेणी की किसी भी दिशा में ओर-छोर का सीमावन्धन कर सकने के साधन हमें उपलब्ध नहीं है। प्रतिक्रिया के इतने पूर्ण अवधानात्मक नियन्त्रण की मात्रा की कल्पना हम कर सकते हैं कि जिससे प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी अन्तर्हित विचार के सिद्धिमार्ग की किसी नवीन अवस्थिति का ऐसा प्रतिनिधित्व करें कि जिसमें बुद्धि ही सब कुछ हो और अभ्यास कुछ न हो। अथवा हम ऐसी वस्तुस्थिति की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें अभ्यास मात्र ही सब कुछ हो और बौद्धिक स्वतः स्फूर्ति कुछ न हो। इन दोनों ही आदर्श सीमाओं के बीच किसी जगह भी परिमित प्रयोज्य बुद्धि के सभी मामलों को समाविष्ट करना होगा और आसानी से सिद्ध किया जा सकेगा कि दोनों ही सीमाओं में से किसी एक तक भी परिमित बुद्धि की वास्तविक पहुँच नहीं हो सकती यद्यपि वह उनमें से किसी के भी अनिश्चित निकट तक पहुँच सकती है।[1]

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—एच० लोत्जे की 'मेटाफिजिक,' पुस्तक १ इंट्रोडक्शन १० (अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृ० १८), पुस्तक २, अध्याय ७, ८ (अंग्रेजी अनुवाद भाग २, पृ० ६६–१६२); ई० मॉश की 'दि सायंस ऑफ मेकेनिक्स,'

---

१. **इस अध्याय में दी गयी उक्ति प्रत्युक्तियों की तुलना कीजिए रॉयस लिखित 'स्टडीज इन गुड एण्ड ईविल' नामक ग्रन्थ के 'नेचर कांशसनेस एण्ड सेल्फ कांशसेनेस', प्रकरण के साथ तथा इस पुस्तक के लेखक द्वारा लिखित 'माइण्ड एण्ड नेचर' शीर्षक लेख के साथ जो 'इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स' पत्र के अक्तूबर १९०२ के अंक में प्रकाशित हुआ था। यह बद्धमूल दुराग्रह कि वैज्ञानिक उपयोगार्थ होने के लिए प्राकृतिक नियमों का दृढ़तापूर्वक यथार्थ एकरूपताएँ होना परमावश्यक है, इतना प्रबल है कि सामान्य सिद्धांतों के पूर्वयायी विमर्श के बाद भी पाठक को इस प्राथमिक तथ्य की कि हमारे वैज्ञानिक सूत्रों में ओतप्रोत अत्यधिक परिचित राशियों (उदाहरणार्थ स्वाभाविक अंकों के लघुगणकों के द्वितीय अथवा तृतीय मूलों का विशाल अधिकांश कोणों के वृत्तीय फल की राशियाँ आदि) का यथार्थ मूल्य नहीं आंका जा सकता, याद दिलाकर उसकी सहायता करना उचित होगा। यह तथ्य स्वयं भी एक ऐसा वैज्ञानिक नियम ऐसे रूप में प्रस्तुत कर देता है कि जिसका उपयोग वास्तविक घटनाओं के संन्निकटीय मात्र निर्धारण में किया जा सकता है, और इस प्रकार यह सिद्ध कर देता है कि अनुभावाश्चित विज्ञानों के व्यावहारिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए यथार्थ एकरूपता वांछित नहीं होती।**

पृ०४८१–५०४ (अंग्रेजी अनुवाद); के० पीयर्सन लिखित 'ग्रामर आफ सायंस', अध्याय ३ (दि सायंटिफिक ला), अध्याय ९ (दि लॉज आफ मोशन); जे० रॉयस लिखित 'स्टडीज़ इन गुड एण्ड ईविल' का 'नेचर, कांशसनेस एण्ड सेल्फ कांशसनेस,' प्रकरण; जे० स्टालों कृत 'कांसेप्ट्स एण्ड थियरीज आफ मार्डन फिजिक्स', अध्याय १, १०–१२ (मेटाफिनकल स्टैण्डपाइन्ट, 'फिनामिनिलिस्ट'); जे० वार्ड लिखित 'नेचरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, लेक्चर्स २–५।

अध्याय ४

आकाश या अवकाश तथा काल

१—क्या काल और आकाश अन्तिमेत्थतः वास्तविक हैं या प्रपंचात्मक ? २—प्रत्यक्षण के कालाकाश सीमित होते हैं, ज्ञेयरूपेण सतत होते हैं तथा ऐसे मात्रात्मक तत्व के बने होते हैं जिसमें अव्यवहृत व्यष्ट अनुभूति के 'यहाँ' और 'अभी' के सम्बन्ध पर निर्भर गुणात्मक लक्षण भी शामिल रहता है। ३—प्रत्ययात्मक काल और आकाश की सृष्टि प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक दत्तों से संश्लेषण, विश्लेषण और अवशेषण की संयुक्त प्रक्रिया द्वारा हुआ करती है। ४–वे दोनों ही असीम तथा अनंतरूपेण विभाज्य होते हैं और उन्हें गणितीय रूप से सतत मानने का वैध तथा निश्चय आधार मौजूद है। इस प्रकार उनके द्वारा स्थितियों की अनन्त सतत श्रृंखला का निरूपण होता है। अव्यवहृत अनुभूति के 'यहाँ' और 'अभी' अथवा 'अत्र' और 'अधुना' के सकल संदर्भ से अपाकर्षण उनमें अन्तर्ग्रस्त रहता है और इसी लिए वे एकसार रहते हैं अर्थात् उनमें की स्थितियाँ पहचानी जाने योग्य अथवा प्रभेद्य नहीं हुआ करतीं। सामान्य तौर पर उन्हें इकाइयाँ भी समझा जाता है। ५—प्रत्यक्षज्ञानात्मक आकाश और काल अन्तिमेत्थतः वास्तविक नहीं हो सकते क्योंकि उनमें परिमित अनुभूति का 'अत्र' और 'अधुना' विषयक संदर्भ अन्तर्ग्रस्त रहता है। प्रत्ययात्मक आकाश और काल इसलिए अन्तिमेत्थतः वास्तविक नहीं हो सकते चूँकि उनमें आन्तरिक प्रभेद का कोई सिद्धांत वर्तमान नहीं रहता और इसीलिए वे व्यष्ट अथवा वैयक्तिक नहीं होते। ६—आकाश और काल को वास्तविक मान लेने का प्रयत्न गुणों और सम्बन्धों विषयक कठिनाइयों में ला घसीटता है और इस तरह अनिश्चित प्रतिगामिता तक पहुँचा देता है। ७—आकाश और काल में एकता का कोई सिद्धांत अन्तर्ग्रस्त नहीं होता और ऐसी अनेक आकाशीय तथा कालीय क्रम निरपेक्ष के बीच मौजूद हैं जिनके बीच किसी प्रकार का आकाशीय अथवा कालीय सम्बन्ध परस्पर नहीं है। ८—काल और आकाश की अनन्त विभाज्यता सम्बन्धी तथा उनके विस्तार विषयक विप्रतिषेधों का जन्म गुणों और सम्बन्धों की योजना में अन्तर्ग्रस्त अनिश्चित प्रतिगामिता से होता है और उन विप्रतिषेधों का हल तब तक नहीं मिल पाता जब तक कि आकाश और काल विषयक संरचना को ही वास्तविकता या सत्ता समझा जाता है। ९—आकाश तथा काल विषयक क्रम परिमित व्यष्टियों के प्रयोजन-परक आभ्यन्तर जीवनों के बीच के तार्किक

सम्बन्ध की एक अपूर्ण प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति ही है। काल परिमित अनुभव का एक अनिवार्य पहलू है। निरपेक्ष अनुभव में आकाश और काल का अतिक्रमण क्यों कर होता है यह हम नहीं बता सकते।

१--हमारी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष प्रस्तुत यह भौतिक जगत, आकाश-कालावस्थित तत्वों से निर्मित है इस बात को लेकर उत्पन्न होने वाली समस्याएँ तत्वमीमांसक की प्राचीनतम समस्याओं में से अन्यतम है। वे हमारे अनुभूति-क्रम से उद्भूत पहेलियों में सबसे ज्यादा परेशान करनेवाली समस्या हैं। उन पर विचार-विमर्श करने के लिए न केवल हमारे वश से बाहर अत्यधिक लम्बा स्थान ही आवश्यक है अपितु उसके लिए क्रम और शृंखला विषयक गणितीयसिद्धांत का इतना परिचय आवश्यक है जितना मौलिक गणितशास्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी में मुश्किल से ही पाया जा सकता है। इस अध्याय में हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि एकदम ऊपरी तौर से ही उन दो एक मुख्य समस्याओं पर विचार इसलिए कर लें कि जिससे पता चल जाय कि तत्वमीमांसक को किस तरह के प्रश्नों का सामना करना पड़ता है न कि इसलिए उन प्रश्नों का उत्तर यह दिया जाय।

निःसन्देह तत्वमीमांसा की मौलिक समस्या यही है कि क्या आकाश और काल अन्तिमेन्य सत्ताएँ अथवा वास्तविकताएं हैं अथवा आभास मात्र अर्थात् निरपेक्ष सर्वग्राही अनुभूति द्वारा प्रत्यक्षतः ग्रहीत समग्र सत्तात्मक व्यवस्था क्या काल विषयक विस्तार और अनुवर्तन का जामा पहन सकती है, अथवा क्या वस्तुओं की हमारे सम्मुख तद्रूप उपस्थिति हमारे अपने परिमित अनुभव की मर्यादाओं का ही परिणाम है? वास्तव में यों कहा जा सकता है कि अपनी व्यवस्थागत एकता के कारण विश्व की अन्तर्वस्तुओं का किसी भी प्रकार से क्रमबद्ध होना निरपेक्ष अनुभूति हेतु आवश्यक है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह स्पष्ट नहीं होता कि उस क्रमव्यवस्था का, एक व्यवस्था के रूप में आकाशीय अथवा कालीय होना ही आवश्यक है। हमारे दैनंदिनीय जीवन तथा गणितीय अध्ययनों से ज्ञात क्रमों के अधिकांश रूप, ठीक कहा जाय तो, निःसन्देह अनाकाशीय और अकालीय दोनों ही होते हैं। इस प्रकार उदाहरणतः जब हम प्राकृतिक अंक शृंखला के 'अनुक्रमिक' पूर्ण अंकों, किसी बीजगणितीय संकेत के अनुक्रमिक घातों तथा किसी वितत भिन्न के मान विषयक अनुक्रमिक संनिकटनों का वर्णन प्रकट रूप से ऐसे उत्प्रेक्षात्मक शब्दों में करते हैं जिन्हें हमने घटनाओं के काल प्रवाह से उधार लिया होता है। तब पहले के दो मामलों में अभिग्रस्त सच्चा संबंध तार्किक व्युत्पत्ति जात कालरहित संबंध होता है और तीसरे मामले में भी वह इसी तरह एक आदर्श मानक के साम्य का कालरहित सम्बन्ध ही होता है। तब आकाश और काल की इस तत्त्वमीमांसीय समस्या के संपूर्ण हल में दो बातें शामिल होंगी। (१) एक तो

आकाशीय अथवा अवकाशिक और कालिक क्रम का अन्य समवर्गी क्रमों से प्रभेद और (२) दूसरा इस विशिष्ट प्रकार के क्रम के अन्तिमेन्थतः संगत और बोधगम्य होने के दावे का निर्णय।

हल करने के लिए इस प्रकार से प्रस्तुत की गयी समस्या प्रायः 'ट्रांसेण्डेण्टल ऐस्थटिक' में वर्णित, आकाश तथा काल विषयक काण्टीय विमर्श के विशिष्ट संदर्भ में सामान्यतः इस प्रश्न के रूप में प्रस्तुत की जाया करती है कि क्या अवकाश और काल व्यक्तिनिष्ठ हैं अथवा वस्तुनिष्ठ। अपने श्रेष्ठतम रूप में यह प्रश्न अभिव्यक्ति का ऐसा भुलावा देनेवाला और दुर्भाग्यपूर्ण तरीका है जिससे दूर रहना ही अच्छा होगा। अनुभूतिगत किसी व्यक्तिनिष्ठ अथवा वस्तुनिष्ठ कारक के बीच के सारे प्रभेद की सार्थकता बहुत कुछ, 'प्रत्यक्षणार्थ दत्त', तथा 'मानसिक कर्म' के बीच के सदोस काण्टीय प्रभेद के अभी मनोविज्ञानशास्त्र द्वारा उन्मूलित कर दिए जाने के कारण नष्ट हो गयी है। जब हम एक बार मान लेते हैं कि दत्त स्वयं ही चयनात्मक अवधान के संचलन से बना होता है तब उसके बाद, उसे एक ज्ञान के वस्तुनिष्ठ कारक के रूप में, उसके आधार पर बाद में खड़े किए गए व्यक्तिनिष्ठ ढाँचे से पृथक् कर सकना असंभव हो जाता है। काण्ट का इस झूठी मनोवैज्ञानिक प्रतिस्थापना को पकड़कर बैठे रहना, 'अन्तःप्रज्ञा' विषयक उसके सारे प्रतिपादन को इस बुरी तरह तोड़-मरोड़ डालता है कि, हमारे अपने विमर्श जैसे संक्षिप्त विचार-विमर्श द्वारा इस विषय की व्याख्या 'ऐस्थटिक' नामक ग्रन्थ में वर्णित उन सिद्धांतों से जो दुर्भाग्य से इस समस्या की प्रचलित तत्वमीमांसीय प्रस्तुति पर विषमानुपातिक प्रभाव डालते चले आ रहे हैं, दूर रहते हुए करना एकदम जरूरी होगा।[1] यह बताने की जरा भी जरूरत नहीं कि

---

१. जो विद्यार्थी इन समस्याओं पर स्वयं ही विचार करना चाहते हों उनके लिए आरम्भ-बिन्दुरूपेण काण्टीय विमर्श की अपेक्षा लॉक और ह्यूम के विमर्श से प्रारम्भ करना अच्छा होगा। (देखिए लॉक लिखित 'एस्से', बुक २, अध्याय १३–१५ तथा ह्यूम लिखित 'ट्रीटाइज आफ ह्यूम नेचर', बुक १, भाग २) क्योंकि उनमें मनोवैज्ञानिक अन्धविश्वासों का दोष अपेक्षाकृत कम है। हाल के तत्मांमीसा विषयक ग्रन्थों में, ब्रैडले लिखित 'अपीयरेंस एण्ड रीयालिटी' नामक पुस्तक एतद्विषयक अध्याय सम्भवतः अधिक उपयोगी जँचेंगे। 'फाउण्डेशंस ऑफ ज्यामेट्री' नामक श्री रसेल द्वारा लिखित ग्रन्थ से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। किन्तु उसके साथ उसी लेखक के बाद के लेख 'इज पोजीशन इन स्पेस एण्ड टाइम रिलेटिव आर एब्सोल्यूट?' (माइण्ड, जुलाई १९०१) के अधिकतर त्रुटिपूर्ण निष्कर्षों से तुलना करना उचित होगा।

तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों का, आधुनिक विज्ञान में प्राधान्यता प्राप्त मनोवैज्ञानिक समस्याओं से उस सही तरीके के बारे में जिसके द्वारा हमें विस्तरण और अनुक्रमण का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता है, और भी कम सरोकार होता है। क्योंकि तत्त्वमीमांसा के सामने इन विचारों के तार्किक मान का ही प्रश्न ही एकमात्र प्रश्न हुआ करता है न कि उनके मूल का।

इस विषय के समग्र तत्त्वमीमांसीय प्रतिपादन के लिए यह एक मौलिक महत्व की बात होगी कि हम उसका प्रारम्भ अवकाश या आकाश तथा काल के प्रत्यक्षणात्मक रूपों और आकाश तथा काल के प्रत्ययात्मक उन रूप के पृथक्करण अथवा प्रभेद द्वारा करें जिनके अन्तर्गत हम भौतिक जगत् विषयक अपनी वैज्ञानिक धारणा का निर्माण किया करते हैं। काण्टीय अभिमत के आड़े आनेवाली भ्रान्तियों का एक प्रधान स्रोत काण्ट तथा उसके अधिकांश अनुयायियों द्वारा पर्याप्त स्पष्टरूपेण यह प्रभेद न करने की लापरवाही है। इस बात पर कि जिन आकाश और काल के बारे में हम अपने विज्ञान विषयक अध्ययन में सोचा करते हैं कि सारा भौतिक जगत् उनमें ही पूर्ण है, वे आकाश और काल वे नहीं हैं जिन्हें ऐन्द्रिय प्रत्यक्षण द्वारा हम प्रत्यक्षतः जानते हैं बल्कि वे ऐसी परिकल्पनाएँ हैं जिन्हें प्रत्यक्ष प्रत्यक्षण के आकाश और काल को विश्लेषण और संश्लेषण की पेचीदा प्रक्रियाओं द्वारा खूब बढ़ा-चढ़ा कर और उसके साथ वास्तविक अनुभूतिगत काल और आकाश के कुछ मौलिक लक्षणों का अवशेषण अभिग्रस्त करके हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। निम्नलिखित संक्षिप्त विमर्श से आकाश और काल के दोनों रूपों के पारस्परिक सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश पड़ सकेगा और उनकी मुख्य-मुख्य भिन्नतायें भी सामने आ सकेंगी।

२—प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल :—अव्यवहृत प्रत्यक्षण में हमें आकाश और काल दोनों ही (१) सीमित होते हैं। श्रान्तःचक्षु द्वारा अपने सामने की ओर के आकाश को देखने पर वह सदा ऐसे क्षितिज द्वारा, जिसकी रूपरेखा बहुत कुछ सु-सीमा-निर्दिष्ट ही लगा करती है परिसमाप्त दिखायी पड़ता है। उस 'असत्य वर्तमान' अथवा अवधि के उस खण्ड को जिसका ज्ञान हमें किसी समय भी तत्काल प्रस्तुत अन्तर्वस्तु में होता है, विशद् मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सु-सीमा-निर्दिष्ट विस्तारवान् सिद्ध किया जा चुका है। 'अवधान'-विस्तार-बाह्य जो कुछ भी है वह अब न तो प्रस्तुत हो चुके भूतकाल की ही वस्तु है न अभी तक अप्रस्तुत भविष्य की ही बल्कि इन्द्रियवेद्य वर्तमान के प्रति उसका सम्बन्ध बहुत कुछ वैसा ही है जैसाकि मेरी पीठ के पीछे वाले आकाश का मेरी आँखों के सामने वाले आकाश के साथ। और दोनों ही मामलों में निःसन्देह वस्तुतः प्रस्तुत आकाश और काल निरपेक्षतया सीमानिर्दिष्ट नहीं होते। दृष्टि-रेखा के दाहिने और बायें दृश्यमान क्षितिज मन्द होते होते अस्पष्टतया प्रस्तुत

'चेतना के उपान्त' में जा मिलता है। ज्ञेय अथवा 'इन्द्रियवेद्य वर्तमान' भी इसी तरह क्रमशः या तो उस सिरे पर भूतकाल में या इस सिरे पर भविष्य में छायान्तरित हो जाता है। फिर भी निरपेक्षरूपेण सीमा-निर्दिष्ट न होते हुए भी इन्द्रियवेद्य आकाश और काल कभी भी सीमा-हीन अथवा निस्सीम नहीं होते।

(२) प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल दोनों ही आभ्यन्तरिकतया **इन्द्रिय-गम्यरूपेण सतत** अथवा अटूट हुआ करते हैं। विस्तार अथवा आकाश के वस्तुतः दृष्ट किसी लघुतर भाग पर यदि आप अपना ध्यान केन्द्रित करें तो तुरन्त आपको लगेगा कि अवकाश या आकाश का वह भाग भी आकाश ही है और उसमें इस विस्तृततर आकाश के सभी लक्षण मौजूद हैं जिसका वह भाग एक टुकड़ा है वस्तुतः दृष्ट आकाश 'अश्लिष्ट दृष्य' मानताओं का ऐसा समूह अथवा प्रत्यक्षणात्मक बिन्दुओं का ऐसा संग्रह मात्र नहीं है जिसके लघुतर भाग पृथक् न किये जा सकते हों और जब तक आकाश दृष्टि अथवा स्पर्शग्राह्य रहता है तब तक ऐसे लघुतर भागों के रूप में उसका ग्रहण कर सकते हैं जिन पर ध्यान देने से उनमें वृहत्तर आकाश के सब लक्षण पाये जाते हैं। अतः 'असत्य वर्तमान' का कोई सा भी वह भाग जिस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा सके, स्वयं भी एक इन्द्रियग्राह्य अवधि सिद्ध होता है। प्रेक्षित आकाश लघुतर अवकाशों द्वारा बना होता है प्रेक्षित काल भी लघुतर कालों का संघट्ट ही होता है। ये लघुतर अंश, निश्चय ही मूलभूत प्रत्यक्ष में एक दूसरे से पृथक नहीं होते किन्तु वे अवधान के गति वैविध्य के परिणामस्वरूप एक-दूसरे से पृथक् अवश्य किये जा सकते हैं।

(३) आकाश और काल के हमारे वास्तविक प्रत्यक्षण के स्वरूप की खोज करने पर उसमें हमें उसके दो पहलू देखने को मिलते हैं जिन्हें हम मात्रात्मक और गुणात्मक संज्ञा दे सकते हैं। एक ओर तो, जब कभी हम आकाश को देखते हैं तो वहाँ हमें विस्तार की कुछ मात्रा दिखाई देती है और जब कभी हम काल का प्रत्यक्षण करते हैं तब उसकी अवधि कम या ज्यादा लगती है। अतः विभिन्न आकाशों और विभिन्न कालों की मात्रात्मक तुलना प्रत्यक्षणों में वर्तमान विस्तार की विशालताओं और समयान्तरों की दीर्घता के आधार पर की जा सकती है। दूसरी ओर, आकाश और काल का प्रत्यक्ष केवल विस्तार और अवधि मात्रात्मक की नहीं होता। उसका एकदम भिन्न, गुणात्मक पहलू भी होता है विस्तार की इयत्ता के साथ साथ हमें उसकी रूपरेखा की आकृति का भी प्रत्यक्ष होता है। आकाशीय आकृति का यह प्रत्यक्षण अन्ततोगत्वा आकृति निर्मायिक रेखा या रेखाओं की दिशा पर निर्भर होता है। इसी प्रकार आकाश के केवल विमितीय पहलू पर ध्यान देते समय हम दैर्घ्य (एक आकाशीय इयत्ता) को दिशा (एक आकाशीय गुण) से पृथक् नहीं पाते। काल के प्रत्यक्षण में भी यही बात पायी जाती है। अवधि की जिन व्यपगतियों का हमें अव्यवहृत प्रत्यक्षण होता है उन सब में ही उनका दिशात्म गुण मौजूद

रहता है। 'तात्कालिक प्रस्तुति अथवा असत्य वर्तमान' मूलतः युगपद–प्रस्तुत पौर्वापर्य ही होता है अर्थात् पहले वाले से बाद वाले की ओर अतिक्रमण वहाँ मौजूद रहता है। यह भी कहना होगा कि प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल में इस प्रकार प्रेक्षित दिशाओं का प्रत्यक्षणकर्ता के साथ एक अनुपम सम्बन्ध रहता है और इससे वे दिशायें सबकी सब गुणात्मक रूपेण एक दूसरे से पृथक् और अप्रत्यावर्तिनी अथवा अनपलट रहती है। आकाशीय दिशा का अनुमान कि वह दाहिनी है या बाँयी; ऊर्ध्व है अथवा अधोगामिनी, प्रेक्षक के शरीर केन्द्र के बीच होकर एक दूसरे से लम्बकोण बनाते हुए गुज़रनेवाले अक्षों के अनुसार ही लगाया जाता है और इस प्रकार वह अन्दाज़ा अनुभूति के किसी भी दत्तक्षण पर अनन्य तया असंदिग्धरूपेण परिमित या निर्धारित होता है। काल की दिशा का अन्दाज़ा भी इसी प्रकार से 'चेतना संगम' की अन्तर्वस्तु के हवाले से ही लगाया जाता है। जो चेतना-संगमगत है वह दिशात्मकतया अब होता है और जो चेतना-संगम से बहिर्गत हो रहा होता है वह 'भूत' और जो उसमें प्रविष्ट हो रहा होता है वह भविष्य'।[१]

वास्तविक प्रत्यक्षण के आकाश और काल की संभवतः यह शायद एक मौलिकतम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। उन दोनों की दिशाओं का असंदिग्ध निर्धारण व्यष्टकर्ता की अव्यवहृत अनुभूति के 'यहाँ' अथवा 'अत्र' तथा 'अब' या 'अधुना' के सन्दर्भ में ही होता है। परिणामतः प्रत्येक व्यष्टकर्ता का अपना अपना प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल तद्विशिष्ट ही होता है। निश्चय ही, ज्यामिति तथा यान्त्रिकी इन आकाशीय तथा कालिक व्यवस्थाओं के बीच अनुरूपता की स्थापना की सम्भावना पर ही निर्भर रहती है। किन्तु यह याद रखना जरूरी है कि सही कहा जाय तो प्रत्येक व्यष्टि की प्रत्यक्षण विषयक अवकाश और काल व्यवस्था उसके विशिष्ट अत्र और अधुना से विकीर्ण होनेवाली दिशाओं से मिलकर बनी होती है और इसी लिये उसकी ही व्यष्ट होती है।[२]

---

१. क्या 'प्रत्यक्ष प्रत्यक्षण' की तात्कालिक प्रतीति के भीतर भूत और भविष्य दोनों ही दिशायें निग्रहीत हो सकती हैं या नहीं? अथवा 'तात्कालिक प्रतीति' में केवल 'अधुना और 'इससे लम्बतर नहीं' यही दोनों तत्व शामिल रहते हैं 'अभी नहीं' तत्व उनमें इसलिये शामिल नहीं होता क्योंकि वह अनुवर्तिनी बौद्धिक रचना है जैसाकि श्री बैडले और श्री शैडबर्थ हॉगसन ने बताया—इस तरह के प्रश्नों की बहस में पड़ने की हमें जरूरत नहीं है ये प्रश्न विशेषतः मनोविज्ञान सम्बन्धी हैं।

२. हम इससे आगे जा सकते हैं और यह कह सकते हैं कि प्रत्येक अनन्यक्षण अथवा अनुभूति की अपनी एक विशिष्ट आकाशीय और कालिक व्यवस्था हुआ करती है। अपने मानसिक जीवन के भीतर विभिन्न अनुभूतियों के प्रत्यक्षीकृत आकाश और काल-

३—**कल्पनात्मक आकाश और काल विषयक वैज्ञानिक क्रम का निर्माण** :—न केवल व्यावहारिक जीवन के लिये ही अपितु भौतिक व्यवस्था के वैज्ञानिक विवरण के तदनुगत उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी विभिन्न प्रेक्षकों की व्यष्ट देशकालीय व्यवस्थाओं के बीच समीकरणों और अनुरूपताओं की स्थापना करना अपरिवर्ज्यतया आवश्यक है। ऐसी अनुरूपताओं के अतिरिक्त किसी एक व्यक्ति के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की आकाशीय तथा कालीय व्यवस्था को अपनी अनुभूति में अनूदित कर लेना सम्भव न होगा। और इस प्रकार कार्यार्थ दिशा—निदेश करने के लिये सारा ही व्यावहारिक संसर्ग समाप्त हो जायेगा। क्योंकि इस प्रकार के दिङ्निर्देश के लिये यह आवश्यक है कि हमारा मनोबल ऐसा हो कि हम अपनी अनुभूति के आकाशीय और कालिक पहलुओं की रचना ऐसे रूप में फिर से कर सकें जो अनुभूति के उस व्यष्ट-क्षण के अत्र और अधुना विशेषों के संदर्भ से स्वतंत्र हो। इस प्रकार हमारी अन्य वैज्ञानिक रचनाओं के समान समस्त भौतिक क्रम के लिये कल्पनात्मक आकाश और काल की किसी एकल व्यवस्था की स्थापना अन्ततोगत्वा हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिये वांछित एक अभिधारणा ही होती है और इसीलिये हमें इस सम्भावना का सामना करने के लिये तैयार रहना होगा कि इसी प्रकार की अन्य अभिधारणाओं के समान ही इस अभिधारणा में भी कहीं ऐसी पूर्वमान्यताएँ न अन्तर्ग्रस्त हों जिन्हें तर्कानुसार सही न ठहराया जा सके। यह संरचना उस सीमा तक कीमती है जिस तक कि वह व्यक्तियों के बीच अन्तःसूचना के अपने कार्य को सम्भव बनाती है। यह सोचना कि वह व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक अनुरूपता से बढ़ कर, वास्तविकता की अन्तिमेत्थ संरचना के अनुरूप हो जाय जरूरत से ज्यादा की आशा करना है।

वर्णनात्मक विज्ञान सम्बन्धी कल्पनात्मक आकाश और काल की संरचना में अन्तर्ग्रस्त मुख्य प्रक्रियाएँ तीन हैं :—संश्लेषण, विश्लेषण और अवशेषण। (अ) **संश्लेषण**, मनोविज्ञान शास्त्रानुसार कहा जाय तो व्यष्टि के विविध प्रत्यक्षणात्मक अवकाशों का एकात्मक संश्लेषण अन्तिमेत्थरूपेण व्यष्ट प्रेक्षकों की सक्रिय गतिविधियों द्वारा ही हो पाता है। जैसे जैसे ध्यान क्रमशः उस हालत में भी जबकि शरीर समग्ररूपेण स्थायी अथवा अविचल हो। आँखों के सामने के समग्र

सम्बन्धी व्यवस्थाओं के ताने-बाने को मैं किस प्रकार प्रत्यक्षणात्मक व्यवस्था में जिस तरकीब से बुन डालता हूँ वह सिद्धान्त रूप में वही तरकीब है जिसके द्वारा मेरे अपने तथा अन्यों के आकाश और काल व्यवहारिक आदान-प्रदान हेतु एक व्यवस्था में ढाल लिये जाते हैं।

विस्तार के विभिन्न भागों की ओर लगाया जाता है वैसे ही वैसे वह दृश्य आकाश जो प्रस्तुत्यन्तर्गत रूप में मूलतः संगमीय अथवा नाभीय था इन्द्रियगम्य क्रमिक संक्रमण द्वारा औपान्तिक बन जाता है और औपान्तिक आकाश नाभीय। और जब अवधान के इस प्रकार के परिवर्तनों की सहगामिनी, सिर और आँखों की गति के साथ सारे शरीर की संचालन गति जुड़ जाती है तब यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है और तब प्रारंभ में प्रस्तुत अवकाश धीरे धीरे प्रस्तुति पथ से लुप्त होते जाते हैं और साथ ही धीरे धीरे वे अवकाश जो पहले बिल्कुल ही प्रस्तुत नहीं हुए थे उभरते आते हैं। और इस प्रकार हम विस्तृततर अवकाश की ऐसी मानस संरचना तक जा पहुँचते हैं जिसमें व्यक्ति प्रस्तुतिगत सारे ही विविध प्रकार के वे अवकाश मौजूद रहते हैं जिनका स्थित क्रम एक से दूसरे में हुए संक्रमण के लिये वांच्छित गतियों की भावित दिशा द्वारा निर्धारित हुआ करता है ।

अपने साथी मनुष्यों के साथ हुए अन्तः-संचरण द्वारा हमें पता चलता है कि उनके प्रत्यक्षज्ञान के लिये वर्तमान प्रत्यक्षणात्मक अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक विस्तार जो हमारी अपनी इन्द्रियों के प्रत्यक्षणार्थ कभी प्रत्यक्षतः प्रस्तुत नहीं होता संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा इतना आगे बढ़ जाती है कि सभी व्यष्ट प्रेक्षकों के सारे प्रस्तुति-गत अवकाश प्रत्येक के अन्यों में संक्रमण करने की गतिविधियों की दिशा द्वारा फिर एक बार निर्धारित क्रम के अन्तर्गत एक एकल आकाशीय व्यवस्था में समा जाते हैं। अन्तिमतः विश्लेषण के इस सिद्धान्त में चूँकि ऐसी कोई बात नहीं कि जिससे उसके पुनरावर्तन की सीमा बाँधना जरूरी हो इसलिये हम इस प्रक्रिया को अनन्त धारा प्रवाह्य समझने लगते हैं और इस प्रकार एक ऐसे आकाश की कल्पना कर उठते हैं जो सारी दिशाओं में फैला हुआ है पर किन्हीं निर्धारित सीमाओं से बँधा हुआ नहीं है। प्रेक्षित आकाशों के संश्लेषण का यह अन्तहीन पुनरावर्तन आकाशीय अनन्तता नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्त का आधार बन गया है।

भौतिक जगत् की घटनाओं के लिये एकल काल—व्यवस्था अथवा समय-क्रम की मानस-रचना भी ठीक इसी तरह के संश्लेषण द्वारा ही की गई है । अधुना या अब का अर्थ मेरे लिये वह अन्तर्वस्तु है जो अब धानीय रुचि का विषय उस काल में हो। रुचि की तृप्ति अथवा हित की अवाप्ति के विभिन्न श्रेणी क्रमों के अनुसार अवधान केन्द्र भी बदलता रहता है । पहले जो कुछ केन्द्रगत था वह पहले औपान्तिक बाद में लुप्तप्राय अथवा अस्तोन्मुख हो जाता है। और जो औपान्तिक था वह केन्द्रगत हो जाता है। इसी से मेरे आभ्यन्तर जीवन की घटनाओं के विषय में ऐसी कल्पना उठ खड़ी होती है जो कि उन्हें निर्धारित क्रमानुसारी क्षणों के आनुपूर्व्य का रूप दे देती है, जिनमें का प्रत्येक क्षण 'अभी' या 'अधुना' रह चुका है अर्थात् अपनी बारी पर प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक

काल की दिशा का प्रस्थान बिन्दु रह चुका है। किसी मानव का दूसरे मानव के साथ का अन्तर्वैयक्तिक संसर्ग जितना अवकाशीय मामलों में उतना ही काल सम्बन्धी विषयों में भी कालीय क्षणों के इस कल्पनात्मक संश्लेषण को इतनी दूर तक खेंच ले जाना मेरे लिये सम्भव कर देता है कि अपनी अनुभूति के जिस 'अधुना' को दूसरों की अनुभूति के प्रथम 'अधुना' का समसामयिक मैं बना सकता हूँ उसको बहुत पहले ही वे अतिक्रान्त कर गये। अन्य व्यक्तियों के अनुभूति के 'अधुना' भी उसमें शामिल किये जा सकें और साथ ही उन अन्य व्यक्तियों की वे अनुभूति के वे 'अधुना' भी उसमें शामिल हो सकें जिनका अन्तिम 'अधुना' मेरी अपनी अनुभूति के अन्तिम 'अधुना' की अपेक्षा भूत है। इस प्रकार के संश्लेषण की अपरिमित पुनरावृत्ति आकाश विषयक पहले वाले मामले की तरह ही यहाँ भी हमें अवधि विषयक ऐसी विचार स्थिति तक पहुँचा देती है जहाँ काल भूत और भविष्य दोनों में ही अनन्त रूपेण जा घुसता है और इस प्रकार वह काल की अनन्तता की सुपरिचित कल्पना हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है।[1]

(ब) **विश्लेषण**—कल्पनात्मक आकाश और काल के रूप निर्धारण में विश्लेषण की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि संश्लेषण की भूमिका। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं कि किसी भी प्रस्तुत विस्तार अथवा प्रस्तुत व्यपगति के लघुतर भागों में हमें उसी प्रकार की संरचना के दर्शन होते हैं जो संरचना हमें उसके समग्र में देखने को मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि आकाश और काल दोनों ही सतत संवेद्यरूपेण सतत हैं अथवा उनमें संवेद्य सातत्य का गुण मौजूद है। वास्तव में देखा जाय तो काल और आकाश के लघुतर और उनसे भी लघुतम अंशों के पौर्वापर्य पर ध्यान रखने की प्रक्रिया निःसन्देह अनन्त तक चालू नहीं रखी जा सकती लेकिन हम अपने अवधान के विस्तार द्वारा उस प्रक्रिया के आनन्त्य पर जबर्दस्ती लादी गयी सीमाओं के उस पार तक भी अपने विचारशक्ति द्वारा इस प्रक्रिया की अनन्तवार आवृत्ति की कल्पना तो कर ही सकते हैं। और इस प्रकार मानसिक विश्लेषण के कार्य द्वारा हम काल और आकाश विषयक एक ऐसी कल्पना तक जा पहुँचते हैं जो उन्हें 'अनन्तरूपेण विभाज्य' बना देती है यानी ऐसे अन्तिमांशों से युक्त जो अन्ततोगत्वा भी अविश्लेष्य नहीं होते। उन अंशों का यह गुण ही तो ज्यामिति और गति विज्ञान शास्त्रों की सबसे पहली और अनिवार्य आवश्यकता है।

---

१. इस सब में अन्तर्ग्रस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के विवरण के लिये उदाहरणतः देखिये स्टाउट लिखित 'मैनुअल ऑफ सायकॉलोजी' खंड, ३, भाग २, अध्याय २–५; खंड ४, अध्याय ६

काल्पनिक अथवा कल्पनात्मक काल और आकाश की यह अतन्त विभाज्यता स्वयं अपने आप में इतनी पर्याप्त नहीं होती कि उसके द्वारा सातत्य शब्द के गणितशास्त्रीय अर्थों में दोनों की सततता सिद्ध की जा सके। उनकी सततता के लिये एक और पूर्वमान्यता आवश्यक होती है और वह यह कि जो वस्तु भी आकाशस्थ स्थिति-शृंखलाओं अथवा कालीय घटना शृंखलाओं को जो अन्योन्यापवर्जक श्रेणियों में विभक्त कर दे वह स्वयं भी एक आकाशीय स्थिति अथवा कालीय घटना हुआ करती है। लेकिन यह पूर्व-मान्यता काल और अवकाश विषयक समस्याओं के सभी प्रकार के वैज्ञानिक प्रतिपादनों के लिये निरपेक्षतया आवश्यक प्रतीत नहीं होती।[1] किन्तु आकाशीय तथा कालीय शृंखलाओं और वास्तविक अंकों की सतत शृंखलाओं में व्यवस्थित अनुरूपता स्थापित करने के लिये उसकी माँग अवश्य होती है। इसके अतिरिक्त किसी ऐसी काल की मानसिक कल्पना को जो कालीय तथा आकाशीय व्यवस्था में स्वयं स्थित न होते हुए भी उस व्यवस्था को समान भागों में बाँट सके, सारवती बनाना असम्भव होता है। इसीलिये तो जिस विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के सहारे हम कालीय तथा आकाशीय क्रमव्यवस्थाओं की कल्पना अनन्त शृंखलाओं के रूप में करते हैं उसके ही बल पर उन व्यवस्थाओं को हम सही मानों में सतत शृंखलाओं के रूप में भी कल्पित कर लेते हैं। असतत रूपी तद्विषयक वैकल्पिक कल्पना निरपेक्षतया निरस्त न होते हुए भी किसी निश्चयात्मक उद्देश्य के आधार पर आवश्यक भी नहीं प्रतीत होती और उन उद्देश्यों अथवा प्रयोजनों की जिनकी विशिष्ट आकाशीय और कालीय अन्तर्वस्तु हेतु आंकिक शृंखला की आवश्यकता पड़ती है, पूर्व निष्पति के साथ उस कल्पना की संगति भी नहीं बैठती।

(स) प्रत्यक्षज्ञानात्मक दत्तों के आधार पर कल्पनात्मक आकाश और काल विषयक क्रम के रूपनिर्धारण में अवशेषण की भूमिका पर सिद्धान्तवादी लोग प्रायः ध्यान नहीं दिया करते, लेकिन उसका मौलिक महत्व बहुत बड़ा है जैसाकि तुरन्त ही स्पष्ट हो जायेगा। हम पहले ही जान चुके हैं कि वैयक्तिक अनुभूति विषयक देशकालीय क्रम के बारे में अधिकतम विशिष्ट तथ्य यह है कि उसके दिग्निर्देश अनन्य प्रकार के इस लिये होते हैं क्योंकि वे तात्कालिक अथवा अव्यवहृत भावना के अनन्य अत्र और अधुना से विकिरित हुआ करते हैं। कल्पनात्मक आकाश और काल व्यवस्था की रचना करने में हमारा सारा अवशेषण व्यक्ति की अव्यवहृत

---

१. इसी से दे दे किण्ड (war sind und was sollen die zahlen?) कहता है कि यूकिड अथवा उक्लैदस की किसी भी संरचना में आकाशीय सातत्य का समावेश नहीं है।

अथवा तात्कालिक भावना निर्भरता पर ही आधारित रहता है। कल्पनात्मक आकाश में अवस्थितियों का आनन्त्य मौजूद रहते हुए भी उन अनन्त अवस्थितियों में से किसी को भी अधुना नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कल्पनात्मक काल में अनन्त क्षण मौजूद होते हुए भी उनमें से किसी को भी 'अधुना' नहीं कहा जा सकता। चूँकि कल्पनात्मक क्रम विषयक आकाश और काल का अवशेषण वैयक्तिक अथवा व्यष्ट दृष्टि-बिन्दुओं के पारस्परिक विभेदों के आधार पर किया जाता है इसलिये उनमें से किसी भी एक विन्दु का दूसरे अपेक्षा निर्देशांकों का ऐसा स्वाभाविक उद्गम कहलाने का दावा नहीं कर सकता जिसके संदर्भ द्वारा दिङनिर्देशों का अधिमान लगाया जा सके। इस अध्याय के शेष भाग में अवशेषण के परिणामों की महत्ता को देख सकने के अवसर हमें बार बार मिलेंगे।

कल्पनात्मक आकाश और काल की सर्जिका संरचना में अन्य तरीके पर भी अवशेषण का प्रवेश हो जाता है। वस्तुतः प्रेक्षित आकाश और काल कभी भी रिक्त नहीं रहते वल्कि वे 'द्वितीयक' गुण विशिष्ट सार वस्तु से पूर्ण ही रहा करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सदा तथ्य के बृहत्तर समग्र का एक पहलू हुआ करते हैं। विस्तीर्ण के किसी अग्रतर चाक्षुष अथवा स्पर्शात्मक गुण से व्यतिरिक्त विस्तार का प्रत्यक्षण कभी नहीं हुआ करता, कालीय व्यतिक्रमण भी प्रस्तुत वस्तु में परिवर्तन के बिना कभी नहीं पाया जाता भले ही वह परिवर्तन सुक्ष्मातिसूक्ष्म ही क्यों न हो। किन्तु कल्पनात्मक आकाश और काल की क्रम व्यवस्था की रचना करते समय हम इस गुणात्मक पहलू से एकदम अवशेष कर जाते हैं। हम तब केवल कालीय अवस्थितियों और आकाशीय दिङ्निर्देशों पर ही विचार किया करते हैं और उनके उन अग्रतर गुणात्मक विभेदों पर जो मूर्त अनुभूति के समय उनके अनुगामी रहते हैं—कोई ध्यान नहीं दिया करते। इस प्रकार हम रिक्त आकाश और रिक्त काल विषयक स्थितियों के उस व्यवस्थात्मक विचार तक आ पहुँचते जिन परिस्थितियों में कि विविध अन्तर्वस्तुओं को बाद में स्थित किया जा सके।

सही तौर पर कहा जाय तो रिक्त अवकाश और रिक्त काल का ख्याल ही बेमानी है जैसाकि उनके अस्तित्व मात्र के बारे में सोचने से ही पता चल जायेगा। अनुभूति के आकाशीय और कालीय पहलुओं का हम विचार काल में ही उस समग्र के शेष भाग से जिसके वे पहलू अंग हैं हम पृथक नहीं कर सकते न हम उन्हें इतने से अधिक अपने आप चलते रहनेवाला मान सकते हैं जितना कि हम सांगीतिक तारत्व विरहित लकड़ी को तथा संतृप्ति विरहित रंग के छाया घनत्व को वर्तमान मान सकते हैं। विस्तीर्ण और आनुक्रमिक के विशिष्ट द्वितीयक गुणों का ध्यान रखे बिना भी हम देश-कालिक अवस्थिति व्यवस्था तक ही अपना ध्यान सीमित रख सकते हैं। इस तार्किक विविक्ति से ही माया अथवा भ्रान्ति तब उद्भूत होती है जब आकाशीय तथा कालीय

अवस्थितियों के रिक्त कुलक (सेट) के विषय में यह कल्पना करने लगते हैं कि उन अवस्थितियों का पहले से अस्तित्व इसलिये आवश्यक होता है कि जिससे कि बाद में उन्हें विविध प्रकार की अन्तर्वस्तुओं द्वारा आपूरित किया जा सके ।[1]

४—कल्पनात्मककालीय तथा आकाशीय क्रम-व्यवस्था के लक्षण : —अभी अभी हम जिस अर्थरचना का विवेचन कर चुके हैं तज्जनित कल्पनात्मक आकाश और काल के निम्नलिखित लक्षणों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । पहले ही बताये जा चुके कारणों के आधार पर कल्पनात्मक आकाश और काल को आवश्यकरूपेण असीम और अनन्तशः विभाज्य माना जाता है । यद्यपि जहाँ एक ओर उनका सतत होना अनिवार्य नहीं प्रतीत होता वहाँ दूसरी ओर तद्विषयक असातत्य का हमारे लिये कोई निश्चयात्मक अर्थ भी नहीं है अतः उनके साथ अंकों की पूर्ण श्रेणी अथवा शृंखला का विनियोजन करने की व्यावहारिक आवश्यकता ही उन्हें सतत मानने का दृढ़ आधार हमारे लिये बन गयी है । किन्तु आकाश और काल इस प्रकार अपनी कल्पनात्मक रचना-प्रक्रियान्तर्गतरूप में ही एक ऐसी सतत अनन्त शृंखला या श्रेणी में विघटित हो जाते हैं अवकाशीय और कालीय बिन्दु अथवा अवस्थितियाँ ही जिसके पद हैं । प्रत्यक्षज्ञानात्मक अथवा प्रत्यक्षात्मक काल और अवकाश के विभागों के विपरीत इन कल्पनात्मक अवकाश और कालों के पद विभाग आत्मरूपेण अवकाश और काल नहीं होते क्योंकि उनके भीतर संरचनात्मक बाहुल्य नहीं होता । अतः कल्पनात्मक अथवा काल्पनिक आकाश और काल भागों अंशों अथवा खंडों के समग्र अथवा संग्रह नहीं होते अपितु वे मात्रात्मकता रहित पदों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था मात्र होते हैं ।

किसी भी आकाशीय अथवा कालीय शृंखला के किन्हीं दो पदों के बीच एक ऐसा अनन्य सम्बन्ध होता है जिसका निर्धारण पदों के अधिन्यसन उनकी दूरी पर निर्भर

---

१. निःसन्देह 'भौतिक रिक्तत्व' और 'आकाशीय रिक्तत्व' एक ही वस्तु नहीं है । किसी विशेष विज्ञान के प्रयोजनार्थ रिक्तत्व का अर्थ होता है वह अवकाश या आकाश जो उस विज्ञान की विशिष्ट रुचि की विशिष्ट जातीय अन्तर्वस्तुओं से घिरा न हो । अतः भौतिकी की सामान्य बोल-चाल के अनुसार 'रिक्तकत्व' का अर्थ होता है वह अवकाश जिसमें कोई द्रव्यमान मौजूद नहीं रहता । भौतिक विज्ञान के प्रयोजनार्थ 'रिक्तकत्व' को मान लेना वांछनीय है या नहीं यह प्रश्न भौतिकी के स्वयं सुलझाने का है । उसे सकारने का निश्चय करने के माने यह हैं कि उस निरर्थक विविक्ति की अर्थात् निरपेक्षतया रिक्त अवकाश की संपुष्टि न की जाय । बहरहाल यह कहा जा सकता है कि यह बहु विस्तृत विचार की गति किसी भौतिक 'रिक्तकत्व' में ही सम्भव है, गलत है, क्योंकि तरल ल्पीनम में भी गति का अस्तित्व सम्भव है ।

होता है । कालीय श्रृंखला जिसका केवल एक ही परिमाप होता है, में चूँकि आप किसी दत्त पद अथवा संख्या से दूसरी संख्या तक केवल मध्यवर्तिनी संख्याओं की उस श्रृंखला के द्वारा ही पहुँच सकते हैं जिसका एकमात्र और अन्तिम निर्धारण तभी होता है जब प्रारंभिक और अन्तिम पद या मात्रायें दी हुई हों अतः उनकी दूरी निश्चित करने के लिये स्वयं उन संख्याओं के अतिरिक्त और किसी चीज की जरूरत नहीं होती। आकाशीय श्रृंखला बहु-परिमापी होती है यानी आप उसके किसी पद से दूसरे अन्य पद तक मध्यवर्ती पदों के बीच होते हुए अनन्तशः विविध मार्गों द्वारा पहुँच सकते हैं लेकिन फिर भी यह सही है कि जब प्रश्नान्तर्गत पद अथवा संख्यायें ज्ञात हों तो ऐसा एक ही और केवल एक ही मार्ग रहता है जो पूर्णतया निर्धारित होता है वह मार्ग हैं दोनों के बीच से गुजरनेवाली सीधी रेखा। यह सीधी रेखा दो बिन्दुओं के बीच की एक से दूसरे तक की अनन्य दूरी ही है ।[१] अतः उस जात की शुद्ध कल्पना जिस जात की कि अवकाश और काल-विषयक कल्पनाएँ है न तो इयत्ता ही न हीं मात्रा व्यक्त करती है वह जात तो श्रेणिक अथवा श्रौंखल क्रम ही है।

इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान देने योग्य है कल्पनात्मक अवकाश और काल तथा प्रत्यक्षण के तात्कालिक या अव्यवहृत अवकाश और काल के बीच का मौलिक विभेद। इन दोनों में से किसी भी क्रम की कोई सी भी एक अवस्थिति स्वतः ग्रहीत दशा में किसी भी अन्य अवस्थिति से विभेद्य नहीं होती। अवकाश के सारे ही

---

१. यह बात अच्छी तरह नोट करने की है कि उपर्युक्त रूपेण परिभाषित दूरी को सही मानों में मात्रात्मक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। न उसमें इयत्ता का कोई ख्याल ही शामिल रहता है बल्कि उसमें तो तत्सम्बन्ध श्रेणीगत स्थान की भावना ही समाविष्ट रहती है, यह भी देखना होगा कि बिन्दुओं के प्रत्येक युग्म के विषय में इस प्रकार के अनन्य सम्बन्ध के अस्तित्व को पहले ही से मान लेने से स्वयं ही यह स्वीकार कर लेना प्रकट होता है कि अवकाशीय क्रम-व्यवस्था के परिमापों की संख्या परिमित होती है। किन्तु अपरिमित या अनन्त-परिमापवान् अवकाश में इस प्रकार का अनन्य सम्बन्ध असम्भव होगा। (देखिये रसेल कृत 'फाउण्डेशन्स ऑफ ज्योमेट्री', पृष्ठ १६१एफएफ) एतद्विषयक इस प्रकार की पूर्वमान्यता की तथा काल को एक परिमापी ही मान लेने का औचित्य इतना ही प्रतीत होता है कि ये मान्यताएँ उन सभी व्यवहारिक प्रयोजनों के लिये अनिवार्य हैं, जो ज्यामितीय विज्ञान की सृष्टि कर सकने की हमारी सामर्थ्य पर निर्भर हैं और यह कि इन मान्यताओं के विपरीत बात मान सकने के लिये हमारे पास कोई दृढ़ आधार भी नहीं है। और इस दृष्टि से यह मान्यता एक अभिधारणात्मक मान्यता ही प्रतीत होती है।

बिन्दु और इसी तरह काल के सारे क्षण भी एक तरह के होते हैं अथवा जैसाकि दूसरे शब्दों में अक्सर कहा जाता है—काल्पनिक अवकाश और लगातार एकरूप अथवा एकरस हुआ करते हैं। यह पार्थक्य तब तक सम्भव नहीं हो पाता जब तक कि आप आकाशीय अथवा कालीय श्रृंखला के कम से कम दो पदों या संख्याओं को लेकर उनके द्वारा निर्धारित होनेवाले सम्बन्ध पर विचार नहीं कर लेते । काल्पनिक आकाश और काल की यह एक-रसता जैसाकि हम देख चुके हैं उनकी संरचना प्रक्रिया में अन्तर्ग्रस्त अनुभूति के व्यष्ट विषय के अवशेषण का एक अनिवार्य परिणाम है । आकाशीय और कालीय विस्तार के हमारे वास्तविक प्रत्यक्षण में प्रेक्षित अवकाश और काल का वह भाग जिसका तात्कालिक भावना के साथ सीधी एकात्मता रहती है गुणात्मकतया अन्य भागों से अत्र और अधुना रूपेण पृथक् रहता है और इसीलिये उसकी अभिज्ञेयता द्वितीय आकाशीय तथा कालीय-अवस्थिति के विशिष्ट विवरणों पर निर्भर नहीं होती । अत्र वहीं होता है जहाँ मैं होता हूँ और अधुना होता है भावनागत प्रस्तुत या वर्तमान । और इसी तरह वस्तुतः प्रस्तुत अवकाश और काल के प्रत्येक अन्य भाग को इस अत्र और अधुना के साथ उसके विशिष्ट सम्बन्ध के कारण एक अनन्य गुणात्मक स्वरूप प्राप्त हो जाता है । वह दहिना या बायाँ बन जाता है आगे का या पीछे का, पहले वाला या पीछे वाला कहलाने लगता है । प्रत्यक्षण के अत्र और अधुना की कारणभूत व्यष्ट अनुभूति के साथ वाले अनन्य सम्बन्ध से जब हम उसी तरह एकदम अवशेषण कर जाते हैं जिस तरह कि कल्पनात्मक काल और आकाश विषयक क्रम-व्यवस्था के निर्माण में हम किया करते हैं तब प्रत्येक अवस्थिति समान रूपेण अत्र और अधुना की एक सम्भावना मात्र बन जाती है और इस सम्भावना मात्र रूप में इन विविध अवस्थितियों को पृथक् पहचाना नहीं जा सकता । विस्तार और अवधि के विभिन्न अंशों की मात्रात्मक तुलना हेतु एक अपरिहार्य शर्त के रूप में यह एकरसता व्यावहारिकतया बड़ी महत्वपूर्ण होती है ।

आकाशीय तथा कालीय अवस्थिति की सापेक्षता काल्पनिक देश-काल की एकरूपता का एक आभासतः अनिवार्य परिणाम है जैसाकि हम देख चुके हैं, कल्पनात्मक आकाश और काल की अवस्थितियाँ तब तक अविभेद्य रहती हैं जब तक कि युग्मों में उन्हें नहीं लिया जाता । दूसरे शब्दों में आकाश में किसी अवस्थिति को स्थिर करने के लिए अथवा किसी तिथि का निर्धारण करने के लिये आपको उसका सम्बन्ध किसी अन्य अवस्थिति अथवा किसी अन्य तिथि के साथ बैठाना पड़ता है और उस अवस्थिति या तिथि के निश्चयनार्थ किसी तीसरी स्थिति अथवा तिथि के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करना होता है और यह प्रक्रिया अनन्तशः चलती जाती है । अगर हमें बताना हो कि अ कहाँ है तो इसका अर्थ होगा कि हम बतायें कि अ तक हम ब से चल कर कैसे पहुँचते हैं और ब की स्थिति भी इसी तरह स से चलकर ब तक कैसे पहुँचा जाता है यह

बताने पर ही मालूम हो सकती है। और यों यह क्रम अनन्त बार चलता रहता है। तर्कसंगत रूप में यह प्रक्रिया आकाश और काल के स्वरूप को काल्पनिकरूपेण अनन्त शृंखलाओं में विश्लेषित कर डालने का ही सीधा-सादा परिणाम है। इन शृंखलाओं के किसी पद या संख्या का उल्लेख करने के लिये उस अनन्य सम्बन्ध को बताना जो उस संख्या या पद का दूसरी संख्या या पद के साथ है। जरूरी होता है। अर्थात् उसकी तार्किक दूरी अथवा सविकल्पक अनुभूति को बतलाना । और किसी ऐसी शृंखला या श्रेणी के जिसमें न तो प्रथम पद हो न ही अन्तिम पद, इस द्वितीय पद का परिभाषण तृतीय पद से उस द्वितीय पद की तार्किकरूपेण सविकल्पक अनुभूति या दूरी के बिना नहीं हो सकता। वास्तविक प्रत्यक्षण में यह कठिनाई इस तथ्य के कारण बरकाई जा सकती है कि अव्यवहृत अथवा तात्कालिक भावना से हमें उन अत्र अधुना की प्राप्ति हो जाती है और जिनसे हमारे सकल दिनिर्देश मापे जाते हैं। किन्तु कल्पनात्मक देश और काल अथवा आकाश और काल में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिससे किसी एक अत्र को पृथक् करके हम उसे अपने 'निर्देशांकों का मूल' बना सकें न हमें ऐसा कोई अधुना ही प्राप्त होता है जिसे किसी दूसरे अधुना की अपेक्षा हम अपना प्रस्तुत अधुना बना सकें अतः अन्तहीन प्रतिगामिता अनिवार्य प्रतीत होता है।

नतीजा यह निकलता है कि कल्पनात्मक देश काल में ऐसा कोई सैद्धान्तिक नियम नहीं जिसके द्वारा विभिन्न दिनिर्देश पहचाने जा सकें । प्रत्यक्षण में उन्हें दहिना या बायाँ, ऊर्ध्व या अधः आदि रूप में पहचाना जा सकता है। लेकिन चूँकि जो किसी एक प्रेक्षक के दायी तरफ है वही दूसरे के बायीं ओर स्थित हो सकती है। काल्पनिक आकाश में जहाँ किसी व्यष्ट प्रेक्षक की उपस्थिति या प्रस्तुति से ही सकल अवशेषण किया जाता है किसी दिनिर्देश में दूसरे की अपेक्षा न तो कुछ दाहिना ही होता है न बायाँ न ऊपर न नीचे न किसी प्रकार का कोई अन्य गुणात्मक विभेद ही क्योंकि इस प्रकार के सब विभेद व्यष्ट प्रेक्षक के सापेक्ष हुआ करते हैं। काल्पनिक अवकाश में जब भी हम दिशात्मक विभेद प्रतिनिविष्ट करना चाहते हैं तब सदा ही हमें अपने प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वच्छन्दतया निर्दिष्ट किसी मानकीय दिनिर्देश को लेकर ही अपना कार्यारंभ करना होता है। उदाहरण के लिए आइये हम स्वच्छन्दतया चुनी हुई अ———ब रेखा को किसी दत्त समतल का मानक मान लें और अन्य सभी दिशाओं को उस कोण के आधार पर एक दूसरे से अलग करें जो प्रत्येक दिशा उस रेखा अ–व के साथ बनाती हैं, साथ ही उस अभिदिशा को भी पहचाने जिसके अनुसार उन दिनिर्देश का अन्दाज (चाहे वह ब से अ तक हो या अ से ब तक) लगाया जाता है किन्तु रेखा अ ब और अ व तथा ब अ के बीच की अभिदिशात्मक विभिन्नता का अभिलक्षण केवल किसी अन्य मानकीय दिनिर्देश के ऐसे ही सदृश सन्दर्भ द्वारा किया जा सकता है और यह प्रक्रिया इसी तरह

अनन्त प्रतिगामितान्तर्गत जारी रहती है।

कालपनिक काल के विषय में भी ऐसी ही बात सही है यहाँ भी, चूँकि परिमाप केवल एक ही है इस लिये कठिनाई उतनी स्पष्ट तो नहीं किन्तु फिर भी उसकी वास्तविकता किसी तरह कम नहीं। काल्पनिक काल में प्राक्तन को पश्चातन से भूत को भविष्य से पृथक् करने के कोई साधन नहीं होते। क्योंकि भूत का अर्थ है हमारी स्मृतियों की दिशा, वह दिशा जो अतीत अथवा 'अब नहीं' की भावना विशिष्ट है। भविष्य प्राग्ज्ञान तथा सोद्देश्य अभ्यनुकूलन विशिष्ट दिशा का नाम है अर्थात् जो 'अभी तक नहीं है।' और जब तक किसी व्यष्ट व्यक्ति के सोद्देश्य जीवन की तात्कालिक अथवा अव्यवहृत भावना द्वारा दत्त सन्दर्भ के बिना ये दिङ्निर्देश पृथक् पहचाने नहीं जा सकते। संक्षेपतः काल्पनिक काल और आकाश या देश सारतः सापेक्ष इसलिए होते हैं चूँकि वे ऐसी सम्बन्धात्मक व्यवस्थाएँ हैं जिनका, उनके द्वारा सम्बन्ध पदों के गुणात्मक विभेदों के बिना उस सम्बन्धों का कोई अर्थ ही नहीं होता; जबकि फिर एक बार उस कल्पनात्मक संरचना के हेतु जो वे सम्बन्ध उत्पन्न करती है उन पदों को सम्बन्धाधिकार द्वारा प्राप्त स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्वरूप से युक्त नहीं माना जा सकता।[1]

---

१. अंग्रेजी जाननेवाले पाठक को आसानी से मिल सकनेवाली आकाशीय अवस्थिति विषयक सापेक्षता की सर्वोत्तम विवरणात्मक व्याख्या श्री रसेल की पुस्तक 'फाउण्डेशन्स ऑफ ज्यामेटरी' के अध्याय iii A, iv में दी हुई है। उसके बाद श्री रसेल ने 'माइण्ड' नामक पत्रिका के जुलाई १९०१ के अंक में सहविपरीत मत पुष्ट करने की चेष्टा की है कि आकाशीय और कालीय अवस्थितियाँ निरूढ़तया विशिष्ट होती है किन्तु श्री रसेल ने सापेक्षताविषयक अपने पहले वाले अभिमत की कोई चर्चा इस लेख में नहीं की। श्री रसेल के इस लेख के विशुद्ध गणितीय भाग में दखल देने योग्य मैं नहीं हूँ। लेकिन मैं यह सुझाव तो दे ही सकता हूँ कि तत्त्व-मीमांसा का प्रश्न केवल इतना ही कहकर जैसाकि श्री रसेल ने किया है, नहीं सुलझाया जा सकता कि निरपेक्ष की प्राक्कल्पना के आधार पर ज्यामिति की रचना करने के लिए आपेक्षिक अवस्थिति के आधार पर उसकी रचना करने की अपेक्षा कहीं कम पूर्वानुमितियों की जरूरत होती है। किन्हीं विशिष्ट पूर्वानुमिति की विशिष्ट सुविधा उस प्रयोजन की अन्तिमेत्थ बोधगम्यता का प्रमाण नहीं होती। और जब श्री रसेल यह स्वीकार करते चले जाते हैं कि आकाशस्थ बिन्दु हमारी पहचान से बाहर होते हैं तो वे अपना दावा खुद ही खारिज करते से मुझे लगते हैं। क्योंकि उनके ऐसा कहने का मतलब क्या यह मान लेना नहीं कि जिस आकाश में हम ज्यामिति शास्त्र में काम लिया करते हैं वह शुरू से आखीर तक सापेक्ष ही होता

देशकालीन संरचना का एक और पहलू भी इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि उसका यहाँ वर्णन कर देना जरूरी है। आकाश और काल को किसी न किसी तरह की इकाइयाँ समझा जाता है। साधारणतः समझा जाता है कि समस्त आकाशीय अवस्थितियाँ अवकाश-सम्बन्धों की एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत रहती हैं और सारी तिथियों का स्थान सर्वग्राही काल के भीतर ही रहता है। एकत्व के इस स्वरूप द्वारा ही देशकालिक व्यवस्था की कल्पना पूर्णता प्राप्त करती है। आकाशीय और कालीय व्यवस्थाओं में से प्रत्येक व्यवस्था एक ऐसी इकाई है जिसमें देश या आकाश तथा काल विषयक सकल संभाव्य स्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं। और उनमें से प्रत्येक एक अन्त ही, अपरिमिति, सतत अवस्थिति-शृंखला होती है और वे सब विशुद्धरूपेण सापेक्ष होती हैं। आकाश विषयक प्रचलित कल्पना के संबंध में विशेषतः कुछ ऐसी खास बातें हैं जिनका यहाँ जिक्र करना इसलिए जरूरी नहीं क्योंकि वे आकस्मिक प्रकार की होती हैं और जिस प्रक्रिया द्वारा तद्विषयक कल्पना की रचना हुआ करती है उसके सारभूत स्वरूप से वे उद्भूत नहीं होती। अतः यह एक प्रचलित पूर्वानुमान सा संभवतः बन गया है कि आकाशीय परिमापों की संख्या केवल तीन ही होती है तीन से अधिक नहीं और यह कि उक्लैदस की समानान्तर विषयक अभिधारणा अपने संघटन द्वारा ही सत्यापित होती है। जहाँ तक प्रत्यक्षणात्मक आकाश का सवाल है वहाँ तक वे पूर्वानुमितियाँ, मेरा ख्याल है, अनुभवात्मक सत्यतापन पर निर्भर होती हैं। ऐसी कोई वजह नहीं मालूम देती कि वे पूर्वानुमान कल्पनात्मक आकाश-व्यवस्था के विषय में भी क्यों लगाए जाँय क्योंकि इतना तो निश्चित ही है कि आकाशीय सम्बन्धोंविषयक एक संगत विज्ञान की रचना उनके बिना भी हो सकती है।[1]

५—अब सवाल यह है कि क्या यह सारी की सारी आकाशीय और कालीय

है? निश्चय ही यह जान सकना कठिन है कि ऐसे गुणात्मक विभेद जिनके विषय में हम प्राक्कल्पना द्वारा कुछ भी नहीं जान सकते हमारी वैज्ञानिक रचनाओं में क्या सहायता या बाधा पहुँचा सकते हैं।

१. यह बात मेरे जैसे उन लोगों की भी, जो गणितज्ञ नहीं है। समझ में लोबात्शेवस्की की पुस्तक 'Unter Suchungen zur Theorie der Parallel Linien' जैसे ग्रन्थों के पारायण द्वारा आ सकती है। इस ग्रन्थ में सामानान्तर्य विषयक अभिधारणा से एकदम दूर रहकर एक संगत त्रिभुजीय ज्यामिति की रचना की गयी है। निश्चय ही अन्त में जाकर यह एक नाम निर्धारण का ही प्रश्न रह जाता है कि अर्धानुभवीय प्रतिबन्धों से स्वतंत्र शृंखला-व्यवस्था अथवा श्रेणी-व्यवस्था के प्रारूप को 'आकाश' नाम दिया जा सकता है या नहीं।

संरचना अपूर्णाधिक है और इसीलिए व्याधाती तथा आभास मात्र। पहले तो मैं यहाँ उन युक्तियों को सामान्य रूप में पेश करूँगा जिनके आधार पर उसे आभास समझा जाता है और तब उसके बाद कुछ विशिष्ट कठिनाइयों का जिक्र करके उसकी परिपुष्टि प्रारंभ करूँगा अतः अन्त में मेरा इरादा यह पूछने का है कि क्या हम वास्तविकता के उस उच्चतर क्रम के बारे में आकाशीय तथा कालीय शृंखलायें जिसका प्रपंच है, किसी निश्चयी परिकल्पना का निरूपण कर सकते हैं या नहीं।

आकाशीय तथा कालीय क्रम प्रपंच मात्र ही है अन्तिमेत्थ वही यह बात, मेरे ख्याल से एक सामान्य तर्कना द्वारा निर्णयात्मकरूपेण सिद्ध की जा सकती है। इस तर्क की मुख्य बातें पहले बताकर बाद में मैं उसकी विशद व्याख्या करूँगा। कोई भी सर्वग्राहिणी अनुभूति आकाश काल रूपान्तर्गत अस्तित्व की विवृतियों का ग्रहण निम्न-लिखित कारणवश नहीं कर सकती। क्योंकि वह अनुभूति उस आकाश और काल की अनुभूति नहीं हो सकती जिन्हें हम देखते हैं अथवा जिनका प्रत्यक्षण हम किया करते हैं न उस आकाश या काल को ही जिसकी पुनर्रचना हम कल्पना द्वारा किया करते हैं। वह प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल की अनुभूति इसलिए नहीं होगी चूंकि हमारे प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल का समग्र स्वरूप ही उन अपूर्णताओं और मर्यादाओं या बन्धनों पर ही निर्भर होता है जिनके कारण हमारी अनुभूति खण्डित और अपूर्ण रह जाती है। मेरे लिए आकाश और काल वैसे ही हुआ करते हैं जैसे कि वे हैं क्योंकि, मैं उन्हें आत्मीय अत्र और अधुना के विशिष्ट स्थिति-विन्दु से एक संदर्श रूप में ही देखता हूँ। यदि वह स्थिति बिन्दु ऐसा इधर उधर हो जाय कि जो कुछ वास्तव में मेरे लिए तत्र और तब हों वे ही मेरे अत्र और अब या अधुना बन जाँय तो आकाश और कालविषयक मेरा सारा दृग्गोचर ही बदल जाय। किन्तु निरपेक्ष तो मेरे अत्र और अधुना के स्थिति बिन्दु से आकाश और काल को नहीं देख सकता। क्योंकि अपनी रुचियों और प्रयोजनों के पारिमित्य के कारण ही मुझे अपनी दृग्गोचरता को इन अत्र और अधुना की सीमाओं में बाँध रखना पड़ता है। यदि मेरे हित उस विशिष्ट रूप में प्रतिबद्ध न होते कि जिस रूप में वे विशालतर समग्र जीवन के केवल इस विशिष्ट भाग या पक्ष के साथ निगड़ित हैं, यदि वे उस समग्र के जीवन के साथ ही सह-विस्तृत होते तो हर एक जगह और प्रत्येक काल मेरा अत्र और अधुना होता। लेकिन मौजूदा हालत में अत्र वह है जहाँ मेरा शरीर है, और अधुना है योरोपीय सामाजिक जीवन के विकास की यह वर्तमान विशिष्ट अवस्थिति, क्योंकि यही वे वस्तुएँ हैं जिनमें मैं मूलतः रुचिमान हूँ। यही बात उन सब अन्य परिमित अनुभूतियों के बारे में भी सही है जिनके द्वारा निरपेक्ष अनभूति की विवृतियाँ अभिव्यक्त होती हैं। परिमित अनभूतियों की

प्रतिबाधक रुच्यात्मक मर्यादाओं से, निरपेक्ष अनुभूति चूँकि स्वतंत्र होती है इसी लिए वह उन अनभूतियों के किसी भी विशिष्ट स्थिति बिन्दु से इस अस्तित्व-व्यवस्था को नहीं देख सकती और इसी लिए वह उसे प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल के वेश में उसका ग्रहण नहीं कर पाती ।

इसके अतिरिक्त वह काल और आकाश के उस रूप में भी अस्तित्व का ग्रहण नहीं पर पाती जिस कल्पनात्मक रूप में हम उन्हें पुनर्गठित किया करते हैं। क्योंकि निरपेक्ष अनुभूति के लिए वास्तविकता अथवा सत्ता का ऐसा पूर्ण व्यस्ट समग्र होना आवश्यक है कि उसके समग्र अवकलनों के आधार भी तदन्तर्गत ही हों । किन्तु कल्पनात्मक देश काल की रचना समस्त व्यष्टतान्तर्ग्रस्त अव्यवहृत अनुभूति संबंध से उस विमृष्ट अवशेषण द्वारा की जाती है और परिणामतः जैसाकि हमने अभी देखा, उन आकाश और काल में आभ्यन्तर विभेद का कोई वास्तविक नियम या सिद्धान्त नहीं होता क्योंकि उनके संघटक पद सब ठीक बिलकुल एक से और अविभेद्य हुआ करते हैं। संक्षेप में यदि हमारी मूर्त अनुभूति के प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल सम्बन्धी क्रम व्यवस्थाएँ वैयक्तिक या व्यष्ट किन्तु अपूर्ण और परिमित दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं तो हमारी वैज्ञानिक संरचना सम्बन्धी कल्पनात्मक आकाश या काल परिमित दृष्टिकोण की अमूर्त संभावना मात्र का प्रतिनिधित्व करता है । उन दोनों में से एक भी, इसी कारण, किसी निरपेक्ष अनुभूति का दृष्टि बिन्दु नहीं हो सकता। निरपेक्ष अनुभूति का आकाशातीत और कालातीत इस अर्थ में होना आवश्यक है कि उसकी अन्तर्वस्तुएँ आकाशीय तथा कालीय शृंखलाओं के रूप में ग्रहीत नहीं होती अपितु किसी अन्य रूप में ही निग्रहीत होती हैं। तब आकाश और काल का किसी ऐसी उच्चतर वास्तविकता का प्रपंचात्मक आभास होना आवश्यक है, जो निरवकाश और काल-रहित हो ।

६—सिद्धान्ततः तो उपर्युक्त तर्कना मुझे पूर्ण सी लगती है लेकिन उन पाठकों के लिए जो उसकी मुख्य विचारणा को और भी अधिक विकसित रूप में जानना चाहते हैं उस तर्कना को फिर से यों पेश किया जा सकता है। प्रत्यक्षणात्मक देश काल जिस रूप में सामने आते हैं, अन्तिमेत्थतः वास्तविक या सत् नहीं हो सकते । सम्बन्धगत गुणों द्वारा निर्मित होने के कारण सत् अथवा वास्तविकता विषयक विचार में सामने आई पुरानी कठिनाई के कारण वे आकाश और काल पहले ही निकम्मे ठहराये जा चुके हैं। प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल ऐसे लघुतर भागों के समूह होते हैं जो आत्मना भी अवकाश और काल ही हैं, इस प्रकार वे ऐसे पदों या कड़ियों के मध्यगत सम्बन्ध होते हैं जिनमें से प्रत्येक के भीतर स्वयं एक बार फिर वही सम्बन्ध पाया जाता है और नव परिचित अनन्त प्रतिगामिता उसमें इस तरह अन्तर्हित रहती

है।[1] जब फिर हम अपनी काल्पनिक देश और काल की निर्मिति में इस दोष का सुधार करने के लिए आकाश और काल को सम्बन्धों की व्यवस्थामात्र में एकदम विघटित कर डालने का प्रयत्न करते हैं तब अवशेषण की इस प्रक्रिया द्वारा यह कठिनाई टल भर जाती है। क्योंकि जितनी देर तक हम सख्ती से अपनी काल्पनिक संरचना तक सीमित रहते हैं उतनी देर तक हमारे सम्बन्धों की विवृत्तियाँ अप्रभेद्य बनी रहती है। विशुद्धतः कल्पनात्मक देश काल में, जैसाकि हमने देखा था, किसी एक दिशा या दिनिर्देश का दूसरी दिशा से प्रभेद कर सकने की कोई संभावना नहीं हुआ करती क्योंकि गुणात्मकतया सब एकसी ही होती है।

निश्चित ही आदिम सिद्धान्तानुसार स्पष्ट है कि जब ऐसे पदों के कुलक जिनके बीच एक ही शैली के बहुसंख्यक संबंध मौजूद रहते हैं, अविभेद्य हुआ करते हैं क्योंकि सम्बन्धों में विवेचन नहीं किया जा सकता। दिशाओं को पृथक् करना ही हो तो अन्ततोगत्वा हमें कम से कम अपना कोई प्रस्थान बिन्दु और उस बिन्दु से गणितव्य से दो एक मानकीय दिनिर्देशों को जो हमारे प्रकृत विषय सम्बन्धी परिमापों की संख्यानुसार होंगे, स्वतंत्र दत्तों के रूप में लेकर तो चलना ही होगा। इसका अर्थ होगा अन्य संभाव्य प्रस्थान बिन्दुओं और मानकीय दिनिर्देशों की अपेक्षा कहीं अधिक पहचानने योग्य गुणात्मक विभेदों को साथ लेकर चलना। (इस प्रकार, कल्पनात्मक देश और काल के प्रारंभ और अन्त में विभेद करने के लिए आपको कम से कम किसी ऐसे कालीय क्षण को जो गुणात्मकतया अन्य क्षणों से पहचाना जा सके, ऐसा निर्देश-क्षण मान लेना होगा जहाँ से आप अपनी गणना का प्रारंभ कर रहे हों और इसके साथ ही आपके पास किसी तरह का ऐसा पहचान योग्य गुणात्मक वैशिष्ट्य भी होना चाहिए जिसके द्वारा आप भूत दिनिर्देश को भविष्यकालीन दिनिर्देश से पहचान सकें)। और इस गुणात्मक प्रभेद विषयक संदर्भ के साथ ही ठीक उसी तरह जिस तरह कि प्रत्यक्षणात्मक आकाश और काल के मामले में, हमें फिर एक बार गुण और सम्बन्ध विषयक

---

१. यह बात अच्छी तरह याद रखनी होगी कि अनन्त या अपरिमित प्रतिगामिता का सारभूत दोष उसकी अपर्यवसेयता नहीं अपितु उसकी एक दिष्टता है। हमने स्वयं ही प्रतिपादित किया है कि वास्तविकता या सत्ता ऐसे लघुतर व्यष्टों द्वारा रचित व्यष्ट है जो हमारे दृष्टिपथ में समग्र की संरचना की पुनरावृत्ति करते रहते हैं और यह कि इन व्यष्टों की संख्या परिमित होना जरूरी नहीं है। लेकिन हमारी दृष्टि में व्यष्टता का क्रम जितना ही उच्चतर होता गया उसकी संरचना भी उतनी ही अधिक स्वतः स्पष्ट होती गयी थी जबकि अनन्त प्रतिगामिता में अव्यापकार्थीय संरचना अन्तहीनवार उसी रूप में पुनरावृत्त होती रहती है।

उनमें आभ्यन्तरीय संरचनात्मक एकता निहित नहीं रह सकती। यह बात उस तरीके से स्पष्ट हो जाती हैं जिसके अनुसार हमारी कल्पनात्मक योजना के आकाश और काल रचे गये थे। जैसाकि हमने देखा उनकी उत्पत्ति हुई थी पदों के मध्यगत उस एकल शैली के सम्बन्ध की अपरिमित पुनरावृति से, जिसमें हमें आभ्यन्तर संरचना विषयक कोई भी अन्तिमेत्थतः बोधगम्य सिद्धान्त या नियम ढूंढे नहीं मिला था। लेकिन संरचनात्मक एकता वहाँ नहीं लाई जा सकती जहाँ वह अन्तहीन पुनरावर्तन मात्र द्वारा पहले ही से मौजूद न हो। इस प्रकार की प्रक्रिया का परिणाम भी मूलभूत दत्तों के समान ही आभ्यन्तरतः असंगत और संरचनाहीन होगा। अतः सम्बन्धगत गुण-व्यवस्था की पुनरावृति मात्र होने के कारण आकाश और काल सच्ची इकाइयाँ नहीं हो सकते।

यह बात तब और भी साफ हो जाती है जब हम उन आधारों पर विचार करते हैं जो हमें अनेक घटनाओं को एक ही से आकाश और एक ही से काल में स्थान प्रदान करने का वास्तविक अधिकार देते हैं। अगर अ से ब तक यात्रा कर सकने का कोई मार्ग मौजूद हो तो मेरे लिये अ और ब अन्ततोगत्वा एक ही आकाश में स्थित होते हैं और वे एक ही काल में तब होते हैं जब वे किन्ही व्यवस्थागत प्रयोजनों की पूर्ति की विभिन्न अवस्थितियों में हों। इस प्रकार दोनों ही मामलों में सदृश या समरूप हितों और प्रयोजनों की व्यवस्था से सम्बन्ध होने के कारण ही अवस्थितियों और घटनाओं के विभिन्न कुलक एक अवकाश और एक समय से सम्बद्ध हुआ करते हैं इस प्रकार के अवकाश और काल की एकता व्यवस्थित प्रयोजनात्मक जीवन की एकता के अमूर्त रूप की ऐसी धुँधली प्रतिच्छाया मात्र है जो इसलिए है चूँकि उसकी व्यष्ट रचना अनन्य प्रकार की है।

यही वह तरीका है जिसके अनुसार मैं अपने सामान्य जाग्रत जीवन के प्रयोजन और हितों की व्यष्ट एकता से उसकी अनभूतियों का हवाला किसी एकल देश-काल व्यवस्था के साथ देने का अधिकार प्राप्त करता हूँ। इसी तरह पर चूंकि मैं स्वयं अपने तथा अपने साथी मनुष्यों के भी प्रयोजन को समाज के विस्तृततर व्यवस्था गत प्रयोजन-समग्र में शामिल कर सकता हूँ इसलिये मैं उनकी अनभूति के आकाश काल विषयक सम्बन्धों को अपनी अनुभूतियों के साथ मिलाकर एक व्यवस्था के अन्तर्गत ला सकता हूँ। इसके अतिरिक्त भौतिक जगत् की इन्द्रियगम्य घटनाएँ भी मानवीय अनुभूति की देश कालीय सम्बंधों के साथ-साथ एक देश काल से सम्बद्ध उन विचलनशील तरीकों के कारण हैं जिनमें वे हमारे अपने सप्रयोजन आभ्यन्तर जीवन के विकास को ढाल देती है। किन्तु हमारे अपने चैतन्य जीवन में भी ऐसे मामले पाये जाते हैं जहाँ यह स्थिति अनुपस्थित-सी प्रतीत होती है और इन मामलात में एकल अवकाश

या एकल काल की कल्पना का बोधगम्य उपयोग कर सकने में असमर्थ से प्रतीत होते हैं।

हमारे स्वप्नों का ही मामला ले लीजिए। मेरे स्वप्नों की घटनाएँ स्वयं स्वप्न के अन्तर्गत ही देशकालीय सम्बन्धग्रस्त रूप रहती है लेकिन अगर मैं पूछूँ कि मैंने जिन जगहों को सपने में देखा था उनके इंग्लैण्ड के मानचित्र पर अंकित जगहों के साथ कौन से आकशीय सम्बन्ध हैं तो उसके कोई माने न होंगे। यह पूछना भी कि पिछली रात को देखे सपने की घटनाओं तथा आज सुबह के अथवा पिछले सप्ताह के सपनों के बीच कौन सा कालीय सम्बन्ध है व्यर्थ ही होगा। और यह बिलकुल इसलिए कि चूँकि सपने को जाग्रत जीवन के साथ अथवा अन्य स्वप्नों के साथ जोड़नेवाली व्यवस्थागत प्रयोजनात्मक एकरूपता आमतौर पर वहाँ नहीं होती तथा स्वप्न विषयक आकाश और काल की कोई अवस्थिति जाग्रत जीवन की देश-कालिक व्यवस्थापेक्षी नहीं होती न किसी एक स्वप्न की अवस्थितियों का कोई सम्बंन्ध दूसरे स्वप्न की अवस्थितियों से होता है।[1] निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि स्वप्नीय काल और स्वप्नीय अवकाश काल्पनिक 'वस्तुएं हैं' लेकिन किसी विशेषण मात्र के प्रयोग द्वारा समस्या से छुटकारा नहीं मिल सकता। उन्हें काल्पनिक कहने का सिर्फ यही मतलब है कि वे जाग्रत जीवन के देशकाल से व्यवस्थितरूपेण सम्बद्ध नहीं हैं। न कि उससे उनकी वास्तविक देशकालिक-संरचना विषयक यथार्थता गलत साबित होती है।

इसी तरह अगर कोई ऐसे बोधगम्य प्रयोजन मौजूद हों जिनपर तद्रूप में ध्यान दे सकना हमारे सप्रयोजन जीवन के लिए निषिद्ध हो तो जैसाकि हमने कहा था, प्रपंचात्मक भौतिक क्रम के पीछे कोई ऐसा काल अवश्य होना चाहिए जहाँ जन्म लेकर वे प्रयोजन कार्यरूप में परिणत होते हैं, किन्तु उनका कोई स्थान हमारी देश-कालिक व्यवस्था में न होगा। भौतिक जगत् की ऐन्द्रजालिक या प्रपंची घटनाएँ तो हमारी व्यवस्था के अन्तर्गत होती ही हैं, किन्तु आभ्यन्तर प्रयोजन सम्बन्धी वह जीवन उसके अन्तर्गत नहीं होता क्योंकि यह भौतिक क्रम व्यवस्था हमारी इन्द्रियों के लिए उस जीवन की अभिव्यक्ति है। अन्ततः सही बात तो यह है कि सारे ही काल और सारे ही अवकाश मिलकर इस शर्त पर देशकाल की एक ही व्यवस्था ही का निरूपण इस शर्त पर कर सकेंगे कि अनन्त या अपरिमित निरपेक्ष अनुभूति को अपनी सब

---

१. **ऐसा साधारणतया ही होता है। संक्षिप्ततार्थ मैं यहाँ रात्रानुरात्र चलनेवाले स्वप्नीय जीवन के संभाव्य मामले को मैं यहाँ दर्ज नहीं कर रहा हूँ। सिद्धान्ततः इस प्रकार के स्वप्नीय जीवन के देश और काल के मामले तथा हमारे जाग्रत घण्टों के देशकाल के मामले में कोई अन्तर न होगा।**

अन्तर्वस्तुएँ आकाशीय और कालीय रूप में ही दिखाई पड़े। तब अनन्त या अपरिमित व्यष्ट के लिए विभिन्न परिमित व्यष्ट समूहों के प्रयोजन मिलकर काल और देश विषयक सम्बन्धों की एक महती व्यवस्था निरूपित करेंगे। किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि अपरिमित अनुभूति अपनी अन्तर्वस्तुओं का आकाशीय अथवा कालीय रूप में निग्रह नहीं कर पाती।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि भौतिक जगत् विषयक हमारी व्याख्या वैध हो तो जरूर ही, सत् अथवा वास्तविक के अन्तर्गत अवकाशों और कालों का बाहुल्य होना आवश्यक है, यदि वह वैध न हो तो भी ऐसा बाहुल्य हो सकता है। इनमें से किसी भी अवकाश अथवा काल के भीतर उसके सारे अंश आकाशीय और कालीयरूपेण अन्तः संबद्ध होते हैं किन्तु ये विविध अवकाश स्वयं आकाश में सम्बद्ध नहीं होते न विविध काल एक दूसरे से पहले अथवा पीछे काल में ही सम्बद्ध होते हैं। उनका सम्बन्ध तो एक विशुद्धतया तार्किक सम्बन्ध इस प्रकार का है कि जिसके अनुसार चरम सत्ता के अन्तर्हित स्वरूप की परिमित विवृति पूर्ण अभिव्यक्ति विविध प्रकार से होती है।[1] निरपेक्ष अनुभूत्यर्थ उन सबका एक साथ और एक ही समय होना जरूरी होता है लेकिन इस माने में नहीं कि वे 'एक ही अवकाश और काल' में हों बल्कि इस माने में कि वे मिलकर एक संगत आधार भूमि अथवा सिद्धान्त का व्यवस्थित मूर्त रूप ग्रहण करें।

८—आकाशीय तथा कालीय अनन्ततता की कल्पना पर आधारित काण्ट के

१—इसी तरह मेरे स्वप्नों की घटनाएँ भी, जाग्रत जीवन की घटनाओं की आकाशीय और कालीय शृंखलाएँ किसी प्रकार भी अवस्थित न होते हुए भी, उन शृंखलाओं से तार्किकरूपेण इतनी सम्बद्ध होती हैं कि घटनाओं के दोनों ही कुलक मानसिक स्वभाव तथा प्रवृत्ति विषयक कुछ एक सदृशीय तत्वों से उनका कोई न कोई रिश्ता रहता है। दूसरा रोचक मामला है तथाकथित 'द्वैत-व्यक्तित्व' का। दोनों ही प्रत्यावर्ती व्यक्तित्वों की अनुभूति एक ही कालीय शृंखला में उस विधि के कारण सज्जित की जा सकती है जिसके अनुसार दोनों ही कुल ऐसे अन्य मनुष्यों के व्यवस्थित हितों के साथ अन्तर्ग्रंथित हो जाते हैं। जिनका व्यक्तित्व प्रत्यावर्तित नहीं होता यदि होता भी है तो दूसरी ही स्पन्दलय के साथ। यदि सारी ही मनुष्य जाति व्यक्तित्व प्रत्यावर्तन का विषय बन जाय तो हमारी सारी अनुभूतियों के लिए एक ही काल-शृंखला की रचना असम्भव हो जाय। इस विवेचन में शुरू से आखीर तक मैंने श्री ब्रैडले के इस समस्या के प्रतिपादन (अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी, अध्याय १८) का ही अनुसरण किया है।

परिचित अर्थ-विप्रतिषेधों पर सोच विचार करने से भी आकाश और काल के प्रपंचात्मक स्वरूप के बारे में इसी तरह के नतीजे सामने आते हैं। आकाश और काल का बाह्यतः सीमाहीन और अन्तरतः अपरिमितरूपेण विभाज्य होना आवश्यक है और फिर भी दोनों ही एक भी नहीं हो सकते। अनावश्यक उपकरणों से रहित होने पर अर्थ विप्रतिषेध विषयक दोनों ही पक्षों की तर्कनाएँ यों पेश की जा सकती हैं। आकाश और काल को सीमाहीन होना इसलिए जरूरी है कि सारे ही आकाशीय तथा कालीय अस्तित्व के माने हैं किसी ऐसे दूसरे पद के साथ उनका आकाशीय तथा कालीय सम्बन्ध होना जो स्वयं भी किसी तीसरे पद से सम्बद्ध हो। क्योंकि ठीक इसी कारण दोनों का ही अनन्तरूपेण विभाज्य होना जरूरी है। लेकिन दूसरी ओर वे दोनों ही इनमें से एक भी इसलिए नहीं हो सकते चूँकि व्यष्ट ही वर्तमान रहता है और ऐसे पदों के सम्बन्धों के इस तरह के अपरिसमाप्य जंजाल के भीतर, जो पद कि इन सम्बन्धों के समर्थक मात्र ही होते हैं, व्यष्ट रचना विषयक कोई सम्बन्ध मौजूद नहीं होता।[१] इस प्रकार काण्टीय अर्थ विप्रतिषेध गुण तथा सम्बन्ध विषयक पुरानी कठिनाई के सीधे सादे परिणाम मात्र हैं। आकाश और काल का सम्बन्ध मात्र होना आवश्यक है और उन सम्बन्धों के पदों का भी इसी लिए गुणात्मकतया अप्रभेद्य होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त चूँकि वे सम्बन्ध है इसलिए अवस्तुओं के मध्यगत सम्बन्ध नहीं हो सकते। दूसरे रूप में यही बात यों कही जा सकती है कि वे ऐसे पदों के मध्यगत सम्बन्ध नहीं हो सकते जिनका कोई अपना व्यष्ट स्वरूप नहीं होता। ऐसे सब मामलों में जहाँ गुण और सम्बन्ध विषयक समस्या उठ खड़ी हो वह हमें अनन्त प्रतिगामिता की ओर ही ले जायगी।

हम जब तक काल और आकाश को वास्तविक मानते चले जायेंगे तब हमें समान रूप से अतर्क्य दोनों विकल्पों में से किसी एक को चुनना होगा। या तो हमें

---

१. अन्यथा कल्पनात्मक अवकाश और काल, जैसाकि हम देख चुके हैं, अंक श्रृंखला के अवकलज होते हैं और हम पहले ही जान चुके हैं कि अंक श्रृंखला हमें अन्तहीन श्रृंखला का योग करने की समस्या की ओर ले जाती है और इसीलिए वह चरम सत्ता या वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करने का कोई पर्याप्त तरीका नहीं होती। (खंड २, अध्याय ४, १०) इसी कठिनाई का दूसरा रूप यह होगा कि कल्पनात्मक देश और काल आंकिक श्रृंखला के विनियोजन हैं—लेकिन किसके साथ उनका विनियोजन? ऐसी वस्तु के साथ जो स्वयं आकाशीय और कालीय है। ये सब पहेलियाँ काल और आकाश की सारभूत सापेक्षता को व्यक्त करने के अनेक तरीके भर हैं। किन्तु देखिए काण्ट विरोधी मत उदाहरणतः कातुरत लिखित—L' Infini Mathematique. Pt.2।

अपरिमित या अनन्त प्रतिगामिता को उस बिन्दु के बाद तक, जहाँ कि उसकी कठिनाइयाँ प्रकट होने लगती हैं, जारी रखने से स्वेच्छरूपेण इनकार उसी तरह करना होगा जैसाकि इस दावे द्वारा कि काल और आकाश परिमित सीमायुक्त अथवा अविभाज्य भाग हैं, किया जाता है, या फिर हमें यह मान लेना होगा कि निरपेक्ष अनुभूति, अनन्त शृंखला के योगत्व को प्रस्तुत कर सकती है। काल और आकाश की प्रपंचात्मक मान्यता, जो व्यावहारिक आवश्यकताओं द्वारा हम पर थोपी गयी संरचना विषयक प्रक्रिया का परिणाम है, पर जो व्यष्ट अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप के पर्याप्त अनुरूप नहीं है, यह कठिनाई दूर हो जाती है। अर्थ-विप्रतिषेध के दोनों ही पक्ष सापेक्षतया सही इस माने में हो जाते हैं कि अपने व्यावहारिक प्रयोजनार्थ हम कभी एक को और कभी दूसरे को अंगीकार करके सन्तुष्ट हो सकें। दोनों ही अन्ततोगत्वा इस माने में असत्य हो जाते हैं कि चूँकि आकाश और काल हमारी अपनी रचनाएँ हैं इसलिए वे न तो परिमित और न अपरिमित शृंखलाएँ हैं अपितु अपनी रचना का जिस प्रयोजन के लिए हम उपयोग करते हैं तद्नुसार ही उनमें से कोई सी भी एक या दूसरी बन जाती है।

९—यदि अन्ततोगत्वा आकाशीय तथा कालीय अवस्थिति और दिंनिर्देश का ऐसा आभास ही होना आवश्यक हो, जो किसी अपेक्षाकृत अधिक व्यष्ट वास्तविकता की प्रपंची हो, तो हमें पूछना पड़ेगा कि वे किस वस्तु की आभास हैं? इतना ही कहना पर्याप्त नहीं कि 'अन्तिमेत्य या चरम वास्तविकता या सत की' अथवा 'निरपेक्ष की।' निःसंदेह, जैसा अन्य सब वस्तुओं के बारे में वैसा ही आकाश और काल के बारे में भी यह सही है। लेकिन हम और भी जानना चाहते हैं कि क्या वे, निरपेक्ष के संरचक, लघुतर व्यष्टों के आभ्यन्तरिक भौतिक जीवन के किन्हीं विशिष्ट लक्षणों की निकट-स्थतया आभासी तो नहीं? देशकालिक सम्बन्ध की रचनाविहीन अमूर्त सामान्यता और देश-कालातीत निरपेक्ष व्यष्ट की पूर्ण व्यष्ट संरचना के बीच मध्यस्थता करने के लिए स्वभावतः हमें किसी ऐसे तृतीय पद या कड़ी की खोज हुआ करती है जो परिमित व्यष्टता स्वरूप हो। वास्तव में अपनी अनुभूति के अंगीभूत आकाशीय तथा कालीय रूप को हम एक व्यष्ट परिमित जीव की हैसियत से, अपने स्वभाव के किसी मूलभूत पहलू के साथ संयुक्त करना चाहा करते हैं।

इस तरह के संबंध की स्थापना करना कुछ विशेष कठिन भी नहीं। जब हमें याद आता है कि हमारे प्रेक्षण और गति का वास्तविक निरूपण करते समय देश और काल, वे ही देश और काल होते हैं जो अव्यवहृत भावना के एक अनन्य, अत्र और अधुना से बहिर्विकिरित होते हैं, तब यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी अनुभूति का आकाशीय तथा कालीय पहलू, जैसाकि पहले सुझाया जा चुका है, हमारी उन

ध्यानात्मक अभिरुचियों की मर्यादा का, जो हमारी परिमिति का कारण है, परिणाम है। यह मेरी अभिरुचियों या मेरे हितों की, कम से कम उनकी जो इतने अधिक स्पष्ट हैं कि वे चेतना के 'फोकस' में उच्छ्रित हो आएँ, संकीर्णता ही है जो मेरे चारों ओर मौजूद सारे 'तत्रों' से मेरे 'अत्र' के विभेद में प्रतिबिम्बित होती है। प्रपंचात्मक' भौतिक व्यवस्था की जिसे मैं अपने शरीर की दशा या स्थिति कहता हूँ, की घटनाओं के साथ अपने हितों की पूर्ति के खास तौर पर गहरे सम्बन्ध के कारण ही मेरा अत्र वहाँ ही होता है जहाँ मेरा शरीर होता है अगर मेरे इतने विशाल या विस्तृतर हो जाँय कि विश्व की सारी योजना उनमें समा सके तब फिर विश्व की अन्तर्वस्तुओं को आकाश में विकीर्ण मैं न देखूँगा क्योंकि तब मेरा ऐसा कोई विशिष्ट स्थिति बिन्दु, मेरा 'अत्र' शेष न रहेगा जिसके लिए अन्य अस्तित्व 'तत्र' हो सके।

अतः मेरे आकाशस्थ विशिष्ट स्थिति बिन्दु को जीवन विषयक मेरे विशिष्ट और खास अपने हितों का द्योतक कहा जा सकता है, ऐसा विशिष्ट और तर्कानुसारी स्थिति बिन्दु जहाँ से मेरी अनुभूति निरपेक्ष की चरम रचना को प्रतिबिम्बित करती है। और इस तरह, सामान्यतया, यद्यपि आकाशीय आभास की प्रत्येक विवृति के संबंध में इस परिणाम पर विभिन्न कारणोंवश ज्यादा जोर नहीं दिया जा सकता, तो भी बुद्धिमान प्रयोजन-पर जीवों का आकाशीय समूहीकरण उनकी हित और प्रयोजन विषयक आन्तर बन्धुता का द्योतक होता है. ऐसे जीवों के आकाशस्थ और निकटतया या परस्पर सह-ग्रथित समूह, सामान्यतया अपने खास हितों के,अपने विशिष्ट प्रयोजनों के और विश्व के प्रति अपनी लाक्षणिक अभिवृत्ति के बारे में भी वे सह-संग्रठित ही हुआ करते हैं। समूह के अवयवों या सदस्यों की स्थानीय सह-वर्तिता उनकी 'आभ्यन्तर और आध्यात्मिक' सामाजिक आकांक्षाओं की समता का 'बाह्य और दृश्यचिह्न' है। निश्चय ही यह बात सन्निकटतया ही सही है। अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए मानव जाति की कोई भी टुकड़ी भौतिक जगत् का सक्रिय नियंत्रण करने में जितनी ही कम सीमा तक सफल होती है, उतनी ही अधिक सीमा तक यह सच होगा कि आकाशीय दूरत्व और सामाजिक प्रयोजन की आन्तर असमता संपाती होती है। उसी अनुपात में, जिसमें कि मानव की, उसके अमानवीय पर्यावरण पर विजय पूर्ण होती जाती है,वह आकाशीय वियुक्ति के बावजूद भी सामाजिक उद्देश्यों की आन्तरीय एकता को अपने हाथ में किए रहने की तरकीबें किया करता है। लेकिन इससे एक बार फिर इतना ही सिद्ध होता है कि आकाशीय क्रम-व्यवस्था ऐसा अपूर्ण आभास मात्र है जो अपने से परेवाली उच्चतर सत्ता या वास्तविकता के स्वरूप की झाँकी भर है। अतः हम कह सकते हैं कि विज्ञान और सभ्यता ने 'दूरी का अन्त' करने में जो सफलता प्राप्त की है वह ऐसा लगता है मानों, आकाश की तुलनात्मक अवास्तविकता विषयक हमारे तत्वमीमांसीय सिद्धान्त

का एक जोरदार और क्रियात्मक समर्थन मात्र हैं।

काल के विषय में भी ऐसा ही है यद्यपि कालीय शृंखला को, एक माने में, आकाशीय शृंखला की अपेक्षा, कुछ कम अवास्तविक कहा जा सकता है क्योंकि यह सिद्ध करना संभव नहीं जान पड़ता कि आकाशीय आभास परिमित अनुभूति का एक अनिवार्य रूप है। हम कम से कम ऐसी परिमित अनुभूति की कल्पना कर सकते हैं जो ध्वनियों, गन्धों तथा तदनुगत भावना, तानों जैसे द्वितीयक गुणों की आनुक्रमिक सज्जा द्वारा संघटित हुई हो यद्यपि हमारे पास कोई दृढ़ आधार इस प्रकार की अनुभूति के अस्तित्व की पुष्टि करने के लिए नहीं है। किन्तु कालीय रूप परिमित बुद्धि से अवियोज्य प्रतीत होता है। क्योंकि मेरे अस्तित्व का काल के एक निर्धारित भाग तक ही सीमाबद्ध होना स्पष्टतः इस तथ्य का अमूर्त और बाह्य पक्ष मात्र है कि मेरे हित और प्रयोजन उस सीमा तक ही जहाँ तक कि मैं अपने जीवन के सही माने जान सकता हूँ, सामाजिक जीवन के उस वृहत्तर समग्र के, मेरा अपना जीवन भी जिसका एक अंग है, तर्कानुगत विकास में यही एक विशिष्ट स्थान ग्रहण कर सकते हैं। अतः किसी सप्रयोज कृत्य की कृत्यों की उस कालीय शृंखला में जिसे मैं अपने जीवन का इतिहास कहता हूँ, स्थिति मेरे जीवन के भीतरी पक्ष के निरूपक हितों की सह-सम्बद्ध योजना में इस विशिष्ट कृत्य द्वारा आपूरित तर्कसंगत स्थान की ऊपरी परिचायिका ही होगी। पारमित्य नाम-धेय पूर्ण-आन्तर एकतानता-साहित्य का यह एक अनिवार्य परिणाम है कि परिमित व्यक्ति के लक्ष्य और हित सब एक साथ और एक ही समय उसके ग्रहणार्थ एक सी ही मात्रा में प्रस्तुत नहीं हो सकते। स्वयं अपने आभ्यन्तरीय प्रयोजन अथवा आशय से भिन्न होने के लिए, चूँकि वह परिमित है और इसी लिएअन्तिमरूपेण एक पूर्णतः—एक तान व्यवस्थित समग्र नहीं होता, इसलिए उस प्रयोजन से वह उसके आंशिकतः आपूरित रूप में ही भिन्न हो पाता है। और अपने प्रयोजनों के इस अंशतः पूर्ण अर्थ में हम उस कालीय अनुभूति का आधार पाते हैं जिसके साथ उसका विकल्पी पूर्णताविषयक 'अभी' और असन्तुष्ट आकांक्षा विषयक 'अब नहीं' और 'अभी नहीं' भी हमें प्राप्त होते हैं।

इस कारण से ही, असन्तोष, न पूरी हुई लालसा, तथा कालीय अनुभूति सब सह-सम्बद्ध प्रतीत होते हैं और काल, परिमित या सान्त व्यष्ट की स्वयं अपने उस प्रयोजन की जो परमिति या सान्तरूप में सदा के लिए उसकी पहुँच के बाहर रहता है, व्यवस्थित सिद्धयर्थक लालसा की अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र प्रतीत होता है। यदि यह सही हो तो केवल ऐसा निरपेक्ष और अनन्त व्यष्ट ही जिसकी अनुभूति लगा-तार आशय की पूर्णतः एकतान व्यवस्थित पूर्ति विषयक हो, कालीय-क्रिया-बाह्य हो सकता है। उसके लिए 'लुप्त और उपस्थित' दोनों ही एक समान होते हैं क्योंकि उसका

समग्र स्वरूप ही एक साथ और एक ही बार अस्तित्व की विवृत्ति द्वारा पूर्णतः अभिव्यक्त हो चुका है। किन्तु परिमित को अपने परिमिति-परक स्वरूप के कारण अपनी पहुँच के बाहर के पूर्णत्व का आकांक्षी रहते हुए अपनी अनुभूति को, इच्छा और निष्पादन के तथा 'अधुना' और अधुनैव के पारस्परिक वैशिष्टच से विभूषित करना पड़ता है। सकल परिमिति अनुभूति के इस कालीय लक्षण में संभव है बाद को हमें नैतिकता का वैसा चरम आधार भी दिखाई पड़ सके। जैसाकि व्यवहारिक साक्ष्य हम परिमित के अपने परिमत्य से पार पाने हेतु किये जाने वाले अथक संघर्ष में इस बात को पहले ही पा चुके हैं कि काल ऐसा रूप नहीं जो वास्तविकता या सत्ता के स्वरूप को पर्याप्ततया व्यक्त करे और इसीलिये जिसका अपूर्ण आभास होना आवश्यक है।[1]

अतः अब लगता है कि अन्त में हम इस निष्कर्ष पर आ पहुँचते हैं कि आकाश और काल के एक दूसरे के साथ सामाजिकतया सम्बद्ध परिमित व्यष्टों के प्रयोजनों के तार्किक सम्बन्धों की प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति हैं; चूँकि अपनी बारी में इन व्यष्टों में से प्रत्येक का आन्तर सप्रयोजन जीवन स्वयं भी, जैसाकि हम इससे पूर्व देख चुके हैं, एक विशिष्ट तार्किक 'दृष्टि बिन्दु' के अनुसार चरम अनन्त या अपरिमित व्यष्ट की संरचना तथा जीवन की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। स्वयं अनन्त व्यष्ट के लिये परिमित या सान्त व्यष्टों के प्रयोजनों और हितों के समग्र का रूप एक एकल एकतान व्यवस्था का रूप होना आवश्यक है। यह व्यवस्था स्वयं आकाशीय अथवा कालीय रूप की नहीं हो सकती, अतः किसी न किसी तरह काल और आकाश का आकाशात्मक तथा कालात्मक अस्तित्व समाप्त होना, निरपेक्ष अनुभूति हेतु आवश्यक है। उस अनुभूति के अन्तर्गत उनका इस तरह निग्रहीत होना, पुनः सज्जित किया जाना, और अतिक्रमण किया जाना आवश्यक होगा कि जिससे अन्य सम्बन्धों के बीच सम्बन्धों की एक अन्तहीन शृंखला का उनका स्वरूप नष्ट हो जाय।

सही तौर पर यह कैसे किया जाता है, यह बात हम अपने परिमिति स्थिति बिन्दु से बना सकने की जुर्रत नहीं कर सकते। प्रत्यक्षण विषयक 'असत्य प्रस्तुति' अथवा 'भ्रान्तिमय वर्तमान' से उदाहरण ग्रहण करना इस मामले में स्वाभाविक है क्योंकि इस प्रत्यक्षण में हमें ऐसे अनुक्रम की प्राप्ति होती है जो स्वयं भी सम्पाती होता

---

१. तुलना कीजिये प्रोफेसर रॉयस की 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल', सेकंड सीरीज के लेक्चर संख्या ३ में उल्लिखित टिप्पणी 'दि टेम्पोरल एण्ड दि इटर्नल', पृष्ठ १३४ से। अगर उस टिप्पणी का अनुशीलन करने का अवसर पाने से पहले ही यह अध्याय यदि न लिख लिया होता तो मुझे निश्चय ही प्रोफेसर रॉयस के विचार विमर्श के प्रति बहुत अधिक अनुग्रहीत होना स्वीकार करना पड़ता।

है। इसके अतिरिक्त विज्ञान अपने 'प्रकृति विषयक नियमों' को जो कालहीन और विशुद्ध तार्किक जामा पहनाना चाहता है उससे भी इस बात को सिद्ध करने के लिए उदाहरण ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं। किन्तु 'असत्य प्रस्तुति' में हमें एक ही पक्ष अर्थात् अनुक्रम अथवा संपातित्व पर ही ध्यान देना पड़ता है अन्य का हम परिहार कर देते हैं। संभवतः दोनों पक्षों को एक साथ और बराबरी से निर्धारित करने में हम कभी सफल नहीं होते अतः इससे समस्या का हल प्रस्तुत होने के बजाय समस्या ही हमारे सामने पेश हुआ करती है और फिर विधि या नियम विषयक अपने अर्थ विमर्श के बाद हम दावा नहीं कर सकते कि निरपेक्ष अनुभूति हेतु प्रकृति सामान्य नियमों की व्यवस्था है। इसलिये यही अच्छा मालूम देता है कि हम इन उदाहरणों का मूल्य जिस कीमत के वे हैं उससे अधिक न लगायें और उनके आधार पर काल के प्रपंचात्मक मात्र स्वरूप का अन्दाजा न लगायें। पुराने पंडित्यात्मक ब्रह्म विज्ञान की तरह तत्वमीमांसा को भी कभी यह याद दिलाने की जरूरत हुआ करती है कि ईश्वर के विचार हमारे जैसे नहीं और यह कि उसकी लीलाएँ बिलकुल ही सही मानों में दर्शनशास्त्र की जी तोड़ कोशिशों के बाद भी अब तक अविज्ञेय और अपरितर्क्य ही बनी हुई हैं।[1]

विशेष अनुशीलनार्थ देखिए :—एफ० एच० ब्रेडले, 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय ४ (स्पेस एण्ड टाइम्), १८ (टेम्पोरल एण्ड स्पेशियल अपीयरेन्स); एल० काबुरत कृत L' Infini Mathematique, Pt. 3, bk. iv, chap. 4. (कान्टियन अर्थ विप्रतिषेधों के विरुद्ध); एच० पोइन्कारे, LaScience et L' Hypothese, PP. 68-109; एच० लोत्से कृत, 'मेटाफिजिक', खंड २, अध्याय १–३; डब्ल्यू० ओस्टवाल्ड कृत Vorlesugen uber Natur philosophie, Lects. 5,8; जे० रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड द इण्डिविजुअल', सेकण्ड सीरीज, लेक्चर ३; बी० रसेल कृत 'फाउण्डेशन्स आफ ज्योमेट्री', इज पोजीशन इन स्पेस एण्ड टाइम एबसोल्यूट और रिलेटिव (माइन्ड, जुलाई १९०१), प्रिंसिपल्स आफ मैथेमेटिक्स, भाग ६, वाल्यूम १; एच० स्पेन्सर कृत, 'फर्स्ट प्रिंसिपल', भाग २, अध्याय ३।

१. **समग्र भौतिक व्यवस्था को निरपेक्ष अनुभूति की 'असत्य प्रस्तुति' मात्र मानकर किए गए इस समस्या के हल करने के प्रयत्न के विरुद्ध हम निवेदन कर सकते हैं कि 'असत्य प्रस्तुति' स्वयं भी हमारे लिए कोई ऐसी विवृति-बहुल है कि हम उसे सम्पाती रूप में ही ग्रहण कर पाते हैं किन्तु एक संगत व्यवस्था की प्रतिमूर्तिरूपिणी उसकी आन्तर एकता के भीतर तक हमारी पैठ नहीं होती। अतः निरपेक्ष अनुभूति की स्वयं अपनी संरचना सम्बन्धी आभ्यन्तरिक आशय के भीतर पैठनेवाली प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि के अस्तित्व विषयक विवृति के प्रति संपातिनी भिज्ञता मात्र रूप के विषय में पर्याप्ततया सोचा भी नहीं जा सकता। जब तक किसी अनुक्रम का निग्रह केवल संपातरूपेण ही होता रहेगा तब तक उसका आशय समझा न जा सकेगा।**

अध्याय ५

क्रम-विकास विषयक कुछ प्रतिबन्ध

१—क्रमविकास की कल्पना व्यष्ट वृद्धि रूपेण प्राकृतिक प्रक्रियाओं के व्याख्यान्तर का एक प्रयत्न। २—क्रम विकास का अर्थ है ऐसा परिवर्तन जो किसी ऐसे अन्त में परिणत हो जो उस प्रक्रिया का परिणाम हो और गुणात्मकतया नवीन हो। इस दृष्टि से यह कल्पना वैचारिक है। ३—क्रम विकास साध्यपरक होने के कारण मूलतः या तो प्रगति होता है अथवा अपकर्षण। यदि वह भ्रान्ति से अधिक और कुछ हो तो भौतिक व्यवस्था में वास्तविक उद्देश्य जरूर होंगे। और उद्देश्य तभी वास्तविक हो सकते हैं जबकि वे इन्द्रियज्ञानशील जीवों के ऐसे व्यक्तिनिष्ठ हित हों जो परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा वास्तविकी कृत हो सकें। ४—अतः सभी क्रम-विकास का किसी व्यष्ट व्यक्ति के भीतर घटित होना आवश्यक है। ५—इसके अतिरिक्त क्रम विकास का विषय किसी परिमित व्यष्ट को ही होना आवश्यक है, क्रम विकास को समग्र सत्ता या वास्तविकता का गुण धर्म बताने के सारे प्रयत्न अपरिमित या अनन्त प्रतिगामिता की ओर ले जाते हैं। ६—प्रगतिशील क्रम विकास और अपकर्षण के बीच के विभेद का 'लक्ष्यात्मक' आधार व्यष्टता की उच्चतर और निम्नतर मामलों के बीच के तत्त्वमीमांसीय विभेद में मौजूद है। ७—क्रम-विकासीय प्रक्रिया में पुराने व्यष्ट लुप्त हो जाते हैं और सद्य व्यष्ट उद्भूत होने लगते हैं। अतः क्रम विकास का मेल इस अभिमत के साथ नहीं बैठता जिसके अनुसार वास्तविकता या सत्ता अन्तिमेत्थतः स्वतन्त्र, सान्त या परिमित व्यष्टों के बाहुल्य से बनी मानी जाती है।

१—इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में हमने देखा था कि यह क्रम विकास अथवा क्रमानुसारीवर्धन अनुभवाश्रित विविध विज्ञानों द्वारा ग्रहीत रूप भौतिक क्रम-व्यवस्था की निर्मात्री प्रक्रियाओं का एक मूलभूत लक्षण है। यांत्रिकी अथवा यंत्रशास्त्रीय भौतिकी के प्रयोजनार्थ हमें प्रकृति के विकास का दृश्यं मानना आवश्यक नहीं। इन विज्ञानों के लिये इतना ही पर्याप्त है कि प्रकृति की कल्पना ऊर्जा के ऐसे संरूपणात्मक तथा रूपान्तरणात्मक परिवर्तनों की जो अनुक्रमात्मक नियमबद्ध एकरूपताओं द्वारा संयुक्त रहते हैं; एक विशाल भूलभुलैया के रूप में की जाय। लेकिन ज्यों ही हम प्रकृति को उन विज्ञानों के स्थिति बिन्दु से देखना प्रारम्भ करते हैं जो अपने

अनुसन्धान की लक्ष्य-वस्तुओं के स्थिति और मात्रा विषयक तथा गुणात्मक विभेदों को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं तब प्राकृतिक प्रक्रिया विषयक यह संकीर्णतया यांत्रिकतापरक कल्पना अपर्याप्त हो जाती है। गुणात्मक परिवर्तन कर देने वाले रूप में प्राकृतिक प्रक्रिया विषयक विचार के साथ ही हम भौतिक क्रम व्यवस्था को अनिवार्यतः ऐसी एक दुनिया निकालते हैं जिसमें गुणात्मकतया नवीन विचलन की नियत रेखाओं और निर्धारित प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही किसी पूर्व परिचित से उत्पपन्न होता अथवा उसी पूर्व परिचित में से विकसित हुआ करती है।

यह एक स्वाभाविक बात है कि भौतिक परिवर्तन को विकास के रूप में देखने का विचार सबसे पहले प्राणिशास्त्र अथवा जैव विज्ञान के क्षेत्र में ही, जहाँ जैव-वृद्धि की भूमिका पर्याप्त प्रमुखता प्राप्त किए हुए है जन्मा। ईसा के बहुत पहले चौथी शताब्दी के लगभग अरस्तू ने वृद्धि विषयक कल्पना अथवा विकास को कल्पना लोक के सारे इतिहास की तब तक की तत्त्वमीमांसीय संरचनाओं में सबसे अधिक प्रभावशाली तत्त्व-मीमांसीय योजना के आधार रूप में पेश किया था। किन्तु अरस्तू के अभिमत में विकास-प्रक्रिया व्यष्ट जीवन की सीमा रेखाओं तक ही प्रतिबद्ध मानी गयी थी। तद्नुसार व्यष्ट जैव शरीर का अस्तित्व एक अविकासित जीवाणु अथवा विभव के रूप में प्रारम्भ होकर शनैः शनैः वृद्धि की ऐसी आनुक्रमिक स्थितियों द्वारा अपने आपको इतना विकसित करता चला जाता है कि पूर्ण परिपाक की स्थिति पर ही उस प्रक्रिया की परिसमाप्ति होती है। किन्तु वह व्यष्ट जीवाणु स्वयं एक ऐसा उत्पाद अथवा सुख है जो उसी प्रकार के पहले से मौजूद, पूरी तरह परिपक्व व्यष्ट से जिस प्रकार के व्यष्ट में उस जीवाणु को अन्ततोगत्वा परिणत होना है, प्राप्त होता है। वृद्धि की विभिन्न उपलक्षक प्रक्रियाओं की संख्या इसी लिये सख्ती से निर्धारित रहती है और इस प्रकार की प्रत्येक प्रक्रिया में उसके पहले पूर्ण हुये परिणाम का अस्तित्व निहित पाया जाता है। दूसरे शब्दों में स्पीशीज़ अथवा जातियों की सीमाएँ निर्धारित या स्थिर और अन्तिम होती है। किसी स्पीशीज़ या जाति के वर्तमानता-काल में किसी अन्य नयी स्पीशीज़ का प्रारम्भ नहीं हो सकता और इसी लिये दूसरी शैली की स्पीशीज़ से विकसित होकर नयी स्पीशीज जन्म नहीं ले सकती। जैसी कि अरस्तू की सूक्ति है। 'मनुष्य मनुष्य से ही पैदा हुआ करता है।'

अरस्तू के सिद्धान्त में कमजोरी की एक और बात है वृद्धि की प्रक्रिया को कार्य रूप में परिणत करनेवाली मशीन के निश्चित विवरण का न होना। हमें यह जरूर पता लग जाता है कि जैव जीवाणु की किसी स्पष्ट श्रेणी विभागानुसार विकसित होने की उसमें अन्तर्हित क्षमता पर्यावरण में व्याप्त प्रभावों द्वारा उत्तेजित होने पर सक्रियता में परिणत हो जाया करती है। किन्तु इस उत्तेजन प्रक्रिया के सही स्वरूप

के वर्णन को अरस्तू ने इसलिये अन्धेरे में डाल रखा क्योंकि प्रकृति की सामान्य प्रक्रियाओं के सूक्ष्म लक्षणों का पूरा पूरा ज्ञान उसको न था।

आधुनिक जैव शास्त्र के विकासपरक सिद्धान्तों की एकान्त ध्यान-कर्षिका-समस्यायें नयी स्पीशीज़ को जन्माने तथा जन्माने की इस प्रक्रिया का निर्धारण करने वाले पर्यावरण और स्पीशीज़ के पारस्परिक सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूप की समस्यायें ही हैं। जैविक समस्याओं को हल करने में विकासवादी प्राक्कल्पनाओं की लगातार बढ़ती जाने वाली सफलता के साथ साथ विकास की सामान्य कल्पना का उसके जन्म के क्षेत्र से बाहर बहुत दूर तक उपयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। हमारे पास अब न केवल हमारे रासायनिक तत्वों के विकास-जात उत्पादनों की न्यूनाधिकतया प्रमाणीकृत प्राक्कल्पनाएँ ही जमा हो गयी हैं अपितु ऐसी महत्वाकांक्षापूर्ण दार्शनिक संरचनाएँ भी हमारे पास हैं जो विकासवादी कल्पना को ही अस्तित्व की सब समस्याओं की एक-मात्र कुंजी समझती है। विकास सम्बन्धी विचारों के ऐसे दूरगामी विनियोजनों के सामने होने पर हमारे लिये और भी ज्यादा जरूरी हो जाता है कि हम वैकासिक कल्पना की अर्हता आँकते समय ध्यान रखें कि उसकी विनियोज्यता क्षेत्र का विस्तार होने पर भी उसका तार्किक स्वरूप अपरिवर्तित ही रहता है। वह छोटे मोटे रूपान्तरणों के वावजूद भी मूलतः सामान्य भौतिक प्रक्रियाओं की व्यष्ट वृद्धि विषयक शब्दों में व्याख्या करने का एक प्रयत्न अब भी बनी हुई है।

मौजूदा अध्याय में निःसंदेह जैव विकास या अन्य किसी प्रकार के विकास की प्रगति के निर्धारक विशिष्ट प्रतिबन्धों से सम्बद्ध किसी खास सिद्धान्त से हमारा कोई सरोकार नहीं है। किसी खास मामले में वे प्रतिबन्ध क्या हैं यह प्रश्न सबसे पहले अनुभवाश्रित विज्ञानों की उस विशिष्ट शाखा के सामने आता है जो भौतिक जग-द्विषयक अनुसन्धानान्तर्गत प्रक्रियाओं के किसी विशेष पक्ष के वर्णन से सरोकार रखती है। और यद्यपि इस बात की पृच्छा कि किसी सुप्रतिष्ठित वैज्ञानिक सिद्धान्त की विवृ-तियों की ऐसी व्याख्या कैसे की जाय कि वे भौतिक जगत् सम्बन्धी सामान्य तत्वमीमां-सीय निगूढार्थों के साथ मेल खा जाँय। प्रकृति-परक किसी भी पूर्ण दर्शनशास्त्र के लिये एक उपयुक्त पृच्छा होगी। किन्तु विकासीय प्रक्रियाओं से सम्बद्ध विवृतियों के बारे में हमारे वास्तविक ज्ञान की वर्तमान स्थिति में, अनेक कारणवश इस प्रकार का प्रश्न उठाना समय-पूर्व होगा। अभी तो इतना ही किया जा सकता है कि हम पूछें कि किसी प्रक्रिया को विकास समझने के तर्कपूर्ण निगूढार्थ आमतौर पर क्या होते हैं और वे त्रिगूढार्थ भौतिक जगत् की सामान्य व्याख्या से किस प्रकार से सम्बद्ध होते हैं।

२—ऊपरी तौर से देखने पर ही विकास में, पहले ही अच्छी तरह समालोचित दोनों कल्पनाएँ अन्तर्ग्रस्त दिखाई देती हैं यानी परिवर्तन विषयक कल्पना और परिवर्तन

क्रम तथा उसके दिंनिर्देश का निर्धारित प्रतिबन्धों पर निर्भरता की कल्पना, दोनों ही। उदाहरण के लिए संरूपण तथा ऊर्ज्जा-विनिमयन विषयक परिवर्तनों को ही ले लीजिए। ये परिवर्तन तब होते हैं जब किसी ऐसी भौतिक व्यवस्था से काम किया जाता है जिसे ऐसे गतिमान् द्रव्य मानों द्वारा बना कल्पित किया गया हो जिनमें द्वितीयक गुण का लेश-मात्र भी न हो। ऐसे परिवर्तन सही मानों में विकास की प्रक्रिया नहीं कहे जा सकते। वे न उत्क्रान्ति ही हैं न विकास क्योंकि जब तक हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं के प्रति गत्यात्मक दृष्टि अपनाए रखने पर दृढ़ रहते हैं और इन प्रक्रियाओं को द्रव्य-कणों की व्यवस्थाओं का संरूप परिवर्तन मात्र करनेवाली मानते रहते हैं तब तक प्रक्रिया का अन्त उसके प्रारम्भ से गुणात्कतया अविभेद्य ही रहता है। क्योंकि उसके परिणामस्वरूप गुणात्मक नवीन कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। अधिक सही तौर पर कहा जाय तो कह सकते हैं कि प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है न उसकी कोई अपनी एकता है। अपने विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठ हितों के कारण अपनी दृष्टि को एकदम मनमाने तौर पर सीमित करके ही हम द्रव्य कणों के इतने से ही संग्रह को, इसी तरह के उन कणों जिनसे यह गत्यात्मक स्थिति-बिन्दु-दृश्ट भौतिक जगत् निर्मित है, के बृहत्तर समुच्चय से पृथक् करके, एक व्यवस्था के नाम से पुकारते हैं। और फिर ऐसी ही मनमानी करके हम उस काल-बिन्दु का निर्धारण कर डालते हैं जिसके परे काल व्यवस्था के संरूपणात्मक परिवर्तनों का अनुसरण करने में हम असमर्थ हो जाँयगे। अनुवर्ती संरूपणों की अनन्तरूपेण प्रलम्बीकृत शृंखला में ऐसी कोई स्थिति नहीं होती जिसे सही तौर पर अन्तिम काल कहा जा सके। अतः बल गतिशास्त्र और शुद्धगतिशास्त्र—विषयक विशुद्ध यान्त्रिक दृष्टिबिन्दु के अनुसार विश्व में न तो कोई उत्क्रान्तियाँ ही होती हैं न विकास होते हैं अपितु लगातार परिवर्तन ही उसका एकमात्र नियम है।

तब विकास अथवा उत्क्रान्ति का अर्थ निश्चय ही परिवर्तन प्रक्रिया का, ऐसी वस्तुस्थिति की स्थापना में परिणत होना है जो उपेक्षतया नवीन हो। इसके अतिरिक्त उसका अर्थ यह भी है कि इस अपेक्षतया नवीन स्थिति को, सचमुच, इस विशिष्ट परिवर्तन -प्रक्रिया का अन्त अथवा उसकी पूर्ति समझा जाय। इस प्रकारण उत्क्रान्ति विषयक अथवा विकास विषयक सभी विचारों की मौलिक विचित्रता यही है कि वे साररूपेण साध्यपरक होते हैं। जो परिवर्तन उत्क्रान्तिमय अथवा विकास विषयक होते हैं वे ऐसे परिवर्तन होते हैं जिन्हें लगातार किसी उद्देश्य अथवा परिणाम का सापेक्षी समझा जाता है। परिवर्तन की प्रक्रिया को इस माने के सिवाय कि वह उपर्युक्त प्रकार से उस अन्त या परिणाम की सापेक्ष होती है जिसमें परिणत होना है, विकास के माने पिरोना कोई माने नहीं रखता। यह बात हम उस तरीके पर ध्यान देकर भी देख सकते हैं, जिस तरीके से कि भौतिकी के विभिन्न खंडों में उत्क्रान्ति और विकास की कल्पनाओं का

उपयोग किया जाता है। कभी कभी किसी रासायनिक प्रक्रिया को हम ऊष्मा की 'उत्क्रान्ति' से चिह्नित कहा करते हैं, इसी तरह हम यह भी कहा करते हैं कि अगर ऊष्मागतिकी का दूसरा नियम यदि पूरी तरह और सार्वत्रिक रूप से सही हो तो इस भौतिक विश्व को उत्क्रान्ति या, विकास प्रक्रिया की एक ऐसी स्थिति के उन्मुख होना चाहिए जहाँ इसकी रत्ती भर ऊर्ज्जा तक हमें काम के लिए उपलब्ध न हो सकेगी। लेकिन इस तरह की बात का कोई मतलब हमारे लिए तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम सामान्य-बुद्धिगम्य वह दृष्टिकोण अपनाए चले जाते हैं जिसके अनुसार अमूर्त्त यान्त्रिकी द्वारा समतुल्य बताए जाने वाले 'ऊर्ज्जा' के रूपों में भी वास्तविक गुणात्मक विभेद पा जाते हैं।

ऊष्मा की उत्क्रान्ति अथवा विकास की बात हम इसलिए कह पाते हैं चूँकि जाने या अनजाने हम ऊष्मा को ठीक वैसा ही समझते हैं जैसी कि वह हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होती है, यानी ऐसी कोई चीज जो गुणात्मकतया नयी और ऊर्ज्जा के उन अन्य रूपों से भिन्न, जो रूप कि रासायनिक प्रक्रिया द्वारा ऊष्मा में परिवर्तित हो जाते हैं। इस तरह हम ऊर्ज्जा के एक रूप के दूसरे रूप में क्रमिक संपरिवर्तन को तभी तक बुद्धिगम्य-तया विकास कह सकते हैं जब तक कि हम ऊर्ज्जा के विविध रूपों को गुणात्मकतया विभिन्न मानते हैं और इसीलिए एक के दूसरे में पूर्ण रूपान्तरण को ऐसी प्रक्रिया का, जो अपनी पूर्ण स्थापना के साथ ही इसी कारण समाप्त हो जाती है, गुणात्मकतया नया परिणाम समझते रहने के हम अधिकारी भी हैं। गुणात्मकतया नवीन की ही स्थापना लक्ष्य अथवा परिणाम का वास्तविक निरूपण कर सकती है और उसके ऐसा करने से ही भौतिक जगत् के परिवर्तनों को विकास की स्पष्ट और विशिष्ट प्रक्रियाएँ मान लेने का तर्कसंगत आधार हमें प्राप्त होता है।

३—विकास के सारभूत इस साध्यपरक स्वरूप पर जोर देने के लिए जैव विज्ञान निरन्तर प्रगति और अपकर्षण नामक संकल्पनाओं का उपयोग किया करते हैं। जैवशास्त्रानुसार विकास या उत्क्रान्ति की प्रक्रिया आवश्यकरूपेण या तो प्रगति दिशा गामिनी होती है अथवा अपगत्युन्मुख। प्रत्येक उत्क्रान्ति या तो विकास की उच्चतर स्थिति की ओर बढ़ती है अथवा उसके निम्नतर स्तर पर आ गिरती है। अब ये प्रगति और अवनतियाँ तभी संभव होती है जब परिवर्तन की प्रक्रिया को आदि से अन्त तक उस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त उद्देश्य का सापेक्ष माना जाय। प्रगति को अपकर्षण से पृथक् करने के मानक का काम हमारे लिए करनेवाले इस उद्देश्य की कल्पना हम सही तौर पर कैसे किया करते हैं यह प्रश्न एक गौण प्रश्न है। मौलिक महत्व की बात तो यह है, कि इस लक्ष्य के संदर्भ के सिवाय, प्रगत्यात्मक और अवगत्यात्मक परिवर्तन में किसी प्रकार का कोई विभेद बिलकुल हो ही नहीं सकता। अतः, भौतिक जगत् में वस्तुतः ऐसे

उद्देश्य या लक्ष्य यदि नहीं हैं जो परिवर्तन की उन प्रक्रियाओं का निर्धारण करते हैं जिनकी परिणति उन उद्देश्यों की स्थापना में होती है, तो प्रगत्यात्मक और अवगत्यात्मक परिवर्तन में कोई भेद नहीं हो सकता। यदि वे उद्देश्य जिनकी स्थापना से हम विकास की प्रगति का अनुमान लगाया करते हैं, हमारे ऐसे मनमाने मानक मात्र ही हों वाह्य वास्तविकता में जिनका कोई समरूप मिलता ही न हो तो उस हालत में भौतिक जगत् को जरूर ही ऐसे परिवर्तन का अनुक्रम मात्र होना चाहिए जो सही मानों में विकास न होंगे, और प्रकृतिविषयक विकासांकित सारी कल्पना तब एक भ्रान्तिमात्र ही होगी। और इसके विपरीत यदि विकास विषयक समस्त महान् वैज्ञानिक कल्पनाओं में जरा सी भी सचाई है तो भौतिक जगत् में वास्तविक उद्देश्यों या तथ्यों का मौजूद होना जरूरी है।

अब केवल एक ही बोधगम्य तरीका बाकी रह गया है जिसके अनुसार हम परिवर्तन की किसी प्रक्रिया को किसी लक्ष्य का वस्तुतः अपेक्षी सोच सकते हैं। जिस परिणामी स्थिति को हम किसी प्रक्रिया का लक्ष्य कहते हैं वह उस विशिष्ट प्रक्रिया के पूर्ण होने की अन्तिम स्थिति होने के कारण उसके बाद वाली सब बातों पर विकास की नयी प्रक्रिया से सम्बद्ध होने का चिह्न लगा देने का सामर्थ्य हमें दे देती है। अतः इस स्थिति को अन्ततोगत्वा उस प्रक्रिया का अन्त या लक्ष्य इस माने में जरूर ही होना चाहिए कि वह सारी प्रक्रिया में अन्तर्निहित हित या प्रयोजन की संज्ञानात्मक पूर्ति है। कोई वस्तु-स्थिति जिस हद तक किसी ज्ञानवान जीव के लिए, उसकी अनुभूति की किसी पूर्ववर्तिनी स्थिति में पहले ही से व्यक्त आत्मनिष्ठ हित की प्राप्ति रूप होती है उस हद तक ही वह वस्तु-स्थिति उस प्रक्रिया की वास्तविक परिणति हुआ करती है जिसे अन्य प्रक्रियाओं से पृथक् किया जा सकता है। उस पर स्वयं अपनी व्यष्टता की छाप इस कारण अलग ही दिखायी पड़ती है क्योंकि वह सही तौर पर इसी परिणाम में परिवर्तित हो जाती है। अन्त, लक्ष्य अथवा परिणाम की कल्पनाएँ तथा आत्मनिष्ठ हित की कल्पनाएँ तार्किकतया एक दूसरे से पृथक् नहीं होती। अतः हमें मजबूर होकर नतीजा सा निकालना पड़ता है कि चूँकि विकास तब तक एक वेमानी शब्द रहता है जब तक कि भौतिक प्रकृति की प्रक्रियाओं में अन्तर्हित, वास्ता असली न कि मनमानी तौर पर थोपे गए लक्ष्य वहाँ न हों। भौतिक व्यवस्था के लाक्षणिक रूप में विकास की कल्पना में उस व्यवस्था सम्बन्धी तत्वमीमांसीय व्याख्या अन्तर्ग्रथित रहती है, यानी तत्त्वमीमांसानुसारी यह मत उसमें शामिल रहता है कि भौतिक व्यवस्था ज्ञानवान् जीवों के उद्देश्य-परक कृत्य विशेषों से निर्मित होती है। इस व्याख्या को हम सामान्यतर आधारों पर पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। अन्त शब्द के दोनों ही अर्थों, अन्तिम स्थिति और 'लक्ष्य की प्राप्ति' में विभेद करके उपर्युक्त परिणाम से बच निकलने की कोशिश करना बेकार होगा। क्योंकि उपर्युक्त तर्कना का सारा ही आधार यह था कि पहले अर्थों में कुछ भी 'अन्त' शब्द वाच्य तब तक नहीं हो

सकता जब तक कि वह दूसरी अभिधा वाच्य अन्त भी न हो। जब तक कि प्रक्रियाओं के ऐसे अन्त नहीं होते जो उनकी आत्मनिष्ठ पूर्ति नहीं है तब तत् हम अपनी स्वेच्छ प्रथा द्वारा उनमें ऐसे अन्तों का आरोपण करते रहते हैं जो उनकी अन्तिम स्थितियाँ होते हैं। और अगर भौतिक प्रक्रियाओं के अन्त एतदर्थीय होना एक मनमानी परिपाटी है तो विकास या सत्क्रान्ति स्वयं भी ठीक इसी तरह की परिपाटी मात्र है इससे अधिक और कुछ भी नहीं।[१]

४—सिद्धान्ततः इसी तर्कना को दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है और दोनों ही रूपों की समतुल्यता स्वयं तत्त्वमीमांसीय दृष्टि बिन्दु से बड़ी सुझावपूर्ण है। सब तरह के परिवर्तन की तरह ही उत्क्रान्ति या विकास में भी उसकी किसी प्रक्रिया की सभी आनुक्रमिक स्थितियों में किसी ऐसी वस्तु की उपस्थिति शामिल रहती है जो स्थायी और अपरिवर्ती हो। लेकिन उसमें उससे भी अधिक निश्चयात्मक और कुछ भी शामिल रहता है जो कुछ भी विकसित हुआ करता है उसका अपना स्वरूप इसी लिये ऐसा स्थायी और व्यष्ट होना आवश्यक होता कि जिसकी विकास प्रक्रियागत अनुवर्तिनी स्थितियाँ, उसका श्रेणिक अनावरण होती है। जब तक कि परिवर्तन की सम्बद्ध श्रृंखला की

१. ऐतराज हो सकता है कि उदाहरणतः जीवन की अन्तिम स्थिति रूप में मृत्यु जीवन का अन्त है लेकिन वह उन हितों की सम्प्राप्ति हुए बिना ही उसका अन्त है, जो हित उसके आन्तरजीवन के निर्मायक थे। लेकिन यह उदाहरण तर्क के सामने ठहर न सकेगा। जैव रचनान्तर्गत परिवर्तन की प्रक्रियायें सम्बन्द्ध अथवा परस्पर संयुक्त परिवर्तन के रूप में देखी जाँय तो मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं होती। तथ्यतः उनका अन्त नहीं होता अथवा उनकी अन्तिम स्थिति नहीं आती। किसी व्यक्ति को मरा कहने से उसके अन्त का अर्थ इतना ही होता है कि जिन प्रयोजनों की खातिर हम उस व्यक्ति के चरित्र के अध्ययन में रुचि रख रहे हैं वे तब पूरे होंगे जब हम उस चरित्र का उसके जन्म से कब्र तक अनुसरण कर चुकेंगे। उससे हमारा सरोकार उसकी मौत के साथ खत्म हो जाता है क्योंकि हमारा काम उसकी बाबत खत्म हो चुकता है। केवल उद्देश्यपरक प्रक्रियाओं की ही अन्तिम स्थिति हो सकती है। विकासार्थिक सार्थकतार्थ अन्त शब्द की कल्पना के परिणाम के विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ प्रकृति की प्रक्रियाओं की शुद्ध यान्त्रिकीपरक व्याख्या हमें उन प्रक्रियाओं को सतत श्रृंखला रूप समझने की ओर से ले जाती है वहाँ अनुवर्ती जैव अथवा सामाजिक शैली की श्रृंखला साररूपेण सातत्यहीन होती है। यह तथ्य प्रोफेसर रॉयस ने बहुत स्पष्टतापूर्वक अपने ग्रन्थ 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इंडिविजुअल', सेकंड सीरीज, ले० ५,७ में प्रकट किया है।

पूर्वतर और पश्चातर स्थितियाँ आसपड़ोस के प्रभावों के अन्तर्गत किसी एकल व्यष्ट प्रकृति के, श्रेणिक अनावरण की ही स्थितियाँ ही इसी तरह पर न हों तब तक उन्हें विकासीय प्रक्रिया की स्थितियाँ कहने के कोई माने नहीं होते। अगर हम अपने शब्दों को सही अर्थ दे सकते हों तो कहना होगा कि केवल व्यष्ट ही विकसित हो सकता है। हम किसी समाज के अथवा किसी स्पीशीज या जाति के विकास की बात करते हैं लेकिन हमारे शब्दों को अगर थोथा ही नहीं रहना है तो ऐसा कहने का हमारा मतलब जरूर ही दो बातों में से एक का होना चाहिए। या तो हमारा मतलब यह होना चाहिए कि विकसित होने वाली स्पीशीज या समाज स्वयं उच्च कोटि के ऐसे व्यष्ट हैं जो उन स्पीशीज या समाजों के निर्माणक अंगों से किसी तरह भी कम वास्तविक नहीं हैं अथवा हमारे शब्द यह कहने की एक विधि हैं कि किसी भी सामाजिक या जैव शास्त्रीय समुदाय के प्रत्येक सदस्य या अंग का जीवन विकास का द्योतक होता है।

अपनी बेलगाम बातचीत के दौरान आप पड़ने वाले उन शब्दों का जो हम अमुक शारीरिक अथवा सामाजिक गुण-वैचित्र्य को 'वंशानुगतिक' रूप में प्राप्त करने के विषय में प्रयुक्त करते हैं क्या मतलब निकलता है इस बात पर जब हम विचार करेंगे तो पता चलेगा कि उपर्युक्त विकल्पों में से पहला विकल्प विचार की सामान्य विधि से कहीं कमतर दूर है यद्यपि पहले पहल देखने से शायद ऐसा नहीं लगता। यदि हमारे 'वंशानुगमन' विषयक प्रचलित रूपक के अनुरूप किसी प्रकार की कोई वास्तविकता हो भी तो यह 'वंशानुगमन' जिस किसी समूह में भी होगा वह अवश्य ही अन्योन्य-व्यपवर्जक व्यष्टों का झुंड मात्र से बात अधिक कुछ होगा। ऐसे समूह के जिसके अन्तर्गत गुणों का इस प्रकार का वंशानुगमन हो सकता है, समग्र रूप का अपना एक विशिष्ट स्वभाव होना आवश्यक है। किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं सकल व्यष्टता अन्ततोगत्वा साध्यपरक होती है। प्रक्रियाओं का कोई समूह व्यष्ट जीवन का निर्माण उसी मात्रा तक कर सकता है जहाँ तक वह प्रक्रिया समूह किसी अनन्य और संगत हित अथवा लक्ष्य का द्योतक हो, इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता। अतः एक बार फिर कह सकते हैं कि उसका ही विकास और उसकी ही उत्क्रान्ति हुआ करती है जो सही तौर पर व्यष्ट होता है। और तुरन्त ही हमें मालूम हो जाता है कि ठीक जहाँ तक प्रक्रियाओं का कोई कुलक व्यष्ट हित का द्योतक होता है वहाँ तक उस कुलक की अगली और पिछली प्रक्रियाओं से पृथक्ता के सीमांकन की सार्थकता प्रथात्मक सार्थकता से अधिक हुआ करती है। अतः उन प्रक्रियाओं के ही वे व्यष्ट हितों की व्यंजक होती है, 'अन्त' अथवा 'अन्तिम स्थितियाँ' हुआ करती हैं और इस प्रकार हमारी तर्कना के दोनों रूप सिद्धान्त एक से ही हैं। तब एक बार फिर दोहरा दें कि विकासात्मक विचारों की सार्थकता यदि उन विचारों को ऐसी शुद्ध रस्मी या प्रथात्मक योजना से अधिक और कुछ बनना है, जिसका जोड़ तोड़ ही

हमारे व्यावहारिक प्रयोजनों को आगे बढ़ाने के लिए बैठाया और यदि उन्हें श्रेणी-निर्धारण के सहायक मात्र नहीं रहना है तो, वह सार्थकता इस अभिमत से जड़ी रहती है कि भौतिक जगत् की घटनाएँ अनुभूति के ज्ञानवान् विषयों के आत्मनिष्ठ हितों की वास्तविक अभिव्यक्ति ही होती है।[1]

५—आइये अब अत्यन्त महत्वपूर्ण एक अन्य विचार विन्दु की ओर बढ़ें। विकास का मतलब न केवल विकास विषयक प्रक्रिया के विषय में व्यष्टता की समुपस्थिति ही है

---

१. मुझे पाठकों को इस बारे में याद दिलाने की जरूरत शायद ही पड़े कि उपर्युक्त अभिमत तथा 'प्रकृति विषयक अन्तों' सम्बन्धी उस अभिमत का विभेद जैसाकि वह पुरानी तरह की 'अभिकल्प तर्कना' में प्रकट होता है, क्या है। पुराने ढर्रे के उद्देश्यवाद में यह मान लिया जाता था कि (१) विकासविषयक प्रक्रिया में व्यक्त होने वाले 'आत्मनिष्ठ हित' मूलरूप से मानवीय हित होते हैं। उसके मतानुसार हम उन हितों को पहचान सकते हैं और यह कि उन दिनों हितों का निचोड़ अथवा अधिकांशतः योग हमारी अपनी मानवीय सुविधा को आगे बढ़ाने के 'अभिकल्प' में निहित होता है। (२) यह कि ये हित प्रकृति के नियामक के अवतारी स्वरूप के वैचारिक अभिकल्प रूप में वर्तमान रहते हैं। हमारा मत इन दोनों ही पूर्वानुमानों से संगति नहीं खाता। भौतिक जगत् हमारी सकल व्याख्या से यही परिणाम निकलता है कि हमारे अपने शरीरों तथा हमारे सजातीयों के शरीरों द्वारा निर्मित हित के अतिरिक्त परिमित व्यष्टों का इस तरह का व्यक्तिनिष्ठ हित और क्या है जो भौतिक जगत् के किसी भाग द्वारा सिद्ध होता है, यह बात न हो तो हम जानते ही हैं न जान सकते हैं इसलिए हमें कोई अधिकार नहीं कि हम विकास के परिणामी अन्त की मनमानी कल्पना कर बैठें। फिर भी यह भी जरूरी नहीं कि व्यक्तिनिष्ठाहित निश्चित रूप से पूर्वकल्पित अभिकल्प के रूप में ही मौजूद रहें, स्वयं हमारे ही बहुत से हित अविचारित लालसाओं और आवेगों के रूप में रहा करते हैं। मेरा विश्वास है कि तत्त्वमीमांसा के पास ऐसा कोई साधन नहीं कि जिसके द्वारा वह तय कर सके कि विकास-विषयक प्रक्रिया का क्या ऐसा कोई भाग है जो अतिमानव बुद्धि के विमृष्ट और वैचारिक अभिकल्प का परिणाम हो। इस प्रश्न का उत्तर देना उन्हीं अनुभवाश्रित विधियों का काम होगा जिनका उपयोग हम मानवीय कला के उत्पादों में अभिकल्पों की उपस्थिति को पहचानने के लिए किया करते हैं। हर हालत में वैचारिक अभिकल्पकालीय प्रक्रिया के साथ नत्थी है और इसी लिए उसका संबंध अपरिमित व्यष्ट के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

अपितु उसका मतलब परिमित व्यष्टता का स्वामी होना भी है अपरिमित व्यष्ट में विकास अथवा उत्क्रान्ति का अध्याहार बदतो-ब्याघात दोष बिना संभव नहीं। अतः अस्तित्व के उस अनन्त या अपरिमित व्यष्ट समग्र को निरपेक्ष, विश्व अथवा जो कुछ भी अन्य नाम देना हम पसन्द करें, वह न तो विकसित हो सकता है, न प्रगति कर सकता, न अपकृष्ट ही हो सकता है। निष्कर्ष पर तो इस एक ही प्रतिबन्ध पर विचार करने से तुरन्त ही पहुँचा जा सकता था, वह यह कि सभी उत्क्रान्ति में कालीय अनुवर्तन शामिल रहता है, भले ही वह उत्क्रान्ति प्रगत्यात्मक हो अथवा अवगत्यात्मक, क्योंकि जैसाकि हम देख चुके हैं कालीय अनुवर्तन परिमित व्यष्टता का अपरिवियोज्य परिणाम होता है। किन्तु एक दूसरे तरीके से अपने इस परिणाम पर पहुँचना भी उतना ही उचित होगा अर्थात् विकास विषयक विचार की उन अन्य विवक्षाओं पर विचार करके, जो केवल परिमित व्यष्टता के ही मामले में स्पष्टरूपेण पायी जाती है।

विकास या उत्क्रान्ति की प्रत्येक प्रक्रिया में अन्योन्य सम्बद्ध कारकों का युग्म अन्तर्ग्रस्त रहता है उनमें से एक है विकसित होने वाली व्यष्ट प्रकृति और दूसरा है वह पर्यावरण जिसमें वे परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत और वे उत्तेजक जिनके अनुकूल वह प्रकृति विकसित होती है, दोनों ही मौजूद रहते हैं। अविकसित अंकुर तब तक एक संभावना मात्र ही रहता है ऐसी चीज जो आगे चल कर उन गुणों को प्रदर्शित करेगी जो उसमें तब तक मौजूद नहीं होते। उस अविकसित दशा में, उसमें जो कुछ मौजूद रहता है वह उसकी आगामिनी स्थितियों के लाक्षणिक गुण नहीं होते अपितु उन गुणों को व्यक्त करने की ऐसी 'प्रवृत्तियाँ' अथवा 'मनोभावनाएँ' ही होती हैं जो उसी दशा में काम करती हैं जब पर्यावरण उपयुक्त उत्तेजक प्रस्तुत करें। अतः विकास के अन्योन्य-सम्बद्ध दोनों ही कारकों में से कोई भी एक कारक, व्यष्ट अथवा पर्यावरण मौजूद न हो तो उत्क्रान्ति न हो सकेगी। अस्तित्व के व्यष्ट समग्र के बाहर ऐसा कोई पर्यावरण नहीं होता जो विकास की स्थितियाँ प्रस्तुत करें और परिवर्तनार्थ प्रोत्साहन। अथवा यह जो कि वही बात है, चूँकि 'संभव' का अर्थ है वह जो आगे होगा यदि कुछ निश्चित शर्तें पूरी हो जायँ। अनन्त या अपरिमित समग्र के संप्राप्त अस्तित्व के बाहर असंप्राप्त संभाव्यता का कोई क्षेत्र नहीं होता। अतः अपरिमित समग्र में कोई विकास नहीं होता। क्रमिक रूप में वह अपने आपको अस्तित्व की नयी स्थितियों के अनुकूल नहीं बना सकता। वह जैसा 'विचार' रूप में होता है वैसा ही उसे तुरन्त वास्तविक रूप में या सद्रूप में भी बन जाना होता है। अतः अपरिमित समग्र न तो आगे की ओर ही उत्क्रान्त होता है न पीछे की ओर। उसका न तो अग्रगामी विकास होता है न अवगामी।

सत् या वास्तविकता के समग्र को विकास गुणोपेत कह सकने की असंभाव्यता

उस गतिरोध पर जो तब हमारे सामने आ जाता है जब हम व्यवहार काल में सारे ही विश्व को विकास या उत्क्रान्ति प्रक्रियान्तर्गत समझने की कोशिश करते हैं, विचार करने से और भी अधिक स्पष्टरूपेण उदाहृत हो जाती है। विकासान्तर्गत अथवा विकास की विषयवस्तु और उसके पर्यावरण का विभेद की प्रस्तुति के सम्मुख जब तक आप रहते हैं तब तक तर्क आपको मजबूर करता है कि, अगर आप प्रत्येक वस्तु को विकास द्वारा उत्पन्न मानते हैं, तो प्रत्येक विकासवादी सिद्धान्त के सम्पूरणार्थ विकास विषयक नयी समस्याएँ खड़ी किया करें। किसी विशिष्ट विकास विषय के कारणीकरणार्थ (उदाहरणार्थ कशेरुक दण्डिकाओं के विकास के) आपको ऐसे पर्यावरण का अस्तित्व मान लेना होता है जिसके अपने निर्धारित गुण होते हैं और जो विचाराधीन उत्क्रान्ति या विकास को इन गुणों के परिणाम स्वरूप किसी निर्धारित तरीके पर प्रभावित करे। किन्तु अगर सभी चीजें उत्क्रान्त हुई होतीं या विकसित हुई होतीं तो आपको फिर सवाल करना पड़ता कि उपर्युक्त पर्यावरण जैसा इस समय है वैसा विकास की किस प्रक्रिया द्वारा बना। और इस समस्या को हल करने के लिए एक बार फिर आपको एक अन्य 'पर्यावरण' अभिकल्पित करना पड़ता जो पहले वाले पर्यावरण के गतिक्रम का अन्योन्य कार्य द्वारा निर्धारण करता। और इस प्रकार आपको अनन्त प्रतिगामिता का ही आसरा लेना पड़ता।

जब तक कि आप साहसपूर्वक यह दावा करने को तैयार न हों कि चूँकि सारे ही विशेषित गुण धर्मविकास के उत्पाद होते हैं इसलिए यह विश्व समग्ररूपेण शून्य से विकसित हुआ है। (इस भूलभुलैया से आपका छुटकारा तब भी न हो सकेगा अगर आप 'विकासीय चक्र' अथवा 'कालिक ताल' के उस अतिप्राचीन विचार की सहायता लें जिसके कारण अपनी बारी पर किसी विकासीय प्रक्रिया का उत्पाद स्वयं अपनी पूर्ववर्तिनी स्थितियों के पुनरावर्तन के पर्यवरण का काम देता है, तब अ विकास द्वारा ब में परिवर्तित होगा और ब फिर पलट कर अ बन जाया करेगा। क्योंकि तब कम से कम इतना तो आपको मानना ही पड़ेगा कि यह कालीय ताल विषयक प्रवृत्ति स्वयं सारे ही अस्तित्व का चरम गुणधर्म है और यह कि वह किसी अन्य वस्तु के विकास का परिणाम नहीं हैं)। विकासीय कल्पना को समग्र सत् अथवा वास्तविकता के विषय में विनियोग करने के प्रयत्न से उत्पन्न हुई यह पहेली इतना तो सिद्ध कर देने के लिए पर्याप्त है कि विकास, समग्ररूपेण विकसित न होने वाली व्यवस्था की अन्तर्वर्तिनी प्रक्रियाओं के लक्षण के रूप में ही विचार्य हो सकता है।

इसी तर्कना को निम्नलिखित रूप में भी दुहराया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के विकास का मतलब होता है किसी अन्त अथवा लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। लेकिन वही जो अपने अन्त अथवा लक्ष्य का पूरी तरह स्वामी नहीं है उस अन्त की प्राप्ति के

लिए अग्रसर हुआ करता है। उसके लिए, जो उतना सब कुछ पहले ही से है जितना कि वह अपने स्वभावानुसार ज्यादा से ज्यादा हो सकता है किसी प्रकार की अग्रेसरता होती ही नहीं अतः उसमें कोई प्रगामी विकास भी नहीं होता। न इस तरह का पूर्ण व्यष्ट अपकर्षित ही हो सकता है। क्योंकि अपकर्षण में भी, जो वस्तु अपकर्षित होती है वह शनैः शनैः स्वयं अपने स्वभाव के किसी ऐसे कारक या लक्षण को जो पहले केवल एक अप्राप्त या असिद्ध संभावना मात्र था प्राप्त कर रही होती है। इस प्रकार अपकर्षण में भी किसी लक्ष्य अन्त अथवा हित की संसिद्धि अन्तर्हित रहती है और वह भी एक प्रकार की प्रगति ही होती है। जैसा कि जीवशास्त्रज्ञों का कहना है कि किसी अंग का अपक्षय, जिसे हम अपकर्षण नाम से पुकारते हैं, शरीर तंत्र द्वारा जीवन की नयी परिस्थितियों के प्रति अपने आपको धीरे धीरे अनुकूल बनाने का एक पग मात्र ही है और जैसाकि नीतिज्ञ हमें स्मरण दिलाना चाहते हैं नैतिक क्षेत्र में 'पतन' अपने तौर पर ऊँचे की ओर वाला कदम होता है। अतः जो कुछ अस्तित्व की सीढ़ी पर ऊँचा नहीं चढ़ पाता वह नीचे की ओर भी गिर नहीं सकता।

६—अतः उत्क्रान्ति परिमित व्यष्टों के जीवन का एक अवियोज्य लक्षण है और वह केवल परिमित व्यष्टों के जीवन का ही लक्षण है। और इस विचार द्वारा हमें, विकास की प्रगामी और अवगामी दिशाओं के विभेद की उस तत्वमीमांसीय व्याख्या की कुंजी मिल जाती है जो विकास विषयक सिद्धान्त के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। बड़ी हद तक, निश्चय ही, यह एक रस्मी सी बात है कि किसे हम प्रगति समझें और किसे अवगति। जहाँ तक किसी लक्ष्य अथवा परिणामी निष्कर्ष की प्राप्ति में हमारी विशेष रुचि रहती है वहाँ तक हम उस परिणाम या निष्कर्ष तक पहुँचा देने वाली विकास रेखा को प्रगामिनी कहा करते हैं और जो रेखा उस परिणाम के अनुवर्ती विनाश की ओर ले जाती है उसे अपकर्षण नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार एक ही विकास को अध्येय हितों के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार प्रगति या अवगति रूप में देखा जा सकता है। जैसे उदाहरण के लिए कशेरू की संरचना के उन आनुक्रमिक रूपान्तरणों को जो मानवीय अस्थि-पंजर की उत्पत्ति में परिणत हुए हैं, स्वभावतः ही प्रगामी इसलिए समझा जा सकता है क्योंकि मानव के बुद्धिपरक जीवन और चरित्रविषयक हमारी अभिरुचि विकास के प्रवाहान्तर्गत पूर्ववर्ती उसके रूपों की अपेक्षा हम मानवीय रूप को श्रेष्ठतर समझा करते हैं। साथ ही साथ उपर्युक्त रूपान्तरणों में से बहुतेरे रूपान्तर पूर्वाविकसित लक्षणों के क्रमिक विलोप द्वारा प्रस्तुत हुए होते हैं और इसी लिए शरीरशास्त्र के विद्यार्थी के दृष्टिकोण से वे अपकर्षात्मक होते हैं क्योंकि उस विद्यार्थी को तो रचनात्मक दृष्टि से उत्तरोत्तर वर्धमान जाटिल्ययुक्त अंगों की उत्पत्ति में ही आनन्द आता है और इसी लिए वह अपकर्ष से विकास को पृथक् करने के लिए उन संरचनाओं के जाटिल्य को ही अपना मानक

कल्पित कर लेता है।

किन्तु यह पार्थक्य विशुद्धतः प्रथात्मक या रूढ़यात्मक नहीं होता। जैसाकि हम देख चुके हैं कि व्यष्टता की मात्राएँ ही वास्तविकता की भी मात्राएँ होती हैं। जो कुछ पूर्णतर रूपेण व्यष्ट होता है वह अपरिमित व्यष्ट समग्र की चरम संरचना का भी पूर्णतर प्रतिनिधि होता है और इसीलिए पूर्णतररूपेण वास्तविक भी। इसलिए हम कह सकते हैं कि व्यष्टता विषयक अग्रेसरत्व वस्तुतः न कि प्रथात्मक अर्थ मात्र में, विकास विषयक प्रगति है और व्यष्टत्व-हानि ही वस्तुतः अपकर्षण है। इस प्रकार हमें विकासात्मक प्रगामिता की दिशाओं के मध्यगत विभेद के सच्चे 'लक्ष्यात्मक' आधार की संभावना तो कम से कम प्राप्त हो ही जाती है। लेकिन हमें याद रखना होगा कि हम अनुभवशील जीवों के वास्तविक हितों के विषय में कुछ जान सकने में समर्थ जहाँ हो सकते हैं वहाँ ही हमें सुरक्षित आधार यह जाँचने के प्राप्त होते हैं कि विकास द्वारा उत्पादित रचना तथा अभ्यास विषयक परिवर्तनों के कारण उन हितों को अधिक मूर्तता प्राप्त होती है या नहीं। इसी लिए जहाँ अपने और अपने जीवधारी सजातीयों के आन्तर जीवन विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि हमें सिद्धान्ततः अधिकार देती है कि हम मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न विकासों को वस्तुतः प्रगामी अथवा प्रतिगामी घोषित करें और साथ ही यह भी कि जैव उपलक्षकों की उस शृंखला को जो हमें मानव तक पहुँचा देती है, सत्य 'आरोहण' कह सकें, वहाँ उन व्यष्टीय अनुभूतियों के, जिनकी प्रपंचात्मक अभिव्यक्ति यह सारा ही भौतिक विश्व है विशिष्ट स्वरूप के बारे में हमारी अनभिज्ञता हमारे लिए यह निर्धारित कर सकना असंभव कर देती है कि इन सीमाओं के बाहर हुआ 'विकास' वस्तुतः प्रगामी है या नहीं। 'ब्रह्माण्डीय विकास' को सामान्यतः हमें जैव विकास की उस विशिष्ट पंक्ति से जो हमें मानव तक ला पहुँचाती है, बाहर ही मानना पड़ेगा और अपने स्वेच्छ दृष्टि-बिन्दु के अनुसार उसे उपेक्षतया 'प्रगति' अथवा 'अपकर्षण' इसलिए नहीं समझना होगा क्योंकि 'लक्ष्यात्मकतया' वह न तो निश्चितरूपेण 'प्रगति' ही है न 'अपकर्षण' अपितु इसलिए कि हमारी अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी नहीं है जिससे वह जान सके कि इनमें से वह कौन है।

७—एक और विचार बिन्दु इसलिए ध्यान पात्र है क्योंकि वह परिमित व्यष्टता के स्वरूप से सम्बद्ध कुछ तत्त्वमीमांसीय समस्याओं को देखते हुए कुछ महत्व-पूर्ण है। यदि उत्क्रान्ति या विकास माया, भ्रम अथवा भ्रान्ति से कुछ अधिक वस्तु है तो यह मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि वह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके गतिक्रम में परिमित लुप्त हो सकते हैं और नये परिमित व्यष्ट जन्म ले सकते हैं। यह विचार तत्त्व-मीमांसीय दृष्टि से महत्वपूर्ण इसलिए है कि इसका अर्थ यह है कि विकासीय तथ्य प्राचीन तथा अर्वाचीन काल के किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त से जो सत् अथवा वास्तविकता

को अन्तिमेत्थतया स्वतंत्र परिमित व्यष्टों अथवा 'व्यक्तित्वों' के बाहुल्य द्वारा निर्मित मानते हैं, अनुकूलनीय नहीं है।[1] अगर ये दार्शनिक अभिमत सही हैं तो विश्व इतिहास का गतिक्रम ऐसे परिमित व्यष्टों के आनुक्रमिक रूपान्तरणों से बना होना चाहिए जिनका स्वरूप किसी भी तरह उन विविध वेषान्तरणों द्वारा जो वे ग्रहण करते रहते हैं अप्रभावित और अपरिवर्तित ही बना रहता है। इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के व्यष्ट, वस्तुतः इन परिवर्तनों द्वारा उतने ही कम परिवर्तित होंगे जितने कि रंगमंचस्थ पात्र विभिन्न प्रकार की वेषभूषा के परिवर्तन से अथवा पुनर्जन्मात्मक प्राक्कल्पना विषयक आत्माएँ उन शरीरों द्वारा जिनमें अनुक्रमानसार उन्हें प्रविष्ट होना पड़ता है, परिवर्तित होती है। और इस तरह विकास परिमित व्यष्टों के जीवन का अपेक्षतया यथार्थ लक्षण न रह पायेगा। वह तब एक भ्रान्ति अथवा ऐसा मायाजाल मात्र ही होगा जैसे होना अस्तित्व की विषयवस्तु विवृत्ति के साथ हमारे परिचय की मौजूदा हालत में निःसन्देह अनिवार्य ही है। किन्तु आन्तर अनुभूति के किसी भी वस्तु तथ्य के साथ उसका साम्य न होगा।

दूसरी ओर यदि विकास विशुद्ध भ्रान्ति न हो तो तत्त्वमीमांसा की यह सब रचनाएँ वैध न हों सकेगी। क्योंकि आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त का सारा ही निचोड़ इस एक नियम में निहित हो गया है कि प्रकारीय मूल विभेद व्यष्टीय संरचनाओं के अनुवर्ती रूपान्तरणों के जमा होते रहने से उत्पन्न होते हैं और जब एक बार उनकी स्थापना हो जाती है तब वे विभेद जातीय विभेद के रूप में उनका शाश्वतीकरण लगातार चलता रहता है। इस तरह के प्रकारीय या जातीय विभेदों की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या इस तरह पर ही हो सकती है कि वे ऐसे मौलिक विभेद हैं जो इस भौतिक जगत् के अंगभूत अनुभवकर्ता जीवों के हितों लक्ष्यों का निर्धारण करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि यह सही तौर पर इन प्रभावी तथा अद्वितीय हितों का स्वरूप ही है जिससे

---

१. उदाहरणार्थ तुलना कीजिए, प्लेटो के 'फैडो' नामक ग्रन्थ के पृ० ७० एफएफ पर दी हुई अमरत्व विषयक तर्कनाओं से पहली तर्कना के तथा 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ की उस टिप्पणी के साथ जिसमें तर्कना का हवाला यों दिया गया है कि आत्माओं की संख्या सदा एक सी हो रहती है। (६११ ए)। प्लेटो के ग्रन्थानुसार इस सिद्धान्त का जन्म बाकसीय मार्ग से हुआ है। अन्य लोगों में से हेराक्लीटस के जीवन-मरण के एकान्तरण चक्र से एम्पीडोक्लीज के (आर्फिक) जन्म-चक्र से, तथा स्टोइकों अथवा निराशावादियों के सिद्धान्त के साथ भी तुलना कीजिए और आधुनिक जगत् के उदाहरणों में से नमूने के तौर पर लिए गये केवल एक ही सिद्धान्त, नीत्शे के सतत प्रत्यावृत्ति सिद्धान्त से भी मिलान कीजिए।

व्यष्ट का व्यष्टत्व निरूपित हुआ करता है । इस प्रकार विकास प्रक्रिया विषयक तत्त्वमीमांसीय टीका अनिवार्य रूप से उस प्रक्रिया का निर्णय नवीन व्यष्ट हितों के विकास और पुराने व्यष्ट हितों के लोप की प्रक्रिया को वह एक अनन्त या अपरिमित समग्र व्यष्ट के अन्तर्गत परिमित व्यष्टों के जन्म और लोप की प्रक्रिया मानती है।

इसी प्रकार के निष्कर्ष का सुझाव हमें स्वयं अपने वैयक्तिक।अथवा व्यष्ट विकास के उन तथ्यों पर विचार करने से भी प्राप्त हो सकेगा जिनसे विस्तृततर विकासवादी सिद्धान्तों ने अन्ततोगत्वा अपने विचार और अपनी शब्दावली उधार ली है। व्यष्ट मानव जीव की मानसीय वृद्धि मूलतः वस्तु-विषयक अभिरुचि के निरूपण की प्रक्रिया ही होती है। हमारी औपचारिक शिक्षा तथा अनौपचारक बौद्धिक और नैतिक दीक्षा दोनों ही सामाजिक परम्पराओं तथा पारस्परिक समागम द्वारा प्रभावित होती हैं और दोनों ही ऐसे प्रक्रियाएँ हैं जिनमें छोटे मोटे रूपान्तरणों का जमाव पाया जाता है और जो अन्ततोगत्वा अस्तित्व के विभिन्न पक्षों के न्यूनाधिक अनन्य वैयक्तिक हितों की स्थापना में परिणत हो जाती है और चूँकि यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती इसलिए हमारे पूर्वाधिगत हितों के लिए इस प्रकार रूपान्तरित हो सकना सम्भव हो जाता है कि जिससे वे लुप्त-प्रयोगी हो जाँय। वह उन हितों की जगह नये हितों को प्रतिस्थापित कर देती है। जहाँ तक ऐसा हुआ करता है वहाँ तक हम सही ही कहा करते हैं कि हम 'पुराने हम' नहीं रहे। एक नया 'मैं' या 'आत्म' अथवा अनन्य व्यष्ट हितों का केन्द्र तब पहले वाले आत्म या 'हम' के भीतर विकसित हो चुका होता है।

आमतौर पर यह प्रक्रिया इस बिन्दु से पहले ही रुक जाती है जहाँ सारी इन्द्रिय-गम्य सततता निलम्बित हुई सी प्रतीत होती हैं लेकिन विशिष्ट परिस्थितियों में इस बिन्दु तक पहुँचा जा सकता है। यह 'बात बहुविध व्यक्तित्व' के अधिक रोग विज्ञानात्मक प्रपंच की तो बात ही क्या रूप-परिवर्तन जैसे तथ्यों द्वारा ही आवश्यकता से अधिक सिद्ध हो जाती है, इसी प्रपंच द्वारा यह तथ्य भी उदाहृत होता है कि एक नया व्यक्तित्व जब एक बार विकसित हो जाता है तब उन पुराने व्यष्ट हितों के साथ जिनको उसने स्थान भ्रष्ट किया है उसके सम्बन्ध विविध प्रकार के हो जाते हैं। या तो वह उन हितों को स्थायी तौर पर स्थान-च्युत कर देता है अथवा जैसाकि 'रूप-परिवर्तन' विषयक बहुत से मामलों में हुआ करता है वह अस्थायी भी सिद्ध हो सकता है और एक बार फिर पुराने व्यक्तित्व में लौट आ सकता है अथवा दोनों ही समय समय पर एकान्तरित भी होते रह सकते हैं।[१] जिस एक बड़ी बात पर यह सब मामले एकमत हैं वह

---

१. **पहले ही से वर्तमान व्यष्टता की सीमाओं के भीतर दूसरी व्यष्टता के निरूपित होने का यही प्रपंच अथवा दृष्य 'उच्चतर' और 'निम्नतर' आत्म के बीच चलते रहनेवाले**

विकास-क्रमान्तर्गत पहलेवाली व्यष्टता के भीतर एक नयी व्यष्टता के उत्पादन की सीधी साधी सामान्य बात है। शायद यह सुझाया जा सकता है कि व्यष्ट वृद्धि के इन लक्षणों में हमें उस प्रक्रिया के जिसे हम विकास द्वारा नयी स्पीशीज़ या जातियों का उद्भव कहते हैं, लक्षणों का संकेत मिलता है ।[1]

संक्षिप्तावृत्यर्थ कह सकते हैं कि उत्क्रान्ति या विकास का अभिप्रेतार्थ होता है ऐसा परिवर्तन जिसका निर्धारण किसी अन्त के सन्दर्भ द्वारा होता हो और इस प्रकार वह विकास एक व्यष्ट प्रक्रियान्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार के 'अन्तों' का इसके सिवा और कोई मतलब ही नहीं होता कि जहाँ तक हो परिवर्तन की प्रक्रियाओं को व्यष्ट हितों की प्रगामिनी संप्राप्ति के रूप में ही देखा जाय। अतः विकास की संभावना ही वहाँ हो सकती है जहाँ परिमित व्यष्टता वर्तमान हो। यही है वह दार्शनिक न्याय्यता हमारे इस पहले वाले दावे की कि जहाँ कहीं भी रचनात्मक विकास का साक्ष्य उपलब्ध हो सकता है वहाँ वह साक्ष्य इस पूर्वानुमान का कारण प्रस्तुत करता है कि जो कुछ हमें एक वस्तु रूप दिखायी पड़ता है वह वास्तव में किसी मात्रा तक सच्चा व्यष्ट होता है न कि स्वच्छतया हमारे द्वारा किया हुआ ऐसी स्थितियों का समूहीकरण जिसमें कोई आन्तर एकत्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त उत्क्रान्ति अथवा विकास वह प्रक्रिया है जिसमें नये व्यष्ट उद्भूत होते और पुराने लुप्त होते रहते हैं। तत्वमीमांसा के लिये उसकी सार्थकता यही है कि वह उन सब सिद्धान्तों को व्यपदिष्ट कर देती है जो वास्तविकता को अपरिवर्तनशील परिमित व्यष्टों का बाहुल्य मात्र ही बतलाती है। वह एक ओर दृष्टि-बिन्दु से भी महत्वपूर्ण है। तत्त्वमीमांसा के लिये विकास विषयक इस विशुद्ध यान्त्रिकीय दृष्टिकोण की अपेक्षा जिसके अनुसार प्रकृति परस्पर संयुक्त परिवर्तनों का अनुक्रम मात्र है—प्रकृति की विकासीय प्रक्रियाओं का साम्राज्य होने की कल्पना जिसका अभिप्राय भौतिक जगत् में अनुभूति के विषयभूत व्यष्टों की स्पष्टरूपेण अभिव्यक्त प्रस्तुति है, सम्पूर्ण सत्य के अपरिमिततया निकटतर है।

अधिक ज्ञानार्थ अनुशीलन कीजिये :—एफ०एच० ब्रेडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड

नैतिक संघर्ष के परिचित तथ्यों द्वारा भी उदाहृत होती है।

१. तुलना कीजिए रॉयस लिखित 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल', सेकेंड सीरीज, पृ० ३०५ एफ़एफ पर उल्लिखित और विशुद्ध रूप से व्याख्यात इसी प्रकार के अभिमत से। दुर्भाग्यवश प्रोफेसर रॉयस के उपर्युक्त ग्रन्थ का द्वितीय भाग इतनी देर में मेरे हाथ लगा कि मैं उसका यथेष्ट उपयोग कर ही न सका। यही बात श्री अण्डरहिल महोदय द्वारा लिखित 'पर्सनल आइडियलिज्म' ग्रन्थ के 'दि लिमिट्स ऑफ इवोल्यूशन' नामक निबन्ध के विषय में भी हुई।

रीयालिटी', अध्याय २७, २८ (पृ० ४९७, ४९९, ५०८ ईडी १ प्रगतिविषयक कल्पना की आलोचनार्थ); एँच० लोत्से कृत 'मेटाफ़िज़िक', पुस्तक २, अध्याय ८ ('फोर्स ऑफ़ दि कोर्स ऑफ़ नेचर', अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ १०९, १६२); जे० रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डविजुअल', सेकेण्ड सीरीज़, लेक्चर ५; एच० सिज़विक कृत 'फिलासफी इट्स स्कोप एण्ड रिलेशन्स' का लेक्चर सं० ६ व ७ (तत्त्वमीमांसा पर विकास की आभारीयता विषयक कुछ सामान्य विचारों के अध्ययनार्थ); जी० ई० अण्डरहिल का 'दि लिमिट्स ऑफ इवोल्यूशन' नामक लेख उसकी पुस्तक ('पर्सनल आइडियलिज्म' में); 'जे० वार्ड कृत नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', खण्ड १, लेक्चर ७–९ (स्पेन्सर का विकासवादीय दर्शन की आलोचनार्थ), १० (ऑन बायोलॉजिकल इवोल्यूशन)।

अध्याय ६

वर्णनात्मक विज्ञान का तर्कशास्त्रीय स्वरूप

१—वैज्ञानिक वर्णन की दर्शनशास्त्रीय अथवा साध्यवादीय व्याख्या से प्रतीपता किन्तु यह प्रतीपता एकदम निरपेक्ष नहीं। २—सकल वैज्ञानिक वर्णन का प्रथम उद्देश्य सहयोगार्थ अन्तः संचार है। अतः ऐसा सब वर्णन आवश्यकरूपेण उन वस्तुओं अथवा लक्ष्यों तक ही सीमित रहता है जिनका अनुभव व्यष्ट बाहुल्य अथवा बहुत से व्यष्ट एक ही प्रकार से कर सकते हों। ३—वैज्ञानिक वर्णन का एक दूसरा उद्देश्य पर्यावरण विषयक उपलक्षकीय परिस्थितियों से काम लेने के सामान्य नियमों की सृष्टि करके बौद्धिक श्रम की बचत करना भी है। विकासीय गतिक्रम में यह उद्देश्य पहलेवाले उद्देश्य से अंशतः स्वतंत्र हो जाया करता है। ४—सामान्य नियमों के निरूपण की अभिरुचि से भौतिक विज्ञान सम्बन्धी तीन मौलिकअभिधारणाएँ उठ खड़ी होती हैं अर्थात् एकरूपता, यान्त्रिक नियम तथा कारणीय निर्धारण विषयक अभिधारणाएँ। ५—इन तीनों अभिधारणाओं द्वारा निर्धारित भौतिक प्रकृति विषयक यांत्रिकीय अभिमत केवल यांत्रिकी सम्बन्धी अमूर्त विज्ञान में ही व्यवस्थित रूप से काम में लाया जाता है। अतः वर्णनात्मक प्रक्रिया के तर्कानुगत समापन का अर्थ होगा समग्र वर्णनात्मक विज्ञान का यंत्रशास्त्र में विघटन। यह बात कि रसायन शास्त्र, जीव शास्त्र और मनोविज्ञान में ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जिन्हें यांत्रिकीय विषयक शब्दावली में विघटित करना इस कारण संभव नहीं होता है चूँकि उनका उपलक्षण सौन्दर्य बोधात्मक और इतिहासात्मक और साथ ही साथ मूलतः 'वैज्ञानिक' हितों द्वारा प्रेरित हुआ करता है। ६—यांत्रिकीय भौतिकी की सन्मात्रा अविनाशिता तथा उर्ज्जा-संरक्षण जैसी प्रमुख कल्पनाओं के विश्लेषण से सिद्ध होता है कि उनकी वैधता केवल सापेक्ष ही है।

१—भौतिक जगत् की सार्थकता के सम्बन्ध में हमारी विवेचना का सामान्य बाह्य अभिरूप अब पूरा हो चुका है। हमें यह मत निर्धारित कर लेने का समुचित कारण मिला है कि उस भौतिक व्यवस्था में हमारी मानव ज्ञानेन्द्रियों को एक महती व्यवस्था का अथवा व्यवस्थाओं के एक बड़े जाटिल्य का आभास मिलता है जो ऐसे सप्रयोजन ज्ञानवान् जीवों से बनी है जिसके हित हमारे हितों से इतने दूर हैं कि उनमें कोई प्रत्यक्ष समागम हो ही नहीं सकता फिर भी वे हित ऐतिहासिकतया हमारे साथ व्यष्ट हित के नये रूपों के विकास की उस कभी न रुकनेवाली प्रक्रिया द्वारा संयुक्त रहते हैं जिसे हम

अनुभव के आधार पर अपने इस लोक के जीवन और बुद्धि का विकास समझते हैं। अपने पिछले चारों अध्यायों में हमने लगातार विशद रूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भौतिक व्यवस्था की सार्थकता विषयक इस सामान्य व्याख्या और हमारे अनुभवाधारित विविध विज्ञानों की कार्यर्थिक पूर्व मान्यताओं के बीच कोई वास्तविक असंगति नहीं है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो चुका है कि विवृतिमय विवरण प्रस्तुत करने तथा प्रपंचात्मक घटनाक्रम की गणना करने का अपना निर्धारित कार्य करने में जहाँ अनुभवाधारित विज्ञान इस प्रकार की तत्वमीमांसीय व्याख्या का त्याग नहीं करते, वहाँ वे उस पर ध्यान नहीं देते; और जितनी ही अधिक अन्तर्भावनात्मकतया वे नौसिखुओं की तत्वमीमांसा के बाह्य परिकल्पना क्षेत्र की सैर का बहिष्कार अपने पुरोगम से करते रहते हैं। उतना ही अधिक सही तौर पर ही उनके वर्णन तथा गणितीय संगणन के काम का निरूपण भी होता रहता है। अतः यह उचित प्रतीत होता है कि विश्व विज्ञान के नियमों और सिद्धान्तों के विषय अपने इस संक्षिप्त विवरण को हम अनुभवाधारित विज्ञान के उन बन्धनों के, जो उस विज्ञान के उद्देश्यों के विशिष्ट रूप के कारण उस पर आयत्त हो जाते हैं। स्वरूप का और उस तरीके का जिसके अनुसार इन बन्धनों का अस्तित्व स्वयं अनुभवाश्रित विज्ञानों की सामान्यतम परिकल्पनाओं द्वारा उद्घटित होता है, थोड़ा सा दिग्दर्शन करा कर समाप्त कर दें।

सबसे पहले तो उस अर्थ का स्पष्ट हो जाना ही जरूरी है जिस माने में कि हम अनुभवाश्रित विज्ञानों के काम को वर्णन कहते हैं और साथ ही उस वैषम्य के अर्थ का भी स्पष्ट होना आवश्यक है जो इस प्रकार के वर्णन तथा अस्तित्व विषयक दार्शनिक अर्थ-निर्णय के बीच पाया जाता है। इस संबंध में दो बातें ऐसी हैं जिन पर विशेष और बार बार जोर देने की जरूरत मालूम देती है। (१) अर्थ-निर्णय और वर्णन के बीच का वैषम्य निरपेक्ष वैषम्य नहीं है। पूर्ण वर्णन स्वयं ही वर्णन मात्र से कहीं ज्यादा कुछ होगा ही और दार्शनिक अर्थ-निर्णय में संक्रान्त हो जायगा। इस प्रकार किसी सार्थक सप्रयोजन गति की दिशा, वेग, गतिमात्रा, और अवधि आदि दे देने से ही उसका वर्णन पूरा नहीं हो जाता। इस प्रकार की गति का पूरी तरह से वर्णन करने के लिए उस गति के विधायक जीवार्थ उसके आशय की, किसी लालसा अथवा अभिकल्प की पूर्ति विषयक पग के रूप में मान्यता आवश्यक होगी और वह तब दार्शनिक अर्थ निर्णय नामधेय वस्तु में मग्न हो जायगी। अतः सामान्यतः यदि सकल अस्तित्व अन्ततोगत्वा अनुभूति हों और सकल अनुभूति सारूपतः उद्देश्यपरक हो तो ऐसा वर्णन जिसे अर्थ निर्णय से पृथक् किया जा सके। तर्क के स्थिति बिन्दु से देखे जाने पर सदा ही अपूर्ण होगा भले ही वह कुछ विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्त्यर्थ पर्याप्त क्यों न हो।

(२) विज्ञान के वर्णनों की ऐसे वर्णनों से सावधानीपूर्वक अलग पहचान

रखनी होगी जैसे वर्णन कि अविश्लेषित ज्ञेय विवृत्ति के बहुलीकरण द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। याद रखने की बात है कि, वैज्ञानिक वर्णन तो एक ऐसा वर्णन होता है जिसके करने का जिम्मा तब लिया जाता है जब किसी घटनाक्रम का प्राक्कथन अथवा संघटन अभिप्रेत हो। इसका मतलब है कि उसे सामान्य शब्दात्मक वर्णन ही होना चाहिए और जहाँ भी सम्भव हो, उसका गणितशास्त्रीय सहायताओं द्वारा प्रस्तुत होना भी आवश्यक है। प्राकृतिक प्रक्रिया परायण अनुभवाश्रित विज्ञान उन प्राकृतिक प्रक्रियाओं का वर्णन, तत्प्रक्रिया सम्बन्धी निश्चित व्यष्ट विवृत्ति के साथ नहीं किया करते वे केवल उस सीमा तक ही उन विवृत्तियों का जिक्र करते हैं जहाँ तक वे प्रक्रियाएँ कुछ ऐसे एकरूप पहलू प्रदर्शित किया करती हैं जिन्हें गणनार्थ उपयुक्त सूत्रों में विघटित किया जा सके। इस प्रकार के वर्णन को बहुधा व्याख्या कहा जाता है और इस विभेद के कारण ही नामांकन करते समय ज्ञेय विवृतियों के समूहन मात्र से उसे पृथक् माना जाता है। किन्तु उपर्युक्त वैभिन्य के कारण ही हमें सारी ही वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं के सारभूत वर्णनात्मक स्वरूप को आँख ओझल कर देना आवश्यक नहीं। कभी-कभी जोर देकर कहा जाता है कि वैज्ञानिक व्याख्या के तार्किक स्वरूप का वर्णन से भिन्न होना जरूरी है क्योंकि 'पदार्थ', 'अभिकरण' और 'माध्यम' आदि जिन शब्दों द्वारा यह व्याख्या ग्रथित होती है वे ज्यादातर इस प्रकार के होते हैं कि ऐंद्रीय-प्रेक्षण की पहुँच वहाँ तक नहीं हो पाती। किन्तु इतना जरूर याद रखना होगा कि इस प्रकार की अप्रेक्ष्य वस्तुओं विषयक प्राक्कल्पनाएँ वहाँ तक ही मूल्यवती होती हैं जहाँ तक कि वे ऐसी जोड़नेवाली कड़ियों का काम दें जिनके आधार पर हम संवेद्य दत्तों से संवेद्य घटनाओं की गणना कर सकें। अनुभवाश्रित विज्ञान जिन किन्हीं भी माध्य कड़ियों को उपयोगी समझ कर मान्यता दे किन्तु अनिवार्य रूप से वह प्रपंचात्मक भौतिक व्यवस्था की ज्ञेय घटनाओं को ही अपना प्रारंभ-बिन्दु मानकर चलता है और उन्हें ही अपने निष्कर्षों का लक्ष्य भी मानता है।[1] इस प्रकार उसकी सारी प्राक्कल्पनात्मक संरचनाएँ ज्ञेय घटनाओं के गतिक्रम के सही वर्णन के मुख्य हित की वशंवद होती हैं। उसके तार्किक

---

१. और एक बार फिर इस माध्य कवियों को भले ही वे चाहे जितने अलक्ष्य क्यों न हों, स्वयं ही सदा उन गुणों से युक्त माना जायगा जो अपने प्रकार की दृष्टि से, प्रत्यक्ष प्रस्तुतिगत वस्तुओं के गुणों के समरूप हों। जैसा कि मिल का कथन था, वह प्राक्कल्पना जो एक साथ ही किसी अपरिचित 'अभिकर्ता' और तत्समान ही अपरिचित विधि या क्रिया विषयक नियम का पूर्वग्रहण कर के ले निरर्थक होगी। अतः वैज्ञानिक परिकल्पनाओं विषयक अलक्ष्य अथवा अप्रेक्ष्य अवश्य ही भौतिक जगत् की ही वस्तु है।

स्वरूप के सन्दर्भ में वर्णन के मुकाबले पर जिस एक ही किस्म की 'व्याख्या' को खड़ा किया जा सकता है वह उद्देश्यपरक व्याख्या वहाँ भी, जैसाकि हम देख चुके हैं प्रातीप्म अन्तिम नहीं होता।

२—तब सवाल उठता है कि वैज्ञानिक वर्णनों की लक्ष्य वस्तु है कौन सी ? वे किस प्रयोजन की सिद्धि करना चाहते हैं और किस प्रकार इस प्रयोजन का सारात्मक स्वरूप वर्णनात्मक प्रक्रियाओं के तर्कानुमोदित स्वरूप का निर्धारण करता है ? अब इतना तो तुरन्त ही स्पष्ट दिखायी पड़ने लगता है कि सभी वर्णनों के तात्कालिक अथवा अव्यवहृत लक्ष्य उन व्यावहारिक उद्देश्यों में से एक या दूसरा होता है जो उनसे इतने निकटतया सम्बन्ध होते हैं कि अन्तोतगत्वा वे उनके संपापी ही बन जाते हैं। ऐतिहासिकतया यह बात सन्देह से परे है कि भौतिक घटनाओं के सकल वर्णन का मौलिक उद्देश्य सामाजिक सहयोगार्थ अन्तः संचार करना था। वर्णन के इस कृतित्व का हवाला मैं पहले ही कारणीय वर्णनों के वैज्ञानिक उपयोगों के विशेष संदर्भ में दे चुका हूँ पर यहाँ भी उसी बात पर अधिक पूर्णता के साथ और अधिक सामान्य रूप से फिर सुविधापूर्वक विचार किया जा सकता है ।

अन्तः सम्बद्ध लक्ष्यों और उद्देश्यों वाले परिमित व्यष्टों के समाज में प्रत्येक व्यष्ट अपने व्यक्तिनिष्ठ हितों की पूर्ति, दूसरों के साथ मिलकर किये गये कार्य की कुछ मात्रा द्वारा ही कर सकता है। और संभूत कार्य तभी संभव होता है जब सहकारी व्यष्ट अपने सर्वसामान्य बाह्य पर्यावरण विषयक विभिन्न विचारों को ऐसे सामान्य शब्दों में विघटित कर सके जो समान रूप से सबकी समझ में आ सकें तथा जब वे समान रूप से इस सर्वसामान्य कर्तव्य कर्म की पूर्त्यर्थ अपने अपने अंशदान का भी संकेत दे सकें। सामने आनेवाली कठिनाई से सबका अवगत होना और उसका सामना करने के लिए उनमें से हर एक को क्या क्या करना होगा इससे भी आगाह रहना आवश्यक है। अतः समग्र प्रभावी और व्यावहारिक सहकार के लिए व्यष्टों के बीच अन्तःसंचरण का होना एक अनिवार्य शर्त है ।

किन्तु फिर, अन्तःसंचरण तभी हो सकता है जब वर्णन सर्व-सामान्य पद-बद्ध हो। कोई व्यक्ति उसी सीमा तक अपनी अनुभूति के अन्तर्विषय को दूसरे तक पहुँचा सकता है जहाँ तक कि विविध व्यक्तियों की अनुभूतियों के तत्व एक दूसरे के अनुरूप हों। अव्यवहृत अथवा तात्कालिक भावना, अपने अनन्य वैयक्तिक अथवा व्यष्ट स्वरूप के कारण ही मूलतः असंचार्य होती है। अतः अपने शरीर के विषय में दूसरे तक सूचना-संचार करते समय मुझे ऐसे पदों का आवश्यकतावश प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जो न शरीर-विषयक मेरी तात्कालिक ऐंद्रीय अनुभूति से सम्बद्ध नहीं होते अपितु मुझे उन ऐंद्रीय प्रेक्षणों के जाटिल्य से सम्बद्ध शब्दों का प्रयोग करना पड़ता

है, जो प्रेक्षणा मैं और वह दूसरा व्यक्ति दोनों ही विशिष्ट प्रेक्षणपरक अपने अंगों द्वारा समान रूप से किया करते हैं। और इस प्रकार यह सारा भौतिक जगत् उस सीमा तक ही व्यष्टों अथवा व्यक्तियों के बीच सहकार्य के आधार का काम दे सकता है। जहाँ तक कि अन्ततोगत्वा वह, समस्त व्यष्टों के अवलोकनार्थ समान रूप से अधिगम्य ऐन्द्रिय-प्रस्तुति जाटिल्य के रूप में वर्ण्य होता है। प्रकृति विषयक ऐसी किसी तरह की भी अनुभूति जो अनन्यरूपेण मद्विशिष्ट है और इसी लिए किसी प्रकार भी दूसरे को सौंपने योग्य ऐसी परिस्थितियों में उसे नहीं लाया जा सकता कि जिससे उसी तरह के प्रेक्षणांगों से युक्त दूसरा कोई व्यक्ति उसका ग्रहण कर सके तो वह अनुभूति आवश्यकतः असंचार्य है और संभूय-समुत्थान कार्य के आधारार्थ निरर्थक है। अतः स्वयं अपने प्रयोजन के कारण ही विज्ञान भौतिक जगत् का इस प्रकार से वर्णन नहीं कर सकता कि जिससे उसके ये वर्णन व्यावहारिक कला वस्तुओं के रूप में उस जगत् के उस प्रपंचात्मक पक्ष का चित्रण किया जा सके जिसमें वह सम्बद्ध प्रस्तुतियों के अथवा प्रस्तुति-संभाव्यताओं से जाटिल्य मात्र रूप में दिखायी दे। समग्र वैज्ञानिक वर्णनों का, प्रपंचात्मक व्यवस्था की ऐसी घटनाओं से जिनका अनुभव कोई भी व्यक्ति प्रेक्षण की निर्धारित शर्तों के पालन सेप्राप्त कर सकता है—प्रारंभ होना तथा उन्हीं के साथ समाप्त होना कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु अन्तः संचरण की शर्तों का तर्कसंगत परिणाम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिक जगत् का अनन्यतया केवल उन्हीं वस्तुओं से निर्मित होना जो सिद्धान्ततः एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा प्रेक्ष्य हों, उस जगत् का वह ज्ञान-मीमांसीय लक्षण हैं जिसका अनुसंधान विज्ञान ने भी कर लिया है। यदि व्यक्तियों की स्वयं अपनी प्रकृति में ऐसी विषय वस्तुएँ मौजूद हों जिनकी अनुभूति एक से अधिक व्यक्तियों को न हो सकती हो, जैसे कि मेरा अपना आन्तर जीवन, तो वे विषय-वस्तुएँ विज्ञान विषयक भौतिक व्यवस्था की वस्तु नहीं हो सकती।[1]

३—वर्णन का एक दूसरा प्रयोजन भी है जो पहले प्रयोजन से उस समय उद्भूत हुआ करता है जब मानव अनुभूतियाँ अधिक विमर्शात्मक हो उठती हैं। वर्णन मुझे न केवल तत्क्षणीय विशिष्ट स्थिति को दूसरों तक पहुँचा सकने की और उनके साथ मिलकर उस स्थिति का सामना करने के साधन जुटाने की ही सामर्थ्य प्रदान करता है अपितु वह मुझे इसी प्रकार की पुनरावर्तक स्थितियों में मेरे व्यवहार योग्य सामान्य नियमों के पहले से ही निर्धारण करने योग्य भी बनाता है। इस प्रकार के सामान्य विचार रखने की

---

१. प्रोफेसर मस्टरबर्ग ने इस लक्षण को ही 'भौतिक' अथवा 'अतिमानव' और 'मानसिक' अथवा 'वैयक्तिक' वस्तुओं विषयक अपने विभेद का आधार बनाया है। देखिए Gaunelzuge der psychologic, 1, 15-77

आवश्यकता तब ही पैदा हो जाती है जबकि वर्णन सामाजिक सहकार की सहायता करने के अपने मूलभूत कर्तव्यकर्म में ही फँसा होता है। भौतिक विज्ञानों की मूलस्रोत औद्योगिक कलाओं विषयक व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो अनिश्चितरूपेण बहुसंख्यक उपलक्षणात्मक स्थितिमयी घटनाओं से काम लेने के सम्बन्ध में एक सामान्य नियम का निरूपण कर सकना घटना के घटित होने पर ही प्रत्येक घटना से अलग अलग जूझने की अपेक्षा कहीं बहुत बड़े पैमाने के आर्थिक लाभ की वस्तु है।

इस प्रकार के सामान्य नियमों के लाभ सत्वर ही समाज के उस उपविभाग द्वारा उपभुक्त शक्ति और महत्व की अभिवृद्धि से प्रकट होते हैं, जिसे इस प्रकार के लाभ प्राप्त हुए होते हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे हमें यह समझने में सहायता मिल सकती है कि सभ्यता के आदिम युगों में इस प्रकार के नियमों की गहरे सहकार के वंशानुगतिक रहस्यों के रूप में गहरी हिफाजत क्यों की जाया करती हो।[1] इस प्रकार भौतिक जगत् की वस्तुओं के व्यावहारिक प्रयोग के सामान्य नियमों के सूत्रीकरण में सहायता करना वैज्ञानिक वर्णन का विशिष्ट उद्देश्य ही बन गया है। और विचार विमर्श की प्रगति के साथ साथ वर्णनात्मक प्रक्रिया का यह गौण उद्देश्य बहुत बड़ी मात्रा में उसके मौलिक उद्देश्य, अन्तः संचरण से पृथक् होकर एक स्वतंत्र उद्देश्य बन जाता है। जहाँ मुझे अपने साथियों के साथ अन्तः संचार और सहकार की न कोई इच्छा ही होती है न जरूरत। वहाँ भी भौतिक व्यवस्था की उपलक्षक स्थितियों के सामान्यीकृत वर्णनों की खोज, उन वर्णनों को उक्त व्यवस्था में स्वयं स्वेच्छा पूर्वकृत हस्तक्षेप के व्यावहारिक नियमों का आधार बनाने के लिए, मेरी अभिरुचि का विषय बन जाती है।

४—प्रकृति के विधान में व्यावहारिक हस्तक्षेप करने के सामान्य नियमों के सूत्रीकरण विषयक अभिरुचि आवश्यकरूपेण उस प्रारूप का आदेश जिसका ग्रहण हमारे वैज्ञानिक वर्णनों को करना होगा, कर दिया करती है और इस दृष्टि से वह अनुभवाधारित विज्ञान की उन व्यावहारिक अभिधारणाओं का स्रोत है जिनसे हमारा थोड़ा सा परिचय पहले ही हो चुका है।

हमारे वर्णनों की सफलता की अनिवार्य शर्तों के रूप में पहले से ही यह स्वीकार करने के लिए वह हमें बाध्य करती है कि भौतिक व्यवस्था में ऐसी स्थितियाँ मौजूद हैं जिनका

---

१. **देखिए—मॉश कृत 'सायंस ऑफ मेकेनिक्स', पृ० ४. किन्तु, मेरा ख्याल है मॉश गलती से अन्तःसंचरण को विशेषीकृत औद्योगिक श्रेणियों के उद्भव का गौण परिणाम कहता है।**

एक रूतपया पुनरावृत्त होना, हमारे व्यावहारिक प्रयोजनार्थ पर्याप्त विशुद्धतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी बात हमें यह मान लेनी पड़ती है कि जब तक हम घटनाक्रम में जानबूझ कर हस्तक्षेप करने से बाज आते रहते हैं तब तक वे घटनाएँ एक नियमित क्रमानुसार एक दूसरे का अनुवर्तन करती रहती हैं अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रकृति अपने स्थिर नियम से इस प्रकार कभी विचलित नहीं होती कि जिससे हमारी गणना में कोई व्यवधान आ पड़े, तीसरी बात यह कि भौतिक जगत् की प्रत्येक घटना का निर्धारण, हमारे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों का सफल जोड़ तोड़ लगाने के लिये आवश्यक सीमाओं के भीतर रहते हुए, पूर्ववर्तीनी घटनाओं द्वारा हुआ करता है। अतः अनुभवाधारित भौतिक विज्ञान की मूलभूत तीनों अभिधारणाओं, अर्थात् एकरूपता, सर्वव्यापिनी नियमानुवर्तिता तथा पूर्ववर्तिनी घटना द्वारा अनुवर्तिनी घटना की कारणानुसारी निर्धार्यता नामक तीनों निर्धारणाओं का मूल स्रोत भौतिक जगत् के मामलात में साभिप्राय द्वारा प्रभावोत्पादनार्थ सामान्य नियम प्राप्त करने की हमारी अभिरुचि ही है।

अतः इन तीनों भौतिक अभिधारणाओं पर भौतिक विज्ञान की निर्भरता से उनकी अन्तिमेत्थ सत्यता सिद्ध नहीं होती जैसाकि हमने विषद् रूप से पिछले अध्यायों में सिद्ध किया है : उससे तो केवल यही सिद्ध होता है जहाँ उन्हें संनिकटतया सत्य भी नहीं माना जा सकता वहाँ जिन सीमाओं तक उनकी असत्यता ज्ञेय परीक्षण द्वारा जाँची जा सकती है, उन सीमाओं के भीतर रहते हुए घटनाओं के संचालन के लिये नियम निर्धारित करने की हमारी विशिष्ट अभिलाषा पूरी नहीं की जा सकती। इसके विपरीत, जहाँ कहीं भी वह अभिलाषा सहीतौर पर पूरी हो सकती है वहाँ सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये ये अभिधारणायें सत्य की समतुल्य जरूर होंगी। अतः अगर हमें याद हो कि सारे ही भौतिक विज्ञान का चरम उद्देश्य कार्य सिद्धचर्थ उपर्युक्त प्रकार के व्यावहारिक नियमों का सफल सूत्रीकरण ही है, तो हम देख सकेंगे कि भौतिक विज्ञानों की भौतिक व्यवस्था के बारे में एक सख्त यांत्रिक दृष्टिकोण अपनाना हमारी उन अभिरुचियों अथवा अभिलाषाओं के स्वरूप का एक तर्कसंगत परिणाम है, जो हमारे वैज्ञानिक वर्णनों पर छायी रहा करती है। जिस अनुपात में भौतिक विज्ञान की कोई शाखा विवाद रूप से भौतिक जगत् की इस कल्पना को कि वह अनुक्रम के नियमों द्वारा कठोरतापूर्वक निर्धार्य अनुक्रमों का एक अन्तः सम्बद्ध यंत्र-समुच्चय है, सफलतापूर्वक सिद्ध कर सकती है, ठीक उसी अनुपात में ही वह भौतिक विज्ञान की स्थापना के प्रयोजन को सिद्ध करने में भी समर्थ होगी। अतः भौतिक जगत् विषयक यांत्रिक कल्पना को हम भौतिक विज्ञान की अधिकतम सामान्य अभिधारणा कह सकते हैं। पर एक बार फिर हमें याद रखने की सावधानी बरतनी होगी कि भौतिक विज्ञान की किसी अभिधारणा का किसी भी हालत

में चरम सत्य होना जरूरी नहीं है। इस तरह की अभिधारण अन्ततोगत्वा भौतिक विज्ञान द्वारा पूर्यमाण हित अथवा अभिलाषा के स्वरूप कथन के एक तरीके से बढ़ कर अन्य कुछ नहीं होती। और जैसाकि हम पर्याप्त रूप में देख चुके हैं, वह अभिलाषा या हित संगत विचार करने का विशुद्ध तर्कसंगत हित नहीं होता अपितु वह अभिलाषा या हित प्रकृति के कार्य में सफल हस्तक्षेप करने की अभिलाषा या हित ही होता है।

५—लेकिन इसका यह मतलब बिलकुल नहीं कि वे सब विज्ञान जो भौतिक जगत् की घटनाओं से किसी तरह का कोई काम लेते हैं; तथ्यरूपेण अपने उद्देश्यों के इस यांत्रिक दृष्टिकोण का इतनी ही सफलतापूर्वक उपयोग कर सकते हैं। यह तो केवल गुणवाची यांत्रिकी की विविध शाखाओं की ही बात है कि जहाँ भौतिक प्रकृति विषयक यांत्रिकीय सिद्धांत की पूर्वोलिखित अभिधारणाओं के प्रति पूर्ण और व्यवस्थित संसक्ति जैसी कुछ वस्तु हमें देखने को मिलती है। जैसा आदर्श हमें इस बात में देखने को मिलता है कि वैद्युत्य और रासायनिक तथा शारीर शाखा विषयक प्रक्रियाओं के सब तथ्यों को अन्ततोगत्वा नियमित एकरूपताओं में इस प्रकार विघटनीय बना लिया जा सके कि उनके आधार पर हम घटनाक्रम की विश्वासपूर्वक गणना कर सकते हैं। और उसके बारे में पहले से ही सही भविष्यवाणी कर सकते हैं। वैसा आदर्श भौतिक, रासायनिक तथा विशेषतः जीव-शास्त्रीय विज्ञानों के विषय में अब तक अप्राप्त ही बना हुआ है। वह कभी पूर्णतः प्राप्त हो भी सके ऐसा कहने का हमें कोई अधिकार भी नहीं है।

इस प्रकार रसायनशास्त्र तक में विशुद्ध यांत्रिकीय दृष्टिकोण का सफल उरीकरण इस तथ्य द्वारा प्रतिबद्ध कर दिया गया है कि रासायनिक संयोजन यौगिक में ऐसे नये गुण लगातार पैदा करता रहता है जिनका पूर्वोल्लेख, यौगिक के कारकों के गुण धर्म-विषयक ज्ञान द्वारा नहीं किया जा सकता अपितु उन गुणों का निश्चय तो वास्तविक-परीक्षण के बाद ही किया जा सकता है निःसन्देह यह सही है कि ज्यों-ज्यों हमारा रसायन शास्त्रीय ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों त्यों हम सामान्यतः यह कह सकने में अधिकाधिक समर्थ होते जाते हैं कि दिये हुए तत्वों के संयोजन से किन किन गुण धर्मों की परिणति की आशा की जा सकती है किन्तु यह मान लेने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है कि हम इस समय तक अपरीक्षित किसी यौगिक के सब गुण धर्मों की पेशीनगोई कर सकने में कभी भी समर्थ हो सकेंगे। हर हालत में इस प्रकार का ज्ञान सामान्य उपयोग योग्य ही होगा। अमुक तत्वों को अमुक अनुपात से संयुक्त करने पर क्या परिणाम निकलेगा इसके बारे में हमारा पूर्व ज्ञान चाहे कितना भी ज्यादा क्यों न हो फिर भी किसी विशिष्ट मूर्त मामले में किसी संयोजन के सही परिणाम की एकान्त निश्चयपूर्वक पूर्व घोषणा कर सकना असंभव होगा।

इससे भी अधिक असंभव होगा जीवशास्त्र को प्रायोगिक यान्त्रिकी में विघटित करने के आदर्श की पूर्ती कर सकना। बात केवल इतनी ही नहीं कि कोई विसंपर्कित शरीर क्रिया विषयक प्रक्रिया नियमपूर्वक रसायन शास्त्रीय अथवा विद्युत शास्त्रीय ऐसे गुणात्मक पहलू प्रस्तुत करें जिन्हें मात्रात्मक परिवर्तन मात्र में विघटित करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। जैसाकि हमारी विकासवादीय प्राक्कल्पना की शब्दावली से ही अच्छी तरह प्रकट है, उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त जैव शास्त्रीय विकास के तथ्यों का और कुछ वर्णन कर सकता 'लैंगिक चयन' जैसे नामों के अन्तर्गत, वैयक्तिक पहलू का लगातार हवाला बीच में लाये बिना असंभव है। इस पहलू के रूप ज्ञानवान् जीवों की पसन्दगी या, नापसंदगी आदतें और लालसायें आदि होते हैं। यह चयनात्मक पहलू चूँकि स्वभाव से ही तत्सदृश रूप में अनेक अनभूतियों की प्रत्यक्ष प्रस्तुत्यर्थ पेश किये जाने के लिये अयोग्य होता है इसलिये भौतिक क्रम का अंग मात्र तक वह नहीं होता। मनोविज्ञान शास्त्र के मामले पर हम अगले खंड से सम्बंध विशिष्ट विमर्श के सिलसिले में और अच्छी तरह विचार कर सकेंगे। (विशेष रूप से देखिये खंड ९, अध्याय १)।

उपर्युक्त प्रकार के विचारों के कारण वर्णनात्मक भौतिक विज्ञान के तर्कसंगत स्वरूप के बारे में निम्नलिखित सामान्य दृष्टि अपनाना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा एक मात्र विज्ञान जिसकी वर्णनात्मक अभिधारणाओं के तर्कसंगत निष्कर्ष तक पहुँचाया जा सकता है, विभिन्न शाखा सम्पन्न (स्थैतिकी, गतिकी आदि,) अमूर्त यांत्रिकी ही है। इन अभिधारणाओं का अन्त तक अनुसरण कर सकने की यांत्रिकीय विज्ञान की इस शक्ति का स्रोत उसका अमूर्त स्वरूप है। ठीक इस कारण कि चूँकि यांत्रिकी वास्तविक भौतिक व्यवस्था के उन्हीं पहलुओं का ख्याल रखती है जो सामान्य सूत्रों द्वारा वर्णनीयता की मौलिक अभिधारणा के अनुकूल हैं इसी लिये वह एक विशुद्ध अमूर्त और प्राक्कल्पनात्मक विज्ञान बने रहने के लिये बाध्य है। चूँकि प्रत्येक वास्तविक प्रक्रिया में गुणात्मकतया नवीन का प्राकट्य अन्तर्ग्रस्त रहता है और चूँकि सभी मूर्त गुण तत्वतः अनन्य होते हैं इसलिये कोई भी वास्तविक प्रक्रिया केवल यांत्रिक नहीं हो सकती।

इस प्रकार-भौतिक जगत् विषयक कल्पना करने का एक मात्र तरीका जो वर्णनात्मक विज्ञान की दृढ़ अभिधारणाओं से तर्कानुकूल रूप में संगत है यही है। सारे ही प्राकृतिक परिवर्तनों को समीकरणों में विघटन योग्य मानता है और इस विचार का व्यवस्थागत अनुगमन करनेवाला विज्ञान यदि कोई हो तो वह अमूर्त यांत्रिकीय विज्ञान है।[1] परिणामतः केवल उस सीमा तक ही जहाँ तक कि सारे भौतिक विज्ञान

---

१. अर्थात प्रकृति विषयक यांत्रिक दृष्टिकोण को यदि पूर्णतः आत्मसंगत बने रहना है तो उसका विशुद्ध यांत्रिकतापरक होना आवश्यक है।

को अमूर्त यान्त्रिक विज्ञान में विघटित किया जा सकता है, हम सर्व-सामान्य सूत्रों द्वारा घटना-क्रम विषयक प्रागुक्ति तथा गणना कर सकने के अपनी वैज्ञानिक संरचनाओं के चरम प्रयोजन की सिद्धि कर सकते हैं। वैज्ञानिक वर्णन के तार्किक स्वरूप पर विचार करने से सर्वप्रथम प्राप्त यह निष्कर्ष, हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्तों के परिणामों की क्रियात्मक अनुभूतियों द्वारा पूरी तरह प्रमाणित हो चुका है। ठीक इसी कारण चूँकि हम सारी रासायनिक तथा जैव-विज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को अन्तिमेत्थतया, किसी एक रूप-गुण-संपन्न पदार्थ के केवल मात्रात्मक परिवर्तनों में विघटित नहीं कर सकते इसी लिए हम पूर्ण विश्वास के साथ किसी मूर्त रासायनिक परीक्षण के सही नतीजे के बारे में ही पेशीनगोई अथवा प्रागुक्ति नहीं कर सकते। तो किसी जीवित जैवरचना के सही व्यवहार के विषय में तो और भी ऐसा कर सकना हमारे लिए असंभव है।

अतः इससे दो महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। (१) एक तो यह कि हमें रासायनिक और जीव-विज्ञान विषयक घटना-प्रपंचों को ऐसा समझ लेने का कि मानों वे यान्त्रिकी के हमारे परिचित संबंधों के अधिक उलझे उदाहरण मात्र हों, वस्तुतः व्यावहारिक औचित्य प्राप्त हो जाता है। क्योंकि यद्यपि वे विशुद्धतः यान्त्रिक वास्तव में नहीं होते तो भी सिद्धान्त रूप से गण्य इस सीमा तक अवश्य होते हैं कि हम बिना कोई ज्यादा गलती किये उनका सही माप कर सकते हैं।

(२) साथ ही साथ रसायन विज्ञान तथा जीव-विज्ञान में गुणात्मक और उद्देश्य वादात्मक पदार्थों के उपयोग का पर्याप्त औचित्य-निर्धारण भी हो जाता है। क्योंकि वे हित रसायनशास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय ज्ञान जिनका साधक हैं, प्राकृतिक गति क्रम सम्बन्धी हमारे हस्तक्षेप के व्यावहारिक नियमों तक ही सीमित नहीं हैं। इस मूलभूत वैज्ञानिक हित के अतिरिक्त, जिसे उसकी विषय वस्तु के यांत्रिक उपयोग द्वारा ही सन्तुष्ट किया जा सकता है सौन्दर्यानुभूति नामक दूसरा हित है गुणात्मक सजातीयतानुसार प्रक्रियाओं के श्रृंखल समूहीकरण विषयक और तीसरा इतिहासात्मक हित जिसके वश होकर हम मानव के सामाजिक अस्तित्व को अपेक्षाकृत स्थायी रूप की स्थापना तक पहुँचा देने वाले आनुक्रमिक रूपान्तरणों की खोज किया करते हैं। रसायनशास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय विज्ञानों के लिए जिस सीमा तक ऐसे गुणात्मक पृथक्करण अथवा विशेषण की तथा तत्परिणामी पदार्थिक उपयोग की आवश्यकता हुआ करती है, जो दोनों अयान्त्रिक होते हैं, उस सीमा तक ये सौन्दर्यानुभूतिक और इतिहास-विषयक हितों का ही न कि प्राकृतिक दृश्य-प्रपंच नियंत्रण विषयक प्रारम्भिक वैज्ञानिक हितों का उन दोनों की विशद् विस्तृति द्वारा साधन होता है।

अतः प्रायोगिक यान्त्रिकी की शाखाओं में परिवर्तित होने की अपनी संभावनाओं के अतिरिक्त भी, रसायन तथा प्राणिशास्त्र जहाँ तत्वतः वर्णनात्मक विज्ञान हैं वहाँ

उस सीमा तक जहाँ तक कि वे गुणात्मक तथा उद्देश्यवादात्मक पदार्थों का उपयोग करते हैं, उनके द्वारा सिद्ध होने वाला कार्य सौन्दर्यानुभूतिक तथा इतिहासात्मक वर्णन का काम होता है न कि सही तौर पर वैज्ञानिक वर्णन का। और चूँकि सौन्दर्यानुभूतिक तथा इतिहासपरक वर्णना के उद्देश्य वैज्ञानिक वर्णना के उद्देश्य से भिन्न होते हैं अतः वैज्ञानिक वर्णना के लक्ष्य हित-साधन के विशिष्ट स्वरूप द्वारा उस पर आरोपित, अभिधारणाओं के प्रतिपालन की आवश्यकता उन दोनों प्रकार की वर्णनाओं के लिए भी आवश्यक नहीं होती। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि बराकी प्रायोगिक यान्त्रिकी से अधिक और कुछ माने जाने के रसायन विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान के अधिकार को क्योंकर काण्ट के गहरी तौर पर सत्य इस दावे के अनुकूल बनाया जा सकता है, कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा में विज्ञान की ठीक उतनी ही मात्रा रहती है जितनी कि गणित की। आगामी खंड की विशिष्ट समस्याओं के संबंध में जब हम विशद् विवेचन करने लगेंगे तब उस अध्ययन के सिलसिले में उस विधि के और भी अधिक ध्यानाकर्षक उदाहरण देखने को मिलेंगे जिसके अनुसार संकीर्णतया 'वैज्ञानिक' हित ज्ञान की उस शाखा की क्रिया-विधि के निर्धारण में, जिसे उस शाखा के व्यवस्थित रूप के कारण, 'विज्ञान' शब्द के विस्तृततर स्वीकृतार्थों में विज्ञान कहना ही आवश्यक है, विशिष्टरूपेण गौण भूमिका शायद अदा कर सके।[1]

६—यतः पूर्ण और सर्वांगीण ज्ञान ही अन्ततोगत्वा एक पूर्णतया आत्म-निर्भर

---

१. संक्षेप में रसायनशास्त्र और प्राणिशास्त्र के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि जहाँ रसायनशास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय तथ्य कभी भी यान्त्रिकीय मात्र नहीं होते वहाँ रसायन शास्त्रीय तथा प्राणिशास्त्रीय विज्ञानों का उस सीमा तक जहाँ तक कि वे गणना और सामान्य नियमों के सूत्रीकरण जैसे एकदम वैज्ञानिक हितों का साधन करते हैं, सदा यान्त्रिकीय ही होना आवश्यक है। तथ्य स्वयं केवल इस विशिष्ट प्रयोजनार्थ उसी सीमा तक प्रयोज्य होते हैं जहाँ तक कि, ज्ञेय अशुद्धि के बिना उन्हें ऐसा समझा जा सके मानों वे सार्वभौम यान्त्रिकता की अभिधारणाओं के अनुपालक हों। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अधिक कठिन और विशिष्ट मामले पर अलग से विचार करने की बात मैं अगले खंड के लिए सुरक्षित रखता हूँ। (आगामी खंड ४, अध्याय १)

यान्त्रिकी विषयक अभिधारणा की तार्किक अर्हता संबंधी इस अभिमत के लिए, जो सिद्धान्ततः मेरे मन से मिलता-जुलता प्रतीत होता है, मैं अपने पाठकों को श्री डब्लू० आर० बी० गिब्सन लिखित 'पर्सनल आइडियलिज्म' नामक पुस्तक के पृ० १४४ पर छपी रोचक तर्कना का हवाला देता हूँ।

और आत्म-व्याख्येय व्यवस्था हो सकता है इसलिए हमें यह जान लेने की आशा रखना आवश्यक है कि भौतिक जगत् की यान्त्रिकीय व्याख्यार्थ प्रयोग में आने वाली कल्पनाएँ हमें उसी क्षण व्याघात दोष की ओर ले जा सकती है ज्योंही कि हम उन कल्पनाओं को समग्र सत् अथवा वास्तविकता के मूर्त स्वरूप के पूर्ण विवरण रूप में ग्रहण करने का प्रयास प्रारंभ करते हैं। यह बात दो प्रकार से विशेषतः प्रकट होती है। एक ओर तो यान्त्रिकी-विषयक पदार्थों का समस्त वास्तविकता में विनियोग हमें अनिवार्यतः अनिश्चित प्रति-गामिता की ओर ले जाता है । दूसरी ओर अस्तित्व के न्यूनतर भाग में उनका वैध विनियोग होने पर वे सब प्रामाण्यतया आपेक्षिक पायी जाती है, अर्थात् वे सदा ही किसी ऐसे अनेक पक्षीय तथ्य का एक पहलू प्रतीत होती है, जो इन अन्य पहलुओं के बिना निरर्थक होगा। इन दोनों विन्दुओं पर विवरणात्मक विचार करना हमारे लिए उचित होगा ।

भौतिक व्यवस्था के मामले में यान्त्रिकीय अभिमत का सफल विनियोग करने के लिए हमें उस व्यवस्था को गुणात्मकतया एकरूप तथा सम्बद्ध भागों के समग्र के परि-वर्तनशील संरूपणों से बना हुआ मानना पड़ेगा। इस दृष्टि बिन्दु से किसी प्रकार के भी विचलन के माने होंगे ऐसे विभेदों की मान्यता जिन्हें केवल मात्रात्मक ही नहीं माना जा सकता अर्थात् गणना और प्रागुक्ति के विषय मात्र, और इस प्रकार हमें अपनी विश्व-विषयक व्याख्या में अयान्त्रिकीय कारक का अध्याहार करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ेगा। यान्त्रिकीय अभिमत के पूर्ण क्रियान्वयन में, इस प्रकार, विश्व की ऐसी संकलपना अभिग्रस्त हो जाती है, जो एक अवकाश विस्तरित और कालाक्रान्त व्यवस्था रूप है और आकाशीय तथा कालीय परिवर्तन योग्य होते हुए भी अपने परिवर्तनों में आमूलान्त मात्रात्मक अभिज्ञान व्यक्त करती रहती है। भौतिक विज्ञान की क्रिया-त्मक संरचनाओं में इस मात्रात्मक अभिज्ञान का प्रतिनिधित्व मुख्यतः सन्मात्रीय अवि-नाशिता तथा ऊर्ज्जा अविनाशिता के सिद्धान्त किया करते हैं। अपने सामान्य रूपों में ये दोनों ही अवर सिद्धान्त इस प्रकार न तो ज्ञानात्मक स्वयं सिद्ध ही हैं न सत्याप्य अनुभवा-धारित तथ्य अपितु वे यान्त्रिकी विषयक सामान्य अभिधारणा के अंश मात्र ही है। ऐसा कोई भी अन्तमेत्थ तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर उन विशिष्ट मात्राओं को जिन्हें हम सन्मात्रा और ऊर्ज्जा कहते हैं वृद्धि अथवा ह्रास के अयोग्य मानने के लिए बाध्य हों, ना ही हमारे पास ऐसे कोई परीक्षणात्मक साधन ही हैं जिनके द्वारा हम सिद्ध कर सकें कि वे मात्राएँ सन्निकट अचर से भी कहीं और अधिक अचर हैं।[1]

---

१. तुलना कीजिए ब्रेडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियालिटी', अध्याय २३, नोट, २, पृष्ठ ३३। (प्रथम संस्करण), लोत्से लिखित 'मेटाफिजिक्स', खंड २, अध्याय ७,

किन्तु घटनाओं की क्रम-गणना करने में सफलता प्राप्त करने की एक आवश्यक शर्त यह है कि मात्रात्मक अभिज्ञान ऐसा जरूर न होना चाहिए जो भौतिक परिवर्तन की विविध प्रक्रियाओं के बीच अप्रभावित बना रहे और मौजूदा हालात में यान्त्रिकीय संरचना विषयक इस प्रागनुभवात्मक अभिधारणा की निश्चित अभिव्यक्ति हम मुख्यतः अचरता के दो सन्मात्रा और ऊर्ज्जा जैसे दो मात्रात्मक विशिष्ट रूपों द्वारा कर सकने में ही समर्थ प्रतीत होते हैं।

अब आइये हम अवकाशीय तथा कालीय दिनिर्देश और स्थिति को लें। इनके बारे में हम पहले ही देख चुके हैं कि वे दोनों ही सदा सापेक्षी होते हैं क्योंकि स्थिति और दिशा का परिलक्षण संदर्भीय मानक रूप में स्वेच्छतया चयित अन्य दिनिर्देशों और स्थितियों के अनुसार ही किया जा सकता है और यदि उन्हें चरम सत् अथवा वास्तविकता मान लिया जाता है तब उनमें अनिश्चित प्रतिगामिता अन्तर्ग्रस्त हो जाती है। अब इतना ही सिद्ध करना शेष रह जाता है कि यांत्रिक योजना की सन्मात्रा और ऊर्ज्जा जैसी, अन्य मौलिक कल्पनाओं के विषय में भी यह बात सही है। दोनों को पृथक् पृथक् लेकर आइए पहले हम सन्मात्रा विषयक अभिमत पर विचार करें। किसी द्रव्यात्मक व्यवस्था की सन्मात्रा को चालू शब्दों में उस व्यवस्था के 'द्रव्य की मात्रा' कहा जाता है। किन्तु तर्कशास्त्रीय विश्लेषणार्थ उसके लिए इससे अधिक विशुद्ध परिभाषा आवश्यक है। और इस तरह की परिभाषा निम्नलिखित तरीके से की जा सकती है। किसी पिण्ड की अचरता का क्या मतलब है यह समझाने के लिए कम से कम तीन विभिन्न 'पिण्डों' के, जिन्हें हम अ ब स की संज्ञा दे सकते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करना आवश्यक होता है। यह देखा गया कि एक दिए हुए फासले पर 'अ' की उपस्थिति, 'स' को 'म' मात्रिक त्वरण प्राप्त होता है और 'ब' की उपस्थिति में 'न' मात्रिक दूसरा त्वरण उसे प्राप्त होता है ऐसी दशा में 'अ' की सन्मात्रा का 'ब' की सन्मात्रा के साथ अनुपात 'म'/'न' का रहता है और यही उन त्वरणों का अनुपात है जो वे दोनों 'स' में उत्पन्न करते हैं। यह अनुपात अचर होगा भले ही 'स' के लिए कोई भी पिण्ड क्यों न हम चुन लें। अतः यदि स्वेच्छतया हम 'ब' को ही सन्मात्रा के मापार्थ इकाई के रूप में मान लें तो उपर्युक्त परीक्षण द्वारा निर्धारित 'अ' की सन्मात्रा संख्या 'म' द्वारा प्रकट होगी। सन्मात्रा के अविनाशित्व सिद्धान्त का अभिप्राय इस अभिमत में निहित है कि उपर्युक्त अनुपात

पृ० २०१, २१० (अंग्रेजी अनुवाद खं० २, पृ० ८९ एफएफ; वार्ड लिखित 'नेचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म', भाग १, पृ० ८४–९१ (कंजर्वेशन ऑफ मॉश), १७०–१८१। (कंजर्वेशन आफ एनर्जी)।

म/न कालात्यय के कारण बदलता नहीं ।[१] अर्थात् किसी भी पिण्ड-द्वय द्वारा किसी तीसरे पिण्ड में उत्पादित त्वरणों के साध्य का अनुपात अचर होता है और स्वयं इस तृतीय पिण्ड से स्वतंत्र भी । इस साध्य अथवा तर्कवाक्य का किसी विशिष्ट पिण्ड-द्वितय के संबंध में सन्निकटतया सत्यापन प्रत्यक्ष परीक्षण द्वारा किया जा सकता है किन्तु जब सार्वभौमरूपेण उसे सत्य बताया जाने लगता है तब वह यान्त्रिकी की सामान्य अभिधारणा का ही अंग बन जाता है ।

सन्मात्रा अर्थ की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि (१) सन्मात्रा एक सापेक्ष संख्या है । वह किसी ऐसे अचर अनुपात का द्योतक होती है जिसके पूर्ण परि-लक्षणार्थ तीन पृथक् पदों की आवश्यकता होती है, अतः समग्र भौतिक व्यवस्था अथवा 'विश्व' में सन्मात्रा के अध्याहरण के कोई माने न होंगे । विश्व समग्रतः तभी सन्मा-त्रात्मक हो सकता था जब कोई पिण्ड ऐसा उसके बाहर मौजूद होता जो उसके साथ ऐसी अन्तः-क्रिया कर सकने में समर्थ होता जिससे हम उक्त पिण्ड की समुपस्थिति में समग्र 'भौतिक विश्व' तथा स्वेच्छतया चयित सन्मात्रात्मक इकाई के आपेक्षिक त्वरणों की तुलना कर सकते । किन्तु हमारी कल्पना के 'विश्व' में सारा ही भौतिक अस्तित्व समाया रहता है अतः उससे बाह्य अन्य उपर्युक्त प्रकार का कोई पिण्ड नहीं है । और इसी लिए बिना वदतो-व्याघात दोष के हम यह नहीं कह सकते कि समग्र अस्तित्व में सन्मात्रात्मक गुण वर्तमान होता है न किसी पुष्टतर आधार पर यह ही कह सकते हैं कि उसकी सन्मात्रा अचर होती है । सन्मात्रा की अविनाशिता का सिद्धान्त विश्व के छोटे मोटे भागों पर ही बुद्धिगम्यतया आयत्त हो सकता है ।

(२) यह बात भी स्पष्ट है कि किसी पिण्ड की सन्मात्रा, हमारी यान्त्रिकीय संरचनाओं में अविगणित बहुतेरे पहलुओं से मुक्त विश्व का केवल एक पहलू होती है । ऐसे पिण्डों के जिनके त्वरणों में इस प्रकार अचर अनुपात वस्तुतः प्रदर्शित हुआ करता है, इस अचर अनुपात से अतिरिक्त अन्य बहुत से गुण धर्म और भी हुआ करते हैं । वस्तु-

---

१. **सन्मात्रा नामक पद के अर्थ का स्थिरीकरण मात्र ही हमें अभीष्ट हो और उसे हम अचर सन्मात्रा की कल्पना के बिना ही स्थिर करना चाहते हों तो केवल अब दो पिण्डों को ही लेकर विचार कर सकते हैं**

$$\frac{\text{ब की संमात्रा}}{\text{तब अ की संमात्रा}} = \frac{\text{ब की उपस्थिति में अ का त्वरण}}{\text{अ की उपस्थिति में ब का त्वरण}}$$

देखिए—मॉश कृत 'सायंस ऑफ मेकेनिक्स', पृष्ठ २१६ एफ़एफ़; तथा पीयर्सन लिखित 'ग्रामर ऑफ सायंस', पृष्ठ ३०२ (द्वितीय संस्करण) जिस पर उपर्युक्त विवरण आधारित है ।

तथ्यतः उनमें परस्पर तथा अन्य वस्तुओं से भी ऐसी गुणात्मक विभिन्नताएँ होती हैं जिनका हम अपने यान्त्रिकीय उपयोग में कोई ख्याल इसलिए नहीं रखा करते क्योंकि उनसे उस विशिष्ट गुणलक्षण में जिसमें गणना हेतु हमारी विशेष अभिरुचि हुआ करती है, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यान्त्रिकीय क्रियाकलाप में एकदम खुले और स्पष्टतम अपाकर्षणों द्वारा ही हम पिंडों का इस प्रकार उपयोग किया करते हैं मानों वे सन्मात्रा मात्र हो अन्य कुछ नहीं। अतः प्रकृति की यांत्रिकीपरक व्याख्या जिन तथ्यों को अपने लेखे-जोखे में शामिल करती है जहाँ तक कि उसके द्वारा क्रियमाण पिण्डों के सन्मात्राओं में विघटन का प्रश्न है वहाँ तक, वे तथ्य ऐसी पूर्णतर वास्तविकता का एक पहलू मात्र होते हैं जिसे हम समग्र का समकक्ष केवल व्याहारिकतावश ही इसलिए मानते हैं कि उसका लक्ष्य उसे अनुभव के आधार पर समकक्ष मानने से ही सिद्ध होता पाया जाता है।

ठीक यही बात ऊर्ज्जा विषयक पूरक धारणा के विषय में भी सही है। प्रतिरोध के विरुद्ध किसी पिण्ड की क्षमता अथवा उसकी स्थितिज ऊर्ज्जा को परीक्षण द्वारा प्राप्त माप उसके वेग के वर्गार्ध को उसकी सन्मात्रा द्वारा गुणा करने से प्राप्त होता है। परीक्षण से यह भी पता लगता है कि जहाँ तक हम माप सकते हैं वहाँ तक ही किसी ऐसी पादार्थिक व्यवस्था की; जिसपर कोई बाहरी प्रभाव नहीं है ऊर्ज्जा अचर रहा करती है। यह अचरता निरपेक्ष है यह बात एक बार फिर प्रत्यक्ष अनुभवाश्रित प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं करती अपितु वह इस अभिधारणा का ही अंश सिद्ध होती है कि भौतिक व्यवस्था यान्त्रिकीय दृष्टिकोण से व्याख्येय है । सन्मात्रा विषयक धारणा के बारे में पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे अब इतना तो हमें तुरन्त ही मालूम हो सकता है कि भौतिक जगत् अथवा 'विश्व' को समग्रतः स्थितिज ऊर्ज्जा-मय चाहे वह ऊर्ज्जा अचर हो अथवा अन्य प्रकार की, कहना बुद्धिमानी न होगी। जिसे सन्मात्रावान् नहीं कहा जा सकता उसमें सन्मात्रात्मक शब्दावली द्वारा व्याख्येय गुण धर्म भी नहीं हो सकता। निश्चय ही यही निष्कर्ष सीधे ऊर्ज्जा की इस परिभाषा से ही निकाल सकते थे कि प्रतिरोध की पराभूति के लिए किए जाने वाले कार्य की क्षमता ही ऊर्ज्जा कहलाती है। चूँकि 'विश्व' से बाह्य कोई चीज है ही नहीं इसलिए उसके द्वारा पराभूत होने योग्य संभाव्य प्रतिरोध का कोई स्रोत भी नहीं हो सकता और इसीलिए यह भी नहीं सोचा जा सकता कि विश्व 'काम' करता है अतः पुनः एक बार कह सकते हैं कि भाग अथवा अंगरूप में ही ग्रहीत भौतिक जगत् के अंशों में ही ऊर्ज्जा का आरोप किया जा सकता है।

(३) एक बार फिर यह बात कि हम किसी विशुद्धतः यांत्रिकीय संरचना द्वारा अधिकृत अन्यतम पक्ष-समग्र में से अपाकर्षण द्वारा एकाकीकृत उसके केवल एक ही पक्ष पर विचार कर रहे हैं सन्मात्रा के मामले की अपेक्षा ऊर्ज्जा के विषय में और भी अधिक

स्पष्ट दीखती है। क्योंकि (अ) किसी वास्तविक पिण्ड की कार्यक्षमता सदा वास्तविक गति के 'गतिज' रूप में नहीं रहती। गतिज ऊर्ज्जा के विविध रूप हुआ करते हैं जैसे किसी उपरिष्ठ पिण्ड की 'स्थान' विषयक ऊर्ज्जा तथा अपने आसपास के तापमाप की अपेक्षा अधिक तापमापवान् पिण्ड का ताप जिन्हें यांत्रिकीय विज्ञान गतिज ऊर्ज्जा का समकक्ष इसलिए मानता है क्योंकि सैद्धांतिकतया उन्हें 'गतिज' ऊर्ज्जा में परिवर्तित किया जा सकता है। और अगतिज प्रकार की ऊर्ज्जाओं के ये रूप वास्तविक गति संबन्धिनी ऊर्ज्जा से तथा पारस्परिक ऊर्ज्जा दोनों ही से गुणात्मकतया पृथक् होते हैं। यह तो अपाकर्षण ही है जिसके आधार पर हम उन्हें तादात्म्यरूप मानते हैं क्योंकि किन्हीं विशिष्ट प्रयोजनों के लिए वे समकक्ष हुआ करती हैं। हो सकता है कि इन गुणात्मक पार्थक्यों के कारण हमारे अपने विशिष्ट प्रयोजन में कोई अन्तर न आये किन्तु फिर भी वे वहाँ मौजूद तो रहती ही है।

इसके अतिरिक्त यान्त्रिकीय योजना स्वयं भी हमें यह समझा सकने के लिए एकदम अपर्याप्त है कि ऊर्ज्जा के विभिन्न रूप एक दूसरे की स्थानापत्ति कैसे किया करते हैं। जैसाकि प्रोफेसर वार्ड ने बड़ी अच्छी तरह कहा है कि ऊर्ज्जा-अविनाशित्व विषयक अभिमत इससे अधिक और कोई दावा नहीं करता कि ऊर्ज्जा के सभी विनिमयों में कुछ न कुछ मात्रात्मक अभिज्ञान बना ही रहता है। किन्तु ये विनियम कब और किस दिशा में होंगे यह बात कह सकने की क्षमता उपयुक्त सिद्धान्त हमें नहीं देता। उदाहरणतः यदि मुझे किसी ऐसे शिलाखण्ड की सन्मात्रा ज्ञात हो जो किसी छत पर रखा हो और साथ ही यदि मुझे धरातल से छत तक की ऊँचाई तथा उस विशिष्ट स्थान पर गुरुत्व द्वारा उत्पादित त्वरणों का भी ज्ञान मुझे हो तो मैं उस शिलाखण्ड की 'स्थितिज ऊर्ज्जा' का निर्धारण कर सकता हूँ। लेकिन इन उपर्युक्त दत्तों के आधार पर मुझे यह कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाता कि यह स्थितिज ऊर्ज्जा सदा ही क्या अपने विभवीय रूप में ही रहेगी अथवा यह पत्थर कभी हट सकेगा और उसकी ऊर्ज्जा गतिज रूप में भी परिवर्तित हो सकेगी? और यदि ऐसा हो सकेगा तो कब। इस प्रकार प्रकृति की यान्त्रिकीय व्याख्याविषयक सिद्धान्त शिलाखण्ड के पतन जैसे सीधे सादे मामले में मूर्त घटना क्रम का वर्णन करने जैसे सीधे सादे मामलों तक के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं होते। यदि शिलाखण्ड गिरता है तो यांत्रिकीय अभिधारणा की सहायता से मैं उस प्रक्रिया के एक पक्ष का वर्णन कर सकता हूँ, जो नामतः उत्क्रान्त होने वाली गतिज ऊर्ज्जा की मात्रा कहलाती है। इसके अतिरिक्त अगर कुछ पहले वाली शर्तें पूरी हो सकीं, जैसे कि अगर वह आधार जिसपर पत्थर रखा है टूट जाता है और पत्थर का पतन पहले से रोका नहीं जाता तो यान्त्रिकीय अभिधारणा के बल पर मैं निष्कर्ष निकाल सकता हूँ कि पत्थर गतिज ऊर्ज्जा की ठीक इतनी मात्रा से गिरेगा और जमीन तक पहुँचेगा। लेकिन जब तक मैं

यान्त्रिकीय योजना की सीमाओं के भीतर रहूँगा तब तक उन वस्तुओं को जिनका पूर्ण निर्धारण स्वयं यान्त्रिकीय योजना के बस की बात नहीं, दिये गये दत्तों को प्राक्कल्पना मान कर चलने से मैं बच नहीं सकता ।

इन सब बातों से पता चलता है कि स्वयं यान्त्रिकीय योजना के स्वरूप मात्र से ही हमारा पहलेवाला यह निष्कर्ष कि प्रकृति के गतिक्रम में हस्तक्षेप कर सकने के सफल नियम निर्धारणार्थ पर्याप्त यथार्थतापूर्वक गणना कर सकने की हमारी व्यावहारिक आवश्यकता के कारण उद्भूत अभिधारण ही की वह एक विवृत्तिमय व्याख्या मात्र है किन्तु बिना किसी व्याघात के तार्किकरूपेण वह किसी मूर्त प्राकृतिक प्रक्रिया विषयक वास्तविक सत्य के रूप में मान्य होने के अयोग्य है । वैज्ञानिक यान्त्रिकता की मौलिक धारणाओं की परीक्षा से प्राप्त आन्तरिक साक्ष्य से अन्य आधारों पर उरीकृत इस अभिमत की कि यह समग्र भौतिक जगत् किसी इस तरह की चरमतर सत्ता या वास्तविकता का आभास मात्र है जो हमारे अपने ज्ञानवान् और सप्रयोजन जीवन की ही सदृश है । पुष्टि करता है । साथ ही यान्त्रिकता की हमारी इस परीक्षा से सत्ता या वास्तविकता तथा आभास के बीच की प्रायः भ्रान्तिपूर्ण प्रतिस्थापना पर भी कुछ उपयोगी प्रकाश पड़ सकता है । यान्त्रिक विज्ञान की दृष्टि से हम भौतिक जगत् को 'आभास' इसलिए नहीं कहते कि हम उसे तद्रूपेण भ्रान्ति अथवा माया मानते हैं, ना ही इसलिए कि वह किसी सत्य सत्ता या वास्तविकता की अभिव्यक्ति नहीं है अपितु इसलिए कि वह वास्तविकता या सत्ता के उन्हीं विशिष्ट पक्षों पर ध्यान देता है जो किन्हीं विशिष्ट प्रयोजनों के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक होते हैं । हमें जो कुछ भौतिक जगद्रूप भासता है, निःसन्देह वह एक सत्य सत्ता है और वह तथ्यरूपेण, तद्रूपेण वर्तमान एकमात्र सत्ता का ही एक पूर्ण सांख्यिक भाग है, किन्तु वह हमारे सामने इस विशिष्ट रूप में और इन विशिष्ट प्रतिबन्धों के भीतर इसलिए प्रतिभासित होता है क्योंकि हमने वर्णनात्मक विज्ञान की अपनी प्रारंभिक अभिधारणाओं के मनमाने चुनाव द्वारा मूर्ततथ्यों विषयक प्रत्येक अन्य पहलू को अपने विचार-क्षेत्र के बाहर ही रहने दिया है । अपनी इस दुनिया के विषय में अपने भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत हम जो खास-खास सवाल पूछा करते हैं उनकी शक्ल सूरत ही बताती है कि हमने उन प्रत्याशित उत्तरों की सामान्य रूपरेखा पहले ही से निर्धारित किये बैठे हैं ।

उदाहरण के लिए, दृढ़तया वैज्ञानिक अनुसन्धान से सारी दुनिया में सर्वत्र यान्त्रिकीय निर्धारण ही देखने को मिलता है, प्रयोजनात्मक स्वतः प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते । ऐसा इसी लिए होता है चूँकि वह अनुसन्धान पहले ही से यह निश्चय किये बैठा होता है कि वह केवल 'यान्त्रिकीय व्याख्या' को अपने प्रश्नों के उत्तर में ही स्वीकार करेगा और किसी को नहीं । अपने यान्त्रिकीय विज्ञान में शुरू से आखीर तक इस प्रकार के

स्वतः आरोपित तार्किक प्रतिबन्धों की मौजूदगी को जहाँ तक हम न भुलायेंगे वहाँ तक उनका अस्तित्व हमें न तो किसी मायाजाल की ओर ले जा सकेगा न किसी धोखे में फँसा पायेगा। हमारी यान्त्रिकीय अभिधारणाओं की सफलता सिद्ध करती है कि उनकी तर्कशास्त्रीय विनियोजनीयता की परिधि के भीतर विश्व का गतिक्रम उन अभिधारणाओं का वास्तव में ही अनुपालन करता है और इस विनियोजन से हुए प्राप्त परिणाम, जहाँ तक बूता है, वहाँ तक, असली सत्य होते हैं, यान्त्रिकीय विज्ञान के सत्य तब ही विपर्यस्त होकर यान्त्रिकीय दर्शनशास्त्र की भ्रान्तियों और असत्यताओं का रूप धारण कर लेते हैं जब हम यान्त्रिकीय अभिधारणाओं के तर्कशास्त्रीय विनियोजन के लिए निर्धारित उन मर्यादाओं को जो उन अभिधारणाओं द्वारा साध्य हितों के विशिष्ट स्वरूप के कारण उन पर आयत्त होती है, भूल जाते हैं और उन्हें समग्र अस्तित्व तथा सकल ज्ञान की तर्कानुसार अपरिहार्य शर्तें मान कर चलने लगते हैं।

अधिक परामर्शार्थ देखिए :—एफ० एच० ब्रेडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियालिटी', अध्याय २ (फिनोमिनलिज्म), २२ (नेचर); एच० लोत्से लिखित 'मेटाफिजिक', पुस्तक २, अध्याय ७,८; ई० मॉश लिखित 'सायंस आफ मेकेनिक्स', अध्याय २, सेक० ५, पृ० २१६ एफएफ; के० पीयर्सन लिखित 'ग्रामर आफ सायंस', अध्याय ७, ८; एच० पोयंकारे की पुस्तक 'ला सायंस एट् ला 'होयपोथीज' के पार्ट्स ३ व ४, अध्याय ६–१०; जे० बी० स्टैलो लिखित 'कांसेप्ट्स एण्ड थियरीज आफ मार्डन फिजिक्स', अध्याय २–६, १०–१२; जे० वार्ड कृत 'नेचरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म,' खंड १, लेक्चर २–६।

चतुर्थ खण्ड

तर्कना-परक मनोविज्ञान : जीवनविषयक अर्थ-निर्णय

अध्याय १

मनःशास्त्रीय विज्ञान का तर्कनापरक स्वरूप

१—वे सब विविध विज्ञान मानवजीवन के अर्थ निर्णय का काम करते हैं। मनोविज्ञान के मौलिक पदार्थों का उपयोग किया करते हैं। इसलिए हमारा पूछना आवश्यक है कि मनोविज्ञान की कल्पनाएँ वास्तविक अनुभूति से किस प्रकार सम्बद्ध होती है। २—मनोविज्ञान अमूर्त वर्णनात्मक सूत्रों का एक समूह है। वह वास्तविक जीवन की व्यष्ट प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष प्रतिलेख नहीं है। वह भौतिक जगत् की पहले वाली संरचना के अस्तित्व को पहले से ही मान कर चलता है। ३—'मानसिक स्थितियों के अनुवर्तन' अथवा 'प्रतिमूर्तियों के अनुवर्तन' के रूप में चैतन्य जीवन की मनोवैज्ञानिक परिकल्पना वास्तविक अनुभूति का ऐसा रूपान्तरण है जिसका जोड़ तोड़ अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियों का लेखा बैठाने के लिए लगाया गया है और जिसे विस्तृत करके मेरी अपनी अनुभूति में रूपान्तरित कर दिया गया है। यह रूपान्तरण 'अन्तर्निवेश' विषयक प्राक्कल्पना द्वारा किया जाता है। ४, ५—तथ्यों के मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण का तार्किक औचित्य दो प्रकार का है। मनोवैज्ञानिक योजना मनोवैज्ञानिक यान्त्रिकता विषयक हमारे सिद्धान्तों की खाली जगहों को थोड़ा बहुत भरने का काम करती है और साथ ही वह मनोविज्ञान के साध्यपरक पदार्थ के संबंध में मानव चरित्र के क्रम का इस रूप में वर्णन करने के काम करती है कि वह नीतिशास्त्र तथा इतिहास की शंसा प्राप्त कर सके। मनोविज्ञान यान्त्रिक तथा साध्यपरक दोनों ही प्रकार के पदार्थों का वैध उपयोग कर सकता है। ६—(अ) मनोविज्ञानिक, (ब) साध्यवादीय वर्णनों की संभाव्यता के विरुद्ध कभी कभी उठाये जाने वाले आक्षेप ग्राह्य नहीं हैं।

१—विश्व-सम्बन्धी कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण धारणाओं की जो संक्षिप्त समीक्षा हमने की उससे हमें परिणामस्वरूप यह विश्वास हो गया कि हमारे प्रथम दो खंडों में सिद्धान्ततः अस्तित्व विषयक जो 'आदर्शवादी' अथवा 'अध्यात्मवाद परक' व्याख्या की, गयी थी वह सही थी। वे पाठक जिनकी हमारे साथ सहमति यहाँ तक चली आयी है, यह मानने के लिए पूरी तरह तैयार होंगे कि विश्व को यदि हम एकदम अथवा खंडशः यान्त्रिकरूपेण अन्योन्य-क्रिया परायण तथा परस्पर निर्भर तत्वों से बना हुआ मानने की अपेक्षा ऐसे संवेदी (ज्ञानवान्) और सप्रयोजन अनुभूति-पात्रों से जो सिद्धान्ततः मानव समाज के सदस्यों से मिलते जुलते हों, बना हुआ मानें तो हम कम से कम,

सत्य के निकटतर तो अवश्य ही पहुँच चुकेंगे। किन्तु विश्व की आदर्शवादपरक व्याख्या फिर भी हमें गहनतम दार्शनिक महत्व की अनेकों समस्याओं का सामना करने के लिए छोड़ देती है। हमें फिर भी पूछना पड़ता है कि हम ऐसे व्यवस्थित एकत्व की सच्चाई के साथ विशिष्ट कल्पना क्योंकर कर सकते हैं जो आभासतः न्यूनाधिक स्वतंत्र अनुभूति-पात्रों के समग्र बाहुल्य द्वारा निरूपित हो, तथा यह भी कि उक्त व्यवस्था के अंग रूप में जहाँ तक हमारी समझ में आ सके वहाँ तक, स्थायित्व तथा व्यष्टता की कितनी मात्रा हमारे हिस्से में पड़ती है और यह भी कि हमारी नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुभूति विषयक आकांक्षाएँ और आदर्श इस समग्र व्यवस्था के मूर्त स्वरूप तथा उसमें हमारे अपने स्थान के विषय पर कितना प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त, इससे पहले कि हम इन महत्वपूर्ण समस्याओं की युक्तियुक्त सफलता की आशा लेकर आलोचना प्रारंभ कर सकें हमें यह जानने की जरूरत होगी कि मानसजीवन का विवेचन करनेवाले विविध-विज्ञानों द्वारा प्रयुक्त पदार्थों में से कौन से पदार्थ मौलिक महत्व के हैं तथा यह कि अव्यवहृत अथवा तात्कालिक अनुभूतिविषयक मूर्त वास्तविकताओं और भौतिक विज्ञानों के अर्थागमों के साथ उन विज्ञानों का तर्कसंगत सम्बन्ध क्या है। मनोविज्ञान, समाज विज्ञान अथवा नीतिशास्त्र के शब्दों में, समग्र अस्तित्व का अर्थ निर्णय कहाँ तक वैध है। इसका निर्णय हम विविध मानस विज्ञानों द्वारा साध्य प्रयोजनों विषयक तर्कपरक सिद्धान्त तथा तद्नुरूप पदार्थों के उपयोग पर उन प्रयोजनों के द्वारा आयत्त हो सकने वाले प्रतिबन्धों के आधार पर ही कर सकते हैं।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त अनुच्छेद में संकेतित पुरोगम के पूर्ण क्रियान्वयन के लिए मानवजीवन की सार्थकताविषयक व्यवस्थित दार्शनिक व्याख्या की आवश्यकता होगी और उस व्याख्या के लिए सामाजिक तत्वमीमांसा अथवा 'इतिहासीय' तत्वमीमांसा जैसा कोई नाम उसकी पारंपरिक अभिधा 'तर्कपरक मनोविज्ञान' की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त होगा। किन्तु अपने कर्तव्य कर्म के इस उपविभाग के लिए, मैंने पुराना ही नाम इसलिए खासतौर पर कायम रखा क्योंकि स्वयं हमारा प्रारंभिक विवाद मूलतः उन बेहद सीधी-सादी और सर्वसामान्य मनोवैज्ञानिक धारणाओं से संबद्ध होगा जिनका उपयोग समाजशास्त्रीय तथा इतिहासशास्त्रीय जैसे अधिक ठोस विज्ञान उसी प्रकार किया करते हैं जिस प्रकार कि सन्मात्रा, ऊर्ज्जा और वेग आदि यान्त्रिक कल्पनाओं का स्थिर उपयोग रसायनादि भौतिक विज्ञान करते हैं। मनोविज्ञान के एक पक्ष तथा विविध सामाजिक और ऐतिहासिक विज्ञानों के द्वितीय पक्ष के बीच के सम्बन्ध की विशुद्ध मात्रा के विषय में चाहे जैसी दृष्टि क्यों न अपनायें लेकिन कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा इतिहासादि अन्य सब में ही आत्म, इच्छा, विचार, स्वतंत्रता आदि जैसे मनोवैज्ञानिक पदार्थों का लगातार उपयोग सन्निविष्ट रहता है और

यह कि, इस प्रकार इतिहास तथा समाज की किसी भी तत्वमीमांसात्मक गम्भीर व्याख्या का प्रारंभ उन कल्पनाओं को सम्बद्ध विज्ञान के तर्कपरक स्वरूप के अनुसंधान से ही ठीक उसी तरह होना आवश्यक है जिस तरह कि प्रकृति का गम्भीर तत्वमीमांसक यान्त्रिक विज्ञान-संबंधी अभिधारणाओं की परीक्षा को लेकर अपना अनुसंधान प्रारंभ करने के लिए बाध्य था। मैं अनुमान करता हूँ कि अपने पाठकों को यह फिर से याद दिलाने के खातिर एकाध चलाऊ शब्द कह देने के अतिरिक्त और अधिक कुछ कहने की यहाँ जरूरत नहीं कि इस प्रकार के अनुसंधान में विशुद्धतः अनुभवाश्रित मनोविज्ञान की पहले ही से हुई सृष्टि का पूर्वग्रहण करके ही कार्यारंभ करना होता है। मनोविज्ञान के प्रति तत्त्वमीमांसा का सरोकार प्रारंभ ही यह आदेश दे चलने का नहीं है कि वह विश्वविषयक अपना अभिमत किस प्रकार का बनाने के लिए बाध्य है अपितु उसका काम है परिपूरित संरचना के तर्कपरक स्वरूप का पता लगाना तथा मानवज्ञान की सामान्य व्यवस्था के साथ उसके सम्बन्ध की जाँच करना।

२—विज्ञानों के बीच मनोविज्ञान का स्थलः—तत्त्वमीमांसक के दृष्टिकोण से स्पष्टतः और निरन्तर इस बात की पहचान रखना बेहद जरूरी है कि मनोविज्ञान अन्य विज्ञानों के समान वास्तविक पात्रों का या व्यक्तियों की ही क्रियात्मक अनुभूतियों से निरन्तर काम न ले अपितु वह उन दत्तों का ही उपयोग किया करे जो क्रियात्मक अथवा वास्तविक अनुभूतियों के कृत्रिम जोड़-तोड़ और रूपान्तरणों द्वारा, किन्हीं विशिष्ट हितों और प्रयोजनों के आदेशानुसार निर्धारित रूप में प्राप्त हुए हों। यह एक ऐसी बात है जिस पर कोई भी आदर्शपरक तत्त्वमीमांसक विशेषतः अपने भरोसे छोड़ दिए जाने पर, गलत रास्ते जा सकता है। क्योंकि वह तो इसी विश्वास को लेकर चलता है कि अस्तित्व के इस समग्र के स्वरूप की कुंजी हमें अपने ही संवेदी और सप्रयोजन जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति में ही मिलती है। अतः यदि उसने मनोविज्ञानशास्त्र के रीति-विधान पर विशेष रूप से ध्यान न दिया हो तो, उसका झुकाव पहले ही से इस बात के निर्धारित मान लेने की ओर होता है कि मनोविज्ञानशास्त्री की कल्पनाएँ और अभिधारणाएँ इन अनुभूतियों का मूर्त और प्रत्यक्ष विवरण प्रस्तुत करती हैं और इसलिए उन्हें निःशंक होकर स्वयं निरपेक्ष तथा अनन्त व्यष्ट की अन्तरतम संरचनाविषयक निश्चित ज्ञान का उपयोगी स्रोत माना जा सकता है। इस बात को प्रयोगात्मक प्रदर्शनों द्वारा बार बार सिद्ध करने का प्रयत्न भी, कि मनोविज्ञानशास्त्र के प्रचलित पदार्थों से कोई सा भी पदार्थ बिना किसी महान् व्याघात के, वास्तविकता अथवा सत्ता के निरपेक्ष समग्र का विधेय नहीं बनाया जा सकता, प्रायः वहाँ विश्वास पैदा नहीं कर पाता जहाँ मनोवैज्ञानिक के दत्तों की कृत्रिमता तथा मूर्त वास्तविकता से उनके दूरत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण उसके साथ नहीं होता। अतः, इस प्रकार के प्रश्नों

पर बहस करना कि क्या अपरिमित व्यष्ट को सहीतौर पर 'आत्म' माना जा सकता है अथवा 'नैतिक व्यक्ति' या 'नैतिक व्यक्तियों का समाज' और यह कि क्या परिमित 'स्वात्म' विश्व व्यवस्था के 'सर्वकालीन' कारक होते हैं अथवा अस्थायी कारक, निरर्थक से भी बढ़ कर होगा जब तक कि पहले उस तरीके के बारे में जिसके अनुसार ये मनोवैज्ञानिक कल्पनाएँ अनुभूति की मूर्त वास्तविकताओं से व्युत्पादित होती हैं तथा उन विशिष्ट हितों के बारे में जिनके कारण उनका निरूपण होता है और इन हितों द्वारा उनके वैध विनियोजन के क्षेत्र पर लगाये गये प्रतिबन्धों के बारे में किसी प्रकार का निश्चित अभिमत पहले से ही निर्धारित न कर लिया जाये।

यह बात कि अन्य वर्णनात्मक विज्ञानों के ही समान मनोविज्ञान शास्त्र भी आमूलान्त ऐसे दत्तों पर ही विचार करता है जो मूर्त आनुभूतिक वास्तविकताएँ नहीं होते बल्कि अपाकर्षण और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के कृत्रिम उत्पाद हैं, इससे ही पर्याप्त स्पष्ट होना चाहिए कि अन्य विज्ञानों की तरह मनोविज्ञान भी उपलक्षणात्मक स्थितियों के सामान्य विवरणों का निकाय है। जानने अथवा काम करने की कोई भी वास्तविक प्रक्रिया, प्रत्येक वास्तविक घटना के समान ही, सदा व्यष्ट ही हुआ करती है, और चूंकि वह व्यष्ट होती है इसी लिए उसका पर्याप्त वर्णन कर सकना असंभव होता है। उसका वर्णन अगर किया भी जा सके तो उतनी ही सीमा तक किया जा सकता है जहाँ तक कि उसके कुछ पहलुओं और गुणों को उसकी समग्र सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में चुनकर उनके सामान्यीकरण की गुंजाइश स्थिति में मौजूद हो, इतिहास तथा जीवन चरित्र तक का अस्तित्व जिनमें किसी ऐसी घटना-शृंखला की जो तदन्तर्गत प्रयोजन की एकान्तिकता के कारण भीतरी तौर पर संयुक्त रहती है, साध्यपरकव्याख्या अनुक्रम विषयक यान्त्रिक नियमों के अनुसार व्याख्या के आदर्श के रूप में, बाह्य सम्बन्ध का स्थान ले लेती हैं, इसी शर्त पर संभव हुआ करता है कि जीवन की ठोस वास्तविकताओं का वैसा रूपान्तरण जो अपाकर्षण और पुनर्गठन की उस मात्रा में अन्तर्हित रहता है। इतिहास लेखक तथा जीवनी लेखक के विशिष्ट हितों की हानि किए बिना किया जा सके। और मनोविज्ञान तो इतिहास की तुलना में अवास्तविक तथा अमूर्त है ही। वह हमें ऐसे सामान्य सूत्र प्रदान करता है जो इसलिए मूल्यवान हैं अथवा होने चाहिये क्योंकि उनसे इच्छा करने और जानने की प्रक्रियाओं के कुछ सार्वत्रिक लक्षणों का वर्णन करने का साधन हमें प्राप्त होता है। लेकिन जिस तरह यांत्रिकी 'बाह्य' प्रकृति की किसी वास्तविक व्यष्ट प्रक्रिया के गतिक्रम का अनुसरण नहीं कर सकती इसी तरह मनोविज्ञान भी जानने और काम करने की किसी वास्तविक प्रक्रिया के क्रियात्मक गतिक्रम का पर्याप्त अनुसरण करने में असमर्थ है। इस तरह पर वैज्ञानिक मनोविज्ञान की कल्पनायें और सूत्र व्यष्ट और वास्तविक विषयक अपने संबंधों के मामले में वैज्ञानिक भौतिकी की कल्पनाओं और

सूत्रों की बिलकुल सही समकक्ष हैं। उनकी वैधता और सत्यता के सीधे सादे माने यही है कि अगर ठोस वास्तविकताओं की जगह उन्हें हम ला बिठायें तो हमें ऐसे कुछ प्रश्नों का उत्तर हस्तगत हो जाय जिनका हल करना हमें अभीष्ट है, उनका अर्थ यह नहीं कि वे वास्तविकताओं की ही अपरिवर्तित प्रतिलिपि हैं।

सम्भवतः यही बात और भी खूबी के साथ यह कह कर सिद्ध की जा सकती है कि विज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप में मनोविज्ञान की वर्तमानता द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूतियों की एकता के, भौतिक व्यवस्थात्मक तथा तद्बाह्य अभौतिक परिमण्डलात्मक उस विभाजन की पूर्व स्वीकृति मिल गयी है जिसके उद्गम का अनुसंधान हम पहले कर चुके हैं। मनोविज्ञान को तब तक कोई विषय वस्तु अपने लिये उपलब्ध नहीं होती जब तक कि हम पिछले अनुच्छेदों में विमृष्ट व्यावहारिक कारणों के आधार पर, पहले उन सब अनुभूति-विषयवस्तुओं का जो निर्दिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत अनेकों व्यक्तियों के प्रेक्षणार्थ समान रूप से प्राप्य हैं, भौतिक व्यवस्था में समावेश करके उसकी रचना नहीं कर डालते और ऐसा करने के बाद जो भी अनुभूति-विषयवस्तुएँ उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित व्यवस्था के बाहर बाकी रह जाँय इन्हें 'मनस्तत्वीय' अथवा 'मानसिक' अस्तित्व के परिमण्डल में रखने का अगला कदम नहीं उठा लेते। और भौतिक तथा मनस्तत्वीय अथवा मानसिक विषयवस्तु के इस समग्र पृथक्करण के लिए कोई स्थान वास्तविक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति में नहीं रहता। वास्तविक जीवन में न तो तब तक कोई द्रव्यात्मक 'पिण्ड' ही होते हैं न 'अद्रव्यात्मक मन' नहीं 'उनमें' अथवा उनको 'सजीव बनाने वाली चेतनाएँ' होती हैं जब तक कि वर्णन और गणना करने के हेतु हम उस जीवन की वैचारिक पुनर्रचना नहीं करते। उसमें केवल संवेदी अथवा ज्ञानशील और सप्रयोजन जीव और उन वस्तुओं का जिनके साथ, अपने प्रयोजन के क्रियान्वयनार्थ उन्हें अपना अभ्यनुकूलन करना आवश्यक होता है—पर्यावरण मौजूद रहता है। अस्तित्व विषयक यह स्वभावतः याथार्थिक दृष्टिकोण क्यों और कैसे अपनी जगह, भौतिक जगत् की द्वित्वात्मक कल्पना तथा उससे सम्बन्धित जीवों के बाहुल्य के लिए छोड़ बैठता है, यह बात भौतिक विज्ञानों के रीति विधान सम्बन्धी अपने अध्ययन में पहले ही देख चुके हैं। अब तो हमें द्वित्वात्मक विचार पंक्ति का अनुसरण और आगे तब तक करना है जब तक कि हमें सही तौर पर यह न दिखायी पड़ने लगे कि मनोविज्ञान शास्त्र के अस्तित्व द्वारा पूर्वानुमित वास्तविक अनुभूति के तर्कपरक पुनर्गठन का लक्षण क्या है।

३—जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं कि अनन्य तथा असंचार्य भावना-प्रवण हमारे अपने और हमारे साथी मानवों के जीवन की वास्तविकता के विषयक हमारी मान्यता ने हमें ऐसे बहुत कुछ के जो अपनीअसंचार्य प्रकृति के कारण भौतिक वास्तविकता

के क्षेत्र के बाहर पड़ता है, अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था। अब हमें देखना है कि मनोविज्ञान, इस अभौतिक अस्तित्व को अपनी विषय-वस्तु मान कर उसके अस्तित्व की विधि तथा भौतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में कैसी कल्पना करता है। हाल के वर्षों में प्रश्नान्तर्गत रीति-विधानात्मक समस्याओं पर एवेनारियस तथा उसके अनुयायियों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके विवरणों पर ही एतद्विषयक हमारे लेख का सारांश अधिकतर अवलम्बित है। एवेनारियस ने सबसे पहले जिस बात को स्पष्ट किया है वह यह है कि हमारी अनुभूति विषयक मनोवैज्ञानिक व्याख्या आमूलान्त उस अनुभूति के भीतर अधीन ऐसे सिद्धान्त पर आधारित है जिसका मूल आयोजन हमारे सहयायी मानवों के अस्तित्व से प्राप्त सुझाव के कारण हुआ था।

हम पहले ही व्यक्तिवादीय विरोधाभास के प्रकरण में देख चुके हैं कि यह कठिनाई क्या है। जब तक मैं अपनी ही अनुभूति के विश्लेषण में उलझा रहता हूँ तब तक कोई बात ऐसी नहीं होती जो अस्तित्व के भौतिक पक्ष तथा मनस्तत्वीय पक्ष के बीच किसी प्रकार के विभेद को सामने रखे। उस समय तो जो कुछ मुझे चाहिए अथवा जो कुछ मुझे तब चाहना चाहिए जब अपनी अनुभूति का विश्लेषण करने में अन्तःसंचार की आवश्यकता के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई हित निहित हो, वह है विश्व की एक वस्तु रूप मेरे अपने तथा मेरे पर्यावरण रूप अन्य वस्तु के बीच का विभेद। किन्तु मामला तब पलट जाता है, जब भौतिक जगत् की कल्पना की सृष्टि के बाद, मैं अपने साथी मानवों की अनुभूति का विश्लेषण प्रारंभ करता हूँ। मेरे साथी मानव एक ओर भौतिक जगत् की वस्तु होते हैं और उस जगत् की वस्तु की हैसियत से वे मुझे मेरी इन्द्रियों द्वारा वेत्तव्य वस्तु रूप ही ज्ञात होते हैं। दूसरी ओर उनके साथ समग्र व्यावहारिक समागमार्थ उन्हें उसी प्रकार की संवेद्यता तथा भावना से जिस प्रकार की संवेद्यता और भावना प्रत्यक्षतः मैं अपने में मौजूद पाता हूँ, युक्त मानना आवश्यक होता है। इस प्रकार की इन्द्रिय-वेदिता और भावना, निश्चय ही, मेरी अपनी इन्द्रियों के प्रेक्षण के लिए अनधिगम्य होती हैं, मैं अपने साथी की आँख तो देखा पाता हूँ और उसकी आवाज भी मुझे सुन पड़ती है लेकिन मैं यह नहीं देख पाता कि वह देखता है न सुन पाता हूँ कि वह सुनता है। इस प्रकार मेरे साथी को दो अस्तित्व वाला मानना पड़ जाता है। अपने उस पहलू के अतिरिक्त जिसमें वह दृश्य वस्तुओं से में एक वस्तु मात्र होता है, सिद्धान्ततः वह मेरी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य अथवा प्रेक्ष्य वस्तु भी होता है, उसका एक अन्य पक्ष भी होता है जो प्रत्यक्षतः तो प्रेक्ष्य नहीं होता किन्तु उसके साथ के सभी सामाजिक संबंध के विषय में उस पक्ष का पूर्वानुमित होना आवश्यक होता है। अपने शरीर की ओर से तो वह एकदम भौतिक जगत् की वस्तु होता है किन्तु उसके

शारीरिक अस्तित्व के साथ उसका एक-अन्य पक्ष जुड़ा रहता है जिसे मैं उसका मानस अथवा मनस्तत्वीय पक्ष कहता हूँ। जब वह 'मानस पक्ष' एक बार मेरे साथी के अस्तित्व के भौतिक पक्ष से इस तरह पर कृत्रिम रूप से पृथक् कर दिया जाता है तब उसके गठित होने के प्रकार के बारे में क्या अनुमान लगाया जाय ? यहाँ तक आने पर ही एवेनारियस द्वारा आविष्कृत 'अन्तर्निवेश' का सिद्धान्त हमारी सहायता के लिये सामने आता है :

जब मैं, प्रेक्षण विषयक प्रक्रिया के बारे में किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक अधिधारणाओं की भूलभुलैया में अपने आपको फँसाये बिना ही, एकदम प्रत्यक्ष रूप से किसी वस्तु को देखता हूँ तो जो बात मेरे ध्यान में आती है वह एक ओर से तो पर्यावरण का अंग होती है और दूसरी ओर से गतियों का अथवा मुझमें गति उत्पन्न करनेवाले आवेगों का ऐसा वैविध्य होती है जिस पर सन्तुष्ट अथवा असन्तुष्ट भावना की विशिष्ट छाया अंकित होती है और जिसका निर्धारण मेरे विविध हितों के साथ उस वस्तु के संबंध पर निर्भर होता है। किन्तु जब मैं अपने आपको समझाने चलता हूँ कि मेरे साथी के इस दावे का कि उसे भी वही वस्तु दीखती है क्या अर्थ है, तब एक ऐसी कठिनाई सामने आती प्रतीत होती है जिसके कारण यह सीधा सादा विश्लेषण अपर्याप्त हो जाता है। तब प्रेक्षित वस्तु उदाहरण के लिये सूर्य को ही ले लीजिये, इन्द्रियगम्य वस्तुओं के मेरे इस निश्चय की ही वस्तु प्रतीत होती है क्योंकि मैं भी सूर्य को देखता हूँ। लेकिन मेरे साथी मानव का सूर्य प्रेक्षण इस विश्व का नहीं क्योंकि मैं उसे सूर्य को देखता हुआ नहीं देख पाता अर्थात् मेरे लिये यह समझ पाना कठिन है कि मेरी दुनिया की चीज, सूर्य, उसके प्रेक्षण अथवा प्रत्यक्षण का, जो मेरे इन्द्रियगम्य विश्व की वस्तु नहीं है लक्ष्य क्योंकर हो सकता है। इससे मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि जहाँ मैं वास्तविक सूर्य को देखता हूँ वहाँ मेरे साथी मानव के प्रेक्षण की विषय वस्तु सूर्य की 'प्रतिमा' अथवा ख्याली सूर्य मात्र है।

निष्कर्षण की इसी प्रक्रिया को यदि बढ़ाते चले जाँय तो मुझे अपने साथी मानव के अस्तित्व का अभौतिक पक्ष समग्ररूपेण, उसकी सन्तुष्ट अथवा असन्तुष्ट भावनाओं की लाक्षणिक छायाओं से अंकित अनुवर्ती विचारों अथवा प्रतिभाओं का एक विशाल जाटिल्य ही मुझे दिखायी पड़ने लगेगा। अब चूँकि 'मानसिक दशाओं' अथवा 'विचारों' की इस शृंखला को उस संवेद्य भौतिक वास्तविकता के साथ जिसे मैं अपने साथी मानव का शरीर कहता हूँ, किसी तरह, सम्बद्ध प्रतिदर्शित करना है इसलिये मैं उसे उसकी त्वचा के 'भीतर' कहीं चालू कल्पित कर लेता हूँ और इस तरह पर अपने साथी के बारे में कल्पना कर लेता हूँ कि वह मेरी इन्द्रियों द्वारा संवेद्य भौतिक कारक उसके शरीर अथवा इन्द्रियों के लिये अगम्य 'मानस प्रतिमाओं' के प्रवाह से निर्मित उसके मन नामक

अभौतिक कारक का द्वैतात्मक मिश्रण है। तब एक और अगला कदम उठाना बाकी रह जाता है अन्तर्निवेशन का कार्य पूरा करने के लिये । और वह कदम है अपने साथी के मामले के लिये जिस वैशिष्ट्य की स्थापना करने को मैं प्रेरित हुआ था उसके पदानुसार स्वयं अपनी अनुभूति का कृत्रिम पुनर्निर्वचन करने का । मैं स्वयं अपने चैतन्य प्रारम्भ कर जीवन के विषय में शरीर और मन को दो अलग वस्तु मानकर तद्नुरूप ही विचार देता हूँ और उस वस्तु का विश्लेषण करने लगता हूँ जो मूलतः अनुभूत रूप में ऐकिक स्वात्म की उन वस्तुओं पर जो 'मनःस्थितियों' अथवा शरीरानुवर्तनी प्रतिमाओं के अनुक्रम में पर्यावरण रूप रहती हैं प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया रूप थी। इन मनःस्थितियों और शरीर का संबंध भी एक वैज्ञानिक समस्या बन जायगा ।

अब तब ही जबकि अन्तर्निवेश की यह प्रक्रिया अपने अन्तिम वाद-पद पर पहुँच चुकी हो और हमारे पर्यावरण की अन्य वास्तविक वस्तुओं के साथ संवेदी सप्रयोजन समागम के वास्तविक जीवन का स्थान, हमारे विचार क्षेत्र में 'प्रतिमाओं' के मानसिक अनुवर्तन अथवा 'चेतनता की विषय वस्तुओं' की ऐसी कल्पना ने ग्रहण कर लिया हो जिसका सन्दर्भ उन वस्तुओं के साथ बैठाया गया हो जो स्वयं 'चेतना वाह्य' है और जब अनुभूति का भावित एकत्व मानव अस्तित्व के जबर्दस्त विभाजन के बाद भौतिक तथा मनस्तत्वीय पहलुओं को अपना स्थान दे चुका हो हम उस दृष्टि बिन्दु पर पहुँच पाते हैं जहाँ से मनोविज्ञान अपना अभियान प्रारम्भ करता है। अपनी प्रकृति के मनस्तत्वीय पहलू से सम्बद्ध विशिष्ट विज्ञान की रचना करने के लिये सामग्री हमें तब ही उपलब्ध हो पाती है जब अनुभूति की वास्तविकताओं को अन्तर्निवेश की अभिधारणा द्वारा वास्तविकताओं की 'प्रतिमाओं' अथवा 'मानसिक दशाओं' या 'मनःस्थितियों' में कृत्रिमतया रूपान्तरित कर दिया जाय और इस प्रक्रिया द्वारा उन्हें निश्चित रूप से एक अभौतिक व्यवस्था बना दिया जाय। दरअसल मनोविज्ञान मनस्तत्वीय स्थितियों को पहले ही से अपने अध्ययन का विषय मान बैठता है किन्तु 'मनस्तत्वीय दशाएँ' तात्कालिक अनुभूति विषयक दत्त नहीं होती बल्कि वे ऐसी प्रतीक होती है जिनकी प्राप्ति रूपान्तरण की बेहद बनावटी विधि द्वारा अनुभूति के वास्तविक दत्तों से होती है और जिन्हें उन दत्तों का स्थानापन्न बना दिया जाता है। अतः यदि हम यह बहस पेश करें कि चूँकि अनुभूति की विषय-वस्तुएँ ही वास्तविक वस्तुएँ होती हैं इसलिये मनोविज्ञान की अभिधारणाएँ भी विश्व विषयक अन्तिम तत्वमीमांसीय सत्य अवश्य ही होंगी तो हमारा यह कथन तर्कशास्त्रानुसार एक भयंकर विरोधाभास माना जायगा।

जब हम अन्तर्निवेशन प्रक्रिया की तर्कशास्त्रीय वैधता की तथा अन्तर्निवेशीय आधार पर खड़े किये गये मनोविज्ञान के वैज्ञानिक निर्माण की समालोचना करने का प्रयत्न करने लगते हैं तो उस निर्माण को प्रभावित करनेवाले तथा ऊपर से ही दीखने

वाले तर्क-भंजक महादोष हमारी नजर में आये बिना नहीं रह सकते। सबसे पहले तो यह मौलिक पूर्वानुमान ही कि मेरे साथी का 'मानस-जीवन' मेरी अनुभूति की असली वस्तुओं की 'प्रतिमाओं' से बना होता है, स्पष्टतः सहयोगार्थ निर्मित भौतिक जगद्विषयक इस सिद्धान्त से पृथक् हो जाता है कि वह जगत् व्यक्ति बाहुल्य के प्रत्यक्षणार्थ समान रूप से अधिगम्य वस्तुओं द्वारा निर्मित है। यह गड़बड़ी एक बार फिर तब दूर हो जाती है जब मेरे अपने मानस जीवन के प्रतिमाओं अथवा चेतना की स्थितियों के अनुवर्तन में विघटित हो जाने के कारण अन्तर्निवेश की प्रक्रिया पूरी हो जाती है लेकिन उसे यह भूल जाना पड़ता है कि 'अन्तर्निवेश' का मूलभूत प्रेरक मेरे अपने पर्यावरण को भौतिक वस्तुओं के साथ मेरे साथी के सम्बन्ध में और स्वयं मेरे संबंध के बीच का माना हुआ असादृश्य ही है।

४—अतः यह कोई विचित्र बात नहीं कि एवेनारियस ने 'सीधे-सादे आदर्शवादात्मक' स्थिति विन्दु के समग्र अन्तर्निवेशवादीय रूपान्तरण को सारतः विरोधाभासपूर्ण पाया और अपने एतद्विषयक विमर्श को इस साध्य के साथ समाप्त कर दिया कि 'विश्व के प्राकृतिक दृश्य' को परिवर्तित करने के सारे प्रयत्न अपेक्षाधिक्यताओं अथवा व्याघातों के जनक होते हैं।[1] किन्तु उसके इस प्रतिकूल निर्णय का अनुगमन करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। दरअसल अगर विचार करें कि अन्तर्निवेश के सारे ही परिणामों को इस प्रकार एकदम खारिज करते चले जाने का नतीजा यह होगा कि हमें सारे मनोविज्ञान का, जिसका औचित्य हाल के जमाने में उसकी सफल वृद्धि के कारण उतना ही न्याय्य माना जाना चाहिये जितना कि अन्य अधिकांश भौतिक विज्ञानों का, प्रत्याख्यान करना पड़ जायगा और तब हमारा झुकाव सम्भवतः इस बात को स्वीकार कर लेने की ओर हो जायगा कि जिस प्रक्रिया के परिणाम इतने सफल होते हैं उसका तार्किक औचित्य अवश्य ही होगा भले ही उसके आधारभूत पूर्वानुमान कितने भी कृत्रिम क्यों न हों।

तब अनुभूति का उस विशद रूप में, जो मनोविज्ञान शास्त्र का ग्राह्य पूर्वानुमान रूप है, रूपान्तरित करने की आवश्यकता का औचित्य क्या है? सिद्धान्तरूप में इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। मनोविज्ञान की 'विचार', 'मनोदशाएँ' आदि वस्तुएँ ऐसी वे प्रतीक हैं जिनकी प्रतिस्थापना हम कुछ मूर्त वास्तविकताओं की जगह किया करते हैं तथा अन्य सभी प्रतीकों की तरह ये प्रतीक भी उन वस्तुओं से जिनके वे प्रतीक हैं आंशिक

---

१. देखिये एवेनारियस लिखित—Der Menschliche Weltbegriff, पृ० 115 ad fin।

रूप में ही मिलते जुलते हैं।[१] किन्तु अन्य प्रतीकों की तरह उन वस्तुओं के, जिनके वे प्रतीक हैं, स्थानापन्न रूप में दो शर्तों पर उन्हें स्वीकार किया जा सकता है। पहली शर्त यह है कि किसी भी व्यष्ट प्रतीक का उस वस्तु के सदृश होना जिसका वह प्रतीक है एक निर्धारित और असंदिग्ध योजनानुसार ही हो और दूसरी शर्त यह कि प्रतीकित वस्तु के स्थान पर प्रतीक की स्थानापन्नता, उस वस्तु को किसी विशिष्ट श्रेणी की समस्या को हल करने के लिए आवश्यक जोड़ तोड़ बैठाने के उपयुक्त बनाने के लिये वांछित हो। अब निःसन्देह इनमें से पहली शर्त हमारी अपनी अनुभूति को मनोविज्ञान के अन्तर्निवेशात्मक प्रतीकों में अनुदित कर देने से पूरी हो जाती है क्योंकि उन बाह्य अथवा 'भौतिक' घटनाओं में जो 'मानस स्थितियों' की सदृश रूप होती है उस वास्तविक अनुभूति को जिसका प्रतिदर्शन मनोविज्ञानीय प्रतीकवाद की 'मानस स्थिति' कर रही होती है, पहँचान सकने का असंदिग्ध साधन मुझे उपलब्ध रहता है। यदि विविध 'भौतिक दशाएँ' तथा मनःस्थिति की 'अभिव्यक्ति' के रूप पर्याप्त, पूर्णता और यथार्थता के साथ संकेतित रहे तो उनसे मुझे उसके प्रतिदर्शी वास्तविक अनुभव को जब कभी भी वह जीवन में मेरे सामने आता है पहचानने में सहायता मिलती है। मनोविज्ञानी के प्रतीकवाद की व्याख्या करने के विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये परीक्षण द्वारा उसे उत्पन्न कर सकना भी इसी से मेरे लिये आसान हो जाता है। मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता की वैधता के विषय में जो एकमात्र प्रश्न औचित्यपूर्वक उठाया जा सकता है वह यह है कि क्या किसी निर्दिष्ट प्रयोजन अथवा हित की सिद्धि के लिये तात्कालिक अनुभूति की वस्तुतत्वताओं का रूपान्तरण वांछित होता है ?

मेरे ख्याल से तो ऐसा लगता है कि रूपान्तरण एक से अधिक प्रयोजनों के हेतु वांछनीय होता है। पहले तो मनोवैज्ञानिक अभिधारणाओं का एक उपयोग यही है कि भौतिक विज्ञान की अधिधारणाओं की तरह उस सीमा तक जहाँ तक कि कोई घटनाक्रम

---

१. अथवा, अन्य ऐसे सभी प्रतीकों की तरह जो उन वस्तुओं से नहीं मिलते-जुलते, जिनके वे प्रतीक हैं। इस अवर मामले में उदाहरणतः तब जब किसी मतलब से मैं स्वाभाविक संख्या-शृंखला की संख्याओं की गिनती से शुरू करता हूँ तो पूर्ण सादृश्य प्रकट हो सकता है किन्तु इस प्रक्रिया की उपयोगिता इस तथ्य पर निर्भर होगी कि जिसको मैं गिनता हूँ और वह जिससे मैं इसको गिनता हूँ वे दोनों कम से कम संख्यात्मकतया अवश्य पृथक् हों। उनमें और कितना अधिक पार्थक्य अन्तर्व्यस्त है इस बात पर विचार करने के लिये मैं यहाँ रुकना नहीं चाहता और इसलिये मैं समझता हूँ कि इस प्रक्रिया को 'वस्तु के अपने ही प्रतिनिधित्व' का नाम देना भाषा पर अत्याचार करना होगा।

हमारे अपने सप्रयोजन हस्तक्षेप से स्वतंत्र रहता है वे अभिधारणाएँ उस घटनाक्रम की गणना करने में सहायक होती है और इस प्रकार के हस्तक्षेप के मार्गदर्शनार्थ प्राज्ञात्मक नियम निरूपित करने में भी इसलिये उनसे सहायता मिलती है। मनोविज्ञान के उन भागों का जिनकी विषयवस्तु आवृत्ति द्वारा स्थिरीभूत स्वभावों और संपर्कों का निरूपण स्वेच्छाकृत अवधान का अस्वेच्छाकृत अवधान में क्रमिक संचरण आदि मानसिक जीवन के अपेक्षाकृत अधिक यांत्रिक पक्ष हुआ करती है । यही एक मुख्य उपाय है। हम आदतों और संपर्कों के नियमों के अध्ययन में ठीक उसी तरह जिस तरह की भौतिक प्रकृति के यांत्रिक नियमों के निरूपण में, इसीलिये रत रहा करते हैं क्योंकि अपने साथियों के जीवन में हम जब कभी शिक्षाविषयक, दण्डात्मक अथवा सामान्य सामाजिक प्रयोजनार्थ प्रत्यक्ष और साभिप्राय हस्तक्षेप करते हैं तब इस प्रकार के ज्ञान द्वारा हम अपना मार्गदर्शन स्वयं करना चाहते हैं । जब तक कि हम उस विधि का पूर्ण निर्णय नहीं कर लेते कि जिसके अनुसार हमारा साथी तब तक कार्य करता चला जायगा जब तक कि उसके व्यवहार में सद्य सप्रयोजन-अभिक्रम में परिवर्तन नहीं होता, तब तक हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि उसके जीवन में एक निश्चित प्रकार का अथवा दत्त प्रकार का वांछित प्रभाव कैसे पैदा करें। इसी तरह पर हमारे अपने भविष्य का एक निर्धारित दिशा में प्रत्यक्ष रूप से ढाला जाना इस ज्ञान के बिना असंभव होगा कि वह भविष्य साभिप्राय निर्देश के बिना किस प्रकार का होगा।

निश्चय ही यह कहना अन्याय न होगा कि जिस सीमा तक मनोविज्ञान हमें नेमी एकरूपताएँ भेंट करता जाता है वहाँ तक वह हमारे शरीरयंत्र विषयक तथा शरीर क्रिया विज्ञानात्मक ज्ञान के दोषों को दूर करने का एक अनुपूरक उपाय मात्र रहता है। कहीं हमारा शरीरक्रिया विज्ञान आदि पर्याप्त रूप से विस्तृत और सूक्ष्म होता तो हमें सायुक्तिकरूपेण आशा हो सकती थी कि जहाँ तक सारे मानवीय कार्य का गतिक्रम यांत्रिक नियमों का अनुगामी बना रहता है। और विशुद्धतः शरीर-क्रिया-विज्ञानात्मक पदानुकूल रूप में नेमी एकरूपताएँ प्रदर्शित करता चला जाता है वहाँ तक हम इस मानवीय कार्यों के समग्र गतिक्रम का वर्णन कर सकने योग्य हो सकते थे। तब विचारों के 'साहचर्य' की बात करने अथवा किसी 'आदत' को पैदा करने की बाबत कहने-सुनने के बजाय हम इस लायक होते कि हम शरीर क्रिया विज्ञान की शब्दावली में उन परिवर्तनों का वर्णन कर सकते जो दो तांत्रिका केन्द्रों को एक सत्य उत्तेजित करने से प्रमस्तिष्कीय क्षेत्र में पैदा किये जा सकते हैं और उस प्रक्रिया का पूरा इतिहास लिख सकते जिस प्रक्रिया के अनुसार उत्तेजना के पुनरावर्तन द्वारा एक स्थायी संवहन पथ की उत्पत्ति होती है। मनोविज्ञान की अभिधारणाओं की जगह शरीर-क्रिया-विज्ञान की अभिधारणाओं को इस प्रकार पक्की तौर पर ला बिठाना पर्याप्त प्रकाश्य रूप से आधुनिक 'परीक्षणात्मक

मनोविज्ञान का निर्धारित लक्ष्य-सा बन गया है और वह अपने को विश्वास दिलाने की कोशिश कर रहा है कि उसने यह लक्ष्य अपने विषय के कम से कम कुछ अंशों के संबंध में सिद्ध भी कर लिया है।

इस प्रकार का सन्देह करने का कोई कारण नहीं शेष रह जाता है कि चूँकि मानसिक अनुक्रम की नेमी एकरूपता के शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक प्रतिरूप का स्वयं भी स्पष्टतः एक नेमी एकरूपता होना जरूरी है इसलिये एक-रूप यांत्रिक अनुक्रम के सभी मनोवैज्ञानिक नियमों के स्थान पर उनके शरीर क्रिया विज्ञानीय समकक्षों को अन्तिमतः शायद तभी प्रतिष्ठित किया जा सके जब तंत्रिका-प्रणाली की संरचना और कार्य के बारे में हमारा ज्ञान पर्याप्त आगे प्रगति कर चुका हो। अतः प्रोफेसर मन्स्टरबर्ग की, इस स्थिति बिन्दु पर आधारित तर्कना पूर्णतः आत्मसंगत है, कि मनोवैज्ञानिक विज्ञान का एकमात्र कार्य है हमारे लिये अनुक्रम विषयक ऐसी यांत्रिक एकरूपताएँ जुटाना जिनकी सहायता से हम अपने साथियों के भावी व्यवहार की गणना वहाँ तक कर सकें जहाँ तक कि नये सप्रयोजन अभिक्रम द्वारा उसमें सुधार नहीं होता तथा उस गणना द्वारा इस परिणाम पर पहुँच सकें। अतः उसका इस निष्कर्ष पर पहुँचना भी आत्मसंगत है कि समग्र मनोविज्ञान एक ऐसा अस्थायी कामचलाऊ उपाय है जिसके द्वारा हम शरीर क्रिया विज्ञान की वृद्धि करते हैं। लेकिन वह उपाय आज नहीं तो कल जरूर बेकार हो जायगा और शरीर क्रिया विज्ञान की उन्नति के साथ तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।[1]

अगर हम इस मामले के उपर्युक्त दृष्टिकोण को बिना शर्त स्वीकार कर लें तो भी निःसन्देह यह कहना कठिन होगा कि हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में मनोविज्ञान शरीर-क्रिया-विज्ञान-शास्त्र का एक पिछलगुआ ही है। यतः जबकि तांत्रिका प्रणाली विषयक हमारा शरीर-क्रिया-विज्ञानात्मक ज्ञान अभी इतना टूटा फूटा और अस्पष्ट है कि हम उसका व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक उपयोग अपने साथियों के व्यवहार संबन्धी सीधे से सीधे घटनाक्रमों तक के पूर्व-कथनार्थ नहीं कर पाते वहाँ मनोविज्ञान शास्त्र कम से कम अस्थायी तौर पर तो अवश्य ही बहुत सी बातों में उससे बहुत बढ़ी-चढ़ी स्थिति में है। अतः किसी मनुष्य के व्यवहार को किसी विशिष्ट उत्तेजक द्वारा प्रेरित करने पर उस उत्तेजक का सम्भाव्य प्रभाव क्या होगा इस बात का निर्णय कर सकने योग्य बनने से पहले यदि तंत्रिका-प्रणाली की उन मनोवैज्ञानिक घटनाओं के संबंध में जो उत्तेजना की प्रथम संप्राप्ति तथा शारीरिक प्रतिक्रिया की प्रथम उत्पत्ति के बीच घटित होती है एक कार्यकारक अभिधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाय तो भी हमें निरुपाय होकर अपने सामाजिक जीवन पर स्वयं अपने ही कार्यों के संभावित प्रभाव के विषय में सादा से

---

१. देखिये—Grundzuge der Psychologie, vol ii, pp 415-436.

सादा सर्वसामान्य निर्णय ले सकने के साधनों का इन्तजार करते रहना पड़ेगा। ऐसा इसलिये होता है चूँकि उत्तेजना की प्राप्ति और प्रतिक्रिया के प्रारम्भ के बीच के तंत्रिकागत परिवर्तन प्रेक्षण के लिये उन उपायों द्वारा ही अधिगम्य बनाये जा सकते हैं जो अपने आविष्कारार्थ भौतिक विज्ञान की सीमान्तिक उन्नत दशा की प्राक्कल्पना सामान्यतः और शरीर-क्रिया-विज्ञान की ऐसी ही दशा की प्राक्कल्पना विशेषतः किये रहते हैं। हमारे द्वारा अनुभूत क्रियाओं को शारीर-क्रिया-विज्ञानपरक असन्देहास्पद प्रतीकवाद की भाषा में अनूदित करने की अथवा इसके विपरीत किसी शरीर-क्रिया-विज्ञान विषयक अभिधारणा की जाँच, उसे किसी प्रत्यक्ष जीवित अनुभूति के तथ्यों में पुनरनुवाद द्वारा कर सकने की कोई विधि हमारे पास नहीं है। दूसरी ओर जब हम उत्तेजना के घटित होने के संबंध में पूर्वानुमित स्थितियाँ सामने रख चुकते हैं तो वास्तविक जीवन में उन स्थितियों के बाद क्या होता है यह देख सकना तुलनात्मकतया सरल होता है साथ ही जो कुछ घटित होता है उसे अन्तर्निवेशात्मक मनोविज्ञान की भाषा में अनूदित करना अथवा तद्विपरीत उस मनोविज्ञान के शब्दों में ग्रथित किसी सिद्धान्त की, अनुभूति विषयक वास्तविकताओं के साथ तुलना कर उसकी जाँच करना भी इसी प्रकार आसान होता है।

इसी कारण, ज्ञान की वर्तमान स्थिति में, मनोवैज्ञानिक अभिधारणाएँ वास्तविक अनुभूति तथा शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक सिद्धान्तों को जोड़नेवाली एक अनिवार्य कड़ी हैं और यदि कभी भी मानव चरित्र का विशुद्ध शारीर क्रिया विज्ञानात्मक विवरण उसका स्थान अन्तिम रूप से ले सका तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि शरीर क्रिया विज्ञानपरक विजयी सिद्धान्तों को स्वयं भी इससे पहले मनोवैज्ञानिक सूत्रों की स्थापना-प्रक्रिया के सामने मात खाने के बाद अपने शरीर क्रिया विज्ञानात्मक समरूपों की खोज करनी पड़ी होगी। यह बात हमारे जमाने के विज्ञान के वास्तविक इतिहास में प्रमस्तिष्कीय शरीर-क्रिया-विज्ञानियों की उस सीमा तक की निर्भरता से भली भाँति उदाहृत हो जाती है कि जिस सीमा तक उन्हें तंत्रिक प्रणाली रचना विषयक अपनी कल्पना के लिये विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के पूर्वगामी परिणामों का आसरा लेना पड़ता है। यह कह कर कि शरीर क्रिया विज्ञान के अनुभूति विषय और मस्तिष्क को जोड़नेवाली कड़ी मनोविज्ञान विषयक 'मन' अथवा 'चेतना' है हम मूर्त अनुभूति मनोविज्ञान तथा तंत्रिकापरक शरीर क्रिया विज्ञान के पारस्परिक संबंधों को एक सूक्ति के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

५—प्रोफेसर मंस्टरबर्ग के अभिमत जैसा दृष्टिकोण उन हितों के प्रति, जिनके कारण हम मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद की रचना में प्रवृत्त होते हैं, पूर्ण न्याय करता है या नहीं यह सन्देहास्पद है। उनके सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट हो जाता है कि मनोविज्ञान साररूप से नेमी अथवा यांत्रिकीय अनुक्रमार्थिक एकरूपताओं का विज्ञान ठीक उसी तरह

पर है जिस प्रकार कि यांत्रिकीय भौतिकी की विविध शाखाएं विज्ञान कहलाती हैं। उनके कथनानुसार साध्यवाद अथवा उद्देश्यवाद को गलहत्था लगा कर वैज्ञानिक मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकाल बाहर करना चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष अनुभूति की सभी वास्तविक प्रक्रियाओं में हित अथवा प्रयोजनपरक साध्यवादीय एकत्व यद्यपि व्याप्त रहता है तो भी वास्तविकताओं के स्थान पर अपने मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को बैठाकर हम उनके साध्यपरक स्वरूप के प्रत्येक चिह्न तक का अपहरण कर लेते हैं। प्रोफेसर मंस्टरबर्ग की यह माँग कि मनोविज्ञान अनुभूति को, अप्रयोजनात्मक नेमी अनुक्रमों की शृंखला द्वारा व्यक्त किया करें किसी प्रकार से भी कोई स्वच्छन्द माँग नहीं है। यदि मनोविज्ञान का एकमात्र कार्य घटनाओं के गतिक्रम की, जहाँ तक कि वह सप्रयोजन हस्तक्षेप द्वारा नियन्त्रित नहीं होता गणना तथा पूर्वोक्त को सुगम बनाना मात्र हो तो उसे निःसन्देह अपने वर्णनों के लिये दृढ़ यांत्रिकीय दिशाओं का ही अनुसरण करना आवश्यक होगा अन्यथा वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन मेरा सुझाव है कि पूर्ण रूप से निष्पादित शरीर क्रिया विज्ञान के स्थानापन्न के रूप में मनोविज्ञान के गणना और पूर्वकथनहेतुक सौकर्य-निष्पादन के वर्तमान कार्य के अतिरिक्त एक अन्य एकदम भिन्न कार्य भी ऐसा है जिसके लिये शरीर क्रिया विज्ञान अथवा उसकी किसी शाखा द्वारा मनोविज्ञान की स्थानापन्नता प्राप्त कर सकना असंभव होगा। यह कार्य है गुणवाची सामान्य वाक्पदों द्वारा वास्तविक जीवन की साध्य-परक प्रक्रियाओं के वर्णन के लिये उपयुक्त प्रतीकों का कुलक प्रस्तुत करना और इस प्रकार नीतिशास्त्र तथा इतिहास तथा तत्सम्बद्ध अन्य विषयों के लिये उपयुक्त शब्दावली प्रस्तुत करना। स्पष्ट ही दीख रहा है कि न तो किसी आदर्श मानक के साथ तुलना करने के बाद किया गया मानव चरित्र विषयक गुण ग्रहण, न तद्व्याप्त इतिहासपरक वह अर्थ निर्णय ही जो मानव चरित्र को उसकी वैयक्तिता प्रदान करता है, तब तक संभाव्य नहीं हो सकता जब तक कि हम सबसे पहले उन घटनाओं का वर्णन नहीं कर लेते जिनके द्वारा साध्यवादीय शब्दावली में नीतिशास्त्र और इतिहास कल्पित होते हैं। उन घटनाओं में किसी आदर्श की प्राप्ति के लिये किये जा रहे न्यूनाधिक चेतन प्रयत्न की आमूलान्त उपस्थिति के अतिरिक्त नीतिशास्त्री के लिये शंस्य अथवा दोष्य तथा इतिहासवेत्ता के लिये अर्थ-निर्णय अन्य कुछ भी नहीं होता। अतः नीति शास्त्र और इतिहास के लिये कोई भी विषयवस्तु यदि वांछनीय है तो वह है इस प्रकार के किसी विज्ञान का आवश्यक अस्तित्व जो मानव जीवन और चरित्र की प्रक्रियाओं का वर्णन लक्ष्यपरक साध्यवादीय संबंध विषयक वाक्पदों द्वारा करता हो। अब इस प्रकार के वर्णनार्थ हम किस विज्ञान की शरण ले सकते हैं? पिछले पष्ठों में की गई, भौतिक विज्ञान की अभिधारणाओं की परीक्षा से यह बात जाहिर है कि इस काम के लिये आवश्यक सामग्री भौतिक विज्ञान की किसी शाखा से हमें नहीं मिल

सकती क्योंकि वह विज्ञान कठोरतापूर्वक अपनी ही अभिधारणाओं से संश्लिष्ट रहना चाहता है। जिन हितों के आवाहन पर भौतिक जग द्विषयक धारणा का निर्माण किया गया था उनकी प्रकृति के कारण जैसाकि हम देख चुके हैं भौतिक व्यवस्था की विचार्यता तथा वर्ण्यता का कठोर यांत्रिकता विषयक वाक्पदानुसारिणी होना आवश्यक है अतः ऐसा कोई भी विज्ञान जो मानव जीवन की प्रक्रियाओं का वर्णन विशुद्ध भौतिक वाक्-पदावली द्वारा करता है उनके सप्रयोजन तथा उद्देश्यपरक स्वरूप का निदर्शन अपने वर्णनों में नहीं कर सकता। यदि मानव चरित्र या व्यवहार का सप्रयोजन स्वरूप हमारे वर्णनों में जरा सी भी मान्यता प्राप्त कर लेता है तब सैद्धान्तिक रूप से भौतिक व्यवस्था द्वारा अपवर्जित मानव अनुभूति विषयक पक्ष का वर्णन करनेवाले विज्ञान में भी उसे मान्यता प्राप्त होना आवश्यक हो जाता है दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्र तथा इतिहास जैसे अधिक मूर्त प्रकार के विज्ञानों के हेतु आवश्यक साध्यवादीय एकत्व की इस प्रकार की सामान्य गुणवाचिनी परिकल्पना के लिये हमें मनोविज्ञान की ही शरण लेना पड़ेगी।

मनोविज्ञान का यह क्रियाकलाप निःसन्देह नीतिशास्त्रीय तथा इतिहासीय विज्ञानों के विद्यार्थी का चिरपरिचित विषय है। नीतिशास्त्र में जैसा कि प्रोफेसर सिजविक का कथन है कि नीतिशास्त्र के कुछ विशिष्ट मूल्यवान विशेषणों को छोड़ कर मानवीय चरित्र के लक्षणों का वर्णन करने के लिये काम में लायी जाने वाली सारी ही शब्दावली एकदम मनोविज्ञान की शब्दावली ही है। वह सब सामग्री जिसे नीतिशास्त्र 'अच्छा', 'बुरा', 'उचित', 'अनुचित', 'कार्य', 'भावनाएँ', 'मिजाज', 'इच्छा' आदि नामों से पुकारता है सदेह मनोविज्ञान शास्त्र से ली गयी है। इसी तरह इतिहास के पास भी गुण ग्राह्य कुछ न रह जाय अगर घटनाओं के उस विवरण की जगह जिसका हर मोड़ 'वान्छा', 'प्रयोजन', 'अभिप्राय' और 'लुभाव' आदि मनोवैज्ञानिक पदार्थों से गंसा रहता है केवल शारीरिक अथवा भौतिक संचलनों का एक ब्योरा मात्र को बैठा दिया जाय। सार्वजनिक रूप से हम यों कह सकते हैं कि मानवीय विचार के सारे साध्यवादी पदार्थ परीक्षा के बाद या तो निश्चित रूप से विज्ञान की संपद सिद्ध होते हैं या जैसाकि प्राणिशास्त्रीय विकासवादिता के मामले में हुआ वे बहुत कम बदली हुई पोशाक में छिपे मनोविज्ञानिक के उधारी पदार्थ सिद्ध होते हैं।

अगर ये बातें सही हैं तो हमारा ये कुछ निष्कर्ष निकाल लेना उचित ही ठहरता है। (१) नतीजा यह होगा कि जो दो तरह के काम मनोविज्ञात आजकल करता है उनमें से एक तो साधिकार उसका अपना ही ऐसा कर्त्तव्य कर्म है जिसे किसी दूसरे को सौंपा नहीं जा सकता। दूसरा काम वह प्रमस्तिष्कीय शरीर क्रिया विज्ञान की नाबा-लिगी खत्म होने तक के लिये आरजी तौर पर अथवा अस्थायी रूप से किया करता है। जबकि जैसा हम देख चुके हैं मनोविज्ञानी सिद्धान्त के उन अंशों की जगह तो मानव

चरित्र के अधिक यांत्रिकीय पहलुओं के साथ सम्बद्ध रहते हैं अन्ततोगत्वा शरीर-क्रिया विज्ञान को दी जा सकती है वहाँ वे अंश जिनका सरोकार प्रयोजनात्मक समजनों का प्रवर्तन हुआ करता है यानी भावनात्मक तथा अवधानात्मक मनोविज्ञान जैसे विषयों का प्रवर्तन वे अंश सिद्धान्ततः शरीर-क्रिया-विज्ञान में विघटनीय नहीं होते और उनका एक स्थायी मूल्य तब तक स्थिर रहा चला जाता है जब तक कि मानव जाति मानव जीवन की नैतिक तथा ऐतिहासिक शंसना में रुचि लेती रहती है।[1]

(२) इससे यह भी पता चलता है कि अभी तथा आगे भी बहुत दिनों तक प्रोफेसर मंस्टरवर्ग के कथनानुसार मनोविज्ञान साध्यपरक और यान्त्रिकीय दोनों प्रकार की अभिधारणाओं और पदार्थों का उपयोग करने के लिये बाध्य रहेगा। दो विभिन्न तर्कशास्त्रीय स्थिति बिन्दुओं का यह घालमेल निःसन्देह किसी ऐसे विज्ञान के लिये असह्य होगा जो हमारी प्रकृति के एकत्र हित की पूर्ति करने की आवश्यकता के कारण ही अस्तित्व में आया हो क्योंकि जिस प्रकार के हित की साधना यांत्रिकीय अभिधारणा करती है वही साध्यवादीय विचार सारणियों के प्रवर्तन के कारण अवरुद्ध हो जाता है। इसके

---

१. इस बात का स्वयं प्रोफेसर मंस्टरबर्ग की क्रिया विधि द्वारा ही आकर्षक रूप से स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होंने इस नियम का पालन करते हुए कि साध्यवादीय विचारों को वर्णनात्मक विज्ञान के क्षेत्र के बाहर ही रखा जाय, अवधान विषयक अपने मनोवैज्ञानिक विवरण से चयनात्मक अभिरुचि को बहिष्कृत कर दिया और जब उनके सामने यह समस्या आयी कि वह कौन है जो वस्तुतः निर्णय करता है कि किन प्रस्तुतियों को अवधान का विषय बनाया जाय किनको नहीं, तब उन्होंने चयन को मस्तिष्क के अर्ध प्रान्तस्थ प्रेरक केन्द्रों का कर्तव्य कर्म निर्धारित किया और इस प्रकार प्राणिशास्त्र में पहले से अप्रवेश्य घोषित साध्यवादीय पदार्थों को उन्होंने पुनः प्रविष्ट करा दिया। (देखिये—Grundzuge der Psychologie, vol I, chap. 15, pp. 525-562) ऐसे पाठकों के लाभार्थ जो रीति-विधान शास्त्र में रुचि लेते हैं मैं फिर एक बार कह देना चाहता हूँ कि जबकि यांत्रिकीय विज्ञानों की प्रतिमाएँ मूलतः एकत्र होती हैं वहाँ जैसाकि प्रोफेसर रॉयस का आग्रह है नीति शास्त्रीय तथा इतिहासीय विज्ञान द्वारा कल्पित परिमित जीवन की साध्यवादीय प्रक्रियायें असतत शृंखला विषयक प्रक्रियायें सी प्रतीत होती हैं अर्थात् ऐसे वाक्यपदों द्वारा निर्मित जिनके बीच मध्यवर्ती कड़ियाँ प्रविष्ट नहीं की जा सकती। प्रोफेसर रॉयस के इस मत को कि चरम सत्ता स्वयं एक असतत शृंखला है मैं क्यों नहीं स्वीकार कर सकता यह बात शायद इस पुस्तक के अध्याय ३ से तथा आगामी अध्यायों से स्पष्ट हो जायगी फिर भी इस अध्याय के अन्त में दिया पूरक नोट भी देखें।

विपर्यास से भी ऐसा ही होता है किन्तु हमारे मतानुसार जिस हित के कारण मनोविज्ञान की सृष्टि हुई है वह इकहरा नहीं दोहरा है। भावी मानवीय क्रिया-कलाप के यांत्रिकीय पूर्वकथन का हित भी हमारे सामने रहता है और उसकी नैतिक तथा इतिहासपरक व्याख्या में भी हमारी रुचि परिलक्षित होती है अतः मनोविज्ञान आज जिस रूप में ढला हुआ दिखलायी देता है उसी रूप में उसे इन दोनों ही परस्पर विरोधी हितों का एक साथ साधन करना पड़ता है। यही कारण है कि उसे न तो विशुद्ध यांत्रिकीय न शुद्ध साध्य-वादीय पदार्थों तक सीमित रखा जा सकता है। अगर हमारा शरीर-क्रिया-विज्ञान आदर्श पूर्णता के सीमा बिन्दु तक दरअसल कहीं इस तरह जा पहुँचा होता कि मनोविज्ञानिक वाक्पदावली द्वारा 'विचार साहचर्य' अथवा 'आदतों' की स्थापना के रूप में आजकल अभिधेय प्रत्येक नेमी एकरूपता को उसके शरीर क्रिया विज्ञानी सह-संबंधी के रूप में परिवर्तित किया जा सकता तो घटनाओं के गतिक्रम की गणना कर सकने के सहायक साधनों के रूप में हमें मनोवैज्ञानिक अभिधारणाओं की बिलकुल जरूरत न पड़ती और तब हम नीतिशास्त्र तथा इतिहास को उनकी विषयवस्तुओं के वर्णन के लिये आवश्यक साध्यवादीय पदार्थों को प्रस्तुत करने के एकमात्र कार्य तक मनोविज्ञान को मर्यादित करके उसे उसकी तर्कपरकएकता फिर से वापस कर सकते। किन्तु शरीर-क्रिया-विज्ञान विषयक हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में विधि विषयक इस प्रकार का सुधार अत्यधिक समय पूर्वात्मक होगा।[1]

---

१. निःसंदेह मनोविज्ञान ही ऐसा एकमात्र विज्ञान नहीं है जो अपनी मौजूदा हालत में दोनों प्रकार के पदार्थों का उपयोग करता हो। प्राणिशास्त्र के विकासात्मक सिद्धान्तों में समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के 'अस्तित्वार्थीय संघर्ष', 'योग्यतम की अतिजीविता', 'लैंगिक चयन' आदि विचार साध्यपरक विचारों के काम में लाये जाते हैं। जैसाकि हम अभी हाल में देख चुके हैं कि विशुद्धतावादी लोग जो मनोविज्ञान में उच्चतर और निम्नतर पदार्थों के इस घालमेल पर आपत्ति करते हैं। अपने आपको ऐसी गड़बड़ स्थिति में पाते हैं कि जिससे छुटकारा उन्हें तभी मिल पाता है जब उस गड़बड़ के शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा प्राणिशास्त्र में उपयोग पर वे जोर देने लगते हैं। जहाँ वे गलती करते हैं वह है जाँच के किसी निकाय को समर्प्य तर्क विषयक एकत्व की मात्रा की अतिशय्यता। ऐसा अतिशय्य तब सामने आता है जब तक एक ही से व्यक्ति एक ही से साधनों की सहायता द्वारा उस एकत्व का अनुसरण करते हैं और उस निकाय को एक सामान्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसी बात को थोड़ा और बढ़ा-चढ़ा-कर कहना होगा अगर हम बहस करना चाहें कि चूँकि ज्ञान की सभी शाखाएँ भी ज्ञान ही होती हैं इसलिये उनमें से प्रत्येक शाखा

६—कठिनाई दो बातों में सामने आती है और हमारी बहस इन दोनों बातों पर विचार अब तक न कर सकी। लेकिन उन पर ध्यान दिए बिना रहा भी नहीं जा सकता। हमने यह मान लिया है कि (अ) वर्णन साध्यवादी वाक्पदों द्वारा भी हो सकता है और (ब) मनोविज्ञान पदावली द्वारा भी। किन्तु ये दोनों ही पूर्वग्रहण सन्देहास्पद समझे गये हैं और यह स्पष्ट है कि पहला पूर्वग्रहण ठीक नहीं तो मनोविज्ञान नाम का कोई विज्ञान नहीं हो सकता और यदि दूसरा सही नहीं तो मनोविज्ञान साध्यवादीय कल्पनाओं का उपयोग नहीं कर सकता अतः इन दोनों ही प्रश्नों के बारे में अपनी स्थिति का औचित्य निर्धारण हमारे लिये एकदम आवश्यक है।

(अ) के विषय में यह बहस पेश की जा चुकी है कि यतः केवल वह ही जो व्यक्तियों के किसी वाहुल्य के प्रेक्षण हेतु एक सामान्य शर्तों पर प्राप्य हो सकता है उनमें से किसी व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के प्रति वर्णनीय हो सकता है और चूँकि भौतिक क्रम विषयक हमारी संरचना में व्यक्तियों के बाहुल्य के प्रेक्षणार्थ उपर्युक्त प्रकार से गम्य सारे ही पदार्थ अथवा लक्ष्य शामिल कर लिये गये हैं इसलिये वर्णन केवल भौतिक वस्तुओं का ही हो सकता है। सिद्धान्ततः 'मनोदशा' को वर्णन के लिये अशक्य इसलिये अवश्य होना चाहिये चूँकि उसकी अनुभूति केवल एक ही व्यक्ति को हो सकती है।

अब यदि मनोविज्ञान अनुभूत अनुभूति का तद्रूप प्रत्यक्ष वर्णन होने का दावा करे तो उसका यह दावा स्वयं उसके अस्तित्व के लिये ही घातक सिद्ध होगा। लेकिन जैसाकि हमने देखा मनोविज्ञान इस तरह का कोई दावा नहीं करता। उसके दत्त स्वयं ही तात्कालिक अथवा अव्यहृत अनुभूति की तथ्यवस्तु नहीं होते बल्कि वे रूपान्तरण की किसी प्रक्रिया द्वारा उन तथ्यवस्तुओं से समाहृत प्रतीक होते हैं। और यद्यपि जिन वस्तुओं का मनोविज्ञान अपने 'तथ्य' कहता है उन्हें भौतिक तथ्यों के समान व्यक्तियों के बाहुल्य के प्रेक्षणार्थ प्रत्यक्षतः प्रदर्शित नहीं किया जा सकता तो भी 'मनोदशा' की भौतिक स्थितियों और उसके सहवर्तियों में ऐसे समनुद्देश्य चिह्न हमें मिलते हैं जिनके द्वारा हम उसे तब भी पहचान सकते हैं जब वह दशा हमारे अपने वास्तविक जीवन में घटित होती है यानी वह वास्तविक अनुभूति मनोविज्ञान की 'मनोदशा' जिसकी प्रतीक होती है। अतः मनोविज्ञानानुसार जिसे मैं लाल रंग की अनुभूति कहता हूँ प्रेक्षण हेतु उसका एक नमूना मैं प्रत्यक्षतः भले ही

का या तो एकान्त यांत्रिकीय होना जरूरी होता है या एकान्त साध्यवादीय। वस्तुओं में स्वभावतः कोई कारण ऐसा नहीं होता जिसकी वजह से ज्ञान की उन्नति की किसी विशिष्ट अवधि के समय मनोविज्ञान की जाँच का क्षेत्र इतना विस्तृत न हो सके और उसमें उद्देश्य तथा विधि का इतना आन्तरिक वैविध्य न हो सकता हो जितना गणित शास्त्र में।

न पैदा कर सकूँ किन्तु उस इन्द्रिय बोध से मिलती जुलती तरंग-दीर्घताओं की ऊपरी और निचली सीमाओं के समनुदेशन द्वारा परोक्ष रूप से मैं हर एक को समझा तो सकता ही हूँ कि जब उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग करता हूँ तो उससे मेरा क्या मतलब होता है।

(ब) दूसरी कठिनाई हमें ज्यादा देर तक उलझाये नहीं रह सकेगी। यह विचार कि सब प्रकार के वर्णन का एकान्त रूप से यांत्रिकीय होना आवश्यक है इस पूर्व-ग्रहण पर आधारित है कि अन्य किसी भी तरह का वर्णन उस प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर सकेगा जिसके आधार पर हम वस्तुओं का वर्णन करने चलते हैं। जिस हद तक यह वर्णन करने का काम घटनाओं के गतिक्रम में हस्तक्षेप करने के व्यावहारिक नियम निर्धारित करने के इरादे से शुरू किया जाता है वहाँ तक तो यह पूर्वग्रहण पूर्णतः न्याय्य लगता है। लेकिन घटना क्रम में हस्तक्षेप करने के सामान्य नियम यदि हमें निर्धारित करना हो तो निःसंदेह हमें मान लेना पड़ेगा कि वह घटना क्रम हमारे हस्तक्षेप के बिना भी नैत्यिक नियमपूर्वक चालू रहता है। और हम पहले ही देख चुके हैं कि इसी कारण प्रकृति विषयक यांत्रिकीय अर्थ निर्णय भौतिक विज्ञान का एक मौलिक प्राक्कल्पना तब तक बना रहता है जब तक कि वह अपने आपको प्राकृतिक नियम निर्धारण के ही कार्य तक कठोरता-पूर्वक सीमित बनाए रखता है और ऐतिहासिक शंसा का काम अपने हाथ में लेने का प्रयत्न नहीं करता। लेकिन हम यह भी देख चुके हैं कि किसी अन्तर्हित योजना अथवा प्रयोजन के प्रगामी क्रियान्वयन द्वारा विशेषित किसी घटना शृंखला का इतिहास-परक शंसा तभी संभव हुआ करती है जब कि स्वयं उन घटनाओं का वर्णन लक्ष्य सापेक्ष प्रक्रिया रूप में मूलतः साध्यवादी वाक्पदों द्वारा कर दिया जा चुका हो।[1]

यदि घटनाओं की इतिहासपरक शंसा एक वैध माननीय हित है तो घटनाओं के लक्ष्य और प्रयोजनात्मक वाक्पदों द्वारा वर्णन को भी वैध वर्णन मानना होगा। तथ्य रूप से तो स्वयं भौतिक विज्ञान तक भी जब उन्हें जैव जीवन के तथ्यों से काम लेना पड़ता है सामान्य नियमों के निर्धारण के प्रारम्भिक विज्ञान शास्त्रीय आदर्श को छोड़ बैठते हैं और उसकी जगह वैयक्तिक विकास की रेखाओं के अभिव्यक्तिकरण के इतिहासीय

---

१. और उनका ऐसा वर्णन मनोविज्ञान प्रत्ययों के सन्निवेश के बिना असंभव होगा। उदाहरणतः सभ्यता के इतिहास के विभिन्न कालों से चले आ रहे औजारों की शृंखला के ऐसे श्रेणी विभाजन के लिये कि जिससे किसी विशिष्ट प्रकार के औजार या मशीन के विकास पर प्रकाश पड़ सके विभाजन के मूल स्वरूप हमें किसी ऐसी पर्याप्तता को चुनना होगा, जिसके अनुसार विभिन्न प्रकार के औजार जिस प्रकार के काम के लिये उनका अभिकल्पन हुआ है उसे किया करते हैं और इस प्रक्रिया द्वारा वे तुरंत मनोविज्ञान की प्रयोजन तथा पूर्ति की कल्पना द्वारा आवद्ध हो जाते हैं।

आदर्श को अपना लेते हैं और अगर हमारे पहले वाले निष्कर्ष सही हैं तो कहना होगा कि हम पहले वाले प्रयोजन की अपेक्षा बाद वाले प्रयोजन में कहीं अधिक अनुरक्त होने के कारण ही मनोविज्ञान की रचना में प्रवृत्त होते हैं। आदमी मनोविज्ञान को खासतौर पर इसलिये इतना नहीं चाहता कि उससे दूसरे आदमियों के व्यवहार का अन्दाजा पहले से लगा सकने में उसे मदद मिले बल्कि वह इसलिये उसके निर्माण में रत होता है कि उससे उसे यह समझ सकने में मदद मिल सके कि सर्वत्र व्याप्त स्थायी हितों और प्रयोजनों की उपस्थिति द्वारा उसके अपने वैयक्तिक विकास की तथा उसके 'सामाजिक पर्यावरण' के विकास की आनुक्रमिक स्थितियाँ कैसे एक सूत्र में पिरोई गयीं।

उपर्युक्त विचारणा सम्भवतः कुछ रूखा-सूखा और उबा देने वाला-सा लग सकता है किन्तु अस्तित्व संबंधी मनोवैज्ञानिक सन्मण्डल की मान्यता द्वारा संकेतिक तत्वमीमांसीय समस्याओं की आगे चलकर हमारे द्वारा की जाने वाली परीक्षा मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाओं और आनुभूतिक वास्तविकताओं के पारस्परिक संबंध विषयक एक निश्चित मत पर आधारित हो इसके लिये ऐसा होना अनिवार्य था और अपनी बारी में इस प्रकार के अभिमत द्वारा उन हितों के जिनका साधन मनोवैज्ञानिक संरचना किया करती है, एक वास्तविक सिद्धान्त का तथा इस सबकी साधिका तर्कशास्त्रीय विधि का पूर्वानुमान पहले ही से लगा लिया जाता है। हमारे अनुसंधान के सर्वसामान्य निष्कर्ष ने नकारात्मकतया सिद्ध कर दिया है कि मनोविज्ञान वास्तविक अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रतिलेख नहीं हैं अपितु एक ऐसी बौद्धिक पुनर्रचना है जिसमें अनुभूति से व्यवस्थित अपाकर्षण की तथा उसी के रूपान्तरण की प्रक्रियाएं अन्तर्ग्रस्त होती है। सकारात्मकतया उसने सिद्ध किया है कि पुनर्रचना की वैधता विशिष्ट प्रयोजनों के लिये उसकी उपयोगिता पर निर्भर होती है। आंशिक रूप से घटनाओं की व्यावहारिक प्राग्ज्ञान प्राप्ति के लिये किन्तु मुख्य रूप से उन घटनाओं के ऐतिहासिक तथा नीतिशास्त्रीय गुण विवेचनार्थ उन निष्कर्षों की सार्थकता आगे के दो अध्यायों में और भी अधिक निखर उठेगी।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए : आर० एवेनारियस कृत DER Menschliche Weltbegrif; एफ० एच० ब्रैडले का लेख 'ए डिफेन्स आफ फिनोमिनलिज्म इन सायकोलोजी' (माइण्ड, जनवरी १९००); एच० मंस्टरबर्ग कृत Grundzuge der Psychologie, Vol 1, Chap. 2, (the Epistemological basis of Psychology) II, (Connection through the body); जे० वार्ड कृत 'सायकोलोजी' शीर्षक लेख एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका एड नइट ('दि स्टैण्डपोइन्ट आफ सायकोलोजी'); नैचुरलिज्म एण्ड एग्नॉस्टिसिज्म, खंड २, लेक्चर १६।

अध्याय १ का पूरक नोट

नीतिशास्त्र तथा इतिहास को साध्यपरक शृंखलाओं के असातत्य के संबंध में

हम पहले देख चुके हैं कि प्रत्येक सतत शृंखला अनन्तशः विभाज्य हुआ करती हैं और यह भी कि इसके परिणामस्वरूप उस शृंखला के कोई से भी दो पद अव्यवहततया सह-संलग्न नहीं होते। दूसरी ओर ऐसी भी कोई शृंखला जो ऐसे पदों से बनी हो जो अव्यवहततया सह-संलग्न हो और जिनके बीच उसी शृंखला के मध्यवर्ती पद अन्तर्विष्ट न किये जा सकते हों, अनन्तशः विभाज्य नहीं होती और परिमाणतः सतत भी नहीं। इस नियम को मनस्तत्वीय प्रक्रियाओं पर लागू करके हम देख सकते हैं कि जहाँ अनुक्रम यांत्रिकीय नेमी तरह का होता है वहाँ वह सतत होता है क्योंकि उसे छोटे-छोटे खंडों में अनन्तशः विभक्त किया जा सकता है और उन छोटे खंडों में से हर एक टुकड़े में भी वही अनुक्रम जैसाकि पूरे में था दिखाई देता है। (सही बात इतनी और कहनी होगी कि सातत्य की दूसरी शर्त भी पूरी होती है क्योंकि जौन सा समय-बिन्दु क्यों न विभक्त करे अनुक्रम शृंखला के भीतर ही पड़ता है) किन्तु जहाँ नये साध्यपरक समंजन मौजूद होते हैं वहाँ इस सातत्य का व्यक्त हल भी मौजूद मिलता है। नया प्रयोजन अनुक्रम के एक निश्चित बिन्दु पर बाहर आता है इससे पहले जो गुजर जाता है वह किसी विभिन्न हित अथवा प्रयोजन सिद्धि-हेतुक होता है और जो कुछ उस समय बिन्दु के बाद आता है वह होता है सद्यः उद्गत नवीन-हित-साधन-हेतुक। दोनों में से प्रत्येक अपने भीतर एक सतत प्रक्रिया का निरूपण कर सकता है किन्तु एक का दूसरे में संक्रमण सतत नहीं होता। और यहाँ ही पुरानी सप्रयोजन शृंखला का अन्त हो जाता है और नयी का प्रारम्भ और यह ऐसे पदों की अव्यवहृत सह-संलग्नता का मामला है कि जिनके बीच मध्यवर्ती पद संनिविष्ट नहीं किये जा सकते।

दूसरे संबंध के बारे में मेरा ख्याल है यह सिद्ध करना आसान होगा कि किस तरह पर यह शर्त खुद ही काल विषयक वास्तविकता के लिये घातक होती है। मेरा तो उद्देश्य यहाँ पर यही सिद्ध करने का है कि जिन तथ्यों का हवाला मैंने अभी दिया है उनके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि 'चरम सत्ता' अथवा 'वह निरपेक्ष' स्वयं ही एक असतत शृंखला है। इस अभिमत पर मुझे यह आपत्ति है कि 'नये चयनात्मक हित का आविर्भाव' स्वयं ही सारतः परिमित अनुभूति का ही एक लक्षण है और परिमित होने के कारण ही उसका रूप कालीय होता है। नये और स्वभावजन्य भेद के कोई माने ऐसी पूरित और अपरिमित अनुभूति के लिये नहीं हुआ करते जिसकी गोद में पूर्णतया एक रूप यह समग्र अस्तित्व समाया हुआ होता है। दूसरी जगह अगर कहा जाय तो सज्जा के श्रृंखल रूप की ऐसी अनुभूति के अतिरिक्त कोई सार्थकता नहीं होती कि जिसे आंशिक

अन्तर्दृष्टि तथा अर्थग्रहण की एक स्थिति से दूसरी तक प्रक्रमशः आगे बढ़ना है। यह बात 'तार्किक' क्रम अथवा नैतिक अर्हतापरक मूल्यांकन विषयक 'नीतिशास्त्रीय' व्यवस्था के बारे में उतनी ही सत्य है जितनी कि केवल आंकिक व्यवस्था के विषय में। वास्तव में खंड २, अध्याय ४, सेक० १० में हमने कहा था कि श्रृंखल सज्जा ज्ञानार्जन की उस सांबंधिक विधि की सबसे सीधी और अधिक से अधिक सामान्य अभिव्यक्ति है जिसे हमने एक साथ ही परिमित ज्ञान के लिये अनिवार्य तथा वास्तविकता अथवा सत्ता की अभिव्यक्ति हेतु अपर्याप्त तय किया था और इस आधार पर ही वर्तमान समस्या को जहाँ तक मैं समझ सका हूँ वहाँ तक कहना पड़ रहा है कि चरम सत्ता न सतत और न असतत शृंखला है क्योंकि आत्मरूपेण वह शृंखला ही नहीं

अध्याय २

७।

आत्मा और शरीर की समस्या

१—मनोभौतिकीय सहयोजन की समस्या का काम वैज्ञानिक आकर्षणों के सह-संबंधों के साथ रहता है न कि अनुभूति के दत्त तथ्यों के साथ । २—अतः मनोवैज्ञानिक 'चेतना' अनुभूति की परिमित व्यष्ट विषयवस्तु नहीं होती और वास्तविक सत्ता को मनोवैज्ञानिक अर्थों में 'मनो' द्वारा निर्मित नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त हमें पहले ही से यह न मान लेना चाहिये कि मनोभौतिकीय सहयोजन की कार्यकर प्राक्कल्पना केवल एक ही हो सकती है । ३—संभाव्य प्राक्कल्पनाओं की संख्या घटा कर तीन तक लायी जा सकती है । उपतत्ववाद, समान्तरवाद तथा मिथःक्रिया । ४—शारीर क्रिया विज्ञान के रीति वैधानिक नियम के रूप में उपतत्ववाद वैध है किन्तु मनोविज्ञान के आधार रूप में वह अग्राह्य है क्योंकि उसके माने हो जाँयगे मनस्तत्वीय तथ्यों का यांत्रिकीय नियमों में विघटन । ५—सामान्तरवाद । समान्तरवाद के लिये दी जाने वाली यह दलील कि चूँकि वह यांत्रिकीय भौतिकी की अभिधारणाओं का सर्वांग सम है इसलिये मनोभौतिकी के लिये अवश्य ही उसे वैध होना चाहिए, विरोधाभासी दलील है । हम पहले से यह नहीं मान ले सकते कि मनोविज्ञान की इन अभिधारणाओं का अनुपालन जरूर करेगा । ६—कार्यकर प्राक्कल्पना के रूप में समान्तरवाद विविध प्रयोजनों के लिये उपलभ्य है किन्तु वह तब असफल हो जाता है जब सद्य प्रयोजन प्रतिक्रियाओं के प्रारम्भणार्थ उसका विनियोग करने का प्रयत्न करते हैं । कोई साध्यवादीय तथा यांत्रिकीय श्रृंखला अन्तिमेत्थतया 'समान्तर' नहीं हो सकती । ७—अतः हमें इसलिये मिथः-क्रियात्मक प्राक्कल्पना का सहारा इसलिये लेना पड़ता है कि उसी से हमें शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के सह-संबंध की एक संगत योजना प्राप्त होती है । लेकिन फिर भी हमें यह याद रखना होगा कि यह प्राक्कल्पना जिन्हें सह-सम्बद्ध करती है वे प्रतीक ही होते हैं वास्तविक तथ्य नहीं । दोनों ही प्रतीकों द्वारा प्रतिनिर्दशित तथ्यवस्तु एक ही होती है यद्यपि मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद शरीर क्रिया विज्ञानीय प्रतीकवाद की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और पर्याप्त प्रतिनिध्य प्रस्तुत करता है ।

१—आत्मा अथवा मन और शरीर के पारस्परिक संबंध के बहुत कम ऐसे प्रश्न हैं जिन्होंने दार्शनिकों का और विशेषतः उन दार्शनिकों का, जो पश्चिमी दुनिया के धर्ममत

के रूप में ईसाइयत की स्थापना के बाद से अब तक हुए हैं, ध्यान अधिकतर लगातार आकर्षित किया है। और न शायद इस प्रश्न के अतिरिक्त और किसी दूसरे प्रश्न के बारे में विवादग्रस्त समस्या के सत्य तर्कशास्त्रीय स्वरूप विषयक सही समझदारी की कमी के कारण, इससे ज्यादा गलतफहमी अथवा दुष्कल्पना ही उठी है। साधारण व्यक्तियों की अर्धवैज्ञानिक अटकलबाजियों और तत्त्वमीमांसकों तथा मनोविज्ञानियों के अधिक व्यवस्थित सिद्धान्तों दोनों ही में इस विषय का प्रारम्भ इस एकदम भ्रान्त पूर्वकल्पना के साथ किया गया कि मानव जीवन का शारीरिक तथा मानसिक भागों अथवा पहलुओं में द्विधा पृथक्करण अव्यवहृत अनुभूति का ऐसा दत्त है जिसका सत्यापन प्रत्यक्षतः हम अपने भीतर कर सकते हैं और यह कि दर्शनशास्त्र का कर्त्तव्य कर्म केवल यही है कि वह विदग्ध किन्तु असत्याप्य प्राक्कल्पनाओं द्वारा दी हुई वास्तविकताओं के बीच की खाईं का अतिक्रमण करता रहे। विगत अध्याय में दिये गये हमारे स्थिति बिन्दु से देखने पर यह आसानी से समझ में आ जाता है कि उपर्युक्त अभिमत दर्शनशास्त्र की वास्तविक समस्या को गलत रूप में प्रस्तुत करता है।

हमारा सरोकार जब तक मानव अस्तित्व के उस रूप के साथ रहता है जिस रूप में हम उसे अपनी तात्कालिक अनुभूति के अन्तर्गत पाते हैं अथवा जिस रूप में हम अपने तथा साथियों के पारस्परिक व्यवहार के सामाजिक संबंधों में उसे उपकल्पित किया करते हैं तब तक शरीर और मन के बीच किसी संबंध का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता क्योंकि संबंध विषयक पदों में से कोई भी पद हमारे सामने नहीं होता। अपनी तात्कालिक अनुभूति की खातिर न तो मैं कोई शरीर हूँ न कोई आत्मा न ही दोनों का कोई संयोग बल्कि मैं तो अनुभूति का एक ऐसा व्यष्ट विषय हूँ जिसका प्रत्यक्ष अन्तः संचार अन्य व्यष्टों के साथ है। चेतन अथवा अचेतन रूप से बद्धमूल द्वैतवादी विचारों के प्रभाव के कारण बहुधा हम इस तरह से बात किया करते हैं मानों यह एक प्रत्यक्षतः अनुभूत तथ्य हो कि हम अपने साथियों के साथ शरीर नामक एक विजातीय 'द्रव्य पदार्थ' के माध्यम से अप्रत्यक्षरूपेण संचार स्थापित कर सकते हैं और कभी कभी हम इस कल्पित प्रतिबन्ध का प्रतिदर्शन अस्तित्व विषयक एक ऐसी उच्चतर कल्पित स्थिति के साथ करने लगते हैं जिसके अन्तर्गत 'अशरीरी-आत्माएँ' अनुमान्यतः एक दूसरे के साथ प्रत्यक्ष समागम कर सकती हों। लेकिन सत्य बात यह है कि यह प्रत्यक्ष समागम और एक बुद्धिमान ओर सप्रयोजन व्यक्ति का दूसरे को प्रभावित कर सकना ऐसा कोई विशेषाधिकार नहीं है जो यहाँ से अच्छी किसी दूसरी दुनिया में हमारे लिये सुरक्षित कर दिया गया हो अगर हम केवल अपने द्वित्ववादी पूर्वाग्रहों को भूल सकें तो हमारे वास्तविक जीवन विषयक यही सत्य बात है जैसाकि हम देख सकते हैं। वास्तविक जीवन में मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रहों द्वारा जीवन के अपने आनन्द को कलुषित करने से पहले, हमें अपने तथा हमारे सामाजिक

पर्यावरण के सदस्यों के बीच किसी निष्क्रिय 'भौतिक' संगठन में घुस पैठने के बारे में हमें कुछ भी पता नहीं होता। अनुभूति की मौलिक एकता का भौतिक तथा मानसिक पक्षों में विभाजन एकदम हमारी अपनी अपाकर्षक बुद्धि की ही उपज है। 'शरीर' और आत्मा अनुभूति की दत्त तथ्य वस्तुएँ नहीं अपितु वे हमारी अपनी कृत्रिम रचनाएँ हैं जिनका समाहरण हमने स्वयं उन विषद प्रक्रियाओं द्वारा जिनका अध्ययन अभी अभी कर रहे थे जीवन के वास्तविक 'तथ्यों' से किया है।

जैसाकि यांत्रिकीय भौतिक क्रम-व्यवस्था विषयक धारणा की रचना करते समय हमने देखा था हम अपनी समग्र प्रत्यक्ष अनुभूति से में कुछ तत्वों को अपाकृष्ट करके अपने 'पिण्डों' अथवा 'शरीरों' का नाम देकर ऐसा समझने लगते हैं मानों उनका एक अलग अस्तित्व हो और तब 'अन्तर्निवेश' विषयक प्राक्कल्पना की सहायता से प्रत्यक्ष आत्मानुभूति के उन तत्वों को जो भौतिक जगत् के बाहर छूट गये थे, इस तरह पुनः प्रस्तुत करने लगते हैं मानों उनकी एक दूसरी ही पृथक्-व्यवस्था अथवा दूसरा पृथक् समग्र आत्मा नामक हो। जब हम इस बिन्दु तक आ पहुँचते हैं तब निःसंदेह मजबूर हो जाते हैं यह सावल खड़ा करने के लिये कि शरीर और मानस नामक इन दोनों व्यवस्थाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध कैसे माना जा सकना आवश्यक है। किन्तु याद रखने योग्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि दोनों ही व्यवस्थाएँ आनुभूतिक तथ्य नहीं है बल्कि अपादकर्षण की उत्पाद है। उनके संबंध पर बहस करते समय हमारा काम यह है कि दिये हुए द्वैत का हम अतिक्रमण न करें अपितु उस एक से छुटकारा पायें जिसे किन्हीं विशिष्ट वैज्ञानिक समस्याओं के हितार्थ अनुभूति का जोड़ तोड़ बैठाने की इच्छा से हमने स्वयं अपने लिये बनाया था। अतः जैसाकि मंस्टरबर्ग ने सहीतौर पर लिखा है कि शरीर और आत्मा के बीच जो संबंध वास्तविक तथ्य रूप में मौजूद है उसे हमें खोजना नहीं है बल्कि हमें ऐसे संबंध का आविष्कार करना है जो कृत्रिम भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं का सामान्य योजना का साथ दे सके।[1]

---

१. एवेनारियस के ग्रन्थ Menschliche Weltbegrif, p, 75 के निम्नलिखित दो अनुच्छेदों के साथ तुलना कीजिये। मान लीजिये 'म' प्रेक्षित वस्तुओं (धड़, बाहों, हाथों, टाँगों, पावों, वाक्शक्ति, गति आदि) का तथा 'प्रस्तुत विचारों' का एक निश्चित समग्र, 'मैं' रूप है। तब जब 'म' कहता है 'मेरा एक मस्तिष्क' है तब उसका अर्थ होता है वह मस्तिष्क प्रेक्षित वस्तुओं के उक्त समग्र की ही वस्तु उसके भाग रूप में है और साथ ही वह 'मैं' अभिधेय प्रस्तुत विचारों का भी अंग है। और जब 'म' कहता है मैं विचारवान् हूँ तो उसका मतलब होता है कि विचार स्वयं प्रेक्षित वस्तुओं के समग्र के भागरूप हैं तथा वे मैं नामक प्रस्तुत विचार समग्र के भी

२—जहाँ तक तत्त्वमीमांसा के हितों का संबंध है यह मान्यता कि आत्मा और शरीर की समस्या का सरोकार केवल वैज्ञानिक अपाकर्षण के अत्यधिक कृत्रिम उत्पादों से ही है न कि किसी ऐसी वस्तु से जिसे 'दी हुई' वास्तविकता अथवा 'दत्त तथ्यवस्तु' कहा जा सके, इस विषय के विवेचन से प्राप्त होनेवाला एक उच्चतम महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। उससे दो बड़े सार्थक निष्कर्ष एक साथ ही प्राप्त किये जा सकते हैं। (१) हमें अनुभूति के उन परिमित विषयों को जिनके संबंध में हमें सकारण मानना पड़ चुका है कि उन्हीं से अनन्यतया चरम सत्ता की रचना हुई है। मनोवज्ञानिक अर्थों में 'मन' और 'आत्माएँ' नहीं कहना चाहिये।[1] उनको इन नामों से पुकारने का अनिवार्य आशय यही होगा भौतिक व्यवस्था से 'पिण्डों' या 'शरीरों' का ऐसा अपवर्जन जिसके विना 'आत्मा' अथाव 'मन' नामक मनोवैज्ञानिक परिकल्पना की कोई सार्थकता नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ऐसा करने से वे उसके तद्रूप न हो सकेंगे जो कुछ कि वे अपनी

अंशरूप है किन्तु यद्यपि मैं नामधेय वस्तु के यथार्थ विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मस्तिष्क और विचार दोनों ही हमारे हैं तो भी उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि विचार मस्तिष्क के हैं। निःसंदेह विचार 'मेरे अहं' का विचार है 'मेरे मस्तिष्क' का ठीक उसी तरह नहीं जिस तरह मेरा मस्तिष्क 'मेरे विचारों' का मस्तिष्क नहीं होता। अर्थात् मस्तिष्क विचार का न तो आवास ही होता है न विष्टर, न जनक, न साधक औजार, न इन्द्रिय, न सहाय, न अध-:स्तर। विचार मस्तिष्क का न अन्तेवासी है, न नायक, न अपराधं, न अपर पार्श्व, न ही उत्पाद और वस्तुतः शरीर क्रियात्मक क्रिया तक नहीं, न मस्तिष्क की कोई स्थिति ही।

१. इसी पुस्तक में अन्यत्र मनोविज्ञानी द्वारा अधीयमान वस्तु के लिये कल्पित रूप से मिथः परिवर्ती आत्मा और मन नामक संज्ञाओं का मैं उपयोग कर रहा हूँ। इन संज्ञाओं का जिन प्रचलित अर्थों में उपयोग अंग्रेज लेखक किया करते हैं उन अर्थों के बीच जहाँ तक भेद का सवाल है वहाँ तक आत्मा के साथ मन की अपेक्षा कहीं अधिक सारवृत्त और स्वातंत्र्य संपृक्त माने जाते हैं। आत्मा शब्द यदि अनुभूति के उस परिमित कर्ता के लिये जैसा कि वह वास्तविक सामाजिक जीवन में स्वयं है तथा मन शब्द उस संरचना के लिये जो मनोविज्ञान के प्रयोजनार्थ इस अनुभवकर्त्ता का प्रतीक होता है निर्धारित कर दिये जाँय तो शायद कोई गलती न होगी। किन्तु आत्मा और शरीर शब्दों के विषय में सार्वजनिक प्रति कल्पनाएँ इतनी बद्धमूल हो चुकी हैं कि हमारे इस सुझाव को कोई स्वीकार न करेगा। इस पुस्तक के प्रारम्भिक भागों में उदाहरणतः खंड २, अध्याय २, सेक० ६ में मैंने स्पिरिट शब्द का उपयोग उन्हीं अर्थों में किया है जिन अर्थों में यहाँ आत्मा शब्द का।

प्रत्यक्ष अनुभूत्यर्थ स्वयं है बल्कि वे तद्रूप हो सकेंगे उसके जो कुछकि वे 'अन्तर्निवेश' के प्रभावान्तर्गत एक दूसरे के सैद्धान्कि विचारार्थ बन जाते हैं। जैसाकि हमने देखा कि विज्ञान के शिविष्ट प्रयोजनों के लिये हमें स्वयं अपने आपको तथा अन्य व्यक्तियों को ऐसा समझ लेना वैध तथा आवश्यक हो जाता है मानों हम 'मानसिक दशाओं' की इस प्रकार की शृंखला हैं, किन्तु यह भूलना कभी वैध नहीं होता कि जब हम ऐसा करते हैं तो प्रत्यक्षतःअनुभूत की जगह हम अत्यधिक अवास्तविक प्रतीकात्मकता को बैठा रहे होते हैं।

प्रतीकात्मकता और तथ्य के बीच यो गड़बड़ करने का एक परिणाम चलते चलाते नोट कर लिया जाय। जब वास्तविक चेतन जीवन के भावित एकत्व की जगह जब मानसिक स्थितियों की शृंखलाओं को स्थानापन्न कर देते हैं तब हम अपने आप से प्रश्न करना शुरू कर देते हैं कि तथ्य और उसके प्रतीक जिसके—प्रतीकात्मक स्वरूप को हम भूल जाते हैं दोनों का क्या संबंध है। और इससे ही उन लाजवाब (उत्तरहीन) प्रश्नों का जन्म होता है। मूलतः अर्थहीन होने के कारण ही तो जो उत्तर देने योग्य नहीं होते और जो उस तरीके के बारे में होते हैं जिसके द्वारा 'स्वात्म' स्थितियों के अनुवर्तन का स्वामी होता है अथवा स्थितियों का अनुवर्तन 'स्वात्म' का होता है। जब हम यह नहीं देख पाते कि स्थितियों का अनुवर्तन स्वयं एक ऐकिक विषय नहीं है जैसाकि 'अन्तर्निवेश' की प्राक्कल्पना के दृष्टिकोण से प्रकट होता है तब हम अपने सामने दो पर्याय खड़े पाते हैं यानी या तो हम अपने मनोविज्ञान पर मनोदशाओं के परिवर्तनहीन 'अधःस्तर' का वह निरर्थक और अविचार्य कल्पितार्थ लाद दें जिसे काण्ट के पहले के मनोविज्ञानी आत्मतत्व कहते थे या वास्तविक जीवन को असतत 'मानसिक प्रतिमूर्तियों' के अनुवर्तन में विघटित कर डालें। यह मान लेने पर कि मनोविज्ञान का अनुभूत वास्तविकता के साथ कभी सीधा सरोकार नहीं होता बल्कि उसका सरोकार सदा ऐसे अपाकर्षण के प्राक्कल्पनात्मक उत्पादों से ही रहता है जिसका औचित्य निर्णय केवल मनोविज्ञानी के विशेष प्रयोजनार्थ उसकी उपयोगिता द्वारा ही होता है। यह सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

(२) हमारे सिद्धान्त का दूसरा महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि हम यह कट्टर दावा नहीं कर सकते कि 'मन और शरीर के पारस्परिक संबंध' के बारे में केवल एक ही वैध सिद्धान्त हो सकता है यदि प्रत्यक्ष अनुभूति में 'मन' और 'शरीर' वस्तुतः पृथक् किन्तु संयुक्त रूप में दिये होते तो हो सकता था कि अनुभूत तथ्य से मिलता जुलता उनके संबंध का केवल एक ही विवरण हो सके। किन्तु चूंकि पार्थक्य स्वयं ही हमारी बुद्धि द्वारा गढ़ा हुआ होता है इसलिये हम आमूलान्त अपने ही अपाकर्षण की कृत्रिम सृष्टियों पर विचार कर रहे हैं। तब उनके संबंध-विषयक ऐसा कोई सिद्धान्त जो किसी विशिष्ट समस्या के अथवा समस्या-श्रेणी के हल करने के लिये वांछनीय हो उस विशिष्ट समस्या श्रेणी के लिये ही वैध

होगा। इस प्रकार शारीर-क्रिया-विज्ञानी, यदि उसका काम उससे चलता हो, तो वैधरूप से एक ऐसी कार्यकर प्राक्कल्पना अपना सकता है जिसे मनोविज्ञानी अग्राह्य मानता हो इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक समस्या के विभिन्न प्रकार भी वैध रूप से विभिन्न कार्यकार प्राक्कल्पनाएँ प्रकल्पित कर सकते हैं ।[1] साथ ही अगले अनुच्छेदों में यह सिद्ध करने का उद्देश्य सामने रखूँगा कि मनोविज्ञान की एक प्राक्कल्पना जरूर ऐसी है जो अपनी अन्य प्रतिद्वन्द्विनियों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह शारीर-क्रिया-विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनों ही के सामान्य प्रयोजनों के लिये उपयोगी है। किन्तु जैसे जैसे हम आगे बढ़ेंगे वैसे वैसे हम देखेंगे कि जिन प्रक्कल्पनाओं का हम त्याग करते जाते हैं महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने के लिये वे भी वैध हैं। तत्वमीमांसा के अध्येता के रूप में तो वस्तुतः हमारा मुख्य लक्ष्य मनोभौतिकी-विषयक संबंध पर आगे बहस करते समय, उन तत्त्वमीमांसीय युक्तियों का विरोधाभास दोष दिखाना होगा जो किसी एक प्राक्कल्पना को विशिष्टतः और आवश्यक रूप के सत्य सिद्ध करने के लिये साधारणतः प्रस्तुत की जाती है।

३—अब जब हम उन मुख्य प्रकारों की प्राक्कल्पनाओं पर विचार करने चलते हैं जिन्हें पहले भी अब भी, वस्तुतः तत्त्वमीमांसक तथा मनोविज्ञानी प्रस्तुत करते रहे हैं और किया करते हैं। उन प्राक्कल्पनाओं का समूहीकरण निम्नलिखित पाँच कुलकों में कर देना ठीक होगा। अर्थात १–पूर्व स्थापित एकरूपता, २–प्रसंगवादिता, ३–उपतत्व-

---

१. अतः ज्योतिषशास्त्रीय समस्याओं पर विचार करते समय हम कोपर्निकस की अथवा टालमी की योजना में से जो भी हमारे विशिष्ट प्रयोजनों के लिये सुविधाजनक हो उसे अपना सकते हैं। कोपर्निकस की व्यवस्था की श्रेष्ठतर सत्यता का मूल्य इससे अधिक अन्य कुछ नहीं होता कि उसकी उपयोगिता का क्षेत्र दूसरी के क्षेत्र से बड़ा है। यहाँ मैं बता दूं कि मैंने उपयोगिता शब्द का प्रयोग यहाँ उन दार्शनिकों के संकीर्णतया व्यावहारिक अर्थों में नहीं किया है जो उदाहरणतः निरपेक्ष विषयक सारी अटकलबाजियों को अनुपयोगिता के आधार पर हेय ठहराते हैं। जो कुछ भी किसी भी मानवीय आकांक्षा को परितुष्ट करता है वह मेरे लिये उस हद तक 'उपयोगी' है। परिणामतः मेरे लिये 'निरर्थक ज्ञान' नामक कोई वस्तु 'फलानुमेय प्रामाण्यवाद' जिसकी खिल्ली उड़ाता है है, इस दुनिया में नहीं है। अतः यदि किसी व्यक्ति की मानसिक शान्ति 'निरपेक्ष' अमूर्त्त विषयक अटकलबाजी पर निर्भर हो—परियों अथवा देवदूतों की आदतों के बारे में या आपकी मर्जी के किसी भी विषय के बारे में (और यह एक ऐसी बात है जिसके बारे में ही आदमी को अन्ततोगत्वा स्वयं ही निश्चय करना चाहिये) तो फल-क्रिया प्रामाण्यवाद का इस तरह की अटकलबाजी पर रोक लगाना स्वयं अपने सिद्धान्त के प्रति झूठ बनना होगा।

वादिता, ४—मनोभौतिकी या समान्तरवादिता ५—मिथःक्रिया । इस अध्याय के प्रयोजनार्थ उपर्युक्त पाँच विकल्पों में से पहले दो विकल्पों को भी छोड़ा जा सकता है । न तो लीबनिट्ज़ की पूर्व स्थापित एकरूपता को ही, न ज्युलिनेक्स और मालेब्रान्श के तथा एक-पक्षीय रूप में बर्कले के भी प्रसंगवाद को आधुनिक दर्शनशास्त्र का अधिक समर्थन प्राप्त हो सकता है । दोनों ही अभिमत इसके अतिरिक्त—लीबनिट्ज़ का [illegible] और प्रसंगवादियों का अर्थगर्भिता के आधार पर—विशिष्ट मनोभौतिकीय प्रा[illegible] कहीं और बढ़ी चढ़ी कोई वस्तु है । सिद्धान्ततः वे सकल ज्ञानातीत कारणता से छुटकारा पा जाने के प्रयत्न हैं और उनके सामान्य आधारों पर हम अपने कारणीय अभिधारणा विषयक अध्याय में विचार कर चुके हैं वहाँ हमने इस बात की अपनी दिलजमई कर ली थी कि मनोविज्ञान की तरह जो विज्ञान परिमित वस्तुओं को मान्यता प्रदान करता है उसे ज्ञानातीत कारणता के सिद्धान्त को कम से कम कार्यकर प्राक्कल्पना के रूप में तो स्वीकार करना ही होगा ।

शेष तीन प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार के अभिमत के समर्थक विज्ञान और दर्शन शास्त्र के सम-सामयिक विद्यार्थियों में मौजूद हैं। उपतत्ववादीय सिद्धान्त अधिकतर भौतिक विज्ञान पर काम करनेवालों का प्रिय सिद्धान्त है । यद्यपि मनोविज्ञानी और तत्त्व-मीमांसकों का वह अधिक प्रिय नहीं है पर डॉ० शैड्वर्थ हॉगसन का स्पष्ट समर्थन उसे प्राप्त है । समान्तरवादी सिद्धान्त के कुछ कथन विशेषतः मंस्टरबर्ग का कथन उससे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं । आजकल शायद समान्तरवादी प्राक्कल्पना मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों में विशेषतः जनप्रिय हो रही है और उसके पृष्ठपोषकों में उच्चकोटि के अनेक लेखक हैं जैसे बुन्ट, मंस्टरबर्ग, एबिंगहास, हाफ्डिंग और स्टाउट । और अन्त में मिथः-क्रिया के शक्तिशाली पृष्ठपोषकों में हैं ब्रैडले, वार्ड और जेम्स, फिर जब उसे मैक-डुगाल जैसे गहरे शरीर-क्रिया-विज्ञानी तक ने अपना रखा है तो कहना ही क्या है । दोनों ही अवर सिद्धान्तों के विगतकालीन महान दार्शनिक तंत्रों के साथ ऐतिहासिक संबंध चले आते हैं । समान्तरवाद का संबंध स्पिनोजा के साथ है और मिथःक्रियावाद का, अन्य नामों की गणना न करने पर भी देकार्ते और लॉक के साथ । प्राचीन जगत् के दर्शन शास्त्र में मनोभौतिकी विषयक प्रश्न सुनिश्चित रूप धारण कर चुका था ऐसा नहीं कहा जा सकता किन्तु शायद इतना कहा जा सकता है कि अफलातून या प्लेटो का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अवश्य ही मिथःक्रियापरक है जबकि अरस्तू का सिद्धान्त यद्यपि इतना उलझा हुआ है कि उसका सही रूप निर्धारण नहीं हो पाता फिर भी वह समान्तरवाद की ओर झुका हुआ है ।

४—**उपतत्ववाद** : विचार के लिये जो तीन प्राक्कल्पनाएँ बच रही हैं उनमें से उपतत्ववाद के सिद्धान्त में ऐसा कुछ बहुत कम है जिसके बल पर उसकी सिफारिश को

या कानूनी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करने लगते हैं तब अगर हम अनुभूति के बहुत ही सीधे सादे तथ्यों के ऐसे बेतुके स्वांग से कोई सरोकार रखने से इन्कार कर दें तो यह कोई हमारी अनाधिकार चेष्टा न होगी। किन्तु जब तक कि इस प्राक्कल्पना को हमारे शारीर-क्रिया-विषयक तथा मनोविज्ञानात्मक सिद्धान्तों को सह-सम्बद्ध करने की केवल कार्यकर प्राक्कल्पनाओं के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है वहाँ तक मामला और ही रहता है। मनोभौतिकी सिद्धान्त रूप में उसकी वैधता का अन्दाजा उस मात्रा द्वारा ही लगाना होगा जिस मात्रा में कि वह इस सह-सम्बन्ध को शक्य बनाती है और जिन मात्रा में कि उन व्यक्त अन्तर्गलताओं से जो इस अभिमत को वास्तविक जीवन की परिभाषा मान लेने की गलती के कारण पैदा होती है कोई हानि नहीं होती।

अब अगर हम इस दृष्टिकोण से इस प्राक्कल्पना को देखें तो हमें तुरन्त दिखायी पड़ जायगा कि वह कुछ प्रयोजनों के लिये वस्तुतः वैध है। शारीर-क्रिया-विज्ञान के प्रयोजनों के लिये यह, एक हमारे मतलब की बात होगी कि किसी शारीर-क्रिया-विज्ञानपरक प्रक्रिया की पूर्वतर स्थितियों से उसकी पश्चात्तर स्थितियों का अनुमान हम लगा सकें। शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक परिवर्तनों को अगर हम शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक पूर्ववर्तियों के अतिरिक्त अन्य के भी द्वारा अप्रभावित हुए बिना उपचारित कर सकें तो ऐसा कर सकने में हमारा हित है। और एकरूपता की अथवा प्रमस्तिष्कीय शारीर-क्रिया-विज्ञान के नियम की स्थापना कर सकने की प्रत्येक वास्तविक सफलता इस बात का प्रमाण है कि यह पूर्वानुमान कि विवादग्रस्त प्रक्रिया की निर्धारिका गण्य परिस्थितियाँ शारीर क्रियात्मक मात्र ही होती है। सत्य का समकक्ष है। यदि कोई शारीर-क्रिया-विज्ञानी किसी मनस्तत्वीय शृंखला को उपतत्ववादीय इसलिये ही मानता है कि एक शरीर क्रिया विज्ञानी की हैसियत से वह उन्हीं प्रक्रियाओंसे काम लेगाजिन्हें इस पूर्वानुमान पर उनमें केवल शारीर-क्रिया-वैज्ञानिक पद ही अन्तर्ग्रस्त हैं एक रूप अनुक्रमों में सफलतापूर्वक विघटित किया जा सके तो वास्तव में वह उचित काम ही करता है। यद्यपि इस बात का निर्णय कि क्या तंत्रिका तंत्र की किन्हीं भी प्रक्रियाओं को सफलतापूर्वक विशुद्ध शारीर-क्रिया-विज्ञानात्मक अनुक्रम माना जा सकता है या नहीं शारीर क्रिया विज्ञानी की अपनी प्रारम्भिक अभिधारणाओं द्वारा परिणामों को वास्तविक सफल प्राप्ति के आधार पर ही किया जा सकता है अन्य किसी भी प्रकार से नहीं।

किन्तु, यदि शारीर-क्रिया-विज्ञानी यह दावा करता ही चला जाय जैसाकि वह कभी कभी किया करता है कि न केवल तंत्रिका-विषयक कुछ प्रक्रियाएँ ही ऐसा मानी जा सकती है कि मानों उनके मनस्तत्वीय संगियों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु यह कि वे प्रक्रियाएँ वास्तव में वैसी ही हैं जैसी कि वे उन संगियों के साथ यदि न होती तो अथवा इतना भी कि तंत्रिका विषयक सकल प्रक्रिया वही है जो वह चेतना के बिना

भी होती, तो वह विरोधाभास का दोषी ठहरेगा । इस तरह की बहस करना कि कुछ परिस्थितियों की उपस्थिति से उस विशिष्ट परिणाम में जो किसी दिए हुए पूर्ववर्ती का अनुगामी परिणाम होता है, कोई अन्तर नहीं पड़ता और वही परिणाम उन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में भी अवश्य प्राप्त होगा, तर्कशास्त्रानुसार एक भयंकर भूल है क्योंकि हो सकता है कि उन परिस्थितियों को दूर कर देने पर हमारे इष्ट पूर्ववर्ती भी लुप्त हो जाँय। यह निष्कर्ष निकालने के लिये स्वतंत्र नहीं कि चूँकि कुछ शारीर-क्रियात्मक प्रक्रियाओं के गतिक्रम की गणना उनके मानसिक सह-संबंधियों को लेखे में लिये बिना भी की जा सकती हैं इसलिये वे प्रक्रियाएँ उन सह-संबंधियों के बिना भी घटित हो सकती हैं।

यह मान लेने पर कि सारी ही मानसिक प्रक्रियाएँ निरपवादतः उपतत्वीय समझी जा सकती हैं अर्थात् सारा ही मानवीय कार्यकलाप यदि हमारा शारीर-क्रिया-विज्ञान पर्याप्त उन्नत होता तो विशुद्ध शारीर-क्रिया-विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता, परिणाम कहीं और भयावह हो जाते हैं । इस प्रकार के पूर्वानुमान से निम्नलिखित भूलभुलैया तुरन्त उठ खड़ी होती है या तो हमारे शारीर-क्रिया-विज्ञान को यांत्रिकीय-विज्ञान की अभिधारणाओं का पक्का भक्त बने रहना होगा या बिल्कुल ही नहीं। अगर वह उन अभिधारणाओं का सच्चा अनुयायी रहता है तो उसके मानवीय क्रियाकलाप के वर्णनों में प्रकल्पित तथा वांछित लक्ष्यों के संदर्भों वाले साध्यवादी निर्धारणों का कोई हवाला नहीं आना चाहिये अर्थात् मानवीय व्यवहार को हमें ऐसा समझना होगा मानों इन्सानी पसन्द और इरादे किसी संभाव्य प्रभाव के बिना, भाग्य द्वारा ही वह हमारे लिये निर्धारित कर दिया गया हो और इस तरह ऐतिहासिक तथा नीतिशास्त्रीय शंसा के उस सारे ही कार्य को जिसे हम पहले ही मनोविज्ञान के वैज्ञानिक रूप के अस्तित्व का एक मुख्य कारण जान चुके हैं अनर्गल प्रलाप मात्र सिद्ध करना होगा। इसलिये हमें वस्तुतः जीवन के ऐसे सिद्धान्त की ओर वापस आना होगा जो हर बात में प्राच्य अथवा मुसलमान के भाग्यवाद से, उस नाम को छोड़ कर जिससे वह अपनी 'अमिट तकदीर' को पुकारता है एकदम मिलता जुलता है। अथवा अगर ऐसा करने को तैयार न हो तो हमें शारीर-क्रिया-विज्ञान को इच्छा, चयन और पसन्दगी या रुचि आदि मनो-वैज्ञानिक पदार्थों को उपयोग करने या रुचि आदि मनोवैज्ञानिक पदार्थों का उपयोग करने की छूट देनी होगी और इस तरह गुप्त रूप से यह मान लेना होगा कि मानवीय क्रिया-कलाप का वर्णन भौतिक व्यवस्था में असम्मिलित कारकों का शामिल किये बिना सम्भव नहीं है। निःसंदेह ऐसी बात इसलिये है कि चूँकि उन्हें इस भूलभुलैया का पता होता है कि सारे ही मनोविज्ञानी लगभग सामान्यतः ही उपतत्ववादीय प्राक्कल्पना का त्याग करने पर सहमत हैं जबकि शारीर-क्रिया-विज्ञानियों में उसकी लोकप्रियता यों कहकर

समझायी जा सकती है कि शारीर-क्रिया-विषयक एकरूपताएँ स्पष्टतः केवल उन्हीं प्रक्रियाओं के लिये सफलतापूर्वक स्थापित की जा सकती है जिन्हें ऐसा माना जा सकता हो मानों वे केवल शरीर-क्रियापरक रूप में ही निरूपित हैं।

५—**समान्तरवाद**: उपर्युक्त अपरिष्कृत विचारणाके कुछ विशिष्ट लक्षणों की रक्षा करते हुए समान्तरवाद की अभिधारणा अपने असन्तोषजनक परिणामों को बरकाने का प्रयत्न करती है। उपतत्ववाद से इस अभिमत के बारे में सहमत होते हुए भी कि शारीर-क्रिया-विषयक परिवर्तनों को केवल शारीर-क्रियापरक पूर्ववर्तियों द्वारा ही निर्धारित माना जाय, समान्तरवाद इस बात से इन्कार करता है कि मनस्तत्वीय श्रृंखला की घटनाएँ अपने शारीर-क्रिया-विषयक सह-संबंधियों की गौण अथवा 'द्वितीयक' प्रभाव मात्र होती हैं। उसके मतानुसार भौतिक या शारीरिक तथा मानसिक घटनाओं की श्रृंखलायें कठोरतया'समानन्तर'होती हैं किन्तु कारणीयतया सम्बद्ध नहीं होती इनमें से किसी भी श्रृंखला की प्रत्येक घटना का एकदम सही अनुदर्शी दूसरी श्रृंखला में मौजूद रहता है लेकिन भौतिक घटनाएँ मनस्तत्वीय घटनाओं का कारण नहीं बनती न इसके विपरीत मनस्तत्वीय घटनाएँ ही भौतिक घटनाओं का कारण बनती है। भौतिक श्रृंखला के अनुवर्ती अंग एक संयुक्त कारणीय अनुक्रम का निर्माण करते हैं जो अपने मनस्तत्वीय सहवर्तियों से स्वतंत्र होता है जबकि ये मनस्तत्वीय सहवर्ती भी जैसाकि आम तौर पर माना जा चुका है।[1] कारणता द्वारा संयुक्त मानसिक स्थितियों की एक श्रृंखला का निरूपण करते हैं अतः तंत्रिकागत प्रत्येक परिवर्तन का निर्धारण केवल पूर्वगामी तंत्रिकीय परिवर्तनों द्वारा ही होता है और तदनुदर्शी मानसिक परिवर्तन अपने अनुदर्शी पूर्ववर्ती मानस परिवर्तनों द्वारा। चित्ररूपेण हमारी इस प्राक्कल्पना की शक्ल यों बनती हैं :—
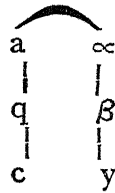
१. किन्तु इस प्रकार का पूर्वानुमान सदा ही नहीं किया जाता। प्रोफेसर मंस्टरबर्ग जो अतने आप को समान्तरवाद के पक्षपोषकों की श्रेणी का मानते हैं तत्वमीमांसीय आधार पर कहते हैं कि सब तरह का करणीय संयोजन भौतिक दशाओं के ही बीच होना आवश्यक है अतः वह इनकार करते हैं कि मानसिक स्थितियों को एक

सामान्यतः इतना और जोड़ दिया जाता है कि पारस्परिक निर्भरताविहीन समानन्तरवाद की अंतिम तत्वमीमांसीय व्याख्या स्पिनोजीय तद्रूपता सिद्धान्त में, अर्थात् इस सिद्धान्त में कि भौतिक और मनस्तत्वीय श्रृंखलाएँ एकत्र वास्तविकता के दो 'पार्श्व' अथवा 'पहलू' है ही ढूँढ़ना पड़ेगी। समानन्तरवाद के कुछ समर्थक (उदाहरण के लिये एबिंगहॉस) इस एकल वास्तविकता की कल्पना तृतीयक किंचित के रूप में करते हैं जिसे वे दोनों ही श्रृंखलाओं द्वारा समानरूपेण पर्याप्ततया अभिव्यक्त हुआ मानते हैं। अन्य (जैसाकि स्टाउट) दार्शनिक कहते हैं कि उसका वास्तविक स्वरूप और भी भौतिक श्रृंखला की अपेक्षा मानस श्रृंखला में और भी अच्छी तरह प्रकट होता है।

श्रेष्ठतम सन्तोषप्रद मनोभौतकीय सिद्धान्त के रूप में समानन्तरवाद की पुष्टि करने के लिये सामान्यतः प्रस्तुत किये जाने वाले आधार दो प्रकार के हैं। निश्चयात्मक युक्ति के रूप में यह कहा जाता है कि प्रमस्तिष्कीय शारीर रचना द्वारा भौतकीय तथा मनोवैज्ञानिक परिमित प्रक्रियाओं के बीच की अनुरूपता के सिद्धान्त की किसी हद तक पुष्टि उसके विविध प्रान्तस्था केन्द्रीकरण द्वारा पहले ही हो चुकी है और उससे यह भी आशा की जाती है कि वह भविष्य में भी इस प्रकार का स्थानीकरण कर दिखायेगी। मनोविज्ञान के धारण-क्षमता, साहचर्य, आदत आदि विषयक नियमों तथा मस्तिष्क में 'संह्वन पथों' के संरूपण विषयक शारीर क्रिया वैज्ञानिक सिद्धान्तों के बीच की औपचारिक अनुरूपता पर भी जोर दिया जाता है। ये निश्चयात्मक तर्क हमें कुछ ज्यादा दूर नहीं ले जाते। जिस सीमा तक के परीक्षण द्वारा उनका निश्चय कर लिया गया है और जहाँ तक वे स्वयं समान्तरवादीय सिद्धान्त के निगमन नहीं हैं वहाँ तक उनका आधारभूत आनुरूप्य मिथः क्रियात्मक सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक ही होगा अथवा वह किसी भी एक श्रृंखला की दूसरी पर एकपक्षीय निर्भरता का आनुरूप्य होगा। समान्तरवादीय विषय की वास्तविक शक्ति कुछ उन नकारात्मक पूर्वानुमानों पर निर्भर

दूसरे के साथ कारणता द्वारा संयुक्त किया जा सकता है, हाँ अप्रत्यक्ष रूप से उनके भौतिक सह-संबंधियों के कारणीय संबंधों द्वारा ऐसा होना सम्भव है। शाब्दिक विभेद के अतिरिक्त उनके अभिमत तथा उपतत्ववाद में मुश्किल से ही कोई अन्तर होगा। यद्यपि वे भौतिक तथा मानसिक दोनों ही श्रृंखलाओं के शुद्ध कृत्रिम 'स्वरूप' पर जोर देकर व्यवहारिक भाग्यवाद के परिणामों से बच निकलते हैं। (मनस्तत्वीय स्थितियों के बीच कारणीय संबंध मानने से इंकार करने का उनका कारण केवल यही है कि कारणीय संबंध केवल सार्वत्रों के ही बीच स्थापित हो सकता है जबकि प्रत्येक मानस दशा अनन्य होती है। क्या इस युक्ति का निहितार्थ वास्तविक अनुभूति और उसके मनोवैज्ञानिक प्रतीक के बीच की गड़बड़ी नहीं ?)

होती है जिनके बारे में आमतौर पर लोगों का ख्याल है कि वे एक शृंखला की दूसरी शृंखला पर कारणीय निर्भरताविपयक प्राक्कल्पना का बहिष्कार करते हैं ये निषेधात्मक पूर्वानुमान मुख्यतः तीन, प्रतीत होते हैं।

(१) कहा जाता है कि, जहाँ बिना किसी कठिनाई के यह कल्पना की जा सकती है कि किसी सतत भौतिक अथवा मानसिक प्रक्रिया की बाद की स्थितियाँ किस प्रकार कारणीय नियम द्वारा उसकी पहली वाली स्थितियों के साथ संयुक्त की जा सकती हैं वहाँ इस बात की कल्पना कर सकना एकदम असंभव होता है कि मनस्तत्वीय घटनाएँ भौतिक पूर्ववर्तियों से कैसे जन्म ले सकती हैं तथा तद्विपरीत भौतिक घटनाओं का उद्भव मनस्तत्वीय पूर्ववर्तियों से क्योंकर हो सकता है क्योंकि भौतिक और मनस्तत्वीय तत्व एक दूसरे से एकदम पृथक् होते हैं। कहा जाता है कि भौतिक प्रक्रिया सतत होती है और दूसरी ओर इसी प्रकार की मनस्तत्वीय प्रक्रिया भी सतत ही होती है किन्तु जब हम प्रमस्तिष्कीय परिवर्तन द्वारा मानसिक परिवर्तन घटित किए जाने की बात सोचने लगते हैं अथवा तद्विपरीत घटना घटित होने की बात सोचने का प्रयत्न करते हैं तो हमें उस सातत्य का पूरा पूरा हाल मिल जाता है जिसकी विधि हम कारणीय सूत्र द्वारा नहीं बैठा पाते।

(२) ऊर्ज्जा संरक्षण सिद्धान्त को कभी कभी मनस्तत्वीय दशाओं को भौतिक दशाओं के पूर्ववर्तियों अथवा परिवर्तियों की गणना में शामिल कर लेने की बात के साथ मेल खाता नहीं माना जाता। कहा जाता है कि यदि मनस्तत्वीय स्थितियाँ तंत्रिकागत परिवर्तन क्रम को प्रभावित कर सकती होतीं तो शारीर तंत्र की ऊर्ज्जा क्षति हुए बिना ही 'कार्य' होना सम्भव होता। और तंत्रिकापरक परिवर्तन का समग्र प्रभाव यदि एकदम भौतिक नहीं है तो शारीर तंत्र द्वारा कार्य हुए बिना ही ऊर्ज्जा क्षति होना आवश्यक होगा और इन दोनों ही मामलों में ऊर्ज्जा संरक्षण नियम का उल्लंघन होगा।

(३) अन्तिमतः यह कहा जाता है कि भौतिक विज्ञान की यह एक मौलिक अभिधारणा है कि जैव शारीर तंत्र जैसे पूर्व-ग्रहीत पदार्थिक तंत्र में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन एकान्तिकतया भौतिक पूर्ववर्तियों के कारण होता है, और इस अभिधारण का मनोभौतिकी में अवश्य ही आदर होना चाहिये। यही हैं वे प्रमुख युक्तियाँ जिन्हें समान्तरवाद के समर्थक मनोविज्ञानियों के ग्रन्थों से ढूँढ़ निकाला है और जिन पर उनका मामला आधारित है।

स्पष्ट ही है कि यदि यह सब अथवा इनमें से कोई सा भी तर्क वैध हो तो इसका मतलब होगा कि समान्तरवाद को भौतिक तथा मनस्तत्वीय विज्ञानों के समन्वयनार्थ न केवल एक अपितु एकमात्र वैध प्राक्कल्पना माना जाय। किन्तु मेरा विश्वास है कि उनमें से प्रत्येक तर्क विरोधाभासपूर्ण है और इस विश्वास के आधार निम्नलिखित हैं:—

(१) भौतिक और मनस्तत्वीय के बीच कारणीय संबंध की अकल्पनीयता विषयक तर्कना सम्भवतः भौतिक तथा मनस्तत्वीय के बीच मिथः क्रिया के अस्तित्व से इन्कार करने के तथाकथित आधारों में सबसे प्रभावशाली आधार है किन्तु उसकी शक्ति उतनी अधिक नहीं जितनी कि वह दिखाई पड़ती है। यह अस्वीकृत नहीं है कि सीधे सादे मामलों में हम उन परिस्थितियों को निर्दिष्ट कर सकते हैं जिनके अन्तर्गत कोई मानसिक स्थिति किसी भौतिक स्थिति का अनुगमन किया करती है। (उदाहरणार्थ हम किसी दिये हुए संवेदन के अविर्भाव की भौतिक परिस्थितियों का निर्देशन कर सकते हैं)। किन्तु हमारा तर्क है कि हम यह नहीं सिद्ध कर सकते कि उन परिस्थितियों का (उदाहरणतः दृष्टि पटल का और अप्रत्यक्षतः मस्तिष्क के प्रकाशीय केन्द्रों का निर्दिष्ट तरंग दैर्घ्यवाले प्रकाश द्वारा हुआ उद्रेक) अनुगमन अमुक निर्दिष्ट संवेदन द्वारा होना क्यों आवश्यक है (उदाहरणतः हरा रंग ही क्यों, अन्य रंग क्यों नहीं ?) इसका मतलब तो यही होता है कि जिस प्रकार हम किसी विशुद्ध भौतिक प्रक्रिया की पहले की स्थितियों को बाद की स्थितियों से संयुक्त कर सकते हैं। संवेदन के स्वरूप को उद्रेक के स्वरूप से उसी प्रकार संयुक्त करने विषयक गणितीय समीकरण की रचना हम नहीं कर सकते। यह बात पर्याप्ततः स्पष्ट है किसी प्रक्रिया के गतिक्रम में नये गुणों की आविर्भाव से पूर्ण उपाकर्षण करके तथा उसे विशुद्ध रेखागणितीय और मात्रात्मक रूपान्तरण मात्र मानकर ही हम उसे अपने समीकरणों के लिये उपयोज्य बना सकते हैं।

जैसाकि अपनी कारणताविषयक विचारणा में हम देख चुके हैं कि गणितीय भौतिकी अपनी संरचनाओं में इसी शर्त पर सफल हो पाती है कि वह अपने विचारक्षेत्र से सारे ही मात्रात्मक परिवर्तन को व्यक्तिनिष्ठ मानकर निकाल बाहर करें। किन्तु हमने वहाँ यह भी देखा था कि गुणात्मकतया नवीन का प्रारम्भण कारणता विषयक विचारणा का अनिवार्य भाग है और यह भी कि भौतिक जगत् के सकल परिवर्तन को मात्रात्मक रूपान्तरण में विघटित करके गणितीय भौतिकी वस्तुतः कारणीय कल्पना को ही निरस्त कर देती है। जब हम शारीरिक परिवर्तनों को संवेदन का कारक बताते हैं तब हमारी स्थिति ठीक वैसी ही होती है जब हम किसी रासायनीय यौगिक के अनुपातों के मात्रात्मक परिवर्तन को उसके गुण परिवर्तन का कारण बताते हैं। यह आपत्ति कि किसी मनस्तत्वीय प्रभाव को उसके तथाकथित कारण के साथ किसी समीकरण द्वारा संयोजित नहीं किया जा सकता। गुणात्मकतया नवीन के उत्पादन के प्रत्येक मामले में अर्थात् हर एक ऐसे मामले में जहाँ कारणता विषयक पदार्थ का जरा सा भी उपयोग करते हैं, समान रूप से लागू होगी और इसी कारण से मनोभौतिक कारणता के विरुद्ध विशेषतया आपत्ति रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसमें कोई जोर नहीं रहता।

(२) ऊर्ज्जा-संरक्षणात्मक तर्कना को और भी संक्षेप में निरस्त किया जा सकता

है क्योंकि उसके विरोधाभासी स्वरूप को समान्तरवादी विचारधारा के आधुनिक योग्यतम व्यख्याताओं तक ने जैसे कि डा० स्टाउट और प्रोफेसर मंस्टरबर्ग, पूरी तरह मान लिया है। जैसाकि डा० स्टाउट ने निर्देशित किया है इस तर्कना में प्रामाण्य प्रमाणीकरणदोष अन्तर्गस्त है ऊर्ज्जा संरक्षण के सिद्धान्त की स्थापना तकनीकी तौर पर संरक्षी पार्थिक व्यवस्था नाम से ज्ञात वस्तुओं के लिये की गयी है और इस बात से कोई निरपेक्ष प्रमाण न तो दिया ही गया है न उसके दिये जाने की कोई संभावना ही है कि मानवीय जैवतंत्र इस प्रकार का संरक्षी तंत्र है। इस पर भी जैसाकि अनेकों आलोचकों का कहना है खासतौर पर प्रोफेसर वार्ड का, कि संरक्षण के सिद्धान्त को स्वतः ही यदि लिया जाय तो वह आदान-प्रदानों का ही नियम है। उसका दावा है कि किसी संरक्षी तंत्र की ऊर्ज्जा की मात्रा उन सभी रूपान्तरणों में जिनके बीच होकर उन्हें गुजरना पड़ता है स्थिर रहती है। किन्तु यांत्रिकीय विज्ञान का शेष अभिधारणाओं से पृथक् वह हमें कोई भी साधन ऐसा नहीं देती जिसके द्वारा हम यह निर्णय कर सकें कि ऊर्ज्जा के कौन से रूपान्तरण घटित होंगे और कब घटित होंगे। इसलिये अगर हम यह मान लें कि मनस्तत्वीय स्थितियों द्वारा उस क्षण का निर्धारण हो सकता है जिस क्षण पर जैवतंत्र में वर्तमान ऊर्ज्जा का रूपान्तरण उदाहरणतः गतिज ऊर्ज्जा का स्थितिज ऊर्ज्जा में उसकी मात्रा को प्रभावित किये बिना हुआ करता है तो हमारी ऐसी मान्यता ऊर्ज्जा-संरक्षण के विशिष्ट सिद्धान्त का भंजन न होगी।

(२) यह सही है कि अभौतिक परिस्थितियों द्वारा भौतिक घटना क्रम का निर्धारण हो सकने की बात मान लेना यांत्रिकीय भौतिकी की अभिधारणाओं से उनके समग्र रूप को देखते हुए मेल नहीं खाता। इस प्रकार के निर्धारण को स्वीकार कर लेने के माने होंगे यांत्रिकीय विज्ञानों की सारी ही क्रिया विधि को मूर्खतापूर्ण सिद्ध कर देना। क्योंकि जैसा कि हम अपने तृतीय खंड में देख चुके हैं, यांत्रिकीय भौतिकी का प्रारम्भिक लक्ष्य है घटनाओं के गतिक्रम का एकरूप अनुक्रम के कठोर नियमों में विघटित कर देना और इस तरकीब के जरिये उस गतिक्रम में हमारे हस्तक्षेप के लिये व्यावहारिक नियमों के निरूपण को आसान बनाना। इसलिये यांत्रिकीय भौतिकी की यह एक वैध अभिधारणा ही है कि उसके विशिष्ट लक्ष्य के रूप में वांछा और इच्छा को हम घटना निर्धारक परिस्थितियों की अपनी परिकल्पना को बाहर रखें और प्रकृति के सारे ही गतिक्रम को केवल भौतिक पूर्ववर्तियों द्वारा निर्धारितवत् ही माने। अनुभूत वास्तविकता का यदि कोई ऐसा प्रखंड हो जिसका काम इन अभिधारणाओं द्वारा न चल सकता हो तो एक रूप अनुक्रम के कठोर नियमों का इस प्रखंड के लिये निरूपण सिद्धान्ततः असंभव है और उसे यांत्रिकीय विज्ञान के अनुसंधान के 'जगत्' से बाहर ही रखना आवश्यक है।

लेकिन यह तथ्य कि यांत्रिकीय विज्ञान अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर पाता है

जब सारी ही भौतिक घटनाओं को अभौतिक परिस्थितियों से स्वतंत्र मान कर चले, इस पूर्वानुमान के लिये जरा सा भी गुंजाइश नहीं रखता कि उन भौतिक घटनाओं के साथ अनुसंधान की प्रत्येक शाखा भी सभी प्रयोजनों के हेतु ऐसा ही व्यवहार करे। मनोविज्ञान के लिये विशेष रूप से तर्कशास्त्रीय आवश्यकता के रूप में यांत्रिकीय अभिधारणाओं का पालन जरूरी है या नहीं यह बात हमारे इस प्रश्न विषयक अभिमत पर निर्भर होगी कि क्या मनोविज्ञान द्वारा साध्य लक्ष्य वही है जो यांत्रिकीय विज्ञान का है अथवा उससे भिन्न। यदि मनोविज्ञान अनुसंधान विषयक हमारा प्रयोजन यांत्रिकीय प्रयोजनों के अनुरूप नहीं है तो हमारी माँग निरर्थक है कि मनोविज्ञानी की हैसियत से अपने अनुसंधान की क्रिया-विधि के मार्ग में रोड़े अटकाने के लिये हम यांत्रिकीय विज्ञान के इष्ट हितों के विशेष स्वरूप पर आधारित अभिधारणाओं का अनुसरण न किया करें।

इस बात पर हम पहले ही तर्कना कर चुके हैं कि मनोविज्ञान के लक्ष्य केवल आंशिक तथा अस्थायी तौर पर ही यांत्रिकीय विज्ञानों के लक्ष्यों से मिलते जुलते हैं अगर हमारा यह मत सही होता कि मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी सर्वसामान्य शब्दावली जुटा देना है जिसका उपयोग इतिहास और नीतिशास्त्र जीवन विषयक अपनी शंकाओं के वर्णनों में कर सकें तो तुरन्त ही यह भी सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान के लिये मानवीय क्रियाकलाप के उसी साध्यवादी पहलू की मान्यता जरूरी है जिसे मौलिक यांत्रिकीय अभिधारणाओं ने यांत्रिकीय भौतिकी के विशिष्ट प्रयोजनों के हेतु सहीतौर पर सिद्धान्तः बहिष्कृत कर रखा है अतः यह तर्कना कि समान्तरवादी अभिमत मनोविज्ञानी के उपयोग के लिये यों श्रेष्ठतम सिद्ध होगा क्योंकि वह उन विज्ञानों की जो अनुभूति से एक दूसरे ही स्थिति बिन्दु के अनुसार और दूसरे ही हितों के लिये काम लिया करते हैं, अभिधारणाओं के अनुकूल पड़ता है विषय-बाह्य-सी हो जाती है।[1]

अब चूँकि हमने समान्तरवादी मत के पक्ष में दिये जाने वाली पहले ही से सही समझे गये तर्कों की पर्याप्त आलोचना कर दी है इसलिये अब हम इस स्थिति में आ गये हैं कि हम केवल उसकी वास्तविक सफलता द्वारा सिद्ध उसके गुणों के आधार पर ही एक मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पना के रूप में उसका अन्दाजा लगा सकें। किन्तु पहले हमें एक बार फिर बतला देना होगा कि सारा सवाल वास्तविकताओं का ही नहीं है बल्कि उस सर्व-

---

१. जिन पाठकों ने हमारे तृतीय खंड में दी गयी तर्कना को समझ लिया है उन्हें यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि विशुद्धतः यांत्रिकीय प्रक्रियाओं का संसार अभिधारणाओं पर आधारित एक ऐसी संरचना है जिसका निर्माण हम उनकी सुविधार्थ किया करते हैं। वह किन्हीं मानों में भी वास्तविक अनुभूति के जगत् का प्रत्यक्ष प्रतिलेख नहीं होती।

श्रेष्ट सन्तोषप्रद तरीके का है जिसके अनुसार आकर्षणों के दो ऐसे कुलकों एक दूसरे के संपर्क में लाया जा सके, जिन्हें मूलतः भिन्न-भिन्न प्रयोजनार्थ निरूपित किया गया था। इसके अतिरिक्त यदि इस प्राक्कल्पना को वास्तविक जगत् के संगठन विषयक तत्व-मीमांसीय अन्तिम सत्य के रूप में सामने रखा जाय तो वह स्पष्टतः आत्मव्याघातिनी होगी।

पहली बात यह कि अगर समान्तरवाद को एक सुविधाजनक कामचलाऊ प्राक्कल्पना से अधिक और कुछ मान लिया जाता है तो यह बात तर्कशास्त्रीय नियमों के विरुद्ध होगी क्योंकि जैसाकि मि० ब्रैडले ने भी कहा है कि इन आधार-भित्ति के बल पर कि कोई ऐसी सकल स्थिति जिसमें भौतिक तथा मनस्तत्वीय एक तर्क शामिल हो, उसी तरह की किसी दूसरी जटिल स्थिति को जन्म देती है। यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि पहली स्थिति का भौतिक पहलू ही स्वयं दूसरी स्थिति के भौतिक पहलू का कारण है और न यह कि पहली स्थिति के मनस्तत्वीय पहलू ने दूसरी स्थिति के मनस्तत्वीय पक्ष को जन्म दिया हैं।

इस परिणाम पर पहुँचने के लिये आपको किसी ऐसे निषेधात्मक उदाहरण की आवश्यकता पड़ेगी जिसमें या तो भौतिक या मनस्तत्वीय दशा अपने सह-संबंधी से पृथक् किन्तु पूर्ववत् परिणामी द्वारा अनुगत पायी जाती है और समान्तरवाद स्वयं भी इस प्रकार के उदाहरण की संभव्यता से इनकार करता है। इस आधारभिति को लेकर कि $a \propto$ के बाद सदा ही $b\ \beta$ आती है वह 'प्रकृति की चीरफाड़' किये बिना ही उस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है कि a स्वयं ही b की आवश्यक तथा पर्याप्त शर्त अथवा स्थिति थी और $\propto$ की β और निःसंदेह ही यह एक विरोधाभासी कथन है। यह कहकर कि कारणीय सहयोजना के बिना अविचल और यथार्थ सहवर्तिता एक तार्किक अनर्गलता होती है इसी बात को प्रोफेसर वार्ड ने दूसरे रूप में व्यक्त किया है।

इस प्राक्कल्पना के समर्थक स्वयं ही इस कठिनाई से परिचित हैं यह उनके इस एक-स्वरीय दावे से प्रकट होता है कि मनस्तत्वीय तथा भौतिक श्रृंखलाएँ अन्ततोगत्वा एक ही वास्तविकता की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। अगर ऐसा है तो वे यह नहीं समझ पाते कि तब यह दोनों ही श्रृंखलाएँ प्रपंचात्मकतया अथवा प्रकट रूप में क्योंकर एक दूसरे से इतनी एकदम भिन्न होती है कि एक का दूसरी पर प्रभाव पड़ना एकदम असम्भव होता है। यह कठिनाई तब अनुलंध्य हो जाती है जब हम विचार करते हैं कि समान्तरवाद के अनुसार भौतिक श्रृंखला का कठोरतया यांत्रिक होना आवश्यक है क्योंकि अन्यथा उन यांत्रिक अभिधारणाओं के साथ हमारा संबंध टूट जायगा जिनके लिये भौतिक घटनाओं की निर्धारक परिस्थितियों अथवा शर्तों में मनस्तत्वीय स्थितियों का शामिल होना घातक समझा जाता है इस प्रकार यदि हमारी वैज्ञानिक संरचनाओं में साध्यवाद

को कहीं मान्यता मिल सकती है तो वह हमारी मनस्तत्वीय श्रृंखलात्मक कल्पना में ही मिल सकती है। सब कुछ होते हुए भी समान्तरवाद के समर्थक अपने मनोवैज्ञानिक कार्यों में साध्यवादी पदार्थों को अच्छी तरह उपयोग करके उपर्युक्त कथन की सत्यता ही सिद्ध करते हैं। किन्तु अब तक हमारे लिये यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि अनुरूपी वास्तविकता का स्वरूप समानतः पर्याप्त रूप से न तो माध्यवादी श्रृंखला द्वारा ही अभिव्यक्त हो सकता है न उस श्रृंखला द्वारा जो अपनी संरचना विषयक सिद्धान्त के कारण विशुद्धतः यांत्रिक है। यहाँ भी फिर एक बार समान्तरवादी हमारे साथ वस्तुतः सहमत हो जाते हैं क्योंकि वे अन्ततोगत्वा प्रायः अपने आपको 'आदर्श-वादी' कहने लगते हैं और दावा करते हैं कि भौतिक श्रृंखला की अपेक्षा मानस श्रृंखला वास्तविकता अथवा सत्ता की कहीं अधिक यथार्थ अनुकृति होती है किन्तु यदि दोनों ही श्रृंखलाएँ सत्ता के सानिध्य के अपने अपने मामले में एक ही स्तर पर नहीं हैं तो यह समझ पाना कठिन है कि दोनों में यथार्थ अनुरूपता कैसे हो सकती है । और इसी बात पर विचार करने के लिये हमें तुरन्त लौटना पड़ रहा है ।[1]

६—किन्तु जब हम पूछते हैं कि चरम दर्शन शास्त्र के इन प्रश्नों के अतिरिक्त भी समान्तरवाद क्या मनोविज्ञान की कार्यकर अभिधारणा के रूप में वैध होगा तो इस बात का जवाब यही होगा कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान कि किन्हीं विभागों में वह अवश्य ही वैध है। समान्तर किन्तु स्वतंत्र श्रृंखला के सिद्धान्त व्यावहारिकतया अधिकांशतः शारीर-क्रिया-विज्ञानी तथा मनोविज्ञानी के मध्य श्रम विभाजन करने के एक रीति वैधानिक उपाय से कुछ थोड़े ही से बढ़े-चढ़े हैं। तद्नुसार शारीर-क्रिया-विज्ञानी अपने आपको ऐसी एकरूपताओं के निरूपण तक ही सीमित रखता है जिन्हें तांत्रिकागत उन प्रक्रियाओं के मध्य स्थापित किया जा सकता है जिन्हें समझा जा सकता है कि मानों वे बाहरी प्रभावों से अप्रभावित हैं। मनोविज्ञानी भी अपने मनस्तत्वीय सहवर्तियों के साथ ही ऐसा करते हैं। समान्तरवाद रीति-वैधानिक-क्रिया-विधि के एक वसूल अथवा नियम के रूप में मनोविज्ञान के उन भागों में जो मानसिक जीवन के निष्क्रियतर अतएव नेमी प्रकार के पहलुओं को लेकर चलते हैं, उपयोगी है और इसीलिये उनकी वह एक वैध कामचलाऊ प्राक्कल्पना है।

---

१. कट्टर समान्तरवादी सिद्धान्त तर्कानुसार हमें जिस तटस्थ एकत्ववाद की ओर ले जाता है वह एक कामचलाऊ अभिधारणा से बढ़े-चढ़े रूप में प्रस्तुत होने पर ऐसी आशा की जा सकती है कि कम से कम इंगलैंड में तो अवश्य ही प्रोफेसर वार्ड की पुस्तक 'नेचुरलिज्म एण्ड ऐग्नॉस्टिज्म' के दूसरे भाग में उल्लिखित अपनी अलाक्षिक-ताओं की आलोचना के बाद जीवित न रह सकेगा।

जिस प्रश्नानुसार उसके सर्वश्रेष्ठ प्राक्कल्पना होने का दावा निर्णीत होना है मेरी समझ में वह है जैवतंत्र के पर्यावरण में होनेवाले परिवर्तनों के प्रति नवीन सप्रयोजन अभ्यनुकूलनों के सद्यः प्रारम्भण के मामले में उसकी विनियोजनीयता का प्रश्न।[1] क्योंकि मनोविज्ञान को यदि वह प्रयोजन जो हमने उसे सौंपा है सिद्ध करना है तो ऐसे ही मामलों में काम करते समय अधिकतम स्पष्टतया उसे यांत्रिकीय पदार्थों को त्यागकर साध्यवादी पदार्थों का ग्रहण करना आवश्यक होता है। अतः यहाँ ही, अन्यत्र कहीं नहीं, यह उसूली मुश्किल जरूर ही तब उठ खड़ी होना आवश्यक है जब हम भौतिक तथा मनस्तत्वीय शृंखलाओं को यथार्थतः समान्तर और अनुरूप मानने की कोशिश करते हैं। यांत्रिकीय अभिधारणा पर आधारित रूप में भौतिक विज्ञान की कल्पना से यह एक आवश्यक निष्कर्ष निकालता है कि साध्यवादी और यांत्रिकी शृंखलायें विचाराधीन प्राक्कल्पना द्वारा पूर्वानुमित तरीके के अनुसार अपनी समस्त विवृत्तियों के साथ समानान्तर रूप में सम्भवतः नहीं दौड़ सकती।

यदि नीतिशास्त्र और इतिहास के लिये उनकी शंसा की विषयवस्तु की अपूर्ति हेतु मनोविज्ञान किसी प्रकार उपयोगी होना चाहता है तो स्पष्टतः उसे पहले से ही यह मान लेना होगा कि वांछा अथवा कामना और चयन दोनों ही, मानवीय क्रियाकलाप के गति-क्रम का निर्धारण करने में क्रियाशील रहते हैं और इसीलिये उनका—कम से कम कहीं न कहीं तो अवश्य ही साध्यवादी पदार्थों का स्पष्टतया उपयोग करना जरूरी है। और सम्भवतः यह पदार्थ भौतिक विज्ञान के कठोरतम असाध्यवादी प्रतीकवाद में सम्भवतः अनूदित नहीं हो सकते क्योंकि सामान्य नियमों वाले प्रत्येक विज्ञान की तरह वह विज्ञान भी यांत्रिकीय अभिधारणा पर आधारित होता है। नतीजा यह है कि संगति में करना 'पारस्परिक अन्तःक्षेपरहित' यथार्थ समान्तरवाद का उपयोग मनोविज्ञान द्वारा साध्य प्रयोजन से संगत एक कार्यकर प्राक्कल्पना तक के रूप में, स्वयं मनोवैज्ञानिक अनु-संधान के शुरू से आखिर तक कहीं नहीं हो सकता और जब भी भौतिक प्रक्रिया के सारे ही क्षेत्र में उसका विनियोग करने का गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न किया जाता है तो अनि-वार्यतः वह हमें उस अभिमत के इस अधकचरे भाग्यवाद की ओर ले जाता है कि चयन

---

१. **जैसाकि थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जायगा, इस मामले में न केवल किसी संवेदन अथवा प्रेक्षण पर हुआ नवीन प्रेरक प्रतिक्रियाओं का प्रारंभण ही शामिल है अपितु शारीर-क्रियात्मक उत्तेजन से गुणात्मकतया नवीन प्रतिक्रिया के रूप में उद्भुत संवेदन का प्रारम्भण भी खुद शामिल है इस तरह पर उसमें वे दोनों ही प्रक्रियाएँ शामिल हो जाती हैं जिनके भीतर मिथःक्रियावाद के समर्थक भौतिक तथा मनस्तत्वीय का कारणीय अंतः संबंध होना सदा से मानते चले आये हैं।**

अथवा कार्य (स्वतंत्र अथवा परतंत्र) नाम का कोई चीज भी इस दुनिया में नहीं है। किन्तु व्यावहारिक रूप से समान्तरवाद के वे समर्थक जो इस अभिमत को तब दुरदुराते हैं जब उपतत्ववाद के नामान्तर्गत विशेष रूप से उसे प्रकट किया जाता है ऐसा करने में इसलिए सफल हो पाते हैं क्योंकि समान्तरवादी अभिमत को मनोविज्ञान के क्षेत्र में ठूँसने का वास्तविक आग्रह नहीं करते। वे मानस जीवन के संसर्जन, स्वभावाप्ति आदि नेमी स्वरूप और तुलनात्मकतया निष्क्रिय पहलुओं से काम लेते समय ही सामान्यतः अपनी इस प्राक्कल्पना को प्रकाशित किया करते हैं किन्तु उसे वे त्यों ही आँख ओझल कर देते हैं ज्योंही कि अवधान और चयन जैसी स्पष्टतः साध्यवादी परिक्कल्पनाओं से उनका काम पड़ता है। उनकी इस क्रिया विधि का मार्ग मुँह से तो यांत्रिकीय अभिधारणाओं के प्रति निष्ठा व्यक्त करनेवाले किन्तु वास्तव में विशुद्ध मनोवैज्ञानिक साध्यपरक पदार्थों का डट कर उपयोग करनेवाले विकासवादी प्राणिशास्त्रियों द्वारा उनके लिये प्रशस्त कर दिया जाता है।

अगर जगह की कमी न होती तो विशद रूप से यह सिद्ध करना आसान काम हो जाता कि यांत्रिकीय तथा साध्यवादी शृंखलाओं की संरचना में अन्तर्हित विभिन्न सिद्धान्तों की प्रत्येक शृंखला के व्यष्ट पदों में ऐसे लक्षणों की उपस्थिति कैसे अन्तर्ग्रस्त रहती है जिनके अनुरूप लक्षण दूसरे पदों में एकदम नहीं होते। अतः डा० वार्ड के साथ ही हम भी पूछ सकते हैं कि मनस्तत्वीय तथा शारीर-क्रिया-योजनाओं के विविध रासायनिक संघटकों में से, मनस्तत्वीय योजना की कौन सी वस्तु शारीर-क्रिया-विज्ञान की इकाइयों की किस संरचना के अनुरूप है और फिर उनमें से भी किन प्रारंम्भिकतर मूलभूत अणुओं में से किस अणु के साथ उसका सादृश्य है।[1] किन्तु इस समस्या का बहुली-

---

१. मुझे यह लिखते हुए बड़ी खुशी होती है कि 'अर्थ' के मनोवैज्ञानिक महत्व को मान्यता के साथ समान्तरवाद का मेल बैठाने की असंभाव्यता विषयक मेरे अपने विचार मि० गिब्सन के विचारों के अनुरूप हैं। (देखिए—'पर्सनल आइडियलिज्म' के पृष्ठ १५० एफएफ पर 'दि प्राव्लम ऑफ फ्रीडम' नामक निबन्ध) प्रोफेसर मंस्टर-वर्ग की यह घोषणा कि मनोविज्ञान द्वारा अनुसंधानित चेतना अपने ज्ञान द्वारा कुछ नहीं जानती न अपने इच्छा करने द्वारा कुछ भी इच्छा करती है 'मुझे आधारीय मनोवैज्ञानिक प्राक्कल्पना के रूप में समान्तरवाद के दिवालियेपन का इकरार ही लगती है और उससे भी बढ़कर उनका यह विषद और चमत्कारी निदर्शन कि वह 'मस्तिष्क' मेरा मन जिसके 'समान्तर' माना जा सकता है वही 'मस्तिष्क' नहीं होता जिसका अध्ययन और चित्रण शरीर रचना विज्ञानी किया करता है अर्थात् भौतिक वस्तु रूप मस्तिष्क। देखिये—'साइकोलोजी', १, ४१५–४२८.

भवन अपेक्षाधिक हो जाता है यदि पाठक एक बार हमारे इस नियम को हृदयंगम कर लेता है कि यथार्थ अनुरूपता उन्हीं शृंखलाओं के मध्य संभव होती है जो दोनों या तो यांत्रिक होती है—अथवा दोनों एक ही मात्रा में, साध्यपरक। किसी यथार्थतः साध्यपरक और किसी नैष्ठिकतः यांत्रिक शृंखला के बीच इस प्रकार की अनुरूपता का होना तर्कशास्त्रानुसार इसलिये असंभव होता है क्योंकि उनकी रचना शैलियाँ ही मूलतः भिन्न हुआ करती हैं।

७—अभी हाल ही में प्रस्तुत किये गये कारणों से मैं यह दावा करना आवश्यक मानता हूँ कि मिथः-क्रिया की अभिधारणा, शरीर और मन के पारस्परिक संबंध विषयक अभिधारणाओं में सबसे पुरानी और सबसे सीधी-सादी है। इस मत के अनुसार दोनों ही शृंखलाओं को यथार्थ आनुरूप्य प्रस्तुत करनेवाली नहीं समझा जा सकता, उन्हें तो विभिन्न विन्दुओं पर एक दूसरे को ठीक उसी तरह कारणीयतया प्रभावित करनेवाली जिस तरह कि भौतिक घटनाओं के कोई से भी दो कुलक एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं—माना जा सकता है। यदि हम इस मत को ग्रहण कर लेते हैं तो हमें संवेदन में एक ऐसी मनस्तत्वीय स्थिति को स्वीकार करना होगा जिसके अव्यवहृत पूर्ववर्तियों में भौतिक प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं और जिसकी प्रेरक प्रतिक्रिया में उसी प्रकार कोई भौतिक प्रक्रिया मनस्तत्वीय पूर्ववर्तियोंसहित शामिल होती है। इससे इनकार करना कठिन है कि मन और शरीर विषयक यह कल्पना कि वे ऐसी दो वस्तुएँ हैं जिनमें परस्पर कारणीय सम्बन्ध है, एक ऐसी प्राक्कल्पना है जो बहुत ही स्वाभाविक रूप में हमारे सामने तब आ खड़ी होती है जब हम अव्यवहृत अनुभूति के एकत्व को कृत्रिम प्रकारेण एक बार भग्न कर के भौतिक तथा मनस्तत्वीय पक्षों में विभक्त कर देते हैं और इस प्रकार मनोभौतिक संयोजन की समस्या पैदा कर देते हैं। यह सब इतने स्वाभाविक ढंग से होता है कि वे मनोविज्ञानी तक जो अन्य प्राक्कल्पनाओं में से किसी एक को स्वीकार कर चुके होते हैं, लगातार स्वेच्छा गति के विषय में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं। यदि उन शब्दों का कोई अर्थ लगाया जा सकता हो जिनका यही मतलब निकलता है कि मानसिक प्रक्रियाओं का कारणीय निर्धारण शारीरिक प्रक्रिया द्वारा होता है जबकि किसी भी संप्रदाय का मनोविज्ञानी आज तक मिथः-क्रियापरक शब्दावली के अतिरिक्त अन्य किसी शब्दों में संवेदन और उत्तेजक के संबंध को व्यक्त करने में सफल नहीं हो सका। सम्भवतः इस प्राक्कल्पना को विरोधी आलोचना कभी न होती अगर तत्वमीमांसकों ने उसे अपने उन आक्षेपों का लक्ष्य न बनाया होता जिनका निराश हम यह कहकर पहले ही कर चुके हैं कि वे ऐसे विरोधाभासी आक्षेप हैं जिनका आधार यह धारणा है कि मिथः-क्रिया-विरोधी यांत्रिकीय अभिधारणाएँ उस वास्तविक सत्ता की वास्तविक संरचना विषयक निर्धारित सत्य है।

तात्कालिक अथवा अव्यवहृत अनुभूति में जिसके साथ हमारा सम्पर्क रहा करता है।

स्पष्ट है कि साध्यसमस्या के स्वरूप के अनुसार मनोभौतिक मिथः-क्रिया के वास्तविक घटना की सिद्धि हमसे प्रत्याशित नहीं है। वैज्ञानिक विविवत विचारणाओं के दो कुलकों के मिथः-सम्बन्ध की कार्यकर अभिधारणा के रूप में इस सिद्धान्त की प्रत्यक्ष स्थापना 'तथ्योदाहरण' द्वारा नहीं की जा सकती। उसके औचित्य-निर्धारणार्थ यह सिद्ध करना होगा कि (अ) वह सिद्धान्ततः किसी वैज्ञानिक क्रिया-विधि के मौलिक स्वयं-सिद्ध से कहीं नहीं टकराती। और (ब) हमें अपने वैज्ञानिक परिणामों को श्रेष्ठतम सुविधाजनक रूप में उन उपयोगों के साथ समन्वय करने में सहायता पहुँचाती है जिनमें हम उनका विनियोग करना चाहते हैं। यदि हमारी पहलेवाली तर्कनाएँ सही हैं तो मिथः-क्रिया विषयक प्राक्कल्पना इन दोनों ही शर्तों को पूरा करती है। तर्कशास्त्रीय विधि के प्राग्ज्ञानात्मक आधार पर इस प्राक्कल्पना के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियों के विरोधाभासी स्वरूप के दर्शन हम कर ही चुके हैं और साथ ही यह भी देख चुके हैं कि यदि हमें उन यांत्रिक अभिधारणाओं के प्रति वफादार बने रहना है—भौतिक विज्ञान अपनी सफलता हेतु जिन पर निर्भर रहता है और अपनी मनोवैज्ञानिक संरचनाओं में मानवी क्रियाकलाप के उस साध्यवादी स्वरूप को जो इतिहास और नीतिशास्त्र का मूलतत्व है मान्यता देना है तो निश्चय रूप से इस प्राक्कल्पना की कितनी माँग हमारे लिये है। मिथः-क्रियात्मक प्राक्कल्पना के पक्ष में इससे ज्यादा और कुछ नहीं कहा जा सकता और ज्यादा बाल की खाल निकालने से उसे अधिक बल मिल सकना संभव नहीं।

इतना और जोड़ा जा सकता है कि मिथः-क्रियात्मक कल्पना की सबसे ज्यादा सिफारिश इस बात से होती है कि वह वैकल्पिक सिद्धान्तों की आपेक्षिक उपयोगिता की पूर्ण मान्यता के साथ उसकी संगति अच्छी तरह बैठती है यद्यपि उनमें तथ्यों के उन पहलुओं के साथ पूर्ण न्याय कर सकने की सामर्थ्य नहीं है जिन्हें केवल मिथः-क्रियात्मक शब्दावली द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार मिथः-क्रियात्मक प्राक्कल्पना तुरन्त ही यह स्वीकार कर सकती है कि कुछ प्रयोजनों के लिये किसी सीमा तक भौतिक अथवा मनस्तत्वीय प्रक्रियाओं के साथ इस प्रकार व्यवहार किया जा सकता है मानों उनके मनस्तत्वीय सहवर्तियों की उपस्थिति से उनके घटित होने में किसी प्रकार का कोई फर्क न पड़ता हो। इसका कारण यह है कि जहाँ यांत्रिकीय प्राक्कल्पना से प्रयोजनात्मक प्रक्रिया का जरा सा भी बोधगम्य विवरण हमें नहीं मिलता वहाँ साध्यवादी प्राक्कल्पना अपने अन्तर्गत होनेवाली प्रक्रियाओं में से कुछ प्रक्रियाओं के आभासतः यांत्रिक स्वरूप का लेखा-जोखा आसानी से हमें दे सकती है जैसाकि हमने खंड ३, अध्याय ३, सेक० ६ में देखा था कि कोई प्रयोजनात्मक प्रतिक्रिया जब एक बार स्थापित हो जाती है तो जब तक कि परिस्थिति अपरिवर्तित रहती है तब तक जिस

नियमितता के साथ उसका पुनरावर्तन होता रहता है वह एक यांत्रिकीय एकरूपता की शकल अख्तियार कर लेती है और उस प्रक्रिया का लक्ष्य इसी लिये उसके पुनरावर्तन द्वारा तब भी सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार हम आसानी से देख सकते हैं कि किसी व्यष्ट व्यक्ति के जीवन की निर्मायिका प्रक्रियाओं को मनोविज्ञान की भाषा में अनूदित करके यदि हमें सन्तोष मिल भी जाय फिर भी उनमें से बहुतेरी प्रक्रियायें नेमी एकरूपतानुसार ही चलती और जारी रहती ही दिखायी पड़ेगी और जब हम बहुत सी विषयवस्तुओं की तुलना द्वारा अधिगत औसती परिणाम को लेकर एकरूपताओं की प्राप्ति करने पर जानबूझ कर तुल जाते हैं तब हमारे नतीजे निःसंदेह यांत्रिक शक्ल के ही हमेशा होते हैं क्योंकि औसत निकालने की प्रक्रिया के समय हम स्वयं ही अपने दत्तों में वैयक्तिक अथवा व्यष्ट प्रयोजन तथा अभिक्रम के तत्व को शामिल नहीं करते बल्कि उसे बाहर ही रखते हैं अतः हम समझ ही सकते हैं कि मिथः क्रियात्मक प्राक्कल्पना के आधार पर वे सब मानसिक प्रक्रियाएँ जिनके मिलने से पूर्वतः स्थापित प्रकार की प्रतिक्रिया का पुनरावर्तन होता है, किस प्रकार यांत्रिक-सी लग सकती है और तदनुसार ही उपतत्ववाद तथा समान्तरवाद की उभयनिष्ठ मनस्तत्वीय प्रक्रियाओं की यांत्रिकताविषयक कल्पना का सुझाव भी दे सकती है। इस प्रकार मिथः-क्रिया, और मिथः-क्रिया ही अकेली एक ऐसी प्राक्कल्पना है जिसका विनियोग मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के समग्र क्षेत्र में हो सकता है।

मैं इस अध्याय का अन्त, तत्वमीमांसा विषयक विशिष्ट समस्याओं पर हमारे निष्कर्ष द्वारा पड़नेवाले दबाव की मीमांसा द्वारा करना चाहूँगा। हमने स्पष्ट रूप से मिथः-क्रिया की वकालत यह कह कर की है कि वह अनुभूत तथ्य की विवृत्ति रत्ती भर नहीं है अपितु वह एक ऐसी कार्यकर प्राक्कल्पना है जो ऐसी दो वैज्ञानिक संरचनाओं का सद्-सम्बन्ध सुविधापूर्वक जोड़ देती है जिनमें से कोई भी अनुभूति की विषय-वस्तु से प्रत्यक्षतः मिलती जुलती होती है। निःसंदेह इसके माने यही है कि मिथः-क्रिया तत्वमीमांसीय प्रयोजनों के लिये सम्भवतः अन्तिम सत्य नहीं हो सकती न अन्तिमेत्थतया वह तथ्य ही हो सकती है कि 'मन' और 'शरीर' ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती हो, क्योंकि जैसाकि हमने देखा न 'मन' ही न 'शरीर' ही अनुभूति का वास्तविक दत्त होता है। प्रत्यक्ष अनुभूति तथा अपने सामाजिक सम्बन्धों के लिये उस द्वित्व का कोई अस्तित्व ही नहीं होता जिसकी सृष्टिबाद को भौतिक व्यवस्था की रचना द्वारा होती है। न ही यह संधारित किया जा सकता है कि यह द्वित्व प्रत्यक्षतः एक दत्त के रूप में भले ही न दिया गया हो फिर भी एक ऐसी कल्पना है जिसका पूर्वग्रहण अनुभूति को आत्मसंगत बनाने के लिये बाध्य होता है और इसलिये वह एक सत्य है। यतः मिथः-क्रिया विधायक कल्पना स्पष्टतः भौतिक व्यवस्था की कठोरतया यांत्रिक व्यवस्था रूप में की गयी कल्पना पर

आधारित होती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि हमने इन कठोर यांत्रिकीय दिशाओं के आधार पर चूँकि बाद को हमें वास्तविक मानव जीवन के अयांत्रिक स्वरूप को अपने विज्ञान में मान्यता देना था तथा उसका प्रतीकीकरण करना था अतः उसके साधन स्वरूप हमें 'मन' अथवा 'आत्मा' की कल्पना करने को वाध्य थे इसलिये हमने पहले ही 'शरीर' नामक विचारवस्तु की रचना कर डाली। और चूँकि पहले ही देख चुके हैं कि जो कुछ यांत्रिक होता है वह यांत्रिकरूपेण कभी वास्तविक नहीं हो सकता इसलिये एक दूसरे के साथ कारणीय संबंध द्वारा संबद्ध यांत्रिकीय तथा अयांत्रिकीय व्यवस्थाओं की यह सारी ही योजना उस वास्तविक सत्ता का जिसका प्रतीक उसे बनाया जाना है एक अपूर्ण स्थानापन्न मात्र ही हो सकती है। वास्तव में तो हम यही निष्कर्ष इस तथ्य से निकाल सकते थे कि जिस मनोभौतिक प्राक्कल्पना का उरीकरण हमने किया है वह ज्ञानातीत कारणतापरक शब्दावली के द्वारा व्यक्त इसलिये हुई है चूँकि हमने पहले ही इस बात की दिलजमई कर ली है कि कारणीय अभिधारणा के सकल रूप न्यूनाधिक सदोष आभास होते हैं।

इस साध्य को कि 'शरीर' और 'मन' के 'सहयोजन' अथवा संबंध का मनोभौतिक सिद्धान्त मानव अनुभूति की साध्यपरक वास्तविक एकता का अनुभवाश्रित विज्ञान की आवश्यकताओं द्वारा उद्भूत एक कृत्रिम रूपान्तरण है कभी कभी यह कह कर भी व्यक्त किया जाता है कि शरीर और मन वस्तुतः एक ही वस्तु है। वास्तविक अनुभूति में मनोभौतिक द्वित्व की अनुपस्थिति पर जोर देने के कारण सम्भवतः उसके द्वारा सत्यता पर्याप्त यथार्थतया प्रकट नहीं होती। क्योंकि कथन जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है उससे उन अत्यधिक भिन्न स्तरों का कोई संकेत नहीं प्राप्त होता। सत्य की मात्रा के जिन स्तरों पर ये दोनों ही कल्पनाएँ वास्तविक मानवीय अनुभूति के सप्रयोजन साध्यपरक स्वरूप का पुनः सम्पादन करती हैं। इस कथन द्वारा हम शायद लक्ष्य के अधिक निकट तक पहुँच रहे होंगे कि जहाँ शारीर-क्रिया विज्ञानी का लक्ष्य 'शरीर' और मनोविज्ञानी का लक्ष्य 'मन' दोनों ही ऐसे काल्पनिक प्रतीक हैं जिन्हें विशेष कारणोंवश वास्तविक जीवन नामक एकल विषय के स्थान पर ला बैठाया गया है और इसी लिये कि दोनों को ही एक ही वस्तु का प्रतिनिधि माना जा सकता है वहाँ उनकी वास्तविक तथ्यवस्तु एक दूसरे से भिन्न होती है क्योंकि शारीर-क्रिया विज्ञान की भाषा में जिसे मैं अपना शरीर कहता हूँ उसमें जीवन की केवल वे ही प्रक्रियायें शामिल होती है जो यांत्रिक आदर्श के इतनी अधिक निकटतया अनुकूल होती हैं कि उन्हें एकदम सफलतया यांत्रिक ही समझा जा सकता है और इसीलिये उन्हें सामान्य प्राकृतिक नियमों की योजना के अन्तर्गत भी लाया जा सकता है। यतः जिस वस्तु को एक मनोविज्ञानी की हैसियत से मैं 'मन' अथवा 'आत्मा' नाम से पुकारता हूँ, सन्निकटतया यांत्रिक प्रकार की प्रक्रियाओं के उसमें

अन्तर्निविष्ट होने पर भी, वे प्रक्रियाएँ ऐसे पर्यावरण के विरुद्ध हुई सद्य और व्यष्ट प्रतिक्रियाओं के प्रारंभण के आधीन होकर ही उसमें रहती हैं जिसे केवल साध्यपरक पदार्थों द्वारा ही पर्याप्ततया अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार यद्यपि 'मन' और 'शरीर' एक तरह पर, एक ही तथ्यवस्तु के पर्याय हैं तो भी उनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अपनी प्रकृति का कहीं अधिक पूर्ण और स्पष्ट दिग्दर्शक है। डाक्टर स्टाउट के शब्दों में उनका 'अन्तराशय' भले ही एक हो किन्तु उनकी 'अन्तर्वस्तु' भिन्न होती है।[1]

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—आर० एवेनारियस कृत (Menschliche Welt begriffl); बी० बोसांक्वेट लिखित 'दि सायकोलाजी आफ दि मौरल सेल्फ,' लेक्चर १०; एफ० एच० ब्रैडले की 'अपीयरेन्स एण्ड रियालिटी,' अध्याय २३; शैड्वर्थ हागसन कृत 'मेटाफिजिक ऑफ एक्सपीरियेंस,' भाग २, पृष्ठ २७६-४०३; विलियम जेम्स कृत 'प्रिंसिपल्स ऑफ सायकोलोजी,' भाग १, अध्याय ५ और ६; एच० लोत्से लिखित 'मेटाफिजिक' खंड ३, अध्याय १ और ५ (अंग्रेजी अनु० वाल्यूम २, पृष्ठ १६३–१९८, २८३-५१७); एच० मंस्टरबर्ग कृत Grundzuge der psycholo, gie i, chaps ii, (pp 402–436),—15 (pp 525–562); जी० एफ० स्टाउट लिखित 'नैचुरिलिज्म एण्ड एग्नॉटिसिज्म', वाल्यूम २, लेक्चर ११ और १२, (आर्टीकिल 'सायोकोलोजी एन्साइक्लोपीडिया बिटानिका' के पूरक अंश के पृष्ठ ६६ एफएफ पर उल्लिखित)।

---

१. देखिए उनका निबन्ध 'ऐरर' 'शीर्षक, 'पर्सनल आइडियलिज्म' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित।

अध्याय ३

वास्तविक सत्ता में 'स्वात्म' का स्थान

१—'स्वात्म' है (१) एक साध्यपरक कल्पना, (२) जिसमें सम्मिलित है तद्विषमित 'अनात्म' (जहाँ यह वैषम्य किसी अनुभूति में नहीं पाया जाता वहाँ स्वात्म की यथार्थ भावना नहीं होती), (३) किन्तु 'स्वात्म' और 'अनात्म' की विभाजक सीमाएँ स्थिर नहीं होतीं अपितु घटती-बढ़ती रहती हैं। अनात्म बाह्य सीमा मात्र ही नहीं अपितु वह ऐसे व्यष्टान्तर्गत असंगत तत्वों से निर्मित होता है जो मानसिक संरचना द्वारा उससे निःस्त्रावित होते हैं। (४) स्वात्म विकास का एक उत्पाद है और उसका अस्तित्व काल-शृंखला में निहित रहता है। (५) वास्तविक अनुभूति के किसी एक क्षण में कभी भी पूर्ण स्वात्म प्राप्त नहीं होता किन्तु है वह एक आदर्श रचना। सम्भवतः स्वात्मत्व में बौद्धिक विकास की कुछ मात्रा अर्न्तनिहित रहती है। २—निरपेक्ष अथवा अपरिमित व्यष्टि सकल आंतर-असंगति-दोषरहित होने के कारण अनात्मवान नहीं हो सकता और इसीलिये उसे स्वात्म कहना उचित नहीं। ३—व्यक्ति तो वह और भी नहीं हो सकता। ४—एकल स्वात्म की अपेक्षा स्वात्मों के समाज में हमें अधिक यथार्थतः आत्म निर्धारित व्यष्ट मिल सकता है इसलिये निरपेक्ष को समाज मानना सत्य के निकटतर होगा यद्यपि निरपेक्ष के समग्र स्वरूप की पर्याप्त अभिव्यक्ति किसी भी परिमित समग्र द्वारा नहीं हो सकती। किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा (अ) कि निरपेक्षान्तःस्थ सकल व्यष्ट सम्भवतः प्रत्यक्षतः संबद्ध नहीं होते और (ब) निरपेक्ष को समाजरूप में विचार कर हम उसकी वास्तविक व्यष्टता से इन्कार नहीं करते। ५—स्वात्म स्वभावतः अनश्वर नहीं है। मृत्यु के उपरान्त भी उसके सतत अस्तित्व की विशिष्ट समस्या के विषय में तत्त्वमीमांसीय आधारों द्वारा किसी नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सकता। न तो उसके अस्तित्व की अविच्छिन्नता-विषयक परिस्थितियों को समझ सकने की हमारी असमर्थता पर आधारित नकारात्मक पूर्वानुमान, न अनुभवाधारित साक्ष्य-राहित्य ही निश्चयात्मक होते हैं। दूसरी ओर ऐसा कोई पर्याप्त तत्त्वमीमांसीय कारण ही है जिसके आधार पर अमरत्व का निश्चय हो सके।

१—खंड २, अध्याय १, सेक० ५ में हमने पहले ही आनुसंगिकतया यह सवाल उठाया था कि जिस समग्र आध्यात्मिक व्यवस्था को विश्व की वास्तविक सत्ता मानने के आधार

हमें मिले क्या उसे सहीतौर पर 'स्वात्म' कहा जा सकता है। वहाँ हमने तय किया था कि उसे इस विशेषण द्वारा विशेषित करना कम से कम् भ्रामक अवश्य होगा और ऐसा करने से गहन बौद्धिक हेत्वाभासिता के लिये रास्ता साफ हो जायगा। मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाओं के सामान्य स्वरूप के बारे में किये गये हमारे विचारविमर्श से इस समस्या की ओर यह सकारण आशा लेकर मुड़ना कि अब हम उस पर ज्यादा अच्छी तरह विचार कर सकेंगे और 'स्वात्म' तत्व में निहित सत्य की मात्रा के विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे संभव हो गया है।

सबसे पहले तो, आइये इस कल्पना का सामान्य अर्थ ही स्थिर कर लिया जाय और उसके कुछ प्रमुखतर लक्षण ढूँढ़ निकाले जाँय। स्पष्ट ही है कि मनोविज्ञान शास्त्र में 'स्वात्म' तत्व का जिन मानों में प्रयुक्त हुआ है उन सब मानों के परिगणनार्थ वांछित स्थान की कहीं अधिक स्थान उपर्युक्त काम के लिये आवश्यक होगा और जब यह काम हो चुकेगा तब वह हमारे तत्त्वमीमांसीय प्रयोजनों के लिये पूरी तौर पर उपयुक्त न होगा। मैं यहाँ 'स्वात्म' विषयक धारणा के ऐसे कुछ पहलुओं पर ही विचार करना चाहता हूँ जो स्पष्टतः ही, नीतिशास्त्रीय तथा इतिहास-विषयक शंसाहेतु अनिवार्य हैं। साथ ही मैं यह भी जानना चाहूँगा कि अस्तित्व की तत्त्वमीमांसीय व्याख्यार्थ उनका मूल्य क्या है।

(१) प्रारंभतः ही स्पष्ट है कि 'स्वात्म' एक साध्यवादीय कल्पना है। जीवन चरित्र तथा इतिहास द्वारा प्रकटित तथा नीति शास्त्र द्वारा निर्णीत गुण वाले 'स्वात्म' की एकमात्र विशिष्ट विषयवस्तु हमारे परिवेष्ट के विविध निर्मायिकों के प्रति हमारी भावात्मक रुचियों और प्रयोजनात्मक अभिवृत्तियाँ ही है। हमारा स्वात्म इन्हीं से मिलकर बना है और किसी से नहीं। और फिर स्वात्म एकल और व्यष्ट इस सीमा तक होता है जहाँ तक कि इन रुचियों और प्रयोजनों को किसी केन्द्रीय और संश्लिष्ट रुचि अथवा प्रयोजनों के अनुवर्तन विषयक विवृति की अभिव्यक्ति का निरूपक माना जा सकता है। जहाँ ऐसा लगता है कि इस प्रकार का कोई केन्द्रीय हित है ही नहीं वहाँ सप्रयोजन कार्यों के अनुवर्तन को किसी एकल स्वात्म की अभिव्यक्ति कहने का हमें कोई तर्कसंगत अधिकार नहीं है। इस प्रकार पुलिस प्रशासन के किन्हीं व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये यद्यपि 'शारीरिक' अभिज्ञान को ही स्वात्म विषयक अभिज्ञान का साक्ष्य मान लेना आवश्यक हो सकता है किन्तु हम सब ही मानते हैं कि कोई आदमी मानसिक अन्य संक्रामण ऐसी पूर्णावस्था में जिसमें प्रयोजन का सातत्य ही लुप्त हो जाय, जो कुछ करता है वह उसके जीवनी लेखक के लिये महत्वपूर्ण नहीं होता सिवाय इसके कि उस बात का ज्ञान उस आदमी के होश में वापिस आने पर उसके हितों और प्रयोजनों में कोई रद्दोबदल कर सके। और ऐसे मामलों में भी जहाँ शरीर-मात्र

द्वारा किये काम की कानूनी जिम्मेदारी लेने को हम तैयार हों वहाँ हमारी अन्तरात्मा नैतिक दोष से हमें मुक्त तब कर देती है यदि हम ईमानदारी से यह अनुभव करते हों कि हम कह सकते हैं कि "जब यह काम हुआ तब मैं नहीं था अथवा मैं आपे में न था।'[1] 'स्वात्म' में हम जो एकत्वविषयक साध्यवादीय स्वरूप अध्याहृत करते हैं वह सम्मोहन विद्या और मानसिक रोग विज्ञान के अध्ययन द्वारा कभी कभी प्रकाश में आने वाले 'बहुल' तथा 'वैकल्पिक' व्यक्तियों द्वारा सुझायी गयी पहेलियों से और भी अधिक उदाहृत हो जाता है। आखीर में परिवर्तन विषयक उन अनेकों मामलों में जहाँ हम कहा करते हैं कि आदमी एक 'नया जीव' बन गया है अथवा उसने 'पुराना आपा' खो दिया है वहाँ

---

१. 'शारीरिक तादात्म्य' अथवा 'शारीरिक अनन्यता' के ही कारण निःसंदेह और भी बहुत सी कठिन समस्याएँ उठ खड़ी हों अगर उन पर विचार करने को हमारे पास काफ़ी जगह हो। यहाँ तो पाठकों के विचारार्थ कुछ थोड़ी सी बातों का सुझाव मैं दे सकता हूँ। (१) सकल अनन्यता अथवा तादात्म्य अन्ततोगत्वा साध्यपरक ही प्रतीत होता है और इसी लिये मनस्तत्वीय। मैं इस शरीर का वही मानव शरीर होना मानता हूँ जिसे मैंने पहले देखा है क्योंकि मेरा विश्वास है कि इसके कार्यों से व्यक्त हित सतत होंगे यतः अनुभव ने मुझे सिखा दिया है कि भौतिक अथवा शारीरिक सादृश्य का कुछ निश्चित मात्रा मनस्तत्वीय सातत्य की कामचलाऊ कसौटी है। (२) मूल पाठ में उल्लिखित दायित्व विषयक नीतिशास्त्रीय समस्या के लिये स्पष्टतः प्रश्न कम और अधिक का ही है। दैनिक व्यवहार में हम अपने या दूसरे के कामों के बारे में जो फतवे दिया करते हैं वे आदतन इस विश्वास के आधार पर दिये जाते हैं कि नैतिक दायित्व की कुछ मात्राएं अथवा श्रेणियाँ उस वस्तु में भी मौजूद रहती हैं जिसे प्रशासन विषयक तात्कालिक आवश्यकताओं के कारण हमें अनन्य निरपेक्ष मानना पड़ता है। उदाहरण के लिये मदोन्मत्त व्यक्ति को हम मदहोशी की हालत में किये गये उसके कामों के दायित्व से एकदम मुक्त नहीं मानते न आपे से बाहर होने की हालत में किये गये उसके कामों के श्रेय भागित्व के अधिकार से ही उसे वंचित मानते हैं यानी ऐसी हालत में किये गये कामों के श्रेय से जब वह उत्तेजित हालत में अपने स्वाभाविक हितों के पगडण्डी से बहका हुआ हो। लेकिन जब हम किसी सिद्धान्त से प्रभावित नहीं होते तो हम उसके उन कर्मों के दायित्व की अपेक्षा जो उसने तब किये थे जब वह अपने आपे में था उसे कम दोष अथवा कम श्रेय का भागी उसके कार्यानुसार जरूर मानते हैं। इन सभी विषयों पर श्री ब्रैडले का जुलाई १९०२ की 'माइन्ड' नामक पत्रिका में प्रकाशित लेख देखें।

हम उस व्यक्ति विगत स्वात्म के साथ उसके साम्य को उतनी ही सीमा तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक कि हम, उसके 'नये जीवन' को उन हितों और प्रयोजनों की, जो उसके 'पुराने जीवन' में प्रच्छन्नतया 'प्रवृत्तियों' के रूप में पहले ही से अर्न्तहित थे—अभिव्यक्ति मान लेने में सफल होते हैं ।

(२) 'स्वात्म' में अनात्म अर्न्तहित रहता है । अनात्म का स्वात्म से विलग कोई अस्तित्व नहीं हुआ करता और स्वात्म जब अनात्म के मुकाबिले में आता है अर्थात् दोनों के वैषम्य द्वारा ही 'स्वात्म' अपने स्वात्मरूप को पहचानता है । उसूली तौर पर या सैद्धान्तिकतया मुझे यह बात स्पष्ट लगती है यद्यपि चालू अटकलबाजियों में इस सिद्धान्त या उसूल के परिणाम अंशतः भ्रान्त और अंशतः उपेक्षित ही होते हैं । हमारे मतलब के लिये उनमें से सबसे महत्वपूर्ण परिणाम निम्नलिखित है :—स्वात्म की भावना निःसंदेह ही हमारी अनुभूति की अवियोज्य सहवर्तिनी नहीं है क्योंकि वह—और यहाँ केवल प्रत्यक्ष परीक्षण को ही साक्ष्य का आधार माना जा सकता है । हमारी अनात्म विषयक जाग-रूकता से सम्बद्ध वैषम्य प्रभाव के रूप में उपजती है फिर वह चाहे स्वात्माभिव्यक्ति को प्रतिबद्ध करे अथवा स्वात्म द्वारा रूपान्तरित हुआ करे। अतः उन अनुभूतियों में जिसमें यह वैषम्य अनुपस्थित होता है यथार्थ 'आत्म संकोच' का कोई चिह्न नहीं पाया जाता ।[1] भावना, जहाँ यह आत्मसंकोच अपने सरलतम रूप में आपको मिल सकता है, जगत् विदित एतद्विषयक उदाहरण है । यद्यपि यह बात मनोविज्ञानियों में विस्तृतरूपेण मान्य नहीं है पर मुझे पता है कि हमारे प्रेक्षण का अधिकांश मुझे उसी स्थिति में प्रतीत होता है उदाहरणार्थ सामान्यतः जब मैं किसी वस्तु की ओर देख रहा होता हूँ, मान लीजिये किसी कलई से पुती दीवार की तरफ देख रहा हूँ उस समय मुझे यह पता नहीं लगता कि मैं किन्हीं असली मानों में 'स्वात्म चेतन' हूँ । मेरी अवगति का अर्न्तवस्तु, मुझे तो कम से कम, ठीक वह दीवार मात्र ही लगती है जिसका विन्यास होता है अविश्लेषित भावनाओं के जैव तथा अन्य प्रकार के द्रव्य मान में, जिसे आप चाहें तो एक वाह्य दर्शक की हैसियत से मेरा प्रेक्षक स्वात्म कह सकते हैं लेकिन जिससे मैं प्रेषित दीवार के विन्यास रूप में ही अभिज्ञ होता हूँ ।

प्रेक्षण की अन्तर्वस्तु के प्रति ध्यान दे सकना जब कठिन हो जाता है (जैसे ज्ञान न्द्रियों की थकावट, अथवा उनसे आवश्यकता से अधिक काम लेने के कारण या बेमेल प्रयोजन से टकराने पर) तब ही मैं अपने स्वात्म के प्रतिमुखी और प्रतिरोधी अनात्म के रूप में प्रेक्षित वस्तु से अभिज्ञ होता हूँ । मैं समझता हूँ कि यही बात हमारे चेतन और

---

१. 'आत्म-संकोच' के बुरे माने सदा किसी विरोधी वस्तु अथवा पर्यावरण तथा स्वात्म के बीच के मेल न बैठने से ही पैदा होते हैं ।

सप्रयोजन कार्यरत जीवन के अधिकांश के बारे में भी सही है । जब मैं अपना मनचाहा स्वाध्याय कर रहा होता हूँ अथवा जब अपनी बिरादरी लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा होता हूँ तब ऐसे मुझे विज्ञान के 'तथ्यों' की अथवा अन्यों के हितों और प्रयोजनों की अनात्मरूपेण अपनी अभिज्ञता का कोई पता नहीं होता उनका पता मुझे तभी लगता है जबकि या तो ये हित और प्रयोजन मेरे से टकरायें या उनकी मेरे उद्देश्य से भिड़न्त बन्द हो जाय। उदाहरणतः सामान्य सामाजिक जीवन के दौरान, अनात्म के विपरीत स्वात्म की प्रबल भावना मुझमें तब मौजूद होती है जब मेरे निकटवर्ती लोगों में से ही किसी व्यक्ति की योजना मेरी योजना से टकराने लगती है अथवा जब उपर्युक्त प्रकार के अपने विरोधी को मैं अपने पक्ष में कर लेने में सफल हो जाता हूँ। इनमें से पहले वाले मामले में मेरे स्वात्म में निरोध की भावना जागृत होती है और दूसरे मामले में विस्तार की। लेकिन, मैं नहीं समझता कि हम कह सकते हैं कि वास्तविक जीवन में स्वात्म-भावना वहाँ ही जाग्रत होती है जहाँ उसके अपसारण के बाद विरोधात्मक चेतना अस्थायी रूप से मौजूद नहीं होती। क्योंकि जहाँ दूसरे लोगों के साथ एकरूप होकर, हिलमिल कर किसी पहले से तय किए हुए एक ही उद्देश्य को लेकर काम कर रहे होते हैं वहाँ स्वात्म-चेतना और तद्विरोधी अनात्म की भावना शायद ही हमारी अनुभूति में प्रविष्ट होती मालूम दे सकती है ।[१] मेरे अनुमान से यही कारण है कि जिससे व्यावहारिक सांसारिक बुद्धि ने सदा ही 'आत्म संकोच' को कमजोरी और नैतिक असफलता का स्रोत माना। जब तक हम दृढ़तापूर्वक किसी प्रयोजन की उन्नतिशील सावना में लगे रहते हैं तब हम काम में अपने 'आपे को खोये' से रहते हैं और काम में रुकावट आने पर ही 'आत्म चेतन' होते हैं ।

(३) अगली ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वात्म और अनात्म के बीच विभाजन अथवा सीमांकन की कोई निश्चित रेखा नहीं होती। विशेष रूप से हमें यह मान लेने की गलती न करनी होगी कि स्वात्म और अनात्म के बीच के संबंध की समग्र विषयवस्तु सामाजिक ही है जबकि तत्पक्षीय स्वात्म स्वयं मैं हूँ और दूसरी ओर का स्वात्म है अन्य व्यक्तियों का स्वात्म। निःसंदेह यह सही है कि इस विभेद का मूल मुख्यतः सामाजिक है क्योंकि मैं क्या चाहता हूँ और चाहनेवाला भी मैं हूँ इसका

---

१. निःसन्देह, एकमत होकर काम करने की किसी योजना के निरूपण और प्रारंभण की प्रक्रिया में यद्यपि यह देखने को मिलता है । अन्य स्वात्म को यहाँ मेरे स्वात्म के विरोध में खडा ठीक इस वजह से खड़ा किया जाता है क्योंकि मेरे पर्यावरण और मेरे प्रयोजन के बीच की टक्कर का अपसारण बाहर से होता प्रतीत हो रहा था।

पक्का पता मुझे तभी चलता है जब मुख्यतः मेरे अभिप्रेतार्थ की साधना दूसरे व्यक्तियों द्वारा कुंठित की जाती है अथवा जब मेरे अभिप्रेतार्थ साधन के मार्ग के रोड़े जिनके कारण मेरा काम पहले नहीं बन पाता था दूसरों की सहायता और सहयोग द्वारा दूर हो जाते हैं। लेकिन यह सिद्ध करना कि आत्म और अनात्म का विभेद किसी सामाजिक माध्यम के बिना उदित हो ही नहीं सकता कठिन होगा। और यह स्पष्ट ही है कि उसकी विनियोज्यता का क्षेत्र—उस समय जब उसे एक बार खड़ा कर दिया जाय—सामाजिक संबंधों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। एक ओर तो हमारी अनुभूति का कोई भी लक्षण ऐसा नहीं प्रतीत होता जिससे स्वात्मरूपेण अनुभूत वस्तु के निर्माण में प्रविष्ट होने से रोका अथवा वहिष्कृत रखा जा सके। मेरे सामाजिक घनिष्ठ मित्र, मेरे हमपेशा साथी, मेरे नियमित कार्यकलाप या व्यवसाय यहाँ तक कि मेरे वे कपड़े आरायशी सामान जिनका मैं आदी हो चुका हूँ मेरी जिन्दगी के लाक्षणिक हितों के सातत्य के हेतु इतने ज़रूरी हो सकते हैं कि उनको हटा देने से मेरा स्वरूप पहचानने लायक ही न रहे या उनके न रहने से मैं पागल हो जाऊँ, मर तक जाऊँ। और चूँकि वे चीजें मेरे अतिस्त्व की साध्यपरक एकतार्थ इतनी अपरिहेय है इसलिये ये सब 'बाह्य' वस्तुएँ 'आत्म'-सात होती होने और स्वात्मांश बन जाने योग्य प्रतीत होती है।

इसका उच्चतम उदाहरण हमें उस जंगली आदमी के मामले से मिलता है जिसे सभ्य वातावरण में ला बिठाया जाता है और जिसके मन और शरीर दोनों ही विफल हो जाते और जो किसी अज्ञेय बीमारी से, शायद उसके पुराने आस-पड़ोस या वातावरण से सम्बद्ध हितों के लुप्त हो जाने के कारण अन्त में मर जाता है या फिर ऐसा ही उदाहरण हमें उस स्नेहाविष्ट प्रियजनों के मामलों से मिल सकते हैं जो उपर्युक्त प्रकार से ही किसी प्रिय संबंधी अथवा मित्र के गुजर जाने के बाद स्वयं भी मुरझा जाते हैं। छोटे से पैमाने पर हम यही बात हमें उन स्वाभाविक परिवर्तनों में भी देखने को मिलती है जिन्हें सौभाग्य से साधारण बोल-चाल में यह कहकर प्रकट किया जाता है कि 'जब से उसकी घरवाली या पत्नी नहीं रही तब से वह अपने आपे में नहीं है।' अथवा 'जबसे उसका रुपया चला गया तब से उसका आपा भी खो गया।' सिद्धान्ततः प्रचलित भाषा में स्वात्म पर्यावरण कहलाने योग्य वस्तु का ऐसा कोई भी कारक हमें नहीं दीखता जो इस तरह पर स्वात्म के अन्तर्विषय का अंग बन सकता हो।[1]

---

१. कहा जा सकता है कि इस प्रकार जो वस्तु स्वात्म का अंग बनती है, वह, पर्यावरण के ये लक्षण या कारक स्वयं नहीं होते अपितु तद्विषयक मेरे 'विचार' ही स्वात्म की वस्तु होती है। ऊपर से देखने पर तो यह बात विश्वासप्रद मालूम देती है क्योंकि जीवन की वास्तविकताओं की जगह मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को ला बैठाने की

दूसरी ओर यह कह सकना कठिन प्रतीत होता है कि क्या ऐसी भी कोई चीज है जो सामान्यतः स्वात्म का ही भाग हो और जो किन्ही विशिष्ट परिस्थितियों में उस वस्तु का भाग न बन सकती हो जिसे हम 'अनात्म' मानते हैं। इस प्रकार हमारे शारीरिक संवेदन, भावनाएँ, हमारे विचार, वाञ्छायें और विशेषतः हमारी अच्छी-बुरी आदतें सब की सब आमतौर पर हमारे स्वात्म की ही अंग समझी जाती हैं। फिर भी हम जब किसी इच्छा अथवा आदत को ऐसा तत्व मान सकते हैं जो हमारे शेष स्वात्म से मेल नहीं खाता अथवा जिसका हमारे स्वात्म में होना उचित प्रतीत नहीं होता और नैतिक प्रगति का सारा दारोमदार इसी एक रुख की अख्तियारी पर निर्भर हो तो हमें उस तत्व को अनात्म की ओर धकेल देना पड़ता है। किसी आदत या इच्छा को दूसरा रास्ता अख्तियार करने का संकल्प करना, सिद्धान्ततः पहले ही से उस साध्यपरक एकता से उसे निकाल बाहर करना है जिससे हमारा आभ्यान्तर जीवन बनता है यही बात हमारे विचारों के विषय में भी सही है। जहाँ तक कि हम किसी निर्णय पर स्वीकृति की छाप लगाना निलम्बित कर सकते हैं और अपने विश्वासों की सामान्य व्यवस्था में उसे प्रविष्ट करने या न करने के पक्ष या विपक्ष विषयक कारणों को तोल सकते हैं वहाँ तक स्पष्टतः ही वह निर्णय बाह्य अनात्म की वस्तु है।

फिर भी इतना तो प्रकल्प्य है ही कि हमारी रचना में इतनी गहराई तक निगूढ़ बौद्धिक तथा नैतिक आदतें हो सकती हैं कि हम उन्हें निर्णयार्थ तथा दण्डाज्ञार्थ स्वात्म के विरुद्ध खड़ा नहीं कर सकते। हमें इस बात से इन्कार हो ही नहीं सकता कि कई मामले ऐसे हैं जिनमें हम दूसरे तरीके पर न तो संकल्प ही कर सके न सोच ही सके यहाँ तक कि दूसरे तरीके से सोचने की अथवा संकल्प करने की संभावना तक हमारे मन में न उठ सकी क्योंकि ऐसा करने से हमारे जीवन का प्रयोजनात्मक सातत्य भंग हो जाता। फिर हमारे शारीरिक संवेदनों का हमारे स्वात्म के साथ एक विशेष प्रकार का संबंध है। तो भी हम उनके प्रेक्षण की शक्ति का जहाँ तक अधिग्रहण कर सकते हैं अथवा उनकी ओर से अवधान को अपाकृष्ट करने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं वहाँ तक वे अनात्मवर्ती तत्वों की स्थिति में विघटित हो जाते। सुख दुख तक भी असंक्रान्त्य-रूपेण वैषम्य के स्वात्मपक्ष की वस्तु नहीं प्रतीत होते। उदाहरण के लिये एक अफलातूनी मसले को ही ले लें। यदि किसी अशोभन अथवा अश्लील वस्तु को देखकर हमें खुशी होती है और साथ ही साथ इस बात से अपने से घृणा भी कि हमें ऐसी खुशी क्योंकर हुई, तो निंदित कार्य द्वारा हुई प्रसन्नता मेरे अपने 'सच्चे' स्वात्म के

अन्तर्निवेशीय विधि के हम आदी होते हैं। तथ्य के विषय में देखिए ब्रैडले लिखित 'अपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', अध्याय ८, पृ० ८८ एफएफ (फर्स्ट एड०)।

किसी अंश के रूप में स्वीकृत हुई प्रतीत नहीं होती बल्कि वह एक ऐसा बाहरी तत्व प्रतीत होती है जो मानों स्वात्म की प्रकृति के विरुद्ध उस पर अधिरूढ़ कर दिया गया हो। दुःख को उस अविलम्बता और साग्रहिता के कारण जिनसे उसे प्राणिशास्त्रीय महत्व प्राप्त होता है स्वात्म से निष्काषित कर पाना और भी ज्यादा कठिन होता है। किन्तु अनुभव से किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो परीक्षण करने का कष्ट उठायेगा विश्वास हो जायगा कि शारीरिक पीड़ाएँ जब तक बेहद तीव्र न हों (उदाहरण के लिये सह्य प्रकार की तीव्र दन्तपीड़ा) उनके वेदानात्मक गुण की ओर ध्यान लगा देने पर कभी-कभी अनुभवकर्त्ता स्वात्म को निश्चित रूप से बाह्य प्रतीत करा दी जा सकती है और यतित्व के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास से तथा 'मानसोपचारकों' की क्रिया-विधि से ध्वनित होता है कि बहिर्निष्कासन की यह प्रक्रिया जहाँ तक हमें सन्देह है उससे भी बहुत आगे तक ले जायी जा सकती है।

साधारण शारीरिक दशा-परक जैव अथवा 'सामान्य' संवेदन सम्भवतः उस अनुभूति के तत्व होते हैं जो समग्र स्वात्म से उसे विछिन्न करने के तथा उसे एक बाह्य वस्तु मानने के सारे प्रयत्नों का ढिठाई से प्रतिरोध करता है। यद्यपि कुछ मामलों में निश्चय ही हमें ऐसा लगता है कि उसके गुण का विश्लेषण करके तथा उसका 'स्थानीकरण' करके हम अनुभूत स्वात्म से जैव अथवा ऐन्द्रिय संवेदन को वहिष्कृत करने में समर्थ हो गये हों । फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि यदि अनुभूति में ऐसे कोई तत्व हैं जिन्हें अनात्म में संक्रान्त करना एकदम असम्भव है तो वे तत्व मुख्यतः शायद अविश्लेषित और अविश्लेष्य जैव या ऐन्द्रिय संवेदन की संहतियाँ ही हैं ।[१]

इन सब विचारों द्वारा दो बातें अत्यधिक स्पष्ट हो जाती हैं (अ) इतिहास और

---

१. मेरे एक सहकर्मी ने मुझे बताया है कि उसकी आँखों की चलन स्वात्म की चेतना से अवियोज्य प्रतीत होती है तथा उन गतियों को उपर्युक्त मानों में अनात्म से बहिष्कृत नहीं रखा जा सकता। मुझे सन्देह नहीं है कि हम में से प्रत्येक में इस तरह की शारीरिक भावनाएँ मौजूद रहती हैं जिन्हें अमात्य की ओर धकेला नहीं जा सकता और यह कि वैयक्तिक अथवा व्यष्ट मामलों को लेकर इन भावनाओं के यथार्थ स्वरूप के विषय में यथासंभव विस्तृत क्षेत्र को लेकर व्यवस्थित पूँछताछ कराना अत्यन्त लाभप्रद होगा। किन्तु मुझे ऐसा लगता है, जैसाकि मैंने ऊपर कह दिया था, कि सामान्य प्रेक्षण में शारीरिक भावनाएँ प्रेक्षित विषयवस्तु के विशेषण के रूप में बिना स्वात्म और अनात्म के विरोध के ही निग्रहीत होती हैं। वहरहाल समस्या संज्ञान सिद्धान्त विषयक उन मौलिक प्रश्नों की है जिन्हें प्रचलित मनोविज्ञान आसानी के साथ रौंदता निकल जाता है।

नीति शास्त्र में जो स्वात्म हमारी रुचि का विषय हुआ करता है वह निश्चित रूप से स्थिर हुई सीमाओं वाली कोई वस्तु होगी ऐसा नहीं। उसके पूरक, अनात्म से उसे पृथक् करने वाली रेखा ऐसी रेखा है जिसे हम किन्हीं यथार्थतः परिशुद्ध तर्कसंगत नियमों के अनुसार नहीं खींच सकते। इसके अतिरिक्त किसी समय जो वस्तु इस रेखा के एक ओर थी वही दूसरे समय दूसरी ओर पायी जाती है। यदि हमारी अनुभूति का कोई अंश ऐसा हो जो इस विभाजक रेखा के स्वात्म पक्ष की ओर ही आवश्यक रूप से और सदा ही पाया जाता हो तो सभी तरह से यही संभव है कि वह वस्तु शरीर संवेदनों की ऐसी संहतियाँ मात्र होंगी जो व्यक्तरूपेण उस वस्तु का समग्र न होंगी। जिसका ध्यान किसी स्वात्म की अर्हता विषयक शंसा करते समय इतिहास और नीतिशास्त्र रखा करते हैं।[१]

आगे हम स्वात्म द्वारा अनात्म के विरोध की प्रकृति से सम्बद्ध एक निष्कर्ष दे रहे हैं जैसा कि उस तत्परता से जिसके अनुसार अनुभूति के अधिकांश अर्न्तविषय प्रतिपक्ष की एक ओर से दूसरी ओर खिसक आते हैं, जाहिर है, अनात्म एक माने में, स्वात्म में तभी शामिल हो जाता है जब उसे उससे पृथक् किया जाता है। हमारे साथी, भौतिक जगत, विचार, आदतें, भावनाएँ आदि ये सब अंग हैं जिन्हें मिलाकर अनात्म की समय-समय पर रचना होती है, एक सर्वसामान्य लक्षण के स्वामित्व के विषय में सहमत है। अनात्म के संदर्भ में प्रस्तुत अनुभूति के समग्रान्तर्गत वे सब ही असंगतिपरक तत्व होते हैं और इसी असांगत्य के कारण ही हम उन्हें अपने असली स्वभाव के बाहर की वस्तु समझा करते हैं यानी इसलिये हम उन्हें अनात्म विषयक वस्तु मानते हैं। अतः हम यथार्थतः कह सकते हैं कि अनात्म को जो कुछ सौंपा जाता है वह इसलिये सौंपा जाता है क्योंकि उसे पहले ही असंगत पाया जा चुका है और इसीलिये उसे स्वात्म के बाहर ही रखा गया है। दूसरे शब्दों में अनात्म वह बाह्य सीमा नहीं है जिसे किसी तरह हम अनुभूति के भीतर स्वात्म के साथ ही साथ पाते हैं अपितु वह ऐसी सीमा है जिसे आनुभूतिक-दत्तों से बहिष्कृत उन दत्तों को जिन्हें यदि स्वात्म

---

२. निश्चय ही आप किसी 'स्वात्म' की ऐसी कल्पना निरूपित कर सकते हैं जिससे वह सब शारीरिक भावनाएँ भी बहिष्कृत हो चुकी हो। और इसीलिये जो ऐसा 'संज्ञानात्मक विषय' मात्र है जिसमें कोई ठोस मनस्तत्वीय गुण नहीं होता। किन्तु इस रूप में कोई तार्किक विषय मात्र वह स्वात्म नहीं होता जिसका ज्ञान हमें किसी विशिष्ट अनुभूति में होता है और इससे भी अधिक निश्चयपूर्वक वह ऐसा स्वात्म नहीं होता जिसमें इतिहास और नीतिशास्त्र जैसे विज्ञानों की रुचि हो। इसीलिये मूलपाठ में मैंने उसका जिक्र करना आवश्यक नहीं समझा।

में शामिल कर लिया जाता तो वे उसकी एकरूपता को नष्ट कर देते, को मिलाकर बनाया जाता है। इस प्रकार अन्ततः हम परिमित अस्तित्वों के सामने अनात्म इसलिये खड़ा कर दिया जाता है क्योंकि हमारी अपनी परिमित में जैसाकि पहलेवाले अध्यायों में हम देख चुके हैं, हमारे भीतर संघर्ष और विस्वरता का सिद्धान्त पाया जाता है। अनात्म केवल वाह्य पर्यावरण मात्र ही नहीं है अपितु वह समस्त परिमित में व्याप्त आन्तरिक रचना विषयक अपूर्णता का अपरिहार्य परिणाम है।

(४) स्वात्म आवश्यकरूपेण विकासविषयक वस्तु है अतः इस रूप में उसके अस्तित्व का कारण कालीय-प्रक्रिया ही है। और यह एक ऐसी बात है जिस पर आग्रह करना अनेक कारणों से आवश्यक है। स्वात्म कल्पना की आधारभूत अनुभूतियों के स्वरूप विषयक हमारे पहले के विमर्श से इसकी सत्यता प्रामाणित होती है। जैसा कि पहले सिद्ध किया जा चुका है स्वात्म और अनात्म के बीच का विभेद मूलतः आभ्यान्तर विस्वरता तथा प्रायोजनिक संघर्ष विषयक हमारी अनुभूति के कारण ही उत्पन्न होता है और ऐसी अनुभूति केवल उन्हीं जीवों को हो सकती है जो किसी भावी उचित आदर्श का विरोध भले ही वह आदर्श कितने ही धुँधले रूप में निग्रहीत क्यों न होता हो—मौजूदा आदर्श की खातिर कर सकते हैं। ऐसे जीव की जो या तो पहले ही वैसा बन चुका है जैसाकि अपनी प्रकृति के अनुसार वह बन सकता था अथवा जो किसी तरीके से भी यह बात समझ सकने के अयोग्य है कि वह उस प्रकृत्यनुसार बन सकने जैसा नहीं है, अनुभूति में, स्वात्म और अनुभूतिगत वाह्य तथा विरोधी तत्वों के बीच विभेद कर सकने की कोई सामग्री ही उपलब्ध न होगी। जैसाकि हमने अपनी तृतीय खंड में देखा—काल ऐसी अनुभूति की आधारभूत प्रकृति की जिसके प्रयोजनों और आकांक्षाओं की आंशिक पूर्ति ही अभी हो पायी है, अमूर्त अभिव्यक्ति होता है और इसीलिये उसमें, स्वात्म और अनात्म के विभेद की मूलभूत पूर्व एकतानता का आभ्यान्तरिक अभाव रहता है। मेरे ख्याल से इसी लिये कम से कम हमें जो आत्म विषयक इस कल्पना के मूल के बारे में उपयुक्त विवरण को स्वीकार करते हैं तो यह मंजूर ही करना होगा कि स्वात्म आवश्यकरूपेण कालगत होते हैं और इसीलिये उनका विकास के उत्पाद होना आवश्यक है।

यह निष्कर्ष उन निश्चयात्मक तथ्यों के अनुकूल प्रतीत होता है जो इतनी अच्छी तरह पर स्थापित हो चुके हैं कि उन पर सन्देह किया ही नहीं जा सकता। बहुत सम्भव है कि जिसे मैं अपना वर्तमान स्वात्म कहता हूँ उसमें एक भी तत्व ऐसा न हो जो प्रकाश्यरूपेण मेरे पुराने भौतिक (दैहिक) और मानसिक विकास का उत्पाद न हो। न ही इस बात पर बहस करना सकारण प्रतीत होता है कि यद्यपि मेरे वर्तमान स्वात्म की सामग्री विकासीय उत्पाद है तो भी उसकी आत्मता अव्युत्पादित ही होती

है। बात इतनी सी ही नहीं कि मेरा वर्तमान स्वात्म मेरे विगत स्वात्म जैसा नहीं होता, किन्तु इस स्वीकारोक्ति से बच नहीं सकते कि मेरा मानसिक जीवन विकास की ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है जिसके द्वारा वह न केवल भ्रूण से ही अपितु शुक्राणु तक से सतत सम्बद्ध रहता है और इस प्रकार लगता है कि उसके समारंभ ऐसी अनुभूतियों से उद्भूत हैं जो सरल अनुभावना की इतनी निकटवर्तिनी होती है कि उनके कारण स्वात्म के अनात्म विरोधी संवेदन के लिये कोई अवसर ही उसे नहीं मिल पाता। अथवा यदि हम यह कहें कि इस प्रकार का वैषम्य अनुभूति के भोंडे से भोंडे रूपों तक से एकदम बहिष्कृत नहीं हो सकता तो भी हमें इस तथ्य का तो जवाब देना ही पड़ेगा कि मेरे वैयक्तिक इतिहास की एक स्थिति से पिछली स्थिति पर मेरा अस्तित्व एक जन्तुक मात्र का भी न था। कोई भ्रूणात्मक स्वात्म कम से कम निश्चय ही अकल्पनीय नहीं हो सकता किन्तु जिस समय तक लेवी अपने बाप की कमर में ही छिपा था उस समय उसका आत्मत्व कहाँ था? अगर हम सब विचार करें कि हमारे इस कथन का क्या मतलब होता है कि हम सबके माँ बाप थे, तो मेरा ख्याल है कि यह स्वीकार करना होगा कि हमारे स्वात्म वस्तुतः विकास के गतिक्रम से जन्म लेने की बात हमें मंजूर करनी ही होगी भले ही प्रक्रिया की ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकना हमें कितना ही असंभव प्रतीत हो।[1]

(५) आखीर में एक और महत्वपूर्ण विचारबिन्दु पर भी ध्यान दे लेना आवश्यक है। जैसाकि अब स्पष्ट हो चुका है स्वात्म कभी भी किसी ऐसी वस्तु के सदृश अथवा तत्सम नहीं हो सकता जो मेरे मानसजीवन में किसी भी एक क्षण पर पूर्णतया वर्तमान पाया जा सकता हो। एक बात और यह है कि उसे ऐसे कालीय सातत्य से युक्त माना जाता है जो किसी भी दिये हुए क्षण पर तत्काल अनुभूत हो सकने-वाली किसी भी वस्तु के परे बहुत दूर तक जानेवाला होता है। यह सातत्य 'संवेद्य वर्तमान' की संकीर्ण सीमाओं के दोनों ओर अतिक्रमण करके भूत और भविष्य दोनों में ही प्रविष्ट होकर फैला होता है। यह कालीय सातत्य भी फिर, स्वात्म में हमारे द्वारा अध्याहृत लक्ष्यों और हितों के एकत्व तथा सातत्य की ही एक अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र है। मेरी अनुभूतियों के संबंध में यह समझा जाता है कि

---

१. चूँकि हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते इसलिये उसकी वास्तविकता से इनकार करना ही होगा—यह कहना निराधार होगा। हमारे ज्ञान में आभ्यन्तर एकतानत लाने के लिये आवश्यक निष्कर्ष के विरुद्ध यह युक्ति पेश करना कि ऐन्द्रिय कल्पना-सृष्टि में उसका सामना कर सकने के साधन ही हमारे पास नहीं है—कभी भी वैध नहीं है।

वे अन्ततोगत्वा एक ही आत्म का जीवन है क्योंकि मैं उन अनुभूतियों को इस दृष्टि से देखता हूँ मानों वे संसार-विषयक अभिरुचि की संगत अभिवृत्ति की एकतान अभिव्यक्ति हों। और ऐसे कोई भी अनुभूतिगत तत्व जो इस प्रकार की एकतानता में हिलमिल न सकें किसी न किसी उपाय द्वारा सत्य स्वात्म से वहिष्कृत कर दिये जाते हैं और उन्हें कहीं बाहर से आकर घुस पड़नेवाला असम्बद्ध अतिक्रान्ता घोषित कर दिया जाता है। वास्तविक जीवन में अनुभूति की अन्तर्वस्तुओं की ऐसी पूर्ण और निरपेक्ष एकरूपता हमें कहीं भी देखने को नहीं मिलती। अगर हम ढूँढ़ना चाहें तो, हमारी वास्तविक अनुभूति में ऐसे तत्व मौजूद रहते हैं जो परस्पर असंगत होते हुए और अनुभूति पर पूरी तरह छायी रहनेवाली हित व्यवस्था से टकराया करते हैं। अतः अन्तिम उपाय के रूप में स्वात्म को एक ऐसा आदर्श मानना पड़ता है जिस तक वास्तविक अनुभूति पूरी तरह नहीं पहुँच पाती—यानी हितों और प्रयोजनों की ऐसी व्यवस्था वाला आदर्श जो निरपेक्षतया अपने आप में एकतान हो। और इस आदर्श के तर्कानुगत आत्म-सांगत्य में कम से कम गहरा संदेह तो अवश्य ही होना चाहिये। उन संदेहों का सामना हम अभी थोड़ी देर में ही करेंगे।

इस समय तो जिस बात पर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह यह है। क्या हमारे लिये यह कहना आवश्यक है कि अस्तित्व-विषयक अनुभूति सातत्य मात्र ही प्रारंभिक स्वात्मत्व के लिये पर्याप्त होता है अथवा हमें यह कहना होगा कि सही स्वात्म तब तक नहीं होता जब तक कि किसी व्यक्ति का कम से कम इतना बौद्धिक विकास न हो जाय कि जिससे उसमें भूतकाल की बातें स्मरण रख सकने और भविष्य का पूर्वानुमान कर सकने की शक्ति न आ जाय ? दूसरे शब्दों में, क्या हमें आत्मत्व को इतना लम्बा चौड़ा फैलाना होगा जितना कि ज्ञानशील जीवन होता है अथवा उसे ऐसे पर्याप्त तर्कनापरक जीवन तक ही सीमित रखना होगा कि जिसमें स्वात्म और अनात्म विषयक वैषम्य की पहचान विशिष्ट और स्पष्ट रूप में हो सके ? सम्भवतः मुख्य रूप से यह प्रश्न शब्दावली विषयक ही है । अपने लिये तो मैं स्वीकार कर सकता हूँ कि मुझे तो दूसरे नम्बर वाला विकल्प अधिक सन्तोषप्रद मालूम देता है । मैं नहीं समझता कि पीड़ा की वेदनामात्र से अभिप्रेत साध्यपरक सातत्य की इतनी मात्रा ही यथार्थ आत्मत्व के रूप में स्वीकार्य हो सकने योग्य है और स्वात्म स्वात्मत्व शब्दों के निर्बाध उपयोग से जब उनका विनियोग केवल अनुभूयमान चेतना के द्योतनार्थ ही किया जाय, तो मेरा ख्याल है काफी गड़बड़ी मचने की आशंका है। जब हमने इन शब्दों का उपयोग एक बार इस तरह के किसी मामले में कहीं कर दिया तो अनिवार्य रूप से हमें लालच होगा कि इस प्रकार के सरल मानव जीवन के तथ्यों की अति-व्याख्या इसलिये कहीं न कर उठें कि जिससे वे तथ्य अपने जीवन के

विषय में ज्ञात आत्मत्व के अधिक अनुकूल हो पड़ें ।[1] साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि कट्टरपन में पड़कर प्रेक्षण की हमारी विधियाँ जहाँ स्वात्म की पहचान में अन्तर्ग्रस्त बौद्धिक प्रक्रियाओं का निग्रह न कर सकें वहाँ उन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से इनकार करने का अधिकार भी हमें नहीं है।

२—स्वात्मविषयक वास्तविकता की मात्रा की समस्या पर आइये अब विचार करें। हमें पूछना है कि स्वात्म की कल्पना का विनियोग उन व्यष्ट अनुभूतियों पर जिन्हें हमने अपनी इस पुस्तक की दूसरे खंड में वास्तविक अस्तित्व व्यवस्था की अन्तर्वस्तु के रूप में पहचाना था, किस सीमा तक हो सकता है ? क्या अपरिमित व्यष्ट अनुभूति को सही मानों में एक स्वात्म कहा जा सकता है ? और क्या प्रत्येक परिमित अनुभूति एक स्वात्म होती है ? और परिमित स्वात्मों को, यदि वे असली हों तो, हम परस्पर संबंध कैसे मान सकते हैं ? अन्त में शायद हमें इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का सामना करने को तैयार होना पड़े कि कोई व्यष्ट परिमित स्वात्म अस्तित्व व्यवस्था के एक अस्थायी लक्षण से अधिक और कुछ कहाँ तक हो सकता है। उपर्युक्त सब बातों के बारे में हमारे निष्कर्ष सिद्धान्ततः निःसन्देह हमारे दूसरे खंड में दिए विचारविमर्श द्वारा निर्णीत हो चुके हैं किन्तु उनमें से कुछ को उक्त स्थल की अपेक्षा अधिक स्पष्ट कर देना यहाँ वाञ्छनीय प्रतीत होता है।

मेरा ख्याल है कि पहले तो यह स्पष्ट ही है कि अपरिमित अनुभूति अथवा 'निरपेक्ष' को सही मानों में स्वात्म नहीं कहा जा सकता । और यह बात तभी तुरन्त भासने लगती है ज्यों ही कि आत्म-संवेदन विषयक सारभूत अभिप्रेतार्थ सम्बन्धी हमारे विचार यदि स्वीकार कर लिए जाते हैं। हमने जोर देकर कहा है कि स्वात्मरूपेण स्वात्म का अधिग्रहण अथवा बोध साथ ही साथ अधिग्रहीत अनात्म के मुकाबले पर ही हो पाता है। और हम देख चुके हैं कि अनात्म अनुभूति के सभी असम्बद्ध तत्वों के मिलने से तब तक ही बनता है जब तक कि उनकी असंगति दूर नहीं होती। और यही कारण था कि जिसकी वजह से हमें मानना पड़ा था कि स्वात्म, कालीय प्रक्रिया स्वरूप विश्वानुभूति के साथ, सूक्ष्मता के सार्वत्रिक लक्षण 'नातः परं नैवाघुना' द्वारा अटूट रूप से बंधा हुआ है। परिणाम आवश्यक है कि ऐसी कोई भी अनुभूति जिसमें कोई भी असम्बद्ध तत्व अविघटित असांगत्यरूपेण मौजूद न हों स्वात्मता के आधारभूत वैषम्य-प्रभाव द्वारा

---

१. मैं यह सोचने का साहस कर रहा हूँ कि प्राणि जातीय तर्कनापरक विषयक निष्प्रतिफल प्राक्कल्पनाओं में से कुछ वे प्राक्कल्पनाएँ जिन्हें प्रोफेसर रॉयस ने 'द वर्ल्ड एण्ड द इण्डिविजुअल' नामक ग्रन्थ के दूसरे भाग में पेश किया है इस प्रकार की अनावश्यक अति-व्याख्यात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं।

विशेषित नहीं होती। ऐसी अनुभूति जिसमें वास्तविकता सत्ता का समग्र एक पूर्णत: एकतान समग्र के रूप में मौजूद रहता है, किसी भी ऐसी वस्तु का जो स्वयं उसके बाहर अथवा विरुद्ध हो अधिग्रहण नहीं कर सकती और इसीलिए उसे स्वात्म-भावना नाम से हमें ज्ञात गुण से विभूषित नहीं किया जा सकता ।

इसी बात को यदि दूसरी तरह से कहा जाय तो कह सकते हैं कि जिस स्वात्म को हम देख चुके हैं वह मूलत: एक वैचारिक आदर्श है, ऐसा आदर्श जिसका तभी अधिग्रहण हो सकता है जब वह प्रस्तुत वास्तविकता के मुकाबले पर खड़ा हो। अत: केवल वे ही जीव जो अपने आपको संवेदन तथा प्रयोजनपरक जीवन में अभी की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्णतया एकतान बनने की प्रक्रियान्तर्गत पाते हैं, अपने स्वात्म रूप से अवगत हो सकते हैं। स्वात्म और अपूर्णत्व दोनों ही एक दूसरे से कभी विलग नहीं हो सकते और ऐसा कोई भी जीव जिसे आदर्श और वास्तविक के बीच के विरोध का रत्ती भर भी पता नहीं है अर्थात् 'होना चाहिए' और 'है' के विभेद को जो नहीं जानता, उसे स्वात्म-भावना से भी अवश्य अनभिज्ञ होना चाहिए। तीसरे रूप में यही बात यों कही जा सकती है कि कालगत जीवन वाले जीव ही--जो इसीलिए केवल परिमित जीव ही होते हैं--स्वात्म हो सकते हैं क्योंकि कालानुभूति स्वात्मत्व की निर्णायक समाकल होती है ।

इस निष्कर्ष के विरुद्ध प्रस्तुत की जा सकनेवाली एक आपत्ति इतनी विदग्धतापूर्ण है कि यहाँ उसकी विशेष परीक्षा आवश्यक है । कहा जा सकता है कि अपूर्णतावबोध और प्रयोजन-कुंठा ऐसी दो शर्तें हैं जिनके बिना हम विशेषत: स्वात्म का अधिग्रहण नहीं कर पाते किन्तु वे स्वात्मत्व की अनुभूति के अन्तरंग रूप में तब वर्तमान नहीं रहतीं जब एक बार उसका विकास हो चुकता है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रकल्प्यत: 'निरपेक्ष' को अनुभूति की प्राप्ति, इन शर्तों के माध्यम द्वारा प्राप्त किये बिना भी हो सकती है । सामान्य सिद्धान्तरूपेण, नि:सन्देह यह युक्ति प्रणाली पर्याप्त विश्वासप्रद है। यह पूर्णतया सत्य है कि वे स्थितियाँ जिनके माध्यम से किसी गुण विशेष की अनुभूति हमें हुआ करती हैं, बिना किसी अनुसन्धान के, उस अनुभूति की प्राप्ति के लिए सर्वत्र ही अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ, यदि यह सिद्ध भी हो जाय कि निराशावादी लोगों का यह कथन सही है कि पीड़ा अथवा दुख का पहले अनुभव हुए बिना ही सुख की अनुभूति नहीं होती, तो भी इससे यह नतीजा कभी नहीं निकलेगा कि सुख जिस रूप में हमें अनुभव हुआ उस रूप में वह दुःख का ही एक उच्छलन मात्र है और उसका अपना कोई सकारात्मक गुण नहीं है। और फिर भी यह एक प्रश्न ही बना रहेगा कि क्या अन्य जीव पूर्ववर्ती दुख के बिना सुख का अनुभव नहीं कर सकते। किन्तु यह नियम विचाराधीन विषय पर लागू होता प्रतीत नहीं होता

क्योंकि हमारा कहना यह है कि अनुभूति के असम्बद्ध तत्व का तत्सम्बन्द्ध अनुभूति के शेष भाग के साथ का वैषम्य केवल एक पूर्ववर्तिनी स्थिति मात्र नहीं है। अपितु स्वात्म के ताथ्यिक अधिग्रहण का केन्द्रीय क्रोड है। यह बात नहीं कि यदि हमारा पूर्वगत विश्लेषण सही था तो हमें स्वात्म भावना की प्राप्ति उन मामलात को छोड़कर जहाँ उपर्युक्त प्रकार का वैषम्य मौजूद रहता है, अन्यत्र नहीं हो सकती। अतः हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष पर असंदिग्धतया गंभीर उपर्युक्त सामान्य नियम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सामान्यतया आदर्शवादी स्थिति के अनुयायी क्यों बहुधा हमारे निष्कर्ष का विरोध किया करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर, मेरा ख्याल है, इस प्रचलित विश्वास में निहित है कि अनुभूति आत्मरूपेण मूलतः स्वात्म या चेतना द्वारा विशेषित हुआ करती है। जरा सी भी किसी अनुभूति के होने के माने होते हैं अनात्म के पर्यावरण से सम्बद्ध रूप में अपने स्वात्म से अवगत होना । अतः इस बात से इनकार करना कि निरपेक्ष सत् या वास्तविकता एक स्वात्म है इस बात से इनकार करने के ही समान है कि वह अनुभूति किसी तरह से भी है और ऐसा कहने के माने आदर्शवादी दृष्टिकोण से होंगे इस बात से इनकार करना कि वह वास्तविक है । किन्तु यदि हमारा पूर्वगत विश्लेषण सही था तो अनुभूतिरूपेण, मानव अनुभूति के विषय में भी यह कहना सत्य नहीं कि उसका निरूपण सर्वत्र ही स्वात्म और अनात्म के बीच अनुभूत वैषम्य द्वारा हुआ करता है। उस विश्लेषण के अनुसार यह वैषम्य केवल वहाँ ही पाया जाता है जहाँ अनुभूति के समग्र रूप और उसके कुछ कारकों के बीच कोई अनुभूत असम्बद्धता मौजूद हो। इसी आवश्यकरूपेण स्वात्म भावनांकित हमारी अनुभूति की कल्पना का हमारी उस बौद्धिक पुनर्रचना पर आधारित होना आवश्यक है, जिसका निर्माण ऊपर से ही दिखाई पड़नेवाले उस कल्पितार्थ द्वारा होता है जो प्रत्येक अनुभूति में ऐसे लक्षण आरोपित किया करता है जिन्हें विश्लेषण द्वारा केवल कुछ विशिष्ट मालमात में ही और विशिष्ट परिस्थितियों में ही निग्रहीत किया जा सकता है । अतः हमारे लिए भलीभाँति सम्भाव्य है कि हम इस दावे को कि सकल वास्तविक अस्तित्व अन्ततोगत्वा एक स्वतंत्र अनुभूति-व्यवस्था का निरूपण किया करता है इस अस्वीकृति के साथ संयुक्त कर सकें कि उस व्यवस्था को स्वात्म-भावना नाम से हमें ज्ञात वैषम्य प्रभाव विशेषित किया करता है। वास्तव में वह, जिसके बाहर की ओर वैषम्य दर्शाने योग्य कुछ भी नहीं है विशुद्ध कल्पनात्मक ऊपर से अपने आपको किस प्रकार यों पृथक् कर सकता है ?[१]

३—यदि निरपेक्ष अतितरांभावी स्वात्म नहीं है तो यह स्पष्ट है कि वह

---

१. क्या इस सुझाव का विशेष रूप से हवाला देना जरूरी है कि 'निरपेक्ष' हेतुक विवाद-

'व्यक्ति' नहीं हो सकता। इस बात का निर्णय कर सकना कि जब 'निरपेक्ष' के अथवा किसी और के 'व्यक्तित्व' पर जोर दिया जाता है तो सहीतौर पर कितना क्या कहने का इरादा है बड़ा कठिन है। किसी स्वात्म का 'व्यक्तित्व' होना आवश्यक प्रतीत नहीं होता क्योंकि जिन दार्शनिकों ने माना हुआ है कि स्वात्मों के अतिरिक्त अन्य कोई सत् या वास्तविकता नहीं होती वे भी जहाँ पशुओं को स्वात्म मानते हैं वहाँ उन्हें व्यक्ति नहीं कहते। किन्तु यह कह सकना कि स्वात्मत्व से बढ़कर और क्या कुछ व्यक्तित्व में शामिल है—बड़ा कठिन है। अगर हम इस बात का विचार रखें कि 'व्यक्तित्व' मूलतः एक 'कानूनी' कल्पना है और यह कि आमतौर पर उसका अध्याहार केवल मानव जीवों में ही अथवा ऐसी अतिमानव बुद्धियों में ही किया जाता है जिन्हें मानव जीवों के साथ पारस्परिक आबन्ध की शर्तों पर मिलने-जुलने में समर्थ माना जा चुका है। शायद हम व्यक्तित्व की निम्नलिखित परिभाषा का सुझाव दे सकते हैं। व्यक्ति वह जीव है जो मानव समाज के विशिष्ट स्थान से संलग्न विशिष्ट आबन्धों का विषय बन सकने में समर्थ हो। और यह जाहिर ही है कि अगर उपर्युक्त बात सही है तो व्यक्तित्व जैसाकि श्री ब्रैडले कहता है—परिमित है और अर्थहीन भी।

अतः समाज साररूपेण ऐसे समानी-स्थितिक सामाजिकों द्वारा ही निर्मित हुआ करता है जिनके प्रयोजन परस्पर पूरक भले ही वे एक समान न हों—होते हैं तथा जिन्हें उन प्रयोजनों की सिद्धचर्थ एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता रहती है। केवल वे ही जीव मेरे लिये वैयक्तिक होते हैं जिनके लक्ष्य और प्रयोजन मेरे लक्ष्यों और प्रयोजनों के साथ-साथ ही किसी विस्तृततर और अधिक एकरूप व्यवस्था में शामिल रहते हैं और इसी लिए जिनके साथ अन्योन्य आबन्ध की रस्सियों से मैं बँधा रहता हूँ। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह पूछना कि व्यक्तित्व की कारणीभूत जो व्यवस्था उपर्युक्त रूप में हम व्यक्तियों के पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों का आधार है वह भी क्या कोई व्यक्ति है, उपहासजनक होगा। उदाहरणार्थ इस तरह तो यह पूछने का कोई मतलब ही न होता कि हमारे भौतिक व्यक्तित्व का मूलाधार यह

ग्रस्त वैषम्य-प्रभाव स्वयं उसके तथा तदंगीभूत अभिव्यक्तियों अथवा आभासों के बीच हो सकता है? यह तभी हो सकेगा यदि परिमित आभास समग्र में ऐसे किसी तरीके से अन्तर्विष्टि हों जिससे एक दूसरे से असम्बद्ध रहने की उन्हें छूट मिली रहे अर्थात् ऐसे किसी तरीके से जो निरपेक्ष के मौलिक गुण-व्यवस्थित स्वरूप से मेल न खाता हो। मुझे यह जान कर बड़ी खुशी हुई कि कम से कम आम उसूल के मामले में तो मेरा मत डाक्टर मैकटागर्ट के मत से मेल खाता है। देखिए उनकी अभी हाल की कृति 'स्टडीज इन होग्लियन कास्मोलाजी' का तीसरा निबन्ध।

मानव समाज क्या स्वयं भी कोई व्यक्ति है । वास्तव में तब यह पूछने के लिये हमारे पास कारण मौजूद होगा कि क्या समाज पर अतिचार का मुकदमा चलाया जा सकता है अथवा इनकम टैक्स ऐक्ट के शेड्यूल 'डी' के अन्तर्गत उस पर कराधान किया जा सकता है ?

'निरपेक्ष' जिसमें (प्रकल्प्यतया अनन्त संख्यात्मक) परस्पर जानने पहँचानने वाले व्यक्तियों के सब के सब समूह तथा अनुभूतियों के वह सब रूप जिन्हें सहीतौर पर हम व्यक्ति की संज्ञा नहीं दे सकते—शामिल हैं—के विषय में तो यह बात और भी अधिक व्यक्त रूप में सही है । इस समग्र व्यवस्था तथा उसके अंतर्भूत तत्वों के बीच अनुपूरकता तथा संपूरकता का ऐसा कोई संबंध नहीं जो यथार्थ व्यक्तित्व का सार हो । यदि व्यवस्था को समग्ररूपेण हमारे दोषों और कमियों की पूरक और संशोधक कहा जा सके तो हमें किसी तरह पर भी उसका अनुपूरक नहीं कहा जा सकता । निरपेक्ष और मैं, निश्चय ही किन्हीं सच्चे मानों में समान स्थितिक सामाजिक नहीं हो सकते और हमारे बीच का संबंध इसलिये वैयक्तिक संबंध नहीं माना जा सकता । यह सब इतना स्पष्ट है कि, जैसा मेरा ख्याल है—'निरपेक्ष' के व्यक्तित्व अथवा 'समग्र' अस्तित्व के व्यक्तित्व का पक्षपोषण करनेवाले केवल इस अकारण पूर्वानुमान के आधार पर ही मिल सकते हैं कि जो कुछ भी व्यष्ट अनुभूति हो अथवा आध्यात्मिक एकत्व वह सब वैयक्तिक ही होगा । जहाँ तक मेरा ख्याल है इसके माने हैं पहले ही से मान लेना कि उपर्युक्त प्रकार के व्यष्ट का एक ऐसा बाह्य पर्यावरण होना आवश्यक है जो उसके बराबर की एकतान और व्यापक व्यष्टता वाले अनुभूति विषयों से बना हो । और इस पूर्वानुमान का—अपनी तौर पर—मुझे कोई आधार ढूंढे नहीं मिलता ।[1]

४—तब यदि हम सहीतौर पर यह न कह सकें कि निरपेक्ष अथवा विश्व या

---

१. **इस बात पर एतराज करना बेकार होगा कि 'समाजों' अथवा समितियों का कानूनी और सामूहिक व्यक्तित्व होता है और इसलिये उन पर दावा किया जा सकता है और कराधान भी हो सकता है (ऊपर लिखे उदाहरणानुसार) । इस प्रकार से जिस वस्तु का व्यवहार किया जा सकता है वह निर्धारित व्यष्ट मानव जीवों का संगठन है जिनके मिलन द्वारा एक यथार्थ आध्यात्मिक एकता का निरूपण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता । उदाहरण के लिये आप आयकर आयुक्तों के विरुद्ध दावा कर सकते हैं लेकिन आप यह नहीं सिद्ध कर सकते कि वे कमिश्नर एक वास्तविक समाज या समिति हैं । दूसरी ओर लिबरल यूनियनिस्ट पार्टी में संभवतः प्रयोजनात्मक सह-भागित्व की भावना कहीं अधिक मात्रा में**

उस अपरिमित व्यष्ट को जो समग्र अस्तित्व मात्र है जिस नाम से भी पुकारें वह एक स्वात्म अथवा व्यक्ति है तो क्या हम यह कह सकते हैं कि उस अस्तित्व के निर्मायक परिमित व्यष्ट सब के सब ही स्वात्म हैं और यह कि इस कारण ही निरपेक्ष भी स्वात्मों का समाज है ? मेरा ख्याल है कि इस सवाल का हमारा जवाब निर्भर होगा दो बातों पर (अ) स्वात्म के लिये हम सातत्य की जितनी मात्रा अपेक्षित मानते हैं और (ब) समाज का जिस प्रकार का एकत्व हम अध्याहृत करते हैं।

(अ) यदि हम अनुभूत साध्यपरक सातत्य की किसी तरह की भी और सब तरह की मात्रा को स्वात्म निर्माणार्थ पर्याप्त मानते हैं तो स्पष्ट है कि हम यह कहने के लिये मजबूर होंगे कि स्वात्म और स्वात्म ही केवल वह सामग्री हैं जिनके मिलन से वास्तविकता संयोजित होती है। अतः हम पहले ही मान चुके हैं कि सत् अथवा वास्तविकता मनस्तत्वीय तथ्य से बनती है और यह कि समस्त मनस्तत्वीय तथ्य किसी न किसी तरह के व्यक्तिनिष्ठ हित अथवा आकांक्षा की सन्तुष्टियों का ही नाम है इसलिये अस्तित्व की समग्र व्यवस्था में सम्मिलित प्रत्येक मनस्तत्वीय का परिमित व्यष्ट व्यक्ति की अनुभूति का अंश होना आवश्यक है। अतः इस प्रकार का प्रत्येक व्यक्ति भले

मौजूद है इसलिये उसे एक सच्चा समाज माना जा सकता है लेकिन उसका कोई कानूनी व्यक्तित्व नहीं है इसलिये एक दल के रूप में उसके न तो कोई कानूनी अधिकार हैं न कानूनी कर्तव्य । इसी तरह सिमियन ट्रस्टीज नाम से ज्ञात नियम का कानूनी व्यक्तित्व है और तद्नुकूल अधिकार और कर्तव्य भी और एस्टैब्लिश्ड चर्च के एवेञ्जलिकल दल के साथ, उक्त हैसियत से उसके घनिष्ठ संबंध भी हैं। और यह दल निश्चय ही एक सच्चा नैतिक समाज है। लेकिन उपर्युक्त निगम एवेञ्जलिकल दल नहीं है और यह दल उन्हीं मानों में जिनमें कि वह एक सच्चा समाज है एक कानूनी व्यक्ति नहीं।

मैं इतना कह दूँ कि इस प्रश्न की कि क्या निरपेक्ष एक स्वात्म है या एक व्यक्ति, ईश्वर के व्यक्तित्व विषयक, प्रश्न के साथ गड़बड़ न करना होगा। चलताऊ तरीके पर हमें यह पूर्वानुमान न कर लेना होगा कि ईश्वर और निरपेक्ष एक ही हैं। धार्मिक जीवन के प्रपंच की विशिष्ट परीक्षा द्वारा ही हमें निश्चय हो सकेगा कि क्या 'ईश्वर' ही आवश्यक रूप से 'समग्र सत्' है या नहीं। यदि वह ऐसा नहीं है तो ईश्वर के व्यक्तित्व विषयक धारणा को निरपेक्ष की व्यक्तित्वहीनता के साथ संयुक्त सम्भव हो सकेगा जैसाकि श्री राशडाल ने 'पर्सनल आइडियलिज्म' नामक अपनी पुस्तक के निबन्ध में किया है । इस समस्या पर और अधिक टिप्पणार्थ आगे के अध्याय ५ का अध्ययन करें।

ही उसकी व्यष्टता कितनी ही मात्रा क्यों न हो—स्वात्म ही [illegible] कोई तथ्य न होंगे जो एक या एकाधिक स्वात्मों के जीवन में कहीं न कहीं सम्मिलित न हो चुके हों। दूसरी ओर जैसाकि मैंने स्वयं किया है अगर हम विकास की कुछ मात्रा को स्वात्म के जैसे कुछ स्थायी हितों की स्वीकृति के समान ही स्वातन्त्र्य की स्वीकृत्यर्थ भी पर्याप्त मानना अधिक पसन्द करें तो सम्भवतः हमें इसी नतीजे पर पहुँचना होगा कि स्वात्म एक अपेक्षाकृत बहुत ऊँचे दर्जे का व्यष्ट है और यह कि इसके परिणामस्वरूप साध्यवादितापरक सातत्य की इतनी अपूर्ण मात्रा वाली अनुभूतियाँ मौजूद हो जाती हैं कि स्वात्म नाम से उन्हें पुकारना तक अनुचित लगता है।

और यह निष्कर्ष अनुभव द्वारा निश्चित हो चुके तथ्यों जैसे कि निम्न श्रेणी के प्राणियों के जीवन मानव शिशुओं तथा सदोष और अनिश्चय निम्न प्रकार के बौद्धिक तथा नैतिक विकास वाले युवकों संबंधी तथ्यों—से और भी संपुष्ट हो जाता है। बहुत कम ही व्यक्ति, जब तक कि वे जी जान से किसी सिद्धान्त के लिये लड़ने मरने के लिये कमर न कस चुके हों, किसी कीड़े को स्वात्म कहने को तैयार होंगे इसी तरह उनमें से बहुत से लोग हाल के पैदा शिशु को अथवा पैदायशी जड़बुद्धि को स्वात्म कहने में हिचकिचायेंगे। साथ ही परिमित समाज अथवा निर्धारित समितियाँ स्पष्टतः ही सत् या वास्तविकता की अंग होती हैं फिर भी जैसाकि हम देख चुके हैं किसी समिति या समाज को स्वात्म कहना सम्भवतः गलत है, यद्यपि प्रत्येक सच्चा समाज स्पष्टतः ही ऐसे प्रयोजनात्मक साम्प्रदायिकता और सातत्य से युक्त होता है जिसके बल पर हम सही तौर पर उसे विकसित होने में समर्थ एकत्व मान सकते हैं और उसकी नैतिक अर्हता की शंसा कर सकते हैं। अतः इस कथन से कि वास्तविकता का कारक परिमित व्यष्ट अनुभूतियाँ ही हैं इस कथन की अपेक्षा कि वे स्वात्म होते हैं कहीं कम भ्रान्ति उत्पन्न होगी। जैसाकि हम देख चुके हैं स्वात्म एक ऐसा मनोवैज्ञानिक पदार्थ है जो केवल अपूर्ण रूप से ही ऐसे आनुभूतिक तथ्यों का जिनके पारस्परिक संबंध स्थापना हेतु उसका उपयोग किया जाता है—प्रतिनिधित्व करता है।

(ब) फिर भी यदि हम निरपेक्ष को परिमित व्यष्टों का समाज कहें तो हमें गलतफहमी से बचे रहने के लिये सावधानी बरतनी होगी। इस प्रकार से बात कहने के कई फायदे ऊपर ही दिखाई देते हैं। इस कथन से अस्तित्व व्यवस्था का आध्यात्मिक स्वरूप जहाँ सामने उभर आता है वहाँ यह तथ्य भी सामने आता है कि उस व्यवस्था में परिमित व्यष्टों की असम्बद्धताहीन बहुलता होने पर भी उसे सहीतौर पर स्वात्म नहीं समझा जाता अपितु अनेकों स्वात्मों का समुदाय ही समझा जाता है।

लेकिन साथ ही साथ इस प्रकार के कथन के गलत माने भी लगाये जा सकते हैं। इन गलतफहमियों में से कुछ की गिनती यहाँ कर देना ठीक होगा उदाहरण-

स्वरूप हमें यह न मान लेना चाहिये कि निरपेक्षगत सकलव्यष्ट आवश्यकरूपेण सामाजिकतया परस्पर प्रत्यक्षत: सम्बद्ध है। क्योंकि सामाजिक संबंध अगर सही बात कही जाय तो उन्हीं जीवों में संभाव्य होता है जो समान-शील-व्यसन होते हैं अर्थात् जिनके हित ऐसे कुछ एक दूसरे के हितों से मिलते-जुलते हुए होते हैं कि उनके द्वारा उनमें अन्त: संचरण की गुंजायश रहती है और वे पारस्परिक सहकार द्वारा उस सर्वसामान्य हित या प्रयोजन की सिद्धि किया करते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा अपना अनुभव हमें सिखाता है कि अस्तित्व का वह क्षेत्र जिसके साथ हमारा इस प्रकार का संबंध है सीमित होना है। मानव जाति की सीमा रेखाओं के भीतर भी हममें से प्रत्येक का अपने अधिकांश साथियों के साथ का सामाजिक संबंध अप्रत्यक्ष प्रकार का ही होता है और यद्यपि सभ्यता के प्रगति के साथ-साथ उन संबंधों का क्षेत्र भी दिनों दिन विस्तृत होता जाता है फिर भी यह देखने को बाकी रह जाता है कि क्या 'विश्व बन्धुत्वमय' समाज का आदर्श कभी पूरा हो सकेगा या नहीं। वैषयिक अभिरुचि के वृहत्तर वैभिन्न के कारण मानवेतर-प्राणि-जगत् के साथ हमारे संबंध प्रारम्भिक प्रकार के ही होते हैं और जिसे हम अचेतन प्रकृति समझते हैं उसके साथ जैसाकि हम देख चुके हैं, हमारा प्रत्यक्ष या सीधा सामाजिक संबंध जुड़ सकना——लगभग असंभव ही है।

मानवेतर प्राणियों में भी नि:संदेह हमें प्रारम्भिक सामाजिक प्रकार के संबंध देखने को मिलते हैं लेकिन मिलते फिर भी अपेक्षतया संकीर्ण सीमान्तर्गत ही हैं। विभिन्न वर्ग तथा समूह मुख्यतया एक दूसरे के प्रति उदासीन ही पाये जाते हैं और इस सम्भावना को असिद्ध करने के हमारे पास कोई साधन नहीं कि विश्व में ऐसे भी बहुत से सामाजिक समूह हो सकते हैं जिनका संगठन हमारे मानव समुदायों के संगठन के समान अथवा उससे भी श्रेष्ठतर है किन्तु उसकी शैली हमारे संगठन की शैली की इतनी विजातीय प्रतीत होती है कि उसके साथ कोई प्रत्यक्ष पारस्परिक संचार—इतने प्रारम्भिक प्रकार का भी नहीं कि जिससे उसका अस्तित्व तक सिद्ध किया जा सके, सम्भव नहीं होता। तब हमें इस संभाव्यता के अस्तित्व को मानने के लिये तैयार रहना ही होगा कि निरपेक्ष के अंगभूत व्यष्टों के अनेकों समूह होते हैं और उनमें से प्रत्येक समूह के सदस्यों में परस्पर किसी न किसी तरह का प्रत्यक्ष सामाजिक संबंध होता है पर किसी एक समूह का किसी दूसरे समूह के सदस्य के साथ कोई संबंध नहीं होता।

और फिर हमें यह भी नि:संदेह याद रखना होगा कि स्वयं सामाजिक समूहों में भी रचनात्मक जाटिल्य के मात्रात्मक वैविध्य की बहुलता हो सकती है।

दूसरी ओर यदि हम निरपेक्ष को एक समाज मानें तो हमें उस अर्थगर्भता से बचना होगा जो मानव समाजों की इस झूठी कल्पना से तुरन्त पैदा हो सकती है कि निरपेक्ष का

सही है कि कोई भी मानवसमाज बाह्य पर्यावरण के बिना नहीं रह सकता किन्तु उस समाज का अपने और प्रतिद्वन्द्वियों के बीच के वैषम्य से अवगत होना समाज के अस्तित्व के लिये उतना आवश्यक नहीं जितना कि किसी एकल स्वात्म के अस्तित्व हेतु आवश्यक है। जैसाकि काफी तौर पर हम पहले देख चुके हैं, मुझे अपने स्वात्मत्व का ज्ञान प्रधानतः दूसरे मानव स्वात्मों के साथ उसका तुलनात्मक वैषम्य देखकर ही प्राप्त होता है। यद्यपि स्वात्म विषयक मेरी धारणा की अन्तर्वस्तु विशुद्ध समाजपरक नहीं होती पर कम से कम इतना तो स्पष्टतया मालूम है ही कि उसके अनुपूरक वैसे ही अन्य स्वात्मों की उपस्थिति के बिना मैं न तो उसे प्राप्त कर सकता हूँ न उसे अपने पास बनाये ही रख सकता हूँ। यद्यपि इतिहास हमें बताता है कि एक सर्वसामान्य राष्ट्रीय थाती (सांस्कृतिक दाय) और राष्ट्रीय उद्देश्य की भावना विकसित करने में विभिन्न समाजों के मध्यगत युद्धादि संबंधों का कितना बड़ा हाथ होता है फिर भी जब कोई समाज एक बार प्रगति पंथ पर अग्रसर हो जाता है तो वह बहुत करके अन्य समाजों की प्रतिद्वन्द्विता अथवा सहकारिता आदि प्रेरक भावनाओं की लगातार सहायता प्राप्त किये बिना ही फलता-फूलता रह सकता है। यदि किसी एक अकेले व्यक्ति को किसी रेगिस्तानी द्वीप पर एकाकी अवस्था में छोड़ दिया जाय और बहुत दिनों तक ऐसे ही रहना पड़े तो बहुत संभव है कि या तो वह पागल हो जायगा या पशु समान हो जायगा। यह समझ लेने का कि अन्य सभ्य समाजों से असम्बद्ध कोई भी अकेला सभ्य समाज, यदि उसका आभ्यन्तर संगठन काफी प्रौढ़ न हो तो विशुद्धतः प्राकृतिक पर्यावरण के अन्तर्गत पनप नहीं सकता। भीतरी प्रौढ़ेपन और एकरूपता की परिणाम इस उच्चकोटि की आत्म-निर्भरता के आधार पर किसी सच्चे या सही समाज को एकल मानव स्वात्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर प्रकार का परिमित व्यष्ट मानने का कारण हमें मिल जाता है।

इस सारे ही विवाद का साधारण परिणाम यह प्रतीत होता है कि चरम सत्ता अब तक ज्ञात जिन दो रूपों में रहती है उन दोनों ही रूपों—स्वात्म और समाज—में उस सत्ता के लाक्षणिक गुण, रचनात्मक एकरूपता तथा बाह्य स्थितियों पर अनिर्भरता, नहीं पाये जाते। अतः दोनों ही को, स्वात्म को भी और समाज को भी परिमित आभास कहना होगा। अब चूँकि दोनों में से समाज में और पूर्णतर और उच्चतर व्यष्टता दिखाई पड़ती है इसलिये वह अवश्य ही अधिक सत्यतया वास्तविक है। हमने विश्व का एकल स्वात्म माना जाना असंभव पाया था, किन्तु वहाँ हमने यह भी कहा था कि कुछ महत्वपूर्ण विशेषीकरण के बाद उसे बिना कुछ अधिक गहरी गलती के समाज भी माना जा सकता है।[1]

---

१. मेरा अनुमान है कि ऐसे किसी भी अभिमत को जो परिमित स्वात्म की अन्तिमेतथ वास्तविकता से इनकार करता है अव्यवहृत अनुभूति के तथाकथित प्रकटीभवन की

निश्चय अभी तक जो कुछ कहा गया है उसका परिणाम यह होगा कि हम उस तरीके के विषय में जिसके अनुसार सारी ही परिमित व्यष्ट अनुभूतियाँ मिलकर अपरिमित अनुभूतियों की इकाई का निरूपण करती है किसी अन्तिमतः पर्याप्त संकल्पना का निरूपण नहीं कर सकते। अनुभूतियों के लिये इस प्रकार की पूर्ण एकता का निरूपण करना आवश्यक है यह बात हम अपने दूसरे खंड में देख चुके हैं; और उस एकत्व का निकटतम सादृश्य हम किसी समाज के एकत्व के रूप में ही प्रस्तुत कर सकते हैं यह हमने इसी अनुच्छेद में सिद्ध किया है। यह बात कि हमारे पास ऐसे कोई उच्चतर पदार्थ नहीं हैं जिनके जरिए अच्छी तरह वह मार्ग दिखाया जा सके जिसके द्वारा सारा ही अस्तित्व अन्ततोगत्वा और भी अधिक पूर्ण एकत्व या इकाई का निरूपण करता है स्वयं हमारी परिमितता का ही अनिवार्य परिणाम है। हम पदार्थों का निरूपण इसलिये नहीं कर पाते चूँकि परिमित जीव होने के कारण हमें तद्नुकूल अनुभूति की प्राप्ति नहीं होती। कम से

दुहाई का सामना करने की आशा रखनी पड़ेगी। सोऽहम को अव्यहृतरूपेण निश्चित सत्य इस माने में समझा जाता है कि मत्स्वात्म का अस्तित्व कोई ऐसी वस्तु है जिसका मुझे प्रत्यक्ष रूप से पता चेतना, के प्रत्येक क्षण में रहता है। लेकिन ऐसा कहना तथ्यों को एकदम पलट देना है। निःसंदेह अनुभूति की सत्ता विषयक तथ्य ऐसा तथ्य है जिसका सत्यापन उसके अस्तित्व से इनकार करने के परीक्षण द्वारा ही हो सकता है। इनकार स्वयं ही एक भावित अनुभूति है किन्तु संभवतः (अ) यह सत्य नहीं कि स्वात्म के अनुगत प्रेक्षण के बिना अनुभूति हो ही नहीं सकती और (ब) और यह तो बिलकुल ही सही नहीं कि अनात्म के वैषम्य रूप में स्वात्म की भावना मात्र ही—जब भी वह हमें प्राप्त होती है—इतिहास और नीतिशास्त्र के स्वात्म द्वारा अभिप्रेत वस्तु होती है। इन विज्ञानों के स्वात्म में जो कुछ आविष्ट होता है वह सदा ही अनुभूति के किसी एकल क्षण में प्राप्तव्य विषय से कहीं बहुत अधिक होता है। किसी सामान्य योजना के अनुसार जब हम अनुभूति के क्षणों को संबद्ध करते हैं तो वह एक आदर्श रचना ही के अनुसार ही सम्बद्ध करते हैं। किसी विज्ञान के लिये उस योजना की कीमत का अन्दाजा केवल उस सफलता से ही लगाया जा सकता है जिस सफलता से वह योजना अपना काम करती है और उसकी सत्यता केवल इसी बात से साबित नहीं हो जाती कि जिन तथ्यों को वह संयुक्त करना चाहती है वे वास्तविक तथ्य हैं। इस बात को अगर आप स्वयं सिद्ध मान लें कि ऐसी कोई भी संरचना जो अनुभूत तथ्य के किसी पक्ष पर आधारित हो अवश्य ही वैध होगी तो तत्त्वमीमांसा सब विज्ञानों में एक सरलतम विज्ञान बन जायगी।

कम इस हद तक तो मेरा ख्याल है प्रत्येक गंभीर दर्शन शास्त्र को यह कहकर कि हम इस मामले में और ज्यादा नहीं जानते, नम्रतापूर्वक उपरत हो जाना ही चाहिये।

लोग कहते हैं कि भगवान में भी भरा काला
चकाचौंध कर दे ऐसा गहरा अँधियाला।

यह एक ऐसा सत्य है कि जिसे तत्त्वमीमांसक को, सत्य की चरम जिज्ञासा के बावजूद भूलना न होगा।

५—सम्भवतः यही वह स्थान जहाँ इस प्रश्न का कुछ जिक्र कर देना जरूरी है कि क्या स्वात्म ऐसा कोई स्थायी रूप है अथवा केवल एक अस्थायी रूप मात्र जिस रूप में वास्तविकता भासती या प्रकट होती है। लौकिक विचारानुसार यह प्रश्न सामान्यतया आत्मा के अमरत्व के रूप में प्रस्तुत हुआ करता है। कभी-कभी प्रागस्तित्व के अमरत्व के रूप में भी। किन्तु असली प्रश्न इससे भी लम्बा चौड़ा है और अमरत्व की बात तो उसका एक अनुषांगिक पक्ष मात्र है। सामान्य प्रश्न के विषय में हम संक्षेप में ही कुछ कहेंगे साथ ही विशिष्ट प्रश्न पर भी, यद्यपि विशिष्ट प्रश्न के विषय में हम जो कुछ कहेंगे वह केवल उस दिशा का संकेत करेगा जिस दिशा में विचार आगे बढ़ना चाहिये। हमारा उद्देश्य किसी तरह के तद्विषयक परिणाम की ओर संकेत करना नहीं है। इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में किये गये विचारविमर्श के बाद अब स्वात्म के अस्थायी रूप से इनकार करना मेरे ख्याल से, संभव न हो सकेगा। हमने वहाँ कहा था कि कोई भी स्वात्म, हित और प्रयोजन के साध्यपरक सातत्य के कारण ही एक और वही एक हुआ करता है किन्तु उसमें ठीक कितना विचलन उसके उस सातत्य का नाश करने के लिये पर्याप्त होगी और उसे नष्ट किये बिना कितना वर्तमान रहेगा यह सब किसी सामान्य नियम द्वारा निर्धारित कर सकना हमने असंभव पाया था। फिर भी लगता था कि वैय-क्तिक विकास विषयक तथ्य यह स्पष्ट कर देंगे कि नये स्वात्म—अर्थात् संसार संबंधी अभिरुचि के नये अनन्य रूप—कालीय प्रक्रिया के अन्तर्गत ही जन्म लेते हैं और पुराने स्वात्म लुप्त हो जाते हैं।

और फिर मानसिक रोग विज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान दोनों ही के आधार पर किसी एकल पुरुष के जीवन वृत्त से उन स्वात्मों के निरूपण और लोप के उदाहरण प्रस्तुत करना हमें आसान मालूम हुआ। जिन स्वात्मों को उस पुरुष के शेष जीवन से किसी अनुभूत हितात्मक सातत्य द्वारा संबद्ध मान सकना असंभव प्रतीत होता था। बहुल व्यक्तित्व और प्रत्यावर्ती व्यक्तित्व के मामले में हमें इस बात का साक्ष्य मिलता प्रतीत हुआ था कि इस प्रकार के स्वात्मों का बाहुल्य नियमपूर्वक प्रत्यावृत हो सकता है अथवा उसी शरीर के संबंध के साथ ही सह-वर्तमान भी रह सकता है। हमारे स्वप्नों के तथा जागृत जीवन की अस्थायी अवधियों के गतागत स्वात्मों के, कुछ कम चुभने

वाले पर अधिक परिचित उन मामले, जहाँ हमारे हित और चरित्रों का आपवादिक उत्तेजनाओं द्वारा स्थायी रूप से नहीं—रद्दोबदल होता रहता है सिद्धान्ततः उसी श्रेणी के होते हैं। संक्षेप में जब तक कि आप प्रयोजनात्मक सातत्य की उस उतनी सी नगण्य मात्रा से जो भीखारियों की भीख जैसी लगती है, और केवल नाम मात्र ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहते तब तक आपको जबरदस्ती यह निष्कर्ष निकालना ही होगा कि मनस्तत्वीय घटना-क्रम में स्वात्मों का उद्गमन और लोप सतत घटित होते रहनेवाला तथ्य है। निःसंदेह हमारे हितों और प्रयोजनों का आभ्यन्तर संगठन जितना ही उच्चतर होगा हमारा स्वात्म उतना ही अधिक स्थिर तथा परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव से उतना ही कम प्रभावित होता जायगा। किन्तु ऐसे स्वात्म को जो एकदम स्थिर हो तथा परिस्थितियों द्वारा अपरिवर्त्य भी, हमने एक असिद्ध आदर्श ही पाया था और अपने इस तत्त्वमीमांसीय निश्चय के आधार पर कि केवल निरपेक्ष समग्र ही पूर्णतया आत्म निर्धारित होता है हम कह सकते हैं कि वह आदर्श असाध्य भी है। तब हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि स्वात्म की स्थायी तद्रूपता मात्रात्मक होती है और वह कि हमें यह दावा करने का कोई हक नहीं कि किसी जैवतंत्र के समरूप स्वात्म का न तो एकत्व होना ही जरूरी है न सतत होना। अपने जन्म तथा अपनी मृत्यु के बीच की अवधि तक में भी मेरे लिये अपने पुराने स्वात्म को खो देना और नया स्वात्म प्राप्त कर लेना संभव है। साथ ही यह भी संभव है कि एक से अधिक स्वात्म मैं प्राप्त कर जाऊँ और एक ही समय में वैयक्तिक संरचना की विभिन्न मात्राओं वाले स्वात्मों का अभिग्रहण कर सकना भी मेरे लिये संभव है। हम ऐसी कोई निश्चित कसौटी भी निर्धारित नहीं कर सकते जिसके जरिये सभी मामलों में यह तय किया जा सके कि मनस्तत्वीय घटनाओं की किसी विशिष्ट शृंखला के बीच स्वात्म एक ही और तद्रूप ही रहा या नहीं। हम इस सामान्य दावे कि हमारे विभिन्न हित और प्रयोजन जितने ही पूर्णतया व्यस्त रहेंगे उतनी ही स्थायी हमारी स्वात्मता भी होगी और आगे नहीं जा सकते।[1]

उपर्युक्त विचारों का एक महत्वपूर्ण प्रभाव भावी जीवन के उलझे हुए प्रश्न पर पड़ता है यदि ये विचार उचित हैं तो स्वात्म की प्रकृति को देखते हुए उसकी अक्षरता कोई निश्चयात्मक प्रदर्शन हम उससे नहीं पा सकते। और इसलिये यह माँग करना भी

---

१. यही कारण है जिससे प्लैटो का, बुद्धिमान मनुष्य के स्वप्नों पर उसकी श्रेष्ठता के साक्षी के रूप में जोर देना उचित प्रतीत होता है। (रिपब्लिक, बुक ९, पृष्ठ ५७१) प्लैटो का आदर्श बुद्धिमान पुरुष वह है जिसका आभ्यन्तर जीवन इतना पूर्णतः एकीभूत होता है कि सुषुप्ति और जागृति की दोनों ही अवस्थाओं के बीच प्रयोजनात्मक सातत्य उसमें बना रहता है। लॉक के प्रश्न का संभवतः प्लैटो यही

व्यर्थ होगा कि दर्शन शास्त्र ही सब स्वात्मों के स्थायित्व को सिद्ध करें। दूसरी ओर यदि किसी स्वात्म का स्थैर्य अन्ततोगत्वा उसकी अपनी आभ्यन्तर प्रयोजनात्मक एकता का ही कार्य हो तो ऐसा कोई भी प्राग्ज्ञात आधार यह मान लेने का नहीं है कि शरीर की मृत्यु भौतिक घटना से यह एकता अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये और इसलिये मृत्यु के उपरान्त स्वात्म को भी नष्ट हो जाना चाहिये इस प्रकार तत्वमीमांसीय के हेतु समस्या संभावनाओं के संतुलन में परिवर्तित होती प्रतीत होती है और जिन बातों पर ध्यान देने की जरूरत मालूम देती है उनके उदाहरणस्वरूप इस एक बात की जाँच कर लेना उचित होगा कि कौन सी संभाव्य युक्तियों को किस पक्ष का आधार बनाया जा सकता है।

निषेध पक्ष में, यदि हम, कट्टर भौतिकतावाद के असिद्ध दावों को छोड़ देते हैं और जैसाकि उन्हें उचित रूप से छोड़ा भी जा सकता है तो हमें इस संभाव्यता का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि जहाँ तक हमें ज्ञात है हमारे वर्तमान जीवन के सिलसिले के हितों और प्रयोजनों से सतत सम्बद्ध वैयक्तिक अनुभूति के अस्तित्व हेतु शरीर का अस्तित्व एक आवश्यक शर्त हो सकता है साथ ही ऐसे शरीर का अस्तित्व मृत्यु के उपरान्त अस्तित्व के अनुभवाश्रित सकारात्मक साक्ष्य के अभाव की भी आवश्यक शर्त हो सकता है किन्तु यह विचार निश्चयात्मक नहीं प्रतीत होते। पहली बात के बारे में मुझे तो नहीं सूझता कि हम कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि शरीर शब्द के जिन मानों में उपर्युक्त युक्ति में शरीर के अस्तित्व की मांग की गयी है उन मानों में शरीर का मौजूद रहना कैसे अनिवार्य हो सकता

जवाब देता कि जाग्रत सुकरात और सुषुप्त सुकरात एक ही व्यक्ति होता है और उसके उन दोनों व्यक्तित्वों को सादृश्य सुकरात की आपवादिक या विशिष्ट बुद्धिमत्ता और सद्गुणित्व का प्रमाण है।

अगर यह समझा जाय कि कम से कम दो स्वात्मों में से एक स्वात्म के भीतर एक साथ सहवर्तिता अकल्पनीय है तो मैं पाठकों से इस बात का ख्याल रखने का अनुरोध करूँगा कि स्वात्म में उससे कहीं बहुत अधिक सम्मिलित रहता है जितना कि मनस्तत्वीय तथ्य की वास्तविक तथ्यवस्तु के रूप में किसी एक क्षण में प्राप्त होता है। किसी भी क्षण में स्वात्म को अधिकांशतः असिद्ध प्रवृत्तियों से बना मानना आवश्यक है और जहाँ तक अन्तिमेत्थतया असम्बद्ध प्रवृत्तियाँ मेरे समग्र स्वरूप या प्रकृति की अंश है वहाँ तक यह कहना सहेतुक प्रतीत होता है कि मेरे एक ही साथ, एकाधिक स्वात्म हैं। अन्ततोगत्वा निःसंदेह इस विचार रेखा पर चलते हुए हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि मेरी सकल प्रकृति स्वयं ही केवल सापेक्षतया एक समग्र है।

है। निःसंदेह यह सही है कि किसी एक व्यक्ति या व्यष्ट की अनुभूति के दोनों ही पहलू एक सद्य साध्यपरक उपक्रम का, और दूसरा पहले ही से स्थापित उपयोगिनी प्रतिक्रियाओं के पूर्वतः व्यवस्थापित रहना जरूरी है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों का परस्पर समागम स्थायी अभ्यास की उपर्युक्त व्यवस्था के माध्यम द्वारा ही संभव है। जैसाकि हम पहले ही समझ चुके हैं। हम जिसे शरीर नाम से पुकारते हैं वह स्वभावगत ऐसी प्रक्रियाओं के एक कुलक का नाम है जिनके माध्यम से मानवीय समाजों के विभिन्न सदस्यों के बीच पारस्परिक संचार संभव हुआ करता है अतः यदि 'शरीर' शब्द का ऐसा सामान्यीकरण करें कि जिससे वह शब्द किसी समाज के निर्मायक व्यक्तियों के बीच पारस्परिक संचार के माध्यम का काम देने वाली आभ्यासिक प्रतिक्रियाओं की किसी व्यवस्था का द्योतक बन जाय तो हमारा यह कथन उचित ही होगा कि स्वात्म के अस्तित्व के लिये शरीर का होना अनिवार्य है। लेकिन यह सिद्ध कर सकना असंभव प्रतीत होता है कि इस प्रकार के संचार-माध्यम की संभाव्यता उन प्रतिक्रियाओं की विशिष्ट व्यवस्था के विघटन से मिट जाती है जो हमारे समागम का वर्तमान माध्यम है। वर्तमान शरीर के विघटन का अर्थ शायद परिवर्तित प्रकारों वाली आभ्यासिक प्रक्रियाओं के अधिग्रहण से अधिक और कुछ नहीं है। यहाँ प्रकार शब्द से हमारा अभिप्राय उन प्रकारों से है जो हमारे समाज के सदस्यों के पारस्परिक संचार का काम अब नहीं कर पाते लेकिन जो बुद्धियुक्त जीवों के अन्य समूहों के साथ संचार स्थापित करने की एक प्रारम्भिक विवृत्ति अब भी हो सकती है।

शरीर की मृत्यु हो जाने के बाद उसका अस्तित्व रहता है या नहीं इस बात के अनुभवाधारित साक्ष्य के अभाव के विषय में यही कहा जा सकता है कि कुछ लोग कम से कम ऐसे मौजूद हैं जो हमारे बीच से चले गये लोगों के लगातार वर्तमान रहने के प्रमाण के स्वामी होने का दावा करके तथाकथित ख्याति कमाना चाहते हैं। जब तक कि निष्पक्ष संग्रह और परीक्षा द्वारा इन तथाकथित तथ्यों की सही जांच नहीं हो जाती तब तक मेरे ख्याल से, उनके प्रामाण्या-प्रामाण्य के विषय में कोई राय कायम नहीं की जा सकती। अतः यहाँ मैं केवल 'प्रेतविद्या' द्वारा प्रस्तुत तथाकथित साक्ष्य के विषय में एक ही बात कहूँगा यह तो स्पष्ट ही है कि केवल उस प्रकार का सातत्य ही सही तौर पर स्वात्म का जीवनातिशय्य कहा जा सकता है और निःसंदेह केवल उसी प्रकार का सातत्य ही हमारी रुचि का विषय भी होना चाहिये, जिसमें मृत्यु के बाद वे हित और प्रयोजन जिनसे हम पहचाने जाते थे कायम रहे। जब तक कि आत्मा अपने पार्थिव जीवन, लक्ष्यों और हितों के साध्यपरक सातत्य को स्थिर रखने के लिये लगातार नहीं जिए जाती तब तक कब्र के बाद स्वात्मत्व के सातत्य का कोई यथार्थ विस्तार होना नहीं माना जा सकता। अतः 'अमरत्व' के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाने वाला साक्ष्य, जब तक

अस्तित्व के तारतम्य मृत्युपरान्त भी जारी रहने के साक्ष्य के साथ हितों और प्रयोजनों के भी उसी प्रकार लगातार जारी रहने का भी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता तब तक वह वास्तव में निरर्थक साक्ष्य ही है। जो पाठक लौकिक अध्यात्मवाद के 'प्रपंच' से परिचित हैं तो इस उपर्युक्त विमर्श का विनियोग स्वयं भी कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।[1]

इस प्रश्न के निश्चयात्मक पहलू की ओर जब हम आते हैं तो यह कहना जरूरी मालूम देता है कि ऊपर जिन निषेधपक्षीय बातों की चर्चा हमने की है वे अमरत्व को एक सही तथ्य मानने के किसी दृढ़ आधार के मौजूद रहने पर, उसे असिद्ध बना सकने के लिये यद्यपि पर्याप्त नहीं है फिर भी जब तक अमरत्व को स्वीकार करने का कोई निश्चयात्मक दृढ़ कारण हमारे पास न हो तब तक उसे न स्वीकार करने के लिये वह एक पर्याप्त आधार है। इस तरह की वस्तुस्थिति का कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य हमारे पास न होना तथा उस वस्तु-स्थिति को सविवरण प्रस्तुत कर सकने का हमारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता ऐसा तर्कानुमोदित अच्छा आधार उस हालत में उसके अस्तित्व से इनकार करने का न होगा, जबकि गम्भीर दार्शनिक नियम उसकी माँग कर रहे हों। दूसरी ओर यदि उस पर विश्वास करने का कोई कारण न हों और उसके विरुद्ध में अच्छे पर अनिर्णायिक संभाव्य कारण ही हो, तो अस्थायी अथवा आरजी अनन्तिम रूप से नकारात्मक परिणाम पर पहुँचना हमारे लिये अनिवार्य होगा।

तब हाल में ही विमृष्ट नकारात्मक बातों के विरुद्ध प्रस्तुत करने के कोई दृढ़ साकारात्मक आधार हमारे पास है भी? हाल ही में शुरू की गयी जाँच के परिणाम जब तक नहीं निकलते तब तक इस बारे में भरोसे के साथ कुछ कह सकना कठिन है। फिर भी तद्विषयक साहित्य के अध्ययन से आरजी तौरपर इतना कह सकने की छूट हमें मिलती है कि कम से कम पाश्चात्य जगत् में यह धुँधली-सी भावना काफी जोर पकड़ चुकी है कि ऐसा जीवन जिसके मृत्युपरान्त भी जारी रहने की उम्मीद न हो असन्तोषप्रद ही होगा। यद्यपि यह भावना अनेक रूपों में प्रकट होती है फिर भी उन सब रूपों का एक ही मूल से उद्भूत होना सिद्ध हो सकता है जैसाकि हमें मालूम है साधारणतया किसी साध्यपरक हित का अन्त उसकी सिद्धि द्वारा किया जा सकता है। हमारे प्रयोजनों का परिणाम जब हमें प्राप्त हो जाता है तब उन प्रयोजनों का अन्त हो जाता है और हमारा स्वात्म उस हद तक जहाँ तक उसके प्रयोजन पूरे हो जाते हैं परिवर्तित हो जाता है। (और अनुषंगितया इससे हमें फिर से यह जान सकने में सहायता मिलती है कि असन्तुष्टि और अपूर्णता परिमित स्वात्म के लिये परम आवश्यक है। परिमित स्वात्म जीवित ही रहता है

---

१. तुलना कीजिए, दिसम्बर १८८५ के 'फौर्टनाइटली रिव्यू' में प्रकाशित श्री ब्रैडले के अमूल्य निबन्ध 'एविडेन्स ऑव स्पिरिचुअलिज्म' से।

वास्तविकता से विचार विभाजन पर और संकल्प को क्रियान्वन से दूर रखने पर। यदि दोनों एक हो जायें तो स्वात्म के लिये आवश्यक वह प्राणवायु ही खत्म हो जाय, जिसके बल पर वह जिन्दा रहता है। अतः यदि मौत हमारी अनुभूति में सदा ही एक ऐसे स्वात्म के जो भुक्त-भोग और लब्ध लक्ष्य हो चुका है, रूप में आया करती तो मृत्युपरान्त जीवन की इच्छा करने और उस पर विश्वास करने के लिये किसी तरह की प्रेरणा शेष न रहती। लेकिन यह एक परिचित तथ्य है कि मृत्यु असिद्ध योजनाओं और अपूर्ण कार्यों के पूरा होने देने की हिंस्र और तर्कहीन बाधा के रूप में ही सदा आया करती है। उसके आने पर स्वात्म इसलिये नहीं गायब होता चूँकि विश्वरंगमंच पर उसकी भूमिका समाप्त हो चुकी होती है और उसका काम पूरा हो चुका होता है बल्कि इसलिये कि वह एक बाहरी दुर्घटना का शिकार हो चुका होता है। मेरा ख्याल है कि विश्लेषण द्वारा उन विविध विशिष्ट रूपों के पीछे जिन्हें अमरत्व की इच्छा ग्रहण किया करती है, जैसे कि टूटी हुई मित्रता के पुनर्नवीकरण की प्रबल इच्छा तथा अधूरे कार्यों को पूरा करने की प्रबल लालसा आदि, अन्तर्हित सामान्य नियम के रूप में, बाह्य पाशविक दुर्घटना द्वारा बौद्धिक प्रयोजन की ऊपर से ही दीखाई पड़नेवाली पराजय के प्रति जागृत हो पड़नेवाली रोष की भावना दिखायी पड़ सकती है।[1]

विवाद की आधारस्वरूप इस भावना की तर्कसम्मत अर्हता क्या है? हमारा यह कहना उचित होगा कि एक ओर से तो यह भावना एक गम्भीर नियम पर आधारित है क्योंकि वह उस धारणा या विश्वास का मूर्त रूप है, सकल दर्शन शास्त्र ही जिसकी व्याख्या है अर्थात् इस विश्वास का कि वस्तुजगत् एक ऐसी एकरूप व्यवस्था है जिसमें तर्कहीन दुर्घटना के लिये कोई भूमिका ही निर्धारित नहीं है। अगर सारी सच्चाई को हम कहीं देख पाते तो हमें पता चल जाता कि हमारी सारी ही आकांक्षाओं की कहीं भी और कभी भी ऐसी अन्तिम पराजय नहीं हो सकती जिसका कोई इलाज ही न हो सके। सभी आकांक्षायें किसी न किसी तरह पूरी हो ही जाती हैं। दूसरी ओर हमें यह याद रखना होगा कि वास्तविकता की प्राप्ति

---

१. **यद्यपि मृत्यु बौद्धिक प्रयोजन के कार्य में दुर्घटना द्वारा किये जाने वाले प्रकटतः अबौद्धिक हस्तक्षेप के उदाहरणों के रूप में मृत्यु यद्यपि सबसे ज्यादा चमत्कारी उदाहरण है तो भी इस बात का वही एकमात्र उदाहरण नहीं है। मानसिक अथवा शारीरिक विकलांगता, यहाँ तक कि प्रतिकूल बाह्य दुर्भाग्य का भी स्वात्म इतना ही प्रभावित कर सकते हैं। सामान्य समस्या पर विचार करते समय इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।**

तक प्रयत्न करते रहने की आकांक्षा के आधार के अतिरिक्त उपर्युक्त विवादोक्ति और भी आगे बढ़कर न केवल यह दावा ही करने लगती है कि हमारी आकांक्षाएँ किसी न किसी तरह पूरी हो ही जाती हैं और अधूरा काम भी पूरा हो जाता है बल्कि वह यह भी कहने लगती है कि उक्त प्रकार की पूर्तियाँ ठीक उसी तरीके से होती हैं जिस तरह पर अपनी वर्तमान स्थिति के अनुसार हम चाहते थे और इस बात की संपुष्टि करने से यह विवादोक्ति उस निष्कर्ष से भी आगे बढ़ जाती है जहाँ तक कि दर्शनशास्त्र के प्राथमिक नियमों के अनुसार हम पहुँच सकते हैं।

हो सकता है कि अगर विश्वयोजना विषयक हमारी अन्तर्दृष्टि कम दोष-पूर्ण होती तो हम शायक ठीक उसी तरह पूर्ति के इस विशिष्ट रूप की इच्छा न करते, जिस तरह कि यौवन प्राप्ति के बाद हम उस प्रकार के जीवन की इच्छा छोड़ देते हैं जिस प्रकार का जीवन बचपन में हमारी खुशी का आदर्शीय लक्ष्य हुआ करता था।

किसी व्यक्ति के जीवन भर का काम उसके बचपन की कल्पनाओं की सिद्धि रूप हो सकता है पर वह कार्य उन स्वप्नों के उस रूप की सिद्धि नहीं करता, बचपन में जिसकी कल्पना करता है। प्रकल्पतया तब यही बात भावी जीवन विषयक हमारी वाञ्छा के बारे में भी घट सकती है। इसके अतिरिक्त निश्चय ही, भावना-धारित विवादोक्ति की तर्कशास्त्रीय अर्हता का, किसी हद तक स्वयं उस भावना की विश्वजनीनता तथा सततता पर निर्भर होना भी आवश्यक है। विशिष्ट परम्पराओं तथा प्रशिक्षण के प्रभावों द्वारा अधिकतर निर्मित वस्तु को ही मानवता की मौलिक आकांक्षा मान लेने की गलती नहीं करना है। अतः भावनाधारित निष्कर्ष की अर्हता का सही अन्दाजा तब तक नहीं लगा सकते जब तक कि हमें इन दोनों बातों का पता न हो कि वह भावना हमारे समाज में किस हद तक वस्तुतः घर कर चुकी है और इस बात का कि हमसे भिन्न विश्वासों और परम्पराओं वाले अन्य समाजों में वह भावना किस सीमा तक मौजूद है। उदाहरणतः ईसाई सभ्यता की भावना ऊपर से ही विरुद्ध प्रतीत होनेवाली भावनाओं जैसे ब्राह्मणों और बौद्धों की भावनाओं के मुकाबले में, स्वतः मानवजाति की सार्वत्रिक भावना के साक्ष्य रूप में ग्रहण नहीं की जा सकती।

तब मुझे यह नतीजा निकालना चाहिये कि भविष्य जीवन की समस्या को तत्वमीमांसा के लिये खुला ही छोड़ देना आवश्यक है, क्योंकि भावी जीवन के अस्तित्व के विषय में हम एक भी वैध तत्वमीमांसीय युक्ति पेश कर सकने में असमर्थ प्रतीत होते हैं लेकिन दूसरी ओर नकारात्मक पूर्वकल्पनाएँ भी अविश्वास्य प्रतीत होती है। इस मामले में डाक्टर मैकटगार्ट के सुन्दर शब्दों में कहा जाय तो दर्शनशास्त्र

'हमें आशा बँधाता है।'[1] और अपनी तौर पर मुझे भी यही लगता है कि वह इससे ज्यादा और कुछ कर भी नहीं सकता। संभवतः 'ला सैसियाज' में ब्राउनिंग ने जैसा सुझाव दिया है व्यावहारिक जीवन के हित के लिये यह उचित भी नहीं कि वह इससे ज्यादा कुछ करें। और इस प्रश्न को पाठकों के लिये यहीं छोड़ देना मुझे उचित मालूम देता है। केवल एक परीक्षात्मक सुझाव ही मैं यहाँ पाठकों के अनुमोदनार्थ या त्यागार्थ दे रहा हूँ। चूँकि हम जान चुके हैं कि स्वात्म का स्थायित्व अधिकतया उसकी आभ्यतंरीण संरचनात्मक एकरूपता की मात्रा पर निर्भर होता है इसलिये यह कल्पना की जा सकती है कि स्वात्म के रूप में उसका अपने पार्थिव जीवन के उस पार तक भी बना रहना उसी शर्त पर संभव हो सकता है। प्रकल्पतया स्वात्म मृत्यु से भी उसी तरह अतिजीवी हो सकता है जैसे कि वह भौतिक घटनाक्रम के अन्य लघुतर परिवर्तनों में से तब अक्षुण्ण रूप में निकल आता है जब उसका एकत्व और प्रयोजनिक एकरूपता प्रबल होती हैं अन्यथा ऐसा हो सकना संभव नहीं होता। अगर बात ऐसी ही हो तो भावी अस्तित्व कोई ऐसा दाय न होगा जिसका उत्तराधिकारी बनना वैसा समय आने पर हमारे लिये सुरक्षा का विषय हो बल्कि वह एक ऐसी विजय मात्र होगी जिसे हम जीवन की कठिन तपस्या तथा अध्यवसाय द्वारा, एक विपुल नियंत्रित, एकरस, नैतिक आत्मत्व की प्राप्ति के रूप में पायेंगे। और इस प्रकार भावी जीवनविषयक वह विश्वास जो इस प्रकार के तापस जीवन के प्रेरकरूप में कार्य करता है, स्वयं भी अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकने का एक साधन बन जायगा। बात ऐसी ही है—इसका निश्चित दावा कर सकना असंभव है पर हम इससे भी इनकार नहीं कर सकते कि मामला ऐसा भी हो सकता है और समस्या को यहीं छोड़ देना मेरे लिये उचित होगा।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए : दी बोसांक्वेट लिखित 'साइकॉलॉजी ऑफ दि मौरेल सेल्फ', लेख ५; एफ० एच० ब्रैडले कृत 'अपियरेन्स एण्ड रियलिटी,' अध्याय

---

१. **डा० मैकटगार्ट का यह पदांश उनके मत की अपेक्षा मेरे मत को कहीं अधिक पर्याप्तया व्यक्त करता है। उसके मतानुसार 'अमरता' दार्शनिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध की जा सकती है। (देखिये उनकी 'स्टडीज इन हेगेलियन कास्मोलॉजी' नामक पुस्तक का द्वितीय अध्याय) मैंने पहले ही बता दिया है कि मैं इस स्थिति को क्यों नहीं स्वीकार कर सकता। मेरा ख्याल है कि इस स्थिति से हुई डा० मैकटगार्ट की तुष्टि अवश्य ही कुछ अंश में इस प्रश्न के न उठाये जाने के कारण ही संभव हो सकी है कि वह क्या वस्तु है जिसे वे निरपेक्ष का 'मौलिक विशिष्टीकरण' घोषित करते हैं।**

९, (दि मीनिंग्ज ऑफ सेल्फ) १०, (दि रीयालिटी ऑफ सेल्फ) २६, (दि एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अपीरियन्सेज—विशेषतः अध्यायान्त, पृ० ४९९–५११, प्रथम संस्करण), २७, (अल्टिमेट डाउट्स); एल० टी० हॉबहाउस की थियरी ऑफ नालेज', पार्ट ३, अध्याय ५; एस० हाग्सन कृत 'मेटाफीजिक ऑफ एक्सपीरियन्स', बुक ४, अध्याय ४; ह्यूम कृत 'ट्रेटाइज ऑव ह्यूमन नेचर, पुस्तक १, भाग ४, सेक० ५, ६; डब्ल्यू० जेम्स कृत 'प्रिंसिपल ऑव सायकालॉजी', खंड १, भाग ४ अध्याय १०; एच० लोट्जे लिखित 'मेटाफीजिक', बुक ३, अध्याय १ (विशेषतः, सेक० २४५), ५, माइक्रोकास्मस, बुक ३, सी ५; जे० एम० ई० मैकटगार्ट कृत 'स्टडीज इन हेगेलियन कास्मोलाजी,' अध्याय २ (डॉ० मैकटगा की अधिक विरोधी आलोचना के लिये—जिसका अनुमोदन मेरे द्वारा किया जाना केवल कुछ विशिष्ट विचार बिन्दुओं को छोड़कर नहीं माना जा सकता—देखिये जी० ई० मूर का लेख (प्रीसीडिंग्स एरिस्टोटेलियन सोसायटी, एन० एस०, वौल्यूम २, पृष्ठ, १८८–२११); जे० रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डुविजुअल', सेकेंड सिरीज़, ले० ६, ७ ।

अध्याय ४

नैतिक स्वातंत्र्य की समस्या

१—स्वतंत्र या स्वेच्छ संकल्प विषयक तत्त्वमीमांसीय समस्या ऐतिहासिक दृष्टि से अति-नैतिक कठिनाइयों, विशेषतः पूर्ववर्ती ईसाई युग के धर्मतत्त्व-संबंधी विचारों तथा आधुनिक जगत् की यांत्रिकीय वैज्ञानिक कल्पनाओं के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई। २-३—हमारी नैतिक अनुभूतियों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सच्चे स्वातंत्र्य के अर्थ हैं साध्यवादीय निश्चयन । अतः स्वतंत्र होना और संकल्प करना समानार्थवाची बात है । स्वातंत्र्य अथवा 'आत्म निर्धारण' यथार्थ किन्तु सीमित होता है और उसमें मात्रात्मक विच्छेदन होना संभव होता है । ४—निश्चयन और अनिश्चय दोनों ही इस झूठे पूर्वग्रहण से पैदा होते हैं कि पूर्ववर्तियों द्वारा कारणीय निश्चयन की यांत्रिक अभिधारणा एक चरम तथ्य है । तब प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या मानसिक घटनाएँ माने हुए नियम की अपवाद है । ५—निश्चयवाद, निश्चयवादी युक्तियों का वर्णन। ६—उन युक्तियों का आधार अंशतः यह पूर्वग्रह है कि यांत्रिकीय निर्धारण ही तथ्यों के तर्कसंगत संयोजन का एकमात्र नियम है । ७—दूसरा आंशिक आधार है मानस विज्ञानों के वास्तविक विधि-विधान विषयक विरोधाभास पूर्ण सिद्धान्त । इस युक्ति का कि मानवीय चरित्र के स्वरूप और उसकी परिस्थितियों के पूर्ण ज्ञान से हम मानव व्यवहार विषयक भविष्योक्ति कर सकते हैं, विरोधाभासी रूप। पूर्वग्रहीत दत्त ऐसे होते हैं कि स्वयं उनकी प्रकृति द्वारा घटना से पूर्व उनका ज्ञान नहीं हो पाता । ८—अनिश्चयवादिता । अनिश्चयवादी जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों की दुहाई दिया करता है वे उसके निष्कर्षों का अनुमोदन नहीं करते किन्तु यह बात तत्त्व-मीमांसानुसार अनर्गल भी है क्योंकि उसमें तर्कसंगत अथवा बुद्धिपरक संयोजनों का निषेध भी शामिल है। ९—दोनों ही सिद्धान्त साध्यवादीय एकत्व को कारणीय निर्धारण में संकरित कर देने की प्रारंभिक गलती के बारे में एकमत है ।

१—नैतिक स्वातंत्र्य के अर्थ तथा वास्तविकता की समस्या को आमतौर पर मानवजीवनपरक तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों में से यदि एकमात्र प्रमुख प्रश्न नहीं तो, एक प्रमुख प्रश्न माना जाता है। जैसाकि पाठकों को याद होगा काण्ट ने इस स्वातंत्र्य को अमरत्व तथा ईश्वरास्तित्व आदि के साथ नीतिशास्त्र की असाध्य किन्तु अनिवार्य अभिधारणाओं की सूची में शामिल कर रखा है और नैतिक दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों

में यह विश्वास घर किये हुए है कि नीति विज्ञान स्वातंत्र्य का, सिद्ध सत्य के रूप में न सही कम से कम एक अभिधारणा के रूप में ही प्रारम्भिक तत्त्वमीमांसीय औचित्य प्रस्तुत किये बिना अपना काम शुरू नहीं कर सकता। अपने तईं, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं मानवीय स्वातंत्र्य विषयक तत्त्वमीमांसीय जाँच की व्यावहारिक महत्ता को बहुत ऊंचा स्थान नहीं दे सकता और विशुद्धतया नीतिशास्त्रपरक अनुसंधानों के हेतु इसकी अपेक्षाधिकता के बारे में प्रोफेसर सिजिविक की राय में एकदम मिल गयी है।[1] साथ ही इस विषय का विशेष विवेचन किये बिना ही उसका उल्लंघन अन्य कारणों से नहीं तो केवल उन श्रेष्ठ उदाहरणों के ही कारण असंभव है जो यह विषय हमारे सामने झूठे तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों को नीतिशास्त्र पर लादने से उत्पन्न होनेवाली हानियों के बारे में प्रस्तुत करता है तथा हमारे उस अभिमत के समर्थन के कारण भी, जो हमने प्राकृतिक विज्ञानों के यांत्रिक कारणीय अभिधारणात्मक स्वरूप के विषय में प्रकट किया है। स्वतंत्रता के विषय में उसके तत्वमीमांसीय प्रश्न के रूप पर इस दृष्टिकोण से बहस करते समय मैं चाहता हूँ कि यह बात ठीक तरह से समझ ली जाय कि दो परिपृच्छाएँ ऐसी हैं जिन पर मैं बिल्कुल बहस ही नहीं करना नहीं चाहता हाँ आनुषंगिक रूप से उनका जिक्र किया जा सकता है।

उनमें से एक है वह मनोवैज्ञानिक परिपृच्छा जो उन सही तत्वों के बारे में उठायी जा सकती है जिन तत्वों में, मनोवैज्ञानिक वर्णनार्थ किसी स्वेच्छा कार्य को विश्लेषित किया जा सकता है। दूसरी परिपृच्छा नैतिक उत्तरदायित्व की सीमाओं विषयक नीतिशास्त्रीय तथा विधिशास्त्रीय समस्याओं के बारे में है। हमारे वर्तमान उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए ये दोनों ही परिपृच्छाएं अभी एक तरफ रख देनी होंगी। हमें न पूछना होगा कि कोई स्वेच्छ कार्य कैसे किया जाता है—दूसरे शब्दों में कहें तो कहेंगे कि—मनोविज्ञान शास्त्र में किन प्रतीकों द्वारा उसे सर्वोत्तम प्रकार से प्रतिदर्शित किया जाता है। न हीं हम यह पूछेंगे कि किसी उलझे हुए मामले में उत्तर-दायित्त्व के लिये आवश्यक स्थितियों या शर्तों का या यों कहिए कि कार्य कर सकने की स्वतंत्रता की शर्तों का अभाव कहाँ घोषित किया जा सकता है। यहाँ तो हमारा काम अधिक सीधा-सादा सा सबसे पहले यह निर्णय कर देने का है जिसे हम नैतिक रूप से वांछनीय मानते हैं उस स्वतंत्रता का अर्थ क्या है और उसके बाद यह तय करने का कि अस्तित्व की वास्तविकता की पुष्टि अथवा उसके निषेध से अभिप्रेत तत्स्वरूप विषयक सामान्य अभिमत क्या है। सौभाग्य से नीति शास्त्रीय विज्ञानों के वास्तविक इतिहास

---

१. देखिए—'मेथड ऑव एथिक्स', पुस्तक १, अध्याय ४, सेक० ६ (पृष्ठ ७२-७६ का ५वाँ संस्करण)।

ने यह बात अच्छी तरह प्रमाणित कर दी है कि नीति विषयक अध्ययन के लिये स्वतंत्रता के तत्त्वमीमांसीय अभिप्रेतों की जांच एक अनिवार्य प्रारम्भिक आवश्यकता नहीं है। नीतिशास्त्र की अब तक की महानतम सिद्धियाँ निःसंदेह अरस्तू और अफलातून नामक दो महान् यूनानी नीतिशास्त्रज्ञों के दर्शन-तंत्रों में निहित हैं। यह कहना कोई बड़ी बात न होगी कि उन दोनों दार्शनिकों के बाद नीतिपरक विचारों ने अब तक नीतिशास्त्रीय निष्कर्षों द्वारा प्रस्तुत ब्रह्माण्ड विषयक समस्याओं पर हुए तत्त्व-मीमांसीय विचारविमर्श को छोड़कर, विशुद्ध नीतिविज्ञानात्मक विभाग में, मानव जीवन के इन दोनों ही महान प्रेक्षकों और आलोचकों द्वारा पहले ही स्वीकृत और सूची-कृत सामान्य सिद्धान्तों की विवृत्तियों के विकास के अतिरिक्त और कुछ बहुत ही कम मात्रा में सिद्ध कर पाया है। फिर भी जैसाकि जगविदित है स्वतंत्रता विषयक तत्त्वमीमांसीय समस्या का न तो अफलातून के न अरस्तू के दर्शन शास्त्र में कहीं दिखायी पड़ती है। जैसाकि GORGAS तथा Repudlic की आठवीं और नवी खंडों के अध्येताओं को अच्छी तरह मालूम होगा अफलातून की राय के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ ठीक एक सामान्य व्यक्ति के तद्विषयक अर्थ के समान ही है—'अपनी मर्जी के अनुसार काम कर सकने की शक्ति', और इस दर्शनशास्त्री ने इस विषय में जो कुछ विचारात्मक खोज प्रचलित की है वह इतनी ही है कि उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति में सब से बड़ी व्यावहारिक बाधा स्वयं संकल्प की ही अदृढ़ता और असंबद्धता या असंगति से उत्पन्न होती है और यह भी कि वस्तुतः अस्वतंत्र व्यक्ति ही ठीक ऐसा अपराधी या 'अत्याचारी' होता है जो असंबद्ध संकल्प किया करता है और कुछ कम मात्रा में 'भावावेशों तथा आवेगों' वाला वह 'लोकतंत्रीय जन्तु' जो जन-साधारण के शब्दों में 'यह ही नहीं जानता कि जीवन से वह चाहता क्या है।'

इसी तरह अरस्तू भी जिसकी आध्यात्मिक बातों में प्रवृत्ति कम थी पर जो व्यावहारिक विवृत्तियों का बड़ा ध्यान रखता था अपनी कृति 'एथिक्स' के तृतीय खंड में आदर्शरूपेण परिशुद्ध विधिशास्त्र के स्थिति बिन्दु से विषय विवेचन करता है। उसके सामने वहाँ समस्या यह जानने की है कि किसी आदर्शतः परिशुद्ध और पूर्ण विधितंत्र में किन कार्यों के लिये किसी व्यक्ति को अनुत्तरदायी माना जायगा। इस प्रश्न का जो उत्तर उसने दिया है उसे यों बताया जा सकता है कि कोई व्यक्ति (१) शारीरिक मजबूरी के मामले में खासतौर पर जब तब किसी बाहरी एजेन्ट अथवा कारण द्वारा उसकी ज्यादा से ज्यादा कार्यशक्ति को गतियुक्त कर दिया जाता है अथवा (२) आवश्यक परिस्थितियों के अज्ञान की दशा में। इन दोनों ही मामलों में उसकी कोई जिम्मेदारी, उसका कोई उत्तरदायित्व इसलिये नहीं होता चूँकि वास्तविक कार्य वहाँ हुआ ही नहीं होता क्योंकि उस मनुष्य के अंग प्रत्यंगों की बाह्य गति उसके अपने उद्देश्य

या प्रयोजन के अनुकूल नहीं होता है। कर्त्ता के किसी आशय या प्रयोजन को शारीरिक गति में परिवर्तित कर देने वाले कार्य को ही, व्यावहारिक नैतिकता और विधिशास्त्र के समान अरस्तू भी स्वयं तथ्यरूपेण स्वतंत्र मानता है। वह उसके विषय में इस प्रकार की स्वीकृति के ब्राह्माण्ड-ज्ञान-विषयक अभिप्रायों का तत्त्वमीमांसीय प्रश्न नहीं उठाता।

ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि यह तत्त्वमीमांसीय समस्या हमारे लिये अनीतिशास्त्रीय विचारों ने पैदा कर दी है। 'अनधिमानात्मक' स्वातंत्र्य को प्राचीन विश्व में भोगवाद ने मान्यता अवश्य दी थी किन्तु नैतिक आधारों पर नहीं। ल्युक्रेटियस की पुस्तक के द्वितीय खंड के पाठकों को मालूम होगा कि प्राचीन भोगवादी कट्टर यांत्रिक कारणता की अभिधारणा की वैधता को केवल इसलिये मान्यता नहीं देते थे क्योंकि वे अपने आपको उस स्थिति से निकाल लेना चाहते थे कि जिस स्थिति में उनकी मनगढ़न्त भौतिक प्राक्कल्पनाओं ने उन्हें ला पटका था। यदि भौतिक जगत् यांत्रिक कारणता को निरपेक्ष मान लिया जाय और यदि जैसाकि एपिक्यूरस का भी कथन है यह भौतिक जगत् स्थिर और निरन्तर वेगों के साथ एक ही दिशा में गिरते हुए सब परमाणुओं से बना होता तो वस्तु व्यवस्था जैसी कि अब हमें दीखती है वैसी कभी न पैदा होती। अतः परमाणु विषयक अपनी प्राक्कल्पना को त्याग देने के बजाय भोगवादियों ने व्यष्ट परमाणु में अकारणोद्भूत स्वेच्छा तथा आवसरिक पथभ्रष्ट हो सकने की शक्ति का आरोप इसलिये कर दिया कि जिससे परमाणु में संघट्ट और संयुक्ति हो सके। इस प्रकार उनके लिये 'अनधिमानात्मक स्वच्छन्दता' भौतिक कठिनाइयों का ही परिणाम थी।

ईसाई धर्म के सिद्धान्तों में इस सिद्धान्त को मिली विस्तृत—सार्वत्रिक न सही—मान्यता धर्मशास्त्रीय प्रकार की अनीतिशास्त्रीय कठिनाइयों का परिणाम है। यदि परमात्मा 'अनन्तकाल पहले ही से जानता था' कि आदम यों मार्गभ्रष्ट होगा और उसके ये परिणाम होंगे तो आदम को और उसकी सारी सन्तान को दण्ड देना उसकी न्यायकारिता के अनुकूल कैसे हो सकता है जबकि आदर्श को बनानेवाला स्वयं ही पहले से उस अपराध के घटित होने के बारे में सब कुछ जानता था।[1] दैवी सर्वज्ञता का दैवी-

---

१. उमर खय्याम की रुबाई इस बाबत यों है:—
मुझे जो पथ करना था पार, बिठाये उस पर प्रेत पिशाच
बनाए उस पर गहरे गर्त और आया अब करने जाँच
पहले ध्रुव निश्चय के अनुसार चला मैं करता व्यर्थ प्रलाप
देखते तुझे न आती लाज पतन में मेरे मेरा पाप ?
और हमारा अपना कवि भी कहता है :—
मनुज को उद्यान में बनाया किसलिये ? लोभ में आकर गिरे क्या इसलिये ?

न्याय के साथ मेल बैठाने की कठिनाई इस पूर्वानुमान द्वारा बच निकला गया या सच पूछिए तो केवल उससे पिण्ड छुड़ाया गया कि मनुष्य को 'अनवधारणात्मक स्वतंत्र संकल्प' सहित इसलिये सिरजा गया कि जिससे यदि मनुष्य चाहे तो आज्ञानुपालन भी उतना ही आसान हो सके जितना कि आज्ञा का अतिक्रमण। स्वयं हमारे जमाने में देकार्ते और गैलेलियो से प्रारम्भ होने वाले यांत्रिकीय भौतिक विज्ञान के महान् विकास के कारण समस्या का रूप एकदम बदल गया है। भौतिक विज्ञान के प्रथम नियम के रूप में दृढ़ कारणीय निर्धारण के पूर्वानुमित हो जाने से यह सवाल उठ खड़ा हुआ कि क्या इस पूर्वानुमान को खींचतान कर मनस्तत्वीय क्षेत्र पर भी लागू किया जा सकता है या नहीं। अगर उसे वहाँ तक फैलाया जा सकता होता तो वह सभी मानवीय कार्यों को "हमारे नियंत्रण से बाहर की परिस्थितियों के अनिवार्य परिणाम" बनाकर नैतिक दायित्व की जड़ें ही हिला डालता और अगर उसे ऐसा न माना जाता तो दृढ़ कारणीय निर्धारण के सिद्धान्त या नियम के अस्वीकरण को बहुधा इस बात से इनकार करने के बराबर समझा जाता कि मनस्तत्वीय क्षेत्र में तर्कसंगत सह-योजना विषयक नियम मौजूद हैं अतः नैतिक जीवन के तथ्यों में विशेष रुचि लेने वाले लोग जहाँ मनस्तत्वीय शृंखला की घटनाओं के बीच तर्कसंगत सह-योजन के न्यूनाधिक एकान्त अपवर्जन की ओर बहुधा झुक जाते हैं वहाँ दूसरे वे लोग जिनकी विशेष अभिरुचि ज्ञान के एकीकरण की ओर है और भी अधिक सर्वसामान्यतया इस बात को मानना आवश्यक समझते हैं कि मानवीय क्रियाकलाप पूर्ववर्तियों द्वारा उसी मात्रा और उसी माने में निश्चित हुआ करता है जिस मात्रा और माने में कि विशुद्ध भौतिक व्यवस्था की घटनाएँ।

हमारा उद्देश्य यह सिद्ध करना होगा कि अनिश्चयवादिता और निश्चयवादिता के अथवा आवश्यकतावादिता के ये सिद्धान्त सब के सब एक समान अविवेकपूर्ण हैं और व्यावहारिक रूप में जिसे हम कार्यपरक नैतिक स्वतंत्रता मानते हैं उससे वे सब मेल नहीं खाते तथा वे सब के सब इस अशुद्ध पूर्वानुमान पर आधारित हैं कि दृढ़ यांत्रिक निर्धारण स्वयं भी एक वास्तविक तथ्य है न कि विशिष्ट भौतिक विज्ञानों की एक ऐसी अभिधारणामात्र जो वहीं तक वैध है जहाँ तक कि वह उपयोगी होती है। लेकिन अपना काम शुरू करने से पहले स्वयं नैतिक स्वतंत्रता के अनेकों मानों के वर्णन से ही कार्यारम्भ करना आवश्यक है। जब तक कि हम यह नहीं जान लेते कि नैतिक जीवों की हैसियत से हम जिस प्रकार की स्वतंत्रता चाहते हैं और जिस तरह की स्वतंत्रता हमारा आदर्श है, उसके माने क्या है तब तक यह पूछना बेकार ही होगा कि हम स्वतंत्र हैं या अस्वतंत्र।

२—'स्वतंत्र' और 'स्वतंत्रता' स्पष्टतः ही तर्कशास्त्रियों के कथनानुसार 'निजत्व-

परक' शब्द हैं। प्रतिबन्धों के राहित्य का संकेत उनसे मिलता है। चाहे जिस माने में 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग आप करें, उसका अर्थ होगा किसी चीज से स्वतंत्र होना। तब वे क्या चीजें हैं जिनसे हम अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं और जो हमें अस्वतंत्र बनाये हुए हैं? मुख्यतः वे ये हैं (१) हम तब स्वतंत्र नहीं होते जब हमारे अंग को किसी बाहरी शक्ति अथवा कारक द्वारा, भले ही वह मानवीय शक्ति या कारक हो या अमानवीय, गतिमान बनाया जाता है और क्यों हम तब स्वतंत्र नहीं होते इसका कारण यह है कि प्रेरक शक्ति द्वारा प्रेरित हमारे अंगों की गति हमारे अपने उद्देश्य, प्रयोजन अथवा आशय को व्यक्त नहीं करती। वे अंग संचलन या तो किसी ऐसे अन्य जीव के उद्देश्य अथवा प्रयोजन को व्यक्त करते हैं जो हमारे अंगों को यथेच्छतया संचालित कर रहा होता है अथवा जैसाकि उन मामलों में होता है जब हम अशरीरी जगत् की 'शक्तियों' द्वारा गतिमान कर दिये जाते हैं—उद्देश्य रूप से ज्ञातव्य किसी भी प्रयोजन को हम व्यक्त नहीं करते। और दोनों ही मामलों में हम अपनी अंगगति द्वारा किसी भी ऐसे प्रयोजन को व्यक्त नहीं करते जो स्वयं हमारा अपना हो। वे दोनों ही प्रयोजन सत्यरूपेण हमारे नहीं होते और इसी लिये उस कार्य में स्वतंत्रता का लेश भी नहीं होता। यह जरूरी नहीं कि गति का परिणाम ऐसा हो जिसे ऐसा सुझाव मिलने पर हम अपना प्रयोजन मानने से इनकार कर देते। अगर बात हम पर ही छोड़ दी जाती तो शायद ही हम वैसा ही करते जैसाकि दूसरे व्यक्ति ने अथवा भौतिक शक्ति-तंत्र ने हमसे करवाया। फिर भी जो कुछ भी काम हुआ वह हमारे वास्ते किया गया किन्तु हमने उसे नहीं किया और चूँकि वह हमारे अपने वास्तविक प्रयोजन द्वारा प्रेरित अथवा उसका अनुसारी नहीं है इसलिये वह स्वतंत्र कार्य नहीं है।

(२) इसके अतिरिक्त हम तब भी सही मानों में स्वतंत्र नहीं होते जब (पहले किए किसी अपने स्वतंत्र कार्य के कारण नहीं) विशिष्ट परिस्थितियों से परिचित नहीं होते।[1] इसीलिये ठीक उसी तरह जिस तरह कि पहले मामलों में वास्तविक कृत्य नहीं हुआ था इस मामले में वह हुआ होता है। हम वस्तुतः कुछ प्रयोजित करना चाहते हैं किन्तु जो कुछ प्रयोजित करना चाहते हैं वह यह कार्य नहीं होता जो हमारी गति द्वारा परिणत होता है। उदाहरणार्थ यदि मैं अपने किसी साथी को गलती से गोली मार देता हूँ यह

---

१. याद रखिये कि कार्य करने से वर्जित रहना भी स्वयं एक कार्य है जैसाकि तर्कशास्त्र के अनुसार प्रत्येक यथार्थ निषेध वस्तुतः एक दृढोक्ति अथवा दावा ही होता है। इसीलिये हमारा यह प्रतिबन्ध आवश्यक परिस्थितियों में अपने आपको सूचित किये रहने के प्रति जानबूझ कर बरती गयी उदासीनता के मामले पर लागू होता है।

समझकर कि मेरा कोई शत्रु है तो यह, सही है कि मेरा प्रयोजन या उद्देश्य गोली मारना है और गोली चलाना जहाँ तक एक कार्य है वहाँ तक वह मेरा अपना एक स्वतंत्र कार्य है। लेकिन चूँकि मेरा उद्देश्य का प्रयोजन अपने साथी को मारना न था इसलिये उस कार्य की सही परिणति मेरे उद्देश्य को व्यक्त नहीं करती और इसलिये उस कार्य के करने में अपने आपको परिणामतः पूर्ण स्वतंत्र नहीं मान सकता और इसलिये नैतिक दृष्टि से उस कार्य के लिये अपने को उत्तरदायी भी नहीं मान सकता। यहाँ तक तो हमारा विश्लेषण अरस्तू के पूर्वोल्लिखित विश्लेषण से मिलता है।

(३) और मैं वहाँ भी तब स्वतंत्र होकर काम नहीं कर रहा होता हूँ जहाँ परिस्थितियाँ ऐसी हों कि उद्देश्य अथवा प्रयोजन का निरूपण बिल्कुल न हो सकता हो। इसीलिये स्वचालित क्रिया—यदि इस नाम की कोई वस्तु हो तो—यथार्थ क्रिया नहीं होती और इसीलिये वह स्वतंत्र भी नहीं होती।[१] अविचारपूर्वक किया गया आवेगात्मक कार्य भी इसी श्रेणी का होता है। निःसंदेह उसके पूरा होने पर सन्तोष की भावना मन में आना आवश्यक है और उसमें बाधा पड़ने पर उसको पूरा कर सकने की लालसा पैदा होती है इसलिये उसे विशुद्ध अप्रायोजनिक नहीं कह सकते। किन्तु किसी भी यथार्थतः उद्वेगीय प्रतिक्रिया में वहाँ विचार करने की संभावना बहिष्कृत हो क्रियान्वयनान्तर्गत प्रयोजन के मूर्त स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान मुश्किल से ही हो सकता अतः ऐसा क्रिया-कलाप स्वतंत्र नहीं हो सकता। और व्यावहारिक जीवन में यद्यपि हमें निश्चय ही हमारे आवेगात्मक कार्य के लिये हमें नैतिक रूप से उत्तरदायी उस सीमा तक माना जाता है जहाँ तक कि यह समझा जाता है कि हम उस काम में पूर्ववत् कार्य करने का पहले से पड़ी आदत के बल पर रद्दोबदल कर सकते थे अथवा जिस हद तक कि उस परिस्थिति को बचा जाने की शक्ति हममें भी, जिसे विचारशक्ति का नाश कर देने वाली समझने के कारण हमारे पास थे, पर हम आवेश में आकर किये गये कार्य के लिये उतनी पूरी तरह जिम्मेदार नहीं माने जाते जितने कि विचारपूर्वक पूर्वनिर्धारित और जानबूझकर स्वीकृत प्रयोजन के अनुसार किये गये कार्य के लिये माने जाते हैं।[२]

---

१. स्वचालित क्रियायें जिनका मनस्तत्वीय स्वरूप वस्तुतः हमें ज्ञात है हमारी अपनी 'गौणरूपेण स्वचालित' अथवा 'आभ्यासिक कार्य' ही हैं। कारणवादी के लिये यह एक समस्या बन जाती है कि कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया कहाँ तक इतनी पूर्णतया स्वचालित बन सकती है कि प्रशंसा या अपराध का पात्र ही उसके बाद न रहे।

२. कानूनी प्रयोजन के लिये इस प्रकार का विभेद कर सकना प्रायः असम्भव हो सकता है और पूर्ण उत्तरदायित्व तथा पूर्ण अनुत्तर-दायित्व के बीच कामचलाऊ विकल्प से हमें सन्तोष कर लेना पड़ सकता है किन्तु अपनी आत्मा की अदालत में स्वयं अपने

इसके अतिरिक्त हम तब भी अपने आपको अस्वतंत्र अनुभव करते हैं जब किसी कार्य की संगत योजना को ध्यानपूर्वक समझने की शक्ति के एकान्त अभाव के कारण अथवा इस कारण कि हम एक साथ ही ऐसे दो उद्देश्यों का जो भीतर से एक दूसरे के विपरीत हैं अनुसरण कर रहे होते हैं--अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर पाते। यही कारण है जो ऐसे लोक सत्तात्मक भावना वाले व्यक्ति को जिसकी अभिरुचियाँ तर्कसंगत-एकत्वहीन असंगत गड़बड़झाला होती हैं अथवा ऐसे अत्याचारी व्यक्ति को जिसे हम 'अपराधी प्रकार' का व्यक्ति भी कह सकते हैं; जिसके उद्वेग सदा परस्पर विरोधी तथा उसकी निर्णय शक्ति से टक्कर लेने वाले हुआ करते हैं दोनों ही को प्लेटो या अफलातून ने उपलक्षकतया अस्वतंत्र जीव माना है। अन्ततोगत्वा स्वतंत्र होने के लिये हमारे उद्देश्य या प्रयोजन ऐसे होने चाहिये जो संगत अथवा संश्लिष्ट हों और चिरस्थायी भी। अतः यह कहना विरोधाभासात्मक न होगा कि अन्ततोगत्वा अस्वतंत्रता का मुख्य अर्थ होता है अपने इरादों से बेखबर होना और स्वतंत्र होने का मतलब होता है अपने इरादों से अभिज्ञ होना।

३--अब हम उन तथ्यों के पुनरीक्षण से, कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिणाम निकाल सकते हैं जिन्हें स्वतंत्रता विषयक प्रत्येक व्याख्या का आधार बनाना है। (१) स्वतंत्रता जैसाकि लॉक ने 'ऑन पावर' नामक अपने उस प्रसिद्ध अध्याय में जिसे आंग्लदर्शन शास्त्र का एक शास्त्रीय विमर्श अब तक माना जाता है कहा है 'मानव की संपद है संकल्प की नहीं।' पृच्छा योग्य सही सवाल है 'क्या मैं स्वतंत्र हूँ' न कि 'क्या मेरा संकल्प स्वतंत्र है?' या यह कि 'क्या मैं स्वतंत्र संकल्पवान् हूँ।' जैसाकि ऊपर परिगणित तथ्यों से सिद्ध हैं 'स्वतंत्रता' और संकल्प एक ही गुणधर्म के यानी ज्ञेय तथ्यात्मक इस विश्व में जो वस्तु पहले हमारे निजी उद्देश्य के रूप में हमारे पास थी उसके क्रियान्वित करने के कार्य विषयक गुणधर्म के, नकारात्मक और सकारात्मक नाम हैं। जब मेरा बाह्य कार्य उपर्युक्त रूप में मेरे उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है तब उसे मेरा संकल्प कहा जाता है और उसी मामले में, और किसी अन्य मामले में नहीं मैं 'स्वतंत्र' होता हूँ। इस प्रकार 'संकल्प' कर सकना और स्वतंत्र होना एक ही बात है। ऐसा संकल्प जो स्वतंत्र नहीं है ऐसा संकल्प होगा जो किसी व्यक्ति के ज्ञेय या संवेद्य उद्देश्य या प्रयोजन का प्रत्याभिदर्शी न होगा। और इसीलिये वह संकल्प एकदम न होगा। अतः यह प्रश्न कि 'क्या हम स्वतंत्र हैं?' इस समतुल्य रूप में भी पूछा जा सकता है कि 'क्या

या दूसरों के बारे में फैसला सुनाते समय हम हमेशा इस बात को मान लेते हैं कि उत्तरदायित्व एक मात्रात्मक वस्तु है। इस विषय में श्री ब्रैडले का (माइण्ड, जुलाई, १९०२) पूर्वोद्धत लेख देखिये।

हम कभी भी कोई संकल्प कर सकते हैं ?' और इस रूप में पूछे गये इस प्रश्न का त्वरित उत्तर अनुभुति देगी, क्योंकि निश्चय ही हम प्रयोजनों की मानसिक सृष्टि किया करते हैं और अपनी गतिविधियों द्वारा इन उद्देश्यों का क्रियान्वयन या कार्य रूप में अनुवाद भी करते रहते हैं। अतः इसी लिये हम कह सकते हैं स्वतंत्रता निःसंदेह केवल उसी अर्थ में जिस अर्थ में वह वांछित है तात्कालिक अथवा अन्तरंग अनुभूति का एक तथ्य होती है।[1]

(२) यदि 'कार्य करने की स्वतंत्रता' के साथ-साथ हम संकल्प करने की स्वतंत्रता नामक शब्द को भी रखे रहना चाहते हैं तो उसका अत्यन्त विशिष्टार्थवाची होना आवश्यक है। स्पष्ट है कि न केवल मेरी बाह्य क्रिया-कलाप ही मेरे वर्तमान उद्देश्य का तथ्यानुवाद हो सकता है अपितु मेरा वर्तमान प्रयोजन स्वयं एक मानसिक घटना के रूप में, किसी पहले वाले प्रयोजन का तथ्यानुवाद हो सकता है। यान आयोजित आत्म-प्रशिक्षण और अनुशासन के सभी परिणामों के बारे में भी यही मामला ज्यादातर होता है और सब अधिकांश अभ्यासों के मामलों में किसी न्यूनतर मात्रा में। इस प्रकार उदाहरणार्थ वे अंग संचालन जिनके द्वारा मैं यह पंक्तियां लिख रहा हूँ मौजूदा अनुच्छेद के लिखने के पूर्व-कलिपत प्रयोजनों की अभिव्यक्ति हैं लेकिन स्वयं वह प्रयोजन भी मेरे इतिहास की एक घटना के रूप में तत्त्वमीमांसीय ग्रन्थ रचना के पूर्वतन प्रयोजन की एक तत्सदृश अभिव्यक्ति ही है। अतः एक वास्तविक अभिप्राय ऐसा है जिसके अनुसार हम लॉक के इस फतवे की आलोचना में लीब्निट्ज से सहमत हो सकते हैं कि हम काम करने के लिये तो स्वतंत्र हैं पर संकल्प के लिये स्वतंत्र नहीं हैं। चूँकि किसी प्रयोजन की मानस कल्पना स्वयं भी एक कार्य है और जिस मात्रा में वह पूर्वभूत प्रयोजन को वर्तमान विचारों और भावनाओं में अनुदित करता है उसी मात्रा में उस कार्य को 'स्वतंत्रतः' संकलिपत कहा जा सकता है।

(३) स्वातंत्र्य वास्तविक अनुभूति के अन्तर्गत, सदा सीमित होती है और

---

१. किन्तु यह बात अच्छी तरह से नोट कर लेने की है कि संकल्प जिन मानों में स्वतंत्रता का पर्याय है उन मानों में वह वस्तु भी जिसे कुछ लेखक जैसे ब्रैडले स्थायी संकल्प' नाम से पुकारते हैं—अर्थात् परिणामी परिवर्तनों के विचारों द्वारा मूलतः प्रारब्ध कृत्यों की शृंखला जिसका हम बिना शर्त अनुमोदन किया करते हैं। इस प्रकार की कृत्य शृंखला के वास्तविक क्रियान्वयन की अधिकांश स्थितियाँ ऐसी आभ्यासिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जो अपने स्वरूप में उनके विशिष्ट परिणाम के 'प्रत्यय' द्वारा उनके घटित होने की निर्णायिका स्थितवत् अनुगत नहीं होती। नैतिक स्वातन्त्र्य का क्षेत्र तब मनमानी तौर पर प्रतिबद्ध हो जाता है जब यह मान लिया जाता है कि स्वतंत्र कार्य की प्रत्येक स्थिति के लिये वास्तविक संकल्प अनिवार्य है।

उसकी अनेक श्रेणियाँ भी हो सकती हैं। पहली बात उन परिस्थितियों विषयक विचारों का तात्कालिक परिणाम है जो हमें अस्वतंत्र बनाती है। यदि पूर्णतः स्वतंत्र होने के अर्थ यह हों कि आपकी वाह्य क्रिया आपके आभ्यन्तर संगत उद्देश्य की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है तो तुरन्त ही हमारी समझ में यह बात आ सकती है कि सभी परिमित या सान्त जीवों की खातिर पूर्ण स्वतंत्रता एक अनन्त दूरवर्ती आदर्श है क्योंकि उसका अर्थ होता है (अ) मेरे उद्देश्यों की सिद्धि में अभिरुचि-वैचित्र्य से अथवा मेरे भीतर के असम्बद्ध-अभिरुचि संघर्ष से कोई बाधा नहीं पड़ती। (ब) न ही आभ्यासिक प्रतिक्रियाओं की स्थापना से जो लगभग इतनी यांत्रिक होती हैं कि विशिष्ट विमर्श द्वारा यदि उन्हें रोका न जाय तो वे अनवसराभिसंपातिनी होकर बार-बार नियत रूप से प्रत्यावृत्त होती रहती है। (स) न ही भौतिक जगत् में 'कार्य कर सकने अथवा उससे विरत रह सकने' की मेरी शक्ति के मेरे साथियों के कार्यों द्वारा अथवा प्रकृति 'पाशव' रूप द्वारा परिसीमन से कोई बाधा समुपस्थित होती है। अतः केवल ऐसी अनुभूति ही जो एकदम बाह्य और आभ्यन्तर संघर्षरहित है और जो अंशतः असम्बद्ध पर्यावरण है दूसरे शब्दों में केवल वह अनुभूति जो अपरिमित समग्र है—अपनी समस्त विवृत्तियोसमित पूर्णतः और निरपेक्षतया स्वतंत्र होती हैं। प्रयोजनात्मक ऐक्य के अभ्यान्तर राहित्य की संभावनाओं तथा प्रतियोगी प्रयोजन के साथ चलनेवाले वाह्य संघट्ट से जो दोनों ही हमारे सान्त जीवत्व से कभी पृथक् नहीं किये जा सकते, यह परिणाम ही निकलेगा कि हम पूर्णतया स्वतंत्र कभी नहीं होते। हमारी स्वतंत्रता सदा आंशिक अथवा सापेक्ष ही होती है।

और यह भी स्पष्ट ही है कि हमारी स्वतंत्रता की मात्रा भी हमारे प्रयोजनों और पर्यावरण के साथ उनके संबंधों के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। इस प्रकार की मात्राओं का बाहुल्य अनन्त होता है जो प्रत्यक्षतः प्रतिबन्धित गतिविषयक स्वतंत्रता के एकान्त अथवा एकान्तवत् अभाव से लेकर किसी सुयोजित और सुसंगत कार्य योजना के चेतन और व्यवस्थित क्रियान्वयन में रत किसी अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर सामाजिक दल या गुट के अन्य सदस्यों के हार्दिक सहयोग के मामले तक के क्षेत्र भर में फैला रहता है। स्वतंत्रता का इन श्रेणियों के प्रमुख विभेदों का कानून और नैतिकता हेतु जिनका बड़ा व्यावहारिक महत्व है, संकेत देना व्यवस्थित नीतिशास्त्र का काम है इसलिये यहाँ उनका संकेत देने का प्रयत्न नहीं करेंगे। हम इतना और कह दें कि हमारे अनुसंधान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी श्रेणी का सच्चा नैतिक स्वातंत्र्य ऐसा असंक्राम्य दाय नहीं है जिसे 'जन्म-घटना' मात्र के बल पर पा जाते हैं अपितु वह ऐसा संपद् है और एक प्रमुख तथा वास्तविक संपद् जिसे आत्मज्ञान तथा आत्म-संयम के दुधारे अनुशासनात्मक खांडे का प्रयोग करके जीता जाता है और जो उन कलाओं की तरफ से जिनकी सहायता से उसे पहले प्राप्त किया गया था उदासीन हो जाने पर जप्त भी हो जाती है। इसमें शक नहीं

कि किसी व्यक्ति के आनुवंशिक संस्कारों के कारण आत्म-नियंत्रण अथवा सामाजिक सहयोग का आचरण दूसरे की अपेक्षा किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिये ज्यादा आसान हो सकता है और हम कह सकते हैं कि उस हद तक कम या ज्यादा मात्रा की 'स्वातंत्र्य शक्ति' साथ लेकर पैदा हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के वस्तुतः मालिक होने के विषय में तो हम सबको ही कहना पड़ता है कि 'गहरे दाम चुकाना पड़ा इस आजादी के लिये मुझे।'

(४) और अन्त में नैतिकता विषयक तथ्यों की जांच के बल पर अब हम स्वतंत्रता की सही परिभाषा कर सकने लायक हो गये हैं। जैसाकि अभी हमने देखा, हम स्वतंत्र उस हद तक होते हैं ठीक जहां तक हमारी अनुभूति हमारे संगत और स्थायी हित या प्रयोजन का पूर्तरूप होती है और स्वतंत्रता भी 'संकल्प' के समान ही उस साध्यपरक ऐक्य की अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र है। विभिन्न विचलन- शील मात्राओं में जो ऐक्य सकल अनुभूति का एक अंग हुआ करता है। अतः हम तुरन्त देख सकते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ 'बुद्धिगम्य संबंधहीनता' नहीं है न 'निश्चय-मन-हीनता' अपितु उसका अर्थ जैसाकि इतने बहुत से आधुनिक दर्शनशास्त्रियों ने भी हमें बताया है—हम सान्त जीवों के लिये हैं आत्म निर्धारण। मैं तब अधिकतम स्वतंत्र होता हूँ जब मैं किसी तर्कसंगत और संबद्ध उद्देश्य की सिद्धि के लिये काम कर रहा होता हूँ, इसलिय नहीं कि तब मेरा चरित्र अथवा व्यवहार अनिर्धारित होता है; दूसरे शब्दों में इस-लिये नहीं चूँकि यह नहीं कहा जा सकता कि आगे में क्या करूँगा बल्कि इसलिये कि ऐसे ही अवसरों पर वह व्यवहार या चारित्र मेरे आन्तरिक प्रयोजनों या हितों के स्वरूप द्वारा साध्यपरक तरीके से पूर्णतया निर्धारित होता है—दूसरे शब्दों में मेरे स्वात्म के विधान द्वारा। मेरे कार्यरत प्रयोजन या उद्देश्य जितने ही चिरस्थायी और तार्किक-रूपेण संगत होते हैं उतना ही अधिक मैं भी स्वतंत्र होता हूँ क्योंकि तब मेरा समग्र स्वात्म अथवा तर्कानुसार संगत हितों की व्यवस्था ही, न कि दूसरों का आग्रह अथवा कोई ऐसी तात्कालिक भाव या आवेश जिसका अपने सच्चे स्वात्म का अंग होना मैं तुरन्त अस्वीकार कर सकता हूँ, मेरे बाह्य कार्यों अथवा मेरी दृश्य क्रियात्मकता द्वारा व्यक्त हो रही होती है और यदि किसी सान्त या परिमित जीव के लिये निरपेक्षतया स्वतंत्र हो सकना संभव होता, जैसाकि हम देख चुके हैं कि होना असंभव है, तो वह जीव, अपनी पूर्ण मुक्ति के क्षण में ही अन्तरतम में स्वयं ही पूर्णतया निर्धारित हो जाता, उसका सारा जीवन ही उसकी कार्य शृंखला द्वारा बाह्य दर्शक के लिये संगत् प्रयोजनों की एकल योजना का पूर्ण और व्यवस्थित व्यक्त रूप ग्रहण कर लेगा।

४—तब हमें दीखने लगता है कि नैतिकता से वस्तुतः अभिप्रेत इस प्रकार की यथार्थ और सीमित स्वतंत्रता गहन तत्वमीमांसा के नियमों के केवल अनुकूल ही नहीं हैं

अपितु वह उनकी वास्तविक माँग ही है। नैतिकता की ओर से यह माँग की जाती है कि मानव जीवों को तो कम से कम अंशतः ही ऐसे पूर्ण होना चाहिये जिनकी वाह्य क्रियाओं का वैयक्तिक प्रयोजनों की यथार्थ अभिव्यक्ति होना आवश्यक हो। तत्वमीमांसा की ओर से पहले ही जान चुके हैं कि ठीक यह साध्यपरक एकत्व यथार्थ किन्तु अपूर्ण ही प्रत्येक परिमित अनुभूति का सारभूत लक्षण है। अब हमें यह देखना है कि एक ऐसी समस्या जो अपने आप में तो बड़ी सीधी-सादी है हमें असाध्य कठिनाइयों तथा अनिश्चयवाद और निश्चयवाद की प्रतियोगिनी अनर्गलताओं में कैसे तब ला फँसाती है जब वह किसी प्रारम्भिक तत्वमीमांसीय द्वारा भ्रान्ति उन्मार्गगामिनी बना दी जाती है। दोनों ही प्रतियोगी सिद्धान्तों की प्रारम्भिक गलती केवल पूर्ववर्तियों के आधार पर घटनाओं के कारणताविषयक नियम के अनुसार दृढ़ यांत्रिक विधि द्वारा निर्धारण को तथ्य-वस्तु रूप में ग्रहण करने में ही है। उन दोनों का विभेद केवल उस सीमा की बाबत है जिस तक कि उपर्युक्त निर्धारण कार्यकारी रहता है। अनिश्चयवादी के अनुसार चेतन जीवों का कार्य निर्धारण के उस नियम का एकाकी अपवाद है, जो सारी ही विशुद्ध भौतिक प्रक्रियाओं के लिये एकदम वैध है। निश्चयवादी के अनुसार इस नियम के कोई अपवाद नहीं हैं और किसी व्यष्ट जीवन के अथवा इतिहास के गतिक्रम के विषयक में, सामान्य नियमों के आधार पर ग्रहण के पूर्व-निर्धारण की तरह भविष्यवाणी कर सकने की अपनी असमर्थता का उरीकरण हमें केवल इसीलिये करना पड़ता है क्योंकि एक तो आवश्यक दत्त बहुत अधिक उलझे हुए रहते हैं और दूसरे, गणितीय विधियाँ भी अस्थायी तौर पर अपूर्ण होती है।

यह नोट करने की बात है कि जीवन के वास्तविक तथ्यों के विषय में दोनों ही विचारधाराओं के अधिक गंभीर प्रतिनिधियों में कोई सारवान् मतभेद नहीं है। अनिश्चयवादी आमतौर पर यह मंजूर करता है कि व्यावहारिक रूप में जब आप किसी व्यक्ति के चरित्र को जानते हैं और उस पर जो प्रभाव डाला जाता है उसको भी, तब आप भरोसे के साथ बता सकते हैं कि वह किस तरीके पर अपने आपको चलायेगा। अगर आप ऐसा नहीं कर पाते तो सामाजिक संपर्क, शिक्षा और दण्ड व्यवस्था सभी असंभव हो जाँयगे। इसी प्रकार निश्चयवादी यह स्वीकार करता है कि मानवीय व्यवहार विषयक आपकी पूर्वोक्तियों पर पूरी तरह भरोसा कर लेना व्यावहारिक दृष्टि से एक साहसिक बात होगी और यह कि मानव जीवन में अप्रत्याशित अनेक बार घटित हुआ ही करता है। झगड़ा केवल लगभग सर्व-स्वीकृत तथ्यों की दार्शनिक व्याख्या के ही बारे में है। निश्चयवादियों की व्याख्यानुसार यदि किसी व्यक्ति की चरित्र विषयक सूचना आपको दे दी जाय और उसकी परिस्थितियों का ज्ञान भी आपको करा दिया जाय (और यह मान लिया जाता है कि इस

प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना सैद्धान्तिकतया सम्भव है) तथा उस मामले में आ पड़नेवाली गणितीय समस्याओं से भिड़ने लायक दक्षता भी यदि आप में हो तो आप पालने से लेकर कब्र तक के उसके व्यवहार की अस्खल परिशुद्धिपूर्वक पहले ही से गणना कर सकेंगे। अनिश्चयवादी के कथनानुसार आप ऐसा नहीं कर सकते और आपकी असफलता माने हुए दत्तों के प्राप्त करने की सैद्धान्तिक असंभाव्यता न होगी अपितु वह होगा उन दत्तों का अपर्याप्त होना। उसका कहना है कि हमारे व्यवहार का निर्धारण एकान्ततया 'चरित्र' और परिस्थितियों के मिथः क्रिया द्वारा ही नहीं होता; इन दोनों ही तत्वों के पूर्ण ज्ञान के बावजूद भी मानवीय-क्रिया अगणनीय इसलिये होती है क्योंकि हम 'अनवधानात्मक स्वतंत्र' 'संकल्प' के स्वामी हैं अर्थात् हम अपने चारित्रिक स्वरूप या गुणों को अथवा तद्नुकूल अनवधानपूर्वक कार्य करने की शक्ति रखते हैं। आप पहले से ही नहीं बता सकते कि कोई आदमी क्या करेगा क्योंकि उपर्युक्त दोनों विकल्पनात्मक तरीकों में से किसी तरीके से समान सुविधापूर्वक किन्हीं भी परिस्थितियों में काम करने की सामर्थ्य उसमें मौजूद होती है।

संक्षेप में दिखलाना चाहता हूँ कि निश्चयवादी का यह कथन सही है कि व्यवहार का पूर्णतया निर्धारण चरित्र यदि इस शब्द का व्यापक अर्थ लिया जाय —और परिस्थितियाँ किया करती हैं लेकिन उसका यह कथन गलत है कि इसी कारण अचूक पूर्वकथन सम्भव है। दूसरी ओर मैं यह भी दिखा देना चाहता हूँ कि इस प्रकार से पूर्वकथन की संभाव्यता से अनिश्चयवादी का इनकार करना ठीक है लेकिन इस इनकार का जो कारण वह बतलाता है वह ठीक नहीं। अचूक पूर्वकथन असंभव है लेकिन इसलिये नहीं कि पूर्वकथन के माने हुए दत्त इस प्रकार के होते हैं कि संभवतः आप उन्हें घटना से पहले ही नहीं, बाद ही पा सकेंगे। अन्त में यह बतलाना होगा कि दोनों ही त्रुटियाँ इसी झूठे तत्वमीमांसीय सिद्धान्त से पैदा होती हैं—कि कारणीय नियम वास्तविक तथ्यात्मक विवरण होता है।[1]

---

१. आगे जो कुछ लिखा गया है उससे तुलना कीजिए। ब्रैडले लिखित 'एथिकल स्टडीज' १, निबन्ध तथा उसके साथ के नोट से। निश्चयवादियों के कथन के गम्भीरता रूप के लिये देखिए। मिल कृत 'स्टडीज इन लाजिक', बुक ६, अध्याय २, विरोधीमत के सकारण विवरण को ढूँढ़ निकालना और भी कठिन है क्योंकि अधिकांश नैतिक दर्शन शास्त्रियों ने आत्मनिर्धारणता का सिद्धान्त अपना लिया है। पूर्ण अनिश्चयवादिता के समर्थनार्थ देखिए जेम्स कृत 'दि विल टु बिलीव' (एसे आन दि डिलेम्मा ऑफ डिटर्मिनिज्म)। अनिश्चयवादी विचारों के प्राफेसर सिजविक द्वारा किये वर्णन में, (उदाहरणार्थ उनके मृत्युपरान्त, छपे टी० एच०

५—**निश्चयवाद**—निश्चयवादियों का कहना है कि मानव का व्यवहार भी अन्य प्रक्रियाओं के समान पूर्ववर्तियों द्वारा ही बिना किसी विशेषता के निश्चयित अथवा निर्धारित होना चाहिये और यह पूर्ववर्ती (अ) चरित्र और (ब) बाह्य परिस्थितियों के ही होने चाहिये। क्योंकि (१) हमारे कार्यों के पूर्ववर्तियों द्वारा किये जाने वाले कारणीय निर्धारण से इनकार करने के माने हैं मनस्तत्त्वीय क्षेत्र में बुद्धिपरक अथवा तर्कनापरक सम्बन्ध की उपस्थिति से इनकार करना और इस तरह पर न केवल मनोविज्ञान को ही अपितु उन सभी विज्ञानों को भी जो मनस्तत्वीव घटनाओं को अपनी विचार सामग्री बनाकर उनके बीच तर्कसंगत संबंध ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं, सिद्धान्ततः असंभव घोषित करना है इस प्रकार मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र तथा इतिहास का अस्तित्व ही 'मानसिक दशाओं' में पर कारणीय निर्धारण के नियम की विनियोज्नियता सिद्ध करता है।

(२) यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम विचार करते हैं कि सारे ही विज्ञानों का काम ही 'नियमों' अथवा 'एकरूपताओं' का सूत्रीकरण है और यह कि नियमों का सूत्रीकरण इस नियम पर आधारित होता है कि 'एक सी ही परिस्थितियों में परिणाम भी एक के सा ही होता है' अर्थात् कारणीय निर्धारण के नियम पर।

(३) मनुष्यतत्वीय घटनाओं का निर्धारण यदि इस प्रकार नहीं होता तब मनोविज्ञान तथा अन्य सभी मानस-विज्ञान भी सामान्यतया, यांत्रिकीय भौतिक विज्ञानों के सामान्य नियमों के अनुकूल नहीं है।

(४) और असली बात तो यह है कि हम सब ही मान लिया करते हैं कि मनस्तत्वीय घटनाओं का कारणीय निर्धारण उनके पूर्ववर्तियों के आधार पर होता है। मनोविज्ञान में हमारा पूर्वग्रहण यह होता है कि हमारे चयनों का निर्धारण उन प्रेरक हेतुओं के बल पर हुआ करता है जिनके मध्य से हमें चयन करना होता है। अतः यदि आप जानते हैं कि किसी मनुष्य के चयनार्थ कौन-कौन से प्रेरक हेतु प्रस्तुत हैं और उन हेतुओं में से प्रत्येक की सापेक्षिक दृढ़ता भी आप जानते हैं तो निश्चयवादी के विचारानुसार उसके व्यवहार के बारे में पूर्वकथन कर सकना विघटित होकर एक विशुद्ध गणितीय समस्या मात्र जैसे कि किसी एक समीकरण अथवा समीकरण कुलक की सिद्धि मात्र रह जाता है। यह कि हमारे वर्तमान गणितीय साधन इस प्रकार के समीकरणों के निश्चित

ग्रीन के स्वातंत्र सिद्धान्त विषयक व्याख्यान में जो 'लेक्चर्स आन दि एथिक्स ऑफ ग्रीन स्पेन्सर एण्ड मार्टिनो', पृ० १५–२८) पर छपा है, अनिश्चयवाद मुझे इस बिन्दु पर पराजित-सा लगा।

हल के लिये उपयुक्त न हो सकेंगे यह कहना, उपर्युक्त दृष्टि से केवल एक स्थायी दोष है जो गणितीय विज्ञान की वर्तमान दशा का एक आनुषंगिक दोष है। सिद्धान्ततः समीकरणों का साध्य अथवा हल हो सकने योग्य होना अनिवार्य है अन्यथा मानव-क्रिया का कोई विज्ञान ही संभव नहीं।

(५) और व्यावहारिक जीवन में हम सब ही यह मान लिया करते हैं कि विशेष प्रकार की परिस्थितियों का सारी मानव जाति पर क्या प्रभाव पड़ेगा इस बात को पहले से ही काफी भरोसे के साथ बताया जा सकता है या जब आपके सामने सब आवश्यक दत्त मौजूद हों तब आप परिस्थितियों के किसी निर्धारित कुलक का किसी खास आदमी पर क्या असर पड़ेगा यह काफी इतमीनान के साथ बता सकते हैं। इसी लिये दण्ड के निरोधक प्रभाव विज्ञापन के प्रवर्तक दबाव आदि पर हम भरोसा रखा करते हैं और फिर जिस अनुपात में हम अपने मित्रों को वस्तुतः जानते हैं उसी अनुपात में अमुक अनागत परिस्थिति आने पर अमुक व्यक्ति का व्यवहार कैसा होगा इस प्रकार का पूर्व-कथन कर सकने लायक भी हम अपने आप को समझते हैं। तब फिर हम सिद्धान्ततः क्यों यह असंभव मान लें कि यदि पर्याप्त दत्त सामग्री मौजूद हो तो हम किसी मनुष्य अथवा समाज के समग्र जीवन क्रम की गणना ठीक उसी तरह पहले ही से कर सकते हैं जिस तरह से कि कोई ज्योतिष शास्त्री किसी ग्रह के पल-क्षणादि ज्ञात होने पर उसके गतिक्रम की पूर्व-गणना कर सकता है। यही प्रमुख प्रचलित वादोक्तियाँ हैं जिनके बल पर निश्चयवाद की प्रतिरक्षा हो जाती है। (दैवी भविष्य ज्ञान की निरपेक्षताविषयक, विशुद्ध धर्मशास्त्रीय विवादोक्ति पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं अतः उसका यहाँ हवाला देने का हमारा इरादा नहीं है)।

६—यह समझ सकना कठिन नहीं है कि इन सब विवादोक्तियों का तर्कशास्त्रानुसार कोई मूल्य नहीं है। स्वयं ही वे दो समूहों में विभक्त हैं। उनमें से एक समूह इस सामान्य दृष्टिकोण पर आधारित है कि सब युक्तियुक्त संबंध अथवा कम से कम वह ऐसा संबंध, जो हमारे ज्ञान के लिये सार्थक हो, यांत्रिक कारणीय अनुक्रम होता है और दूसरा मानस-विज्ञानों के अनुमानित वास्तविक अभ्यास की दुहाई मात्र। इनमें से पहले समूह को (१ से ३ संख्या तक की विवादोक्तियों) पहले लें। निःसंदेह यह सही नहीं है कि पूर्ववर्तियों के आधार पर कारणीय निर्धारण करना ही युक्तियुक्त संबंध का एकमात्र रूप है क्योंकि स्पष्ट रूप से संबंध का एक और उपलक्षक मौजूद है जिसे हम पहले ही मानस विज्ञानों का मूल पा चुके हैं यानी साध्यपरक संश्लिष्टता। और अपनी पूर्वगत खंडों से हम जान चुके हैं कि कोई भी साध्यपरक अथवा प्रायोजनिक शृंखला वस्तुतः यांत्रिकतया, अनुक्रम के एकरूप कारणीय नियमों द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती, यद्यपि भौतिक विज्ञानों के समान-विशिष्ट प्रयोजनों के हेतु इस प्रकार की शृंखला से इस तरह पर

व्यवहार करना अधिक सुविधाजनक रहता है मानो वह यांत्रिकतया निर्धारित हो। इस प्रकार की कार्यविधि का मानस विज्ञानों में भी वैध होना इस अन्य प्रश्न पर निर्भर है कि क्या मानस प्रक्रियाओं के अध्ययन विषयक हमारी रुचि इस प्रकार की है कि उसे अनेक निरपेक्ष एकरूपताओं अथवा अनुक्रमात्मक नियमों के सूत्रीकरण द्वारा तथा वास्तविक मानस जीवन के उन लक्षणों की जिनको यह नियम कुछ नहीं देखते, उपेक्षा द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता है या नहीं।

भौतिक विज्ञानों में, जैसाकि हमने देखा, यह यांत्रिक योजना केवल इसलिये वैध थी चूँकि वहाँ उपलक्षक प्रकार की भौतिक परिस्थितियों के काम लेने के सामान्य नियम तैयार करने का हमारा ऐसा मतलब मौजूद था जिसे ठोस तथ्य के उन सब पहलुओं की उपेक्षा द्वारा हल किया जा सकता था जिन्हें यह यांत्रिक योजना अपने में शामिल नहीं करती लेकिन हमने यह भी देखा था कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान में हमारा हित प्रधानतया (स्वेच्छ क्रिया के अध्ययन में एकान्तिकतया) दूसरी तरह का होता है। इन अनुसंधानों में हमारा हित या प्रयोजन था मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ऐसा साध्यवादी प्रतिदर्शन प्रस्तुत करना जो नीतिशास्त्र, इतिहास तथा उनसे सम्बद्ध अन्य अध्ययनों के शंसात्मक निर्णयों के लिये प्राप्तव्य हो सके। इस प्रकार मनस्तत्वीय जीवन के कुछ प्रयोजनों के हेतु, उसके साध्यपरक स्वरूप से अपाकृष्ट करके यांत्रिक अनुक्रमवत् व्यवहृत करने की संभावना को स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी वह अपाकर्षण विशिष्ट मानस विज्ञानों के हेतु घातक होगा और इसलिये उनके लिये वह अमान्य होता है। ऐसी साध्यपरक इकाई जिसके साध्यपरक इकाई रूप में ही हमारी रुचि है, हमारे सारे ही वैज्ञानिक क्रिया-विधान का मजाक उड़वाए विना, अपने साध्यपरक स्वरूप से अपाकृष्ट रूप में व्यवहृत नहीं हो सकती।

निश्चयवादियों की पहली वादोक्ति का उपर्युक्त उत्तर साथ ही साथ उनकी दूसरी वादोक्ति का भी निराकरण करता है। यह सही है कि ऐसा कोई भी विज्ञान जिसका एकान्त उद्देश्य 'नियमों' अथवा 'एकरूपताओं' का ढूँढ़ निकालना है कारणीय नियम के उरीकरण हेतु बाध्य है। उसे ठोस तथ्य के उन सब पक्षों की ओर से आँख मूँद लेनी होगी जिन्हें 'समान' अथवा 'एक सी परिस्थितियों' में 'एक से परिणाम' अथवा 'उन्हीं परिणाम' के यांत्रिक अनुक्रम में विघटित नहीं किया जा सकता। किन्तु जैसाकि हमने इस खंड के प्रथम अध्याय में देखा था मनोविज्ञान का अपने उन भागों को छोड़कर जो भविष्य के शरीर-क्रिया-विज्ञान के अस्थायी स्थानापन्न मात्र प्रतीत होते हैं, लाक्षणिक कार्य 'मानस क्रिया कलाप के नियम ढूँढ़ निकालना' नहीं है बल्कि उन प्रक्रियाओं की साध्यपरक एकता का जो व्यक्तिनिष्ठ हितों की अभिव्यक्ति हैं एक सर्वसामान्य और संक्षिप्त रूप में पुनः प्रस्तुत करना है। अतः मनोविज्ञान के श्रेष्ठतम

उपलक्षक भागों का आधार यांत्रिक विज्ञान की कारणीय अभिधारणाएँ नहीं होतीं अपितु वे साध्यपरक सातत्य की कल्पना पर ही आधारित होते हैं।

अतः निश्चयवादी की तीसरी विवादोक्ति के प्रति हमारा उत्तर यह है कि हम इस आरोप की सत्यता स्वीकार करते हैं कि मनोविज्ञान तथा वे सभी अधिक द्रव्यात्मक मानस विज्ञान जो मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद का उपयोग किया करते हैं, और मानस प्रक्रियाओं को सारतः साध्यपरक समझते हैं, अपने इसी दृष्टिकोण के कारण यांत्रिक अभिधारणाओं के अनुकूल तब न हो सकेंगे—जब वे अभिधारणाएँ मानस विज्ञान की शासक नियम या सिद्धान्त बनकर उसमें प्रवेश पाने का दावा करने लगेंगी। हम स्वीकार नहीं करते कि इस रूप में उन्हें मान्यता पाने का कोई अधिकार है। चूँकि हमें मालूम है कि वे हमारे दत्तों में से उस सबको जो साध्यपरक है निकाल बाहर करने की नियमावली मात्र हैं। इसलिए यांत्रिक अभिधारणाओं की मनोवैज्ञानिक वैधता केवल उस सीमा तक ही है जहाँ तक कि मनोविज्ञान यांत्रिक निष्कर्षों का इच्छुक है। वह सीमा कहाँ तक है, यह हम इस खंड के प्रथम दो अध्यायों में जान चुके हैं और हम पा चुके हैं कि प्रायोजनिक क्रिया का समारंभ ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसे मनोविज्ञान सफलतापूर्वक यांत्रिक मान सके।

७—अब जब हम निश्चयवादियों की मानस-विज्ञान विषयक ताथ्यिक क्रिया-विधि सम्बन्धी विवादोक्तियों की ओर मुड़ते हैं तो निम्नलिखित टिप्पणियाँ देनी होती हैं। (१) 'प्रेरकों' के मनोविज्ञान द्वारा चयन के निर्धारक पूर्ववर्ती माने जाने विषयक विवादोक्ति के बारे में हमारा कहना है कि अत्यधिक पुरुषयुक्त शब्द 'प्रेरक' में आप जिस बात के माने पिरोना चाहते हैं तद्नुसार ही वह विवादोक्ति या तो थोथी लकीर पीटती है या विरोधाभास है। चयन का निर्धारण कारणीयतया 'प्रबलतम प्रेरकों' द्वारा होता है। पर इसके माने क्या हैं? यदि 'प्रबलतम प्रेरक' का सीधा सादा मतलब उस कार्य प्रणाली या दिशा से हो जिसे वस्तुतः हम चुन लेते हैं तो विवादोक्ति का सीधा पर असंगत अर्थ यह हो जाता है कि हम उसे ही चुनते हैं जिसे हम चुनते हैं और किसी को नहीं। किन्तु यदि 'प्रेरकों' को ऐसे पूर्ववर्ती माना जाय जो अपनी शक्ति के अनुपात से चयन का कारणीय निर्धारण करते हैं, उसी तरह जिस तरह कि अमूर्त यांत्रिकी में यांत्रिक 'शक्तियाँ' किसी कण का पथ निर्धारण किया करती हैं, तो हमें विविध 'प्रेरकों' की शक्ति को, किसी आकर्षक पिण्ड के द्रव्यमान के समान पूर्वतः स्थिर, तथा उनके द्वारा निर्धार्य चयन से स्वतन्त्र मानना होगा। दूसरे शब्दों में, निश्चयवादी विवादोक्ति यह मान लेने के लिए प्रेरित करती है कि क्रिया की वैकल्पिक संभावनाएँ अपने चयनकर्त्ता के साथ अपने सम्बन्ध से व्यतिरिक्त 'प्रेरक' पहले ही से होती हैं और इसके अतिरिक्त चयनकर्त्ता के 'चरित्र' अथवा प्रयोजन की स्वतन्त्रता में उनकी वह

'शक्ति' निहित रहती है जो किसी अवोध्य तरीके पर किसी ऐसी अज्ञात वस्तु की वृत्ति हुआ करती है जिसके विषय में यह बता सकना आसान नहीं है कि वह वस्तु क्या है यद्यपि उसे जानना निश्चयवादी के लिए अनिवार्य है। और यह सब कथन सिवा बकवास के और कुछ नहीं। विकल्प स्वयं 'प्रेरक' नहीं हुआ करता। वह तो तभी प्रेरक रूप हो सकता है जब किसी कर्त्ता के पहले से वर्तमान किन्तु अस्पष्ट प्रयोजन या लक्ष्य का वह सापेक्ष हो और वह 'प्रबल' अथवा 'निर्बल' प्रेरक है इसका निर्णय भी उसी तरह कर्ता के प्रयोजन के स्वरूप पर निर्भर होता है। द्रव्यकण जिस प्रकार अपने अपने द्रव्यमान के अनुपात से अन्य द्रव्य-कणों को आकर्षित किया करते हैं उसी प्रकार प्रेरकों के विषय में भी यह कल्पना करने का प्रयत्न करना कि वे भी अपनी अन्तर्हित 'शक्ति' के द्वारा मन पर क्रिया किया करते हैं एक ऐसी आँख को चुभने वाली अनर्गलता है कि उसे नंगा करने के लिए उसे उसके खुले रूप में लिख देना भर ही पर्याप्त है।

और (२) विशिष्ट मामलों में, कौन कैसा व्यवहार करेगा इस बात का पूर्व-कथन संभव है या नहीं, इस बारे में भी निश्चयवादियों का अभिमत अनर्गलतापूर्ण है। हम अपने तृतीय खंड में देख चुके हैं कि वैयक्तिक मामलों में कौन कैसा व्यवहार करेगा इस गतिक्रम का अचूक पूर्वकथन कभी भी संभव नहीं होता। यांत्रिक परिगणन और पूर्वकथन हमने भौतिक विज्ञानों में ही संभाव्य इसलिए पाया था क्योंकि उन विज्ञानों का काम प्रक्रियाओं के इतने विशाल समूहों के औसत स्वरूप से रहता है कि वे उनकी व्यष्ट विवृत्तियों का पता लगाने के चक्कर में कभी नहीं पड़ते। हमने इसके साथ ही 'कारणीय नियमों' की सहायता से मानव व्यवहार के विश्वास्य पूर्वकथन को भी उसी श्रेणी का पाया था। आपकी एकरूपताएँ तभी तक सही पायी जा सकती हैं जब तक वे अपने आपको, उन सांख्यकीय माध्यों से अधिक और कुछ नहीं बतातीं, जिन्हें, उनके निर्मायक विशिष्ट विषयों की व्यष्ट विशेषताओं की उपेक्षा करके प्राप्त किया जाता है। किन्तु व्यष्ट चरित्र और प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर किसी व्यष्ट व्यक्ति के व्यवहार के बारे में भरोसे के साथ किया गया आपका पूर्वकथन उचित नहीं माना जा सकता।

अतः निश्चयवादी जब यह कहता है कि 'अगर आप किसी आदमी के चरित्र से और उसकी परिस्थितियों से अवगत हैं तो आप उसके व्यवहार का भरोसे के साथ पूर्व-कथन कर सकते हैं' तब उसकी दृष्टि में उपर्युक्त प्रकार का व्यष्ट परिचय नहीं होता। उसका मतलब तब यह होता है कि किसी व्यष्ट पुरुष का 'चरित्र' किन्हीं अनेक सामान्य सूत्रों में विघटित किया जा सकता है, यानी 'मानस-क्रिया-विषयक नियमों' में और इन नियमों को केवल एक साथ मिलाकर तर्कशास्त्रानुसार आप उसका व्यवहार

निगमित कर सकते हैं। यह पूर्वग्रहण किस कदर अतार्किक है यह देखने के लिए हमें सिर्फ इतना ही पूछना होगा कि उसी चरित्र शब्द का यथार्थ मतलब क्या है जिसे हम अपने अनुमित परिगणन के लिए प्रदत्त तत्वों में से अन्यतम मानते हैं। यदि उसका मतलब हमारी उन समग्र जन्मजात 'प्रवृत्तियों' से हो जिन्हें साथ लेकर हम पैदा होते हैं तो इस कठिनाई के अतिरिक्त कि इस 'प्रवृत्ति' शब्द के यथार्थ माने आप क्या समझते हैं—भी निश्चयवादी का कथन निकटतया तक सत्य नहीं है। क्योंकि (अ) यद्यपि यह सही हो सकता है कि किसी दी हुई स्थिति में उसका व्यवहार उसके 'चरित्र' को व्यक्त करे फिर भी 'चरित्र' वही चीज कभी नहीं हो सकती जो 'सहजात प्रवृत्ति' है। प्रवृत्ति तो चरित्र का कच्चा माल है और चरित्र प्रवृत्ति से, परिस्थिति के प्रभाव, हमारे सामाजिक वृत्त की शिक्षा विषयक क्रिया-शीलता तथा स्वयं हमारे आत्म नियंत्रण या आत्मानुशासन द्वारा निरूपित होता है। और इस प्रकार निरूपित हो जाने पर भी चरित्र ऐसी कोई स्थिर और अपरिवर्तनशील मात्रा नहीं हो जाती कि जो किसी व्यक्ति के विकास को किसी युग पर एक बार दे दी जाया करती हो और जो उस युग के बाद से सतत बनी रहती हो। सैद्धान्तिक तथा स्वयं ही चरित्र व्यक्ति के जीवन भर लगातार बना ही करता है। और व्यक्तिगत गहरे ताल्लुकात की वजह से भले ही आपको यह लगता हो कि जीवन के किसी विशेष अवसर के बाद 'चरित्र' में कोई गहरा परिवर्तन नहीं आ सकता तो भी यह विश्वास कभी भी 'नैतिक' निश्चय का रूप धारण नहीं कर सकता और वैयक्तिक जान-पहचान के बल पर ही उसका औचित्य माना जा सकता है अन्य किसी आधार पर नहीं।

(ब) अब दूसरी विवादोक्ति को लेते हैं। व्यावहारिक रूप से असम होते हुए भी, यदि आप सर्वज्ञ के ज्ञान के समान किसी व्यक्ति के चरित्र को जानते हो तो आप उसके जीवन के प्रत्येक कार्य को भी अवश्य जानते ही होंगे। क्योंकि उसका 'चरित्र' उन हितों और प्रयोजनों की, जिनकी अभिव्यक्ति उस व्यक्ति के बाह्य क्रिया-कलाप द्वारा होती है, व्यवस्था मात्र है। अतः उसे पूरी तरह जानने के माने होंगे उन्हें भी पूरी तरह जानना। किन्तु जिस बात को निश्चयवादी नियतवादी हमेशा आँख ओझल कर जाता है वह यह है कि आपको किसी व्यक्ति के 'चरित्र' का ज्ञान संभवतः तब तक नहीं हो सकता जब तक आप पहले ही से उसके सारे जीवन से परिचित न हों। इसलिए चरित्र पहले ही अगाऊ तौर पर दिए गए ऐसे दत्त के रूप में आपको ज्ञात नहीं हो सकता जिसके द्वारा आप गणितीय परिशुद्धतापूर्वक, विचाराधीन व्यक्ति के तब तक अज्ञात भावी कार्यों की गणना कर सकें क्योंकि जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'चरित्र' वस्तुतः वहाँ ऐसे दत्त तथ्य के रूप में मौजूद नहीं होता जो आपको उसके निर्माता कार्यों से पहले प्राप्त हुआ हो। अपने श्रेष्ठतम रूप में आपके दत्त, बहुसंख्यक 'चित्त-वृत्तियों' या प्रवृत्तियों से अधिक और कुछ नहीं हो सकते और ऐसे दत्तों के आधार पर

किया गया पूर्वकथन कभी अचूक इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि पहले तो चित्त-वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ ही स्वयं वास्तविक स्थिर आदतों के रूप में सदा विकसित नहीं होतीं और दूसरे यह कि 'प्रवृत्तियाँ' सुषुप्त बनी रह सकती हैं और बहुधा सुषुप्त रहती ही हैं और इस रूप में वे अपूर्ण रहती हैं तथा ऐसी परिस्थिति जब तक न खड़ी हो जो उन्हें जगा देने के उपयुक्त हों वे सुषुप्त प्रवृत्तियाँ ध्यान में आने से चूक भी जाती हैं। अतः यदि यह सच भी हो कि किसी आदमी की प्रवृत्तियों के प्रारंभिक या मौलिक जखीरे या संग्रह के पूर्ण ज्ञान द्वारा आप उसके चरित्र का अन्दाज शुरू से लगा सकते हैं, तो भी इस बात का निश्चित होना कि उसकी 'प्रवृत्तियों' के बारे में आपका ज्ञान पूर्ण था——असंभव होगा।

अतः यदि 'मानव-स्वभाव विषयक विज्ञान' के वास्तविक अर्थ मानव-व्यवहार का उसके मूल तत्वों से पूर्णतः परिगणन कर सकना होता हो तो हमें यह मानना पड़ेगा कि ऐसा विज्ञान न तो अभी तक कोई है और न हो ही सकता है। किन्तु तथ्यरूपतः जब हम कहते हैं कि 'मानव-प्रकृति विज्ञान' अथवा 'मानव-स्वभाव विज्ञान' संभव हैं या नहीं अथवा यह कि वह पहले से आंशिक रूप में विद्यमान है, तब उसका मतलब कुछ और ही होता है। तब हमारा मतलब या तो ऐसे वैयक्तिक मनोविज्ञान से होता है या सामाजिक मनोविज्ञान से जो साध्यवादी प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप का अनुनिदर्शन करानेवाला अमूर्त प्रतीकवाद है, अथवा इतिहास से जो घटना के बाद मानवीय क्रिया के संगत प्रयोजन के निग्रह करता है अथवा नीतिशास्त्र और राजनीति से जो अर्हता के आदर्श मापदण्ड द्वारा उपर्युक्त प्रयोजन की प्रशंसा करते हैं। इन उपर्युक्त विज्ञानों में से किसी ने भी कभी, सामान्य नियमों की सहायता से मानव जीवन की गणना, घटित होने से पहले नहीं की। भविष्य विषयक जो पूर्वोक्तियाँ हम बौद्धिक विश्वासपूर्वक किया करते हैं वे जिस किसी भी कीमत की क्यों न हों, स्पष्टतया हमारे अपने अथवा दूसरों के ठोस अनुभव पर ही आधारित हुआ करती है न कि मानव मन की काल्पनिक यांत्रिकी के नियमों पर।

८——**अनिश्चयवाद** :——अनिश्चयवादी विरोधाभासों का विवेचन हम संक्षेप में ही करेंगे। ऐसा करना इसलिए भी अधिक संभव है चूँकि अनिश्चयवाद, यद्यपि लोकप्रिय सुशीलीकरण के कार्य में अधिक तथा प्रचलित होने पर भी, आजतक अपने प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त जैसी, वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ताओं के मान्य अभिमत जैसी स्थिति प्राप्त नहीं कर सका। अनिश्चयवादी की स्थिति का सार, आत्मनिर्धारण सिद्धान्त द्वारा तथा अबौद्धिक विपर्यास रूप में, निश्चयवादियों के इस सिद्धान्त द्वारा समान रूप से दृढ़ीकृत नियम के निषेध में निहित है, कि व्यवहार चरित्र की परिस्थितियों पर हुई प्रतिक्रिया का परिणाम है। यह देखते हुए कि यदि, समग्र मानवीय क्रिया-

कलाप का यान्त्रिकतया पूर्व निर्धारण उसके पूर्ववर्तियों द्वारा ही होता है। और इसीलिए सिद्धान्त रूप से उसे उसके तत्त्वों या कारकों से नियमित किया जा सकता है। सच्ची नैतिक स्वतन्त्रता की कोई संभावना ही नहीं रहती और यह न देखते हुए कि सच्ची नैतिक स्वतन्त्रता का सार, यांत्रिक निर्धारण के विरुद्ध साध्यपरक होता है, अनिश्चय-वादी अपने आपको इस दृढ़ कथन के लिए बाध्य पाता है कि अन्ततोगत्वा मानवीय क्रिया-कलाप मानवीय चरित्र द्वारा भी नहीं निर्धारित होता। मानवीय स्वभाव में 'अनव-धानता का स्वतन्त्र संकल्प' ऐसा निहित होता है कि जिसके कारण किसी मनुष्य के कार्य-कलाप, कम से कम वे तो अवश्य ही जिनके विषय में वह नैतिक रूप से 'उत्तरदायी' हो इस माने में कि वह उसके चरित्र पर निर्भर नहीं होता स्वतन्त्र होता है।

इस अभिमतानुसार स्वतन्त्रता, दोनों विकल्पों पर ध्यान दिए बिना ही उनमें से किसी एक को अपना लेने की सामर्थ्य निहित होती है। जब तक उनमें से एक विकल्प आपके लिए निषिद्ध रहता है। (चाहे वह आपके अपने चरित्र के कारण हो या बाह्य परिस्थितियों के कारण, अनिश्चयवादी के लिए दोनों ही बराबर हैं) तब तक आप स्वतन्त्र नहीं हैं न आप नैतिकतः प्रिय तथा उत्तरदायी जीव की तरह काम कर रहे होते हैं। आप अपने प्रयोजन अथवा उद्देश्य के अनुसरणार्थ तब ही स्वतन्त्र रूप से काम कर रहे होते हैं जब आप उससे एकदम विपरीत उद्देश्य का भी बराबरी से अनुसरण कर सकते हैं। इस सामान्य विवादोक्ति के कि पूर्ववर्तियों द्वारा निर्धारण नैतिक उत्तरदायित्व से मेल नहीं खाता, अतिरिक्त जिन अन्य विवादोक्तियों द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि की जाती है वे मुख्यतः अव्यवहृत भावना पर निर्भर होती है। अतः हमसे कहा जाता है कि (१) जब हम अपने चुनाव के आधार पर काम करते हैं न कि किसी बाध्यता के वश होकर तब हममें यह तात्कालिक भावना जाग्रत रहती है कि अगर हम चाहें तो इससे उल्टा काम भी इसी स्वच्छन्दतापूर्वक कर सकते हैं और (२) यह कि यह एक प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि प्रलोभन का प्रतिरोध करते समय हम अधिकतर-प्रतिरोध पथ के अनुसार ही काम कर सकते ही नहीं किया भी करते हैं और यह कि इसीलिए संकल्प का निर्धारण 'प्रेरकों' पर निर्भर नहीं होता।

तथाकथित तथ्यों की ताथ्यिकता का विशद विवेचन, निश्चय ही मनोविज्ञान की वस्तु है और उस विवाद में मैं यहाँ नहीं फँसना चाहता। लेकिन यह साफ हो जाना चाहिए कि अगर हम मान भी लें कि तथ्य ठीक वैसे ही होते हैं जैसाकि अनिश्चयवादी उन्हें बताता है तो भी जिन निष्कर्षों को वह उन तथ्यों पर आधारित करता है, वे उचित नहीं ठहरते, इस तरह पर (१) निःसन्देह यह सही है कि किसी कार्यक्रम का निश्चय करते समय प्रायः मुझे पता होता है कि अगर मैं चाहूँ तो दूसरे तरीके पर भी काम कर सकता हूँ। लेकिन इस शर्तिया जुमले की—इन प्रतिबन्धात्मक पद-विन्यास की, वर्तमानता ही

साध्यपरक निश्चयन और एकान्त अनिश्चयन के भेद की जननी है। उदाहरण के लिए इस बात का पता होना कि मैं जीवन भर के अभ्यासों अथवा आदतों का उल्लंघन कर सकता हूँ, जिन अपराधों से मैं घृणा करता हूँ वे ही अपराध मैं कर सकता हूँ और जिन उद्देश्यों या प्रयोजनों का मैं अधिकतम भक्त हूँ उनकी तरफ आँख उठाकर देखना तक छोड़ सकता हूँ, अनुभूतिगत यथार्थ तथ्य नहीं है। मैं यह सब कुछ कर सकता हूँ 'अगर मैं चाहूँ तब', लेकिन ऐसा चाहने से पहले मुझे एक भिन्न व्यक्ति बनना होगा। जब तक मैं वही आदमी रहता हूँ जो मैं हूँ तब तक यह मान लेना कि मैं उन उद्देश्यों को जिनसे मेरे व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है अथवा तद्विपरीत उद्देश्यों को अनवधानतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता हूँ, एक स्पष्ट अनर्गलता है।

(२) प्रलोभनों के सफल प्रतिरोध पर आधारित वादोक्ति भी इसी तरह का विरोधाभास है। हम पहले ही देख चुके हैं कि निश्चयवाद का वह पूर्वग्रहण जिसके विरुद्ध उक्त वादोक्ति पेश की जाती है अर्थात् व्यवहार का यांत्रियकतया निर्धारण 'प्रेरकों' की अंतर्हित शक्ति द्वारा होता है, स्वयं ही अर्थहीन है। 'प्रेरक' अगर वे कुछ चीज़ हैं भी तो, उन हितों का ही दूसरा नाम है, जिनसे मिलकर हमारा 'चरित्र' बनता है। न कि वे प्रभाव जो उस चरित्र को प्रभावित करें, इसलिए उनकी आपेक्षिक अथवा संबद्ध 'शक्ति' चरित्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं होती अपितु स्वयं व्यष्ट चरित्र की संरचना की ही एक नयी अभिव्यक्ति है। किन्तु अनिश्चयवाद की विपरीत वादोक्ति भी समान रूप से अर्थहीन ठहरती है। प्रलोभन पर विजय पाने का 'अधिकतम प्रतिरोध का मार्ग' बनना ठीक उसी तरह की यान्त्रिक सदृशता का उपयोग करना है जिसका प्रयोग निश्चयवादी 'प्रेरक' की पूर्ववर्तिनी 'शक्ति' की बात करते समय किया करता है। वस्तुतः अनिश्चयवादी को वादोक्ति की केवल दो ही व्याख्याएँ संभव हो सकती हैं और उनमें से कोई भी उसके निष्कर्ष की पुष्टि नहीं करती। जिस 'प्रतिरोध' के वह बात करता है उसे कार्य करने की प्रेरण का प्रतिरोध कर सकने में प्राप्त वास्तविक सफलता के मापदण्ड से मापना चाहिए और उस हालत में यह बात ही कि हम प्रलोभन के वश में नहीं आते, जाहिर करती है कि हमारे लिए प्रलोभन के वश में हो जाना ही 'अधिकतम प्रतिरोध का मार्ग' होता, अथवा 'प्रतिरोध' का माप उस सीमा के आधार पर होना चाहिए जिस सीमा तक कि परित्यक्त विकल्प, परित्याग के पश्चात् भी एक मानसिक तथ्य के रूप में लगातार वर्तमान रहता है। उस हालत में उस तथाकथित अनुभूति का मतलब इतना ही होता है कि अपने प्रशिक्षण अथवा हार्दिक विश्वास के वश ऐसे सुझावों पर मनस्तत्वीय तथ्यों के रूप में जो इतने शक्तिशाली होते हैं कि हमारे अस्वीकरण के बाद भी हमारे मन पर छाए रहते हैं, अमल करने से इनकार कर सकते हैं और कभी कभी वस्तुतः कर भी देते हैं। और मनोरंजक तथा सुझावपूर्ण होने पर भी यह ऐसा कोई

विशेष कारण नहीं कि जिसके आधार पर हमारे व्यवहार के साध्यपरक निर्धारण की बात का निषेध होता हो।

अनिश्चयवाद के विरुद्ध तत्त्वमीमांसा का वास्तविक आक्षेप यह नहीं है कि वह एक अप्रमाण्य तथा अनावश्यक प्राकल्पना है बल्कि यह कि उसमें मानवीय क्रिया-कलापों के बीच तर्कसंगत संबन्धों के अस्तित्व का निषेध शामिल है। अपनी इस घोषणा द्वारा कि चरित्र व्यवहार का निर्धारण द्वारा नहीं करता वह आभासतः यह कहना चाहता है कि काकतालीयता ही अन्तिमेत्थतया निर्णय करती प्रतीत होती है किसी विशिष्ट मामले में हम किस तरह से व्यवहार करेंगे। और काकतालीयता, यौक्तिक अथवा तर्क-संगत सम्बन्धों के अभाव का ही दूसरा नाम है। उदाहरणतः यह बात विविध अनुभवा-धारित विज्ञानों में किए जाने वाले काकतालीयता के उपयोग पर बहुत कुछ निर्भर होती है। अतः जब मैं कहता हूँ कि यह संयोग की बात है कि मैं ताशों की गड्डी में से कौन सा पत्ता खींचूँगा तो मेरा मतलब होता है कि परिणाम अंशतः उन परिस्थितियों पर निर्भर है जिन्हें मैं नहीं जानता और इसी लिए जिन्हें मैं किसी एक या दूसरे परिणाम के पक्ष में निर्णय करने का साधन नहीं बना सकता। मेरा मतलब निःसन्देह यह नहीं होता कि परिणाम सकारण ही नहीं अथवा यह कि यदि परिस्थितियों का पर्याप्त ज्ञान मुझे होता तो उसकी पूर्वगणना संभव नहीं हो सकती थी पर मेरा मतलब इतना ही है कि विशेषतः मुझे ही इतना पर्याप्त ज्ञान नहीं है। अतः मौजूदा हालात में परिस्थितियों का यथार्थ ज्ञान न होने के सापेक्ष अर्थों में संयोग का स्वीकरण सकल विचारणा के मूलभूत इस स्वयं सिद्ध नियम के विरुद्ध नहीं बैठता कि सकल अस्तित्व एक यौक्तिक इकाई है या किसी तरह की योजना। वस्तुतः चूँकि हम कभी भी किसी चीज की 'परिस्थितियों की समग्रता' नहीं जान सकते इसलिए यह कहना सही होगा कि इस सापेक्ष भावानुसार सभी विशिष्ट ताथ्यिकताओं में काकतालीयता का कुछ न कुछ अंश अवश्य होता है।

किन्तु अनिर्धारित स्वतन्त्र संकल्प का सिद्धान्त जिस प्रकार के निरपेक्ष संयोग का पृष्ठपोषण करता है उसका मतलब होगा इस प्रकार के संकल्प से उत्पन्न बताए जाने वाले तथ्यों के जैसे तैसे यौक्तिक सम्बन्ध का अभाव मात्र। इसीलिए तो अनिश्चयवादी अभिमत भी हमें अन्त में ठीक निश्चयवाद की सी तत्त्वमीमांसीय अन-र्गलता तक पहुँचा देता है। जिस प्रकार के युक्ति युक्त सम्बन्ध की पूर्वकल्पना तब की जाती है जब हम किसी कर्त्ता की उसके व्यवहार के लिए प्रशंसा या निन्दा करते हैं, उस तरह के सम्बन्ध को जो साध्यवादी निर्धारण का ही पर्याय है, न देख पाने के कारण दोनों ही उपर्युक्त अभिमत (निश्चयवादी तथा अनिश्चयवादी) अन्त में मानवीय क्रियाओं के अन्तःसम्बन्ध अथवा मिथः सम्बन्ध से इनकार करने लगते हैं। उनमें से एक अभिमत उसकी जगह निष्प्रयोजन यान्त्रिकीय 'आवश्यकता' की कपोल कल्पना को ला बिठाता

है। और दूसरा 'अन्धी काकतालीयता' जैसी उसी तरह की कपोल कल्पना को। और ये दोनों ही कपोल कल्पनाएं विभिन्न नामों से पुकारी जानेवाली एक ही वस्तु हैं। क्योंकि निश्चित सूचना का जो भी थोड़ा सा अंश या तो इस दृढ़कथन से प्राप्त किया जा सकता है, कि मानवीय व्यवहार यान्त्रिकरूपेण निर्धारित होता है अथवा इस कथन से कि यह व्यवहार संयोगजन्य होता है, वह यह निष्कर्ष मात्र है कि इन दोनों ही मामलों में वह अंशसंगत उद्देश्य को व्यक्त नहीं करता।

९—इस प्रकार स्पष्ट है कि अनिश्चयवाद ठीक अपने प्रतिपक्षी की तरह ही नैतिक दायित्व का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं बता पाता। सही है कि मैं उन कार्यों के लिए जो पूर्ववर्तियों की यान्त्रिक व्यवस्था के परिणाम हों, जिम्मेदार या 'उत्तरदायी' नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि यह कार्य मेरे स्वात्मीय प्रयोजनों से उत्पन्न नहीं होते इसलिए किन्हीं भी सही मानों में मेरे कार्य नहीं होते। किन्तु यही बात बराबर से अनिर्धारित स्वतन्त्र संकल्प के परिणामों के बारे में सही उतरेगी। यतः उन परिणामों का अस्तित्व मेरे प्रयोजन या उद्देश्य पर आधारित नहीं होता इसलिए किसी भी सही माने में वे परिणाम मेरी क्रियाएँ नहीं होतीं और उनके अज्ञात स्रोत को 'स्वतन्त्र संकल्प' संज्ञा देना उपर्युक्त निष्कर्ष को दूर करने की जगह छद्मवेश में प्रस्तुत कर देना मात्र है। उन्हीं कार्यों का सम्बन्ध मेरा कहकर मेरे साथ जोड़ा जा सकता है जो चरित्र से उत्पन्न हों तथा मेरे वैयक्तिक हितों को व्यक्त करते हों और उन्हीं को मेरी स्वात्म-निंदा में नैतिक अनुमोदन का आधार बनाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने अपने मार्गों के विच्छेद-बिन्दु में अन्तर्हित उभय-सामान्य गलती के कारण ही निश्चयवादी तथा अनिश्चयवादी दोनों बराबर से असंभव निष्कर्षों पर जा पहुँचते हैं। दोनों ही इस असत्य पूर्वग्रहण को लेकर चलते हैं कि किसी घटना का उसके पूर्ववर्तियों द्वारा कारणीय निर्धारण ही,—जिसे हमने अपनी पहले वाले खंडों में ऐसी अभिधारणा पाया था जो अन्तोगत्वा वास्तविकता या सत के अनुकूल नहीं होती, किन्तु उसी सीमा तक अनुज्ञाप्य होती है जहाँ तक वह हमें घटनाओं को उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित समझते हुए उपयोगी परिणाम प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करती है—मूर्त अस्तित्व के लक्षण के रूप में, अन्तिमेत्थतया वास्तविक है। शुरू से ही इस प्रकार परिवर्तनशील संसार की अपनी धारणा से यथार्थ साध्यवादी निर्धारण का बहिष्कार कर देने के कारण ही दोनों ही सिद्धान्तवादी उन मनस्तत्वीय प्रक्रियाओं को जिनके साध्यवादी पदार्थ अपरिहार्य होते हैं, सही तौर पर समझ नहीं पाते।

उन सिद्धान्तों के अनुसार, जो निर्धारण को विशुद्धतया यान्त्रिक मानते हैं, वे कारक जो स्पष्टतया व्यवहार की निर्धारक परिस्थितियाँ या शर्तें हैं, अर्थात् चरित्र तथा कार्य की वैकल्पिक संभाव्यताएँ, अनिवार्य रूप से ही तद्जनित कार्य के कालीय पूर्ववर्ती

माने जाने लगते हैं। और जहाँ एक बार चरित्र के बारे में यह धारणा बन जाती है कि वह एक ऐसी पहले से वर्तमान सामग्री है जिसे लेकर बाह्य 'प्रेरक' कार्य किया करते हैं, तो उसूलन अथवा सैद्धान्तिकतया इसकी परवाह नहीं की जाती कि 'चरित्र' और 'प्रेरक' को ही आप ऐसे पूर्ण पूर्ववर्ती मानते हैं या नहीं कि जिनके द्वारा कार्य का निर्धारण होता हो या आप एक तीसरा पूर्ववर्ती को भी अव्याख्येय स्वच्छन्द स्वतन्त्र संकल्प के रूप में उनके साथ जोड़ देते हैं। दोनों ही मामलों में, जब क्रिया रूप में अपने को व्यक्त करनेवाले 'चरित्र' को तथा उसी के नामारासी 'प्रेरक' को परिस्थितियों के संदर्भ से विशेषित करके विचारणार्थ, झूठे तरीके पर एक दूसरे से पृथक् कर दिया गया और फिर उन्हें, उनके ही अभिव्यक्त करनेवाले कार्य के कालीय पूर्ववर्तियों के रूप में कल्पित कर लिया गया तब नैतिक दायित्व द्वारा वस्तुतः अभिप्रेत स्वातन्त्र्य के सच्चे अनुदर्शन अथवा प्रतिनिधित्व की सारी संभावना ही त्याग दी गयी। स्वातंत्र्य-समस्या मूलक हमारी अपनी विचारणा में हम भी इस भूलभुलैया के दोनों पक्षों से इसलिए बच सके थे क्योंकि हमने पहले से ही मान लिया था कि यान्त्रिक निर्धारण के पदार्थ वस्तुतथ्य को व्यक्त नहीं करते बल्कि वे ऐसे प्रतिबन्ध हैं जो तथ्यों पर इस प्रकार के विशिष्ट प्रयोजनों के लिए जो मानव व्यवहार की नीतिशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक सीमा के साथ जरा भी नहीं मिलते-जुलते, कृत्रिम रूप से लाद दिए गए हैं और इसीलिए अपने उचित क्षेत्र के बाहर उनका उपयोग जब किया है तब वे अप्रासंगिक और भ्रामक बन जाते हैं।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—एच० बर्गसन लिखित SUR Les donnees immediates de la Conscience; एफ० एच० ब्रैडले कृत 'एथिकल स्टडीज निबन्ध १; डब्ल्यू आर० बी० गिब्सन कृत 'दि प्रॉब्लेम्म ऑफ़ फ्रीडम' (पर्सनल आइडियलिज्म नामक खण्ड में); टी० एच० ग्रीन लिखित 'प्रोलेगोमिना टु एथिक्स', बुक १, अध्याय ३, बुक २, अध्याय १; डब्लू० जेम्स कृत 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ सायकॉलॉजी, वाल्यूम २, अध्याय २६, 'विल टु बिलीव्' (दि डाइलेम्मा आफ् डिटर्मिनिज्म); जे० लॉक कृत 'ऐसे कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैण्डिंग', बुक २, अध्याय २१ (ऑन पावर), जे० मार्टिनो लिखित 'टाइप्स ऑफ़ एथिकल थियरी', वाल्यूम २, बुक १, अध्याय १; जे० एस० मिल की 'लॉजिक', बुक ६, अध्याय २ एफ़एफ़; जे० रॉयस कृत, 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविजुअल,' सेकेंड सीरीज, लेक्चर ८; एच० सिजविक लिखित, 'मैथड्स ऑफ एथिकल', बुक १, अध्याय ५, 'लेक्चर्स ऑन दि एथिक्स ऑफ़ ग्रीन', आदि पृष्ठ १५–२९।

अध्याय ५

नीतिशास्त्र तथा धर्म की कुछ विवक्षाएँ

१—यदि सत् या वास्तविकता कोई एकरूप तंत्र हो तो उसमें हमारे नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुबोधीय हितों की परितुष्टि की कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। २—किन्तु हम यह पहले ही से नहीं मान ले सकते कि नीतिशास्त्रीय तथा धार्मिक अभिधारणाएँ आवश्यक रूप से उन्हीं रूपों में सही हुआ करती हैं जिन रूपों में कि हमारे व्यावहारिक हित उन्हें ढाल देते हैं। ३—इस प्रकार, जहाँ नैतिकता का अस्तित्व ही तब तक असंभव होगा जब तक कि सद्गुण और सौख्य का सामंजस्य समग्रतः नहीं होता, और जब तक कि सामाजिक उन्नति एक यथार्थ तथ्य नहीं बनती तब तक 'पूर्ण सद्गुण', 'पूर्ण सौख्य', 'अनन्त प्रगति' तर्कानुसार आत्म-व्याघातिनी धारणाएँ ही बनी रहेंगी। ४—लेकिन इससे हमारे नैतिक आदर्शों की व्यावहारिक उपयोगिता मन्द नहीं होती। ५—धर्म के रूप में हम ऐसे पूर्ण आदर्श की कल्पना करते हैं जो वैयक्तिरूप में पहले ही से मौजूद रहता है। इसी लिए तो इस कालीय व्यवस्था का कोई भाग भी अन्तोतगत्वा धार्मिक श्रद्धा का उपर्युक्त अथवा पर्याप्त लक्ष्य नहीं बन सकता। ६—इसी से अनिष्ट की समस्या पैदा होती है। 'परमेश्वर' निरपेक्षान्तर्गत सान्त जीव नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो ईश्वर के स्वरूप के अंश रूप में अनिष्ट तथा अपूर्णता भी अवश्य होनी चाहिए और इस प्रकार ईश्वर पूर्वतः वर्तमान आदर्श की सिद्धि नहीं हैं। ७—यह कठिनाई तब दूर हो जाती है जब हम 'ईश्वर' और 'निरपेक्ष' का एकीकरण इसलिए कर देते हैं क्योंकि निरपेक्ष में अनिष्ट केवल एक एन्द्रजालिक आभास मात्र रूप देखा जा सकता है। किन्तु यह सही हो सकता है कि धार्मिक भावना को व्यावहारिकतया सक्षम बनाने के लिए उसके काल्पनिक लक्ष्य को अन्ततोगत्वा मानवपरक रूप देना आवश्यक हो उठे जो एक गलत बात होगी। ८—अनन्त निरपेक्ष के भीतर सान्त दैवी व्यक्तित्वों की वर्तमानता की न तो दृढ़तापूर्वक पुष्टि ही की जा सकती है न सामान्य तत्वमीमांसीय आधार पर उससे इनकार ही किया जा सकता है। ९—ईश्वरास्तित्व के प्रमाण, जीव विकास विज्ञानात्मक तथा ब्रह्माण्ड विज्ञानात्मक प्रमाणों के नियम का ह्यूम और काण्ट की आलोचनाओं से बचाव केवल तभी किया जा सकता है जब हम ईश्वर और निरपेक्ष का एकीकरण कर दें। 'धर्म भौतिकीय प्रमाण' केवल सान्त अति-मानवीय बुद्धियों की वास्तविकता मात्र की ही स्थापना कर सकता है और उसकी शक्ति

साक्ष्य की अनुभूतिपरक विचारणा पर ही सही तौर पर निर्भर है।

१—कभी कभी तत्वमीमांसक अनुभूति को ऐसा समझने के लिए उतावला-सा लगता है कि मानो बौद्धिक हितों द्वारा बनी है और उसके प्रदानों से काम लेने में हमारा एक मात्र कर्त्तव्य उन प्रदानों द्वारा एक ऐसे ज्ञान-तन्त्र की रचना कर देना है जो संगत विचारणा विषयक हमारी आवश्यकता को पूरा कर दें। निःसन्देह यह एक, एकपक्षीय तथा स्वयं तत्वमीमांसीय स्थिति बिन्दु के अनुसार, हमारी अनुभूतियों के जगत् के प्रति बुद्धियों के रूप में हमारी अभिवृत्ति के स्वरूप की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। आभासतः असम्बद्ध अनुभूति-सामग्री में व्यवस्था और एकरूपता लाने के हमारे बुद्धिजीवीय समानहितों के उपलक्षक रूपों का प्रतिदर्शन हमारे नैतिक, धार्मिक और सौन्दर्यपरक ही नहीं अपितु हमारे तार्किक आदर्शों द्वारा हुआ करता है अतः तत्वमीमांसीय नियमों का, वह चाहे कितना भी प्रारंभिक क्यों न हो, का अध्ययन तब तक पूरा नहीं होता जब तक कि उसके अन्तर्गत उस अन्तिमेत्थ सत् अथवा वास्तविकता विषयक व्यवस्था की संरचना पर जिसके अंश हम और हमारे विविध प्रकार के 'हित' हैं, पड़नेवाले प्रकाश पर विचार न कर लिया जाय। यदि समस्त अस्तित्व को एकरूप इकाई मानना प्रत्येक गंभीर दर्शन शास्त्र का मौलिक नियम हो तब यदि हम यह पता लगा सकें कि इस दुनियाँ से कला, नैतिकता और धर्म द्वारा किए जाने वाले तकाजों के आवश्यक और स्थायी लक्षण कौन से हैं, तो हम आश्वस्त हो सकेंगे कि ये तकाजे किसी तरह पूरे हो सके और वस्तु योजना में उन्हें उनका उचित स्थान हिस्सा दिया गया।

क्योंकि ऐसी दुनिया जो जीवन से हमारी नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुभूति-परक माँगों का केवल नकारात्मक उत्तर देकर ही उन्हें टाल देना चाहती है, अनिवार्यतः हिंस्र और असमाधेय उत्क्रम के पहलुओं से भरी होगी और इसीलिए सही प्रकार की दुनिया न होगी और वह एक व्यवस्थित इकाई तो किसी तरह भी न होगी। आगे चलकर मैं इस द्विधा प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ कि धर्म और नैतिकता की इस विश्व से की जाने वाली 'अलघुकरणीय न्यूनतम' माँगें क्या हैं और हमारे पूर्वगत अध्यायों में समर्थित और आरक्षित अस्तित्व विषयक धारणा कहाँ तक उनकी पूर्ति करती है। हमारे सौन्दर्यानुभूतिपरक आदर्शों तथा उनकी तत्वमीमांसीय सार्थकता पर मैं इसलिये विचार नहीं करना चाहता चूँकि सामान्य मानव जाति के लिए व्यावहारिक दृष्टि से वह कम महत्व की है और चूँकि कम से कम मेरी राय में इस प्रश्न पर सन्तोषजनक विचार करने के लिए सौन्दर्यभावना के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विशिष्ट तथा यथार्थ प्रशिक्षण आवश्यक है।

२—इस प्रकार विशेषीकृत विषय पर विचार करने के लिए पहले के निष्कर्षों के बारे में कुछ तो चेतावनीस्वरूप तथा कुछ सारकथन स्वरूप एक आध शब्द

प्रारंभ में ही तत्वमीमांसक पर, एक तत्वमीमांसक के विशिष्ट स्वरूप में कारण आरोपित नैतिकता तथा धर्म विषयक व्यावहारिक आदर्शों के प्रति उसकी अभिवृत्ति के बारे में, कह देना आवश्यक होगा। इससे जाहिर होगा कि मैंने पिछले अनुच्छेद में नैतिक तथा धार्मिक अभिधारणीकरण के विषय में क्यों 'अलघ्घुकरणीय न्यूनतम' का जिक्र किया था। दार्शनिक विषयों के आधुनिक लेखकों में यह कहने की एक विशिष्ट प्रथा सी पड़ गयी है कि ऐसे प्रत्येक आदर्श का जिसे हम नैतिकता तथा धर्म के हेतु अत्यधिक मूल्यवान समझते हैं, तत्वमीमांसीय दृष्टि से, सत अथवा वास्तविकता विषयक हमारी धारणा के हेतु स्वयं तर्कसंगत विचारणा के मौलिक सिद्धान्तों से किसी प्रकार भी कम मूल्यवान् नहीं है। हमारा दावा है कि तर्कसंगत विचारणा अन्ततोगत्वा अपने कर्म को उचित अथवा श्रेयस्परक आदर्श के अनुकूल बनाने के नैतिक प्रयत्न, सुन्दर वस्तु की सर्जिका सौन्दर्यानुभूति, तथा नीति परायणता की ओर प्रवृत्त करानेवाली किसी बाहरी शक्ति के साथ धार्मिक सहकार आदि की हमारी अनेक स्वाभाविक वृत्तियों में से एक अन्यतम वृत्ति ही तो है। तब तत्वमीमांसक क्यों ऐसा पूर्वानुमान कर बैठे कि नैतिकता और धर्म के 'व्यावहारिक हेतु' तथा कला के 'सृजनात्मक हेतु' की माँगों की अपेक्षा तर्कपरक बुद्धि की माँगों को पूरा करने के लिए यह विश्व कहीं अधिक विशिष्टतः बाध्य है। क्या हमें यह न कहना होगा कि तर्कशास्त्री की यह माँग कि विश्व का बोधगम्य होना आवश्यक है, उसी श्रेणी की है जिस श्रेणी की कि नीतिशास्त्री की विश्व के नीति-परायण होने की तथा कलाकार की उसके सुन्दर होने की माँग और साथ ही क्या यह भी हमें न कहना होगा कि उपर्युक्त तीनों माँगें उन अभिधारणाओं से अधिक कुछ नहीं जिनका निर्माण, अन्तिमोपाय स्वरूप, हम केवल इसलिए किया करते हैं क्योंकि वह उसके निर्माण की गंभीरतम भावना की पूर्ति करती है। वस्तुतः क्या हमें तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा धर्म और कला के अनुयायियों से एक साथ ही यह न कहना होगा कि 'विश्व से की गयी आप सब लोगों की ही माँगें अन्तिमेत्थतया एक ही प्रकार की हैं, और उन माँगों के करने का आप सबको समान अधिकार भी है। और जब तक आप में से कोई भी अपनी अभिधारणा के रूप में ही प्रस्तुत करने से सन्तोष का अनुभव करता है और अपनी व्यक्तिगत जिम्मेवारी पर ऐसा करता है तब तक आप में से किसी को भी दूसरे की अभिधारणा की आलोचना करने अथवा उसका परित्याग करने का अधिकार नहीं है ?

यहाँ जिस अभिमत का इस प्रकार के संक्षिप्त कथन का प्रयत्न मैंने किया है उसे मैं आंशिकतः तत्वमीमांसा से असंगत और आंशिकतः भ्रमपूर्ण मानता हूँ और जहाँ तक वह भ्रमपूर्ण है वहाँ तक इसी लिए उसे आरिष्टक भी मानता हूँ। 'अपनी जिम्मेवारी पर जैसा चाहे वैसा विश्वास करने लगो' जैसे दावे में निहित विचित्र मानसिक आरक्षण को

में यों ही टाल जाना चाहता हूँ। जैसाकि जार्ज इलियट ने 'एडम बीड' में कहा है कि सामाजिक व्यवस्था के सदस्यों के नाते हमारी स्थिति का यह एक मौलिक तथ्य है कि इस दुनियां में केवल कर्ता के अनन्य दायित्व पर ही कुछ नहीं होता। आपके विश्वास, जहाँ तक वे व्यक्त हो पाते हैं, आपके अन्य अवशिष्ट व्यवहार के समान ही अनिवार्य रूप से अन्यों के जीवन को तो प्रभावित करते ही हैं वे आप के जीवन को भी प्रभावित करते हैं और इसी लिए उपर्युक्त झूठे तथा अरिष्टात्मक विश्वास के तनूकरणार्थ यह कहना निरर्थक ही है कि उस विश्वास का आवाहन हमने अपनी जिम्मेवारी पर किया था। कोई भी आदमी केवल अपने ही लिए नहीं जीता यह कथन जैसा सब के लिए सही है वैसा ही तत्वमीमांसक के लिए भी सत्य है और इसीलिए तत्वमीमांसक को दूसरों की अपेक्षा व्यावहारिक सत्य की उपेक्षा करने का कोई विशेष अधिकार नहीं है।

आइये अब एक और अधिक महत्व की बात की तरफ मुड़ें। निःसन्देह यह सही है कि अस्तित्व के बारे में संगत रूप से विचार कर सकने के तरीके की हमारी बौद्धिक आवश्यकता की सन्तोषजनक पूर्ति कर सकना भी अनेक मानव हितों या लक्ष्यों में से केवल एक लक्ष्य या हित है। अतः हम आसानी से मान सकते हैं कि तर्कशास्त्र के समान ही नैतिकता, धर्म और कला को भी अपने अस्तित्व का अधिकार है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न कि क्या उपर्युक्त चारों में से किसी भी एक को दूसरों की अपेक्षा अपना अस्तित्व बनाए रहने का श्रेष्ठतर अधिकार है, वस्तुतः अर्थहीन प्रतीत होता है। यह सवाल करना बिलकुल बेमाने है कि क्या किसी उपलक्षणात्मक और आवश्यक मानवीय आकांक्षा को अन्य आकांक्षाओं की अपेक्षा मान्यता प्राप्त करने और पूर्त होने का श्रेष्ठतर अधिकार है या नहीं। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 'सभी लक्ष्यों अथवा प्रयोजनों' के हेतु हमारे अपसारी हित और अभिवृत्तियाँ समानार्ह ही होती हैं और इसीलिए उनका उपयोग वैध रूप से पारस्परिक आलोचना के आधार रूप में नहीं किया जा सकता। विशेषतः यह निष्कर्ष भी नहीं निकाला जा सकता कि चूंकि तर्कशास्त्र और नैतिकता दोनों को ही अस्तित्व का समान अधिकार है इसलिए तर्कशास्त्रीय नियमों तथा नीतिशास्त्रीय अभिधारणाओं में भी सत्य का अंश समान मात्रा में अवश्य होना चाहिए। सब कुछ होते हुए भी अकेला सत्य ही शायद मानव जीवन की एकमात्र आवश्यकता नहीं है और यह भी स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है कि सत्य ही नैतिकता तथा धर्म का श्रेष्ठतम हित है।

पर ऊपर से देखने से निःसन्देह बात ऐसी नहीं मालूम देती। प्रत्यक्षतः ऐसा लगता है कि मानो तर्कशास्त्री का सत्यविषयक आदर्श तथा नीतिशास्त्री का श्रेयस् विषयक आदर्श परस्पर किसी अंश तक अपसारी हैं। क्योंकि यह किसी तरह से भी स्पष्ट नहीं है कि सत्य विचारणा का विस्तृततम संभाव्य विकिरण तथा नैतिक श्रेयस्

के उच्चतम मापदण्ड की सामान्य संप्राप्ति का सहगामी होना आवश्यक है। किसी समुदाय के नैतिक श्रेयस् के लिए यह भी उत्साहवर्धक हो सकता है कि उसके अनेक सदस्य किन्हीं विशिष्ट विषयों के विषय में कुछ भी न सोचा करें और यदि सोचें भी तो गलत तरीके पर सोचा करें।[1] हमें अपनी याद ताजी कर लेनी होगी कि श्रेयस् तथा सुन्दर विषयक हमारे आदर्श भी इसी प्रकार अपसारी अथवा एक दूसरे अपगामी प्रतीत होते हैं। यह किसी प्रकार भी स्वयं प्रत्यक्ष नहीं और जहाँ तक इतिहास हमें निर्णय करने की अनुज्ञा देता है संभवतः यह असत्य भी है कि उस समाज के जिसमें सौन्दर्य-बोध की भावना अत्यधिक विकसित होती है, श्रेयस् विषयक आदर्श भीउच्चतम हुआ करते हैं।

अब अगर सत्य और श्रेयस् अथवा शिवं एकदम समान एक रूप न हों तो हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि किसी धारणा का अन्तिमेत्थ सत्य व्यावहारिक श्रेयस् अथवा शिव के संवर्धनार्थ उसकी नैतिक उपयोगिता का अनुपाती होता है। इसीलिए ऐसा तत्वमीमांसक जो अन्तिमेत्थ सत्य को ही अपनी अर्हता का मापदण्ड या आदर्श बना लेता है, तब अपने अधिकारों के अन्तर्गत ही प्रतीत होगा जब वह नैतिक उपयोगिता को किसी विश्वास या धारणा के पर्याप्त औचित्य का आधार मानने से ठीक उस नीतिशास्त्री की तरह ही इनकार कर दे, जो अर्हताविषयक अपने विशिष्ट मापदण्ड के स्थिति विन्दु के अनुसार किसी जीवन की सौन्दर्य बोधात्मक एकरसता को सही तौर पर उसकी नैतिक प्रकर्षता का पर्याप्त साक्ष्य मानने से इनकार कर दे सकता है। जब तक

---

१. आइये दो मूर्त उदाहरण ले लें। हो सकता है—मैं नहीं कहता कि ऐसा होता ही है—कि नैतिक श्रेयस् के लिए यह उचित ही कि जनता में यह सामान्य विश्वास पैदा हो जाय कि घटना क्रम के लम्बे आयाम में हमारी वैयक्तिक सुख-भावना हमारी सद् गुणमात्रा की अनुपातिनी बन जाय। किन्तु यह सिद्ध करने के कोई साधन नहीं कि यह धारणा सत्य है, और जैसाकि श्री ब्रैडले ने एकबार उपयुक्त स्थल पर प्रोफेसर सिजविक के विरुद्ध युक्ति प्रस्तुत की थी कि—नैतिक आधार को लेकर किसी भी दार्शनिक को उपर्युक्त धारणा की सत्यता का दावा करने का अधिकार तब तक नहीं होता जब तक कि वह यह मानने के लिये तैयार नहीं होता कि सौख्य और अर्हता का ऐसा ठीक अनुपात बैठाकर कि वह श्रेयस् का संवर्द्धन कर सके वह श्रेयस् का आधिक्य और अश्रेयस् की न्यूनता उत्पन्न कर सकता है। साथ ही हममें से बहुतेरे संभवतः यह स्वीकार कर लेंगे कि जानबूझकर झूठ बोलने के विरोधी नैतिक नियम जैसे 'अन्य नैतिक नियमों' के अपवाद मौजूद हैं। लेकिन इस बात को कि हर आदमी को इसका पता होना चाहिए हम नैतिक श्रेयस् का संवर्धक मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।

आप यह नहीं सिद्ध कर देते कि सत्य, शिवं (नैतिक श्रेयस्) और सुन्दर सब एक ही वस्तु है तब तक आप उन 'उन अभिधारणाओं' की, जिन्हें स्वीकार करने का अधिकार नीतिशास्त्र को उनकी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण है न कि उनकी सत्यता के कारण यह कहकर कि वे अन्तिमतया सत्य नहीं हैं, आलोचना करने के और आवश्यक हो तो उन्हें दोषी ठहराने के अधिकार से किसी तत्वमीमांसक को वंचित नहीं कर सकते।

और निःसन्देह स्वयं नीतिशास्त्र को भी यही छूट देनी होगी। मैं न केवल इतना स्वीकार ही करता हूँ अपितु आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि नीतिशास्त्र को, अपने विशिष्ट स्थिति-बिन्दु के अनुसार, तत्वमीमांसक के अभिमतों की आलोचना करने का पूरा अधिकार है। हो सकता है कि यह पूरी तरह से उचित हो कि कुछ 'सत्यों' का व्यावहारिक श्रेयस् के हितार्थ सामान्यतः अज्ञात बना रहना ही श्रेयस्कर हो और नीतिशास्त्री इस बात पर जोर देना न्याय्य समझे। लेकिन तत्वज्ञानी जब नैतिकता के प्रवर्तन और संवर्धन के लिए मूल्यवान होने के एकमात्र आधार पर ही किसी साध्य की सत्यता का दावा करने लगता है तब वह अर्हताविषयक उस कसौटी को छोड़ रहा होता है जिसका आदर करने को वह एक तत्वमीमांसक की हैसियत से बाध्य है। यह बिल्कुल सही है कि तर्कशास्त्र ही वह एक मात्र खेल नहीं है जिसके खेलने में ही मनुष्य मात्र की रुचि हो और यह कि किसी और को तब तक यह खेल खेलने की जरूरत नहीं जब तक कि उसे वह खेल ज्यादा पसन्द न हो। लेकिन जब आप एक बार यह खेल खेलने बैठ जायँ तो आपको उसे उसके अपने नियमों के अनुसार ही खेलना होगा न कि किसी दूसरे खेल के नियमों के अनुसार। अगर आप इस चेतावनी को ध्यान में नहीं रखते तो बहुत संभव है कि आप ऐसी चीज पैदा करके रख दें जो न तो अच्छी तत्वमीमांसा ही हो न पक्का नीतिशास्त्र। तत्वमीमांसा के पास उस 'विश्वासार्थ संकल्प' से सतर्क रहने का प्रत्येक कारण मौजूद है जिसका व्यावहारिक अर्थ अनालोचित दृढ़ कथन के गर्ज लूटने की वह खुली छूट जिसे 'फेडो' नामक अपने ग्रन्थ में सुकरात ने तर्क-शत्रुता के सही नाम से याद किया है तथा जिसे उसने जीवन विषयक भ्रान्तियों से व्यावहारिक छुटकारा पाने के निकृष्टतम तरीके का मनोवैज्ञानिक उद्गम स्थान भी बताया है,[1] ही हो सकता है।

---

[1] मैंने यहाँ स्रोतों विषयक विवादोचित को इसके साथ इसलिए नहीं जोड़ा क्योंकि उसका जिक्र यहाँ असंगत प्रतीत हुआ यह कि सत्य विषयक हमारी बौद्धिक अभिरुचि, ऐतिहासिक रूप से 'उपयोगी' विषयक अभिरुचि का ही उत्पाद है तथा यह कि 'विज्ञान' कलाओं का अनुषंगी, यह दोनों ही बातें जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं वस्तुतः सही ही हैं लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि सत्य जो विकसित बुद्धि का एक आदर्श है वही वस्तु है जो 'उपयोगी' है तथा जिससे वह सत्य उत्पन्न हुआ है। हमने यांत्रिक अभिधारणा को अन्तिम

तब नतीजा यही निकलता है कि यदि ये विमर्श कि तत्वमीमांसकों की हैसियत से हमें ऐसा पूर्वानुमान कर लेने की छूट मिलना ही चाहिए कि विश्वविषयक ऐसी कोई भी धारणा सही होती है जो हमें व्यक्तिगत रूपसे उत्साहवर्धक और आकर्षक लगे अथवा जिसे हम सामान्यतः समस्त मानव जाति के नैतिक व्यवहार के लिए स्फूर्तिप्रद मानते हों। प्रागवाप्त ज्ञान के आधार पर हम उस सुझाव का परित्याग नहीं कर सकते जो वह इस व्यावहारिक श्रेय के हेतु हमें देती है कि हम सब किसी सीमा तक और हममें से बहुतेरे बहुत अधिक सीमा तक 'प्रकाश और अन्धकार के मध्यवर्ती' धूमिल क्षेत्र के निवासी बने रहें, दूसरी ओर अनुभूति जगत् की संरचनात्मक युक्तिसंगत एकता की वर्तमानता से इस बात का मेल न बैठेगा कि सत्य विचारणा को जिस प्रकार के विश्व की परिकल्पना करना आवश्यक है तथा यदि हमारी नैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति होना आवश्यक है तो जिस प्रकार का विश्व बनना चाहिए इन दोनों प्रकार के विश्वों तथा अनुभूतिजगत् के बीच एकरूपता का अन्तिम और एकान्त अभाव हो। जिस किसी प्रकार से तथा जहाँ कहीं भी यदि यह विश्व एक साध्यपरक एकत्व जरा सा भी है तो इन आकांक्षाओं के लिए गुँजाइश रखना तथा उसकी संरचना द्वारा उनकी पूर्ति होना आवश्यक है भले ही उनकी पूर्ति उस रूप में, जिसमें कि हम अपनी सीमित अन्तर्दृष्टि के कारण चाहते हैं न हो सके तो भी हम चाहते हैं कि उनकी पूर्ति हो अवश्य भले ही फिर हम कभी भी यह न बता सकें कि वह पूर्ति किस रूप में होती है। यौक्तिक विश्व में जो बात एकदम अल्पनीय है वह यह है कि हमारी चिरसंगिनी आकांक्षाएँ कभी भी पूरी न हो सकें।

३—तब हमारे नैतिक जीवन को ही अपने अभाव से अयुक्ति युक्त बना देने वाला ज्ञात सत्य और हमारी नैतिक अभिधारणा के बीच का वह 'अपरिहार्य न्यूनतम सांगत्य' क्या है? समग्रतः, मेरी राय में हम यह कह सकते हैं कि नैतिकता की रक्षा केवल दो पूर्वानुमानों द्वारा ही हो सकती हैं :—(१) यह कि यह विश्व मुख्यतः और समग्ररूपेण इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया है कि जीवन को पूर्णतर और दृढ़तर व्यष्टता या वैयक्तिकता के हेतु किया जाने वाला हमारा नैतिक प्रयत्न सफल होता रहे। और यह कि नैतिक जीवनयापन द्वारा हमारा वैयक्तिक चरित्र अधिक संगत हितवान् तथा पूर्णतर रूपेण एकीभूत हो जाता है, और (२) यह कि इस नश्वर रंगमंच से हमारे अपसरण के साथ ही हमारे उपर्युक्त प्रयत्नों द्वारा प्राप्त लाभ भी अपसृत नहीं होता बल्कि वह दायरूपेण हमारे उन उत्तरवर्तियों को मिल जाता है जो हमारे स्थान की

सत्य कहलाने के अधिकारों से इसलिए नहीं वंचित किया था चूँकि उसका उद्भव औद्योगिक विज्ञान से हुआ था अपितु इसलिए कि अन्तिम आत्म-संगति की कसौटी पर कसने पर वे अधिकार बुद्धि को सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं हुए।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में पूर्ति किया करते हैं। मोटे तौर पर कहें तो इसके माने यह है कि अगर नैतिकता एक इन्द्रजाल मात्र नहीं है तो नैतिक जीवन समग्रतः एक सुखी जीवन ही समझा जाना चाहिए और यह कि सामाजिक प्रगति भाग की कोई वस्तु इस दुनियां में साफल्य है। अब उपर्युक्त दोनों ही मांगों की विश्व की संरचना द्वारा पूर्ति होना मानव जाति की अनुभूति से सिद्ध होता है। अरस्तू और अफलातून, दोनों ही ने वास्तविक सामाजिक जीवन के विश्लेषण द्वारा ही न कि किन्हीं अनुभवातीत प्रकार की अभि-धारणाओं की दुहाई देकर यह सिद्ध किया था कि श्रेयस्कर पुरुष अथवा भला आदमी आज की सामाजिक स्थिति में भी मुख्यतः सुखी आदमी को ही कहते हैं। और आधुनिक युग के विचारक को भी, अगर वह अपने को जरा भी आश्वस्त करना चाहता है तो इसी प्रकार के विश्लेषण द्वारा ही अपने को विश्वास दिलाना होगा कि मानवीय समाजें प्रगतिशील हैं।

तब यहां तक तो, नैतिक जीवन की व्यावहारिक माँग में अन्तर्निहित तत्त्वमीमांसीय विचार पक्षों का कोई प्रश्न उलझा प्रतीत नहीं होता। किन्तु मामला तब दूसरा ही हो जायगा। जब हम काण्ट की तरह ही इस मांग को नीतिशास्त्र की यह आवश्यक मांग समझ बैठें कि दुनियां का निर्माण इस ढंग पर होना चाहिए कि अन्ततोगत्वा, तथा प्रत्येक व्यष्टकर्ता के हेतु सुख का सही अनुपात सद्गुण के अनुसार नियत होना चाहिए। और यदि हम और आगे बढ़कर यह दावा करने लगें कि जब तक वस्तुस्थिति द्वारा यह पूर्व नियत नहीं हो जाता कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा व्यष्ट का अन्ततोगत्वा पूर्ण सद्गुणी और पूर्ण सुखी होना अनिवार्य है तब तक नैतिकता एक भ्रम मात्र ही रहेगी, तब तो मामला और भी बेढब हो जायगा। उपर्युक्त प्रकार के विचारों की रक्षार्थ हमें स्पष्टतः उन तत्त्वमीमांसीय नियमों की शरण लेनी पड़ती है जिनका पूर्ण औचित्य, मानव समाज की अनुभव द्वारा ज्ञात रचना विषयक सूचनाओं से सिद्ध नहीं होता। इसी तरह इस मांग का कि स्वयं मानव समाज सब सीमाओं का अतिक्रमण करके उन्नतिशील बनता जाय औचित्य भी, हमारे समाज के अनुभव द्वारा ज्ञात संरचना विषयक ज्ञान तथा उसके अमानवीय पर्यावरण से सिद्ध नहीं होगा। और यदि नीतिशास्त्र या तो वैयक्तिक सौख्य का सद्गुणता के साथ पूर्ण एकीकरण अभिधारित करना चाहता है अथवा समाज की अनन्त प्रगतिशीलता का अभिधारणीकरण करना चाहता है तो उसे स्पष्टतः बहुदूर-गामी तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों का भी अभिधारणीकरण करना होगा।

इसके अतिरिक्त यह भी खुलेआम स्वीकार करना होगा कि ये अभिधारणायें अपने वर्तमान रूप में, इस पुस्तक में प्रतिपादित और आरक्षित तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त तन्त्र के अनुकूल नहीं हैं। क्योंकि नैतिक साद्गुण्य और नैतिक प्रगति दोनों ही परिमित वैयक्तिकता अथवा व्यष्टता और उसके अस्तित्व के उपलक्षक प्राकृत, कालीय-प्रक्रिया

के साथ जुड़े रहते हैं। 'प्रगति' के विषय में यह बातें स्पष्ट हो चुकी हैं, समग्र प्रगति का अर्थ होता है काल विषयक अग्रगामिता और अग्रगामिता भी बुरे की ओर से प्रारंभ होकर अपेक्षतया अच्छे की ओर को ही होना जरूरी है। सद्गुण के साथ भी यही बात है। क्योंकि सद्गुणी होने का अर्थ ऐसे व्यक्तितत्व का स्वामी होना मात्र नहीं जो एक साथ ही एकरस और अन्तर्वस्तुओं से भरपूर हो बल्कि उसका अर्थ है चित्तवृत्तियों और पर्यावरण की कच्ची सामग्री से अपने लिए उक्त प्रकार की वैयक्तिकता अथवा व्यष्टता का स्वयं निर्माण करना। केवल पूर्णतर वैयक्तिकता की ओर अग्रसर होने में ही हमारा अभिकर्तृत्व निहित होता है और ठीक इसलिए कि हम परिमित हैं, निरपेक्षतया एकरस वैयक्तिकता की पूर्ण संप्राप्ति सदा हमारी पहुँच के बाहर होती है। अतः यथार्थ किन्तु परिमित व्यक्तियों की हैसियत से एकदम पूर्ण सद्गुण और परिणामतः एकदम पूर्ण सौख्य भी हमारी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। प्रत्येक परिमित व्यक्तित्व में अपूर्णता का कोई न कोई पहलू विद्यमान रहता ही है और इसी लिए उसमें खिन्नता का अंश भी रहता है यद्यपि पाप और खिन्नता को मिलनेवाले स्थान का संप्राप्त वैयक्तिकता की मात्रा के अनुपात से ही अधिकाधिक गौण होते चले जानेवाला होना उचित है और यह बात अनुभव द्वारा होती भी देखी गयी है। यही युक्ति किसी भी परिमित समाज के मामले पर भी बराबर से लागू हो सकती है।

ना ही यह कोई आधार विश्व संविधान को नैतिक रूप से अपर्याप्त और असन्तोषकर मानने का है। पहले भी उद्धृत किए जा चुके श्री ब्रैडले की इस उक्ति के अनुसार कि इस आधार पर कि चूँकि विश्व सद्गुण के अनुपात से सौख्य का हिस्सा बाँट नहीं करता किसी को उसे नैतिक रूप से असन्तोषकर कहने का तब तक अधिकार नहीं है जब तक कि वह यह सिद्ध करने को तैयार न हो कि दोनों के आनुकूल्य या सादृश्य को यथार्थ बना देने से अधिक साद्गुण्य की उत्पत्ति हो सकेगी। और ऐसा सिद्ध कर सकना असम्भव है। इससे भी बड़ी अनर्गल बात होगी विश्व की इसलिये निन्दा करना क्योंकि न तो पूर्ण सद्गुणता ही न पूर्ण सुख प्राप्य हैं। यतः नैतिकता का स्वयं ही कोई अस्तित्व सान्त व्यष्टों की रचना के अतिरिक्त नहीं है और चूँकि इसीलिए अनर्गल हुए बिना नैतिक आधार पर, विश्व की निन्दना सान्त व्यष्टों को आत्मसात् किए रहने तथा इस प्रकार नैतिकता को वर्तमानता की सुविधा प्रदान किए रहने के लिए नहीं कर सकते।

४—क्या मामला तब और कुछ बन सकता था अगर हमारे पास ऐसे आधार होते जिनके बल पर हम कह सकते हैं कि वस्तुओं की प्रकृति ने मानव समाज की प्रगति की ज्ञातव्य तथा स्थिर सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं? उदाहरण के लिए अगर हम जान सकते कि मानवता का भौतिक पर्यावरण इस प्रकार से बनाया गया है कि अन्तिमेत्थंरूपेण

मानव जीवन का इस पृथ्वी से लुप्त हो जाना आवश्यक है ? मैं जानता हूँ कि ऐसा ज्ञान होने से भी मामले में कोई अन्तर नहीं आता। निःसंदेह अगर यह विश्वास आमतौर पर सब लोगों को हो जाय कि सब चीजों का अन्त सन्निकट है और किसी गण्य अवधि के भीतर ही होनेवाला है तो सम्भव है कि हमारी नैतिक उद्देश्यपरता में कुछ कमी आ जाय, और जो कहीं वह अवधि बहुत ही छोटी हुई तो शायद दुनिया स्वेच्छाचारिता और दौर्जन्य पर ही न उतर आये। किन्तु यही बात हमें तब वस्तुतः होती देखी जाती है जब किसी ऐतिहासिक और अति-विस्तृत समाज व्यवस्था के निकटायमान विघटन का लोगों को पहले से पता होता है। फिर भी इस तथ्य को कि समाजों का विघटन होता ही रहता है, सामान्यतया विश्व पर किसी प्रकार का आरोप लगाने का युक्तियुक्त आधार नहीं बनाया जाता। न इस तरह के विश्वासों और उनके परिणामों में किसी तरह का कोई तार्किक सम्बन्ध ही हुआ करता है। हम यह नहीं कह सकते कि चूँकि मानव समाज नश्वर है, और अगर वह नश्वर है, तो उसकी सब सिद्धियाँ भी नष्ट होती गयी होंगी, इसलिए उसने जो भी प्रगति आज तक की है वह सब निरर्थक है। हो सकता है कि हमारी सिद्धियों का परिणाम किसी तरह पर हमें अज्ञात रहे और एक जाति के रूप में हमारे लोप हो जाने के बाद तक भी वर्तमान रहता रहे ठीक उसी तरह जिस तरह कि हम वैयक्तिक जीवनों के परिणामों को अपनी मृत्यु के बाद भी अंशतः सुरक्षित बने रहते देखते हैं।

बहरहाल यह स्पष्ट है कि मानव समाज के अस्तित्व और उसकी प्रगति के विषय में किसी प्रकार की मर्यादाओं का बाँधना तत्त्वमीमांसा के वश की बात नहीं है। जैसाकि हम देख चुके हैं हमारे सामने इस बात से इनकार करने का कोई कारण प्रस्तुत नहीं करता, भले ही वह इसकी पुष्टि करने की सामर्थ्य हमें न दे, कि वर्तमान परिस्थितियों में प्रारब्ध सामाजिक जीवन अज्ञात परिस्थितियों में अनिर्धारितान्त काल तक भी अनवरत रूप से चलता रखा जा सकता है। भौतिक मानव जीवन का किसी गणनीय कालावधि के भीतर लुप्त हो जाने की बात भी तत्त्वमीमांसा के किसी नियम या सिद्धान्त से विनिःसृत होती नहीं पायी जाती। ज्यादा से ज्यादा हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि कुछ माने हुए भौतिक नियम, विशेषतः ऊर्ज्जा क्षय का नियम, सारी ही भौतिक प्रक्रियाओं के लिए वैध हो और फिर यदि जीवमान जैवतन्त्रों में वर्तमान मनस्तत्त्व अंश ऊर्ज्जा की 'अधोवनत' प्रवृत्ति को उलट कर कार्य के लिए अप्राप्य रूपों में संकिरन होने से उसे रोक सकने में असमर्थ हो तो हमारे परिचित ढंग मानव समाज का अवश्य ही एक गणनीय कालावधि के भीतर अन्त हो जा सकता है। लेकिन जिन पूर्वानुमानों पर यह निष्कर्ष आधारित है वे सत्य हैं अथवा असत्य यह बात तत्त्वमीमांसा ही स्वयं नहीं बता सकती।

अतः हमारी स्थिति अब यह हो जाती है कि समग्रतः सद्गुणी जीवन ही सुखी

जीवन है और संसार में यथार्थ सामाजिक प्रगति अवश्य होती है।[1] यह दो बातें अब ज्ञात रूप से निश्चित हो चुकीं। सान्त अथवा परिमित की परिमितरूपण 'निरपेक्ष पूर्णता' तथा 'अनन्त प्रगति' दोनों ही तत्वमीमांसीय असंभाव्यताएँ कह कर बहिष्कृत हो चुकीं। किन्तु तत्वमीमांसा द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति की वृहत्तर साद्‌गुण्य और अधिकाधिक सौख्य की ओर बढ़ने की संभावनाओं पर किसी प्रकार के निश्चित प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते। भौतिकी के उन सिद्धान्तों के बारे में जो किसी परिमाप्य काल के भीतर ही मानवता के लोप की विभाषिका प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं, कम से कम इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी सत्यता निश्चित नहीं है। परन्तु एक व्यष्ट समग्र के रूप में सत् अथवा वास्तविकताविषयक हमारी तत्वमीमांसीय कल्पना में यह नैश्चित्य वर्तमान है कि मानव जाति का भले ही चाहे जो कुछ बने पर हमारी सब आकांक्षाओं और सिद्धियों का कुछ नहीं बनता बिगड़ता, वे विश्व के लिए वैसी ही उपयोगी बनी रहती हैं यद्यपि उनके बचे रहने का क्या तरीका है इसके बारे में हमें कुछ नहीं मालूम। और बुराई से अच्छाई की ओर बढ़ने विषयक हमारे नैतिक संघर्ष के बारे में यह तय है कि वह संघर्ष हमारी उन आकांक्षाओं के एकदम अनुकूल है जो हम इस दुनिया से कर सकते हैं। इस सुझाव के बारे में कि हमारे आदर्श तब तक अनुकरणीय नहीं हो सकते जब तक कि अपने प्रयत्नों का फलोपभोग अपनी इच्छानुसार कर सकने का अवसर हमें नहीं मिलता, हमें यही कहना है कि वह एक नीचे स्तर की स्वार्थपरता की दुहाई है।

५—जब हम मन की विशिष्टतया धार्मिक अभिवृत्ति पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि विश्व से की जाने वाली उसकी माँगें, नीतिशास्त्र की इस प्रकार की माँगों से कहीं बढ़ी चढ़ी हैं और अंशतः उनका स्वरूप भी भिन्न है। इस जैसे कम आयाम के ग्रन्थ में धार्मिक अभिवृत्ति के स्वरूप पर विस्तृत विचार की सुविधा यद्यपि बहुत कम है फिर भी

---

१. निःसन्देह विशुद्ध प्रगति नहीं। यह पता लगाने के लिए किसी गहरी अन्दृष्टि की आवश्यकता नहीं कि, और सब चीजों की तरह ही नैतिक प्रगति का भी मूल्य हुआ करता है। और यह कि सब तरह के 'प्रगतिशील विकास' में अपकर्ष भी उसके एक पहलू के रूप में शामिल रहता है। किन्तु समाज की नैतिक प्रगति तब यथार्थ कहलायेगी जब, समग्रतः देखने पर नीतिशास्त्री के स्थिति बिन्दु से, हमारा लाभ हमारी हानि की अपेक्षा अधिक हो। अपनी जाति (मानव जाति) के विषय में निराश होने की हमें कोई जरूरत न होनी चाहिए यदि निष्पक्ष इतिहासज्ञ हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन के तथ्यों की रोमन साम्राज्य के पहली ईसवी सदी के सामाजिक जीवन के तथ्यों के साथ तुलना करके कह सकते कि समग्ररूप से हमारी प्रगति हुई है।

इतना तो कम से कम सन्देहरहित माना जा सकता है कि अनुभूति-जगत के प्रति पायी जाने वाली धार्मिक अभिवृत्ति को अन्य अभिवृत्तियों से अंशतः उन उद्वेगों के विशिष्ट स्वरूप के आधार पर पृथक् किया जा सकता है, जिनके द्वारा वह अपने आपको व्यक्त करती है और अंशतः उन बौद्धिक विश्वासों के आधार पर जिन्हें वे उद्वेग जन्म देते हैं।

धार्मिक प्रकृति के होने पर हमारी अपनी अनुभूति में ही पाया जा सकने वाला 'नमस्कार' जो संसार के भक्ति साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है—विशेष रूप से किसी शक्ति के साथ हुए तात्कालिक साक्षात्करण से उत्पन्न परमानन्द की तथा उसके सहकार के कारण उत्पन्न हुई नम्रता की भावना दोनों का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। वह शक्ति हमसे बड़ी और हमसे अच्छी होना चाहिए और हमारे आदर्शों की सिद्धि का पूर्ण प्रतीक। संसार के विविध धार्मिक मत-मतान्तरों में हमें ऐसी महती शक्ति की व्याख्या करने के प्रयत्नों का पता मिलता है। लेकिन यह विशेषतः स्मरणीय है कि श्रद्धापूर्वक निग्रहीत आध्यात्मिक धारणा की धार्मिक भावना पर प्रतिक्रिया यद्यपि बड़ी जोरदार हो सकती है तो भी अन्ततोगत्वा तात्कालिक भावना ही धार्मिक विश्वासों का आधार होती है। धार्मिक विश्वास तात्कालिक भावना का आधार कभी नहीं होता। कम से कम इन मानों में तो यह बात सही है कि सारे ही यथार्थ जीवन का आशय भावनाओं तथा क्रियाओं का उन विश्वासों द्वारा न्यूनाधिक रूप से प्रभावित होते रहना है, जिनकी सत्यता अज्ञात और अप्रमाणित ही रहेगी और इसीलिए जिन्हें श्रद्धाधारित ही कहा जायगा।

इस बात पता लगाना कि जिन विश्वासों के हाथ हम अपनी जीवन नैया का पतवार थमा देते हैं वे विश्वास क्या हैं, हर एक मामले की अपनी संरचना और उसकी सामाजिक परम्परा पर निर्भर होता है। उपलब्ध प्रकार के ऐतिहासिक धर्मों के रूप में हमारे सामने वर्तमान महत्तर जातियों के परम्परागत धार्मिक विश्वास न केवल अत्यन्त विविध प्रकार के हैं अपितु उन धर्मों के अनुयायियों के अपने-अपने वैयक्तिक विश्वासों में और भी अधिक वैविध्य पाया जाता है। जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपना वैयक्तिक धर्म कहता है। मानव रुचि को आकर्षित करनेवाली ऐसी शायद ही कोई विशिष्ट वस्तु बच रही होगी जिसने किसी न किसी आदमी के लिए वही महत्व प्राप्त न कर लिया हो जो महत्व वह अपनी सिद्ध कल्पना के उच्चतमस्तरीय आदर्श को दे सकता था। यह कहना सत्य से बाद का न होगा कि कभी कभी माँ, प्रेमिका, अपना देश, कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन आदि लक्ष्य ही किसी आदमी का 'धर्म' बन बैठता है।

इस सब गोरखधन्धे के बीच दो सामान्य सिद्धान्त अथवा नियम ऐसे ढूँढ़ जा सकते हैं जो धार्मिक अनुभूति के तत्त्वमीमांसीय महत्त्वांकन के लिए बड़े काम के हो सकते हैं। (१) धार्मिक अनुभूति का यह एक सारभूत तथ्य है कि उसके लक्ष्य को किसी आदर्श का वस्तुतः वर्तमान मूर्त रूप मान लिया जाय। यही वह विचारबिन्दु है जिसके

विषय में मन की धार्मिक अभिवृत्ति कोरी नैतिकता की मनोवृत्ति से बहुत अधिक स्पष्ट रूप से भिन्न होती है। नैतिक अनुभूति में आदर्श इस रूप में निग्रहीत होता है जिसका विचार के समय तक कोई अस्तित्व न हो और जिसके अस्तित्व का मानव प्रयत्न द्वारा बाद को स्थापित होना शेष हो, इसलिए विशुद्धतः नीतिशास्त्रीय मनोवृत्ति के अनुसार विश्व का मूलतः अपूर्ण तथा हमारी तद्विषयक माँग की पूर्त्यर्थ जैसा उसे होना चाहिए उससे सारतः असम्बद्ध होना आवश्यक है। इसलिए नैतिकता के सामने 'अनिष्ट की समस्या' जैसी कोई वह वस्तु नहीं होती जिसकी वर्तमानता, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, धर्म के लिए आवश्यक होती है। कालीय व्यवस्थानुसार संप्राप्त विश्व में अपूर्णता और अनिष्ट भी सम्मिलित होते हैं और हमें उन्हें दूर कर देना आवश्यक है, यह ऐसी पूर्व व्यावहारिक पूर्व कल्पना है जिसके बिना स्वयं नैतिकता ही के लिए खड़े होने तक का आधार नहीं रहता।

लेकिन धर्म का मामला ही दूसरा है। वहाँ तो जिस सीमा तक हमारी भक्ति का पात्र, भले ही वह चाहे जो हो, हमारे उच्चतम आदर्शों का वस्तुतः वर्तमान मूर्तरूप समझा जाता है, उसी सीमा तक वह, उसके साथ किए गए आध्यात्मिक समागम अथवा निदिध्यासन में हमारे भीतर परमानन्द और आत्मग्लानि का संयुक्त आवेश, पैदा कर सकता है और जहाँ तक हमारा संकल्प हमारे आदर्श को स्पर्श करता है वहाँ तक वह हमारे भीतर, स्वयं पूर्णता की भावना पैदा कर सकता है। साथ ही वह जिस सीमा तक वह संकल्प हमारे आदर्शों के पूर्ण मूर्तरूप के सान्निध्य में नहीं जा पाता वहाँ तक पापी समझे जाने और 'दैवी कोप के भाजन' होने की भावना हममें उत्पन्न करता है। यह विभिन्न प्रकार के मनोभाव ही मन की धार्मिक दशा को अन्य दशाओं से पृथक् करते हैं। किन्तु जैसाकि हमने अपनी द्वितीय खंड में सिद्ध किया था, सकल वास्तविक अस्तित्व मूलतः व्यष्ट है, वैयक्तिक है। इसी कारण तो धर्म तत्वरूपेण अपने आदर्श के पात्र को पूर्वतः वर्तमान व्यष्ट-रूप में ही देखता है। यही कारण है कि भक्ति के लक्ष्य अथवा श्रद्धार्ह आदर्श के रूप में कोई भी अमूर्त सिद्धान्त, जैसे राष्ट्रीयता, समाजवाद, गणतन्त्रवाद, मानवता आदि, भक्ति के पात्र अथवा पूजा के लक्ष्य किसी मूर्त व्यक्ति की अपेक्षा, भले ही वह व्यक्ति कितना ही अपूर्ण क्यों न हो—धर्ममय जीवन को अति निम्न श्रेणी के स्थायी अभिव्यंजक समझे जाते हैं।

(२) निष्कर्ष यह निकलता है कि कालीय व्यवस्था का कोई भी आभास मात्र धार्मिक भक्ति का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। जैसाकि हम पहले ही देख चुके, कि चूँकि स्वयं कालीय व्यवस्था ही असमाप्त और अपूर्ण होती है और इसीलिए उसका कोई भी भाग पूर्णतया व्यष्ट नहीं हो सकता। पूर्णतया व्यष्ट, अगर कहीं मौजूद भी हो, का अस्तित्व अकालीय अथवा कालातीत होना ही चाहिए। इसी लिए घटनाओं के कालीय

क्रम का कोई भी भाग, स्वयं धार्मिक श्रद्धा के पात्र के रूप में अन्तिमतः सन्तोषप्रद नहीं हो पाता। उस कालीय व्यवस्था के किसी भी अंश, किसी पुरुष, किसी निमित्त आदि को उसी सीमा तक पूजाई समझा या बनाया जा सकता है जहाँ तक कि कालीय तथ्यों को किसी ऐसी सत्ता या वास्तविकता का अपूर्ण आभास मान लिया जाय, जो पूर्ण रूप से पूर्णातिपूर्ण रूप से व्यष्ट होने के कारण स्वभावतः कालातीत है। इसके अतिरिक्त यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सकल परिमित व्यष्टता केवल अपूर्णतया ही व्यष्ट होती है और चूँकि वह अपूर्ण होती है इसलिए कालीय भी। धार्मिक भक्ति का एकमात्र अन्तिमतः पर्याप्त लक्ष्य अनन्त व्यष्ट अथवा स्वयं कालातीत निरपेक्ष ही होना चाहिए।

इतिहास बतलाता है कि दुनियाँ के सभी महान् दार्शनिक धर्मों ने उपर्युक्त विवादोचित की शक्ति का अनुभव पाकर किस प्रकार अपने अपने विविध देवी देवताओं में सर्व-शक्ति सत्ता का अध्याहार कर डाला है। इसी कारणवश यहूदियों के खुदा परमेश्वर के सबसे पहले जो दर्शन हमें उस धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं उसमें वह अन्य देवी देवताओं की विद्यमानता के कारण सीमित शक्तिवाला, स्वभावतः परि-वर्तनशील और दूसरे देवों के लिए अपनी गद्दी छोड़ भागनेवाला दिखाया गया है। किन्तु बाद की पुरानी इंजील के हिस्सों में, नयी इंजील में और उसके बाद के पादरियों के आध्यात्मिक अभिलेखों में हमें यहूदियों के उन प्रारम्भिक खुदा में धीरे-धीरे परिवर्तन होता पाते हैं और उसमें एक ऐसे खुदा का आदर्श विकसित होता हुआ प्रतीत होता है जो सर्वसर्वा अन्य विपरीत लक्ष्यों और हितों वाले दैवी अस्तित्वों द्वारा असीमित है तथा जिसके प्रयोजनों को द्रव्यगुण विशिष्ट पदार्थों के अन्तर्हित प्रतिरोध से कोई बाधा नहीं पहुचती। जरथुस्त्री सम्प्रदाय के खुदा की बात भी कुछ इसी तरह की है। उस धर्म के अनुसार अहुर माज्दा जैसे भले आदमी की शक्तियों पर अंग्रो मैन्युस जैसे बुरे जीव के सहयायी अस्तित्व के कारण लगा हुआ प्रतिबन्ध-जो पहले उस सम्प्रदाय का मौलिक आधार माना जाता था अब आधुनिक पारसी संप्रदाय के लिए विशुद्ध एकेश्वरवाद में परिणत हुआ कहा जाता है।

६—यह भी नोट करने की बात है कि सत् के अनन्त कालीन अक्षर रूप में प्रकल्पित परम सत् अथवा वास्तविकता की पूर्ण, अपरिमित समग्र व्यष्टिगत धारणा के साथ अपने इष्ट को एकाकार कर देने की प्रत्येक धर्म में पायी जाने वाली अनिवार्य प्रवृत्ति ही तत्वमीमांसा की अति कठिन 'अनिष्ट की समस्या' की जन्मदात्री है। क्योंकि खुदा या परमात्मा तथा निरपेक्ष एक ही होते तो और चीजों की तरह अनिष्ट भी उस परमात्मा के स्वभाव की अभिव्यक्ति ही होता। अगर बात ऐसी होती तो हम क्या यह कह सकते कि सही कहा जाय तो खुदा या परमात्मा 'सदगुणी' या भला है या यह कि वह हमारे आदर्शों का पूर्ण सिद्ध रूप है। अनिष्टविषयक इस कठिनाई में ही, अन्य सब बातों की अपेक्षा,

प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिकों को निरपेक्ष तथा ईश्वर में विभेद करने और ईश्वर को केवल एक मानने के लिए प्रेरित किया है और यद्यपि वह निरपेक्षान्तर्गत परिमित व्यष्टों में सबसे अधिक पूर्ण और उच्चतम व्यष्ट है।[1] निम्नलिखित अनुच्छेदों में मैं इस युगयुगीन पहेली को हल करने का उतना प्रयत्न नहीं करना चाहता जितना कि कुछ ऐसे सुझाव पेश करने में करना चाहता हूँ जिनकी सहायता से यह समस्या पाठकों के लिए बिल्कुल स्पष्ट हो जाय। ईश्वर के पारिमित्य के सिद्धान्त द्वारा अनिष्ट विषयक कठिनाई किसी प्रकार भी दूर होती प्रतीत नहीं होती बल्कि उसके कारण वह कठिनाई और भी बढ़ गयी है। क्योंकि अब अनिष्ट को दोहरे रूप में दुनियाँ के सामने आना पड़ेगा। एक तरफ तो यह मान लिया जा चुका है कि विश्व को अपने प्रयोजनानुकूल निरूपित करने के ईश्वरीय शक्ति को प्रतिबद्ध करनेवाला यह ईश्वर-विरोधी तत्व ईश्वर के बाहर ही वर्तमान रहता है। किन्तु हम देख चुके हैं कि चूँकि परिमित होने के कारण प्रत्येक परमित व्यष्ट पूर्ण रचनात्मक आभ्यन्तरिक एकतानता प्राप्त नहीं कर पाता इसीलिए उसके भीतर दोष और अनिष्ट का थोड़ा सा तत्व बना ही रहता है। अतः यदि परमात्मा परिमित होगा तो उसके स्वरूप में अनिष्ट अर्न्तहित अवश्य ही रहेगा। इसके

---

१. इसी लिए प्लैटो (अफलातून) ने 'रिपब्लिक' के द्वितीय खंड में सुझाया था कि हमारे साथ जो कुछ घटित होता है उसका सबका कारण ईश्वर नहीं होता वह तो हमारी भली बातों का ही कारण होता है। ऐसा लगता है कि यहाँ प्लैटो ने अपनी बात का सामञ्जस्य उस काल में लोक प्रचलित उस आध्यात्मिक सिद्धान्त के साथ बैठाने का प्रयत्न किया है जिससे वह पूरी तरह सहमत न था। ईश्वर विषयक इसी परिमितेश्वरता की कल्पना के आधुनिककालीन समर्थन के लिए देखिए डाक्टर राश्डाल का निबन्ध 'पर्सनल आइडियलिज्म' में। इसी विचार की ओर प्रेरित करनेवाले अन्य कारण जैसे कि परमात्मा को अपनी तरह ही परिवर्त्य अथवा स्थानान्तरित होनेवाला, उसके प्रति हमारा रुख बदलते ही उसके प्रभाव में आकर हमारे प्रति अपना रुख बदल डालने वाला, आदि मानने की हमारी इच्छा, बहुत ज्यादा तो वैयक्तिक भावनाओं की सनकीली प्रवृत्ति पर निर्भर होते हैं। इसलिए उनमें दार्शनिक गंभीरता और वजन बहुत कम पाया जाता है। अगर वैयक्तिक भावना को प्रश्रय देना पड़े तो कोई कारण नहीं मालूम देता कि क्यों न उन विरोधी लोगों की उस भावना को जो इस प्रकार के परिवर्तनशील परिमित ईश्वर की कल्पना से भड़कती है, स्थान दिया जाय। वैयक्तिक भावना को, भले ही उस की अर्हता चाहे जो कुछ भी हो, इस तरह पर एकान्त प्रश्रय देना, ऊपर से ही दीख पड़ने वाली लगती है।

साथ ही साथ वह अनिष्ट तथा तथानुमित ईश्वर बाह्य अस्तित्व में भी मौजूद मिलेगा। वस्तुतः इस सिद्धान्त का कि सकल परिसीमन में अन्ततः किया गया आत्म-परिसीमन सम्मिलित रहता है, एक और उदाहरण हमें मिलता है। इस मौलिक सत्य को भूल कर ही हम ऐसी सत्ता की संभावना की कल्पना कर पाते हैं जो 'पूर्ण तद्रूप [illegible]' होकर भी निरपेक्ष से लघुतर है।

और इसको [illegible] कर देने पर भी अपनी कठिनाई का [illegible]। क्योंकि एक 'परिमित' ईश्वर, जिसके बाहर एक ऐसी अन्य सत्ता या वास्तविकता मौजूद हो जो येनकेन प्रकारेण उसकी अपनी प्रकृति की विरोधिनी है,—कुछ [illegible] पूर्ण रूप से भला माना जाकर भी, ज्यादा से ज्यादा एक बड़े आकार का हमारे सरीखा जीव ही हो सकता है। ऐसी दुनिया में जिसके संघटन और अन्तिम परिणाम के बारे में हम कुछ नहीं जानते या जो कुछ जानते हैं वह हमारे आदर्शों की व्यष्ट पूर्ण सत्ता की खोज को पूरा नहीं कर पाता, वह ईश्वर हमारी ही तरह का कुछ सफल और कुछ असफल खिलाड़ी होगा।[1] यही वह विचारधारा है जिसे इतिहासानुसार ग्रीक तथा नार्डिक ऐसी जातियों के उन धर्मों ने, जिनके देवता अन्ततोगत्वा अज्ञेय और अनि[illegible] भाग्य के सिलसिलेवार मारे जाते रहे हैं, अंगीकार कर लिया था। लेकिन इस प्रकार के अज्ञात अपरिचित भाग्य के साथ संघर्ष करनेवाला भले ही वह संघर्ष कितना ही सफल क्यों न हो, परिमित जीव इस सबके बावजूद, केवल नैतिक आदर और सहानुभूति का ही पात्र हो सकता है धार्मिक श्रद्धा का नहीं। कितना ही उच्चस्थ क्यों न हो ऐसा जीव, पर फिर भी वह मानव की सकल अभिलाषाओं का सिद्धि रूप ऐसा पूर्ण और एकरूप व्यष्ट जिसे पाने के लिए धर्म तरसता रहता है, कभी नहीं हो सकता और इसी लिए पूर्ण और सच्चे अर्थों में उसे ईश्वर नहीं माना जा सकता।

तब यदि कितना ही उच्चस्थ, परिमित नैतिक व्यष्ट धार्मिक श्रद्धा का पर्याप्त लक्ष्य नहीं बन सकता तो वास्तविकता अथवा सत् के अनन्त व्यष्ट समग्र का मामला किस

---

१. क्योंकि अगर हमने एक बार मान लिया कि विश्व को इस प्रकार से निर्मित जानते हैं कि जिसमें ईश्वर भी अन्य परिमित जीवों की तरह का एक परिमित जीव है और जो हमारी उपर्युक्त माँग के अनुकूल ही निर्मित है, तो वह समग्र ही ईश्वर जिसका एक तत्व है, न कि ईश्वर स्वयं, धार्मिक उद्वेग का महत्तम लक्ष्य बन जायगा। अतः हम कह सकते हैं कि जब तक ईश्वर को व्यष्ट समग्र नहीं माना जाता तबतक वह पूर्णतया ईश्वर नहीं होता।

करवट बैठेगा ? क्या हम निरपेक्ष की अर्चना कर सकते हैं ?[1] यह एक ऐसा सवाल है जिस पर ध्यानपूर्वक विचार करना, उसका कोई निश्चयात्मक उत्तर देने का साहस करने से पूर्व, आवश्यक है।

७—उपर्युक्त समस्या का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। अनुभव हमें बतलाता है कि विशिष्ट व्यक्ति, खास खास आदमी, अपने अपने देवता के स्वरूप की विविधतम और अत्यन्त दोषपूर्ण कल्पनाओं पर विश्वास करके धार्मिक शक्ति और बल प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे विश्वास जो एक सी एक आदमी को 'विश्वास-जन्य शान्ति' प्रदान करते हैं, किसी दूसरे के लिए, यदि वह उन्हें गंभीरतापूर्वक आत्मसात् कर ले, वे ही विश्वास जिन्दगी बरबाद करनेवाले सिद्ध हो सकते हैं। एक आदमी का ईश्वर दूसरे का शैतान बन सकता है। लेकिन हम जो कहना चाहते थे वह उपर्युक्त बात नहीं है। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या निरपेक्ष भी कभी उपास्य हो सकता है। (१) क्योंकि हम देख चुके हैं कि परिमित व्यष्ट, तर्क व्यतिक्रम विना, कभी भी उपास्य नहीं बन सकते ? क्या उस निरपेक्ष में वे लक्षण मौजूद हैं, जो हमारे आदर्श उपास्य ईश्वर के पूर्व सिद्ध लक्षणों से मिलते-जुलते हों और जिनका उसमें होना तर्कानुमोदितरूपेण आवश्यक है ?

एकाएक देखने पर तो ऐसा लगेगा कि उसमें यह लक्षण विद्यमान हैं क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं, निरपेक्ष में परिमित अस्तित्व है ही, और है भी एक पूर्णतया व्यवस्थित रूप में। इसलिए सकल परिमित आकांक्षा की सिद्धि किसी न किसी तरह पर निरपेक्ष समग्र की संरचना द्वारा ही होना चाहिए यह जरूरी नहीं कि वह उसी तरह पर हो जिस तरह पर कि हम अल्पज्ञानी तथा परिमित गुणवान् जीव वस्तुतः उसकी पूर्ति कराना चाहते हैं। इस तरह पर निरपेक्ष समग्र ही, ऐसी मूर्त व्यष्ट वास्तविकता है—क्योंकि अन्य कोई भी वैसा नहीं बन सकता—जिसमें हमारे आदर्शों का वास्तविक अस्तित्व विद्यमान रहता है। चूँकि हमारे सकल आदर्श ही स्वयं, उस व्यवस्था के अन्तर्गत हमारे स्थानों तथा अवशिष्ट भाग के साथ हमारे सम्बन्ध को अनेक रूप से व्यक्त करते हैं इसलिए वह सकल व्यवस्था ही उन आदर्शों का विशिष्ट एकरस मूर्त रूप बन जाती है।

---

१. यह बताने की शायद जरूरत नहीं कि यदि निरपेक्ष की उपासना या पूजा किसी तरह की जा सकती हो तो वह उसे पूर्णतः व्यष्ट कल्पित करके ही की जा सकेगी। जहाँ भ्रान्ति से उसे अनिर्भर या स्वतन्त्र वस्तुओं के 'समूह', 'योग' अथवा 'साकल्य' रूप में प्रकल्पित किया जाता है तब वह अन्य समूहों या संग्रहों के समान ही देवगुण विशिष्ट नहीं रहता। गँवारू 'बहुदेववाद' का घातक यही आक्षेप है। बहुदेववाद के विसीश्वा कहे जानेवाले बहुत से गंभीर विचारक, निरपेक्ष विषयक इस संग्रह-पक्षीय दृष्टिकोण को कैसे सहन कर सके यह बात दूसरी है।

जैसाकि हमने पहले देखा, कि हो सकता है कि हमारे आदर्शों की सिद्धि समग्र द्वारा, ठीक हमारे प्रकल्पित रूप में न हो सकती हो किन्तु यह याद रखने की बात है कि जब हम यह शर्त रखते हैं कि समग्र को हमारे निजी निर्णय तथा मर्जी के मापदण्ड का अनुसरण करना होगा अन्यथा उसे निकम्मा मान लिया जायगा। तब ऐसा रुख अख्तियार कर लेते हैं जो कुतर्कपूर्ण तो होता ही है साथ ही अधार्मिक भी होता है। वह अतर्कसंगत यों होता है कि उसमें पहले ही से यह मान लिया जाता है कि वास्तविकता की समग्रीय व्यवस्था के पूर्णतर ज्ञान की अवाप्ति की इच्छा के साथ साथ ही हमें उस विशिष्ट विधि में जिसका तात्कालिक सुझाव हमें अपनी अपूर्ण अंतर्दृष्टि से प्राप्त होता है, अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति की भी इच्छा करना उचित है। वह अधार्मिक इसलिए है क्योंकि हमारी इस माँग में कि मानवीय इच्छाओं की पूर्ति हमारी इच्छानुकूल हो न कि 'ईश्वरेच्छानुकूल', हमारी बुद्धिमत्ता का भगवद्बुद्धिमत्ता के साथ साम्मुख्य सम्मिलित होता है और इसीलिए वह माँग दैवी व्यवस्था[1] के साथ हृदय और संकल्प की यथार्थ संयुक्ति के अनुकूल नहीं बैठती।

तब इस दृष्टिकोण के अनुसार अनिष्ट की समस्या का क्या बनेगा? और मानवीय आदर्शों की पूर्ण तथा एकरस संसिद्धि के रूप में निरपेक्ष समग्र के विचार के साथ कालीय व्यवस्थान्तर्गत नैतिक अनिष्ट का मेल कैसे बैठाया जा सकेगा? यह कहने की जरूरत नहीं कि इस समस्या का विवरणात्मक हल असम्भव है। ऐसे जीवों की हैसियत से जिनकी अन्तर्दृष्टि स्वयं अपनी ही परिमिति के कारण आवश्यक रूप से सीमित है, हम यह देख पाने की आशा नहीं कर सकते कि अनिष्ट रूप में हमारी आंखों के सामने आने वाली विषम विवृत्ति, विस्तृततर ज्ञान के बल पर क्यों कर, ऐसे समग्र की समाकलीय घटक मानी जा सकती है, समग्ररूपेण मानवीय आकांक्षाओं की सिद्धि रूप है। और इसीलिए अनिष्ट रहित भी। लेकिन कम से कम इतना तो संभव है ही कि हम ऐसे सुझाव दे सकें

---

१. मुझे ऐसा लगता है कि इस प्रकार की अधार्मिक भावना का बहुत कुछ कारण वे शिकायतें हैं जो एक 'जीते जागते ईश्वर' की जगह निरपेक्ष जैसे रद्दी स्थानापन्न को बैठाने से पैदा होती हैं। ये शिकायतें कुछ तो निःसन्देह उस भ्रान्त धारणा से पैदा होती हैं कि निरपेक्ष कोई मूर्त व्यष्ट नहीं है अपितु एक 'संग्रहात्मक कल्पना' मात्र है। लेकिन इन शिकायतों का कारण यह सन्देह भी है कि निरपेक्ष की अपेक्षा किसी निश्चित या परिमित देवता को कहीं अधिक अच्छी तरह अपनी इच्छानुकूल बनाया जा सकता है और उसके द्वारा हमें अपने आदर्शों की सिद्धि अपनी तौर पर कहीं ज्यादा आसानी से कर सकते हैं। जहाँ तक यह उद्देश्य उन शिकायतों के पीछे वहाँ तक वे मूलतः अपवित्र हैं।

जिनसे यह सिद्ध हो कि यह समस्या हमारी अन्तर्दृष्टि के अपरिहार्य दोषों का ही परिणाम है और ज्ञानाधिक्य से उस दोष को दूर किया जा सकता है । यह जान लेना कठिन नहीं कि दो मुख्य कारणों से ही यह विश्व संरचना परिमित अंतर्दृष्टि को अंशतः अनिष्ट रूप लगती है। अपने हितों और प्रयोजनों के सही रूप और उनके संबन्धों का पूर्ण ज्ञान भी प्रायः हमें कभी-कभी नहीं होता। हम सब ही कभी कभी तो सहीतौर पर इतना नहीं जानते कि हमारी आकांक्षा है किस बात की। अतः हमारे प्रयत्नों की अस्तित्व से भेंट अंशतः नकारात्मक प्रतीत होती है क्योंकि हमें ठीक तरह से पता नहीं होता कि उन प्रयोजनों का क्या मतलब है और उनका रुख किधर को है। इससे ज्यादा परिचित और तथ्य नहीं है कि मानव जीवन की सीमाओं के भीतर बढ़ता जानेवाला अनुभव हमें लगातार बताता रहता है कि हम किसी क्षण पर क्या चाहते हैं इस बारे में हमारा निर्णय कितना भ्रान्त और कितना दोषपूर्ण हो सकता है। चूँकि हम पूरी तरह कभी भी नहीं जानते कि हमारे आदर्श क्या हैं इसीलिए अधिकतया वे वास्तविक अस्तित्व से इतने भिन्न प्रतीत होते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त अपने कामों के प्रभावों के बारे में भी हमारा ज्ञान सदा बेहद अपूर्ण हुआ करता है। और हम असफल इसलिए होते हैं कि हम इतने अदूरदर्शी होते हैं कि अपने किए काम के महत्व को ठीक तरह समझ नहीं पाते। वास्तविक और आदर्श के बीच की, इस दूर से ही दीख पड़नेवाली खाईं के इन दोनों ही कारणों की एक ही जड़ है। अस्तित्व इसलिए अनिष्ट रूप प्रतीत होती है क्योंकि हम एकदम से ही उसे आत्मसात् नहीं कर सकते न उसके व्यष्ट स्वरूप में उसकी समग्रता को ग्रहण कर पाते हैं। हमें उससे भागशः पहचान करनी पड़ती है और वह भी कालीय श्रृंखला के व्यंगात्मक घटनानुवर्तन के रूप में। हम देख ही चुके हैं कि अपूर्णता कालीय श्रृंखला की ही चीज है। इसलिए हम समझ सकते हैं कि अनिष्ट आभास मात्र होने के साथ साथ ऐसा आभास भी है जो कालीय रूप द्वारा प्रतिविहित परिमित अनुभूति के हेतु अपरिवर्ज्य भी है। इसलिए यह तथाकथित 'समस्या' तभी तक असाध्य रहती है जब तक कि हम भ्रमवश स्वयं कालीय-व्यवस्था को ही निरपेक्ष की वास्तविक व्यष्टता के समग्र रूप का एक लक्षण मात्र मानते चले जाते हैं।[1]

---

१. **यहाँ पाठकों के दिमाग में सुकरात के इस प्रसिद्ध विरोधाभास का आना स्वाभाविक ही होगा 'गलत काम करना गलती है', 'दुर्गुण अज्ञानता का नाम है।' यदि हम इस की व्याख्या से यह माने निकालें कि भला आदमी बुरे आदमी से इसी बात में ज्यादा होता है कि सही मानों में वह जो कुछ चाहता है उसके बारे में उसकी अन्तर्दृष्टि ज्यादा सही होती है, तो वह अर्थ सही होगा।**

तब क्या हम कह सकते हैं कि निरपेक्ष या समग्र तत्त्वमीमांसानुसार 'श्रेयस्' है? प्रश्न का उत्तर इस कथन के उस अर्थ पर निर्भर है जिसे हम उसके साथ संयुक्त करें। अगर श्रेयस् से हमारा मतलब यह हो कि वह उन आदर्शों का जिनकी सिद्धि का प्रयत्न हम अज्ञान और भ्रान्ति के मध्य रहते हुए भी किये चले जाते हैं, वह वस्तुतः वर्तमान मूर्तरूप है, तब तो उक्त प्रश्न का उत्तर हमें 'हाँ' में ही देना होगा। किन्तु यदि हम 'श्रेयस्' शब्द का प्रयोग 'नैतिकरूपेण श्रेयस्' अर्थ में करते हैं तो हम बिना किसी लागलपेट के कह सकते हैं कि समग्र ही श्रेयस है। क्योंकि नैतिक श्रेयस् कालीय व्यवस्था की वस्तु है और उसका अर्थ है आभासी अनिष्ट के विरोध में आदर्श के आनुक्रमिक अध्यिरोण की प्रक्रिया। नैतिकरूपेणश्रेयस्कर होने के माने होते हैं ऐसा आदर्श सामने रखना जिसकी सिद्धि काल-क्रम की घटनाओं द्वारा तब तक नहीं हो पाती जब तक वे हमारी परिमित अनुभूति के अन्तर्गत, उन घटनाओं को हमारे आदर्श के अनुकूल बनाने के लिए आती चली जाती हैं। नैतिक जीवन अथ से इति तक एक संघर्ष का जीवन हुआ करता है और जहाँ संघर्ष ही न हो वहाँ नैतिकता की चर्चा करना अपने को भुलावे में डालना होगा। इसलिए 'निरपेक्ष' को 'नैतिक' न कहना ही अच्छा रहेगा।

किन्तु हमें याद रखना होगा कि निरपेक्ष केवल इसलिए नैतिक नहीं है क्योंकि वह नैतिक से और भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। नैतिक वह इसलिए भी नहीं है क्योंकि वह आदर्श को वास्तविकता से पृथक् नहीं करता। अथवा हम यों कह सकते हैं कि वह श्रेयस् से बढ़ा-चढ़ा ठीक इसलिए है चूँकि वह पहले ही से श्रेयस् है। परिमित जीवों की सकल अनुभूति की तरह नैतिकता में भी ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है जो आमूलान्त ऐसे परिणाम की ओर निर्देशित बनी रहती है जो एक बार प्राप्त हो जाने पर स्वयं उस प्रक्रिया का ही अतिक्रमण कर सकती है। नैतिकता अनिष्ट को ही दुनियां से मिटा देना चाहती है इससे कम पर सन्तुष्ट नहीं होती। और अगर अनिष्ट ही नष्ट हो जाता है तो उसके विरुद्ध चलने वाला संघर्ष अपने आप ही लुप्त हो जायगा और अनुभूति का कोई उच्चतर रूप ग्रहण कर लेगा। इसी तरह ज्ञान भी स्वयं ज्ञान के लक्ष्य की ही दम निकाल लेने की कोशिश करता रहता है। जब तक कि लक्ष्य किसी तरह अज्ञात रहता है जानने का काम तब तक पूरा नहीं समझा जाता है किन्तु जैसे ही एक बार किसी लक्ष्य को हम इस तरह पर जान जाते हैं कि उसके बारे में और कुछ जानने को कुछ बाकी न रहे तब स्वयं लक्ष्य में अस्वात्मात्मक ऐसा कोई पक्ष नहीं रहता जिसके बल पर उसे उस विषय से पृथक् किया जा सके जिसके द्वारा वह लक्ष्य ज्ञात था और इस तरह तब स्वयं ज्ञान की ही आवश्यकता नहीं रह जाती। तब संज्ञान और संकल्प दोनों ही पक्षों की ओर से हम देख सकते हैं कि परिमित जीव का समग्र जीवन किस प्रकार, अनुभूति का विस्तार करके ऐसी विषयवस्तु के पूर्ण निग्रह तक पहुँचा देने के सतत प्रयास का जीवन है, जो (विषयवस्तु) स्वयं

परिमित के लोप के बिना कभी भी निग्रहीत नहीं हो सकती थी। इस प्रकार अनुभूति हमारे इस मौलिक सिद्धान्त की साक्षी है, कि परिमित व्यष्ट स्वयं में ही अपनी आवृत्ति ऐसे अपूर्ण और अपर्याप्त रूप में किया करता है कि जिसके अपरिमित व्यष्ट की संरचना एक आभास होती है।

मैं नहीं जानता कि यहाँ एकाध शब्द से ज्यादा उस विवेकहीन आक्षेप के विषय में कुछ कहना आवश्यक है या नहीं जो प्रायः ऐसे सभी दार्शनिक और धार्मिक अभिमतों के विषय में उठाया जाता है जो अनिष्ट की अन्तिमेत्थ वास्तविकता से इनकार करते हैं अथवा जो स्वतंत्र रूप से वर्तमान शैतान को नहीं मानते। कहा जाता है कि अगर अस्तित्व पहले ही से पूर्ण होता तो उसे अधिक पूर्ण बनाने के लिए हम इतने कष्ट और असुविधाएँ नैतिक तथा राजनैतिक प्रयत्नों के कारण क्यों उठाते? क्या हमारे लिए यही उचित न होता कि हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहकर 'जैसा है वैसा ही' आलसियों की तरह बर्दाश्त करते चले जाते। सन्देह को इससे भी और आगे तक बढ़ाया जा सकता है। क्योंकि 'वस्तु स्थिति' को स्वीकार कर लेने के माने भी मनचीता काम और कामों की तरह ही स्वीकार कर लेने के ही होते हैं और इसलिए यह बहस पेश की जा सकती है कि ऐसी दुनिया में जहाँ सब कुछ 'पूर्ण' हो, काम करने से बचे रहना और नैतिक प्रयत्न करना दोनों ही समान रूप से अस्थान प्रस्तुत वस्तुएँ हैं।

यह आक्षेप निःसन्देह व्यष्ट वास्तविक रूप में वर्तमान अस्तित्व तथा कालीय शृंखला में हमारे सामने प्रकट होने वाले अस्तित्व के बीच की भ्रान्ति पर केन्द्रित है। नैष्कर्म्य की पोषक युक्ति विशुद्धरूपेण, कालीय घटनाओं की मूलतः अयथार्थ और अपूर्ण शृंखला में कालहीन समग्र के गुण, यथार्थ पूर्णत्व, के अध्याहारण पर आधारित है। उस यथार्थतः पूर्ण समग्र में ही अन्य सब वस्तुओं के साथ साथ, निःसन्देह, हमारे वे नैतिक आदर्श और हमारा वह नैतिक प्रयत्न जो हम कालक्रम में वर्तमान परिमित जीवों की हैसियत से किया करते हैं अन्तर्हित रहता है इसलिए उसका पूर्णत्व ऐसा कोई आधार नहीं जिसके कारण उन्हें निष्फल माना जा सके। काल शृंखला के आभासी अनिष्ट के विरुद्ध चलनेवाला हमारा अपना संघर्ष भी उस वास्तविकता का समाकलांश है, जो अपने पूर्ण व्यष्ट स्वरूप में, पहले ही से यथार्थतः पूर्ण तब होती है यदि हम केवल वह दृष्टिबिन्दु आत्मसात् कर सकें जिसके द्वारा हम उसके यथार्थ स्वरूप को पहचान सकें। जैसाकि प्लॉटिनस ने कहा है 'हमारा प्रयत्न श्रेयःपरक होता है और हमारा पलायन अनिष्ट से, प्रयोजनपरक विचार श्रेय और अनिष्ट दोनों का ही होने के कारण श्रेय है।'[१]

---

१. देखिए एन्नीड्स, १. ८, १५ (ह्विटेकर के नियोप्लैटो निस्ट्स नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ८३ पर उद्धृत तथा अनूदित) इससे थोड़े ही पहले प्लॉटिनस वह सही बातें कही

अगर बिना ननुनच यह नहीं कह सकते कि निरपेक्ष श्रेय है और निश्चय ही यदि हमें यह नहीं कहना है कि निरपेक्ष सही मानों में 'नीतिशास्त्रीय' है तब यह कहना तो और भी अधिक वर्ज्य है कि निरपेक्ष 'नैतिकतया अनवधानी' है। क्योंकि निरपेक्ष केवल अनैतिक अथवा अनीतिशास्त्रीय इसलिए होता है क्योंकि वह पहले ही सब कुछ होता है, जो बनने के लिए नैतिक जीवन प्रयत्न किया करता है। अतः नैतिक माप में कोई परिमित जीव अपने विशिष्ट हितों की समष्टि तथा उन हितों के बीच की एकतानता की मात्रा की दोहरी कसौटियों से कसा जाकर, जितना ही ऊँचा बैठता है उतने ही पर्याप्तरूपेण उसकी संरचना में समग्र की संरचना आवृत्त होती है और उतनी ही उसकी वास्तविकता की मात्रा भी ऊँची हुआ करती है। और इसके माने यह हैं कि विश्व व्यवस्था में, बुरे अथवा अनिष्टकर व्यक्ति के आदर्शों की अपेक्षा भले अथवा श्रेयस्कर व्यक्ति के आदर्शों में उनकी सिद्धि के लिए बहुत कम पुनर्गठन और परिवर्तन अपेक्षित होता है। एक तरह से तो, जैसाकि प्रोफ़ेसर रॉयस का भी अभिमत है, बुरे आदमी के भ्रान्त और लड़ाकू आदर्श भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि उसके सकल प्रयत्नों का लक्ष्य भी, चाहे वे प्रयत्न कितने ही अन्धे क्यों न हों, पूर्ण व्यष्टता ही होता है। लेकिन वह उसे ऐसी जगह खोजता है जहाँ वह मिल नहीं सकती—अर्थात् ऐसी इच्छाओं या वासनाओं की पूर्ति में, जिन्हें जीवन के संचालन कार्य में, उच्चतम स्थान, स्वात्म के विक्षेप और विकृति के बिना नहीं दिया जा सकता। जैसाकि प्लेटो ने कहा है 'अनिष्ट-कारी जैसा मन में आता है करता है' और इस कारण से ही वह कभी भी 'अपने संकल्पानुसार' कार्य नहीं किया करता। इसी लिए विश्व के अर्थ-तन्त्र में श्रेयस्कर पुरुष का स्थान अनिष्टकर पुरुष के स्थान से बहुत भिन्न हुआ करता है और स्वयं विश्व-व्यवस्था ही उन दोनों के मध्यगत विभेद के प्रति 'अनवधानी' होने के बजाय उससे

हैं कि प्रत्येक अर्थ में अनिष्ट के अस्तित्व से इनकार करना, श्रेयस् के अस्तित्व से इनकार करना है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यदि श्रेयस् की विद्यमानता अभीष्ट है तो अनिष्ट का भी किसी तरह का आपेक्षिक अथवा प्रपंचात्मक अस्तित्व होना उस श्रेयस् की पूर्ववर्तिनी शर्त के रूप में आवश्यक है। किन्तु श्रेयस् की सिद्धि की शर्त के रूप में कार्य करते हुए, सार्वत्रिकतर दृष्टिबिन्दु से, स्वयं अनिष्ट भी, श्रेयस् है, अतः अनिष्ट रूप में उसका अस्तित्व आभासी ही है। विश्व व्यवस्था में अनिष्ट की स्थिति सम्बन्धी समग्र प्रश्न के विषय में, देखिए डाक्टर मैकटगार्ट का 'पाप' विषयक निबन्ध जो उनके ग्रन्थ 'स्टडीज इन हेगेलियन कास्मॉलाजी' में छपा है।

एकदम उल्टी ही होती है।[1]

पाठकों को जो निष्कर्ष मैं स्वयं अपना निष्कर्ष कह कर दे रहा हूँ वह यह है कि निरपेक्ष से घटिया कोई वस्तु उपासना का अनुपयुक्त और अपर्याप्त लक्ष्य होती है और यह कि स्वयं निरपेक्ष की गठन ऐसी है जैसी कि उपर्युक्त प्रकार के लक्ष्य के लिए वांछित होती है। यदि यह बात और सुझाई जाय कि हर हालत में जब हम वास्तविक अनुभूति पर विचार करने लगते हैं तो हमें लगता है कि हम अपने उपास्य लक्ष्य को अपने लिए ऐसे व्यष्ट रूप में जो हमारे भीतर प्रभावी भावावेश जाग्रत कर सके तथा हमें यथार्थ कार्य-परता के लिए पर्याप्त विशुद्धतापूर्वक प्रेरित कर सके, तब तक निर्देशित नहीं कर सकते जब तक कि हम उसे उन काल्पनिक नृतत्वीय गुणों से मण्डित न कर दें जिन्हें तत्व-मीमांसीय आलोचना ने अपरिमित व्यष्ट के लिए अविनियोज्य ठहराया है। इस सुझाव के जवाब में यहीं मैं कहना चाहूँगा कि मैं उस सुझाव को माने लेता हूँ। और मैं नहीं समझता कि हमें इस निष्कर्ष से दूर भागना चाहिए कि व्यावहारिक धर्म में बौद्धिक व्याघात का थोड़ा पुट रहता ही है। अतः यद्यपि ईश्वर सच्ची तौर पर ईश्वर तब तक नहीं होता जब तक कि हम किसी ऐसे स्वच्छन्द 'अनिष्ट' की सत्ता से इनकार नहीं कर देते जो ईश्वर के स्वरूप को सीमित बनाता है, फिर भी यह संभव प्रतीत होता है कि ईश्वर के सहकर्मी के रूप में हमारी स्वविषयक कल्पना हमें शायद ही शुभ कर्म करने के लिए तब तक प्रेरित कर सके जब तक कि हम भी असंगत रूप से ईश्वर को विरोधी शक्ति से संघर्ष करता हुआ तथा हमारी सहायता का अपेक्षी न प्रकल्पित करने लगें। लेकिन इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि कार्य को मार्गदर्शन कराने के लिए धर्म का व्यावहारिक मूल्य

---

१. जब यह कहा जाता है कि यदि निरपेक्ष, विद्यमान है तो उसे नैतिकतया 'अनवधानी' होना चाहिए तब उस कथन में चेतन अथवा अचेतन रूप से विचार विभ्रम मौजूद रहता है। निरपेक्ष का निश्चित रूप से 'अनवधानी' होना इस माने में जरूरी होता है कि वह अपने किसी निर्मायकों अथवा कारकों में से किसी के भी विरुद्ध घृणा अथवा शत्रुता के आभ्यन्तरिक असामंजस्य को अनुभव नहीं कर पाता। क्योंकि निरपेक्ष दोनों पक्षों में स्वयं कोई पक्ष नहीं होता। वह एक साथ ही दोनों लड़ाकू पक्ष भी होता है और युद्ध स्थल भी। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि चूँकि निरपेक्ष घृणा और पक्षपात की भावना से हीन होता है इसलिए अवश्य ही वह इस अर्थ में अनवधानी होगा कि हमारी श्रेयस्कृति अथवा अनिष्टकारिता से हमारे तद्गत स्थान में कोई अन्तर नहीं पड़ता, अनेकार्थक दोष भागी होगा और इस दोष के लिए अचैतन्य और सदाशयिता के बहाने एकदम अपर्याप्त हैं।

उसकी वैज्ञानिक सत्यता पर आवश्यकरूपेण निर्भर नहीं होता ।

८—निःसन्देह हमारे लिए यह मान लेने की पूरी छूट होगी कि निरपेक्ष के अन्तर्गत अतिमानवीय शक्तिवान् तथा श्रेयस्कर ऐसे परिमित प्राणी हो सकते हैं जिनके साथ मानवता नैतिक उद्देश्यों के लिए सहयोग करने में सक्षम हो सकती है। किन्तु ऐसे ही प्राणी, यदि वे विद्यमान हैं तो उसी माने में ईश्वर न होंगे जिस माने में निरपेक्ष को ईश्वर कहा जा सकता है। हो सकता है कि वे हमारी श्रद्धा के पात्र बन सकें और हमारे सहयोगी, किन्तु चूँकि स्वयं सान्त होने के कारण वे अपूर्णतया वास्तविक और व्यष्ट होंगे इसलिए तर्कसंगतरूपेण वे इस स्थान के पात्र न हो सकेंगे जो किसी आदर्श की पूर्णतया और यथार्थतया व्यष्ट सिद्धि को प्राप्य हुआ करता है। वह स्थान फिर भी अंशतः उनके बाहर ही प्रकृति के समग्र रूप के अन्दर उसी तरह सम्मिलित जिस तरह हम और वे सब प्राणी सम्मिलित हैं। इस प्रकार वे सब प्राणी भी 'ईश्वर' बहुदेववाद के अनुसार होंगे न कि ऐकेश्वरवादी का एकल 'ईश्वर'।

इसके बाद, प्राग्ज्ञानपूर्वक यह निर्णय करने का कोई साधन मेरे पास नहीं है कि विश्व में ऐसी एक ही सत्ता हो सकती है। परिमित प्राणियों की शृंखला को यदि स्वयं भी परिमित मान लिया जाय तो भी, यह नहीं सूझता कि उसमें एक ही 'सर्वोत्तम' सदस्य कैसे हो सकता है। और उसे अपरिमित मान लेने पर क्या उसमें कोई एक 'सर्वोत्तम' सदस्य मिल भी सकेगा ?[1] तत्वमीमांसा के बस के बाहर की सी ही यह बात लगती है कि वह इस प्रकार की परिमित किन्तु उच्च पदस्थ सत्ताओं या प्राणियों के अस्तित्व की अथवा उनके कारकत्व या कर्तव्य की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का साक्ष्य ढूँढ़ सके। हम नहीं कह सकते कि वास्तविकताविषयक हमारी सामान्य कल्पना इस प्रकार की है कि जिससे इस सुझाव का निराकरण हो सके किन्तु उधर उस सामान्य कल्पना से भी हमें

---

१. अतः मैं यह नहीं समझ पाता कि ईसाइमत की परंपराओं का सम्मान बनाए रखने के अतिरिक्त, डाक्टर राश्डाल ने क्यों यह मान लिया कि उनके मतानुसार ईश्वर केवल एक है। अनेक नहीं। उनकी विवादोक्ति से तो मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ ईश्वर के एकत्व की स्थापना आवश्यक होती है वहाँ उन्होंने निरपेक्ष तथा ईश्वर को मिलाकर एक कर दिया है और ज्यों ही ईश्वर के 'व्यक्तित्व' का सवाल उठाया जाता है वहाँ वे उन दोनों में विभेद करने लगते हैं। 'देखिए' 'पर्सनल आइडियलिज्म' में उनका निबन्ध)। प्रोफेसर जेम्स जब बहुदेववाद को, ईश्वर की अनन्तता के स्वयंकृत निषेध का सम्भाव्य परिणाम बताने के लिए स्पष्टतः तैयार होते हैं तो उनकी तर्कना कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। (देखिए 'वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियन्स', पृष्ठ ५२४ एफएफ)।

ऐसा कोई निश्चयात्मक साक्ष्य उसे सही मानने का नहीं मिलता। अतः यह एक बहुत बड़ी हठधर्मी होगी कि हम फिर भी कहे चले जाँय कि निरपेक्ष परिमित व्यष्टता के ऐसे उपलक्षक अपने में रख ही नहीं सकता जो मानव समाज में मौजूद उपलक्षकों से उच्चतर हों, दूसरी ओर यह कहना भी उसी श्रेणी की हठधर्मिता कहलाएगी कि उनके अस्तित्व तथा हमारे साथ उनके प्रत्यक्ष या सीधे सामाजिक सम्बन्ध का सुतर्कित ज्ञान हमारे पास मौजूद है। इसलिए मेरे ख्याल से, हमें इतना कह कर ही सन्तोष कर लेना चाहिए कि जिस प्रकार की भी प्राक्कल्पना का सुझाव हममें से किसी को भी जहाँ तक स्वयं अपने वैयक्तिक अनुभव से प्राप्त होता है वहाँ तक उसे निष्ठा के वैध उपयोग का मामला माना जा सकता है।

४—उपर्युक्त विचारविमर्श के आधार पर ऐसी कुछ टिप्पणियाँ की जा सकती हैं जो संक्षेप में उन ईश्वरास्तित्वविषयक तथा कथित दार्शनिक विवादोक्तियों का संक्षिप्त विवरण दे सकें जो काण्ट और हेगल के हाथों पड़कर अविश्वास्य ठहरायी जाने से पहले तत्वमीमांसा के रंगमंच पर प्रमुख भूमिका अदा करती रहीं थी।[1] काण्ट की महान् उपलब्धि उसकी वह प्रदर्शन विषयक सफलता है जिसके द्वारा उसने यह दिखा दिया कि 'प्रमाणों' का सारा जोर इस प्रसिद्ध जीवविज्ञान शास्त्रीय वादोक्ति पर निर्भर है आधुनिक दर्शनशास्त्र जिसके देकार्ते के पंचम 'मेडिटेशन' में दिए गए स्वरूप से आज भी परिचित है। उस स्थल पर देकार्ते ने लिखा है :—'ईश्वर' शब्द से मेरा अभिप्राय एक पूर्णात्पूर्णतर सत्ता या प्राणी से। अब चूँकि अस्तित्व पूर्णता का और अनस्तित्व अपूर्णता का ही नाम है इसलिए मैं आत्म-व्याघात दोप का भागी हुए बिना किसी नास्तित्वमय पूर्ण सत्ता का विचार ही मन में नहीं ला सकता। अतः प्राक्कल्पनानुसार पूर्ण ब्रह्म या ईश्वर का अस्तित्व होना आवश्यक है और उसे ही एक मात्र ऐसी सत्ता होना चाहिए जिसका आस्तित्व उसकी परिभाषा से ही अनुगत होता है।

काण्ट की इस प्रसिद्ध निष्कर्ष-विषयक और भी प्रसिद्ध आलोचना उस सिद्धान्त पर केन्द्रित थी जिसे उसने ह्यूम के अध्ययन से सीखा था और जो यह था कि तार्किक आवश्यकता 'व्यक्तिनिष्ठ' होती है। यदि मैं गुणों के आधार पर परिभाषित किसी तार्किक विषय के बारे में सोचता हूँ तो उस परिभाषा में सम्मिलित सारे ही गुणों का उस विषय में अध्याहार करना 'आवश्यक' हो जाता है अर्थात् या तो मैं उस विषय में उनके होने की पुष्टि करूँ और यदि ऐसा न करूँ तो आत्मव्याघात दोप का भाजन बनूँ। अतः

---

१. काण्ट का यह प्रसिद्ध झपट्टा 'ट्रान्सडेण्टल डायलेक्टिक' बुक २, डिव ३, (दि आइडियल आफ़ प्योर रीजन), सेक० ३—७ में मिलेगा। ह्यूम की आलोचनाएँ उसकी मृत्युपरान्त पुस्तक 'डायलॉग्स कंसर्निग नैचुरल रिलीजन' में मिलेंगी।

'अस्तित्व' यदि उन यथार्थताओं में मूलतः सम्मिलित हैं जिनके द्वारा परिभाषा का विषय 'ईश्वर' परिभाषित होता है तो यह साध्य कि 'ईश्वर है' निश्चित रूप से आवश्यक है किन्तु यह साध्य समानार्थक भी है और तथ्यतः उसका मतलब यह दृढ़ कथन मात्र है कि 'कोई आस्तित्वमय पूर्णातिपूर्णतर सत्ता अस्तित्वमय पूर्णातिपूर्णतर सत्ता होती है।' किन्तु यदि क्रियापद में वर्णित अस्तित्व ऐसी कुछ चीज है जो विषय की भाषा में नास्तिक नहीं तो उनकी अवतारणा आप परिभाषा से नहीं कर सकते। वास्तविक अस्तित्व ऐसा क्रियापद नहीं जिसे किसी कल्पना या धारणा की परिभाषा में सम्मिलित कर लिया जाय। वे क्रिया पद जिनके द्वारा काल्पनिक सौ डालरों की परिभाषा की जाती है। वे ही क्रियापद होते हैं जिनके द्वारा असली सौ डालरों की परिभाषा की जाती है। असली और नकली डालरों में भेद नये विशेषणों या क्रियापदों के स्वामित्व से नहीं प्रकट होता वह तो किसी मूर्त अनुभूति में वस्तुतः दत्त होने पर ही प्रकट होता है। इसीलिए ऐसे वे सब साध्य जिनमें वास्तविक अस्तित्व का दृढ़ कथन पाया जाता है संश्लेषणात्मक होते हैं। (अर्थात वे अपने कर्ता अथवा विषय के बारे में ऐसा कोई दृढ़ कथन या दावा करते हैं जो तद्विषय कल्पना में निहित नहीं होता)। अतः ईश्वर अथवा अन्य वस्तु के वास्तविक अस्तित्व को उसकी परिभाषा से नहीं निकाला जा सकता।[1]

इस काण्टीय आलोचना की स्वयं भी बहुत आलोचना की गयी है। उसके प्रधान आलोचक हेगल तथा उसके बाद के वे दार्शनिक हैं जिन पर हेगेलियन सिद्धान्तों का

---

१. मेडिटेशन्स' के प्रथम प्रवर्तन के समय से ही मरसेन और गासेन्दी को काण्ट द्वारा इस प्रकार की आलोचना की जाने की आशंका हो गयी थी। विशेष रूप से गासेन्दी ने देकार्ते द्वारा की गई अस्तित्व और गुण धर्म विषयक गड़बड़ी की जो कड़ी आलोचना 'फिफ्थ ऑब्जेक्शन्स' में की है उसे तथा देकार्ते के तद्विषयक उत्तर को विशेष रूप से देखिए। लीब्निट्ज ने भी उसी एतराज को दुहराया और कार्टेजियन प्रमाणों में सुधार करने का प्रयत्न इस औपचारिक निदर्शन द्वारा किया कि ईश्वर का अस्तित्व संभव है और वह विद्यमान है (कार्टेजियन प्रमाणानुसार), किन्तु ईश्वर का अस्तित्व संभव है इसलिए ईश्वर है। उदाहरणार्थ देखिए लीब्निट्ज का ग्रन्थ-संग्रह, एर्डमान संस्करण, पृ० १७७; और लाट्टा कृत 'मान्डालॉजी ऑव लिब्निट्ज' पृ० २७४। ह्यूम की टिप्पणियाँ काण्ट से अधिक मिलती हैं।' 'जिसे भी हम विद्यमान कल्पित करते हैं उसे हम अविद्यमान भी कल्पित कर सकते हैं। इसलिए ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके अनस्तित्व में व्याघात सम्मिलित हो। परिणामतः ऐसा कोई चीज नहीं जिसका अस्तित्व प्रदर्श्य हो' (डायलॉग्ज कंसर्निंग नेचुरल रिलीजन, भाग १)।

प्रभाव प्रमुख रूप से विशेष पड़ा। हेगलीय आलोचना के प्रमुख सिद्धान्त रूप प्रतीत होने वाले अभिमत को बड़े ही स्पष्ट रूप में अंग्रेजी दर्शनशास्त्र के लिए श्री ब्रैडले ने व्यक्त कर दिया है।[1] और उन्हीं के विमर्श पर नीचे लिखी बातें प्रधानतया आधारित हैं।

जीव-विकास शास्त्रीय प्रमाण का मूल्यांकन करते समय हमें उसमें अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्त और जिस विशिष्ट रूप में वह उस सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है इन दोनों बातों को एक दूसरे से पृथक् ही रखना होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि काण्ट का यह कथन पूरी तरह से सही है कि अस्तित्व का अर्थ अगर अवकाशीय तथा कालीय क्रम में विद्यमानता माना जाय तो आप किसी विचार के मेरे स्वामित्व के आधार पर तत्सदृश प्रतिदर्शी विचार के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते।

आप यह नहीं कह सकते कि मैं जिस किसी की भी कल्पना करूँगा उसका अस्तित्व मेरे द्वारा कल्पित रूप में होना आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार सार्वत्रिक रूप से विनियोजनीय न होने के आधार पर ही जीवविकास शास्त्रीय प्रमाण को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। उसमें अन्तर्गस्त सिद्धान्त अपने सीधे-सादे रूप में यह प्रतीत होता है। प्रत्यय अथवा विचार तथा अपने अस्तित्व से बाह्य, काल-क्रम के तथ्य रूप में वर्तमान उस प्रत्यय की 'अर्थ-स्वरूपा' अथवा 'प्रतिनिधि' वास्तविकता या सत् दोनों ही ऐसी समग्र वास्तविकता के परस्परतः पूरक पक्ष हुआ करते हैं, जिसमें वे दोनों स्वयं भी शामिल रहते हैं। क्योंकि एक ओर तो ऐसा लचर और असत्य कोई प्रत्यय या विचार होता ही नहीं जिसका या तो कोई 'आशय' ही न हो या जिसके अपने वर्तमान अस्तित्व से बाह्य कोई लक्ष्यार्थक संदर्भ न हो[2]। दूसरी ओर अनुभूति के किसी भी विषय अथवा कर्ता के लिए जिसकी कोई यथार्थता न हो वह अवस्तु होती है। अतः अपने सामान्यतम रूप में जीव-विकासात्मक वादोक्ति एक सीधा सादा यह कथन मात्र है कि किसी कर्ता या विषय हेतु, अर्थ और वास्तविकता अन्योन्याभिप्रायी होते हैं। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सभी विचार समान रूप से सत्य और यथार्थ होते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि स्वयं उसकी विद्यमानता को छोड़ कर प्रत्येक विचार का कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है फिर भी हो सकता है कि विभिन्न विचार ऐसे की संरचना का प्रतिनिधित्व करें जिसके अर्थ को वे पर्याप्तता की परस्पर अत्यन्त भिन्न मात्राओं में व्यक्त करते हों। मेरे विचार का

---

१. अपीयरेंस्स एण्ड रीयालिटी—अध्याय २४।

२. कोई भी विचार केवल और निरपेक्ष रूप से उसी तरह असत्य नहीं हो सकता जिस तरह कि कोई कार्य बिना किसी लागलपेट के ही एकदम खराब या अनिष्टकर नहीं हुआ करता। यद्यपि शब्द निराशय अथवा निरर्थक हो सकते हैं तथापि विचार कदापि निरर्थक नहीं होते।

जो आशय है वह आशय अपने उस वास्तविक रूप से जिस रूप में मैं उसे सोचता हूँ अत्यधिक दूर हो सकता है।

अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि मेरा विचार आभ्यन्तर रूप से जितना ही एकरस और व्यवस्थित होता है उतने ही अधिक पर्याप्त रूप में वह अपने अर्थ को व्यक्त करता है यदि पूर्णरूपेण व्यवस्थित और संगत विचार मिथ्या निरूपण मात्र हो तो वैज्ञानिक सत्य विषयक हमारा समग्र निरूप का कोई मूल्य ही नहीं रहता। किस बुरी तरह से हम इस जीव-विकारात्मक वादोक्ति का उपयोग व्यावहारिक रूप से किया करते हैं यह बात आसानी से उस तरीके को देखने में समझ में आ जाती है जिसके अनुसार उदाहरणतः हम ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या अथवा उनका पुनर्निर्माण करते हैं। वहाँ व्यवस्थित और सर्वंकषा व्याख्या का आन्तरिक सांगत्य को ही उसकी सत्यता का साक्ष्य समझ लिया जाता है। अतः यह युक्ति पेश की जा सकती है कि यदि वास्तविकता पर विचार करने का कोई ऐसा व्यवस्थित तरीका मौजूद है जो निरपेक्षतया और पूर्णरूप से आभ्यन्तरतः संगत और हमारे विचारों की वैवृतिक अन्तर्वस्तु के जाटिल्य की यथासंभव वृद्धि के बावजूद भी प्रकृत्या अपरिवर्त्य रहनेवाला है तो हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसी विचार व्यवस्था, उस सीमा तक जहाँ तक कि कोई विचार वास्तविकता का प्रतिनिधित्व कर सकता है, नैष्कितया उस वास्तविकता का प्रतिनिधि होगा—जिसका प्रतीक वह है। अर्थात् जब कि विचार स्वयं वास्तविकता या सत् न 'होगा' क्योंकि वह तब भी विचार रूप है जिसके माने हैं कि वह अपने अस्तित्व के परे कोई वस्तु है, वहाँ उसे सत्य रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उसमें किसी संरचनात्मक परिवर्तन या रद्दोबदल की जरूरत तो न होगी केवल विवरणात्मक संपूर्ति की ही आवश्यकता पड़ेगी।

किन्तु यदि कहीं भी ऐसा विचार हमारे सामने हो जो उपर्युक्त प्रकार से आभ्यन्तरिकतया संगत हो और ज्ञान के अतिशय विस्तार से भी स्वभावतः अप्रभावित बना रहे तो निश्चय ही वह वास्तविक विषयक हमारी तत्त्वमीमांसीय कल्पना का एक निरपेक्ष या व्यष्ट विषय होगा। इस प्रकार किसी भी अर्थ में, जहाँ तक कि वह दोषात्मक नहीं होता, जीव विकासीय प्रमाण इस सिद्धान्त का समकक्ष प्रतीत होता है कि एक यथार्थिक विचार विशुद्ध ज्ञान का दाता होता है। और चूँकि सफल यथार्थिक विचारार्थ उसके लक्ष्य की संरचनात्म विशुद्ध व्यष्टता पूर्वानुमित होती ही है अतः वास्तविकता का यथार्थतः परिपूर्ण व्यष्ट होना आवश्यक है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह परिपूर्ण व्यष्ट, 'ईश्वर' भी हो यानी विशिष्ट धार्मिक आवेगों पर आधारित विश्वासों द्वारा अध्याहृत लक्षण उसमें विद्यमान हों। धर्म विषयक 'ईश्वर' तत्त्वमीमांसीय निरपेक्ष की सही कल्पना किस सीमा तक है इस बात को हम स्वयं धार्मिक अनुभूति की उपलक्षक अभिव्यक्तियों के विश्लेषण से जान सकते हैं। और यह स्पष्ट है कि

'ईश्वर' कहने का यदि हमारा अभिप्राय निरपेक्ष समग्र से घटिया किसी वस्तु का है, तो उसकी सिद्धि के लिए जीव विकासपरक प्रमाण की कोई सार्थकता नहीं रहती। यह सिद्ध कर सकना असंभव है कि सार्थक विचार की संभावना में निरपेक्षान्तर्गत वर्तमान, अनुभव द्वारा हमें अज्ञात रहनेवाली विशिष्ट परिमित सत्ता भी शामिल है।

'ब्रह्माण्ड-विज्ञानीय' प्रमाण अथवा 'विश्व विषयक आकस्मिकता पर आधारित वादोक्ति', जीव-विकास विज्ञानाधारित वादोक्ति के विपरीत, पहले पहल यह देखने पर दत्त अनुभवाधारित तथ्य को लेकर अपना कार्य प्रारंभ करती प्रतीत होती है। आलोचना हेतु काण्ट द्वारा संक्षेपीकृत रूप में उसे यों प्रस्तुत किया जा सकता है :—"यदि किसी भी वस्तु का जरा सा भी अस्तित्व है तो उसके साथ साथ निरपेक्षतया आवश्यक सत्ता का होना भी जरूरी है। उदाहरणतः मैं स्वयं विद्यमान हूँ, निरपेक्षतया आवश्यक सत्ता भी विद्यमान है।" प्रमाण को अच्छी तरह पक्का पूरा करने के लिए यह सिद्ध करना जरूरी होगा कि उप-स्थापना में जिसके अस्तित्व का दृढ़ोपकथन हुआ है वह सत्ता, अर्थात् मैं स्वयं, अपने आप में 'निरपेक्षतया आवश्यक सत्ता' नहीं हूँ और इस प्रकार समापित वादोक्ति सिद्धान्ततः तृतीय मेडिटेशन में देकार्ते द्वारा प्रस्तुत द्वितीय 'प्रमाणों' से एकाकार हो जाती है। उक्त स्थल पर यह निष्कर्षित हुआ है कि यदि मैं, एक निर्भर सत्ता, विद्यमान हूँ, तो एक ऐसा ईश्वर भी होना आवश्यक है जिसपर मैं तथा अन्य सब वस्तुएँ निर्भर हैं।[1] काण्ट के कथनानुसार इस निष्कर्ष की सारी शक्ति जीव-विकासीय वादोक्ति के अग्रिम स्वीकरण पर निर्भर होती है। अपने आपसे तो ब्रह्माण्ड-विज्ञानपरक प्रमाण इतना ही सिद्ध करता है कि यदि कोई आश्रयी अस्तित्व वास्तविक हो, तो, किसी प्रकार के स्वतन्त्र अथवा अनिर्भर अस्तित्व का भी वास्तविक होना आवश्यक होगा। इसे ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में परिवर्तित करने के लिए आपको जीव-विकास विज्ञानीय 'प्रमाण' की पूर्णात्पूर्ण सत्ता' अथवा 'वास्तविकतम' या 'परमसत्' का 'अनिर्भर अस्तित्व' के साथ साम्य बैठाने के लिए और भी आगे बढ़ना होगा। क्योंकि अन्यथा, ह्यूम के कथोपकथनों

---

१. जैसा काण्ट ने नोट किया है, यह वादोक्ति लीब्निट्ज को भी प्रिय थी। लीब्निट्ज द्वारा इस वादोक्ति तथा अन्य 'प्रमाणों' के उपयोगार्थ देखिए बर्ट्रेण्ड रसल लिखित ('फिलासफी ऑफ लीब्निट्ज', अध्याय १५) उसके विरुद्ध उठायी गयी ह्यूम की आपत्तियों के लिए पूर्वोद्धृत 'डायलॉग कंसर्निंग नैचुरल रिलीजन' का नवाँ खंड देखिए। तृतीय मेडिटेशन का अन्य 'प्रमाण' अर्थात् यह कि आनुभविक स्रोतों से जिसकी प्राप्ति मैं नहीं कर सकता ऐसे ईश्वरविषयक प्रत्यय का मेरा स्वामित्व प्रत्यय-विषयक लक्ष्य की वास्तविकता का प्रमाण है, प्रत्ययादस्तित्व-परक जीव विकासीय वादोक्ति का ही एक विशिष्ट रूप है।

(डॉयलाग्ज) के एक प्रवक्ता ने जैसा सुझाव दिया है वैसा ही सुझाव इधर से भी दिया जा सकता है कि योगरूपेण अथवा समूहरूपेण ग्रहीत प्रसंगात्मक घटनाओं की शृंखला स्वयं ही, ऐसा 'अवश्यंभावी अस्तित्व' है जिसपर प्रत्येक पृथक घटना का आकस्मिक 'अस्तित्व' निर्भर होता है। 'मैंने पदार्थ के बीस कणों के संग्रह में मैं प्रत्येक व्यष्ट के विशिष्ट कारण दिखाए थे न, अब अगर बाद को आप मुझसे पूछें कि सब बीसों का कारण क्या है तो मुझे आपका यह प्रश्न अत्यन्त अयुक्तियुक्त प्रतीत होगा। भागों का कारण बतलाते हुए यह बात पर्याप्त रूप से पहले ही समझाई जा चुकी है।

इस आपत्ति से बचने के लिए हमें यही कहे चले जाना होगा कि कि केवल 'पूर्णातिपरपूर्ण सत्ता' ही 'अन्तिमेत्थतया आवश्यक' 'चरम आवश्यक' सत्ता हो सकती है और यह कि उसका 'आवश्यक अस्तित्व' उसके स्वरूप का परिणामी है। जैसाकि हम पहले देख चुके हैं यही दावा जीव विकासीय 'प्रमाण' में भी किया गया है। अतः जीव-विकासात्मक 'प्रमाण' की हमने जो आलोचना की है वह ब्रह्माण्ड विज्ञानीय 'प्रमाण' पर भी बराबर से लागू होगी। यदि हम दोनों को मिला दें और जीव विकासीय 'प्रमाण' को पहलेवाले रद्दोबदल के अनुसार उन दोनों को फिर से प्रस्तुत करें तो वादोक्ति का रूप कुछ प्रकार का होगा। सारे ही साध्यों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सन्दर्भ वास्तविक अस्तित्व, हुआ करता है। अतः यह दावा करना कि अवस्तु का अस्तित्व होता है अथवा कुछ भी विद्यमान नहीं रहता, आत्मव्याघात दोषपूर्ण होगा। किन्तु अस्तित्व स्वयं केवल व्यष्ट रूप में ही प्रकल्प्य होता है। अतः निरपेक्षतया व्यष्ट का वस्तुतः अस्तित्ववान् होना आवश्यक है। और यह बात इस पुस्तक के द्वितीय खंड में दी गयी हमारी तर्कना के सामान्य सिद्धान्त से मिलती जुलती है। यदि यह वैध हो तो स्पष्ट ही है कि वह केवल तत्वमीमांसीय निरपेक्षविषयक वादोक्ति के रूप में ही वैध होगी, वह न तो उस निरपेक्ष को धर्माभिहित ईश्वर ही सिद्ध करेगी न निरपेक्षान्तर्गत परिमित व्यष्ट रूप ईश्वर के अस्तित्व का दावा करने के लिए कोई आधार ही प्रस्तुत करेगी।[1]

---

१. इस रूप में परिवर्तित होकर जीव विकास युक्त ब्रह्माण्ड विज्ञानीय द्विधा वादोक्ति को दो आधारों पर आक्रान्त किया जा सकता है—(१) यह कि वह फिर एक बार इतना ही प्रमाणित करती है कि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सारे ही साध्यों का विचार्य विषय केवल वास्तविक अस्तित्व की खोज मात्र है निरपेक्ष भले ही वह प्रत्यक्षत हो अथवा दूरतः, निरपेक्ष की उपस्थिति हमें स्वीकार करनी ही होगी लेकिन इससे यह नहीं प्रकट होता कि सारे ही साध्य इसी विचार में उलझे रहते हैं। (२) यह कि जब हम कहते हैं कि अस्तित्व केवल व्यष्टरूपेण ही प्रकल्प्य होता है तो हम अस्तित्व को विशेषणात्मक मानने की देकार्ते की भ्रान्त कल्पना के वशीभूत होकर ही ऐसा कहते हैं। उपर्युक्त दोनों बातों का उत्तर में इस प्रकार

भौतिक्यध्यात्मवादीय वादोक्ति, जिसे अभिकल्पात्मक प्रमाण अथवा साध्य-वादीय प्रमाण भी कहते हैं, उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से, अपने प्रचलित रूपों में वस्तुतः अनुभवाधारित होने के कारण भिन्न होती है। प्रकृति की संरचना में वर्तमान आभासी व्यवस्था तथा मानवीय श्रेयस् की उस भावना के रूप में जो किसी बुद्धिमान अथवा हित-कारी सत्ता या सत्ताओं को प्रकृति का कर्त्ता मानती है, यह वादोक्ति विश्व के प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही युगों की सभी विश्वपरक वादोक्तियों में सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। ज़ोनोफ़न के कथनानुसार सुकरात इस वादोक्ति पर बड़ा जोर देता था। अध्यात्म-वादीय विश्वासों की तार्किक आलोचना के आधुनिक प्रतिरक्षकों में भी उसका स्थान प्रमुख है। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि ह्यूम और काण्ट की आलोचनाएँ 'अभि-कल्पनात्मक वादोक्ति' के लिए एकदम घातक तब हो जाती हैं जब इस वक्रोक्ति को अनन्त श्रेयस् और बुद्धि के आगार, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जैसाकि काण्ट का भी कथन है, अपने श्रेष्ठतम रूप में, प्रकृतिविषयक प्रेक्षित व्यवस्था और एकरूपता के आधार पर हम प्रकृति के कर्त्ता को किसी परिमित मात्रा में श्रेयस्कर और बुद्धिमान मान सकते हैं। प्रकृति के कर्ण में भी अपरिमित बुद्धि और श्रेयस्कर्तृत्व का अनुमान करने के लिये उसकी एकान्त एकरूपता और श्रेयस्कर्तृत्व के जिस दृढ़कथन की हमें आवश्यकता पड़ती है वह अनुभवाधारीय सत्यापन की सीमाओं के एकदम बाहर है और किसी जीव-विकास-विज्ञानीय प्रमाण द्वारा ही उसे स्थापित रखा जा सकता है। अतः 'अभिकल्पात्मक वादोक्ति' ज्यादा से ज्यादा ऐसे ही ईश्वर को सिद्ध कर सकती है जिसकी बुद्धि और श्रेयस्करता, जहाँ तक वे ज्ञेय हैं, सीमित ही होती हैं। इसी बात को और भी अधिक जोर के साथ ह्यूम ने यों पेश

दूँगा (१) विवादान्तर्गत वाद विषय की वैधता से तब तक इनकार नहीं किया जा सकता जब तक निषेध पक्का न हो। अर्थात् जब तक सुझावान्तर्गत साध्य कि 'कम से कम कुछ साध्यों का, मेरे मन के मानसिक तथ्य के रूप में, स्वयं प्रस्तुत होने के अतिरिक्त, वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं हुआ करता' का प्रश्नान्तर्गत सरोकार ही उसका अपना सरोकार नहीं बन जाता तब तक वह साध्य अर्थहीन रहता है और इसलिए वह यथार्थ साध्य भी नहीं रहता। (२) यह कि अस्तित्व के तत् और 'किं' की अलग अलग पहचानें करना आवश्यक है। अस्तित्व के 'तत्' और 'किं' की अलग-अलग पहचान करना आवश्यक है। अस्तित्व का 'तत' एकदम अकल्पनीय है किन्तु हमारा कहना है कि इस अप्रकल्पनीय तत् को केवल तर्कानुसार ही न कि वस्तुतः उसे 'किं' से पृथक् किया जा सकता है। और यह कि 'तत्' और 'किं' की इस अवियोज्यता ही को हम 'व्यष्टता' मानते हैं।

किया है कि यदि मानवीय प्रयोजनों के लिए, प्रकृति के आंशिक विषयक ज्ञात तथ्य अपने असली रूप में किसी बुद्धिमती और श्रेयस्कर प्रज्ञा की सिद्धि के लिए वैध हैं तो क्या वे सदोष श्रेयस्करता तथा सदोष बुद्धिमत्ता की सिद्धि के लिए, सामञ्जस्य-राहित्य के तत्सदृश ही सुनिश्चित तथ्य नहीं हो सकते ?[१]

भौतिकधर्मध्यात्मवादीय प्रमाण के निष्कर्षों तथा अन्य 'प्रमाणों' के परिणामों के बीच पायी जाने वाली भिन्नता का एक और भी गहरा तत्त्वमीमांसीय कारण है जिसका संक्षिप्त रूप में यहाँ जिक्र कर देना उचित होगा। पहले से सोची गयी 'अभिकल्पना' के कारण ही विश्व में क्रम और व्यवस्थित एकता पायी जाने की समग्र कल्पना तभी हमारी समझ में आ सकती है जब हम उस अभिकल्पना के निर्माता या कर्ता को परिमित तथा अपनी ही तरह कालीय उत्परिवर्तनीयता का भाजन मान लें। क्योंकि स्वयं अभिकल्पना की धारणा में ही मनसा-कल्पित आदर्श का उस तथ्यिकता से, जो उस आदर्श के आनुकूल्यीकरण की प्रतीक्षा करती रहती, पार्थक्य अभिनिविष्ट रहता है और परिणाम-स्वरूप वह कालीय-प्रक्रिया भी उसी में अभिनिविष्ट रहती है जिसे हम सत्ता के परिमित का उपलक्षक पहले ही पा चुके हैं। अतः भौतिकधर्म-ध्यात्मवादीय प्रमाण स्वतः परिमित 'देवों' की वास्तविकता सिद्ध करने के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है न कि ईश्वर की, क्योंकि वह परिमितिपरक पदार्थों से ही शुरू से आखिर तक अपना काम किया करता है।

प्रारम्भिक पूर्वानुमानों द्वारा इस प्रकार परिसीमित उक्त वादोक्ति की तार्किक शक्ति के विषय में यहाँ केवल एक ही टिप्पणी आवश्यक है। उपर्युक्त तर्कना में जिस बात पर जोर दिया गया है वह न केवल यही है कि 'प्रकृति' वस्तुतः व्यवस्था तथा प्रयोजनात्मक अभिरुचि ही नहीं बल्कि एक अभिकल्प-युक्त व्यवस्था भी है। उसके साथ इतना और भी है कि उसमें मानव प्रगति के सहायक और पोषक विशिष्ट अभिकल्प के दर्शन भी हमें होते हैं। लेकिन बात वास्तव में ऐसी है या नहीं यह अनुभवाश्रित तथ्यता विषयक ऐसा प्रश्न प्रतीत होगा जिसका निर्धारण उसी प्रकार की अनुभवाधारित समस्याओं पर लागू हो सकनेवाली विधियों द्वारा ही हो सकेगा। भविष्य में संभवतः जिन विचारपंक्तियों के अनुसार उपर्युक्त बात का निर्णय किया जायगा वे निम्नलिखित सामान्य प्रकार की है। प्रतीत होता है कि विकासात्मक विज्ञान ने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि जो प्रभाव उसे ज्ञात हैं—जैसे कि 'प्राकृतिक' और 'लैंगिक चयन'—उनमें ऐसी प्रक्रियाएँ विद्यमान होती हैं जो, जहाँ तक हम जान सकते हैं वहाँ तक, परिणामों की सिद्धि हेतु किए जाने वाले प्रयत्नों के बिना ही, हितकारी परिणाम उत्पन्न किया

---

१. 'डायलॉग्ज कंसर्निग नेचुरल रिलीजन', भाग २।

करती है।[1] तब हमें यह पूछना पड़ता है कि क्या ऐसा कोई वास्तविक आधार मौजूद है या नहीं जिसके बल पर कहा जा सके कि ये प्रभाव स्वतः इतने पर्याप्त नहीं कि वे मानवीय सभ्यता के विकास का जहाँ तक कि वह विकास पर्यावरणीय तत्वों के कारण हुआ हो, कोई कारण बता सकें। यदि वे इतने पर्याप्त हैं तो किसी हितकारी मानवातिश्रेष्ठ कर्त्ता द्वारा मानवीय विकास होने विषयक 'भौतिक्यध्यात्मिक' वादोक्ति अपेक्षाधिक अथवा निरर्थक सिद्ध होगी। यदि वे इतने पर्याप्त नहीं हैं तो उनका अभाव हमारे लिए यह मान लेने का एक अच्छा आधार प्रस्तुत करता है कि हमारे पर्यावरण की निर्मात्री एक अमानवीय 'अभिकल्पक' परिमित प्रज्ञा है। दोनों ही तरह से प्रश्न ऐसा अनुभवाधारित तथ्य-विषयक प्रतीत होता है कि सामान्य तत्वमीमांसीय आधारों पर उसका अग्रिम निर्धारण नहीं हो सकता।[2] न हमें ही यह उचित प्रतीत होता है कि हम प्रकृति में ऐसा अभिकल्प होने का पूर्वानुमान कर लें कि जिसका अस्तित्व मान लेने पर वह सदा ऐसे लक्ष्यों की सिद्धि हेतु आवश्यकरूपेण निदेशित हो, जो या तो हमारे लिए बोधगम्य हों और यदि बोधगम्य हों तो इस अर्थ में 'हितकारी' हों कि वे हमारे विशिष्ट मानवीय हितों को और आगे बढ़ा सकें। और इस विषय को यहाँ तक पहुँचाकर अब मैं विरत होता हूँ।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए :—एफ० एच० ब्रैडले, 'कृत अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय २५, २६; ई० मैकटॉगार्ट लिखित 'स्टडीज इन हेगेलियन कॉस्मोलॉजी', अध्याय ६, ८; रॉयस कृत 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इंडिविजुअल', द्वितीय सीरीज, लेक्चर ९, १० ।

---

१. यह हमारे अपने इस अभिमत के एकदम अनुकूल है कि सकल वास्तविक प्रक्रियाएँ इस माने में साध्यपरक होती हैं कि वे व्यक्ति-निष्ठ-हित-प्रमुख होती हैं क्योंकि (अ) सकल साध्यपरक प्रक्रिया किसी तरह से भी वास्तविक 'अभिकल्प' नहीं होती न 'संकल्प'। (उद्वेग, इन्द्रियवासना, अभ्यास आदि सब इसी के अंतर्गत हैं) और (ब) वास्तविक संकल्प का सदा उत्पादित परिणामपरक संकल्प होना आवश्यक नहीं होता। मनुष्य का 'लैंगिक चयन' ऐसी प्रक्रिया का उदाहरण हो सकता है जो वास्तविक संकल्प का रूप धारण कर सके, किन्तु उस दशा में वह संकल्प तब यदा-कदा ही उस मूल वृन्त को उन्नत बनाने का संकल्प होता है जो वस्तुतः उसी से पैदा होता है ।

२. तुलना कीजिए ब्रैडले की 'अपीयरेंस एंड रीयालिटी' के पृष्ठ २००, ४९६–४९७ (फर्स्ट एडिशन) से । आस्तिकतावादी 'प्रमाणों की ह्यूमीय तथा काण्टीय आलोचनाओं का प्रोफेसर फिलण्ट का प्रयतित उत्तर मुझे इस अध्याय में लिखित अपने विचारों में सुधार करने के लिए प्रेरित नहीं कर सका।

अध्याय ६

उपसंहार

१—क्या हमारी निरपेक्ष अनुभूति, सहीतौर पर, 'विचार और संकल्प का संयोग' कही जा सकती है ? 'निरपेक्ष' निश्चित रूप में हमारे प्रज्ञात्मक तथा व्यावहारिक आदर्शों की अंतिम संसिद्धि ही है। किन्तु (१) उसमें सौन्दर्यानुभूति, सुख, दुख आदि पहलू जो न तो विचार होते हैं न संकल्प, शामिल रहते हैं। (२) और वह निरपेक्ष न तो विचार का न संकल्प ही का उनके तद्रूप में निरपेक्ष स्वामी ही हो सकता है। विचार और संकल्प दोनों ही प्रकृत्या ऐसी वास्तविकता का पूर्वानुमान किए रहते हैं जो विचारमात्रातीत तथा संकल्प मात्रातीत होती हैं। २—कहा जा सकता है कि हमारे इस उपसंहार में एक माने में, नास्तिकवाद और इसी तरह पर रहस्यवाद के भी तत्व अन्तर्ग्रसित हैं। किन्तु यह उपसंहार नास्तिक इसी माने में हैं कि उसमें यह कहा गया है कि हम निरपेक्ष अनुभूति के विशुद्ध स्वरूप से अभिज्ञ नहीं हैं। जहाँ तक ज्ञान की वैधता का प्रश्न है वहाँ तक तद्विषयक अविश्वास इस उपसंहार में अभिग्रस्त नहीं है। उसका आभासतः नास्तिकतापरक निष्कर्ष स्वयं ज्ञान के साक्ष्य पर ही आधारित है। इसी प्रकार वह अवबोध और संकल्प की रचनाओं की मान्यता से इनकार करने के कारण नहीं अपितु उनका अतिक्रमण करने के कारण ही रहस्यपरक कहलाता है। ३—तत्वमीमांसा हमारी जानकारी में अन्य कुछ भी वृद्धि नहीं करती न वह कार्य के नये स्रोत ही हमारे लिए प्रस्तुत करती है। वस्तुओं की प्रकृति के विषय में समग्ररूपेण अटकलबाजियाँ करने की उसकी अनवरत प्रवृत्ति ही अंतिमतः उसका औचित्य सिद्ध करती है।

१—इस ग्रंथ की समाप्ति करने से पहले यहाँ, पुनरावृत्ति-स्वरूप, संक्षेप में सामान्य सिद्धान्तविषयक हमारे उन कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों को, जिन पर हमारे पूर्वगत विचारविमर्श के दौरान, उनके अनुरूप ध्यान नहीं दिया जा सका, यहाँ एकत्र कर देना उचित प्रतीत होता है। हमारी प्रमुख वादोक्ति, जिस विशिष्ट समस्या-विषयक हमारी विचारणाओं से पर्याप्त संपुष्टि हो जाने की आशा की जा सकती है, यह थी कि वास्तविकता समग्ररूपेण अन्ततोगत्वा ऐसी एकल व्यष्ट व्यवस्था का निरूपण करती है, जिसकी सामग्री मनस्तत्वीय तथ्य वस्तु ही होती है और यह कि इस व्यवस्था की व्यष्टता अन्ततोगत्वा व्यक्तिनिष्ठ हित के साध्यपरक एकत्व में निहित होती है। इसके अतिरिक्त हमने यह भी देखा कि अपनी मात्रा या श्रेणी के अनुसार सकल अधीनस्थ

वास्तविकता भी व्यष्ट होती है और यह कि निरपेक्ष की अन्तर्वस्तुएँ भी इस प्रकार, वास्तविकता तथा व्यष्टता के उत्तरोत्तर वर्धमान क्रमों के सोपानात्मक संगठन का निरूपण करती हैं और यह कि इस तरीके पर जहाँ सकल परिमित अस्तित्व, परिमित रूप में आभास होता है न कि अन्तिमेत्थ वास्तविकता, वहाँ आभास स्वयं भी विविध मात्राएँ होते हैं; और यह कि आभासों के बिना कोई वास्तविकता होती ही नहीं। अंत में हमने यह भी जाना कि परिमित व्यष्टों की सकल अभिलाषाओं, आकांक्षाओं का किसी न किसी तरह अन्तिमेत्थ वास्तविकता में सम्मिलित होना पूर्ण होना आवश्यक है, भले ही, वे, आवश्यकरूपेण उसी रूप में पूर्ण न हो सकें जिस रूप में कि परिमित आकांक्षी ने चैतन्यावस्था में उनकी आकांक्षा की थी।

इस अंतिम निष्कर्ष से इस प्रश्न का सुझाव मिलता है कि अन्तिमेत्थ वास्तविकता को यदि हम "विचार और संकल्प" का संयोजन कहें तो क्या यह उसका सही वर्णन होगा। क्योंकि यह वर्णन भ्रान्त प्रतीत होता है इसके कारणों का संक्षिप्त निर्देश मैं करूँगा। (१) निरपेक्ष को निःसंदेह इस माने में 'विचार और संकल्प की संयुक्ति' कहा जा सकता है कि उसकी सारी ही व्यष्ट रचना, व्यवस्थित मिथः—संबंध विषयक हमारे तार्किक आदर्श से तथा हमारे सिद्ध, व्यष्ट प्रयोजन के नीति-धर्मतत्वीय आदर्श से एकदम मिलती जुलती है। लेकिन इतना और भी कहना जरूरी है कि निरपेक्ष के ऐसे भी पहलू प्रतीत होते हैं जिन्हें इन दोनों विभागों में से किसी भी विभाग के अन्तर्गत ठीक से नहीं रखा जा सकता। उदाहरण के लिए सौन्दर्य-भावना और उस पर आधारित सौन्दर्य-बोध विषयक निर्णयों को समाकलीय पक्ष के रूप में अनुभूति के निरपेक्ष समग्र के अन्तर्गत ही रखना आवश्यक होगा। फिर भी सौन्दर्यानुभूति को सहीतौर पर न तो विचार और न संकल्प ही समझा जा सकता है। यही आपत्ति सुख के विषय में भी उठायी जा सकती है। सुखद अनुभूति के अवधारण अथवा नवीकरणार्थ किए गए संकल्पात्मक प्रयत्नों से सुख का चाहे जितना भी निकट का संबंध क्यों न हो, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'विशुद्ध' सुख[1] या सुखानुभूतियाँ चेतन 'संकल्पात्मक क्रिया' रूप नहीं होते और यह कि उन 'मिश्रित' सुखों में भी जो अपनी सुख-प्रदता के लिए पूर्ववर्ती आकांक्षा या वासना के तनाव से छुटकारे पर, अथवा आकांक्षा या वासना की आतति से प्राप्त

१. इस विशेषण का उपयोग सर्वविदित अफलातूनी माने में कर रहा हूँ। 'विशुद्ध' सुख वह सुख कहलाता है जो समग्रतः अथवा अंशतः भी, अपनी सुख प्रदता के लिए आकांक्षा अथवा वासना की वास्तविक पूर्वानुभूति पर निर्भर नहीं होता। मेरा अभिप्राय प्लैटो के विपरीत यह नहीं है कि इस प्रकार की पूर्वानुभूति द्वारा पुरःसृत कोई भी 'मिश्रित', सुख स्वयं' अपने निश्चित गुणों से रहित कोई वैषम्य-प्रभाव मात्र ही होता है।

उन्मुक्ति पर, आंशिक रूप से निर्भर होते हैं, विश्लेषणों से हमें दो तत्व पृथक् कर मिलते हैं। एक तो है नवानुभूति द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष सुख का तत्व और दूसरा आकांक्षा से छुटकारा पाने की सुखानुभूति। अतः यदि यह मान लिया जाय कि सुख निरपेक्ष में भी विद्यमान है तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें ऐसा कुछ भी विद्यमान है जो न तो विचार ही है न संकल्प। यही युक्ति तब भी काम देगी जब निराशावादियों के साथ हम भी यह मानने लगें कि निरपेक्ष में सुख की अपेक्षा दुख का आधिक्य है क्योंकि दुख और संकल्प-कुण्ठा के निकटस्थ संबंध के कारण यह मताग्रह कि अनुभूत दुख अथवा दुखानुभूति सदा और सर्वत्र ही किसी वास्तविक चेतन प्रयत्न की कुण्ठानुभूति ही होती है, एक मनोवैज्ञानिक अत्यरूपता होगी और जब तक इस अत्यरूपता को मान नहीं लिया जाता तब तक दुख को भी हमें संकल्प अथवा विचाराविघटनीय मौलिक अनुभूति-गुण मानना होगा। इस प्रकार अपने सर्वोत्तम रूप में विचार और संकल्प के संयोग की हैसियत से निर्पेक्ष का वर्णन, अपूर्ण ही रहेगा।

(२) किन्तु इस वर्णन का अभिप्राय इसके अतिरिक्त यह भी समझा जाय कि स्वयं निरपेक्ष का तथ्य तद्रूप विचार और संकल्प होता है तो वह वर्णन अपूर्ण तो न होगा किन्तु असत्य अवश्य होगा। क्योंकि वास्तविक विचार और संकल्प को मूलतः अथवा सारतः ऐसी सान्त या परिमित क्रियाएँ अथवा कार्य-कलाप सिद्ध किया जा सकता है जिसमें से कोई भी तब तक अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर अंतिम रूप से आत्म-संगत नहीं हो पाता जब तक कि उसका विचारमात्र अथवा संकल्प-मात्र रूप समाप्त नहीं हो जाता। अतः वास्तविक विचार में, उसकी वास्तविक विषयवस्तु या अन्तर्वस्तु और उसके संदर्भ के बीच थोड़ी बहुत असंगति का पहलू सदा ही रहा करता है। वास्तविकता विषयक विचार ही सदा, अंशतः स्वयं विचार-बाह्य होता है, और वैचारिक अन्तर्वस्तु केवल अपूर्ण रूप में ही उसका प्रतिनिधित्व करती हैं और इस कारण से ही, वह जिस विचार का लक्ष्य होती है उसके लिए अस्वात्म होती है। और विचार करने की सारी ही प्रक्रिया को, विचार द्वारा इस बंधन का अतिक्रमण करने के प्रयत्नों की शृंखला कहा जा सकता है। जबतक कि विचार की अन्तर्वस्तु विचार्य वास्तविकता के लिए पर्याप्त नहीं होती, अर्थात् तब तक उस वास्तविकता के विषय में कुछ भी ज्ञातव्य शेष रहता है तब तक विचार, अविश्रान्तरूप से अप्राप्त निष्पत्ति की ओर आगे बढ़ता ही चला जाता है। किन्तु विचार-प्रति विचारात्मक सादृश्य यथार्थतः पूर्ण हो जाय तो विचार-लक्ष्य में तब ऐसा कुछ बाकी नहीं रहेगा जो उस विचार की अपनी अन्तर्वस्तु से बाह्य हो। उस विचार के ज्ञाता विचार के लिए तब यह 'अन्य' अथवा 'अस्वात्म' न रहेगा और इस प्रकार विचार और उसका लक्ष्य एकाकार हो जाँयगे। किन्तु इस निष्पत्ति में विचार को अपना वास्तविक प्रक्रिया का विशिष्ट रूप ठीक उसी प्रकार खो देना पड़ता, जिस प्रकार कि लक्ष्य को वाह्यतः दत्त अमुक वस्तुत्व के अपने स्वरूप को, कम से कम आंशिक

रूप में ही, खो देना पड़ता। मात्रात्मक विचार तथा मात्रात्मक अस्तित्व दोनों ही एकाकार होते समय उस स्वरूप से रहित हो जाँयगे जो परिमित अनुभूति के समय केवल उन दोनों के बीच की खाईं का अतिक्रमण कर सकने की हमारी असमर्थता के कारण उनका अपना स्वरूप बन जाता है।

संकल्प का मामला भी ऐसा ही है। निःसन्देह यदि संकल्प शब्द से हमारा अभिप्राय संकल्पना अथवा इच्छाशक्ति की यथार्थ वास्तविक प्रक्रिया से है तो यह निष्कर्ष विचार के मात्रात्मक स्वरूप के निरपेक्षान्तर्गत अपरिवर्त्य रूप में लगातार बने रहने के दावे की आलोचना में शामिल है। क्योंकि सकल यथार्थ संकल्प का अभिप्राय ही, स्पष्ट रूप से एक असिद्ध प्रत्यय के रूप में अधिग्रहीत, और इसीलिए विचार से अवियोज्य, प्रत्यय द्वारा प्रेरित होना और उससे अभिभूत होना है। (आनुषंगिक रूप में मुझे फिर एक बार बता देना चाहिए कि इसी कारण हमने सकल आनुभूतिक प्रक्रियाओं में उपलब्ध 'व्यक्तिनिष्ठ हित' का पहले 'संकल्प' नाम से जिक्र नहीं किया था और इस नाम से हम बच निकले थे।) किन्तु यदि अनुचित रूप से 'संकल्प' शब्द की व्याख्या के क्षेत्र को हम इतना विस्तृत भी कर दें कि उसमें सकल सांकल्पिक प्रक्रिया का समावेश हो जाय तो भी सामान्य परिणाम वही रहेगा। क्योंकि इन सब प्रक्रियाओं में क्रियात्मक अथवा वास्तविक भावना के 'अत्र' और अधुना' द्वारा अस्तित्व तथा समुचित स्वरूप तथा, अपने विविध आवेशों, आकांक्षाओं तथा वासनाओं की पूर्ति या संतुष्टि के लिए हम उसे जैसा बनाना चाहते हैं, तद्रूप अस्तित्व के बीच मौजूद वैषम्य शामिल होता है। किसी वास्तविकता के इन दोनों पहलुओं के बीच, स्पष्टतया ज्ञात न होते हुए भी केवल भावित रूप से अधिष्ठित वैषम्य, जो अन्ततोगत्वा उस वैषम्य से एकीभूत तथा एकरस हो जाता है जो सकल वास्तविक सांकल्पिक प्रक्रियाओं को प्रेरणा प्रदान करता है। और इसीलिए हम यह मान लेने के लिए प्रेरित हुए से प्रतीत होते हैं कि किसी भी सांकल्पिक क्रियाशक्ति, जैसे कि वास्तविक प्रयत्न अथवा श्रम आदि को ऐसी अनुभूति में स्थान नहीं मिलता जहाँ आदर्शता तथा वास्तविक अस्तित्व के दोनों पहलू एकदम अंतिम रूप से मिल गये अथवा संयुक्त हो चुके होते हैं।

यदि हम इस प्रकार की अनुभूति की स्वयं अपनी बौद्धिक तथा अपनी ही संकल्पात्मक प्रक्रियाओं की शब्दावली द्वारा व्यक्त करने से नहीं बच सकते तो हमें, कम से कम, इतना तो याद रखना ही होगा कि उक्त प्रकार की भाषा या शब्दावली जहाँ इस माने में सच होती है कि निरपेक्ष विषयक सर्वग्राही और समरूप अनुभूति ही वह अप्राप्य लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति-हेतु आगे बढ़ने का प्रयत्न परिमित प्रज्ञा और परिमित संकल्प दोनों ही समान रूप से कर रहे हैं किन्तु फिर भी इन दोनों में से प्रत्येक उस लक्ष्य की निष्पत्ति की प्राप्ति करते हुए, —अगर वह उस निष्पत्ति को कभी प्राप्त कर भी सके तो,—जैसा कि हम जानते हैं, वह अपनी आपा खो देगा और बोध के ऐसे उच्चतर और प्रत्यक्षतर रूप

में संक्रांत हो जायगा जहाँ फिर उन दोनों में से किसी एक की भी पहचान न की जा सकेगी। पुरानी मध्ययुगीन परिभाषाओं के अनुसार निरपेक्ष को वास्तविक प्रज्ञावान् और वास्तविक संकल्पशील कहना होगा, फ़ार्मलिटर नहीं अपितु एमिनेंटर ।[1]

२—इस सबके यही परिणाम हैं कि ठीक इस कारण से ही कि निरपेक्ष समग्र न तो विचारमात्र ही होता है न संकल्प मात्र, न दोनों ही का कृत्रिम संश्लेष। प्रज्ञार्थ सत्य मात्र कभी भी वही वस्तु नहीं हो सकती जो अन्तिमेत्थ सत् या वास्तविकता हुआ करती है। क्योंकि मात्रात्मक सत्य में, सत्य या वास्तविकता केवल अपने बौद्धिक अथवा प्रज्ञात्मक रूप में ही हमें मिलती हैं, ऐसे रूप में जो विचार की, अपनी लक्ष्यविषयक संगति और व्यवस्थित एकता की माँग को उच्चतम रूप में संतुष्ट करता है। और जैसाकि हमने देखा है, विचार स्वयं इस माँग की पूर्ति कभी नहीं कर सकता। क्योंकि विचार को विचार बने रहने के लिए, स्वयं ज्ञात समग्र वास्तविकता से न्यून कोई वस्तु सदा ही होना आवश्यक है। वास्तविकता का एक और पहलू भी ऐसा होना आवश्यक है जो स्वतः विचार रूप न हो और जो वैचारिक अंतर्वस्तु के रूप में बोद्धव्य भी न हो। यही बात यों भी कही जा सकती है कि जहाँ सकल वास्तविकता व्यष्ट होती है, उन सब वैचारिक अन्तर्वस्तुओं का, जिनके द्वारा हम उसके स्वरूप को जान पाते हैं, सर्व-सामान्य रहना आवश्यक होगा। हम सदा ही अपने विचारों में व्यष्ट को उसके तद्रूप में पकड़ने का प्रयत्न किया करते हैं और सदा ही असफल होते रहते हैं। व्यष्ट रूप में वास्तविकता कभी भी हमारे विचार की वास्तविक अन्तर्वस्तु नहीं हो पाती बल्कि वह एक ऐसा ज्ञानातीत लक्ष्य बनी रहती है विचार जिसका हवाला देता है अथवा जो विचार का आशय-रूप होती है। इसीलिए तो हमारे सत्यतम विचार से हमें ज्यादा से ज्यादा वैचारिक अन्तर्वस्तु और विचार के लक्ष्य के बीच विचार द्वारा ही वांछित सर्वांगसमता की अनादर्श सन्तुष्टि ही प्राप्त हो सकती है। अंतिमेत्थ रूप में वास्तविकता कभी भी केवल उतनी ही नहीं हो सकती जितनी कि वह हमारे विचारार्थ प्रस्तुत होती है। यह निष्कर्ष, स्पष्टतः नास्तिक और रहस्यवादी दोनों ही को थोड़ा बहुत औचित्य प्रदान करता है। वह औचित्य कहाँ तक लागू होता है इस बात को समझ लेना जरूरी है।

आइये तब, पहले तर्कसंगत नास्तिकवाद की सीमाओं के विषय में एकाध

---

१. 'अपीयरेन्स एंड रीयालिटी' के अध्याय २६, पृ० ४६९–४८५ (प्रथम संस्करण) पर उद्धृत वादोक्ति से तुलना कीजिए तथा साथ ही स्पिनोजा के 'एथिक्स' के भाग १ के प्र० पो० १७ के प्रसिद्ध स्कोलियम से भी। वहाँ कहा गया है कि 'यदि प्रज्ञा और संकल्प' ईश्वर के सर्वकालीन सार की वस्तु है तो इन दोनों ही विशेषणों में से प्रत्येक का, प्रचलित अर्थ से भिन्नार्थवाची होना आवश्यक है।

वह इस बात का कि सत् विचाराधिक अनुभूति का व्यष्ट समग्र है, स्वतः प्रमाण है, हमारे ज्ञान में निश्चयात्मक योगदान किया है। दोनों स्थितियाँ ऊपर से देखने में भले ही एक-सी प्रतीत हों पर सैद्धान्तिक आधार पर वे मूलतः भिन्न हैं :—

अब आइये हम अपने निष्कर्ष के रहस्यवादी अंश को लें। हमारे इस अभिमत के आधार पर कि सकल यथार्थ व्यष्टता में, चाहे वह परिमित हो या अपरिमित,[1] तात्कालिक भावित व्यष्टता का एक ऐसा उपलक्षक सम्मिलित रहा करता है जिसे विचार और संकल्प के सम्बंधात्मक पदार्थों में विघटित नहीं किया जा सकता। हमें ऐसे परिणाम पर पहुँचा कहा जा सकता है जो एक माने में रहस्यवादात्मक है। लेकिन हमारा निष्कर्ष रहस्यवाद तब नहीं होगा जब रहस्यवाद का अर्थ वह सिद्धान्त हो जो अविश्लिष्ट अव्यवहृत, भावना के तद्रूप मात्र में ही अन्तिमेत्थ सत् की खोज किया करता है। हमने बौद्धिक तथा सांकल्पिक रचनाओं के परिणामों को ऐन्द्राजालिक और एक तरह की बौद्धिक तथा नैतिक गलती या भ्रान्ति नहीं समझा। इसके विपरीत हमने इस बात पर जोर दिया कि सत् अथवा वास्तविक की, अन्तिमेत्थ एकता का, विचार और संकल्प की युक्तियुक्त योजना से घट होकर रहना उचित नहीं उसे तो उस योजना से बढ़ चढ़ कर ही रहना चाहिए। परिणामतः हमने जिद की थी कि हमारा निष्कर्ष उस हद तक ही, जहाँ तक कि वह रहस्यात्मक है केवल तार्किक प्रज्ञा और नैतिक संकल्प की संरचनाओं का उनके अंतिम परिणाम तक अनुसारण करके तथा यह सिद्ध करके ही कि उनमें से प्रत्येक, उन दोनों ही का अतिक्रमण करनेवाली तथा उन्हें आत्मसात् कर लेनेवाली व्यष्ट वास्तविकता में अपनी पूर्णता प्राप्त करने की माँग करता है, न्याय्य ठहराया जा

---

१. 'परिमित' तथा 'अपरिमित' शब्द का उपयोग मैंने समझ कर ही किया है। वास्तविक सत् की पूर्ण प्रकृति को व्यक्त कर सकने की उसकी अपर्याप्तता को लेकर साम्बन्धिक अथवा आपेक्षिक योजना ही का रहस्यवादी द्वारा दोषी ठहराया जाना, वास्तविक परिमित अनुभूति के विषय में विनियोजनार्थ उसी प्रकार सही है जिस प्रकार कि चरम समग्र के विषय में विनियोजनार्थ हम न केवल ईश्वर के विषय में ही अपितु मानवीय व्यक्तियों के लिए भी यह कह सकते हैं कि वे 'विचार और संकल्प के संयोग' मात्र से अधिक कुछ हैं। और व्यक्तिगत मानव-प्रेम में तथा संत की परमानन्दपरक दृष्टि में तथा दार्शनिक के 'ईश्वरपरक बौद्धिक प्रेम' में हमें अनुभूति का ऐसा उपलक्षक प्रकार प्राप्त है जिसे कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए कुछ विचारणात्मक तथा संकल्पनात्मक प्रक्रियाओं के मिश्रण में विश्लेषित किया जा सकता है किन्तु जो अपने मूर्त अस्तित्व के रूप में, वास्तविक विचारों और वास्तविक संकल्पों के संश्लेष से युक्त किसी तरह से भी नहीं होता। देखिए—विगत पृष्ठ १५२।

सकता है। डा० मैकटागार्ट के प्रशंसनीय शब्दों में "ऐसा रहस्यवाद जो समझ के तकाजों की परवाह नहीं करता निःसंदेह विनाशोन्मुख ही होता है। कभी दुनिया में ऐसा तर्क-शत्रु नहीं देखा गया जिसे अंत में तर्क ने न पछाड़ दिया हो। किन्तु एक रहस्यवाद ऐसा भी है जो समझदारी के स्थिति-बिंदु को लेकर चलता है और उससे तभी हटता है जब वह स्थित-बिन्दु स्वयं को ही अन्तिमेत्थ न प्रदर्शित करके अपने से अतिक्रान्त किसी अन्य को अभिधारित करने लगता है। निम्नतर का अतिक्रमण उसकी उपेक्षा करना नहीं होता।" और केवल इस माने में ही दर्शनशास्त्र को अधिकार प्राप्त है कि वह "ज्ञान और संकल्प के ऐसे सर्वश्रेष्ठ सर्वग्राही ऐक्य को दृढ़ करे जो असत्य मात्र और अश्रेयस् मात्र इसलिए है क्योंकि सर्वसत्य और सर्वश्रेयस् उसकी यथार्थ पूर्णता की छाया मात्र ही होते हैं।"[1]

३——इस ग्रंथ का अंत तक पारायण करने के श्रम से श्रान्त पाठक के मन में उसे उठाकर रख देने पर असंतोष की कुछ भावना शायद जागृत हो। उसे शिकायत हो सकती है कि हमारे इस अनुसंधान से विश्व की अन्तर्वस्तु विषयक वैज्ञानिक सूचनाओं में जरा भी कोई वृद्धि नहीं हुई, न उसने उत्कृष्टतर नैतिक अथवा धार्मिक आदर्श के अध्यवसित अनुसरण के लिए किसी प्रकार की सद्य और व्यावहारिक प्रेरणा ही हमें प्रदान की। इस प्राक्कल्पनात्मक आलोचना की न्याय्यता तुरंत मान लेना मेरे लिए आवश्यक है। किन्तु उसकी प्रसंग प्रस्तुतता न मानना भी मेरे लिए आवश्यक है। मेरी अपनी व्यक्तिगत न्यूनताओं के कारण इस ग्रंथ लेखन में आ पड़े दोषों और भ्रान्तियों के अतिरिक्त, तत्वमीमांसा के अध्ययन में यह बात प्रकृत्या निरूढ़ है कि वह हमारे ज्ञान में किसी भी प्रकार की कोई निश्चयात्मक वृद्धि नहीं कर पाती और न स्वयं व्यावहारिक प्रयासार्थ किसी प्रकार की प्रेरणा ही दे सकती है। इसलिए व्यावहारिक नीति, मनोविज्ञान तथा अनुभवाधारित भौतिकी के स्थानापन्न के रूप में हमारे इस तत्वमीमांसा शास्त्र का मुँह जोहनेवाले विद्यार्थी को निराश होकर लौटना पड़ता है। इसका कारण जान सकने का अवसर हमें पहले मिल चुका है। विविधि विज्ञानों के सामान्य नियमों तथा व्यावहारिक अनुभूति के विविध रूपों का पूर्वानुमान अपनी कार्य-सामग्री के रूप में तत्वमीमांसा को करना होता है। अध्ययन के रूप में उसका लक्ष्य इन सामग्रियों की कुछ और वृद्धि करना अथवा उनमें रद्दोबदल करना नहीं होता अपितु वह लक्ष्य होता है हमारी उस जिज्ञासात्मक कुतूहल की संगत और व्यवस्थित संतुष्टि करना, जो समय समय पर इन सामग्रियों के स्वामी, समग्र, के सामान्य स्वरूप तथा उस आपेक्षिक सत्य और स्पष्टता के विषय में जिसके साथ वह सामान्य स्वरूप अनुभूति के विभिन्न विभागों में व्यक्त होता है——हम सब ही अनुभव किया करते हैं।

---

(१) देखिए——'स्टडीज इन हेगेलियन कॉस्मॉलॉजी', पृष्ठ २९२।

उसका उद्देश्य है ज्ञान का संगठन न कि ज्ञान का संवर्धन । इसीलिए उन विद्यार्थियों के लिए तत्वमीमांसा वांछित नहीं है जिनकी रुचि नये तथ्यों और नये नियमों के आविष्कार द्वारा मानव ज्ञान को विशालतर बनाने की ओर है न कि एक संगत समग्र के रूप में उसे संगठित करने की ओर उन्हें तत्वमीमांसा की जरूरत सिर्फ इसकी रोकथाम के लिए है कि कहीं अमान्य अनालोचित तत्वमीमांसीय पूर्वग्रहण अनुभवाश्रित सेवाओं के साम्राज्य में न घुस पड़ें । इसी तरह पर ऐसे व्यवहार-दक्ष व्यक्ति के लिए जिसके जीवन की अभिरुचियाँ प्रमुखतया नैतिक हैं, तत्वमीमांसीय अध्ययन की एकमात्र न सही, प्रमुख अर्हता ऐसे झूठे तत्वमीमांसीय पूर्वानुमानों के, जिनके अनुसार यदि काम किया जाय तो स्वतः-स्फूर्त नैतिक प्रयत्न की ओजस्विता की हानि हो सकती है, भंडाफोड़ करने के आलोचनात्मक कर्तव्य में ही निहित होती है ।

लेकिन उन लोगों के लिए जिनमें उस वस्तु-योजना की, जिसके समग्र रूप के हम सब अंग हैं, कोई संगत कल्पना निरूपित करने की अभिलाषा बलवती है, तत्व-मीमांसा का महत्व और भी अधिक है । ऐसे लोगों के मन में अस्तित्व के समग्र स्वरूप पर विचार-विमर्श करने के लिए उठनेवाली उमंग की व्यवस्थित और यथार्थ संतुष्टि में यदि कोई बाधा डाली जाती है तो निश्चित है कि वह उमंग अथवा उद्वेग अपने बाहर निकलने के लिए किसी अव्यवस्थित, आलोचनात्मक संभावना से रहित, कल्पना-प्रधान संरचना का सहारा पकड़ लेगी । उन्हें तत्वमीमांसा का सहारा निश्चित रूप से लेना होगा । चेतन अथवा ज्ञानवती और संगत तत्वमीमांसा भले ही उनके पल्ले न पड़ पाये, अचेतन अथवा अज्ञान-प्रमुख और असंगत तत्वमीमांसा तो उनके हाथ लगेगी ही । इस मर्त्यलोक में हमें लाने वाले अमृत सागर के दर्शन पाए बिना स्वतः सन्तुष्ट न हो सकनेवाली अशान्त और भटकती हुई आत्मा, तर्कसंगत विमर्श के निर्मल दर्पण में अपनी जिज्ञासा के लक्ष्य का दर्शन पाने से वंचित कर दी जाने पर, उस लक्ष्य के दर्शनार्थ अंधविश्वास के कुहासों और विकारी धुँधों के बीच उसे खोजती फिरेगी ही । अनन्त के इन अन्वेषकों में ही तत्वमीमांसा के सच्चे और स्वाभाविक अनुयायी पाये जाते हैं और ऐसे लोगों के लिए ही उसके अध्ययन का औचित्य है और वह अध्ययन ही स्वयं अपना पुरुस्कार है । यदि हमारे ग्रंथ जैसा ग्रंथ उपर्युक्त प्रकार के विद्यार्थियों के लिए थोड़ा सा भी सहायक सिद्ध हो सके चाहे वह सहायता इसमें दिए गए ऐसे निश्चयात्मक सुझावों से उन्हें मिले जिन्हें वे स्वीकार कर सकें, अथवा इस पुस्तक के निष्कर्षों को अस्वी-कार करने के निश्चित कारणों को जान सकने की क्षमता के रूप में, दोनों ही रूपों में वह इसके लेखक की अभिलाषा सम्भवतया पूरी कर सकेगा ।

अधिक अनुशीलनार्थ देखिए—एफ०एच० ब्रैडले कृत 'अपीयरेन्स एण्ड रीयालिटी', अध्याय २७; जे० ई० मैकटॅगार्ट की 'स्टडीज हेगेलियन कॉस्मॉलॉजी' का अध्याय १ ।